Set of 20 Volumes Price Rs. 325/-

२० खण्डों के सेट का मूल्य 325/-

श्रीअरविंद-साहित्य
खंड 3
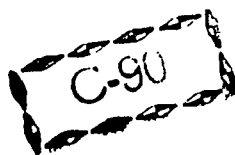
58303
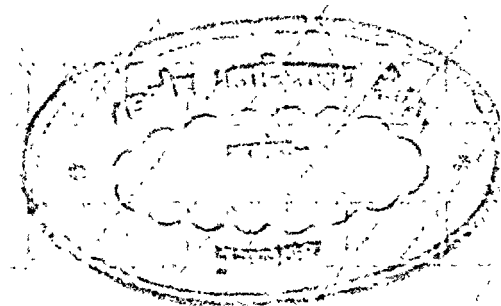
योग-समन्वय

(पूर्वार्द्ध)

THE SYNTHESIS OF YOGA

(Part 1 & 2)
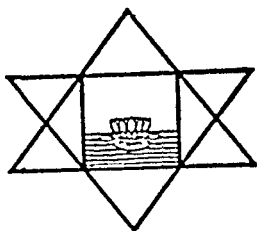
श्रीअरविंद

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2

अनुवादक :
जगन्नाथ वेदालंकार

प्रथम संस्करण, वर्ष

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियाँ भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु०5·75 Price Rs. 15·75

स्वत्वाधिकारी : श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी–2
प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी–2
मुद्रक : श्री ज्ञानेन्द्र शर्मा, जनवाणी प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा० लि०
178, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता–3

58303

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिकसे अधिक संख्यामें तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्यमें भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'योग-समन्वय' पूर्वार्द्ध नामक यह पुस्तक श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक श्रीअरविंद, अनुवादक जगन्नाथ तथा पुनरीक्षक रवीन्द्र हैं। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

बाबूराम सक्सेना

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
नयी दिल्ली।

राजकीय महाविद्यालय कोटा
क्रमांक-
पुस्तकालय

विषय-सूची

भूमिका

समन्वयकी शर्त्तें

पहला भाग

दिव्य कर्मोंका योग

दूसरा भाग

पूर्ण ज्ञानका योग

योग-समन्वय

(पूर्वार्द्धं)

भूमिका

समन्वयकी शर्तें

१

जीवन और योग

प्रकृतिकी क्रियाओंकी दो आवश्यकताएँ हैं जो, ऐसा प्रतीत होता है, सदा ही मानव-क्रियाके महत्तर रूपोंमें हस्तक्षेप करती रहती हैं। ये रूप या तो हमारे साधारण कार्यक्षेत्रोंसे संबंधित हो सकते हैं या उन असाधारण क्षेत्रों और उपलब्धियोंकी खोज कर रहे होते हैं जो हमें उच्च और दिव्य प्रतीत होती हैं। ऐसा प्रत्येक रूप एक ऐसी समन्वित जटिलता या समग्रता-की ओर उन्मुख होता है जो पुनः विशेष प्रयत्न और प्रवृत्तिकी विविध धाराओंमें विभक्त तो हो जाती है, पर फिर एक अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली समन्वयमें जुड़ भी जाती है। दूसरी बात यह है कि किसी चीजका रूपोंमें विकास एक प्रभावशाली अभिव्यक्तिका अनिवार्य नियम है; पर फिर भी वह समस्त सत्य और व्यवहार अत्यधिक कठोर ढंगसे निर्मित होता है, पुराना पड़ जाता है और यदि अपना पूरा गुण नहीं तो कम-से-कम उसका एक बड़ा भाग तो खो ही देता है। इसे लगातार आत्माकी नूतन धाराओंसे जीवन-शक्ति मिलती रहनी चाहिए जो मृत या मृतप्राय साधनमें जीवनका संचार करती रहें तथा उसमें परिवर्तन लाती रहें; केवल तभी उसे नव-जीवन प्राप्त हो सकता है। सदा ही पुनर्जन्म लेते रहना भौतिक अमरत्वकी शर्त है। हम एक ऐसे युगमें निवास कर रहे हैं जो भावी सृष्टिकी प्रसव-वेदनासे व्याकुल है, जब विचार और कर्म-संबंधी वे समस्त रूप जिनके अंदर उपयोगिताकी या स्थिरताके किसी गुप्त गुणकी सबल शक्ति मौजूद है एक सर्वोच्च परीक्षामेंसे गुजर रहे हैं तथा उन्हें पुनः जन्म लेनेका अवसर प्रदान किया जा रहा है। वर्तमान जगत् 'मीडिया'के विशालकाय कड़ाहका दृश्य उपस्थित कर रहा है जिसमें सब कुछ डालकर

उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये हैं, उन टुकड़ोंपर प्रयोग किये जा रहे हैं तथा उन्हें एकत्रित और पुनः एकत्रित किया जा रहा है, जिससे या तो वे नष्ट होकर नये रूपोंके लिये बिखरे हुए उपादान जुटाएँ या फिर नव-जीवन प्राप्त करके पुनः प्रकट हो जायँ अथवा यदि वे अभी और जीवित रहना चाहते हैं तो रूपांतरित हो जायँ। भारतीय योग अपने सार-तत्त्वमें 'प्रकृति'की कुछ महान् शक्तियोंकी एक विशेष क्रिया या रचना है; यह स्वयं विशिष्ट एवं विभाजित है और विविध प्रकारसे निर्मित हुआ है। अतएव, यह अपने बीज-रूपमें मनुष्य-जातिके भावी जीवनके इन सक्रिय तत्त्वोंमेंसे एक है। यह अनादि युगोंका शिशु है तथा हमारे इस आधुनिक समयमें अपनी जीवन-शक्ति और सत्यके बलपर जीवित बचा हुआ है। अब यह उन गुप्त संस्थाओं और संन्यासियोंकी गुफाओंमेंसे बाहर निकल रहा है जिनमें इसने आश्रय लिया था; यह आजकलकी जीवित मानवी शक्तियों और उपयोगिताओंके भावी संघातमें अपना स्थान खोज रहा है। किन्तु इसे पहले अपने-आपको पाना है, प्रकृतिके जिस सामान्य सत्य और सतत उद्देश्यका यह प्रतिनिधित्व करता है उसमें इसे अपने अस्तित्वके गहनतम कारणको ऊपरी तलपर लाना है तथा इस नये आत्म-ज्ञान और आत्म-परिचयके द्वारा अपने पुनः प्राप्त और अधिक विशाल समन्वयको ढूँढ़ना है। अपनी पुनर्व्यवस्था प्राप्त कर लेनेके बाद ही यह जातिके पुनर्व्यवस्थित जीवनमें अधिक सरलतासे तथा अधिक शक्तिशाली रूपमें प्रवेश पा सकेगा। इसकी क्रियाएँ यह दावा करती हैं कि वे जातिके इस जीवनको अंतरतम गुप्त कक्षतक, अपने अस्तित्व और व्यक्तित्वकी उच्चतम चोटीतक ले जायँगी।

अगर हम जीवन और योग दोनोंको यथार्थ दृष्टिकोणसे देख तो संपूर्ण जीवन ही चेतन या अवचेतन रूपमें योग है। कारण, इस शब्दसे हमारा मतलब सत्तामें प्रसुप्त क्षमताओंकी अभिव्यक्तिके द्वारा आत्म-परिपूर्णताके लिये किया गया विधिबद्ध प्रयत्न और मानव-व्यक्तिका उस विश्वव्यापी और परात्पर सत्ताके साथ मिलन है जिसे हम मनुष्य और विश्वमें अंशतः अभिव्यक्त होता हुआ देखते हैं। किन्तु जब हम जीवनको उसके वाह्य रूपोंके पीछे जाकर देखते हैं तो वह प्रकृतिका एक विशाल योग दिखायी देता है,—उस प्रकृतिका जो अपनी शक्यताओंकी सदा-वृद्धिशील अभिव्यक्तिमें अपनी पूर्णता प्राप्त करनेकी तथा अपनी दिव्य वास्तविक सत्ताके साथ एक होनेकी चेष्टा कर रही है। मनुष्य उसका एक विचार-शील प्राणी है, अतएव, उसमें वह पहली बार क्रियाके उन स्व-चेतन

साधनों और इच्छाशक्तिसे युक्त प्रणालियोंकी रचना करती है जिनकी सहायतासे यह महान् उद्देश्य अधिक द्रुत और शक्तिशाली वेगसे पूरा हो सकेगा।

जैसा कि स्वामी विवेकानंदने कहा है योग एक ऐसा साधन माना जा सकता है जो व्यक्तिके विकासको शारीरिक जीवनके अस्तित्वके एक ही जीवन-कालमें या कुछ वर्षोंमें, यहाँतक कि कुछ महीनोंमें ही साधित कर दे। अतएव, योगकी वर्तमान पद्धति उन सामान्य विधियोंके एक अधिक संकुचित पर अधिक सबल और तीव्र रूपोंमें संग्रह या संक्षेपसे अधिक कुछ और नहीं हो सकती जिन्हें महती 'माता' अपने विशाल ऊर्ध्वमुख प्रयासमें शिथिलतापूर्वक पर विस्तृत रूपमें तथा मंद गतिसे पहलेसे प्रयुक्त कर रही है। इनका प्रयोग करते समय, वाह्य रूपसे ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि सामग्री और शक्तिका अत्यधिक क्षय हो रहा है, किन्तु इससे मेल अधिक पूर्ण हो जाता है। योग-विषयक यह विचार यौगिक प्रणालियोंके यथार्थ और युक्तियुक्त समन्वयका 'आधार बन सकता है। क्योंकि तब योग एक ऐसी गुह्य और असामान्य वस्तु नहीं रह जाता जिसका 'विश्व-शक्ति'की सामान्य प्रक्रियाओंके साथ तथा उस उद्देश्यके साथ कोई संबंध नहीं होता जिसे वह अपनी वाह्य और आंतरिक परिपूर्णताकी दो महान् गतियोंमें अपने सामने रखती है। बल्कि वह अपने-आपको उन शक्तियोंके एक तीव्र और असाधारण प्रयोगके रूपमें व्यक्त करता है जिन्हें वह पहले ही अभिव्यक्त कर चुकी है या जिन्हें वह अपने अंदर अपनी कम उन्नत पर अधिक सामान्य क्रियाओंमें अधिकाधिक संगठित कर रही है।

यौगिक पद्धतियोंका मनुष्यकी प्रचलित मनोवैज्ञानिक क्रियाओंके साथ वही संबंध है जो विद्युत् और वाष्पकी स्वाभाविक शक्तिके वैज्ञानिक प्रयोगका वाष्प और विद्युत्की सामान्य क्रियाओंके साथ है। और, उनका निर्माण भी एक ऐसे ज्ञानपर आधारित है जो नियमित प्रयोगों, क्रियात्मक विश्लेषणों तथा सतत परिणामोंके द्वारा विकसित एवं स्थापित हुआ है तथा जिसे इनसे समर्थन भी प्राप्त हुआ है। उदाहरणार्थ, समस्त 'राजयोग' इस ज्ञान एवं अनुभवपर आधारित है कि हमारे आंतरिक तत्त्व, संयोग और कार्य तथा हमारी शक्तियाँ अलग-अलग की जा सकती हैं, उनमें विघटन हो सकता है, उन्हें नये सिरेसे मिलाया जा सकता है तथा उनसे नये और पहले असंभव माने गये कार्य कराये जा सकते हैं या फिर ये सब स्थायी आंतरिक प्रक्रियाओंके द्वारा एक नये सामान्य अस्तित्वमें रूपांतरित किये जा सकते हैं। इसी प्रकार 'हठयोग' भी इस बोध एवं अनुभवपर निर्भर करता है कि जिन प्राणिक शक्तियों और क्रियाओंकी अधीनता हमारा

जीवन स्वीकार कर लेता है तथा जिनके साधारण कार्य रूढ़ और अनिवार्य ढंगके प्रतीत होते हैं वे वशमें की जा सकती हैं, उन्हें बदला जा सकता है अथवा उन्हें रोका जा सकता है। इस सबके ऐसे परिणाम निकल सकते हैं जो अन्यथा संभव न होते, साथ ही वे परिणाम उन लोगोंको जो उनकी प्रक्रियाओंकी युक्तियुक्तताको नहीं पकड़ सकते, चमत्कारपूर्ण भी प्रतीत होते हैं। यदि योगके किसी अन्य रूपमें उसका यह गुण उतना प्रत्यक्ष न हो—कारण, ये रूप यांत्रिक कम और सहजज्ञानयुक्त अधिक होते हैं तथा 'भक्तियोग'के समान एक दिव्य आनंदके या 'ज्ञानयोग'के समान चेतना और सत्ताकी एक दिव्य असीमताके अधिक निकट होते हैं—तो भी ये हमारे अंदर किसी प्रधान क्षमताके प्रयोगसे आरंभ होते हैं; इनके ढंग तथा उद्देश्य ऐसे होते हैं जो उसकी दैनिक सहज क्रियाओंमें विचारमें नहीं आते। जो प्रणालियाँ योगके सामान्य नामके अंतर्गत आती हैं वे सब विशेष मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं जो 'प्रकृति'-संबंधी एक स्थिर सत्यपर आधारित होती हैं। वे सामान्य क्रियाओंसे ऐसी शक्तियाँ और परिणाम विकसित करती हैं जो सदा प्रसुप्त अवस्थामें तो विद्यमान थे, पर जिन्हें उसकी साधारण क्रियाएँ आसानीसे अभिव्यक्त नहीं करतीं, यदि करती भी हैं तो बहुत कम।

किंतु, जैसा कि भौतिक ज्ञानमें होता है, वैज्ञानिक प्रक्रियाओंकी बहुलताकी अपनी हानियाँ होती हैं,—उदाहरणार्थ, इससे एक ऐसी विजयशील कृत्रिमता उत्पन्न हो जाती है जो हमारे सामान्य मानव-जीवनको यंत्रके भारी बोझके नीचे दबा देती है तथा एक प्रबल दासताके मूल्यपर स्वतंत्रता और स्वामित्वके कुछ रूपोंका क्रय करती है। इसी प्रकार यौगिक प्रक्रियाओंके कार्यकी और उनके असाधारण परिणामोंकी भी अपनी हानियाँ और बुराइयाँ हैं। योगी सामान्य जीवनसे अलग हट जाना चाहता है और उसपर अपना अधिकार खो देता है। वह अपनी मानवीय क्रियाओंको दरिद्र बनाकर आत्माका धन खरीदना चाहता है तथा बाह्य मृत्युके मूल्यपर आंतरिक स्वतंत्रताकी इच्छा करता है। यदि वह भगवान्‌को पा लेता है तो जीवनको खो बैठता है, अथवा यदि जीवनपर विजय प्राप्त करनेके लिये अपने प्रयत्नोंको बाहरकी ओर मोड़ता है तो उसे भगवान्‌को खो देनेका डर रहता है। इसीलिये हम भारतवर्षमें सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक उन्नति और विकासमें एक तीव्र प्रकारकी असंगति पैदा हुई देखते हैं। यद्यपि आंतरिक आकर्षण और बाह्य मांगमें एक विजयपूर्ण समन्वयकी परंपरा और आदर्शको स्थिर रखा गया है तो भी इसके अधिक

उदाहरण देखनेमें नहीं आते। वस्तुतः जब मनुष्य अपनी दृष्टि और शक्ति अंतरकी ओर मोड़ता है तथा योग-मार्गमें प्रवेश करता है तो ऐसा माना जाता है कि वह हमारे सामूहिक जीवनके महान् प्रवाह और मनुष्य-जातिके लौकिक प्रयत्नके लिये अनिवार्य रूपसे निकम्मा हो गया है। यह विचार इतने प्रबल रूपमें फैल गया है और इसपर प्रचलित दर्शनों और धर्मोंने इतना बल दिया है कि जीवनसे भागना आजकल केवल योगकी आवश्यक शर्त ही नहीं, वरन् उसका सामान्य उद्देश्य भी माना जाता है। योगका ऐसा कोई भी समन्वय संतोषप्रद नहीं हो सकता जो अपने लक्ष्यमें भगवान् और प्रकृतिको एक मुक्त और पूर्ण मानवीय जीवनमें पुनः संयुक्त नहीं कर देता या जो अपनी पद्धतिमें हमारे आंतरिक और बाह्य कर्मों और अनुभवोंमें समन्वय स्थापित करनेकी अनुमति ही नहीं देता, बल्कि उसका समर्थन भी नहीं करता; इस कार्यमें दोनों अपनी चरम दिव्यताको प्राप्त कर लेते हैं। कारण, मनुष्य एक उच्चतर जीवनका उपयुक्त स्तर एवं प्रतीक है, वह एक ऐसे स्थूल जगत्‌में अवतरित हुआ है जिसमें निम्न तत्त्वका रूपांतरित होना, उच्चतर तत्त्वके स्वभावको ग्रहण करना और उच्चतर तत्त्वका निम्न तत्त्वमें अपने-आपको अभिव्यक्त करना संभव है। एक ऐसे जीवनसे बचना जो उसे इसी संभावनाको चरितार्थ करनेके लिये दिया गया है कभी भी उसके सर्वोच्च प्रयत्नकी अनिवार्य शर्त या उसका समस्त और अंतिम उद्देश्य नहीं हो सकता, न ही यह उसकी आत्म-उपलब्धिके अत्यधिक सबल साधनकी शर्त या लक्ष्य हो सकता है। यह किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें एक अस्थायी आवश्यकता तो हो सकता है या यह एक ऐसा विशिष्ट अंतिम प्रयत्न भी हो सकता है जो व्यक्तिपर इसलिये लादा जाता है कि वह पूरी जातिके लिये एक महत्तर सामान्य संभावनाको तैयार कर सके। योगका सच्चा और पूर्ण उपयोग और उद्देश्य तभी साधित हो सकते हैं जब कि मनुष्यके अंदर सचेतन योग, जैसा कि प्रकृतिमें अवचेतन योग होता है, बाह्यतः जीवनके साथ समान रूपसे व्यापक हो जाय। और तभी हम मार्ग और उपलब्धि दोनोंको देखते हुए एक बार फिर एक अधिक पूर्ण और आलोकित अर्थमें कह सकते हैं: "समस्त जीवन ही योग है।"

२

प्रकृतिके तीन पग

हम 'योग'के पिछले विकासक्रमोंमें एक ऐसी विशिष्टताकारी और पृथक्कारी प्रवृत्ति देखते हैं जिसकी, प्रकृतिकी और समस्त वस्तुओंकी भाँति, एक अपनी समर्थक यहाँतक कि एक अनिवार्य उपयोगिता थी। हम उन सव विशिष्ट उद्देश्यों और प्रणालियोंका एक समन्वय प्राप्त करना चाहते हैं जो इस प्रवृत्तिके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हो चुके हैं। किंतु अपने प्रयत्नमें वुद्धिमत्तापूर्ण पथप्रदर्शन प्राप्त करनेके लिये हमें पहले इस पृथक्कारी प्रेरणाके आधारभूत सामान्य सिद्धांत और प्रयोजनको जान लेना चाहिये, साथ ही हमें उन विशेष उपयोगिताओंको भी जान लेना चाहिये जिनके ऊपर योगके प्रत्येक संप्रदायकी प्रणाली आधारित है। सामान्य उद्देश्यको जाननेके लिये हमें 'प्रकृति'की वैश्व क्रियाओंके विषयमें छान-बीन करनी चाहिये। उसके अंदर हमें केवल विकृतिकारी 'माया'की दिखावटी और भ्रांतिपूर्ण क्रियाको ही नहीं, वल्कि भगवान्‌की सर्वव्यापक सत्ताके अंदर उनकी वैश्व शक्ति और क्रियाको भी पहचान लेना चाहिये, यह क्रिया एक विशाल, असीम पर फिर भी सूक्ष्म रूपमें चुनाव करनेवाली प्रज्ञाको रूप देती है तथा उसके द्वारा प्रेरित होती है—गीतामें इसे 'प्रज्ञा प्रसृता पुराणी' कहा गया है। यह प्रज्ञा आरंभमें 'सनातन सत्ता'से निकली थी। विशेष उपयोगिताओंको जाननेके लिये हमें 'योग'की विभिन्न प्रणालियोंपर एक पैनी दृष्टि डालनी होगी तथा उनकी वारीकियोंके समूहके वीचमेंसे उस प्रधान विचारको ढूँढ़ना होगा जिसके अधीन वे कार्य करती हैं, हमें उसमेंसे उस मूलगत शक्तिको भी ढूँढ़ना होगा जो उन्हें चरितार्थ करने-वाली प्रक्रियाओंको जन्म एवं शक्ति देती है। इसके वाद हम उस सामान्य सिद्धांत और सामान्य शक्तिको अधिक आसानीसे ढूँढ़ सकते हैं जो सवकी उत्पत्ति एवं प्रवृत्तिके स्रोत हैं, जिनकी ओर सव शक्तियाँ अवचेतन रूपमें गति करती हैं और जिनमें सवके लिये चेतन रूपमें संयुक्त होना संभव है।

मनुष्यके अंदर विकसनशील आत्माभिव्यक्तिको, जिसे आधुनिक भाषामें उसका विकास कहते हैं, तीन क्रमिक तत्त्वोंपर आधारित होना चाहिये; पहला वह तत्त्व है जो पहले ही विकसित हो चुका है, दूसरा, जो लगातार चेतन विकासकी अवस्थामें रहता है और तीसरा जिसे विकसित

होना है तथा जो प्रारंभिक रचनाओंमें या किन्हीं अन्य अधिक विकसित रचनाओंमें, यदि सतत रूपमें नहीं तो कभी-कभी एक नियमित अंतरालपर, शायद पहलेसे प्रकट हो सकता है। यह भी संभव है कि वह कुछ ऐसे प्राणियोंमें—चाहे वे कितने भी विरल क्यों न हों—प्रकट हो जो हमारी वर्तमान मनुष्यजातिकी उच्चतम संभव उपलब्धिके निकट हैं। कारण, प्रकृतिकी गति एक नियमित और यांत्रिक रूपसे आगे ही पग रखती हुई नहीं बढ़ती। वह सदा अपनेसे आगे प्रगति करती रहती है, उस समय भी जब कि उसे इस प्रगतिके परिणाम-स्वरूप निराश होकर पीछे हटना पड़ता है। वह द्रुत वेगसे आगेकी ओर बढ़ती है। उसमें बहुत बड़े, सुंदर और आकस्मिक विकास होते हैं, उसे बड़ी विशाल उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। कभी-कभी वह बड़े आवेगपूर्वक इस आशासे आगे बढ़ती है कि वह स्वर्गके राज्यको बलपूर्वक प्राप्त कर लेगी। अपनेको अतिक्रांत करने-वाली उसकी ये क्रियाएँ उसके अंदरके उस तत्त्वको दर्शाती हैं जो अत्यधिक दिव्य है अथवा अत्यधिक आसुरी है, किंतु दोनों दशाओंमें वह इतना अधिक शक्तिशाली अवश्य है कि वह उसे द्रुत गतिसे आगे, उसके लक्ष्यकी ओर ले जायगा।

जिस तत्त्वको प्रकृतिने हमारे लिये विकसित किया है तथा दृढ़ रूपसे स्थापित किया है वह हमारा शारीरिक जीवन है। उसने पृथ्वीपर हमारे कर्म और विकासके दो निम्न तत्त्वोंमें—किंतु जो अधिक मूल रूपमें आवश्यक हैं—एक प्रकारका सहयोग एवं समन्वय स्थापित कर दिया है। एक तत्त्व है 'जड़ पदार्थ', जिससे चाहे अत्यधिक आध्यात्मिक मनुष्य घृणा ही करे पर जो हमारा आधार है तथा हमारी समस्त प्राप्तियों और उप-लब्धियोंकी पहली शर्त है। दूसरा तत्त्व 'जीवन-शक्ति' है जो स्थूल शरीरमें हमारे अस्तित्वका साधन है, यहाँतक कि जो वहाँ हमारी मानसिक और आध्यात्मिक क्रियाओंका भी आधार है। उसने सफलतापूर्वक अपनी सतत भौतिक क्रियाओंमें एक प्रकारका स्थायित्व प्राप्त कर लिया है; ये क्रियाएँ पर्याप्त रूपमें स्थिर एवं स्थायी हैं, साथ ही ये इतनी नमनीय एवं परि-वर्तनशील भी हैं कि ये मनुष्यजातिमें अधिकाधिक अभिव्यक्त होनेवाले 'भगवान्'का उचित निवासस्थान और साधन बन सकती हैं। 'ऐतरेय' उपनिषद्में एक कथा आती है जिसका यही मतलब है। उसमें कहा गया है कि जब दिव्य सत्ताने देवताओंके सामने बारी-बारीसे पशुओंके रूप उपस्थित किये तो वे उन्हें अस्वीकार करते गये, पर ज्योंहीं मनुष्य उनके सामने आया, वे चिल्ला उठे: "यही वस्तु पूर्ण रचना है", और उन्होंने

उसमें प्रवेश करना स्वीकार कर लिया। प्रकृतिने जड़ पदार्थके तमस्‌में और उस सक्रिय जीवनमें जो उस जड़ पदार्थमें निवास करता है तथा उससे पोषण प्राप्त करता है एक क्रियात्मक समझौता भी साधित कर लिया है। उस समझौतेपर प्राणिक जीवन ही निर्भर नहीं करता, वरन् उसकी सहायतासे मनके पूर्णतम विकास भी संभव हो सकते हैं। यह संतुलन मनुष्यमें प्रकृतिकी आधारभूत स्थितिकी रचना करता है तथा 'योग'की भाषामें उसका स्थूल शरीर कहलाता है; यह शरीर भौतिक सत्ता अर्थात् 'अन्नकोष' और स्नायु-प्रणाली अर्थात् प्राणकोषसे बना है।

तब, यदि यह निम्न प्रकारका संतुलन ही उच्चतर क्रियाओंका आधार और प्रारंभिक साधन हो, ऐसा आधार या साधन जिसे वैश्व शक्तिनें प्रस्तुत किया है और यदि यही उस साधनका निर्माण करता हो जिसमें भगवान् इस पृथ्वीपर अपने-आपको व्यक्त करना चाहते हैं, यदि यह भारतीय उक्ति सच्ची हो कि शरीर ही वह यंत्र है जो हमारी प्रकृतिके यथार्थ नियमको चरितार्थ करनेके लिये प्रदान किया गया है, तो भौतिक जीवनके किसी प्रकारके भी अंतिम त्यागका अर्थ दिव्य प्रज्ञाकी चरितार्थतासे पीछे हटना होगा, साथ ही यह पार्थिव अभिव्यक्ति-संबंधी उसके उद्देश्यका भी त्याग होगा। कुछ व्यक्तियोंके लिये यह त्याग उनके विकासके किसी गुप्त नियमके कारण ठीक वृत्ति भी हो सकता है, किंतु यह उद्देश्यके रूपमें मनुष्य-जातिके लिये कभी भी अभिप्रेत नहीं है। अतएव, ऐसा कोई पूर्णयोग नहीं हो सकता जो शरीरकी उपेक्षा करे या उसके अंत और त्यागको पूर्ण आध्यात्मिकता प्राप्त करनेकी अनिवार्य शर्त बना दे। बल्कि, शरीरको भी पूर्ण बनाना 'आत्मा'की अंतिम विजय होनी चाहिये और शारीरिक जीवनको दिव्य बनाना भगवान्‌की वह अंतिम मुहर होनी चाहिये जो वे अपने जागतिक कार्यपर स्वयं लगाते हैं। भौतिक शरीर आध्यात्मिकताके मार्गमें बाधा खड़ी करता है, यह भौतिक शरीरका त्याग करनेके लिये कोई तर्क नहीं है, क्योंकि वस्तुसंबंधी अदृश्य भवितव्यतामें हमारी सबसे बड़ी कठिनाइयाँ हमारे सर्वश्रेष्ठ सुअवसर होती हैं। एक अत्यधिक बड़ी कठिनाई प्रकृतिके इस संकेतको सूचित करती है कि हमें एक अत्यधिक बड़ी विजय प्राप्त करनी है तथा एक चरम समस्याका समाधान करना है। यह एक ऐसे विषयके संबंधमें चेतावनी नहीं है जिससे बचनेका प्रयत्न करना पड़े, न ही यह किसी ऐसे शत्रुके संबंधमें चेतावनी है जिससे हमें भागना पड़े।

इसी प्रकार प्राणिक और स्नायविक शक्तियाँ भी हमारे अंदर किसी

महान् उपयोगिताके लिये ही मौजूद हैं। वे भी हमारी अंतिम परिपूर्णतामें अपनी संभावनाओंको दिव्य रूपमें चरितार्थ करनेकी माँग करती हैं। विश्व-योजनामें जो महान् कार्य इस तत्त्वको सौंपा गया है उसपर उपनिषदोंकी उदार बुद्धिमत्ताने भी अत्यधिक बल दिया है: "जिस प्रकार पहियेके आरे उसके केन्द्रमें जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार 'जीवन-शक्ति'में त्रिविध ज्ञान, 'यज्ञ' और सबल व्यक्तियोंकी शक्ति और बुद्धिमानोंकी पवित्रता स्थापित है। वह सब जो त्रिविध स्वर्गमें विद्यमान है 'जीवन-शक्ति'के नियंत्रणमें है।"[१] अतएव, ऐसा कोई 'पूर्णयोग' नहीं हो सकता जो इन स्नायविक शक्तियोंको नष्ट कर दे, इनपर इस शक्तिहीन निश्चलताको जबर्दस्ती लाद दे या इन्हें हानिकारक क्रियाओंका स्रोत समझकर इनका समूल नाश कर दे। इनका नाश नहीं, बल्कि इनका पवित्रीकरण, इनका रूपांतर, इनपर नियंत्रण एवं इनका उचित प्रयोग ही वह उद्देश्य है जो हमारे सामने है, इसी उद्देश्यके लिये इन्हें हमारे अंदर उत्पन्न एवं विकसित किया गया है।

यदि शारीरिक जीवनको ही 'प्रकृति'ने हमारे लिये, अपने आधार और प्रथम यंत्रके रूपमें, दृढ़तापूर्वक विकसित किया है, तो हमारे मानसिक जीवनको वह अपने अगले पग और उच्चतर यंत्रके रूपमें विकसित कर रही है। उसके साधारण उत्कर्षोंमें यह उसका उच्च एवं प्रधान विचार है। उन समयोंको छोड़कर जब कि वह थक जाती है तथा विश्राम और शक्तिको पुन: प्राप्त करनेके लिये अंधकारमें चली जाती है, अन्य समय उसका सदा यही लक्ष्य रहता है, पर ऐसा वहीं होता है जहाँ कहीं वह अपनी प्रथम प्राणिक और शारीरिक उपलब्धियोंके जालोंसे मुक्त हो सकती है। कारण, यहाँ मनुष्यमें अन्य प्राणियोंसे एक ऐसी विभिन्नता है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उसके अंदर केवल एक मन नहीं, बल्कि द्विविध और त्रिविध मन हैं, भौतिक और स्नायविक मन, विशुद्ध बौद्धिक मन जो शरीर और इन्द्रियोंकी भ्रांतियोंसे अपने-आपको मुक्त कर लेता है और तीसरा, बुद्धिसे ऊपर दिव्य मन जो तार्किक रूपसे विवेक और कल्पनापूर्ण बुद्धिकी अपूर्ण विधियोंसे अपने-आपको मुक्त कर लेता है। मनुष्यमें मन सर्वप्रथम शारीरिक जीवनमें आवृत रहता है, वनस्पतिमें वह पूर्ण रूपसे छिपा रहता है और पशुमें वह सदा बंदी बना रहता है। वह इस जीवनको अपनी क्रियाओंकी पहली शर्तके रूपमें ही नहीं, वरन् समस्त शर्तके रूपमें भी

---

[१]प्रश्न उपनिषद् २, ६ और १३

स्वीकार करता है तथा अपनी आवश्यकताओंको इस प्रकार पूर्ण करनेका प्रयत्न करता है मानो वही जीवनका संपूर्ण उद्देश्य हो। किंतु मनुष्यका शारीरिक जीवन एक आधार है, उद्देश्य नहीं, उसकी पहली अवस्था है, अंतिम और निर्धारक अवस्था नहीं। प्राचीन लोगोंके यथार्थ विचारमें मनुष्य मूल रूपसे विचारक है, विचारशील प्राणी है, 'मनु' है, एक मानसिक सत्ता है जो प्राण और शरीरको गति देती है,[1] वह पशु नहीं है जो उनके द्वारा चालित होता है। इसलिये, सच्चा मानवीय जीवन केवल तभी शुरू होता है जब कि बौद्धिक मन जड़ पदार्थमेंसे प्रकट होता है, जब हम स्नायविक और भौतिक आक्रमणसे मुक्त होकर मनमें अधिकाधिक निवास करना शुरू कर देते हैं और जिस हदतक वह मुक्ति हमें प्राप्त होती है उस हदतक हम शारीरिक जीवनको यथार्थ रूपमें स्वीकार कर सकते हैं तथा उसका यथार्थ प्रयोग करनेमें समर्थ होते हैं। कारण, स्वामित्व प्राप्त करनेके लिये एक निपुण अधीनता नहीं, वरन् स्वतंत्रता ही सच्चा साधन है। अपनी भौतिक सत्ताकी अवस्थाओंको, विस्तृत एवं उन्नत अवस्थाओंको जबरदस्तीसे नहीं, बल्कि स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करना ही उच्च मानवीय आदर्श है।

इस प्रकार विकसित होता हुआ मनुष्यका मानसिक जीवन वस्तुतः सबके अंदर एकसा नहीं होता; बाह्य रूपसे देखनेमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ व्यक्तियोंमें ही यह अत्यधिक पूर्ण रूपसे विकसित हुआ है, जब कि बहुतसे लोगोंमें, अधिकतर लोगोंमें, यह या तो उनकी सामान्य प्रकृतिका एक छोटा-सा अंग होता है जो भली प्रकार व्यवस्थित भी नहीं होता या बिल्कुल ही विकसित नहीं होता, या फिर यह उनमें प्रसुप्त अवस्थामें होता है तथा सरलतासे सक्रिय नहीं बनाया जा सकता। निश्चय ही मानसिक जीवन प्रकृतिका अंतिम विकास नहीं है। यह अभीतक मानव-प्राणीमें दृढ़तापूर्वक स्थापित भी नहीं हुआ है। इसका संकेत हमें इस बातसे मिलता है कि प्राण-शक्ति और जड़पदार्थका उत्कृष्ट एवं पूर्ण संतुलन और स्वस्थ, सबल एवं दीर्घ आयुवाला मानव-शरीर साधारणतया उन्हीं जातियों या समुदायोंमें पाया जाता है जो चिंतनके प्रयत्नको, उससे उत्पन्न होनेवाली क्षुब्धता एवं खिंचावको अस्वीकार कर देते हैं अथवा जो केवल स्थूल मनसे ही सोचते हैं। सभ्य मनुष्यको अभी पूर्ण सक्रिय मनमें और शरीरमें संतुलन स्थापित करना है, सामान्यतया यह संतुलन उसमें अभी

[1]मनोमयः प्राणशरीरनेता। —'मुंडक उपनिषद् २, २, ७.

नहीं है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि एक अधिक तीव्र प्रकारके मानसिक जीवनके लिये किया गया अधिकाधिक प्रयत्न प्रायः ही मानवी तत्त्वोंमें अधिकाधिक असंतुलन पैदा कर देता है, जिसके परिणाम-स्वरूप प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रतिभाको एक प्रकारका पागलपन कहने लगते हैं तथा उसे ह्रासका, प्रकृतिकी अस्वस्थ विकृतिका परिणाम मानने लगते हैं। पर जो तथ्य इस अतिशयोक्तिको उचित ठहरानेके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं उन्हें यदि अलग-अलग न लेकर अन्य समस्त यथार्थ स्वीकृत तथ्योंके साथ लिया जाय, तो वे एक भिन्न सत्यकी ओर संकेत करते हैं। प्रतिभा वैश्व शक्तिका एक प्रयत्न है; यह हमारी वौद्धिक शक्तियोंको इस हदतक वेग एवं तीव्रता प्रदान करता है कि वे उन अधिक सवल, प्रत्यक्ष और द्रुत सामर्थ्योंके लिये तैयार हो जायें जो अतिवौद्धिक या दिव्य मनकी क्रीड़ा होती हैं। तव यह एक सनक या एक अवर्णनीय तथ्यमात्र नहीं रहता, वल्कि यह प्रकृतिके विकासकी सीधी दिशामें एक पूर्णतया स्वाभाविक अगला कदम वन जाता है। प्रकृतिने शारीरिक जीवन और स्थूल मनमें सुसंगति स्थापित कर दी है, वह उसमें और वौद्धिक मनकी क्रीड़ामें भी सुसंगति स्थापित कर रही है। कारण, यद्यपि उसका कार्य पूर्ण पाशव और प्राणिक शक्तिको कम करना होता है, तो भी वह किसी सक्रिय अस्तव्यस्तताको न तो उत्पन्न करती है और न उसे ऐसा करनेकी आवश्यकता ही पड़ती है। पर अभी भी वह द्रुत वेगसे आगेकी ही ओर वढ़ रही है, यह उसका पहलेसे अधिक ऊँचे स्तरपर पहुँचनेका एक प्रयत्न है; उसकी प्रक्रियासे उत्पन्न अस्तव्यस्तताएँ इतनी वड़ी नहीं होतीं जितनी कि वे मानी जाती हैं। उनमेंसे कुछ तो नयी अभिव्यक्तियोंके स्थूल प्रारंभिक प्रयास हैं और कुछ विघटनकी ऐसी क्रियाएँ हैं जो आसानीसे ठीक कर ली गयी हैं तथा जो प्रायः ही नयी क्रियाओंको जन्म देती हैं और सदा ही उन दूरतक पहुँचनेवाले प्रकृतिके लक्ष्यभूत परिणामोंका केवल थोड़ा-सा ही मूल्य चुकाती हैं।

यदि हम समस्त परिस्थितियोंपर विचार करें तो हम शायद इस निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं कि मानसिक जीवन मनुष्यके अंदर कोई हालमें ही प्रकट नहीं हुआ है, वल्कि वह पहली उपलब्धिकी ही द्रुत पुनरावृत्ति है जिससे च्युत होकर जातिकी 'शक्ति' खेदजनक रुपमें ह्रासको प्राप्त हो गयी थी। वर्वर जातिका मनुष्य शायद उतना सभ्य मनुष्यका पहला पूर्वज नहीं है जितना कि वह किसी पूर्व-सभ्यताका हीन-वंशज है। कारण, यदि वास्तविक वौद्धिक उपलब्धि असमान रुपसे विभाजित है तो भी उसकी क्षमता सर्वत्र अवश्य फैली हुई है। यह देखा जा चुका है कि व्यक्तिगत

दृष्टांतोंमें जो जाति अत्यधिक निम्न समझी जाती है,—उदाहरणार्थ, मध्य-अफ्रीकाकी शाश्वत वर्बर जातियोंसे उत्पन्न नये हवशी,—वह भी बौद्धिक संस्कृतिका अनुसरण करनेमें समर्थ है, और इसके लिये उसमें रक्तके मिश्रणकी आवश्यकता नहीं है, न ही इसके लिये उसे भावी पीढ़ियोंतक ठहरनेकी जरूरत है, हाँ, प्रधान यूरोपीय संस्कृतिकी बौद्धिक क्षमताको पानेमें वह अभी असमर्थ है। जन-समुदायमें भी मनुष्योंको अनुकूल परिस्थितियाँ मिलनेपर उस उपलब्धिके लिये केवल कुछ ही पीढ़ियोंतक जानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है जिसे पानेके लिये बाह्य रूपसे हजारों वर्ष लग सकते हैं। अतएव, या तो मनुष्य, क्योंकि उसे मनोमय प्राणी बननेका गौरव प्राप्त है, विकासके मंद नियमोंके पूरे बोझसे मुक्त हो गया है, या फिर वह पहलेसे ही भौतिक योग्यताके एक ऊँचे स्तरका प्रतिनिधित्व करता है और यदि उसे सहायक अवस्थाएँ और उचित उत्साहवर्धक वातावरण प्राप्त हो जायँ, तो वह सदा ही बौद्धिक जीवनके कार्यके लिये इस योग्यताका प्रदर्शन कर सकता है। मानसिक अयोग्यता वर्बर मनुष्यको उत्पन्न नहीं करती, वल्कि अवसरको लंबे समयतक खोते रहनेसे या उससे अलग रहनेसे तथा जागृत करनेवाली प्रेरणाको स्वीकार न करनेसे उसकी उत्पत्ति होती है। वर्बरता एक मध्यवर्ती निद्रा है, मूल अंधकार नहीं।

इसके अतिरिक्त, आधुनिक विचार और आधुनिक प्रयत्नकी सारी प्रवृत्ति ही निरीक्षककी दृष्टिको यह बताती है कि वह मनुष्यके अंदर प्रकृतिका एक ऐसा विशाल और चेतन प्रयत्न है जिसका कार्य बौद्धिक साधन और योग्यताके एक सामान्य स्तरको तथा आगेकी संभावनाको चरितार्थ करना है, ऐसा वह उन अवसरोंको, जिन्हें आधुनिक सभ्यता मानसिक जीवनको प्रदान करती है, सर्वसुलभ करके करना चाहती है। यूरोपीय बुद्धि जो इस प्रवृत्तिकी विशेष समर्थक है तथा जो स्थूल प्रकृति और जीवनकी वाह्य क्रियाओंमें व्यस्त रहती है इसी प्रयत्नका एक आवश्यक अंग है। यह मनुष्यकी भौतिक सत्तामें, उसके प्राणिक और भौतिक वातावरणमें उसकी पूर्ण मानसिक संभावनाओंके लिये एक पर्याप्त आधार तैयार करना चाहती है। शिक्षाका विस्तार, पिछड़ी जातियोंकी उन्नति, दलित वर्गोंका उत्कर्ष, श्रमसे वचनेके साधनोंकी वहुलता, आदर्श, सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओंकी ओर प्रगति तथा सभ्य मनुष्यजातिमें उन्नत स्वास्थ्य, दीर्घ आयु एवं नीरोग शरीरकी प्राप्तिके लिये विज्ञानका प्रयास—ये सब इस प्रवृत्तिके अर्थको और इसकी दिशाको व्यक्त करते हैं; ये

इसके ऐसे संकेत हैं जो आसानीसे समझमें आ सकते हैं। यथार्थ साधनोंका या कम-से-कम अंतिम साधनोंका प्रयोग सदा न भी किया जाय, तो भी उनका उद्देश्य एक यथार्थ प्रारंभिक उद्देश्य अवश्य है,—यह उद्देश्य है एक स्वस्थ वैयक्तिक और सामाजिक संगठन तथा स्थूल मनकी उचित आवश्यकताओं और माँगोंकी तुष्टि, पर्याप्त सहजता, अवकाश और समान अवसर। इसके परिणाम-स्वरूप भगवान्‌की एक विशेष कृपापात्र जाति, वर्ग या व्यक्ति नहीं, बल्कि समस्त मनुष्यजाति अपनी भाविक और बौद्धिक सत्ताको उसकी पूर्णतम योग्यतातक विकसित करनेके लिये स्वतंत्र रूपसे कार्य कर सकेगी। वर्तमान समयमें भौतिक और आर्थिक उद्देश्यकी प्रधानता हो सकती है, किंतु पृष्ठभूमिमें सदा ही उच्चतर और प्रमुख प्रेरणा कार्य करती है या अतिरिक्त शक्तिके रूपमें प्रतीक्षा करती है।

पर जब प्रारंभिक शर्तें पूरी हो जायँ और इस महान् प्रयत्नको अपना अधिकार मिल जाय, तो उसके आगेकी संभावनाका क्या स्वरूप होगा जिसकी चरितार्थताके लिये बौद्धिक जीवनकी क्रियाओंको काम करना होगा? यदि 'मन' सचमुच ही 'प्रकृति'का उच्चतम तथ्य है तो तार्किक और कल्पनाकारी बुद्धिके समस्त विकासको और भावों और संवेदनोंकी सामंजस्यपूर्ण पुष्टिको अपने-आपमें पर्याप्त होना चाहिये। किंतु, इसके विपरीत, यदि मनुष्य एक तर्कशील और भावुक प्राणीसे कुछ अधिक है, जो कुछ विकसित हो रहा है उससे आगे भी यदि कोई और वस्तु है जिसे विकसित करना है तो यह बिलकुल संभव है कि मानसिक जीवनकी पूर्णता, बुद्धिकी लचक, नमनीयता और विस्तृत योग्यता, भाव और संवेदनाका व्यवस्थित प्राचुर्य एक उच्चतर जीवन और अधिक शक्तिशाली सामर्थ्योंके विकासकी ओर केवल एक मार्ग होगा; इन सामर्थ्योंको अभिव्यक्त होना है तथा निम्न यंत्रको उसी प्रकार अपने अधिकारमें करना है जिस प्रकार मनने शरीरपर अपना ऐसा अधिकार स्थापित कर लिया है कि भौतिक सत्ता अब केवल अपनी सृष्टिके लिये ही अपना अस्तित्व नहीं रखती, बल्कि एक उच्चतर क्रियाके लिये आधार और उपादान भी प्रस्तुत करती है।

मानसिक जीवनसे एक अधिक उच्चतर जीवनकी स्थापना ही भारतीय दर्शनका समस्त आधार है और इसे प्राप्त एवं संगठित करनेका कार्य ही वह सच्चा उद्देश्य है जिसे चरितार्थ करनेके लिये योगकी प्रणालियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। मन विकासकी अंतिम अवस्था नहीं है, न ही वह उसका अंतिम लक्ष्य है। वह शरीरके समान ही एक यंत्रमात्र है, बल्कि योगकी

भाषामें उसे आंतरिक यंत्र[1] कहा जाता है। भारतीय परंपरा इस वातकी पुष्टि करती है कि जिस वस्तुको प्राप्त करना है वह मानवी अनुभवमें कोई नयी वस्तु नहीं है, वल्कि वह पहले भी विकसित हो चुकी है, यहाँतक कि उसने मनुष्यजातिपर उसके विकासके कुछ युगोंमें शासन भी किया है। जो भी हो, किसी समय वह आंशिक रूपमें अवश्य ही विकसित हुई होगी, केवल तभी वह जानी जा सकती थी। और, यदि प्रकृति अव अपनी इस उपलब्धिसे च्युत हो गयी है, तो इसका कारण सदा यही होगा कि कहीं कोई समन्वय साधित नहीं हुआ या बौद्धिक और भौतिक आधार कुछ हदतक अपर्याप्त रह गया जिसकी ओर अव वह लौट आयी है; या फिर निम्न जीवनको नुकसान पहुँचाकर उच्चतर जीवनपर विशेष वल देना भी एक कारण हो सकता है।

तो फिर वह उच्चतर या उच्चतम जीवन क्या है जिसकी ओर हमारा विकास बढ़ रहा है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमें उच्चतम अनुभवोंकी श्रेणीको, असाधारण विचारोंकी श्रेणीको अपने हाथमें लेना होगा, इन सवको प्राचीन संस्कृत भाषाके सिवाय किसी और भाषामें ठीक-ठीक व्यक्त करना कठिन है, क्योंकि ये केवल उसी भाषामें कुछ हदतक क्रमवद्ध किये गये हैं। अंगरेजी भाषामें जो निकट शव्द हैं वे और वातोंके साथ भी संवंधित हैं और उनका प्रयोग वहुत-सी अशुद्धियोंको ही नहीं, वल्कि गंभीर अशुद्धियोंको भी उत्पन्न कर सकता है। योगकी पारिभाषिक शव्द-सूचीमें हमारी भौतिक-प्राणिक सत्ताका नाम आता है, जिसे स्थूल शरीर कहते हैं और जो अन्नकोष और प्राणकोष—दो वस्तुओंसे निर्मित हुई है। उसमें हमारी मानसिक सत्ताका भी नाम है, यह सूक्ष्म शरीर है तथा केवल एक चीजसे अर्थात् मनोमय कोषसे वना है; पर इनके साथ-साथ उसमें एक तीसरा अर्थात् अतिमानसिक सत्ताका सर्वोच्च और दिव्य स्तर भी है जिसे कारण-शरीर कहते हैं तथा जो एक चौथे और पाँचवें कोषसे वना है जिन्हें विज्ञानकोष और आनंदकोष कहा जाता है। किंतु यह विज्ञान अथवा ज्ञान मानसिक प्रश्नों और तर्कोंका कोई क्रमवद्ध परिणाम नहीं है, न यह निष्कर्षों और मतोंकी कोई ऐसी अस्थायी अवस्था ही है जो उच्चतम संभावनाकी परिभाषाओंमें वर्णित की गयी है, वल्कि यह एक विशुद्ध सत्य है, जो स्वयंभू और स्वयंप्रकाशमान है। यह आनंद भी हृदय और संवेदनोंका कोई वहुत वड़ा सुख नहीं है जिसके पीछे दुःख और कष्ट

[1] अंतःकरण

विद्यमान हों, वरन् यह एक ऐसा आनंद है जो स्वयंभू है तथा बाह्य वस्तुओं और किन्हीं विशेष अनुभूतियोंसे स्वतंत्र अपना अस्तित्व रखता है। यह एक ऐसा आत्मानंद है जो एक परात्पर और असीम सत्ताका स्वभाव है, वल्कि यह उसका सारतत्त्व है।

क्या ऐसे मनोवैज्ञानिक विचार किसी वास्तविक और संभव वस्तुके साथ संबंध रखते हैं? समस्त योग ही इन्हें अपनी अंतिम अनुभूति और सर्वोच्च लक्ष्य मानता है। ये हमारी चेतनाकी उच्चतम संभव अवस्थाको, हमारे अस्तित्वके अधिकतम विस्तृत क्षेत्रको शासित करनेवाले नियम हैं। हमारे विचारमें उच्चतम योग्यताओंका एक समन्वय है; ये योग्यताएँ कुछ हदतक सत्य दृष्टि, दैवी प्रेरणा और सहजज्ञानकी मनोवैज्ञानिक योग्यताओंसे साम्य रखती हैं, पर फिर भी ये सहजज्ञानयुक्त बुद्धि या दिव्य मनमें कार्य नहीं करतीं, बल्कि इनसे एक उच्चतर स्तरपर कार्य करती हैं। ये सत्यको प्रत्यक्ष रूपमें देखती हैं, बल्कि वस्तुओंके वैश्व और परात्पर सत्यमें निवास करती हैं तथा उसकी रचना एवं प्रकाशपूर्ण क्रिया होती हैं। ये शक्तियाँ एक ऐसे चेतन अस्तित्वका प्रकाश हैं जो अहंभाव-युक्त अस्तित्वको लाँघ जाता है और जो स्वयं वैश्व और परात्पर दोनों है, इसका स्वभाव आनंद है। ये स्पष्ट ही दिव्य हैं और जैसा कि मनुष्य आजकल प्रत्यक्ष रूपमें बना हुआ है उसे देखते हुए ये चेतना और क्रियाकी अतिमानसिक अवस्थाएँ हैं। परात्पर अस्तित्व, आत्म-बोध और आत्म-आनंद[1]—ये तीनों सचमुच ही सर्वोच्च 'आत्मा'की दार्शनिक रूपमें व्याख्या करते हैं, और हमारे जाग्रत् ज्ञानके सामने अज्ञेय तत्त्वकी रचना करते हैं, चाहे उस अज्ञेयको हम शुद्ध निर्व्यक्तिक सत्ताके रूपमें मानें या जगत्को व्यक्त करनेवाले विश्वव्यापी व्यक्तित्वके रूपमें। किंतु योगमें ये अपने मनोवैज्ञानिक पक्षोंमें आभ्यंतरिक अस्तित्वकी अवस्थाएँ मानी जाती हैं जिन्हें हमारी जागृत चेतना इस समय नहीं जानती, किंतु जो हमारे अंदर एक अतिचेतन स्तरपर निवास करती हैं और इसीलिये जिनकी ओर हम सदा ही आरोहण कर सकते हैं।

जैसा कि नामसे सूचित होता है, 'कारण'-शरीरके लिये यह सर्वोच्च अभिव्यक्ति उस सबका स्रोत और प्रभावकारी शक्ति है जो वास्तविक विकासक्रममें उससे पहले आया है, जब कि दूसरे दोके साथ जो कि यंत्र अर्थात् करण हैं ऐसा नहीं होता। हमारी मानसिक क्रियाएँ दिव्य ज्ञानसे

---

[1] सच्चिदानन्द

उत्पन्न हुई हैं तथा उसीमेंसे उनका चयन किया गया है और जबतक वे उस सत्यसे जो गुप्त रूपमें उनका स्रोत है अलग रहती हैं तबतक वे दिव्य ज्ञानकी विकृतिमात्र रहती हैं। हमारे संवेदन और आवेगका भी 'परमानंद'के साथ यही संबंध है; हमारी स्नायविक शक्तियों और कार्योंका दिव्य चेतना-द्वारा धारण की हुई 'संकल्प-शक्ति' और 'सामर्थ्य'के पक्षके साथ तथा हमारी भौतिक सत्ताका उस 'परमानंद' और 'चेतना'के विशुद्ध सारके साथ भी यही संबंध है। जिस विकासको हम अपने सामने देखते हैं तथा इस जगत्में हम जिसके सर्वोच्च रूप हैं उसे एक अर्थमें एक विपरीत अभिव्यक्ति माना जा सकता है। इस अभिव्यक्तिके द्वारा ही ये 'शक्तियाँ', अपनी एकता और विभिन्नतामें, अपूर्ण सार-पदार्थका तथा 'जड़पदार्थ', 'प्राण' और 'मन'की क्रियाओंका प्रयोग करती हैं, उन्हें विकसित करती हैं तथा पूर्ण बनाती हैं जिससे कि वे उन दिव्य और सनातन अवस्थाओंके बढ़ते हुए सामंजस्यको जिनसे वे उत्पन्न हुई हैं एक परिवर्तनशील और अपेक्षित ढंगमें व्यक्त कर सकें। यदि यही विश्वका सत्य हो तो विकासका लक्ष्य ही उसका कारण भी है, यही उसके तत्त्वोंमें अंतर्निहित है और उन्हींसे यह प्रस्फुटित भी होता है। किंतु यह प्रस्फुटन यदि केवल बचनेका एक तरीकामात्र है और, अपनेको धारण करनेवाले सारपदार्थ और उसकी क्रियाओंकी ओर उन्हें उन्नत और रूपांतरित करनेके लिये नहीं मुड़ता तो यह निश्चय ही अपूर्ण है। इस अंतर्वर्ती अवस्थाको अपने अस्तित्वके लिये कोई विश्वसनीय कारण नहीं मिलेगा, यदि इसका अंतिम कार्य ऐसे रूपांतरको साधित करना न हो। किंतु यदि मानव-मन दिव्य 'प्रकाश'के वैभवको ग्रहण करनेमें समर्थ हो तो मानव भावना और संवेदनको इस ढाँचेमें रूपांतरित किया जा सकता है और वे सर्वोच्च आनंदकी मात्रा और क्रियाको ग्रहण कर सकते हैं। यदि मानव कर्म एक दिव्य और निरभिमान 'शक्ति'की क्रियाका केवल प्रतिनिधित्व ही नहीं करता, वरन् अपने-आपको वही अनुभव करता है, यदि हमारी सत्ताका भौतिक तत्त्व सर्वोच्च सत्ताकी पवित्रतामें काफी भाग लेता है, और इन उच्चतम अनुभवों और साधनोंको सहायता देने तथा इन्हें अधिक समयतक स्थिर रखनेके लिये अपने अंदर नमनीयता और स्थायी दृढ़ताको काफी मात्रामें एकत्रित करता है तो 'प्रकृति'के समस्त लंबे परिश्रमका अंत एक अत्यधिक बड़ी सफलता होगी और उसके विकासक्रम अपने गहन अर्थको प्रकट कर देंगे।

इस सर्वोच्च जीवनकी एक झाँकी भी इतनी चकाचौंध उत्पन्न करने-वाली है तथा इसका आकर्षण इतना वशीकारी है कि यह यदि एक बार

३

त्रिविध जीवन

प्रकृति तब एक सनातन और गुप्त अस्तित्वका विकास है अथवा उसकी एक विकसनशील आत्म-अभिव्यक्ति है; उसके तीन क्रमिक रूप उसके आरोहणके तीन पग हैं। अतएव, ये तीन परस्पर-आश्रित संभावनाएँ, शारीरिक जीवन, मानसिक अस्तित्व और वह आवृत आध्यात्मिक सत्ता, जो निवर्तनमें दूसरे अस्तित्वोंका कारण है और विकासमें उनका परिणाम है, हमारी समस्त क्रियाओंकी शर्तें हैं। भौतिक जीवनको सुरक्षित रखते हुए और पूर्ण बनाते हुए तथा मानसिक जीवनको चरितार्थ करते हुए प्रकृतिका उद्देश्य यह होता है और हमारा भी यही होना चाहिये कि पूर्णता-प्राप्त मन और शरीरमें 'आत्मा'की परात्पर क्रियाएँ अभिव्यक्त हो जायँ। जिस प्रकार मानसिक जीवन शारीरिक जीवनके उत्कर्ष और श्रेष्ठतर उपयोगमें बाधा नहीं पहुँचाता, वरन् उसके लिये कार्य करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवनको भी हमारी बौद्धिक, भाविक, सौंदर्यात्मक और प्राणिक क्रियाओंका त्याग नहीं, वरन् रूपांतर करना चाहिये।

कारण, मनुष्य जो पार्थिव प्रकृतिका नेता है तथा जो अकेला ही एक ऐसा पार्थिव ढाँचा है जिसमें प्रकृतिका पूर्ण विकास संभव है, त्रिविध जीवन धारण करता है। उसे एक ऐसा सजीव ढाँचा मिला है जिसमें शरीर एक पात्र है और प्राण दिव्य अभिव्यक्तिका सक्रिय साधन। उसकी क्रिया एक विकसनशील मनमें केंद्रित है, इस मनका उद्देश्य है अपने-आपको और उस घरको जिसमें वह निवास करता है पूर्ण बनाना, साथ ही उस प्राण-रूपी साधनको भी पूर्ण बनाना जिसका कि वह प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त वह एक विकसनशील आत्मोपलब्धिके द्वारा 'आत्मा'के एक रूपमें अपने सच्चे स्वभावके प्रति जागृत भी हो सकता है। उसका चरम विकास उसमें है जो वह वास्तवमें सदासे था, वह प्रकाश और आनंदसे पूर्ण आत्मा है जिसका प्रयोजन ही अंतमें प्राण और मनको उस वैभवसे प्रकाशित कर देना है जो इस समय छुपा हुआ है।

क्योंकि मानवजातिमें यही दिव्य शक्तिकी योजना है, हमारे अस्तित्वकी समस्त प्रणाली और उसके समस्त उद्देश्यको सत्तामें इन तीन तत्त्वोंकी पारस्परिक क्रियाके द्वारा ही कार्य करना चाहिये। क्योंकि प्रकृतिमें इनकी

रचना अलग-अलग हुई है, मनुष्य इन तीनों प्रकारके जीवनोंमें, —साधारण भौतिक जीवन, मानसिक क्रिया और विकासका जीवन तथा अपरिवर्तनशील आध्यात्मिक आनंदमय जीवन, —चुनाव करनेके लिये स्वतंत्र है। किंतु ज्यों-ज्यों वह विकसित होता है वह इन तीनों रूपोंको संयुक्त कर सकता है, इनके विरोधोंको एक सामंजस्यपूर्ण लयमें विलीन कर सकता है और इस प्रकार अपने अंदर एक पूर्ण देवताको, पूर्ण 'मनुष्य'को जन्म दे सकता है।

साधारण 'प्रकृति'में इनमेंसे प्रत्येकका अपना विशिष्ट गुण एवं अपनी प्रधान प्रेरणा होती है।

शारीरिक जीवनकी विशेष शक्ति उतनी विकासके लिये उपयुक्त नहीं है जितनी कि स्थायित्वके लिये, उतनी व्यक्तिके विस्तारके लिये नहीं जितनी कि उसकी अपनी पुनरावृत्तिके लिये। भौतिक 'प्रकृति'में एक जातिसे दूसरी जातितक अर्थात् वनस्पतिसे पशुतक तथा पशुसे मनुष्यतक विकास अवश्य होता है, कारण निर्जीव जड़ पदार्थमें भी मन कार्य करता है। किंतु एक वार जव एक जाति स्थूल रूपमें अपना विशेष आकार धारण कर लेती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि पार्थिव जननीका प्रमुख तात्कालिक कार्य उसके अस्तित्वको बनाये रखना होता है, और वह जाति फिर अपने प्रतिरूपको वार-वार उत्पन्न करती रहती है। कारण, जीवन सदा ही अमरत्वकी चाहना करता है। किंतु, वैयक्तिक आकार अस्थायी है और विश्वको उत्पन्न करनेवाली चेतनामें आकारका विचार ही स्थायी है, —क्योंकि वहाँ वह नष्ट नहीं होता, —इसलिये ऐसे प्रतिरूपोंको वार-वार उत्पन्न करना ही भौतिक अमरत्वका एकमात्र संभव रूप है। अतएव, अपनी रक्षा और पुनरावृत्ति करना तथा अपनेको वहुगुणित करना आवश्यक रूपमें समस्त भौतिक अस्तित्वकी प्रधान सहज-प्रवृत्तियाँ हैं।

विशुद्ध मनकी विशेष शक्ति परिवर्तन है और जितना अधिक वह उत्कर्ष और संगठनको प्राप्त करता है उतना अधिक ही 'मन'का यह नियम एक सतत विस्तारका तथा उपलब्धियोंकी उन्नति और श्रेष्ठ व्यवस्थाका रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार वह एक छोटी और सरल पूर्णतासे एक अधिक विशाल और जटिल पूर्णतातकका विच्छिन्न मार्ग वन जाता है। कारण, मन, शारीरिक जीवनके विपरीत, अपने क्षेत्रमें असीम है, अपने विस्तारमें नमनीय है, अपनी रचनाओंमें सरलतासे परिवर्तित हो सकता है। अतएव, परिवर्तन, आत्म-विस्तार एवं आत्म-सुधार उसकी उचित सहज-प्रवृत्तियाँ हैं। उसका धर्म है पूर्णताको प्राप्त करना, उसका सिद्धांत है प्रगति करना।

'आत्मा'का विशेष नियम एक स्वयंस्थित पूर्णता और अपरिवर्तनीय असीमता है। अमरत्व जो 'जीवन'का उद्देश्य है और पूर्णता जो 'मन'का लक्ष्य है, सदा इसके अधिकारमें रहते हैं, इन्हें अपने पास रखनेका उसका सहज अधिकार है। 'सनातन' सत्ताकी प्राप्ति और उस वस्तुकी उपलब्धि जो सब चीजोंमें तथा उनके आगे भी एक ही है, जो विश्वमें और उसके बाहर भी समान रूपसे आनंदमय है, जो उन रूपों और क्रियाओंकी जिनमें वह निवास करती है अपूर्णताओं और सीमाओंसे अछूती है, आध्यात्मिक जीवनका वैभव है।

ऐसे प्रत्येक आकारमें 'प्रकृति' वैयक्तिक और सामूहिक दोनों रूपोंमें काम करती है। कारण, सनातन सत्ता एक आकार और सामूहिक जीवन, दोनोंमें, समान रूपसे अपनी स्थापना करती है, चाहे वह कुटुंब हो, चाहे जाति या राष्ट्र अथवा ऐसे समुदाय हों जो कम भौतिक सिद्धांतोंपर निर्भर हों, या फिर सबका सर्वोच्च समूह अर्थात् हमारी सामूहिक मानवजाति हो। मनुष्य अपनी वैयक्तिक भलाईकी खोज इनमेंसे किसी या सभी कार्यक्षेत्रोंमें कर सकता है, या इन्हींमें समूहके साथ अपने-आपको एक कर सकता है और उसीकी खातिर जीवित रह सकता है, या फिर ऊपर उठकर इस जटिल विश्वके अधिक सच्चे बोधको प्राप्त करके वैयक्तिक उपलब्धिको सामूहिक उद्देश्यके साथ समन्वित कर सकता है। कारण, जिस प्रकार आत्माका—जबतक वह विश्वमें रहती है—सर्वोच्च सत्ताके साथ यथार्थ संबंध इसमें है कि वह न तो अहंभावयुक्त ढंगसे अपनी पृथक् सत्ताकी पुष्टि करे और न परिभाषातीत सत्तामें अपने-आपको मिटा ही डाले, बल्कि भगवान् और जगत्के साथ अपनी एकता स्थापित करके व्यक्तिमें इन दोनोंको संयुक्त कर दे, उसी प्रकार व्यक्तिका समूहके साथ यथार्थ संबंध न तो अहंभावयुक्त ढंगसे बिना अपने साथियोंकी ओर ध्यान दिये अपनी भौतिक या मानसिक उन्नतिको साधित करना या आध्यात्मिक मोक्षको प्राप्त करना है और न समाजकी खातिर अपने विकासको रोकना या कुचलना है; बल्कि उसे अपने अंदर अपने विकासकी सर्वश्रेष्ठ और पूर्णतम संभावनाओंको एकत्र करके उन्हें विचार, कर्म और अन्य समस्त साधनोंके द्वारा अपने चारों ओर उँडेल देना है, जिससे समस्त जाति उस उपलब्धिके अधिक निकट पहुँच सके जिसे उसके महान् व्यक्ति पहले प्राप्त कर चुके हैं।

इस सबका निष्कर्ष यह निकलता है कि भौतिक जीवनका प्रयोजन अवश्य ही सबसे पहले 'प्रकृति'के प्राणिक उद्देश्यको पूरा करना है। भौतिक मनुष्यका समस्त उद्देश्य ही जीवित रहना है, जितना आराम और सुख

रास्तेमें प्राप्त हो सकता हो उतनेके साथ उसे जन्मसे मृत्युतक पहुँचना है, मतलब यह है कि किसी-न-किसी प्रकार जीना है। वह अपने इस उद्देश्यको निम्न स्थान भी दे सकता है, पर केवल भौतिक 'प्रकृति'की दूसरी सहज-प्रवृत्तियोंकी तुलनामें ही; ये प्रवृत्तियां हैं—व्यक्तिके प्रतिरूपकी उत्पत्ति और कुटुंब, जाति या समाजमें उस प्रतिरूपकी रक्षा। सत्ता, कौटुंबिक जीवन, समाज और राष्ट्रकी प्रचलित व्यवस्था—ये भौतिक अस्तित्वके निर्माणकारी अंग हैं। प्रकृतिकी मितव्ययितापूर्ण व्यवस्थामें इसका अत्यधिक महत्त्व स्पष्ट है; मानव प्रतिरूप जो उसका प्रतिनिधित्व करता है उसका महत्त्व भी उतना ही है। जिस ढांचेका प्रकृतिने निर्माण किया है उसकी रक्षाका तथा उसकी पिछली उपलब्धियोंकी व्यवस्थित स्थिरता और सुरक्षाका वह उसे विश्वास दिलाता है।

किंतु इसी उपयोगिताके कारण इस प्रकारके मनुष्य और उनका जीवन बुरे माने जाते हैं, वे सीमित और अन्यायतः अनुदार होते हैं, पृथ्वीके साथ बँधे होते हैं। प्रचलित कार्यक्रम, प्रचलित प्रथाएँ, विचारके परंपरागत या अभ्यासगत रूप,—ये सब उनके नासारंध्रोंके जीवन-श्वास होते हैं। भूतकालमें जो परिवर्तन उन्नतिशील व्यक्तियोंने किये हैं उन्हें वे स्वीकार करते हैं तथा उत्साहपूर्वक उनका समर्थन करते हैं, किंतु साथ ही वे उतने ही उत्साहसे उन परिवर्तनोंका प्रतिरोध भी करते हैं जो आजकल किये जा रहे हैं। कारण, भौतिक मनुष्यके लिये विकासवादी विचारक कोरा आदर्शवादी है, स्वप्नद्रष्टा अथवा विक्षिप्त मनुष्य है। पुरानी यहूदी और अन्य जातियोंके लोग जिन्होंने जीवित पैगम्बरोंको पत्थरोंसे मारा था और मरनेके बाद उनके स्मारकोंकी पूजा की थी, 'प्रकृति'में उपस्थित इसी सहज-प्रेरित और विवेकहीन सिद्धांतके साक्षात् रूप थे। प्राचीन समयमें भारत-वर्षमें एक-जन्मा और द्वि-जन्मामें भेद किया जाता था, एक-जन्मा यही भौतिक मनुष्य कहा जा सकता है। वह 'प्रकृति'के निम्न काम करता है, उसके उच्चतर कार्योंका आधार सुनिश्चित करता है, किंतु उनके सामने उसके दूसरे जन्मके वैभव आसानीसे प्रकट नहीं होते।

फिर भी वह इतनी आध्यात्मिकता अवश्य स्वीकार करता है जितनी उसके साधारण विचारोंपर भूतकालकी महान् धार्मिक क्रांतियोंने लादी है। वह अपनी समाजसंबंधी योजनामें किसी पुरोहित या विद्वान् अध्यात्मवेत्ताके लिये स्थान रखता है, उससे वह आशा करता है कि वह उसे एक सुरक्षित और साधारण आध्यात्मिक भोजन देता रहे. यह स्थान आदर-योग्य तो हो सकता है, पर प्रभावपूर्ण प्रायः नहीं होता। किंतु

जो व्यक्ति आध्यात्मिक अनुभव और आध्यात्मिक जीवनकी स्वतंत्रताकी बलपूर्वक माँग करता है, उसके लिये मनुष्य, यदि उसे वह स्वीकार कर ले तो, पुरोहितका बाना नहीं, वरन् संन्यासीका चोगा निश्चित करता है। समाजके बाहर उसे अपनी भयंकर स्वतंत्रताका उपभोग करने दिया जाता है। वह वस्तुतः एक ऐसी मानवी विद्युत्-छड़ीका काम करता है जो आत्माकी विद्युत्को ग्रहण कर लेती है, पर उसे सामाजिक ढाँचेसे अलग रखती है।

पर यह सब होते हुए भी भौतिक मनुष्य और उसके जीवनकी साधारण उन्नति की जा सकती है, ऐसा भौतिक मनपर उन्नतिके नियमका, चेतन परिवर्तनके अभ्यासका तथा जीवनके सिद्धांतके रूपमें विकासके स्थिर विचारका प्रबल प्रभाव डालकर किया जाता है। यूरोपमें इस साधनके द्वारा विकसनशील समाजोंका निर्माण जड़ पदार्थपर मनकी एक बड़ी भारी विजय है। किंतु भौतिक प्रकृति अपना बदला लेती है, क्योंकि तब जो उन्नति साधित होती है वह अधिक स्थूल बाह्य ढंगकी होती है और उसके अधिक उच्च और अधिक द्रुत कार्यके लिये किये गये प्रयत्न अत्यधिक थकावटके, तीव्र भ्रांति और चौंका देनेवाली अवनतिके भाव ले आते हैं।

भौतिक मन और उसके जीवनको कुछ थोड़ी-सी आध्यात्मिकता प्रदान करना इस प्रकार भी संभव है कि वह जीवनकी समस्त प्रथाओं और उसकी साधारण क्रियाओंको धार्मिक भावनाके दृष्टिकोणसे विचारनेका अभ्यस्त हो जाय। पूर्वमें ऐसे आध्यात्मिक समाजोंकी उत्पत्ति वस्तुतः जड़ पदार्थपर आत्माकी एक अत्यधिक बड़ी विजय रही है। किंतु यहाँ भी इसमें एक दोष रह गया है। कारण, इसका परिणाम प्रायः ही एक धार्मिक स्वभावको जन्म देता है जो कि आध्यात्मिकताका एक अत्यंत बाह्य रूप है। उसकी उच्चतर अभिव्यक्तियाँ, उसकी अत्यधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली अभिव्यक्तियाँ भी सामाजिक जीवन्से बहुतसे व्यक्तियोंको बाहर ले आती हैं तथा उसे इस प्रकार दरिद्र बना देती हैं या फिर एक क्षणिक उत्कर्षके द्वारा थोड़े समयके लिये समाजमें क्षुब्धता पैदा कर देती हैं। सत्य वस्तुतः यह है कि यदि मानसिक प्रयत्न और आध्यात्मिक प्रेरणाको अलग-अलग लिया जाय तो वे भौतिक प्रकृतिके प्रबल प्रतिरोधपर विजय प्राप्त करनेके लिये काफी नहीं हैं। इससे पहले कि प्रकृति मनुष्य-जातिमें एक पूर्ण परिवर्तन लाये वह उन दोनोंको एक पूर्ण प्रयत्नमें एक साथ देखनेकी माँग करती है। किंतु साधारणतया ये दोनों साधन ही एक-दूसरेको आवश्यक छूट देनेके लिये अनिच्छुक रहते हैं।

मानसिक जीवन सौंदर्यात्मक, नैतिक और बौद्धिक क्रियाओंपर अपने-आपको एकाग्र करता है। मूल मानसिकता आदर्शवादी होती है और पूर्णताकी खोज करती है; उधर सूक्ष्म सत्ता, देदीप्यमान आत्मा[1] सदा ही स्वप्नद्रष्टा होता है। पूर्ण सौंदर्य, पूर्ण आचार-व्यवहार और पूर्ण सत्यका स्वप्न, चाहे वह सनातन सत्ताके नये रूपोंकी खोज कर रहा हो या उसके पुराने रूपोंमें पुनः शक्तिका संचार कर रहा हो, विशुद्ध मनकी वास्तविक आत्मा है, किंतु वह 'जड़ पदार्थ'के प्रतिरोधका सामना करना नहीं जानता। वह वहीं रुक जाता है तथा अयोग्य प्रमाणित होता है, वह अनगढ़ प्रयोगोंके द्वारा कार्य करता है; फिर उसे या तो संघर्षसे पीछे हटना पड़ता है या एक अंधकारपूर्ण वास्तविकताकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। वह भौतिक जीवनका अध्ययन करके तथा संघर्षकी शर्तोंको स्वीकार करके सफल भी हो सकता है, किंतु वह केवल एक ऐसी कृत्रिम प्रणालीको कुछ समयके लिये लादनेमें ही सफल होता है जिसे असीम 'प्रकृति' या तो नष्ट-भ्रष्ट करके एक ओर डाल देती है या उसे इतना विरूप बना देती है कि उसे पहचानना कठिन हो जाता है, या फिर वह अपनी अस्वीकृतिसे उसे एक मृत आदर्शके शवके रूपमें छोड़ देती है। मनुष्यके अंदरके स्वप्नद्रष्टाको बहुत कम उपलब्धियाँ हुई हैं और बहुत देरके बाद प्राप्त हुई हैं। इन्हें संसारने बड़ी गंभीरतापूर्वक स्वीकार किया है, वह इन्हें अपनी मधुर स्मृतिमें रखकर पीछेकी ओर देखता है तथा उसके तत्त्वोंमें इन्हें स्नेहपूर्वक सुरक्षित रखना चाहता है।

जब वास्तविक जीवन और विचारकके स्वभावके बीचकी खाई अत्यधिक चौड़ी हो जाती है तो इसके परिणाम-स्वरूप हम मनको जीवनसे एक प्रकारसे हटता देखते हैं, जिससे कि वह अपने क्षेत्रमें अधिक बड़ी स्वतंत्रताके साथ कार्य कर सके। अपनी आलोकपूर्ण अंतर्दृष्टियोंमें निवास करता हुआ कवि, अपनी कलामें लीन कलाकार, अपने एकांत कक्षमें बौद्धिक समस्याओं-पर विचार करता हुआ दार्शनिक, अपने अध्ययनों और प्रयोगोंकी ही चिन्ता करनेवाला वैज्ञानिक और विद्वान् प्राचीन समयमें, बल्कि अब भी, प्रायः ही बौद्धिक संन्यासी होते थे और होते हैं। मनुष्यजातिके लिये किये गये इनके कार्योंका पता हमें उनके प्राचीन इतिहाससे लगता है।

किन्तु यह एकांत जीवन उनके किसी विशेष कार्यके द्वारा ही उचित

---

[1] ऐसी आत्मा जो 'स्वप्न'में निवास करती है, जो आंतरिक रूपसे चेतन है, जो सूक्ष्म भावोंका उपभोग करती है तथा दीप्तिसे युक्त है। —माण्डूक्य उपनिषद्, ४

ठहराया जा सकता है। मन केवल तभी अपनी पूर्ण शक्तिको प्राप्त कर सकता है और अपने कार्यको पूर्ण रूपसे चरितार्थ कर सकता है जब वह अपने-आपको जीवनपर एकाग्र कर लेता है तथा उसकी संभावनाओं और बाधाओंको एक अधिक बड़ी आत्म-परिपूर्णताके साधनके रूपमें समान रूपसे स्वीकार कर लेता है। भौतिक जगत्‌की कठिनाइयोंके साथ संघर्ष करते हुए व्यक्तिका नैतिक विकास एक सुदृढ़ आकार ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार आचार-संबंधी महान् संप्रदाय निर्मित हो जाते हैं। जीवनके तथ्योंके संपर्कमें आकर ही 'कला' शक्ति प्राप्त करती है, 'विचार' अपनी धारणाओंको निश्चित करता है तथा दार्शनिकके निष्कर्ष अपने-आपको विज्ञान और अनुभवकी स्थिर आधारशिलापर स्थापित करते हैं।

वैयक्तिक मनकी खातिर मनुष्य जीवनके साथ इस संबंधको प्राप्त करनेकी चेष्टा कर सकता है; इसमें वह भौतिक जीवनके रूपोंके प्रति या जातिके उत्थानके प्रति पूर्णतया उदासीन रहता है। यह उदासीनता ऐपीक्यूरियन अर्थात् भोगवादी अनुशासनमें अपने चरम रूपमें दिखायी पड़ती है, 'स्टोइक' (Stoic) अर्थात् तितिक्षावादी अनुशासन-प्रणालीमें भी यह पूर्णता अनुपस्थित नहीं है। यहाँतक कि परार्थवादकी दृष्टिसे किया गया दयापूर्ण कार्य भी जितना अपनी खातिर किया जाता है उतना उस जगत्‌की खातिर नहीं जिसकी सहायताके निमित्त वह किया जाता है। किंतु यह भी एक सीमित चरितार्थता ही है। विकसनशील मनका सर्वश्रेष्ठ कार्य तब होता है जब वह समस्त जातिको अपने स्तरतक उठानेकी कोशिश करता है; ऐसा वह या तो अपने विचार और अपनी परिपूर्णताकी प्रतिमूर्त्तिके बीजोंको प्रसारित करके करता है या फिर जातिके भौतिक जीवनको नये रूपोंमें अर्थात् धार्मिक, बौद्धिक, सामाजिक या राजनीतिक रूपोंमें परिवर्तित करके करता है। इन रूपोंका उद्देश्य सत्यके, सौंदर्य, न्याय और सदाचारके उस आदर्शका अधिक निकट रूपमें प्रतिनिधित्व करना है जिससे मनुष्यकी अपनी आत्मा आलोकित हो चुकी है। ऐसे क्षेत्रमें यदि असफलता प्राप्त हो तो इसका कोई अधिक महत्त्व नहीं। कारण, स्वयं प्रयत्न ही सक्रिय और सर्जनकारी होता है। जीवनको उठानेके लिये मनका संघर्ष जीवनकी उस वस्तुके द्वारा विजयकी आशा और शर्त है जो मनसे भी बड़ी है।

उच्चतम जीवन अर्थात् आध्यात्मिक जीवन सनातन सत्ताके साथ संबंध अवश्य रखता है, किंतु इसी कारण वह क्षणिक सत्तासे पूर्णतया अलग नहीं हो जाता। आध्यात्मिक मनुष्यके लिये मनका पूर्ण सौंदर्य-संबंधी स्वप्न एक

ऐसे सनातन प्रेम, सौंदर्य और आनंदमें चरितार्थ होता है जो किसीपर निर्भर नहीं है तथा जो समस्त दृश्यमान प्रतीतियोंके पीछे समान रूपसे स्थित है; पूर्ण सत्य-संबंधी उसका स्वप्न उस सर्वोच्च, स्वयंस्थित, स्वयं-प्रत्यक्ष और सनातन सत्यमें चरितार्थ होता है जो कभी परिवर्तित नहीं होता, बल्कि जो समस्त परिवर्तनोंकी और समस्त उन्नतिके लक्ष्यकी व्याख्या करता है तथा उनका रहस्य है। उसका पूर्ण कर्म-संबंधी स्वप्न उस सर्वशक्तिमान्, स्वयं अपना पथ-प्रदर्शन करनेवाले दिव्य विधानमें चरितार्थ होता है जो सदा समस्त वस्तुओंके अंदर निहित हैं और यहाँ जगतोंकी लयपूर्ण व्यवस्थामें अपने-आपको व्यक्त करता है। आलोकपूर्ण 'सत्ता'में जो अस्थिर अंतर्दृष्टि है या सृष्टि-संबंधी सतत प्रयत्न है वह 'सत्ता'में सदा स्थिर रहनेवाली एक ऐसी सद्वस्तु है जो सब कुछ जानती है और सबकी स्वामिनी है।[1]

किंतु यदि मानसिक जीवन अपने-आपको स्थूल रूपसे प्रतिरोधकारी भौतिक क्रियाके अनुकूल बनानेमें बहुधा कठिनाई अनुभव करता है तो आध्यात्मिक जीवनके लिये एक ऐसे जगत्में निवास करना कितना अधिक कठिन प्रतीत होगा जो 'सत्य'से नहीं, बल्कि प्रत्येक झूठ और भ्रांतिसे, 'प्रेम' और 'सौंदर्य'से नहीं, बल्कि सर्वग्रासी विरोध और कुरूपतासे, 'सत्य'के नियमसे नहीं, बल्कि विजयी स्वार्थ और अधर्मसे परिपूर्ण है? इसीलिये आध्यात्मिक जीवन अपनानेवाले संत या संन्यासीकी सामान्य प्रवृत्ति भौतिक जीवनको त्यागनेकी तथा उसे पूर्णतया और भौतिक रूपसे या आत्मिक रूपसे अस्वीकार करनेकी होती है। वह इस संसारको तो 'अशुभ' या 'अज्ञान'का राज्य समझता है और सनातन एवं दिव्य सत्ताको या तो सुदूर स्वर्गमें या इस जगत् और जीवनसे परे देखता है। वह अपने-आपको उस अपवित्रतासे अलग कर लेता है; वह आध्यात्मिक सद्वस्तुका समर्थन विशुद्ध एकांतमें करता है। उसका यह त्याग भौतिक जीवनकी एक अमूल्य सेवा इस बातमें करता है कि वह उसे उस वस्तुका आदर करने और उसके सामने सिर झुकानेके लिये बाध्य करता है जो उसके तुच्छ आदर्शोंका और हीन चिन्ताओं और अहंभावयुक्त स्वतुष्टिका सीधा निषेध है।

किंतु संसारमें आध्यात्मिक शक्ति जैसी सर्वोच्च शक्तिका कार्य इस प्रकार सीमित नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक जीवन भी भौतिक

---

[1] वह एकीकृत सत्ता है, जिसमें चेतन विचार एकाग्र रहता है, जो सर्व-आनंदपूर्ण है तथा आनंदकी भोक्ता है, वह बुद्धिमत्तापूर्ण सत्ता है ...... वह सबकी स्वामिनी है, सर्वज्ञाता है, आंतरिक पथ-प्रदर्शक है। —मांडूक्य उपनिषद्-५, ६

जीवनकी ओर वापिस आकर उसपर क्रिया कर सकता है तथा अपनी महत्तर पूर्णताके लिये उसका एक साधनके रूपमें प्रयोग कर सकता है। क्योंकि वह द्वंद्वों और बाह्य प्रतीतियोंके द्वारा अंधा होना अस्वीकार कर सकता है, वह सब बाह्य प्रतीतियोंमें, चाहे जो भी वे हों, उसी 'भगवान्'की, उसी सनातन 'सत्य', 'सौंदर्य', 'प्रेम' और 'आनंद'की झलककी खोज कर सकता है। समस्त वस्तुओंमें उपस्थित 'आत्मा'का, 'आत्मा'में उपस्थित सब वस्तुओंका तथा 'आत्मा'की अभिव्यक्तियोंके रूपमें समस्त वस्तुओंका वैदान्तिक सूत्र इस अधिक समृद्ध और सबको अपने अंदर धारण करनेवाले योगकी कुंजी है।

किंतु इस प्रकार, मानसिक जीवनकी भाँति आध्यात्मिक जीवन भी व्यक्तिके लाभके लिये इस बाह्य अस्तित्वका प्रयोग कर सकता है; इसमें वह ऐसे जगत्के किसी भी सामूहिक उत्कर्षकी ओरसे पूर्णतया उदासीन रह सकता है जो केवल एक प्रतीकमात्र है तथा जिसका वह प्रयोग करता है। क्योंकि सनातन सत्ता सदा सब वस्तुओंमें एक ही रहती है और सब वस्तुएँ सनातन सत्ताके लिये भी वही रहती हैं, क्योंकि मनुष्यमें उसी एक महान् उपलब्धिकी चरितार्थताकी अपेक्षा कार्य करनेके यथार्थ ढंग और परिणामका महत्त्व बहुत ही कम है, यह आध्यात्मिक उदासीनता किसी भी वातावरणको, किसी भी कर्मको शांत भावसे स्वीकार कर लेती है, पर सर्वोच्च लक्ष्यके प्राप्त होते ही वह पीछे हटनेके लिये भी तैयार हो जाती है। गीताके आदर्शको बहुतोंने इसी ढंगसे समझा है। या फिर आंतरिक प्रेम और आनंद अच्छे कार्यों, सेवा और करुणाके रूपमें अपने-आपको संसारमें उँडेल सकते हैं और आंतरिक सत्य ज्ञानके रूपमें अपने-आपको संसारमें उँडेल सकता है; अतएव, वे संसारको रूपांतरित करनेकी कोशिश नहीं करते, क्योंकि वह अपने अविच्छेद्य स्वभावके कारण द्वंद्वोंका, पाप और पुण्यका, सत्य और भ्रांतिका तथा सुख और दुःखका युद्ध-क्षेत्र ही बना रहता है।

किंतु यदि 'उन्नति' जागतिक जीवनके प्रधान तथ्योंमेंसे एक है और भगवान्‌की विकसनशील अभिव्यक्ति ही प्रकृतिका सच्चा अर्थ है तो उन्नति-संबंधी यह सीमा भी ठीक नहीं है। जगत्‌में आध्यात्मिक जीवनके लिये यह संभव है कि वह भौतिक जीवनको अपने प्रतिरूपमें, भगवान्‌के प्रतिरूपमें परिवर्तित कर दे, बल्कि यही उसका सच्चा कार्य है। इसीलिये, उन महान् एकांतवासी योगियोंको छोड़कर जिन्होंने अपनी मुक्तिकी ही खोज की और उसे प्राप्त भी कर लिया, कुछ ऐसे महान् आध्यात्मिक गुरु भी

हो चुके हैं जिन्होंने दूसरोंको भी मुक्ति दिलायी है। इनसे भी अधिक ऊँची वे महान् सक्रिय आत्माएँ हैं जो आत्मिक शक्तिमें आपने-आपको भौतिक जगत्‌की सभी शक्तियोंसे अधिक सबल अनुभव करके एकत्रित हो गयी हैं; इन्होंने भी संसारपर कार्य किया है, प्रेमपूर्ण सांमुख्यमें उसके साथ संघर्ष किया है, तथा उसे इस बातके लिये बाध्य करनेकी चेष्टा की है कि वह अपने रूपांतरके लिये अपनी स्वीकृति दे। साधारणतया मनुष्यजातिमें मानसिक और नैतिक परिवर्तन लानेका प्रयत्न किया जाता है, किंतु इसका विस्तार हमारे जीवनके तथा उसके आचार-व्यवहारोंके रूपोंके परिवर्तनतक भी हो सकता है जिससे कि वे भी आत्माके आंतरिक रसको ग्रहण करनेके लिये अधिक उपयुक्त साँचे बन जायँ। ये प्रयत्न मानवी आदर्शोंकी विकसनशील प्रगति तथा जातिकी दिव्य तैयारीमें सर्वोच्च संकेत रहे हैं। इनमेंसे प्रत्येकने, उसके बाह्य परिणाम चाहे जो हों, पृथ्वीको स्वर्ग-प्राप्तिके अधिक योग्य बना दिया है तथा 'प्रकृति'के विकासात्मक 'योग'की मंद गतिको द्रुत कर दिया है।

भारतवर्षमें, पिछले एक हजार या इससे अधिक वर्षोंमें आध्यात्मिक और भौतिक जीवन पास-पास चलते रहे हैं, इन्होंने मनके विकासकी ओर ध्यान नहीं दिया। आध्यात्मिकताने जड़ पदार्थके साथ यह समझौता कर लिया है कि वह सामान्य उन्नति साधित करनेका प्रयोग छोड़ देगा। उसने समाजसे उन सबके लिये स्वतंत्र आध्यात्मिक उन्नतिका अधिकार प्राप्त कर लिया है जो एक विशेष प्रतीक अर्थात् संन्यासीके वेशको अपना लेते हैं; उसने यह स्वीकार कर लिया है कि यही जीवन मनुष्यका लक्ष्य है और जो इसे अपनाते हैं वही पूर्ण सम्मानके योग्य हैं। उसने समाजको एक ऐसे धार्मिक साँचेमें ढाल दिया है कि उसके अत्यधिक अभ्यस्त कार्योंके साथ भी जीवन और उसके अंतिम लक्ष्यका आध्यात्मिक प्रतीक जुड़ा रहता है जिससे कि उसे इसकी याद बनी रहे। पर इसके विपरीत, समाजको अधिकार केवल तमस् और निश्चल आत्मरक्षाका ही मिला। इस छूटने उन तथ्योंके महत्त्वको बहुत कुछ नष्ट कर दिया। जब धार्मिक साँचा नियत हो गया तो यह वैधिक ढंगसे स्मरण दिलानेकी रीति नित्यप्रतिका क्रम हो गयी और उसने अपना सजीव अर्थ खो दिया। नये मतों और धर्मोंके द्वारा साँचेको बदलनेके सतत प्रयत्न एक नये क्रममें अथवा पुराने क्रमके संशोधित रूपमें समाप्त हो गये। कारण, मुक्त और सक्रिय मनका उद्धारक तत्त्व निर्वासित हो चुका था, क्योंकि स्थूल जीवन तब अज्ञानको, उद्देश्यहीन और अमिट द्वंद्वको सौंप दिया गया था। वह एक ऐसा बोझिल

और दुःखदायी जुआ बन गया जिससे भागकर ही मनुष्य बच सकता था।

भारतीय योगकी पद्धतियोंने तब स्वयं ही एक समझौता कर लिया। तब वैयक्तिक पूर्णता या मुक्ति लक्ष्य बन गया और साधारण कर्मोंसे एक प्रकारका संबंध-विच्छेद शर्त बन गयी और जीवनका त्याग अंतिम उपलब्धि हो गया। गुरु अपना ज्ञान केवल कुछ शिष्योंको ही देता था। और, यदि एक विस्तृत क्षेत्रमें कार्य करनेके लिये प्रयत्न किया भी गया तो भी लक्ष्य व्यक्तिगत आत्माकी मुक्ति ही रहा। अधिकतर तो एक रूढ़ समाजके साथ समझौता ही काममें लाया जाता था।

उस वक्त जो संसारकी वास्तविक दशा थी उसमें इस समझौतेकी उपयोगितापर संदेह नहीं किया जा सकता। इसने भारतवर्षमें एक ऐसे समाजको सुरक्षित रखा जिसने आध्यात्मिकताकी रक्षा एवं पूजा की; यह एक ऐसा देश बना रहा जिसमें एक किलेकी भाँति सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श अपनी अत्यधिक पूर्ण विशुद्धताके साथ अपने-आपको बनाये रख सका, इस किलेमें वह अपने चारों ओरकी शक्तियोंके आक्रमणसे सुरक्षित रहा। किंतु यह केवल एक समझौता था, एक पूर्ण विजय नहीं। परिणाम-स्वरूप, भौतिक जीवनने विकास-संबंधी दिव्य प्रेरणाको खो दिया, आध्यात्मिक जीवनने अलग रहकर अपनी उच्चता और विशुद्धताको सुरक्षित तो रखा, पर संसारकी वह जो सेवा कर सकता था उसका तथा अपनी पूर्ण शक्तिका उसे बलिदान करना पड़ा। अतएव, दिव्य भवितव्यतामें योगियों और संन्यासियोंके देशको ठीक उसी तत्त्वके साथ अपना दृढ़ और अनिवार्य संबंध बनाना पड़ा जिसे वह पहले अस्वीकार कर चुका था, यह विकसनशील मनका तत्त्व था। यह सब इसलिये करना पड़ा कि जो चीज उसके पास अब नहीं है उसे वह पुनः प्राप्त कर सके।

हमें यह एक बार फिर स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यक्ति केवल अपने अंदर ही नहीं, बल्कि समूहमें भी निवास करता है और यह कि वैयक्तिक पूर्णता और मुक्ति ही संसारमें भगवान्‌के अभिप्रायका समस्त अर्थ नहीं है। हमारी स्वाधीनताके स्वतंत्र प्रयोगमें दूसरोंकी बल्कि मनुष्यमात्रकी मुक्ति निहित है। अपने अंदर दिव्य प्रतीकको चरितार्थ करनेके बाद, हमारी पूर्णताका प्रयोजन इसमें है कि हम इसे दूसरोंमें भी साधित करें, इसे बढ़ायें तथा अंतमें इसे विश्वव्यापी बना दें।

यदि हम मानवजीवनको उसकी तीनों संभावनाओं-सहित वास्तविक दृष्टिकोणसे देखें तो हम ठीक उसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं जिसे हमने प्रकृतिकी सामान्य क्रियाओं तथा उसके विकासक्रमके तीनों पगोंका निरीक्षण करनेके

बाद निकाला था और तभी हम अपने योग-संबंधी समन्वयके पूर्ण उद्देश्यको समझना आरंभ करते हैं।

'आत्मा' वैश्व जीवनकी उच्चतम चोटी है; 'जड़ पदार्थ' उसका आधार और 'मन' इन दोनोंको जोड़नेवाला सूत्र है। 'आत्मा' सनातन वस्तु है और मन और जड़ पदार्थ उसकी क्रियाएँ हैं। आत्मा वह वस्तु है जो छुपी हुई है और जिसे प्रकाशमें लाना है; मन और शरीर वे साधन हैं जिनके द्वारा वह अपने-आपको प्रकाशमें लानेकी चेष्टा करती है। आत्मा 'योग'के 'स्वामी'की प्रतिमूर्त्ति है; मन और शरीर वे साधन हैं जिन्हें उसने इस प्रतिमूर्त्तिको भौतिक जीवनमें उत्पन्न करनेके लिये हमें प्रदान किया है। समस्त प्रकृति इस छिपे हुए 'सत्य'को अधिकाधिक व्यक्त करनेका एक प्रयत्न है, दिव्य प्रतिमूर्त्तिकी एक अधिकाधिक सफल पुनरावृत्ति है।

किंतु जिस वस्तुको प्रकृति समुदायके लिये एक धीमे विकासके द्वारा उत्पन्न करनेकी कोशिश करती है उसे 'योग' व्यक्तिके लिये एक द्रुत विकासके द्वारा साधित कर लेता है। वह उसकी समस्त शक्तियोंको वेग प्रदान करके और समस्त सामर्थ्यको ऊँचा उठाकर कार्य करता है। प्रकृति आध्यात्मिक जीवनको बड़ी कठिनाईसे विकसित कर पाती है और इसमें उसे सदा अपनी निम्न उपलब्धियोंकी प्राप्तिके लिये निम्न स्तरपर आना पड़ता है, उधर योगकी दिव्यताको प्राप्त शक्ति और केंद्रित प्रणाली सीधे ही मनकी पूर्णता प्राप्त कर सकती है, बल्कि वह उसे अपने साथ ही ला सकती है। इतना ही नहीं, यदि उसे प्रकृतिका सहयोग मिले तो वह शरीरकी पूर्णता भी प्राप्त कर सकती है। प्रकृति भगवान्‌को अपने प्रतीकोंमें खोजती है। योग 'प्रकृति'से आगे 'प्रकृति'के स्वामीतक, विश्वसे आगे 'परात्पर सत्ता'तक जाता है और फिर परात्पर प्रकाश और परात्पर शक्ति-सहित सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के आदेशसे वापिस भी लौट सकता है।

किंतु दोनोंका उद्देश्य अंतमें एक ही है। मनुष्यजातिमें 'योग'को व्यापक बनानेका अर्थ यह है कि प्रकृति अपने विलंबों और रहस्योंपर अंतिम विजय प्राप्त कर ले। अभी तो वह विज्ञानके विकसनशील मनके द्वारा समस्त मनुष्यजातिको मानसिक जीवनके पूर्ण विकासके लिये तैयार करनेकी कोशिश करती है, इसी प्रकार योगके द्वारा उसे समस्त मनुष्यजातिको एक उच्चतर विकासके लिये, एक नये जन्म अर्थात् आध्यात्मिक जीवनके लिये अनिवार्य रूपमें समर्थ बनानेकी कोशिश करनी चाहिये। जिस प्रकार मानसिक जीवन भौतिक जीवनका प्रयोग करके उसे पूर्ण बनाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन भी भौतिक और मानसिक जीवनका प्रयोग

करके उन्हें पूर्ण बनायेगा, ये दिव्य आत्म-अभिव्यक्तिके यंत्र होंगे। जिन युगोंमें यह कार्य साधित होगा वे कथाओंमें आनेवाले 'सत्य' और 'कृत'[1] अर्थात् प्रतीकके रूपमें व्यक्त 'सत्य'के युग होंगे, ये उस महान् कार्यके युग होंगे जब कि प्रकृति मनुष्यजातिमें प्रकाश, संतोष और आनंदसे परिपूर्ण हो जाती है तथा अपने प्रयत्नके शिखरपर पहुँचकर वहीं विश्राम करती है।

अब मनुष्यको उसका प्रयोजन समझना है, उसे विश्व-माताको गलत समझना, उसकी उपेक्षा करना, उसका दुरुपयोग करना छोड़ देना है। उसे माताके उच्चतम आदर्शको प्राप्त करनेके लिये उसीके सबलतम साधनोंके द्वारा सदैव अभीप्सा करनी है।

---

[1] सत्य और कृत अर्थात् चरितार्थ या पूर्ण।

४

योगकी प्रणालियाँ

मानवी सत्ताके विभिन्न मनोवैज्ञानिक विभाजनों और उनपर आधारित प्रयत्न-संबंधी इन अनेक उपयोगिताओं और उद्देश्योंके बीचके संबंध जिन्हें हमने प्राकृतिक विकासक्रमका संक्षेपमें निरीक्षण करते हुए देखा है, हमें 'योग'की विभिन्न पद्धतियोंके मूल सिद्धांतों और प्रणालियोंमें बार-बार मिलेंगे। और, यदि हम उनके केंद्रीय अभ्यासों और प्रधान उद्देश्योंको संयुक्त और समन्वित करना चाहें तो हम देखेंगे कि अभी भी प्रकृति-प्रदत्त आधार ही हमारा स्वाभाविक आधार है और यही उनके समन्वयकी शर्त भी है।

एक दृष्टिसे योग वैश्व प्रकृतिकी सामान्य क्रियासे आगे निकल जाता है और उसे पीछे छोड़कर ऊपरकी ओर आरोहण करता है। कारण, वैश्व माताका उद्देश्य भगवान्‌से, अपनी क्रीड़ा और सृष्ट रूपोंमें, मिलना है और वहीं उसे प्राप्त करना है। किंतु योगके उच्चतम आरोहणोंमें वह अपनेसे आगे जाकर स्वयं अपने अंदर ही भगवान्‌को प्राप्त कर लेती है, इसमें वह विश्वसे आगे निकल जाती है, पर साथ ही वैश्व क्रीड़ासे अलग भी रहती है। इसलिये कुछ लोग यह मानते हैं कि यह योगका केवल उच्चतम उद्देश्य ही नहीं है, वल्कि एकमात्र सच्चा या वांछनीय उद्देश्य भी है।

किंतु, जिस वस्तुका निर्माण प्रकृतिने अपने विकास-क्रममें किया है उसीके द्वारा वह सदा अपने विकासक्रमसे आगे भी निकल जाती है। वैयक्तिक हृदय ही अपने उच्चतम और पवित्रतम भावोंको ऊपर उठाकर परात्पर आनंद या अनिर्वचनीय निर्वाणको प्राप्त करता है, वैयक्तिक मन ही अपनी सामान्य क्रियाओंको मानसिकतासे परेके ज्ञानमें परिवर्तित करके अनिर्वचनीय सत्ताके साथ अपने तादात्म्यको जान लेता है तथा अपने पृथक् अस्तित्वको उस परात्पर एकतामें विलीन कर देता है। सदा व्यक्ति अर्थात् 'आत्मा' ही, जो अपने अनुभवमें प्रकृतिके द्वारा सीमित होता है और उसीकी रचनाओंके द्वारा कार्य करता है असीमित, मुक्त और परात्पर 'आत्मा'को प्राप्त करता है।

योगाभ्यासके संभव हो सकनेके लिये क्रियात्मक दृष्टिसे तीन विचार

आवश्यक हैं। वस्तुतः इस प्रयत्नके लिये तीन पक्षोंको अपनी सम्मति देनी होगी—भगवान्, प्रकृति और मानव-आत्मा, अधिक गहन भाषामें इन्हें 'परात्पर सत्ता', 'वैश्व सत्ता' और व्यक्ति भी कह सकते हैं। यदि व्यक्ति और प्रकृति अपने भरोसे ही छोड़ दिये जायँ तो उनमेंसे एक दूसरेके साथ बँध जाता है और दूसरेकी मंद गतिके कारण अधिक आगे बढ़नेमें समर्थ नहीं होता। यहीं आकर किसी परात्पर वस्तुकी आवश्यकता पड़ती है जो उससे स्वतंत्र और बड़ी हो, जो हमपर और उसपर भी कार्य कर सके और जो हमें ऊपर अपनी ओर खींच सके तथा प्रकृतिसे, उसकी अपनी प्रसन्नतासे या बलपूर्वक, वैयक्तिक आरोहणके लिये उसकी स्वीकृति माँग सके।

यही सत्य योगके प्रत्येक दार्शनिक सिद्धांतके लिये ईश्वर, भगवान्, सर्वोच्च आत्मा या सर्वोच्च सत्ताके विचारको आवश्यक बना देता है। इसी सर्वोच्च सत्ताकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है और यही एक प्रकाशप्रद संपर्क तथा उसे प्राप्त करनेकी शक्ति प्रदान करता है। उतना ही सच्चा योगका वह पूरक विचार है जिसे भक्तियोगने बार-बार लागू किया है अर्थात् यह विचार कि जिस प्रकार परात्पर भगवान् व्यक्तिके लिये आवश्यक हैं और व्यक्ति उसकी खोज करता है उसी प्रकार व्यक्ति भी एक प्रकारसे भगवान्के लिये आवश्यक है और भगवान् उसकी खोज करते हैं। यदि भक्त भगवान्की खोज एवं अभिलाषा करता है तो भगवान् भी भक्तकी खोज और अभिलाषा करते हैं।[1] ज्ञान-प्राप्तिके मानव-जिज्ञासुके बिना, ज्ञानके सर्वोच्च विषयके बिना तथा व्यक्तिके द्वारा ज्ञानकी वैश्व क्षमताओंके दिव्य प्रयोगके बिना 'ज्ञानयोग'का अस्तित्व नहीं हो सकता। भगवान्के मानव-प्रेमीके बिना, प्रेम और आनंदके सर्वोच्च उद्देश्यके बिना तथा व्यक्तिके द्वारा आध्यात्मिक, भाविक और सौंदर्यात्मक उपभोगकी वैश्व क्षमताओंके दिव्य प्रयोगके बिना भक्तियोगका अस्तित्व नहीं हो सकता। मानव कार्यकर्त्ताके बिना, सर्वोच्च संकल्पशक्तिके बिना, समस्त कर्मों और यज्ञोंके स्वामीके बिना और व्यक्तिके द्वारा शक्ति और कर्मकी वैश्व क्षमताओंके दिव्य प्रयोगके बिना कोई कर्मयोग नहीं हो सकता। वस्तुओंका उच्चतम सत्य-संबंधी हमारा बौद्धिक विचार कितना भी एकेश्वर-

---

[1] भक्त अर्थात् भगवान्का अनुरागी या प्रेमी; भगवान् अर्थात् परमात्मा, प्रेम और आनंदका स्वामी; त्रिविध सत्तामेंसे तीसरी सत्ता भागवत सत्ता है, अर्थात् प्रेमका दिव्य प्रकट रूप।

वादी क्यों न हो, क्रियात्मक रूपमें हमें इस सर्वव्यापक त्रिविध सत्ताको स्वीकार करना ही पड़ता है।

कारण, मानव और वैयक्तिक चेतनाका दिव्य चेतनाके साथ संबंध ही योगका सार-तत्त्व है। जो चीज विश्वकी क्रीड़ामें अलग हो गयी थी उसका अपनी सच्ची सत्ताके साथ, अपने स्रोत और अपनी वैश्वताके साथ मेल——इसीका नाम योग है। यह संबंध किसी भी समय तथा जटिल और गहनतः-संगठित चेतनाके किसी भी स्थलपर हो सकता है, इसी चेतनाको हम अपना व्यक्तित्व कहते हैं। यह भौतिक चेतनामें शरीरके द्वारा चरितार्थ किया जा सकता है, प्राणमें यह उन व्यापारोंकी क्रियाके द्वारा साधित होता है जो हमारी स्नायविक सत्ताकी अवस्था और अनुभवोंको निर्धारित करते हैं, जब कि मनमें यह भाविक हृदय, सक्रिय संकल्पशक्ति अथवा विवेकशील मनके द्वारा साधित होता है, अधिकांशमें यह मानसिक चेतनाके उसकी समस्त क्रियाओंमें एक सामान्य रूपांतरके द्वारा साधित होता है। यह संबंध वैश्व या परात्पर 'सत्य' और 'आनंद'के प्रति सीधी जागृतिके द्वारा और मनमें केंद्रीय अहंभावको परिवर्तित करके किया जा सकता है। इस संबंधको जिस स्थलपर हम स्थापित करना चाहेंगे वही हमारे योगका रूप निर्धारित करेगा।

कारण, यदि हम भारतमें प्रचलित योगकी प्रमुख प्रणालियोंकी विशिष्ट प्रक्रियाओंकी जटिलताओंको एक ओर रखकर अपनी दृष्टि उनके केंद्रीय विचारपर रखें तो हमें पता लगेगा कि वे एक ऐसे आरोहणकारी क्रममें अपने-आपको संगठित करती हैं जो सीढ़ीके सबसे निचले सोपान अर्थात् शरीरसे आरंभ होकर वैयक्तिक आत्मा और परात्पर और वैश्व सत्ताके बीचके सीधे संबंधतक जाता है। हठयोग शरीर और प्राणिक क्रियाओंको पूर्णता और सिद्धि प्राप्त करनेके अपने यंत्रोंके रूपमें चुनता है, उसका संबंध स्थूल शरीरके साथ होता है। राजयोग मानसिक सत्ताको उसके विभिन्न अंगोंमें, अपनी मुख्य शक्तिके रूपमें चुनता है; वह सूक्ष्म शरीरपर अपने-आपको एकाग्र करता है। कर्म, प्रेम और ज्ञानका त्रिविध मार्ग, मानसिक सत्ताके एक भागको, संकल्प-शक्ति, हृदय या बुद्धिको प्रारंभिक बिंदुके रूपमें प्रयुक्त करता है और मुक्तिदायक 'सत्य', आनंद और असीमता पानेके लिये उसका रूपांतर करना चाहता है, ये सत्य, आनंद और असीमता ही आध्यात्मिक जीवनके स्वभावके अंग हैं। इसकी प्रणाली व्यक्तिके शरीरमें मानव पुरुष और उस दिव्य 'पुरुष'के बीचमें प्रत्यक्ष आदान-प्रदानकी होती है जो प्रत्येक शरीरमें निवास करता है, पर फिर भी समस्त रूप और नामसे आगे निकल जाता है।

हठयोगका लक्ष्य प्राण और शरीरपर विजय प्राप्त करना है और जैसा कि हम देख चुके हैं, इनका संयोग अन्नकोष और प्राणकोषके रूपमें स्थूल शरीरका निर्माण करता है; प्राण और शरीरका संतुलन ही मानवी सत्तामें प्रकृतिके समस्त कार्योंका आधार है। प्रकृतिद्वारा स्थापित संतुलन सामान्य अहंकारयुक्त जीवनके लिये तो पर्याप्त है, किंतु वह हठयोगीके उद्देश्यको पूरा करनेके लिये काफी नहीं है। कारण, उसका हिसाव उतनी ही प्राणिक या सक्रिय शक्तिपर लगाया जाता है जितनीकी आवश्यकता मानवजीवनके सामान्य कालमें भौतिक इंजिनको चलानेके लिये या उन विभिन्न कार्योंको थोड़ा-वहुत यथार्थ रूपमें करनेके लिये पड़ती है जिनकी माँग उससे इस शरीरमें निवास करनेवाला वैयक्तिक प्राण और उसे सीमित करनेवाली जगत्-परिस्थिति करते हैं। अतएव हठयोग प्रकृतिमें शोधन करना चाहता है तथा एक ऐसा अन्य संतुलन स्थापित करना चाहता है जिसके द्वारा यह भौतिक ढाँचा प्राणकी वृद्धिशील प्राणिक या सक्रिय शक्तिके वेगवान् प्रवाहका सामना करनेमें समर्थ हो जायगा; यह शक्ति अपनी मात्ना और वेगमें वस्तुत: अनिश्चित और असीमप्राय है। प्रकृतिमें यह संतुलन प्राणकी एक सीमित मात्ना और शक्तिके व्यक्तिकरणपर आधारित है। इससे अधिक शक्तिको व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और पैतृक अभ्यासके कारण न तो सह सकता है और न ही उसे प्रयुक्त या नियंत्रित कर सकता है। हठयोगमें यह संतुलन वैयक्तिक प्राण-शक्तिको व्यापक वनानेके लिये एक द्वार खोल देता है, वह शरीरमें वैश्व शक्तिकी एक वहुत ही कम रूढ़ और सीमित क्रियाको प्रवेश करने देता है तथा उसे अपने अंदर धारण करके प्रयुक्त एवं नियंत्रित करता है।

हठयोगकी मुख्य क्रियाएँ 'आसन' और 'प्राणायाम' हैं। अनेक आसनों अर्थात् वैठनेकी नियत स्थितियोंके द्वारा वह पहले शरीरको चंचलतासे मुक्त करता है। यह चंचलता इस वातका संकेत है कि वह उन प्राणिक शक्तियोंको जो उसमें वैश्व जीवनके महासागरसे प्रविष्ट हुई हैं कर्म और गतिमें चरितार्थ किये विना अपने अंदर धारण करनेमें असमर्थ है। इसके वाद हठयोग शरीरको एक असाधारण प्रकारका स्वास्थ्य, वल तथा नमनीयता प्रदान करता है तथा उसे उन रूढ़ अभ्यासोंसे मुक्त कर देता है जो उसे साधारण भौतिक प्रकृतिसे वांधे रखते हैं और उसे उसकी सामान्य क्रियाओंकी तंग सीमाओंमें घेरे रहते हैं। हठयोगकी प्राचीन परंपरामें लोग सदा ही यह मानते थे कि यह विजय इतनी दूरतक ले जायी जा सकती है कि वह काफी हदतक गुरुत्व-शक्तिपर भी विजय प्राप्त कर ले। हठयोगीका

अगला कदम है विभिन्न प्रकारकी गौण परंतु जटिल प्रक्रियाओंके द्वारा शरीरको समस्त अपवित्रताओंसे मुक्त करना तथा स्नायविक प्रणालीको श्वास-प्रश्वासके उन व्यापारोंकी सहायतासे निर्बाध रखना जो उसके अत्यधिक महत्त्वपूर्ण यंत्र हैं। इन्हें प्राणायाम कहते हैं अर्थात् श्वास अथवा प्राणिक शक्तिका नियंत्रण, क्योंकि श्वास लेना प्राणिक शक्तियोंकी मुख्य भौतिक क्रिया है। पहले यह शरीरकी पूर्णताको संपन्न करता है : प्राणिक शक्ति भौतिक प्रकृतिकी बहुत-सी साधारण आवश्यकताओंसे मुक्त हो जाती है और व्यक्ति बढ़िया स्वास्थ्य, लंबा यौवन और प्रायः ही असाधारण रूपसे लंबी आयु प्राप्त कर लेता है। दूसरी ओर, प्राणायाम प्राणकोषमें प्राणिक सक्रियताकी सर्पाकार कुंडलिनी-शक्तिको जगा देता है तथा योगीके सामने चेतनाके ऐसे क्षेत्र, अनुभवकी ऐसी शृंखलाएं तथा असामान्य शक्तियाँ खोलकर रख देता है जो सामान्य मानव-जीवनमें प्राप्त नहीं होतीं, साथ ही वह उन सामान्य शक्तियों एवं क्षमताओंको भी जो उसके पास पहलेसे हैं अतिशय सबल बना देता है। हठयोगीको कुछ और भी गौण प्रक्रियाएं सुलभ हैं जिनके द्वारा वह इन लाभोंको स्थिर एवं पुष्ट कर सकता है।

हठयोगके परिणाम देखनेमें बहुत विशेष प्रकारके प्रतीत होते हैं तथा स्थूल अथवा भौतिक मनपर प्रबल प्रभाव डालते हैं। पर अंतमें यह प्रश्न उठ सकता है कि इतने बड़े परिश्रमके बाद हमें मिला क्या? भौतिक प्रकृतिका उद्देश्य अर्थात् केवल भौतिक जीवनकी सुरक्षा, उसकी उच्चतम पूर्णता, बल्कि कुछ हदतक भौतिक जीवनका अधिक उपभोग करनेकी सामर्थ्य— ये वस्तुएं असाधारण मात्रामें प्राप्त की जा चुकी हैं। किंतु हठयोगकी दुर्बलता इस बातमें है कि इसकी श्रमपूर्ण एवं कठिन प्रक्रियाएं इतने समय और शक्तिकी मांग करती हैं तथा मनुष्यके सामान्य जीवनसे उसे इतने पूर्ण रूपसे अलग होनेको बाध्य करती हैं कि जगत्के जीवनके लिये इनके परिणामोंकी उपयोगिता या तो प्रयोगमें ही नहीं लायी जा सकती या फिर वह असाधारण रूपसे सीमित होती है। यदि हमें इन हानियोंके बदले अंदरके एक अन्य जगत्में एक अन्य जीवन अर्थात् मानसिक या गतिमय जीवन प्राप्त हो जाय तो ये परिणाम दूसरी प्रणालियों अर्थात् राजयोग और तंत्रोंसे भी बहुत कम श्रमपूर्ण साधनोंद्वारा प्राप्त हो सकते थे और इन्हें स्थिर रखनेके लिये इतने कठोर नियमोंका पालन भी नहीं करना पड़ता। बल्कि, इन भौतिक परिणामों अर्थात् [illegible] सफलता, लंबा यौवन, स्वास्थ्य तथा लंबी आयुका लाभ बहुत-सी कम होगा, यदि हम सामान्य जीवनसे अलग रहकर इन्हें [illegible]

पुस्तकालय

इनका उपयोग न करें या इनका प्रयोग संसारके सामान्य कार्योंके लिये न करें। हठयोग बहुत बड़े परिणाम प्राप्त कर लेता है, परंतु बहुत ही असाधारण मूल्यपर और बड़े छोटेसे उद्देश्यकी खातिर।

राजयोग इससे ऊँची उड़ान भरता है। इसका उद्देश्य शारीरिक सत्ताकी मुक्ति और पूर्णताको नहीं, बल्कि मानसिक सत्ताकी मुक्ति और पूर्णताको भी प्राप्त करना है तथा भाविक और संवेदनशील प्राणपर नियंत्रण स्थापित करना एवं विचार और चेतनाके समस्त यंत्रपर प्रभुत्व पाना है। यह अपनी दृष्टि चित्तपर एकाग्र करता है जो मानसिक चेतनाका एक ऐसा संघात है जिसमें ये समस्त क्रियाएँ उठती हैं। जिस प्रकार हठयोग अपने भौतिक उपादानको शुद्ध एवं शांत करना चाहता है उसी प्रकार राजयोग भी मनको पवित्र और शांत बनाना चाहता है। मनुष्यकी सामान्य अवस्था व्याकुलता और अस्तव्यस्तताकी अवस्था है, यह एक ऐसा राज्य है जो या तो अपने-आपसे युद्ध करता रहता है या जो बुरी प्रकार शासित होता है। कारण, यहाँ स्वामी अर्थात् 'पुरुष' अपने मंत्रियों अर्थात् अपनी शक्तियोंके अधीन रहता है, बल्कि अपनी प्रजाके अर्थात् अपने संवेदन, भाव, कर्म और उपभोगके यंत्रोंके अधीन रहता है। वस्तुतः इस अधीनताके बदले अपने राज्य अर्थात् स्व-राज्यकी स्थापना होनी चाहिये। अतएव सबसे पहले अव्यवस्थाकी शक्तियोंपर व्यवस्थाकी शक्तियोंको विजय प्राप्त करनेके लिये सहायता मिलनी चाहिये। राजयोगकी प्रारंभिक क्रिया एक सतर्क आत्मनियंत्रणकी क्रिया होती है जिसके द्वारा निम्न स्नायविक सत्ताको संतुष्ट करनेवाली नियमरहित क्रियाओंके स्थानपर मनके अच्छे अभ्यास डाले जाते हैं। सत्यके अभ्याससे, अहंकारयुक्त खोजके समस्त रूपोंके त्यागसे, दूसरोंको हानि न पहुँचानेकी प्रवृत्तिसे और पवित्रतासे तथा सतत ध्यान एवं उस दिव्य पुरुषकी ओर आकर्षणसे जो मानसिक राज्यका सच्चा स्वामी है, मन और हृदयकी एक शुद्ध, प्रसन्न और निर्मल अवस्था स्थापित हो जाती है।

किंतु यह केवल पहला कदम है। इसके बाद मन और इन्द्रियोंकी सामान्य क्रियाओंको पूर्ण रूपसे शांत बना देना चाहिये जिससे कि आत्मा चेतनाकी उच्चतर स्थितियोंतक आरोहण करनेके लिये स्वतंत्र हो सके और एक पूर्ण स्वाधीनता और आत्म-संयमके लिये आधार स्थापित कर सके; किंतु राजयोग यह नहीं भूलता कि सामान्य मनकी अयोग्यता इस बातमें है कि यह स्नायविक प्रणाली और शरीरकी प्रतिक्रियाओंके अधीन रहता है। इसीलिये वह हठयोगकी पद्धतिसे उसके आसन और प्राणायामके ढंग ग्रहण

कर लेता है; किंतु साथ ही वह प्रत्येक दशामें उनके अनेक और जटिल रूपोंको एक ऐसी अत्यधिक सरल पर प्रत्यक्षतः प्रभावशाली प्रक्रियामें बदल देता है जो उसकी तात्कालिक उद्देश्य-प्राप्तिके लिये पर्याप्त होती है। इस प्रकार वह हठयोगकी जटिलता और वोझिलतासे मुक्त रहकर उसकी प्रणालियोंके द्रुत और शक्तिशाली प्रभावका उपयोग कर लेता है, यह वह शारीरिक और प्राणिक व्यापारोंके नियंत्रण तथा उस आंतरिक गतिशीलताको प्राप्त करनेके लिये करता है जो एक प्रसुप्त पर असाधारण शक्तिसे परिपूर्ण होती है; यौगिक भाषामें यह कुंडलिनीके नामसे प्रसिद्ध है अर्थात् अंदरकी कुंडलित और प्रसुप्त सर्पाकार शक्ति। जब यह हो जाता है तो यह प्रणाली और आगे वढ़ती है और अशांत मनको पूर्णतया शांत बना देती है तथा उसे समाधितक पहुँचानेवाली क्रमिक अवस्थाओंमेंसे गुजारते हुए मानसिक शक्तिकी एकाग्रताके द्वारा एक उच्चतर स्तरतक ले जाती है।

'समाधि'में मन अपनी सीमित और सजग क्रियाओंसे निकलकर चेतनाकी अधिक मुक्त और उच्च अवस्थाओंमें प्रवेश करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा राजयोग दो उद्देश्य सिद्ध करता है; प्रथम तो वह एक ऐसे विशुद्ध मानसिक कर्मको अपने क्षेत्रके अंदर ले आता है जो वाह्य चेतनाकी अस्तव्यस्तताओंसे मुक्त होता है और तव वह वहाँसे उन उच्चतर अतिमानसिक स्तरोंतक पहुँच जाता है जहाँ वैयक्तिक आत्मा एक सच्चे आध्यात्मिक अस्तित्वमें प्रवेश करती है। साथ ही वह अपने विषयपर चेतनाकी उस मुक्त और एकाग्र शक्तिके प्रभावको भी प्राप्त कर लेता है जिसे हमारा दर्शनशास्त्र प्रारंभिक वैश्व शक्तिका नाम देता है और जिसे वह जगत्पर भागवत कार्य करनेकी प्रणाली मानता है, इसी शक्तिके द्वारा योगी, जो समाधि-अवस्थामें उच्चतम अति-वैश्व ज्ञान और अनुभवको पहलेसे ही प्राप्त कर चुका होता है, जागृत अवस्थामें भी उस ज्ञानको सीधा प्राप्त कर सकता है तथा उस आत्म-संयमका प्रयोग कर सकता है जो भौतिक जगत्में उसकी क्रियाओंके लिये लाभदायक या आवश्यक हो सकते हैं। कारण, राजयोगकी प्राचीन प्रणालीका उद्देश्य केवल 'स्वराज्य' या आंतरिक 'प्रभुत्व' या अपने ही प्रदेशके समस्त क्षेत्रों और क्रियाओंपर आंतरिक चेतनाके द्वारा पूर्ण नियंत्रण ही नहीं था, बल्कि 'साम्राज्य' अर्थात् वाह्य या आंतरिक चेतनाके द्वारा अपनी वाह्य क्रियाओं और परिस्थितियोंपर भी नियंत्रण था।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार हठयोग प्राण और शरीरके साथ व्यवहार करते हुए शारीरिक जीवन और उसकी सामर्थ्योंकी असाधारण पूर्णताको

अपना उद्देश्य मानता है तथा उससे भी आगे जाकर मानसिक जीवनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार राजयोग जिसका क्षेत्र मन है मानसिक जीवनकी क्षमताओंकी असाधारण पूर्णता और विस्तारको अपना लक्ष्य मानता है और फिर उससे आगे जाकर आध्यात्मिक जीवनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है। किंतु इस प्रणालीमें एक कमजोरी है कि यह समाधिकी असामान्य अवस्थाओंपर बहुत अधिक निर्भर रहती है। इस कमजोरीका एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य भौतिक जीवनसे अलग-सा हो जाता है जब कि वही उसका आधार और क्षेत्र है और उसीमें उसे अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उपलब्धियोंको प्राप्त करना है। विशेषकर, आध्यात्मिक जीवन इस प्रणालीमें समाधिकी अवस्थासे अत्यधिक जुड़ा होता है। हमारा उद्देश्य आध्यात्मिक जीवन और उसके अनुभवोंको पूर्णतया सक्रिय बनाना है तथा जाग्रत् अवस्थामें, साथ ही क्रियाओंके सामान्य प्रयोगमें भी उन्हें पूर्णतया उपयोगी बनाना है। किंतु राजयोगमें यह उद्देश्य हमारे समस्त जीवनमें उतरकर उसे अधिकृत करनेके स्थानपर हमारी सामान्य अनुभूतियोंके पीछे एक गौण स्तरपर ही रुक जाता है।

उधर भक्ति, ज्ञान और कर्मका त्रिविध मार्ग उस प्रदेशको हस्तगत करनेका प्रयत्न करता है जिसे राजयोगने विजित नहीं किया है। यह राजयोगसे इस बातमें भिन्न है कि यह समूची मानसिक प्रणालीकी विस्तृत शिक्षाको पूर्णताकी शर्त नहीं मानता और इसलिये उसमें व्यस्त नहीं होता, बल्कि यह कुछ केंद्रीय तत्त्वोंको अर्थात् बुद्धि, हृदय और संकल्प-शक्तिको अपने हाथमें ले लेता है और उन्हें उनकी सामान्य और बाह्य क्रियाओं और व्यापारोंसे परे हटाकर और भगवान्‌पर केंद्रित करके उन्हें रूपांतरित करना चाहता है। यह उससे इस बातमें भी भिन्न है,—और यहां पूर्ण-योगके दृष्टिकोणसे एक दोष देखनेमें आता है,—कि यह मानसिक और शारीरिक पूर्णताके प्रति उदासीन है तथा केवल पवित्रताको भागवत सिद्धिकी शर्त मानकर उसीको अपना उद्देश्य मानता है। दूसरा दोष यह है कि यह—जिस प्रकार कि आजकल उसका अभ्यास किया जाता है,—तीन समानांतर मार्गोंमेंसे किसी ऐसे एक मार्गको चुनता है जो अनन्य रूपसे और प्रायः ही दूसरे मार्गोंका विरोधी होता है, जब कि उसका कार्य एक पूर्ण दिव्य प्राप्तिमें बुद्धि, हृदय और संकल्प-शक्तिका एक समन्वयात्मक सामंजस्य साधित करना था।

ज्ञानके मार्गका उद्देश्य एकमेव और सर्वोच्च 'सत्ता'की प्राप्ति है। यह बौद्धिक चिंतन अर्थात् विचारकी प्रणालीके द्वारा यथार्थ विवेक-बुद्धिकी

ओर बढ़ता है। यह हमारी ऊपरी अथवा दृश्यमान सत्ताके विभिन्न तत्त्वोंका निरीक्षण करता है तथा उनमें विभेद करता है और उन सबसे अलग रहता हुआ उनके परस्पर-विरोध और पार्थक्यके सिद्धांतपर पहुँचता है। ये विभिन्न तत्त्व प्रकृतिके अर्थात् दृश्यमान प्रकृतिके अंगोंके रूपमें और माया अर्थात् बाह्य चेतनाकी रचनाओंके रूपमें एक तत्त्वमें उपस्थित हैं। इस प्रकार यह एकमेव 'सत्ता'के साथ अपना एक ऐसा यथार्थ तादात्म्य स्थापित कर सकता है जो न तो बदल सकता है और न नष्ट हो सकता है और जो न किसी एक तथ्यसे या तथ्योंके संघातसे निर्धारित किया जा सकता है। इस दृष्टिकोणसे इस मार्गका, जिसका साधारणतया अनुसरण किया जाता है, परिणाम यह होता है कि दृश्यमान लोकोंको भ्रांति समझ-कर चेतनासे उनका बहिष्कार कर दिया जाता है और व्यक्तिगत आत्मा सर्वोच्च सत्तामें अंतिम रूपमें लीन हो जाती है और फिर वहाँसे नहीं लौटती।

किंतु यह एकांगी अत्युच्च अवस्था ही ज्ञानके मार्गका अकेला या अनिवार्य परिणाम नहीं है। कारण, यदि इसका अनुसरण अधिक विस्तृत रूपसे, और वैयक्तिक उद्देश्यसे कम प्रेरित होकर किया जाय तो ज्ञानकी पद्धतिका परिणाम केवल परात्परताकी प्राप्ति ही नहीं, बल्कि भगवान्‌के लिये वैश्व सत्तापर सक्रिय विजय प्राप्त करना भी होगा। इस अतिक्रमका मुख्य अभिप्राय अपनी सत्तामें ही नहीं, बल्कि सब सत्ताओंमें सर्वोच्च सत्ताकी प्राप्ति होगी और अंतमें तो जगत्‌के दृश्यमान रूपोंकी भी प्राप्ति हो जायगी, पर यह होगी दिव्य चेतनाकी एक क्रीड़ाके रूपमें ही; यह कोई ऐसी वस्तु नहीं होगी जो उसके सच्चे स्वभावके सर्वथा प्रतिकूल हो। इस प्राप्तिके आधारपर एक और आगेकी उन्नति भी संभव है, अर्थात् ज्ञानके सब रूप, चाहे वे कितने ही सांसारिक क्यों न हों, दिव्य चेतनाकी क्रियाओंमें बदल जायँगे; ये रूप ज्ञानके एक अखंड ध्येयको अनुभव करनेके लिये प्रयुक्त किये जायँगे और यह अनुभव उसके अपने अंदर और उसके रूपों और प्रतीकोंकी क्रीड़ामें प्राप्त किया जायगा। इस प्रणालीका यह परिणाम निकल सकता है कि मानव बुद्धि और बोधका समस्त क्षेत्र ही दिव्य स्तरतक ऊँचा उठ जाय तथा आध्यात्मिक बन-कर मनुष्य-जातिमें ज्ञानके वैश्व प्रयानकी सार्थकताको सिद्ध कर दे।

भक्तिका मार्ग सर्वोच्च 'प्रेम' और 'आनंद'के उपभोगको अपना उद्देश्य मानता है और सामान्य रूपसे सर्वोच्च प्रभुके व्यक्तित्वके विचारको स्वीकार करके उसका उपयोग करता है, साथ ही वह उन्हें दिव्य प्रेमी और विश्वका

भोक्ता भी मानता है। तव जगत् उस प्रभुकी क्रीड़ाके रूपमें देखा जाता है और मानव-जीवन उसकी अंतिम अवस्था मानी जाती है, इसका अनुसरण लुका-छिपी अर्थात् आत्मगोपन और आत्मप्रकाशके विभिन्न रूपोंके द्वारा किया जाता है। भक्तियोग मानव-जीवनके उन सव सामान्य सम्पर्कोंका उपयोग करता है जिनमें भावावेश उपस्थित रहता है और जिन्हें वह अव अस्थिर सांसारिक संवंधोंपर लागू नहीं करता, वल्कि 'सर्व-प्रेम', 'सर्व-सुन्दर' और 'सर्व-आनंदमय सत्ता'की प्रसन्नताके लिये प्रयुक्त करता है। पूजा और ध्यान केवल भगवान्के साथ संवंध स्थापित करनेकी तैयारीके लिये और साथ ही उसे तीव्रता प्रदान करनेके लिये किये जाते हैं। यह योग समस्त भाविक संवंधोंके प्रयोगमें वहुत उदार है; यहाँतक कि भगवान्के प्रति शत्रुता और विरोधको भी, जो कि प्रेमके ही तीव्र, अधीर और विकृत रूप समझे जाते हैं, सिद्धि और मुक्तिका एक संभव साधन स्वीकार किया जाता है। यह मार्ग भी—जैसा कि सामान्यतया इसका अभ्यास किया जाता है—मनुष्यको जगत्के अस्तित्वसे दूर, परात्पर और अति-वैश्व सत्तामें लीन होनेकी अवस्थातक ले जाता है जो अद्वैतवादीकी लीनतासे भिन्न प्रकारकी होती है।

किंतु यहाँ भी एकपक्षीय परिणाम अनिवार्य नहीं है। योग इस गलतीको सर्वप्रथम इस प्रकार सुधारता है कि वह दिव्य प्रेमकी क्रीड़ाको सर्वोच्च आत्मा और व्यक्तिके वीचके संवंधतक सीमित नहीं रखता, वल्कि उसे उस भावना और पारस्परिक पूजातक ले जाता है जो सर्वोच्च प्रेम और आनंदकी उसी उपलव्धिको पानेके लिये एकत्र हुए भक्तोंके वीच एक-दूसरेके प्रति पायी जाती है। एक अधिक सामान्य संशोधन वह और भी उपस्थित करता है कि प्रेमका दिव्य उद्देश्य समस्त सत्ताओंमें, मनुष्यमें ही नहीं, वल्कि पशुमें भी चरितार्थ हो जाता है, इसकी पहुँच सभी रूपोंतक सरलतासे हो सकती है। हम देख सकते हैं कि भक्तियोगको इतने व्यापक क्षेत्रमें प्रयुक्त किया जाता है कि वह मानव भाव, संवेदन और सौंदर्यात्मक वोधके समस्त क्षेत्रको दिव्य स्तरतक, उसके आध्यात्मीकरण तथा मनुष्य-जातिमें प्रेम और आनंदकी ओर किये गये वैश्व प्रयत्नके औचित्यतक ले जाता है।

कर्मके मार्गका उद्देश्य है मनुष्यके प्रत्येक कर्मका सर्वोच्च संकल्पशक्तिके प्रति समर्पण। इसका आरंभ कर्मके समस्त अहंभावयुक्त उद्देश्यके त्यागसे और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यकी, किसी सांसारिक परिणामकी खातिर किये गये कर्मके त्यागसे होता है। इस त्यागके द्वारा वह मन और संकल्पशक्तिको

58303

इतना शुद्ध कर लेता है कि हम सरलतासे उस महान् वैश्व 'शक्ति'के प्रति सचेतन हो जाते हैं तथा उसे ही अपने समस्त कार्योंका सच्चा कर्त्ता मानने लगते हैं, साथ ही हम उस शक्तिके स्वामीको कर्मोंका शासक और संचालक भी मानते हैं जब कि व्यक्ति केवल ऊपरी आवरण या वहाना होता है, एक यंत्र या अधिक निश्चित रूपमें कहें तो कर्म और दृश्यमान संबंधका एक चेतन केंद्र मात्र होता है। कर्मका चुनाव और उसकी दिशा अधिकाधिक चेतन रूपमें इसी सर्वोच्च संकल्पशक्ति और वैश्व 'शक्ति'पर छोड़ दिये जाते हैं। इसीको हमारे कर्म और हमारे कर्मोंके परिणाम अंतरमें समर्पित कर दिये जाते हैं। इसमें लक्ष्य यह होता है कि आत्मा वाह्य प्रतीतियों और दृश्यमान व्यापारोंकी प्रतिक्रियाओंके बंधनसे छूट जाय। दूसरे मार्गोंकी तरह कर्मयोगका उपयोग भी दृश्यमान अस्तित्वसे मुक्ति पाने और सर्वोच्च सत्तामें प्रवेश करनेके लिये किया जाता है। किंतु यहाँ भी एकांगी परिणाम अत्यावश्यक नहीं है। इस मार्गका अंत भी समस्त शक्तियोंमें, समस्त घटनाओं और समस्त कार्योंमें दिव्य सत्ताका बोध और वैश्व कर्ममें आत्माका एक स्वतंत्र और निरभिमान सहयोग हो सकता है। यदि इसका इस प्रकार अनुसरण किया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि समस्त मानव-संकल्प-शक्ति और क्रिया दिव्य स्तरतक पहुँच जायगी, आध्यात्मिक बन जायगी तथा मानव-सत्तामें स्वतंत्रता, शक्ति और पूर्णताके लिये किये गये प्रयासके औचित्यको सिद्ध कर देगी।

हम यह भी देख सकते हैं कि यदि वस्तुओंको सर्वांगीण दृष्टिसे देखा जाय तो ये तीनों रास्ते एक ही हैं। सामान्यतया दिव्य प्रेमको पूर्ण घनिष्ठताके द्वारा 'प्रिय'का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा, इस प्रकार वह 'ज्ञान'का मार्ग होगा। उसका ध्येय दिव्य सेवा भी होगा और तब वह 'कर्म'का मार्ग बन जायगा। इसी प्रकार पूर्ण 'ज्ञान' पूर्ण 'प्रेम' और 'आनंद'को जन्म देगा तथा ज्ञात 'सत्ता'के 'कर्मों'को पूर्ण रूपसे स्वीकार कर लेगा। इसी प्रकार समर्पित 'कर्म', 'यज्ञ'के स्वामीके संपूर्ण प्रेमको तथा उसके मार्गों और उसकी सत्ताके गहनतम ज्ञानको जन्म देगा। इस त्रिविध मार्गके द्वारा ही हम समस्त सत्ताओंमें तथा 'एकमेव'की संपूर्ण अभिव्यक्तिमें उसके पूर्ण ज्ञान, प्रेम और सेवातक पहुँचते हैं।

५

समन्वय

सभी प्रमुख यौगिक प्रणालियोंमें मनुष्यके जटिल और पूर्ण रूपपर क्रिया की जाती है तथा उसकी उच्चतम संभावनाओंको प्रकाशमें लाया जाता है। इन प्रणालियोंके ऐसे स्वभावको देखते हुए यह पता लगेगा कि इन सबके समन्वयको यदि विशाल रूपमें विचार और प्रयोगमें लाया जाय तो इसका परिणाम पूर्णयोग हो सकता है। किंतु सब अपनी प्रवृत्तियोंमें इतनी विभिन्न हैं तथा अपने रूपोंमें इतनी अधिक विशिष्ट और जटिल हैं और साथ ही इनके विचारों और पद्धतियोंके परस्पर-विरोधको इतने लंबे समयतक पुष्टि मिलती रही है कि हमें इन्हें यथार्थ रूपसे संयुक्त करनेकी विधिका पता नहीं चलता।

विना विचार और विवेकके एक संघातमें इनको एकत्र कर देनेका अर्थ समन्वय नहीं, वल्कि एक 'गड़वड़झाला' होगा। हमारे मानव-जीवनके इस छोटेसे कालमें इनका वारी-वारीसे अभ्यास करना सहज नहीं है, विशेषतया जव कि हमारी शक्तियाँ भी सीमित हैं, और इस वोझिल प्रक्रियामें कितना परिश्रम व्यर्थ जायगा इसकी तो वात ही क्या। वस्तुतः कभी-कभी तो हठयोग और राजयोगका वारी-वारीसे अभ्यास किया जाता है। अभी हालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसके जीवनमें इस वातका एक विशेष दृष्टांत देखनेमें आया है: उनमें एक वहुत वड़ी आध्यात्मिक शक्ति मौजूद थी, जिसने पहले सीधे ही भगवान्‌की प्राप्ति की, मानो स्वर्गके राज्यको वलपूर्वक हस्तगत कर लिया और वादमें जिसने हरएक यौगिक प्रणालीका प्रयोग करके द्रुतगतिसे उसका सार निकाल लिया। उसका उद्देश्य सदा पूरे विषयके अंतस्तलतक अर्थात् प्रेमकी शक्तिके द्वारा, विभिन्न प्रकारके अनुभवोंमें अंतर्निहित आध्यात्मिकताके विस्तार तथा एक सहज ज्ञानकी स्वाभाविक क्रीड़ाके द्वारा भगवान्‌की अनुभूति और प्राप्तितक पहुँचना होता था। पर ऐसे उदाहरणको व्यापक रूप नहीं दिया जा सकता। उसका उद्देश्य भी विशेष और अस्थायी ही था। उसका कार्य एक महान् आत्माकी विशाल और अंतिम अनुभूतिमें उस सत्यको सिद्ध करना था जो आजकल मनुष्य-जातिके लिये अत्यधिक आवश्यक है तथा जिसे पानेके लिये विरोधी मतों और संप्रदायोंमें लंवे समयके लिये विभाजित संसार कठोर प्रयास कर रहा

है। वह सत्य यह है कि सभी संप्रदाय एक ही समग्र सत्यके रूप और खंड हैं और सभी अनुशासन-प्रणालियाँ अपने विभिन्न तरीकोंसे एक ही सर्वोच्च अनुभवकी प्राप्तिके लिये श्रम कर रही हैं। भगवान्‌को जानना, व्रही बन जाना तथा उन्हें पाना ही एक आवश्यक वस्तु है; बाकी सब बातें या तो इसके अंदर आ जाती हैं या इसका परिणाम होती हैं। इसी अकेले 'शुभ'की ओर हमें बढ़ना है और यदि इसकी प्राप्ति हो गयी तो बाकी सब जिसे भागवत इच्छा-शक्ति हमारे लिये चुनेगी अर्थात् सब आवश्यक रूप और अभिव्यक्तियाँ पीछे अपने-आप प्राप्त हो जायँगी।

अतएव, जिस समन्वयको हम चाहते हैं वह सब प्रणालियोंको संयुक्त कर देनेसे या उनके क्रमिक अभ्याससे प्राप्त नहीं हो सकता। वह तभी प्राप्त हो सकेगा यदि हम यौगिक अनुशासन-प्रणालियोंके रूप और बाह्य प्रकार छोड़कर किसी ऐसे केंद्रीय सामान्य सिद्धांतको पकड़ लेंगे जो उचित स्थान और उचित मात्रामें उनके विशिष्ट सिद्धांतोंको अपने अंदर निहित कर लेगा तथा उनका उपयोग करेगा। हमें इसके लिये किसी केंद्रीय सक्रिय शक्तिको अपने हाथमें लेना होगा जो उनकी विपरीत प्रणालियोंका सर्वसामान्य रहस्य होगी और जो इसलिये उनकी विविध प्रकारकी सामर्थ्यों और विभिन्न उपयोगिताओंको स्वाभाविक चुनाव और संयोगके द्वारा व्यवस्थित करनेमें समर्थ होगी।

आरंभमें जब कि हमने प्रकृतिकी तथा योगकी प्रणालियोंका तुलनात्मक विवेचन करना शुरू किया था तब यही उद्देश्य हमारे सामने था और अभी हम इसीकी ओर इस संभावनाके साथ लौटते हैं कि इसका शायद कोई निश्चित समाधान निकल आये।

सबसे पहले हम यह देखते हैं कि भारतवर्षमें अब भी एक ऐसी विलक्षण यौगिक प्रणाली है जिसका स्वभाव समन्वयात्मक है और जो प्रकृतिके एक महान् केंद्रीय सिद्धांतसे, उसकी एक महान् सक्रिय शक्तिसे आरंभ होती है। किंतु यह एक अलग योग-प्रणाली है, अन्य प्रणालियोंका संयोग नहीं। यह तंत्र-मार्ग है। इसकी कुछ विशेष पद्धतियोंके कारण उन लोगोंके सामने जो लोग तांत्रिक नहीं हैं इसका गौरव कुछ घट गया है, विशेषतया उसकी वाममार्गी पद्धतियोंके कारण ही ऐसा हुआ है; ये पद्धतियाँ क्योंकि पाप और पुण्यके द्वंद्वको अतिक्रांत करनेसे ही संतुष्ट नहीं हैं इन्होंने उनकी जगह कर्म-संबंधी सहज यथार्थता स्थापित करनेके स्थानपर आत्म-उपभोगकी एक असंयत सामाजिक अनैतिकताकी प्रणाली विकसित कर ली प्रतीत होती है। यह सब होते हुए भी अपने मूलमें 'तंत्र' एक महान् और

शक्तिशाली प्रणाली थी। यह कुछ ऐसे विचारोंपर आधारित थी जिनमें कम-से-कम सत्यका कुछ अंश अवश्य विद्यमान था। दक्षिण और वाम मार्गमें इसका दोहरा विभाजन भी एक गहन अनुभवसे ही शुरू हुआ था। 'दक्षिण' और 'वाम' शब्दोंके प्राचीन प्रतीकात्मक अर्थके अनुसार यह विभाजन 'ज्ञान' और 'आनंद'के मार्गोंमें था। एकमें प्रकृति मनुष्यके अंदर अपनी शक्तियों, तत्त्वों और शक्यताओंके यथार्थ सैद्धांतिक और व्यावहारिक विवेकके द्वारा अपने-आपको मुक्त करती है, जब कि दूसरेमें वह यह कार्य उसके अंदर अपनी शक्तियों, तत्त्वों और शक्यताओंकी हर्षपूर्ण सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्वीकृतिके द्वारा करती है। किंतु अंतमें इन दोनों मार्गोंमें सिद्धांत-संबंधी एक अस्पष्टता, प्रतीकोंकी विकृति तथा ह्रासकी अवस्था पैदा हो गयी थी।

पर यदि हम यहाँ भी वर्तमान प्रणालियों और अभ्यासोंको एक ओर रखकर केंद्रीय सिद्धांतकी खोज करें तो हमें सबसे पहले यही पता लगेगा कि 'तंत्र', 'योग'की वैदिक प्रणालियोंसे स्पष्ट रूपमें भिन्न है। एक अर्थमें तो वे सब मत जिनका हमने अबतक निरीक्षण किया है अपने सिद्धांतमें वैदांतिक हैं; उनकी शक्ति ज्ञानमें है, उनकी प्रणाली भी ज्ञान है, यद्यपि यह सदा ही बुद्धिद्वारा प्राप्त नहीं होता, या यह उसके स्थानपर हृदयका एक ऐसा ज्ञान हो सकता है जो कि प्रेम और विश्वासमें अभिव्यक्त होता है, या यह संकल्पमें स्थित एक ऐसा ज्ञान भी हो सकता है जो कर्मद्वारा चरितार्थ होता है, पर सबमें योगका स्वामी 'पुरुष' ही है, वह एक चेतन आत्मा है जो जानती है, निरीक्षण करती है, आकर्षित एवं शासित करती है। किंतु तंत्रमें प्रकृति ही स्वामिनी होती है, वह 'प्रकृति-आत्मा' अर्थात् शक्ति होती है, यह वस्तुतः विश्वमें कार्य करनेवाला शक्तिगत संकल्प होता है। इस संकल्पके निकट रहस्योंको, इसकी प्रणाली और इसके तंत्रको सीखकर तथा इनका प्रयोग करके ही तांत्रिक योगीने अपनी अनुशासन-संबंधी क्रियाओंके उद्देश्यों अर्थात् स्वामित्व, पूर्णता, मुक्ति और आनंदको प्राप्त करना चाहा था। अभिव्यक्त 'प्रकृति' और उसकी कठिनाइयोंसे पीछे हटनेके स्थानपर उसने उनका सामना किया था, उन्हें प्राप्त एवं अधिकृत कर लिया था। किंतु अंतमें, जैसा कि प्रकृतिका स्वभाव होता है, तांत्रिक योग अपनी जटिल यांत्रिक क्रियामें अपने मूल सिद्धांतको अधिकतर खो बैठा और उन सूत्रों और गुह्य यांत्रिक प्रक्रियाओंकी वस्तु बन गया जो ठीक प्रकार प्रयुक्त होनेसे अभी भी प्रभावपूर्ण तो होती थीं, पर अपने मूल उद्देश्यकी स्पष्टतासे च्युत हो गयी थीं।

इस केंद्रीय तांत्रिक विचारमें हमें सत्यके केवल एक पक्षका ही आभास मिलता है, बल अर्थात् शक्तिकी पूजा; यही शक्ति समस्त प्राप्तिकी अकेली और प्रभावकारी प्रेरणा मानी जाती है। दूसरी ओर, शक्तिके वेदांतिक विचारमें, यह 'भ्रम' अर्थात् 'माया'की शक्ति मानी जाती है और मौन निष्क्रिय 'पुरुष'की खोजमें सक्रिय शक्तिसे उत्पन्न भ्रांतियोंसे मुक्त होनेका साधन मानी जाती है, किंतु एक समग्र विचारमें चेतन आत्मा ही स्वामी है, और प्रकृति-आत्मा उसकी कार्यकारिणी शक्ति है, 'पुरुष'की प्रकृति 'सत्' है और यह 'सत्' चेतन, पवित्र और असीम स्वयंभू सत्ता है, 'शक्ति' या 'प्रकृति'का स्वभाव 'चित्' है—यह 'पुरुष'के स्वचेतन, पवित्र और असीम अस्तित्वकी शक्ति है। इन दोनोंका संबंध निश्चलता और सक्रियता दो ध्रुवोंके बीचमें गतिमान् रहता है। जब 'शक्ति' चेतन अस्तित्वके आनंदमें लीन रहती है, तो वह निश्चल होती है, जब 'पुरुष' अपनी शक्तिके कार्यमें अपने-आपको उँडेलता है तो वह सक्रियता होती है; यही सक्रियता सृजन और कुछ बननेका आनंद और आस्वाद होती है। किंतु यदि 'आनंद' समस्त अस्तित्वका सृजन करता है या उसे उत्पन्न करता है तो उसकी प्रणाली 'तपस्' अर्थात् 'पुरुष'की चेतनाकी शक्ति होती है जो सत्तामें रहने-वाली अपनी असीम शक्यतापर कार्य करती है तथा अपने अंदरसे विचार-संबंधी सत्य या वास्तविक 'विचार' अर्थात् 'विज्ञान' उत्पन्न करती है। क्योंकि इन विचारोंका स्रोत सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् 'आत्म-अस्तित्व'में है, इन्हें इस बातका निश्चय है कि इनकी चरितार्थता संपन्न हो जायगी। ये अपने अंदर मन, प्राण और जड़ पदार्थके रूपमें अपने अस्तित्वका स्वभाव और नियम भी सुरक्षित रखते हैं। 'तपस्'की चरम सर्वशक्तिमत्ता और 'विचार'की अचूक चरितार्थता समस्त योगका आधार है। मनुष्यमें हम इन्हें संकल्प-शक्ति और विश्वासका नाम देते हैं, एक ऐसी संकल्प-शक्ति जो अंतमें स्वयं ही प्रभावशाली होती है, क्योंकि वह ज्ञानरूपी तत्त्वसे बनी है; एक ऐसा विश्वास जो निम्न चेतनामें एक ऐसे 'सत्य' या वास्तविक 'विचार'की सहज क्रिया है जो अभिव्यक्तिमें अभी चरितार्थ नहीं हुआ है। 'विचार'की इसी आत्म-निश्चयताका वर्णन गीतामें **"यो यच्छ्रद्धः स एव सः"** इन शब्दोंमें किया गया है, अर्थात् "मनुष्यका जो कुछ भी विश्वास या निश्चयात्मक 'विचार' होता है; वही वह बन जाता है।"

अतएव, हम अब देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे—और 'योग' क्रियात्मक मनोविज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है—'प्रकृति'का वह कौन-सा विचार है जिससे हमें अपना कार्य आरंभ करना है। यह 'पुरुष'की उसकी

अपनी 'शक्ति'के द्वारा आत्मचरितार्थता है। किंतु प्रकृतिकी क्रिया दोहरी होती है, ऊपरकी ओर और नीचेकी ओर; इसे यदि हम चाहें तो दिव्य और अदिव्य भी कह सकते हैं। यह विभेद वस्तुतः क्रियात्मक प्रयोजनोंके लिये ही किया जाता है, क्योंकि संसारमें अदिव्य कुछ नहीं है, यदि एक विशालतर दृष्टिकोणसे देखा जाय तो यह भेद शब्दोंमें वैसा ही अर्थहीन प्रतीत होता है जैसा कि प्राकृतिक और अति-प्राकृतिकमें किया गया भेद। कारण, वे सभी वस्तुएँ जो अपना अस्तित्व रखती हैं प्राकृतिक हैं। समस्त वस्तुएँ प्रकृतिमें विद्यमान हैं और समस्त वस्तुएँ भगवान्‌में स्थित हैं। किंतु क्रियात्मक प्रयोजनके लिये वहाँ एक वास्तविक विभेद उपस्थित रहता है। जिस निम्न प्रकृतिको हम जानते हैं और जो हम हैं और जो हमें तबतक रहना ही होगा जबतक कि हमारे अंदरका विश्वास बदल नहीं जाता, वह सीमाओं और विभाजनके द्वारा कार्य करती है, उसका स्वभाव 'अज्ञान' है, उसकी समाप्ति अहंभावके जीवनमें होती है। किंतु उच्चतर 'प्रकृति' जिसकी हम अभीप्सा करते हैं एकीकरणके द्वारा तथा सीमाओंको पार करके कार्य करती है; इसका स्वभाव 'ज्ञान' है, इसका चरम रूप दिव्य जीवनमें लक्षित होता है। निम्न प्रकृतिसे उच्च प्रकृतिकी ओर जाना ही 'योग'का लक्ष्य है। इस लक्ष्यकी प्राप्ति निम्न प्रकृतिको त्याग करके उच्च प्रकृतिमें प्रवेश करनेपर भी हो सकती है,—जो कि सामान्य दृष्टि-कोण है,—या फिर यह निम्न प्रकृतिका रूपांतर करने और उसे उच्च 'प्रकृति'में ऊँचा उठानेसे भी हो सकती है। वस्तुतः यही पूर्ण योगका उद्देश्य है।

किंतु दोनों दशाओंमें निम्न प्रकृतिके ही किसी भागसे हमें उच्च अस्तित्वतक उठना है और योगकी प्रत्येक प्रणाली अपने आरंभ-विंदु या अपनी मुक्तिके द्वारको स्वयं ही चुनती है। ये प्रणालियाँ निम्न प्रकृतिकी कुछ क्रियाओंमें विशेषता प्राप्त कर लेती हैं और उन्हें भगवान्‌की ओर मोड़ देती हैं। किंतु हमारे अंदर प्रकृतिकी सामान्य क्रिया एक ऐसी पूर्ण क्रिया है जिसमें हमारे समस्त तत्त्वोंकी पूर्ण जटिलता हमारे चारों ओरकी परिस्थितियोंके द्वारा प्रभावित होती है और साथ ही उन्हें प्रभावित भी करती है। समस्त जीवन ही प्रकृतिका योग है। जिस योगका हम अनुसरण करना चाहते हैं उसे भी प्रकृतिकी ही एक सर्वांगीण क्रिया होना चाहिये। योगी और एक सामान्य मनुष्यमें सारा भेद ही यह होता है कि योगी अहंभाव और विभाजनके अंदर और उनके द्वारा कार्य करती हुई निम्न प्रकृतिकी पूर्ण क्रियाके स्थानपर भगवान् और ऐक्यके अंदर और

उनके द्वारा कार्य करनेवाली उच्च प्रकृतिकी सर्वांगीण क्रिया अपने अंदर स्थापित करना चाहता है। वस्तुतः यदि हमारा उद्देश्य संसारसे भागकर भगवान्को प्राप्त करना हो तो समन्वयकी आवश्यकता ही नहीं रहती और इससे समय भी नष्ट होता है। कारण, तब हमारा एकमात्र क्रियात्मक उद्देश्य भगवान्को प्राप्त करनेके हजारों मार्गोंमेंसे एक ही मार्गको ढूंढ़ना होना चाहिये, जिसे अधिक-से-अधिक छोटा होना चाहिये और तब विभिन्न मार्गोंकी खोज करनेके लिये ठहरनेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी, क्योंकि ये सब मार्ग एक ही लक्ष्यको जाते हैं, किंतु यदि हमारा उद्देश्य अपनी संपूर्ण सत्ताको भागवत जीवनके अंग-प्रत्यंगमें रूपांतरित करना है तो यह समन्वय आवश्यक हो जाता है।

और तब हमें इस प्रणालीका अनुसरण करना होगा कि हम अपनी समस्त चेतन सत्ताको भगवान्के संबंध और संपर्कमें रख दें और उन्हें हमारी संपूर्ण सत्ताको अपनी सत्तामें रूपान्तरित करनेके लिये अपने अंदर पुकारें, जिसका यह अर्थ है कि स्वयं भगवान् जो कि हमारे अंदरके वास्तविक व्यक्ति हैं साधना[1]के साधक बन जानेके साथ-साथ योगके स्वामी भी बन जाते हैं और उनके द्वारा तब निम्न व्यक्तित्व एक दिव्य रूपांतरके केंद्रके तथा अपनी पूर्णताके यंत्रके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है। परिणामतः 'तपस्'का दबाव अर्थात् हमारे अंदरकी चेतना-शक्ति जो दिव्य 'प्रकृति'के 'विचार'में हमारी संपूर्ण सत्तापर कार्य करती है अपनी चरितार्थता अपने-आप संपन्न कर लेती है। दिव्य, सर्वज्ञाता और सर्व-साधक अस्तित्व सीमित और अस्पष्ट सत्तापर छा जाता है और फिर धीरे-धीरे संपूर्ण निम्न प्रकृतिको प्रकाश एवं शक्ति प्रदान करता है और निम्न मानव-प्रकाश और मानव-क्रियाके सब रूपोंके स्थानपर अपनी क्रिया स्थापित कर देता है।

मनोवैज्ञानिक तथ्यमें यह प्रणाली इस प्रकार लक्षित होती है कि अहंभाव अपने समस्त क्षेत्र और समस्त साधनोंके साथ धीरे-धीरे अपने-आपको उस ऊपरके 'अहंभाव'के आगे समर्पित करता जाता है जिसकी क्रियाएँ विशाल और अगणित, पर सदा अनिवार्य होती हैं। निश्चय ही यह कोई छोटा-सा रास्ता या कोई सरल साधना नहीं है। इसमें अपार विश्वासकी, एक पूर्ण साहस और सबसे अधिक एक अडिग धैर्यकी आवश्यकता पड़ती है। इसमें तीन अवस्थाएँ अंतर्निहित हैं जिनमेंसे केवल अंतिम ही पूर्णतया आनंद-

---

[1] 'साधना' वह क्रिया है जिसके द्वारा पूर्णता अर्थात् सिद्धिकी प्राप्ति होती है। 'साधक' वह योगी है जो इस क्रियाके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेका इच्छुक होता है।

पूर्ण या द्रुत हो सकती है;—पहली, अहंभावका भगवान्‌के संपर्कमें आनेके लिये किया गया प्रयत्न, दूसरी, दिव्य क्रियाके द्वारा समस्त निम्न प्रकृतिकी उच्चतर प्रकृतिको ग्रहण करने और वही बननेके लिये विशाल, पूर्ण और इस कारण कठिन तैयारी और तीसरी, अंतिम रूपांतर। पर सच्ची बात यह है कि दिव्य सामर्थ्य जो प्रायः ही अनजानेमें पर्देके पीछे कार्य करती है स्वयं हमारी दुर्वलताका स्थान ले लेती है और जब-जब हम विश्वास, साहस और धैर्य खो वैठते हैं तव-तव वह हमारी सहायता करती है। वह "अंधेको देखने और लँगड़ेको पहाड़पर चढ़नेकी सामर्थ्य प्रदान करती है।" वुद्धि तवतक ऐसे 'नियम'को जिसका आग्रह कल्याणकारी होता है और एक ऐसे प्रश्रयको जो हमें स्थिर रखता है जान लेती है। हृदय तव समस्त वस्तुओंके 'स्वामी'की, मनुष्यके सखाकी या जगत्-'माता'की चर्चा करता है जो हमें सव चूकोंमें सँभाले रखती है। इसीलिये यह मार्ग अत्यधिक कठिन होते हुए भी अपने प्रयत्न और उद्देश्यकी विशालताकी तुलनामें अत्यधिक सरल और सुनिश्चित है।

जब उच्च प्रकृति निम्न प्रकृतिपर सर्वांगीण रूपमें क्रिया करती है तो उसकी क्रियाकी तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ दृष्टिमें आती हैं। प्रथम यह कि वह एक स्थिर प्रणाली या क्रमके अनुसार कार्य नहीं करती जैसा कि योगकी विशिष्ट प्रणालियोंमें होता है। वह अपना कार्य एक प्रकारकी स्वतंत्र, विस्तृत पर फिर भी क्रमिक रूपमें एक ऐसी प्रभावशाली और उद्देश्यपूर्ण क्रियाके द्वारा करती है जो कि उस व्यक्तिके स्वभावके द्वारा निर्धारित होती है जिसमें वह कार्य करती है। उसका निर्धारण उन सहायक साधनोंके द्वारा भी होता है जिन्हें व्यक्तिका स्वभाव प्रस्तुत करता है तथा उन वाधाओंके द्वारा भी जो वह पवित्रीकरण और पूर्णताके रास्तेमें खड़ी करता है। अतएव, एक प्रकारसे इस मार्गमें प्रत्येक मनुष्यकी योग-संवंधी अपनी प्रणाली है। परंतु फिर भी इस प्रक्रियाकी कुछ मोटी-मोटी वातें ऐसी हैं जो सवके लिये समान हैं और जो हमें एक सामान्य प्रणाली वनानेमें सहायता तो नहीं देतीं, पर फिर भी किसी शास्त्र या समन्वयात्मक योगकी किसी वैज्ञानिक प्रणालीको गढ़नेकी सामर्थ्य अवश्य प्रदान करती हैं।

उच्च प्रकृतिकी प्रक्रिया क्योंकि सर्वांगीण है वह हमारी प्रकृतिको उसी रूपमें स्वीकार कर लेती है जिस रूपमें कि वह हमारे पूर्व विकासके द्वारा संगठित हो चुकी है और फिर वह किसी भी मूल वस्तुको अस्वीकार किये विना सव कुछको दिव्य तत्त्वमें रूपांतरित होनेको वाध्य करती है। हमारे अंदरकी प्रत्येक वस्तुको एक शक्तिशाली शिल्पी अपने हाथमें लेता है और

उसे एक ऐसी वस्तुकी स्पष्ट प्रतिमूर्तिमें रूपांतरित कर देता है जिसे वह आज एक अव्यवस्थित ढंगसे प्रकट करनेकी चेष्टा करती है। उस सदा-विकसनशील अनुभवमें हम यह देखना प्रारंभ कर देते हैं कि यह निम्न अभिव्यक्त जगत् किस प्रकार निर्मित हुआ है और इसके अंदरकी सब चीजें चाहे वे देखनेमें कितनी भी विकृत, तुच्छ या हीन क्यों न लगें, दिव्य 'प्रकृति'के समन्वयमें किसी तत्त्व या क्रियाकी ही थोड़ी-बहुत विकृत या अपूर्ण आकृति हैं। हम तब वैदिक ऋषियोंके इस कथनका अभिप्राय भी समझने लगते हैं कि हमारे पूर्व पुरुष देवताओंको उसी प्रकार गढ़ते थे जैसे कि लुहार अपनी दुकानमें कच्ची धातुसे कोई चीज गढ़ता है।

तीसरी बात यह है कि हमारे अंदरकी भागवत दिव्य 'शक्ति' समस्त जीवनका इस पूर्ण 'योग'के साधनके रूपमें प्रयोग करती है। जागतिक परिस्थितियोंके साथ हमारा प्रत्येक बाह्य संपर्क, उसके विषयका हमारा प्रत्येक अनुभव चाहे वह कितना भी तुच्छ या कष्टपूर्ण क्यों न हो इस कार्यके लिए प्रयुक्त किया जाता है, और प्रत्येक आंतरिक अनुभव, यहाँतक कि अत्यधिक अप्रिय कष्ट या अत्यधिक दीनतापूर्ण पतन भी पूर्णताके रास्ते-पर आगे ले जानेका एक कदम बन जाता है। तब हम अपने अंदर संसारमें प्रयुक्त भगवान्‌की प्रणालीको प्रत्यक्ष रूपमें देखते हैं। हम अंधकारमें प्रकाश-संबंधी उसके उद्देश्यको, दुर्बलों और पतितोंमें शक्ति-संबंधी और दुःखियों और पीड़ितोंमें आनंद-संबंधी उसके उद्देश्यको देखते हैं। हम यह भी देखते हैं कि निम्न और उच्च दोनों प्रक्रियाओंमें एक ही दिव्य प्रणाली प्रयुक्त होती है। भेद केवल इतना होता है कि एकमें उसका अनुसरण धीमे-धीमे और अस्पष्ट रूपमें, प्रकृतिमें अवचेतन सत्ताके द्वारा किया जाता है, जब कि दूसरीमें वह द्रुत गतिसे और चेतन सत्ताके द्वारा कार्य करती है और तब मानव यंत्र यह जानता है कि इसमें प्रभुका हाथ है। समस्त जीवन ही 'प्रकृति'का 'योग' है और अपने अंदर भगवान्‌की अभिव्यक्ति करना चाहता है। योग वह अवस्था है जहाँ यह प्रयत्न चेतन रूपमें कार्य कर सकता है और इसी कारण फिर यह व्यक्तिमें यथार्थ पूर्णता भी प्राप्त कर सकता है। यह वस्तुतः निम्न विकासमें बिखरी हुई और शिथिल रूपमें संयुक्त क्रियाओंका एक एकत्रीकरण और उनकी एकाग्रता है।

सर्वांगीण प्रणालीका परिणाम भी सर्वांगीण ही होगा। सबसे पहले आवश्यकता है दिव्य सत्ताकी पूर्ण प्राप्तिकी, यहाँ एकमेवको उसके भेद-प्रभेदसे रहित एकत्वमें ही नहीं बल्कि उसके अनेक पक्षोंमें भी प्राप्त करना है। ये पक्ष सापेक्ष चेतनाके द्वारा उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये

आवश्यक हैं। इसे एकमेव सत्तामें ही एकत्वकी प्राप्ति नहीं, वल्कि कार्यों, जगतों और प्राणियोंकी असीम विविधतामें भी एकत्वकी प्राप्ति होना चाहिये।

इसी प्रकार मुक्तिको भी सर्वांगीण होना चाहिये। ऐसी स्वतंत्रता ही नहीं जो व्यक्तिकी अपने सव भागोंमें भगवान्‌के साथ अपने अटूट संवंधसे उत्पन्न होती है या जिसे 'सायुज्य-मुक्ति' कहा जाता है और जिसके द्वारा वह वियोगमें और साथ ही द्वंद्वमें भी स्वतंत्र हो जाता है; 'सालोक्य-मुक्ति' भी नहीं जिसके द्वारा समस्त चेतन अस्तित्व भागवत सत्ताकी स्थितिमें अर्थात् सच्चिदानंदकी अवस्थामें निवास करता है, वल्कि इस निम्न सत्ताका भगवान्‌की मानव प्रतिमूर्तिमें रूपांतर होनेके द्वारा हमें दिव्य प्रकृति अर्थात् 'साधर्म्य-मुक्ति'की भी प्राप्ति हो जानी चाहिये। पर सवसे अधिक पूर्ण और अंतिम मुक्ति होती है अहंभावके अस्थिर साँचेसे चेतनाकी मुक्ति और उसका उस एकमेव सत्ताके साथ तादात्म्य जो कि संसार और व्यक्ति दोनोंमें वैश्व है तथा जगत्‌में और जगत्‌से परे भी परात्पर रूपमें एक है।

इस सर्वांगीण प्राप्ति और मुक्तिके द्वारा ही 'ज्ञान', 'प्रेम' और 'कर्म'के परिणामोंमें पूर्ण समन्वय स्थापित होता है। कारण, इसके द्वारा अहंभावसे पूर्ण मुक्ति मिल जाती है तथा सत्तामें सवके अंदर और सवसे परे विद्यमान एकमेवके साथ तदात्मता स्थापित हो जाती है। किंतु प्राप्त करनेवाली चेतना अपनी प्राप्तिके द्वारा सीमित नहीं होती, हम 'परमानंद'में, एकता और 'प्रेम'में समन्वित विविधता भी प्राप्त कर लेते हैं, जिसका फल यह होता है कि क्रीड़ाके सव संवंध हमारे लिये तव भी संभव रहते हैं जव कि हम अपनी सत्ताके उच्च स्तरोंपर 'प्रिय'के साथ सनातन एकत्वको वनाये रखते हैं। इसी प्रकारके विस्तारके कारण और क्योंकि हम आत्माकी उस स्वतंत्रताको प्राप्त करनेमें समर्थ हैं जो जीवनको स्वीकार करती है तथा जीवनके परित्यागपर निर्भर नहीं करती, हम विना अहंभाव, वंधन या किसी प्रतिक्रियाके अपने मन और शरीरमें उस दिव्य कर्मके वाहक भी वन सकते हैं जो कि जगत्‌में मुक्त रूपसे उँडेला जा रहा है।

दिव्य जीवनके स्वभावमें स्वतंत्रता ही नहीं है, वल्कि पवित्रता, आनंद और पूर्णता भी है। जो पूर्ण पवित्रता हमारे अंदर दिव्य सत्ताके पूर्ण चिंतनको संभव वनायेगी और साथ ही जो इसके 'सत्य' और 'नियम'को जीवनके रूपोंमें और जो जटिल यंत्र हम अपने वाह्य भागोंमें हैं उसकी यथार्थ क्रियाके द्वारा हमारे अंदर पूर्ण रूपसे उँडेल सकेगी वही पवित्रता पूर्ण स्वाधीनताकी शर्त है। इसका परिणाम एक पूर्ण आनंद है, इसमें उन सवका

आनंद जो भगवान्‌के प्रतीकोंके रूपमें संसारके अंदर देखा जाता है और साथ ही उसका भी आनंद जो संसारसे इतर है प्राप्त किया जा सकता है। यह पविव्रता मानव अभिव्यक्तिकी अवस्थाओंके अनुसार दिव्य जातिके रूपमें हमारी मानव-जातिकी सर्वांगीण पूर्णताकी तैयारी करती है और यह पूर्णता सत्ताकी तथा प्रेम और आनंदकी स्वतंत्र वैश्वतापर और ज्ञानकी क्रीड़ा तथा शक्ति और निरभिमान कर्मके संकल्पकी क्रीड़ाकी स्वतंत्र वैश्वता-पर आधारित है। यह पूर्णता भी सर्वांगीण योगके द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

पूर्णताके अंदर मन और शरीरकी पूर्णता भी आ जाती है, इसलिये राजयोग और हठयोगके सर्वोच्च परिणाम इस समन्वयके अत्यधिक विस्तृत सूत्रमें समाविष्ट हो जाने चाहियें जिसे मनुष्यको अंतमें चरितार्थ करना है। योगके द्वारा मनुष्य-जातिको जो सामान्य मानसिक और भौतिक शक्तियाँ और अनुभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं, उनके पूर्ण विकासको तो कम-से-कम योगकी पूर्ण प्रणालीके क्षेत्रमें आ ही जाना चाहिये। बल्कि इन सबके अस्तित्वका कोई आधार ही नहीं रहेगा जबतक कि इनका प्रयोग पूर्ण मानसिक और भौतिक जीवनके लिये नहीं होगा। इस प्रकारके मानसिक और भौतिक जीवनका अर्थ अपने स्वभावकी दृष्टिसे आध्यात्मिक जीवनको उसके अपने यथार्थ मानसिक और भौतिक मूल्योंमें रूपांतरित करना होगा। इस प्रकार हम प्रकृतिके तीनों स्तरों और मानव-जीवनकी उन तीन अवस्थाओं-के समन्वयपर पहुँचेंगे जिन्हें वह विकसित कर चुकी है या कर रही है। हम अपनी मुक्त सत्तामें और कर्मकी पूर्णता-प्राप्त प्रणालियोंके क्षेत्रमें भौतिक जीवनको अपने आधारके रूपमें और मानसिक जीवनको अपने मध्यवर्ती यंत्रके रूपमें समाविष्ट कर लेंगे।

जिस पूर्णताकी हम अभीप्सा करते हैं वह यदि एक ही व्यक्तितक सीमित रहेगी तो वह यथार्थ तो होगी ही नहीं, बल्कि संभव भी नहीं रहेगी। क्योंकि हमारी दिव्य पूर्णताका अर्थ सत्ता, जीवन और प्रेममें दूसरोंके द्वारा और स्वयं अपने द्वारा भी अपने-आपको प्राप्त करना है; हमारी स्वतंत्रताका और दूसरोंमें उसके परिणामोंका विस्तार ही हमारी स्वाधीनता और पूर्णताका अनिवार्य परिणाम और सबसे बड़ी उपयोगिता होगी। और, इस विस्तारके लिये किये गये सतत और आंतरिक प्रयत्नका उद्देश्य मनुष्य-जातिमें उसका वृद्धिशील और पूर्णतम सामान्यीकरण करना होगा।

इस प्रकार एक विस्तृत रूपसे पूर्ण आध्यात्मिक जीवनकी सर्वांगीणताके

द्वारा व्यक्ति और जातिमें मनुष्यके सामान्य भौतिक जीवनका तथा मानसिक और नैतिक आत्म-संस्कृति-संबंधी उसके महान् ऐहिक प्रयत्नका दिव्यीकरण हमारे वैयक्तिक और सामूहिक प्रयत्नका उत्कृष्ट रूप होगा। यह चरम प्राप्ति जिसका अर्थ एक ऐसा आंतरिक स्वर्गराज्य होगा जो बाहरके स्वर्ग-राज्यमें पुनः उत्पन्न कर दिया गया है उस महान् स्वप्नकी भी सच्ची चरितार्थता होगी जिसे पानेकी संसारके धर्म विभिन्न अर्थोंमें इच्छा करते आये हैं।

पूर्णताके जिस विशालतम समन्वयके बारेमें हम सोच सकते हैं वह अकेला ही एक ऐसा प्रयत्न है जिसके अधिकारी केवल वही लोग हैं जिनकी समर्पित दृष्टि यह देख लेती है कि भगवान् मनुष्य-जातिमें गुप्त रूपमें निवास करते हैं।

पहला भाग

दिव्य कर्मोंका योग

पहला अध्याय

चार साधन

योग-सिद्धि, अर्थात् वह पूर्णता जो योगाभ्याससे प्राप्त होती है, चार महान् साधनोंकी सम्मिलित क्रियाद्वारा सर्वोत्तम रूपसे संपादित की जा सकती है। पहला साधन है शास्त्र, अर्थात् उन सत्यों, सिद्धांतों, शक्तियों और विधियोंका ज्ञान जिनपर सिद्धि निर्भर करती है। दूसरा है उत्साह, अर्थात् शास्त्रोक्त ज्ञानद्वारा निर्धारित पद्धतियोंके आधारपर धीर और स्थिर क्रिया,—हमारे वैयक्तिक प्रयत्नका बल। तीसरा, गुरु,—गुरुका साक्षात् निर्देश, दृष्टांत और प्रभाव जो हमारे ज्ञान और प्रयत्नको आध्यात्मिक अनुभूतिके क्षेत्रमें ऊपर उठा ले जाते हैं। अंतिम है काल, अर्थात् समयका माध्यम; कारण, सभी घटनाओंमें क्रियाका एक चक्र और ईश्वरीय गतिका एक विशेष समय होता है।

*

पूर्णयोगका परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक विचारशील मनुष्यके हृदयमें गुप्त रूपसे निहित है। नित्य ज्ञान और नित्य पूर्णताका कमल एक अविकसित और मुकुलित कलीके रूपमें हमारे अंदर ही विद्यमान है। एक बार जब मनुष्यका मन सनातनकी ओर मुड़ने लगता है, एक बार जब उसका हृदय सांत रूपोंके मोहकी संकीर्णतासे ऊपर उठकर, चाहे किसी भी मात्रामें हो, अनंतमें अनुरक्त हो जाता है, तब वह कली शीघ्र या शनैः-शनैः, एक-एक पंखड़ी करके, एक-एक उपलब्धिके द्वारा खुलने लगती है। उस समयसे उसका सारा जीवन, सारे विचार, उसके शक्ति-सामर्थ्यके सभी व्यापार और समस्त निष्क्रिय या सक्रिय अनुभव ऐसे बहुविध आघात बन जाते हैं जो आत्माके आवरणोंको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और उसके अनिवार्य विकासके रास्तेमें आनेवाली बाधाओंको दूर कर देते हैं। जो भगवान्को चुनता है वह भगवान्द्वारा चुना जा चुका है। उसने वह दिव्य संस्पर्श प्राप्त कर लिया है जिसके विना आत्माका जागरण और उन्मीलन होता ही नहीं। बस, एक बार संस्पर्श प्राप्त हो जाना चाहिये, फिर सिद्धि तो निश्चित है, चाहे हम उसे अति शीघ्र, एक ही मानव-

जीवनकी अवधिमें अधिगत कर लें या अभिव्यक्त जगत्‌में जन्म-जन्मांतरोंकी परंपरामेंसे गुजरते हुए धैर्यपूर्वक उस ओर अग्रसर हों।

मनको ऐसी कोई भी शिक्षा नहीं दी जा सकती जिसका बीज मनुष्यकी विकासशील अंतरात्मामें पहलेसे ही निहित न हो। अतएव, मनुष्यका बाह्य व्यक्तित्व जिस पूर्णताको पहुँच सकता है वह भी सारी-की-सारी उसकी अपनी अंतरस्थ आत्माकी सनातन पूर्णताको उपलब्ध करनामात्र है। हम भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं, क्योंकि हम अपनी प्रच्छन्न प्रकृतिमें पहलेसे वही हैं। शिक्षणमात्रका अर्थ है आविर्भूत करना, संभूतिमात्रका अभिप्राय है प्रकट होना। आत्म-उपलब्धि ही रहस्य है; आत्म-ज्ञान और वर्द्धमान चेतना उसके साधन तथा प्रक्रिया हैं।

ज्ञानको आविर्भूत करनेका साधारण साधन है 'श्रुत' शब्द, अर्थात् श्रवण किया हुआ 'शब्द'। शब्द हमें अंदरसे प्राप्त हो सकता है; वह हमें बाहरसे भी प्राप्त हो सकता है। परंतु दोनों अवस्थाओंमें वह निगूढ़ ज्ञानकी क्रिया शुरू करा देनेका साधनमात्र होता है। अंदरका शब्द हमारी उस अंतरतम अंतरात्माकी वाणी हो सकता है जो भगवान्‌की ओर सदा खुली रहती है, अथवा यह उन प्रच्छन्न और विश्वव्यापी परम गुरुका शब्द हो सकता है जो सबके हृदयोंमें विराजमान हैं। कुछ एक महापुरुषोंके लिये यही पर्याप्त होता है, उन्हें अन्य किसी शब्दकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि बाकी सारा योग तो उस परम गुरुके सतत संस्पर्श और पथ-प्रदर्शनकी छायामें आवरणोंका खुलनामात्र होता है। ज्ञानका कमल आप-से-आप, भीतरसे ही, खिलता है, वह हृदय-कमलके अधिवासीसे निःसृत जाज्वल्यमान तेजकी शक्तिसे विकसित होता है। निःसंदेह ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं जिनके लिये यह आंतरिक आत्म-ज्ञान ही पर्याप्त होता है और जिन्हें किसी लिखित ग्रंथ या जीवित गुरुके प्रबल प्रभावके अनुसार चलनेकी आवश्यकता नहीं होती।

किंतु साधारणतया, भगवान्‌के प्रतिनिधि-स्वरूप, बाहरसे प्राप्त ईश्वरीय शब्दकी जरूरत पड़ती ही है, क्योंकि यह आत्म-प्रस्फुटनके कार्यमें सहायक होता है। यह या तो किसी प्राचीन गुरुका शब्द हो सकता है या किसी जीवित गुरुका अधिक प्रभावपूर्ण शब्द। प्रतिनिधिभूत गुरुके उपदेशको कुछ साधक अपनी अंतःशक्तिके जगाने और प्रकट करनेके लिये केवल एक निमित्तके रूपमें ही ग्रहण करते हैं, मानों सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् प्रकृतिके संचालक सामान्य नियमकी मर्यादाका मान कर रहे हों। उपनिषदोंमें देवकी-पुत्र श्रीकृष्णके बारेमें एक कथा आती है कि घोर ऋषिके

एक शब्दसे उनके अंदर ज्ञान जागृत हो उठा। इसी प्रकार रामकृष्णने अपने निजी आंतरिक प्रयत्नसे केंद्रीय प्रकाश प्राप्त कर योगके विभिन्न मार्गोंमें अनेक गुरु धारण किये, पर अपनी उपलब्धिके ढंग और वेगसे हर बार यह दिखा दिया कि उनका यह गुरु धारण करना उस सामान्य नियमका सम्मान ही था जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान मनुष्यको शिष्य-भावमें मनुष्यसे ही प्राप्त करना चाहिये।

परंतु सामान्यतया साधकके जीवनमें भगवत्प्रतिनिधिरूप शास्त्र या जीवित गुरुके शब्दके प्रभावका बहुत ही बड़ा स्थान होता है। यदि साधक किसी ऐसे मान्य प्राचीन शास्त्रके अनुसार साधना कर रहा हो जिसमें कुछ प्राचीन योगियोंका अनुभव दिया हो, तो वह केवल वैयक्तिक प्रयत्नसे या किसी गुरुकी सहायतासे ही अपनी साधना चला सकता है। तब, वह उस शास्त्रमें प्रतिपादित सत्योंके मनन-निदिध्यासनसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है और अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिमें उन सत्योंका साक्षात्कार करके उस ज्ञानको जीवित और जागृत करता है। किसी शास्त्र या परंपराके द्वारा उसे योगकी कुछ निश्चित विधियोंका ज्ञान होता है, और जब वह देखता है कि उसके गुरु भी अपनी शिक्षाओंमें उन्हीं विधियोंको संपुष्ट और स्पष्ट करते हैं तो वह भी उन्हींका अनुसरण करके उनके फलस्वरूप योग-मार्गमें आगे बढ़ता है। अवश्य ही यह अधिक संकीर्ण पद्धति है, पर अपनी सीमाओंके भीतर सुरक्षित और फलप्रद है, क्योंकि यह चिर-परिचित लक्ष्य-पर पहुँचनेके लिये एक सुविदित पथका अवलंबन करती है।

परंतु पूर्णयोगके साधकको यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी लिखित शास्त्र नित्य ज्ञानके केवल कुछ एक अंशोंको ही प्रकट कर सकता है, चाहे उसकी प्रामाणिकता कितनी भी महान् क्यों न हो अथवा उसकी भावना कितनी भी विशाल क्यों न हो। साधक शास्त्रका उपयोग करेगा, किंतु महान्-से-महान् शास्त्रसे भी वह अपने-आपको बाँधेगा नहीं। यदि धर्मशास्त्र गभीर, विशाल एवं उदार हो तो वह साधकके लिये अत्यंत हितकर तथा महत्त्वपूर्ण हो सकता है। वह उसके लिये सर्वोपरि सत्यों तथा उच्चतम अनुभूतियोंकी प्राप्तिका साधन बन सकता है। उसका योग दीर्घकालतक एक ही शास्त्र या क्रमशः अनेक शास्त्रोंके अनुसार चल सकता है, उदाहरणार्थ, यदि वह महान् हिन्दू परंपराका अनुसरण करता है, तो वह गीता, उपनिषदों और वेदके अनुसार योगका अभ्यास कर सकता है। अथवा उसके विकासका अधिकतर भाग इस प्रकारका हो सकता है कि वह अनेक शास्त्रोंके सत्योंके विविध अनुभवोंकी ऐश्वर्यराशिको अपने विकासके

स्वरूपमें समाविष्ट कर सकता है और अतीतमें जो कुछ भी श्रेष्ठ था उस सबसे भविष्यको समृद्ध बना सकता है। परंतु अंतमें उसे अपनी आत्माकी ही शरण लेनी होगी। अथवा इससे भी अच्छा यह होगा (यदि वह ऐसा कर सके तो) कि वह लिखित सत्यका अतिक्रमण करके[1] और जो कुछ वह श्रवण कर चुका है एवं जो कुछ उसे अभी श्रवण करना है उस सबका[2] अतिक्रमण करके सदा-सर्वदा और प्रारंभसे ही अपनी आत्मामें निवास करे। कारण, वह एक पुस्तक या अनेक पुस्तकोंका साधक नहीं है, वह अनंतका साधक है।

एक और प्रकारका भी शास्त्र होता है। यह धर्मशास्त्र नहीं होता; इसमें जिस योग-पथपर साधक चलना पसंद करता है उसकी विद्या एवं विधियों और फलोत्पादक सिद्धांतों तथा क्रिया-प्रणालीका वर्णन होता है। प्रत्येक पथका अपना-अपना शास्त्र होता है, चाहे वह लिखित हो या परंपरा-प्राप्त अर्थात् गुरुओंकी दीर्घ परंपराद्वारा गुरुमुखसे प्राप्त होता चला आ रहा हो। भारतवर्षमें साधारणतः लिखित या परंपरा-प्राप्त शिक्षाको महान् प्रामाणिकता एवं अतिशय सम्मानतक प्रदान किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि योग-विशेषकी सभी विधियाँ नियत और स्थिर होती हैं। इसलिये जिस गुरुने परंपराद्वारा शास्त्रको प्राप्त किया है और अभ्यासद्वारा उसे अनुभव-सिद्ध कर लिया है वह अति-प्राचीन पदचिह्नोंके सहारे शिष्यको मार्ग दिखाता है। किसी नयी अभ्यास-क्रिया, नयी यौगिक शिक्षा और नवीन सूत्रके अंगीकारके विरुद्ध बलपूर्वक उठायी गयी आपत्ति भी प्रायः हमारे सुननेमें आती है कि "यह शास्त्रके अनुसार नहीं है।" परंतु असलमें बात ऐसी नहीं, है, न योगियोंकी क्रियात्मक साधनामें ही वस्तुतः कोई ऐसी लोह-दुर्गकी-सी अभेद्य कठोरता होती है कि उसमें नवीन सत्य, नूतन ईश्वरीय ज्ञान एवं विस्तीर्ण अनुभवका प्रवेश ही न हो सके। लिखित या परंपरागत शिक्षा अनेक शताब्दियोंके ज्ञान और अनुभवोंको एक शास्त्रीय एवं क्रमबद्ध रीतिसे प्रकट कर देती है जिससे कि वे योगका आरंभ करनेवाले व्यक्तिके लिये सुलभ हो जाते हैं। अतएव, इसकी महत्ता और उपयोगिता अतीव महान् है। परंतु विविधता और विकासके लिये अत्यधिक स्वाधीनता सदा ही प्रयोगमें लायी जा सकती है। राजयोग जैसी अत्युच्च कोटिकी वैज्ञानिक पद्धतिका अभ्यास भी पतंजलिकी क्रमबद्ध प्रणालीसे भिन्न अन्य परिपाटियोंद्वारा किया जा

---

[1]शब्दब्रह्मातिवर्तते। गीता-६, ४४। [2]श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। गीता-२, ५२।

सकता है। त्रिमार्गके[1] तीनों मार्ग अनेक उपमार्गोंमें विभक्त हो जाते हैं जो अपने लक्ष्यपर पहुँचकर फिर मिल जाते हैं। जिस सामान्य ज्ञानपर योग आश्रित है वह तो नियत है, किंतु क्रम, पूर्वापरभाव, उपायों और रूपोंमें विभेद तो हमें स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि सामान्य सत्य स्थिर और शाश्वत रहते हैं तथापि वैयक्तिक प्रकृतिकी आवश्यकताओं और विशेष प्रवृत्तियोंको तो तृप्त करना ही होता है।

विशेषकर, पूर्ण और समन्वयात्मक योगको किसी लिखित या परंपरागत शास्त्रसे आबद्ध होनेकी आवश्यकता नहीं। जहाँ यह योग प्राचीन ज्ञानको अपने अंदर समाविष्ट करता है वहाँ यह उसे वर्तमान और भविष्यके लिये नवीन रूपमें व्यवस्थित करनेका यत्न भी करता है। इसके स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिये यह अनिवार्य है कि इसे अनुभव उपलब्ध करनेकी और नयी परिभाषाओं तथा नये रूपोंमें ज्ञानका फिरसे प्रतिपादन करनेकी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो। क्योंकि यह संपूर्ण जीवनको अपने अंदर समाविष्ट करनेका यत्न करता है, इसकी स्थिति उस यात्रीकी-सी नहीं है जो अपनी मंजिलकी तरफ जानेवाले राजपथपर चलता चला जाता है, बल्कि, कम-से-कम इस अंशमें, इसकी स्थिति एक ऐसे मार्गान्वेषककी-सी है जो किसी अपरिचित वनमें नये मार्ग बनाता है। कारण, योग चिरकालतक जीवनसे विमुख रहा है और प्राचीन पद्धतियाँ, उदाहरणार्थ, हमारे वैदिक पूर्वजोंकी पद्धतियाँ, जिन्होंने इसका आलिंगन करनेका यत्न किया था, हमारे लिये अत्यंत दुर्गम हैं। वे ऐसे शब्दोंमें वर्णित हैं जो आज हमारे लिये सुबोध नहीं हैं, ऐसे रूपोंमें विन्यस्त हैं जो आज व्यवहार्य नहीं हैं। तबसे मनुष्य-जाति नित्य 'काल'की धारापर आगे बढ़ चुकी है और इसीलिये अब उसी समस्यापर नये दृष्टिकोणसे विचार करनेकी आवश्यकता है।

इस योगके द्वारा हम अनंतकी केवल खोज ही नहीं करते, बल्कि उसका आवाहन भी करते हैं जिससे वह अपने-आपको मानवजीवनमें प्रस्फुटित करे। अतएव, हमारे योगशास्त्रको ग्रहणशील मानव आत्माकी अनंत स्वतंत्रताके लिये सब प्रकारकी सुविधा प्रदान करनी होगी। मनुष्यके पूर्ण आध्यात्मिक जीवनके लिये ठीक अवस्था यह होगी कि विराट् तथा परात्पर पुरुषको अपनेमें ग्रहण करनेके ढंग और प्रकारमें उसे हेर-फेरकी पूरी स्वतंत्रता हो। विवेकानंदने एक बार कहा था कि सब धर्मोंकी एकता चरितार्थ करनेके लिये यह आवश्यक है कि इसके रूपोंकी विविधता अधिकाधिक समृद्ध हो

---

[1]ज्ञान, भक्ति और कर्मका त्रिविध मार्ग।

तथा उस मूलभूत एकताकी पूर्ण अवस्था तब प्राप्त होगी जब प्रत्येक मनुष्यका अपना धर्म होगा और जब वह संप्रदाय या रूढ़ि-परंपरासे बँधा न रहकर परम पुरुषके साथ अपने संबंधोंमें अपनी स्वतंत्र और सामंजस्य-साधक प्रकृतिका ही अनुसरण करेगा। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि पूर्णयोगकी पूर्णता तब प्राप्त होगी जब प्रत्येक मनुष्य अपने निजी योग-मार्गका अवलंबन कर सकेगा तथा प्रकृतिसे परेकी किसी वस्तुकी ओर उन्मुख होती हुई अपनी निजी प्रकृतिके विकासका ही अनुसरण करेगा। कारण, स्वतंत्रता ही अंतिम विधान और चरम परिणति है।

इस बीच कुछ ऐसी सामान्य पद्धतियाँ निश्चित करनेकी जरूरत है जो साधककी चिंतना और साधनाका मार्ग-निर्देश करनेमें सहायक हों। परंतु इन्हें यथासंभव व्यापक सत्यों एवं सामान्य सिद्धांत-वाक्योंका और प्रयास एवं विकासकी अत्यंत शक्तिशाली विस्तृत दिशाओंका ही रूप धारण करना चाहिये, इन्हें कोई ऐसी बँधी-बँधायी विधियाँ नहीं होना चाहिये जिनका नित्य-नैमित्तिक क्रियाओंकी भाँति पालन करना पड़े। शास्त्रमात्र भूतकालके अनुभवका फल होता है और साथ ही भावी अनुभवमें सहायक होता है। यह एक साधन और आंशिक मार्गदर्शक होता है। यह चिह्नित खंभे गाड़ देता है और मुख्य सड़कों एवं पहले खोजी जा चुकी दिशाओंके नाम बता देता है, जिससे पथिकको पता चल सके कि वह किधर और किन मार्गोंसे बढ़ रहा है।

शेष सब कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न और अनुभवपर और पथ-प्रदर्शककी शक्तिपर निर्भर करता है।

*

अनुभवका विकास कितने वेग एवं विस्तारके साथ होता है और उसके परिणाम कितने तीव्र एवं प्रभावशाली होते हैं—यह मार्गके प्रारंभमें और बादमें भी दीर्घकालतक मुख्यत: साधककी अभीप्सा और उसके वैयक्तिक प्रयत्नपर ही निर्भर करता है। मानव आत्माका वस्तुओंके बाह्य रूपों और आकर्षणोंमें ग्रस्त अहंभावमय चेतनासे मुँह मोड़कर उस उच्चतर चेतना-को अधिकृत करना जिसमें परात्पर और विराट् ईश्वर अपने-आपको व्यक्ति-रूपी साँचेके अंदर उँडेल सकें और उसे रूपांतरित कर सकें, यही है योगकी मौलिक प्रक्रिया। अतएव, सिद्धिका सर्वप्रथम निर्धारक तत्त्व यही है कि आत्मा उच्चतर चेतनाकी ओर कितनी तीव्रतासे अभिमुख होती है अथवा अपनेको अंतर्मुख करनेवाली शक्ति उसमें कितनी है। इस तीव्रताके नाप

हैं—हृदयकी अभीप्साकी शक्ति, संकल्पका वल, मनकी एकाग्रता, प्रयुक्त शक्तिका अनवरत उद्योग और दृढ़ निश्चय। आदर्श साधकको वाइबलकी उक्तिके अनुसार यह कहनेमें समर्थ होना चाहिये "मेरे भगवत्प्राप्तिके उत्साहने मुझे पूर्णतः ग्रस लिया है।" भगवान्‌के लिये ऐसा उत्साह, अपनी दिव्य परिणतिके लिये संपूर्ण प्रकृतिकी व्यग्रता एवं व्याकुलता और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये हृदयकी उत्सुकता ही उसके अहंको ग्रस लेती है और इसके क्षुद्र तथा संकीर्ण साँचेकी सीमाओंको तोड़ डालती है। फलतः, अहं अपनी अभीष्ट वस्तुको, जो विश्वव्यापी होनेसे विशालतम तथा उच्चतम व्यष्टिगत आत्मा और प्रकृतिको भी अतिक्रांत किये हुए है और परात्पर होनेके कारण उससे अत्यंत उत्कृष्ट है, पूर्ण तथा विशाल रूपमें ग्रहण कर पाता है।

परंतु जो शक्ति पूर्णताके लिये कार्य करती है उसका यह केवल एक पार्श्व है। पूर्णयोगकी प्रक्रियामें तीन अवस्थाएँ आती हैं, निश्चय ही वे तीव्र रूपमें भिन्न या पृथक्-पृथक् तो नहीं हैं, पर किसी अंशमें क्रमिक अवश्य हैं। सबसे पहले हमें अपने अहंभावसे ऊपर उठने और भगवान्‌के साथ संवंध स्थापित करनेका यत्न करना होगा जिससे कि हम, कम-से-कम, योगमें दीक्षित होकर उसके अधिकारी बन सकें। उसके बाद यह आवश्यक है कि जो परब्रह्म हमसे अतीत है और जिसके साथ हमने अंतर्मिलन प्राप्त कर लिया है उसे हम अपने अंदर ग्रहण करें, ताकि वह हमारी संपूर्ण चेतन सत्ताका रूपांतर कर सके। अंतमें, हमें अपनी रूपांतरित मानवताका संसारमें भगवान्‌के केंद्रके रूपमें उपयोग करना होगा। जवतक भगवान्‌के साथ संवंध यथेष्ट मात्रामें स्थापित नहीं हो जाता, जबतक कुछ-न-कुछ सतत तादात्म्य, सायुज्य, प्राप्त नहीं हो जाता तबतक साधारणतया व्यक्तिगत प्रयत्नका अंग अवश्य ही प्रधान रहता है। परंतु जैसे-जैसे यह संबंध स्थापित होता जाता है वैसे-वैसे साधक निश्चित रूपमें इस बातसे सचेतन होता जाता है कि उसकी शक्तिसे भिन्न कोई शक्ति, जो उसके अहंभावपूर्ण प्रयत्न और सामर्थ्यसे अतीत है, उसके अंदर काम कर रही है और वह उत्तरोत्तर उस परम शक्तिके प्रति अपने-आपको उत्सर्ग करना सीखता जाता है और अपने योगका कार्यभार उसे सौंप देता है। अंतमें उसका अपना संकल्प और सामर्थ्य उच्चतर शक्तिके साथ एक हो जाते हैं; वह उन्हें भागवत संकल्प और उसकी परात्पर तथा विश्वव्यापिनी शक्तिमें निमज्जित कर देता है। तबसे वह देखने लगता है कि यह शक्ति उसकी मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक सत्ताके आवश्यक रूपांतरका सूत्रसंचालन ऐसे न्यायपूर्ण ज्ञान और दूरदर्शी क्षमताके साथ कर रही है जो उत्कंठित

और स्वार्थरत अहंके सामर्थ्यसे बाहरकी वस्तु हैं। जब यह तादात्म्य और आत्म-निमज्जन पूर्ण हो जाते हैं तब संसारमें भगवान्‌का केंद्र तैयार हो जाता है। विशुद्ध, मुक्त, सुनम्य और ज्ञानदीप्त होकर वह केंद्र मानवता या अतिमानवताके विस्तीर्णतर योगमें, अर्थात् इस भूलोककी आध्यात्मिक प्रगति या इसके रूपांतरके योगमें, सर्वोच्च शक्तिकी साक्षात् क्रियाके लिये साधनके तौरपर उपयोगमें आने लग सकता है।

निःसंदेह, हमारे अंदर सदा उच्चतर शक्ति ही काम करती है। हममें जो यह भाव होता है कि स्वयं हम ही यत्न तथा अभीप्सा करते हैं उसका कारण यह है कि हमारा अहंकारमय मन अपने-आपको दिव्य शक्तिकी क्रियाओंके साथ अशुद्ध और अपूर्ण ढंगसे एकाकार करनेकी चेष्टा करता है। यह अतिप्राकृतिक स्तरके अनुभवपर भी मनकी वही साधारण परिभाषाएँ लागू करनेका आग्रह करता है जिनका प्रयोग यह अपने सामान्य सांसारिक अनुभवोंके लिये करता है। संसारमें हम अहंकारकी भावनाके साथ कर्म करते हैं। हमारे अंदर जो वैश्व शक्तियाँ काम करती हैं उन्हें हम दावेके साथ अपनी कहते हैं। मन, प्राण और शरीरके इस ढाँचेमें परात्परकी चयनशील एवं निर्माणकारी विकासात्मक क्रियाको हम अपने निजी संकल्प, ज्ञान, बल और पुण्यका परिणाम घोषित करते हैं। प्रकाशकी प्राप्ति होनेपर हमें यह ज्ञान होता है कि अहंकार तो यंत्रमात्र है। हम यह देखने और समझने लगते हैं कि ये चीजें केवल इस अर्थमें हमारी हैं कि ये हमारी उस सर्वोच्च अखंड आत्मासे संबंध रखती हैं जो यंत्रात्मक अहंकारके साथ नहीं वरन् परात्परके साथ एकीभूत है। भागवत शक्तिकी क्रियापर हम केवल अपनी सीमाएँ और विकृतियाँ ही थोपा करते हैं; उसमें जो सच्ची शक्ति है वह तो भगवान्‌की ही है। जब मनुष्यका अहंकार यह अनुभव कर लेता है कि उसका संकल्प एक उपकरण है, उसका ज्ञान अविद्या एवं मूढ़ता है, उसका बल मानों बच्चेका अंधेरेमें टटोलना है एवं उसका पुण्य पाखंडपूर्ण अपवित्रता है, और जब वह अपने-आपको अपनेसे अतीत सत्ताके हाथोंमें सौंपना सीख जाता है तभी वह मुक्ति लाभ करता है। हम अपनी वैयक्तिक सत्ताके बाह्य स्वातंत्र्य तथा स्व-व्यापनमें अतीव गहरे आसक्त हैं, पर इनके पीछे उन सहस्रों सुझावों, प्रेरणाओं तथा शक्तियोंके प्रति, जिन्हें हमने अपने क्षुद्र व्यक्तित्वसे बाहरकी वस्तु बना रखा है, हमारी अत्यंत दयनीय दासता छिपी रहती है। हमारा अहंकार स्वतंत्रताकी डींग मारता हुआ भी प्रतिक्षण विश्व-प्रकृतिके अंदर अनगिनत सत्ताओं, शक्तियों, सामर्थ्यों और प्रभावोंका दास, खिलौना तथा कठपुतली

बना रहता है। अहंका भगवान्‌के प्रति आत्म-उत्सर्ग ही उसकी आत्म-परिपूर्णता है ; अपनेसे अतीत तत्त्वके प्रति उसका समर्पण ही बंधनों और सीमाओंसे उसकी मुक्ति है, यही उसकी पूर्ण स्वतंत्रता है।

परंतु फिर भी, क्रियात्मक विकासमें, इन तीनों अवस्थाओंमेंसे प्रत्येककी अपनी-अपनी आवश्यकता और उपयोगिता है और प्रत्येकको अपना समय और अपना स्थान प्राप्त होना चाहिये। अतएव, केवल अंतिम तथा सर्वोच्च अवस्थाके द्वारा आरंभ करनेसे ही काम नहीं चलेगा और न ही ऐसा करना सुरक्षित वा फलप्रद हो सकता है। यह भी ठीक मार्ग नहीं होगा कि हम समयसे पूर्व ही एक अवस्थासे दूसरीपर छलांग मारकर पहुँच जायँ। चाहे हम प्रारंभसे ही मन और हृदयमें परम पुरुषपर आस्था रखें तो भी प्रकृतिमें ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो आस्थाके विषयके उपलब्ध होनेमें चिरकालतक बाधा डालेंगे। परंतु बिना उपलब्धिके हमारा मानसिक विश्वास क्रियाशील वस्तु नहीं बन सकता; वह केवल ज्ञानकी प्रतिमूर्त्ति ही रहता है, जीवंत सत्य नहीं बनता, वह केवल भावना ही रहता है, शक्ति नहीं बनता। उपलब्धि होना चाहे आरंभ हो भी जाय तो भी तुरत-फुरत यह कल्पना कर लेना या यह मान बैठना भयावह हो सकता है कि हम पूरी तरहसे परम पुरुषके हाथोंमें हैं और उसके यंत्र बनकर काम कर रहे हैं। ऐसी कल्पना संकटपूर्ण असत्यको जन्म दे सकती है। यह असहाय जड़ता पैदा कर सकती है या भगवान्‌के नामपर अहंकारकी चेष्टाओंको बहुत अधिक बढ़ाकर योगके संपूर्ण अभ्यासक्रमको दुःखद रूपमें विकृत और विनष्ट कर सकती है। आंतरिक प्रयत्न और संघर्षका एक कम या अधिक लंबा समय आया ही करता है जिसमें वैयक्तिक संकल्पको निम्न प्रकृतिके अंधकार तथा विकारजालका निराकरण करके दृढ़ निश्चयपूर्वक या उत्साहके साथ दिव्य प्रकाशका पक्ष लेना होता है। हमें अपने मनकी शक्तियों, हृदयके भावावेगों एवं प्राणकी कामनाओंको और यहाँतक कि शरीरको भी बाध्य करना होता है कि वे यथार्थ वृत्ति धारण करें, अथवा उन्हें सिखाना होता है कि वे शुद्ध प्रभावोंको स्वीकार करें तथा उत्तर दें। जब यह सब कुछ ठीक-ठीक पूरा हो जाता है तभी निम्नका उच्चतरके प्रति समर्पण संपन्न किया जा सकता है, क्योंकि तब हमारा यज्ञ स्वीकार करने योग्य हो जाता है।

साधकको पहले अपने वैयक्तिक संकल्पके द्वारा अहंकारमयी शक्तियोंपर अधिकार करके उन्हें प्रकाश तथा सत्यकी ओर मोड़ देना होता है। जब एक बार वे उधर मुड़ जाती हैं तब भी उसे उन्हें सधाना होता है कि

वे सदा उस प्रकाश तथा सत्यको ही स्वीकार करें, सदा उसीका वरण और उसीका अनुसरण करें। आगे बढ़नेपर वह वैयक्तिक संकल्प, वैयक्तिक प्रयत्न एवं वैयक्तिक सामर्थ्योंका प्रयोग करता हुआ भी यह सीख जाता है कि किस प्रकार वह उन्हें सचेतन रूपसे उच्चतर प्रभावके अधीन रखकर उच्चतर शक्तिके प्रतिनिधियोंके तौरपर व्यवहारमें ला सकता है। जब वह और अधिक प्रगति कर लेता है तो उसका संकल्प, प्रयत्न एवं बल पहलेकी तरह वैयक्तिक तथा पृथक् नहीं रहते, वरन् व्यक्तिमें काम कर रहे उच्चतर बल तथा प्रभावकी क्रियाएँ बन जाते हैं। परंतु अब भी दिव्य उद्गम तथा उसमेंसे निकलनेवाली मानवधाराके बीच एक प्रकारकी खाई या दूरी बची रहती है। अनिवार्यतः ही, उसका परिणाम यह होता है कि उच्चतर बल एवं प्रभाव हमारे अंदर अस्पष्ट रूपमें पहुँचता है और हमतक उसके पहुँचनेकी प्रक्रिया सदा ठीक ही नहीं होती, यहाँतक कि कभी-कभी तो वह बहुत विकृत करनेवाली भी होती है। विकासके अंतिम छोरपर, अहंकार, अपवित्रता और अज्ञानका उत्तरोत्तर लोप होते-होते, यह अंतिम विछोह भी दूर हो जाता है। तब, मनुष्यमें जो कुछ भी है वह सब दिव्य क्रिया बन जाता है।

*

जिस प्रकार पूर्णयोगका परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें निहित है, उसी प्रकार परम पथ-प्रदर्शक और गुरु वह अंतःस्थित मार्ग-दर्शक और जगद्गुरु है जो हमारे भीतर प्रच्छन्न रूपमें विद्यमान है। वही हमारे अंधकारको अपने ज्ञानकी जाज्वल्यमान ज्योतिसे विध्वस्त करता है और उसकी ज्योति हमारे भीतर उसके आत्म-प्राकट्यकी वर्धमान महिमा बन जाती है। वह हममें स्वातंत्र्य, आनंद, प्रेम, शक्ति और अमर सत्ताकी अपनी ही प्रकृतिको उत्तरोत्तर आविर्भूत करता है। वह हमारे लिये अपने दिव्य दृष्टांतको हमारे आदर्शके रूपमें उपस्थित करता है और निम्नतर सत्ताको उस वस्तुकी प्रतिच्छविमें परिणत कर देता है जिसपर यह अपनी निर्निमेष दृष्टि लगाये रहती है। वह अपने ही प्रभाव और अपनी ही उपस्थितिको हमारे अंदर उँडेलकर हमारी वैयक्तिक सत्ताको विराट् तथा परात्पर सत्ताके साथ तादात्म्य प्राप्त करनेके योग्य बना देता है।

उसकी पद्धति और उसकी प्रणाली क्या है? उसकी कोई भी पद्धति नहीं है और प्रत्येक पद्धति उसीकी है। जिन ऊँची-से-ऊँची प्रक्रियाओं तथा गतियोंके प्रयोगमें प्रकृति समर्थ है उनका स्वाभाविक संगठन ही उसकी

प्रणाली है। वे गतियाँ तथा प्रक्रियाएँ अपनेको तुच्छ-से-तुच्छ ब्योरेकी बातोंमें तथा अत्यंत नगण्य दीखनेवाले कार्योंमें भी उतनी ही सावधानता तथा पूर्णताके साथ व्यवहृत करती हैं जितनी कि बड़ी-से-बड़ी बातों और कार्योंमें। इस प्रकार वे अंतमें सभी चीजोंको प्रकाशमें उठा ले जाती हैं तथा सभीको रूपांतरित कर देती हैं। कारण, उस जगद्गुरुके योगमें कोई भी चीज इतनी तुच्छ नहीं कि उसका उपयोग ही न हो सके और कोई भी चीज इतनी बड़ी नहीं कि उसके लिये यत्न ही न किया जा सके। जिस प्रकार परम गुरुके सेवक और शिष्यको अहंकार या अभिमानसे कुछ सरोकार नहीं, क्योंकि उसके लिये सब कुछ ऊपरसे ही संपन्न किया जाता है, उसी प्रकार उसे अपनी निजी त्रुटियों या अपनी प्रकृतिके स्खलनोंके कारण निराश होनेका भी कोई अधिकार नहीं। क्योंकि, जो शक्ति उसके अंदर काम करती है वह निर्वैयक्तिक—या अतिवैयक्तिक (superpersonal)—और अनंत है।

इस अंतःस्थित पथ-प्रदर्शक, योगके महेश्वर, समस्त यज्ञ और पुरुषार्थके भर्त्ता, प्रकाशदाता, भोक्ता और लक्ष्यको पूरी तरहसे पहिचानना और अंगीकार करना सर्वांगीण पूर्णताके पथमें अत्यंत महत्त्व रखता है। यह कोई महत्त्वकी बात नहीं कि हम उसे पहले-पहल इस रूपमें देखें कि वह सब चीजोंका उद्गम-भूत निर्वैयक्तिक ज्ञान, प्रेम और बल है, या इस रूपमें कि वह सापेक्ष वस्तुमें प्रकट होनेवाला तथा उसे आकृष्ट करनेवाला निरपेक्ष तत्त्व है, या हमारी सर्वोच्च आत्मा और सबकी सर्वोच्च आत्मा है, या हमारे तथा संसारके भीतर अवस्थित भागवत व्यक्ति है जो अपने स्त्री-पुरुषात्मक अनेक नाम-रूपोंमेंसे किसी एकमें प्रकटीभूत है, या फिर वह एक ऐसा आदर्श है जिसकी मन कल्पना करता है। पर अंतमें हम देखते हैं कि वह सब कुछ है और इन सब चीजोंके योगफलसे भी अधिक है। उसके विषयमें की जानेवाली परिकल्पनाके क्षेत्रमें हमारा मन जिस द्वारसे प्रवेश करता है वह स्वभावतः ही हमारे अतीत विकास और वर्तमान प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

यह अंतःस्थ पथ-प्रदर्शक प्रारंभमें प्रायः हमारे व्यक्तिगत प्रयत्नकी तीव्रताके कारण और अहंभावके अपने-आपमें तथा अपने उद्देश्योंमें ही संलग्न रहनेके कारण छुपा रहता है। ज्योंही हम चेतनामें स्वच्छता प्राप्त करते हैं और अहंमय प्रयत्न अपना स्थान एक अधिक प्रशांत आत्मज्ञानको दे देता है, त्योंही हम अपने भीतर बढ़ते हुए प्रकाशके स्रोतको पहचान लेते हैं। तब हम इस स्रोतके प्रभावको अपने पहलेके जीवनमें भी पहचान

लेते हैं, क्योंकि हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सब अंधकारमय और संघर्षकारी चेष्टाएँ एक ऐसे लक्ष्यकी ओर स्थिर रूपसे ले जायी गयी हैं जिसे हम केवल अब ही देखने लगते हैं, और यह भी कि योगमार्गमें हमारे प्रवेश करनेसे पहले भी हमारे जीवनका विकास अपनी निर्णायक दिशाकी ओर योजनापूर्वक ले जाया गया है। अब हम अपने संघर्षों एवं प्रयत्नों और सफलताओं एवं विफलताओंका अभिप्राय समझने लगते हैं। अंतमें हम अपनी अग्नि-परीक्षाओं और कष्टोंका मर्म भी हृदयंगम करनेमें समर्थ हो जाते हैं तथा उस सहायताका भी मूल्य समझ पाते हैं जो हमें आघात-प्रतिघात पहुँचानेवाली वस्तुओंसे प्राप्त हुई, यहाँतक कि हम अपने पतनों एवं स्खलनोंकी भी उपयोगिता समझनेमें समर्थ हो जाते हैं। आगे चलकर हम इस दिव्य पथ-प्रदर्शकको अपने गत जीवनपर दृष्टि डालकर नहीं, बल्कि तत्क्षण ही अनुभव करने लगते हैं—हम अनुभव करते हैं कि एक परात्पर द्रष्टा हमारे विचारको, एक सर्वव्यापिनी शक्ति हमारे संकल्प एवं कर्मोंको और एक सर्व-आकर्षी एवं सर्व-आत्मसात्कारी आनंद और प्रेम हमारे भावमय जीवनको नये सिरेसे गढ़ रहे हैं। हम प्रकाशके इस स्रोतको उस अधिक वैयक्तिक रूपमें भी अनुभव करने लगते हैं जिसका स्पर्श हमें प्रारंभसे ही प्राप्त हुआ था अथवा जो हमें अंतमें अधिकृत कर लेता है। हम एक परम स्वामी, सखा, प्रेमी एवं गुरुकी शाश्वत उपस्थिति अनुभव करते हैं। जब हमारी सत्ता विकसित होते-होते महत्तर एवं विशालतर सत्ताके साथ सादृश्य एवं एकत्व लाभ कर लेती है तब हम अपनी सत्ताके सारतत्त्वमें भी इसीको अनुभव करते हैं। हम देखते हैं कि यह अद्भुत विकास हमारे अपने प्रयत्नोंका फल नहीं है, बल्कि एक सनातन पूर्णता हमें अपनी प्रतिच्छवि-में परिणत कर रही है। वह एकमेव जो योगदर्शनोंमें वर्णित ईश्वर है, जो सचेतन सत्तामें विराजमान पथ-प्रदर्शक है (चैत्य गुरु या अंतर्यामी है), जो विचारकका निरपेक्ष ब्रह्म है, जो अज्ञेयवादीका अज्ञेय तत्त्व और जड़-वादीकी वैश्व शक्ति है, जो परम आत्मा और परा-शक्ति है,—वह एकमेव जिसे नाना धर्म भिन्न-भिन्न नाम और रूप देते हैं, वही हमारे योगका स्वामी है।

इस एकमेवको अपनी अंतरात्मा और अपनी संपूर्ण बाह्य प्रकृतिमें देखना एवं जानना और यही बन जाना तथा इसीको चरितार्थ करना सदा ही हमारी देहधारी सत्ताका गुप्त लक्ष्य रहा है और यही अब उसका सचेतन उद्देश्य भी बन जाता है। अपनी सत्ताके अंग-प्रत्यंगमें और साथ ही इसके उन भागोंमें भी, जिन्हें विभाजक मन हमारी सत्तासे बाह्य समझता

है, इस एकमेवसे सचेतन होना हमारी वैयक्तिक चेतनाकी पराकाष्ठा है। इससे अधिकृत होना और अपने अंदर तथा सभी चीजोंमें इसे अधिकृत करना संपूर्ण साम्राज्य और प्रभुत्वका लक्षण है। निष्क्रियता एवं सक्रियता, शांति एवं शक्ति और एकता एवं विभिन्नताके समस्त अनुभवोंमें इसका रस लेना ही वह सुख है जिसे जीवात्मा अर्थात् जगत्‌में अभिव्यक्त वैयक्तिक आत्मा अंधकारमें खोज रही है। पूर्णयोगके लक्ष्यकी संपूर्ण परिभाषा यही है। प्रकृतिने जो सत्य अपने भीतर छिपा रखा है और जिसे प्रकाशित करनेके लिये वह प्रसव-वेदना भोग रही है उसे वैयक्तिक अनुभवके रूपमें प्रकट करना इस योगका उद्देश्य है। इसका अभिप्राय है मानव आत्माका दिव्य आत्मामें और प्राकृत जीवनका दिव्य जीवनमें रूपांतर करना।

*

इस पूर्ण कृतार्थताका अत्यंत सुनिश्चित पथ यह है कि हम गुह्य रहस्यके उस स्वामीको ढूंढ़ लें जो हमारे अंतरमें निवास करता है तथा अपने-आपको निरंतर उस दिव्य शक्तिकी ओर उद्‌घाटित करें जो साथ ही दिव्य प्रज्ञा और प्रेम भी है, और फिर रूपांतर करनेका कार्य उसके हाथोंमें सौंप दें। परंतु अहंमय चेतनाके लिये शुरूमें ऐसा करना ही कठिन होता है, और यदि वह ऐसा कर भी सके तो पूर्ण रूपसे तथा प्रकृतिके अंग-अंगमें करना तो और भी कठिन होता है। शुरू-शुरूमें यह इसलिये कठिन होता है कि हमारे विचार, संवेदन एवं भाव-भावनाओंकी अहंमूलक आदतें उन द्वारोंको बंद कर देती हैं जिनसे हमें आवश्यकीय अनुभव प्राप्त हो सकता है। बादमें यह इस कारण कठिन होता है कि इस पथके लिये अपेक्षित श्रद्धा, समर्पण और साहस अहंभावाच्छन्न आत्माके लिये आसान नहीं होते। दिव्य क्रिया कोई वैसी क्रिया नहीं होती जिसे अहंभावमय मन चाहता या मंजूर करता है। वह तो सत्यपर पहुँचनेके लिये भ्रांतिको, आनंदपर पहुँचनेके लिये दुःखको और पूर्णतापर पहुँचनेके लिये अपूर्णताको काममें लाती है। अहंकार यह नहीं देख पाता कि वह किधर ले जाया जा रहा है; वह मार्गदर्शनके विरुद्ध विद्रोह करता है, विश्वास खो देता है, साहस छोड़ बैठता है। यदि केवल यही दुर्बलताएँ होतीं तो कोई बड़ी बात नहीं थी; क्योंकि हमारा अंतःस्थ दिव्य मार्गदर्शक हमारे विद्रोहसे रुष्ट नहीं होता, न तो वह हमारी श्रद्धाकी कमीसे निरुत्साहित होता है और न हमारी दुर्बलताके कारण उदासीन ही हो जाता है। उसमें माताका समस्त वात्सल्य और गुरुका अखंड धैर्य है। परंतु, उसके नेतृत्वसे अपनी अनुमति हटा

लेनेके कारण, हम सचेतन रूपमें उसका लाभ अनुभव नहीं कर पाते, यद्यपि वह लाभ किसी अंशमें फिर भी प्राप्त होता है और उसका अंतिम परिणाम तो किसी भी अवस्थामें नष्ट नहीं होता। और, हम अपनी अनुमति इसलिये हटा लेते हैं कि जिस निम्नतर सत्तामेंसे वह अपनी आत्म-अभिव्यक्ति तैयार कर रहा है उसमें और उच्चतर आत्मामें हम विवेक नहीं कर पाते। जैसे हम संसारमें ईश्वरको नहीं देख पाते वैसे ही हम अपने अंदर भी ईश्वरको देखनेमें असमर्थ होते हैं; कारण, उसकी कार्यशैलियाँ ही ऐसी हैं। हम उसे इसलिये भी नहीं देख पाते कि वह हमारे अंदर हमारी प्रकृतिके द्वारा ही काम करता है न कि एकके बाद एक मनमाने चमत्कारोंसे। मनुष्य चमत्कारोंकी माँग करता है जिससे वह विश्वास कर सके; वह चकाचौंध होना चाहता है, ताकि वह देख सके। परंतु हमारी यह अधीरता और अज्ञान महान् भय और संकटका रूप धारण कर सकते हैं यदि, दिव्य मार्गदर्शनके प्रति विद्रोहके भावमें, हम किसी अन्य विकारजनक शक्तिको, जो हमारे आवेगों और कामनाओंके लिये अधिक संतोषकारक होती है, अपने अंदर बुला लें, उससे अपना पथ-प्रदर्शन करनेको कहें और उसे ही भगवान् मान बैठें।

परंतु जहाँ मनुष्यके लिये यह कठिन है कि वह अपने अंदरकी किसी अगोचर वस्तुमें विश्वास करे, वहाँ उसके लिये यह आसान भी है कि वह किसी ऐसी वस्तुमें विश्वास करे जिसे वह अपनेसे बाहर चित्रित कर सकता है। अनेकों मानव प्राणियोंकी आध्यात्मिक उन्नति बाह्य आश्रयकी, अर्थात् उनसे बाहर विद्यमान किसी श्रद्धास्पद वस्तुकी, अपेक्षा करती है। उन्हें अपनी उन्नतिके लिये ईश्वरकी बाह्य मूर्ति या मानव-रूप प्रतिनिधि—अवतार, पैगंबर या गुरु—की आवश्यकता होती है। अथवा उन्हें इन दोनोंकी ही आवश्यकता होती है और दोनोंको ही वे अंगीकार करते हैं। मानव आत्माकी आवश्यकताके अनुसार भगवान् अपने-आपको देवता, मानव-रूपी भगवान् या सीधी-सादी मानवताके रूपमें अभिव्यक्त करते हैं और अपनी प्रेरणाका संचार करनेके लिये, साधनके तौरपर, उस घने पर्देको प्रयोगमें लाते हैं जो देवाधिदेवको अति सफलतापूर्वक छिपाये रहता है।

आत्माकी इस आवश्यकताकी पूर्त्तिके लिये ही हिन्दू अध्यात्म-साधनाने इष्ट देवता, अवतार और गुरुकी परिकल्पना की है। इष्ट देवतासे हमारा अभिप्राय किसी निम्न कोटिकी शक्तिसे नहीं, वरन् परात्पर तथा विराट् देवाधिदेवके एक विशेष नाम-रूपसे है। प्रायः सभी धर्म या तो भगवान्के किसी ऐसे नाम-रूपपर आधारित होते हैं या वे इसका उपयोग करते हैं।

मानव आत्माके लिये इसकी आवश्यकता स्पष्ट ही है। ईश्वर सर्व है और सर्वसे भी अधिक है। परंतु जो सर्वसे भी अधिक है उसे भला मनुष्य कैसे अपनी कल्पनामें लावे? यहाँतक कि सर्व भी पहले-पहल उसके लिये अति दुर्बोध होता है; क्योंकि वह स्वयं अपनी सक्रिय चेतनामें एक सीमित एवं छँटी-छँटायी रचना है और अपनेको केवल उसी चीजकी ओर खोल सकता है जो उसकी ससीम प्रकृतिके साथ मेल खाती है। सर्वमें ऐसी चीजें भी हैं जिन्हें पूरी तरह हृदयंगम करना उसके लिये अत्यंत कठिन है या जो उसके सूक्ष्मग्राही भावावेगों एवं भयाकुल संवेदनोंको अतीव भीषण प्रतीत होती हैं। अथवा, सीधी-सी बात यह है कि जो कोई भी चीज उसके अज्ञानपूर्ण या आंशिक विचारोंके घेरेसे अत्यधिक बाहर होती है उसे वह भगवान्‌के रूपमें कल्पित नहीं कर सकता, न ही वह उसके पास पहुँच सकता या उसे अंगीकार ही कर सकता है। उसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह ईश्वरको अपनी ही आकृतिके रूपमें या किसी ऐसे रूपमें कल्पित करे जो उससे परे होता हुआ भी उसकी सर्वोच्च प्रवृत्तियोंके साथ समस्वर और उसके भावों या उसकी बुद्धिके लिये गोचर हो। नहीं तो, भगवान्‌से संपर्क और अंतर्मिलन प्राप्त करना उसके लिये कठिन हो जायगा।

इसपर भी, उसकी प्रकृति मानव मध्यस्थकी माँग करती है। वह भगवान्‌को किसी ऐसी चीजमें अनुभव करना चाहती है जो उसकी निजी मानवताके पूर्णतः निकट हो और साथ ही मानवी अनुभव एवं दृष्टांतमें प्रत्यक्षगम्य भी हो। यह माँग मानव आकारमें व्यक्त हुए भगवान् या अवतारसे, अर्थात् कृष्ण, ईसा वा बुद्धसे पूरी होती है। अथवा, यदि इसे कल्पनामें लाना उसके लिये अति कठिन होता है तो भगवान् एक कम अद्भुत मध्यस्थके द्वारा, ईश्वरीय दूत या गुरुके द्वारा भी अपना रूप दिखाते हैं। कारण, बहुतसे लोग भागवत मनुष्यको अपनी कल्पनामें नहीं ला सकते अथवा उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहते; पर वे भी किसी परमोच्च मनुष्यके प्रति अपने-आपको खोलनेको उद्यत होते हैं और उसे वे अवतारके नामसे नहीं, बल्कि जगद्गुरु या भगवत्प्रतिनिधिके नामसे पुकारते हैं।

परंतु यह भी पर्याप्त नहीं है; सजीव प्रभाव, जीवंत दृष्टांत और प्रत्यक्ष उपदेशकी भी आवश्यकता होती है। क्योंकि, ऐसे लोग बहुत ही कम होते हैं जो भूतकालके गुरु और उसकी शिक्षाको, भूतकालके अवतार और उसके दृष्टांत तथा प्रभावको, अपने जीवनमें सजीव शक्ति बना सकते हैं। इस आवश्यकताको भी हिन्दू-मर्यादाने गुरु-शिष्य-संबंधके द्वारा पूरा

किया है। गुरु कभी-कभी अवतार या जगद्‌गुरु भी हो सकता है; किंतु वैसे इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने शिष्यके समक्ष दिव्य प्रज्ञाका प्रतिनिधि हो, उसे दिव्य आदर्शसे यत्किंचित् अवगत कराये अथवा सनातनके साथ मानव आत्माके अनुभूत संबंधका उसे कुछ अनुभव कराये।

पूर्णयोगका साधक इन सब साधनोंका अपनी प्रकृतिके अनुसार उपयोग करेगा। परंतु यह आवश्यक है कि वह इनकी न्यूनताओंका परित्याग कर दे और अपने अंदरसे अहंभावपूर्ण मनकी उस एकांगी प्रवृत्तिको निकाल फेंके जो आग्रहपूर्वक कहती है, "मेरा ईश्वर, मेरा अवतार, मेरा पैगंबर, मेरा गुरु" और इसके बलपर सांप्रदायिक या धर्मांध भावसे अन्य सब अनुभवों (तथा उपलब्धियों)का विरोध करती है। समस्त सांप्रदायिकता एवं समस्त धर्मांधतासे उसे अलग रहना होगा, क्योंकि यह दिव्य उपलब्धिकी अखंडतासे असंगत है।

इसके विपरीत, पूर्णयोगका साधक तबतक संतुष्ट नहीं होगा जबतक वह इष्ट देवताके अन्य सभी नामों और रूपोंको अपनी परिकल्पनामें समाविष्ट नहीं कर लेता, अन्य सभी देवताओंमें अपने इष्ट देवताके दर्शन नहीं कर लेता, सभी अवतारोंको अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान्‌की एकतामें एकीभूत नहीं कर लेता और सभी शिक्षाओंमें निहित सत्यको नित्य ज्ञानकी समस्वरतामें समन्वित नहीं कर देता।

परंतु उसे इन बाह्य साधनोंका उद्देश्य भूल नहीं जाना चाहिये। इनका उद्देश्य है—उसकी आत्माको उसके अंतरस्थ भगवान्‌की ओर उद्‌बुद्ध कर देना। यदि यह कार्य सिद्ध नहीं हुआ है तो समझो कुछ भी अंतिम तौरपर सिद्ध नहीं हुआ है। यदि बुद्ध, ईसा या कृष्ण हमारे अंदर व्यक्त तथा मूर्तिमंत नहीं हुए हैं तो केवल बाहरसे ही कृष्ण, ईसा या बुद्धकी पूजा करना पर्याप्त नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य सब साधनोंका भी इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं है। प्रत्येक साधन मनुष्यकी अपरिवर्तित अवस्था तथा उसके अंदर होनेवाली भगवान्‌की अभिव्यक्तिके बीच सेतुभर होता है।

*

पूर्णयोगका गुरु यथासंभव हमारे अंतःस्थित परम गुरुकी पद्धतिका ही अनुसरण करेगा। वह शिष्यको शिष्यकी प्रकृतिके द्वारा ही ले चलेगा। शिक्षण, दृष्टांत, प्रभाव—ये गुरुके तीन साधन होते हैं। परंतु ज्ञानी गुरु अपने-आपको अथवा अपनी सम्मतियोंको (शिष्यके) ग्रहणशील मनकी निष्प्रतिरोध स्वीकृतिपर लादनेकी कोशिश नहीं करेगा। वह केवल कोई फलजनक संस्कार ही उसके भीतर डाल देगा जो बीजकी तरह, निश्चित-

रूपेण, अंदर-ही-अंदर दिव्य पोषण पाकर उपजेगा और वृद्धिको प्राप्त होगा। वह शिक्षा देनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उद्‌बुद्ध करनेका ही यत्न करेगा। वह नैसर्गिक प्रक्रिया और स्वतंत्र विस्तारके द्वारा शक्तियों और अनुभूतियोंके विकासको ही लक्ष्य वनायेगा। वह किसी विधिको एक सहायक साधन एवं उपयोगी उपायके रूपमें ही वतलायेगा, किसी अनुल्लंघनीय नियम या नियत नित्याभ्यासके रूपमें नहीं। वह इस वातसे सावधान रहेगा कि कहीं वह साधनको किसी प्रकारका वंधन न वना डाले और प्रक्रियाको यांत्रिक रूप न दे दे। उसका संपूर्ण कर्तव्य वस यही है कि वह दिव्य प्रकाशको उद्‌बुद्ध कर दे और उस दिव्य शक्तिकी क्रिया प्रारंभ करा दे जिसका वह स्वयं एक साधन एवं उपकरण और आधार या प्रणालिका-मात्र है।

दृष्टांत शिक्षणकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। परंतु वाह्य कर्मों तथा व्यक्तिगत चरित्रका दृष्टांत सर्वोत्तम दृष्टांत नहीं है। इनका अपना स्थान और अपनी उपयोगिता अवश्य है; किंतु जो चीज दूसरोंमें अभीप्साको अत्यधिक उद्दीप्त करेगी वह गुरुके अंदर विद्यमान दिव्य उपलब्धि-का केंद्रीय तथ्य है जो उसके अपने जीवन तथा उसकी आंतरिक अवस्था और उसके सारे कर्मोंको नियंत्रित करता है। यह उसके अंदर एक सार्वभौम और सारभूत तत्त्व है। शेष सव कुछ व्यक्ति और परिस्थितिसे संवंध रखता है। इस क्रियाशील उपलब्धिको गुरुमें प्रत्यक्ष देखकर साधकको इसे अपने अंदर अपनी निजी प्रकृतिके अनुसार मूर्त्तिमान् करना होगा। उसे वाहरसे अनुकरण करनेका यत्न करनेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि वह अनुकरण यथोचित और स्वाभाविक फल पैदा करनेके स्थानपर सहज ही पंगु वनानेवाला हो सकता है।

प्रभाव दृष्टांतकी अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली होता है। प्रभावका अर्थ गुरुका अपने शिष्यपर वाह्य शासन एवं अधिकार नहीं है, वल्कि उसके संस्पर्श एवं उसकी उपस्थितिकी शक्ति है, उसकी आत्माकी दूसरेकी आत्माके साथ समीपताकी शक्ति है, जो दूसरेकी आत्माके अंदर, चाहे मौन रूपमें ही, गुरुके अस्तित्व और गुरुको अंतःसंचारित कर देती है। यह है गुरुका सर्वोत्कृष्ट लक्षण। वास्तवमें परमोच्च कोटिका गुरु शिक्षक वहुत कम होता है; वह तो एक उपस्थिति होता है जो अपने आसपासके सभी ग्रहणशील लोगोंमें दिव्य चेतना और उसकी सारभूत ज्योति, शक्ति, पवित्रता और आनंद उँडेलता रहता है।

इसके अतिरिक्त, पूर्णयोगके गुरुका यह भी एक चिह्न होगा कि वह मानवीय अहंकारके तरीकेसे तथा अभिमानवश गुरुपनका अनुचित दावा

नहीं करेगा। उसका काम, यदि कोई काम उसके सुपुर्द है तो, ऊपरसे सुपुर्द किया हुआ काम है, वह स्वयं एक प्रणालिका, आधार या प्रतिनिधि है। वह एक मनुष्य है जो अपने मनुष्य-भाइयोंकी सहायता करता है, एक बालक है जो बालकोंका अग्रणी बनता है, एक प्रकाश है जो दूसरे प्रकाशोंको प्रदीप्त करता है, एक प्रबुद्ध आत्मा है जो दूसरी आत्माओंको प्रबुद्ध करती है, अपने सर्वोच्च रूपमें वह भगवान्‌की एक शक्ति या उपस्थिति है जो भगवान्‌की अन्य शक्तियोंको अपनी ओर पुकारती है।

*

जिस साधकको ये सब साधन प्राप्त हैं वह अपने लक्ष्यको अवश्यमेव अधिगत करेगा। यहाँतक कि पतन भी उसके लिये उत्थानका साधन बन जायगा और मृत्यु परिपूर्णताका पथ। क्योंकि, एक बार जब वह अपने मार्गपर चल पड़ता है तो जन्म और मरण उसकी सत्ताके विकासमें आनेवाली प्रक्रियाएँ तथा उसकी यात्राके पड़ावमात्र बन जाते हैं।

काल या समय एक और साधन है जो साधनाकी सफलताके लिये आवश्यक है। काल मानव-प्रयत्नके सम्मुख शत्रु या मित्रके रूपमें, बाधक, माध्यम या साधनके रूपमें उपस्थित होता है। परंतु वास्तवमें यह सदा ही आत्माका एक साधन है।

काल उन परिस्थितियों और शक्तियोंका क्षेत्र है जो एकत्र होकर एक परिणामभूत प्रगतिको साधित करती हैं। इस प्रगतिके पथको नापनेके लिये काल एक साधन है। अहंके लिये यह एक आततायी या प्रतिबंधक है, पर भगवान्‌के लिये एक यंत्र। अतएव, जब हमारा प्रयत्न व्यक्तिगत होता है तब काल हमें प्रतिबंधक प्रतीत होता है, क्योंकि यह हमारे सामने उन सब शक्तियोंकी बाधा उपस्थित करता है जो हमारी शक्तियोंके साथ टक्कर खाती हैं। जब दिव्य क्रिया और व्यक्तिगत क्रिया हमारी चेतनामें संयुक्त हो जाती हैं तब यह एक माध्यम और अनिवार्य शर्तकी तरह प्रतीत होता है। जब ये दोनों क्रियाएँ एक हो जाती हैं तब यह एक सेवक और यंत्र प्रतीत होता है।

कालके संबंधमें साधककी आदर्श मनोवृत्ति यह होनी चाहिये कि वह अनंत धैर्य रखे, यह समझते हुए कि अपनी परिपूर्णताके लिये उसके सामने अनंत काल पड़ा है, किंतु फिर भी वह ऐसी शक्ति विकसित करे जो मानो आत्म-उपलब्धिको अभी साधित कर लेगी। फिर यह शक्ति एक सदा-वृद्धिशील प्रभुत्वके साथ और तीव्र वेगसे तबतक बढ़ती जानी चाहिये जबतक कि परम दिव्य रूपांतरकी चमत्कारक घड़ी उपस्थित नहीं हो जाती।

दूसरा अध्याय

आत्म-निवेदन

योगमात्र स्वरूपत: एक नूतन जन्म है। इसका अर्थ मनुष्यके साधारण मनोमय एवं स्थूल जीवनसे निकलकर एक उच्चतर आध्यामित्क चेतना और महत्तर तथा दिव्यतर सत्तामें जन्म लेना है। जवतक एक विशालतर आध्यात्मिक जीवनकी आवश्यकताके प्रति प्रवल जागृति नहीं हो जाती तवतक किसी भी योगका सफलतापूर्वक प्रारंभ तथा अनुसरण नहीं किया जा सकता। जिस आत्माको इस गंभीर एवं बृहत्तर परिवर्तनके लिये आह्वान प्राप्त हुआ है वह इसके पथपर नाना प्रकारसे पदार्पण कर सकती है। वह इसपर अपने उस प्राकृतिक विकासके द्वारा पहुँच सकती है जो उसे अवतक, उसके अनजाने ही, आध्यात्मिक जागरणकी ओर अग्रसर करता आ रहा है; वह किसी धर्मके प्रभाद अथवा किसी दर्शनशास्त्रके आकर्षणके कारण इस राहपर लग सकती है। एक क्रमश: वढ़ते हुए ज्ञानके प्रकाशके द्वारा भी वह इसमें प्रवेश पा सकती है अथवा सहसा किसी संस्पर्श या आघातकी सहायतासे एक छलांगमें भी इसपर पहुँच सकती है। वह और साधनोंसे भी—वाह्य परिस्थितियोंके दवावसे या आंतरिक आवश्यकताके कारण, मनके आवरणोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले किसी एक ही शव्दसे अथवा सुदीर्घ चिंतनसे, किसी अनुभवीके दूरस्थ दृष्टांतसे अथवा संपर्क या दैनिक प्रभावसे—इस ओर अभिप्रेरित या संचालित हो सकती है। वस्तुत: पुकार सदा साधककी प्रकृति और परिस्थितिके अनुसार आती है।

परंतु यह चाहे जैसे भी आवे, मन और इच्छाशक्तिका निर्णय आवश्यक है और, उसके परिणामस्वरूप, पूर्ण तथा अमोघ आत्म-निवेदन भी। सत्तामें एक नवीन आध्यात्मिक विचारशक्तिका स्वागत और ऊर्ध्वकी ओर अभिमुखता, ज्ञानका प्रकाश, एक ऐसा दिशा-परिवर्तन या रूपांतर जिसे इच्छाशक्ति और हृद्गत अभीप्सा एकदम ग्रहण कर लें—यह सव एक ऐसी वेगयुक्त प्रक्रिया है जिसमें सभी योगजन्य फल वीज-रूपमें विद्यमान हैं। किसी उच्चतर परतत्त्वकी कोरी कल्पना या बौद्धिक जिज्ञासाको हमारा मन चाहे कितनी भी रुचि और दृढ़ताके साथ क्यों न अपना ले, किंतु हमारे जीवनपर इसका तबतक कुछ भी प्रभाव नहीं होगा जबतक हृदय

इसे इस रूपमें अंगीकार न कर ले कि यही एक चाहने योग्य वस्तु है और इच्छाशक्ति इस रूपमें स्वीकार न कर ले कि यही एक करने योग्य कार्य है। कारण, आत्माके सत्यको केवल विचारका विषय ही नहीं बनाना है अपितु, उसे जीवनमें उतारना भी है और उसे जीवनमें लानेके लिये सत्ताकी एक संगठित एकाग्रता अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। जिस अति-महान् परिवर्तनको यह योग साधित करना चाहता है वह विभक्त इच्छा-शक्तिसे, या शक्तिके एक स्वल्प अंशसे, या दोलायमान मनसे संपादित नहीं हो सकता। जो व्यक्ति भगवान्‌को पाना चाहता है उसे भगवान्‌के प्रति और केवल भगवान्‌के ही प्रति अपने-आपको उत्सर्ग करना होगा।

यदि परिवर्तन किसी अदम्य प्रभावके द्वारा एकाएक और सुनिश्चित रूपमें संपन्न हो जाय तो आगे कोई मूलगत या स्थायी कठिनाई रह ही नहीं जाती। विचारके बाद ही या उसके साथ-ही-साथ साधक मार्ग चुन लेता है और चुनावके बाद आत्म-निवेदन भी कर देता है। पैर मार्गपर धरे ही जा चुके हैं, चाहे वे पहले-पहल अनिश्चित दिशामें भटकते ही मालूम दें और चाहे हमें स्वयं मार्ग भी धुँधला-सा दिखायी दे और लक्ष्यका पूरा-पूरा ज्ञान भी न हो। गुप्त एवं अंतःस्थ मार्ग-दर्शककी क्रिया शुरू हो चुकी है, भले ही वह अभी अपनेको प्रकट न करे या अपने मानव-प्रतिनिधिके रूपमें हमें अभी दिखायी न दे। साधकके आगे चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ और दुविधाएँ क्यों न पैदा हों, वे अंततक उस अनुभवकी शक्तिके आगे टिकी नहीं रह सकतीं जिसने उसकी जीवन-धाराको पलट दिया है। जब एक बार निश्चित रूपसे पुकार आ जाती है तो वह स्थायी हो जाती है; जो चीज उत्पन्न हो चुकी है वह अंतिम तौरपर नष्ट नहीं की जा सकती। भले ही परिस्थितिका बल बाधा डाले और हमें प्रारंभसे ही नियमित रूपमें योगाभ्यास तथा पूर्ण एवं क्रियात्मक आत्म-निवेदन न भी करने दे तो भी, क्योंकि मनने अपनी दिशा निश्चित कर ली है, वह डटा रहता है और सदा-वृद्धिशील प्रभावके साथ अपने प्रमुख कार्यकी ओर फिर-फिर लौट आता है। आंतर सत्तामें एक अजेय दृढ़ता होती है, जिसके सामने परिस्थितियोंका अंतमें कुछ बस नहीं चलता और प्रकृतिकी कोई भी दुर्बलता अधिक समयतक बाधा नहीं पहुँचा सकती।

परंतु साधनाका प्रारंभ सदा इसी ढंगसे नहीं होता। साधक प्रायः क्रमशः ही आगे ले जाया जाता है और मन जब पहले-पहल अपने ध्येयकी ओर झुकता है तो उसके बाद भी प्रकृतिद्वारा उस ध्येयकी पूर्ण स्वीकृतिमें बहुत लंबा समय लग जाता है। हो सकता है कि प्रारंभमें साधकको

अपने ध्येयमें केवल एक जीवंत बौद्धिक रुचि तथा उसके प्रति एक प्रबल आकर्षण भर हो और वह किसी प्रकारकी अपूर्ण साधनाका ही अभ्यास करे। अथवा यह भी संभव है कि वह प्रयत्न तो करे, परंतु उसे पूरी प्रकृतिका समर्थन प्राप्त न हो और उसका निर्णय या झुकाव बौद्धिक प्रभाव-द्वारा थोपा हुआ हो या किसी ऐसे व्यक्तिके प्रति वैयक्तिक प्रेम तथा आदर-द्वारा निर्धारित हो जो अपने-आपको परम देवके चरणोंमें निवेदित और समर्पित कर चुका है। ऐसी दशामें, अटल आत्म-निवेदनकी घड़ी आनेसे पूर्व, तैयारीके एक लंबे कालकी आवश्यकता हो सकती है। कुछ व्यक्तियोंमें शायद वह घड़ी आये ही नहीं; संभव है कि कुछ प्रगति हो, प्रबल प्रयत्न हो, यहाँतक कि पर्याप्त शुद्धि भी हो और प्रधान या परमोच्च अनुभवोंसे भिन्न अन्य अनेक अनुभव भी प्राप्त हों; परंतु हो सकता है कि जीवन या तो तैयारीमें ही बीत जाय या शायद, अपने भरसक पुरुषार्थसे एक विशेष अवस्थातक पहुँच चुकनेके बाद, मनका प्रेरक उत्साह और बल-वेग कम पड़ जाय और वह उतनेमें ही संतुष्ट हो रहे, यहाँतक कि शायद पुनः निम्नतर जीवनकी ओर लौट जाय,—जिसे योगकी सामान्य परिभाषामें पथभ्रष्ट होना कहते हैं। ऐसे पतनका कारण यह होता है कि ठीक केंद्रमें ही कोई दोष रह जाता है। बुद्धि उस पुरुषार्थके प्रति अनुरक्त हो गयी है और हृदय आकृष्ट, इच्छाशक्तिने भी उसके साथ गठबंधन कर लिया है, परंतु संपूर्ण प्रकृति भगवान्‌पर मुग्ध नहीं हुई है। उसने केवल उस अनुराग, आकर्षण या पुरुषार्थके प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी है, एक परीक्षण किया है, यहाँतक कि शायद उत्सुकतापूर्वक परीक्षण भी किया है, पर आत्माकी अलंघ्य आवश्यकता या अपरिहार्य आदर्शके प्रति पूर्ण आत्मदान नहीं किया है। परंतु ऐसा अपूर्ण योग भी निष्फल नहीं होता, क्योंकि कोई भी ऊर्ध्वमुख प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। इस समय यह असफल भले ही हो जाय या केवल एक आरंभिक अवस्था या प्राथमिक उपलब्धितक ही पहुँच पाये, पर फिर भी इसने आत्माका भविष्य निश्चित कर दिया है।

परंतु यदि हम उस अवसरका जो हमें इस जीवनने प्रदान किया है अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहते हैं, यदि हम उस आवाहनका जो हमें प्राप्त हुआ है पूरी तरहसे प्रत्युत्तर देना चाहते हैं और यदि हम उस लक्ष्यको जिसकी हमें झलक मिली है अधिगत करना चाहते हैं, न कि केवल उस ओर थोड़ा-सा बढ़ना भर चाहते हैं, तो यह अनिवार्य है कि हमारा आत्मदान पूर्ण हो। योगमें सफलताका रहस्य ही यह है कि इसे जीवनके

अनेक अनुसरणीय लक्ष्योंमेंसे कोई एक नहीं, बल्कि जीवनका एक अनन्य लक्ष्य समझा जाय।

*

अधिकतर मनुष्योंके साधारण, स्थूल एवं पाशविक जीवनसे या कुछ लोगोंकी एक अधिक मानसिक, पर तो भी संकुचित जीवन-शैलीसे मुँह मोड़कर एक अधिक महान् आध्यात्मिक जीवन और दिव्य जीवन-प्रणालीकी ओर उन्मुख होना ही योगका सार है। अतएव, हमारी शक्तियोंका जो भी भाग निम्न सत्ताको उसी सत्ताकी भावनामें सौंपा जाता है वह हमारे लक्ष्य और हमारे आत्म-उत्सर्गका विरोधी होता है। दूसरी ओर, जब हम किसी भी शक्ति या चेष्टाको रूपांतरित करके उसे निम्नतरकी सेवासे हटाकर उच्चतरकी सेवामें लगानेमें सफल हो जाते हैं तब मानों हम इस मार्गमें उतनी कमाई कर लेते हैं और अपनी उन्नतिकी बाधक शक्तियोंके हाथसे उतना वापस छीन लेते हैं। इसी आमूलचूल रूपांतरकी कठिनाई योगमार्गकी समस्त विघ्न-बाधाओंका मूल है। कारण, हमारी सारी प्रकृति तथा इसकी परिस्थिति और हमारी सब व्यक्तिगत एवं विश्वगत सत्ता कुछ ऐसे अभ्यासों और प्रभावोंसे परिपूर्ण है जो हमारे आध्यात्मिक नवजन्मके प्रतिकूल हैं और हमारे पूरे दिलसे किये गये पुरुषार्थका भी विरोध करते हैं। एक विशेष अर्थमें हम उन मानसिक, स्नायविक और शारीरिक अभ्यासोंके जटिल पुंजके सिवा और कुछ नहीं हैं जिन्हें हमारे कुछ प्रधान विचार, कामनाएँ और संस्कार एक-दूसरेके साथ जोड़े रखते हैं। हम उन बहुत-सी छोटी-छोटी पुनरावर्ती शक्तियोंका संघात हैं जिनमें कुछ-एक मुख्य कंपन होते रहते हैं। इस योगमें हमने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है वह इससे लेशभर भी कम नहीं है कि हम अपने भूत और वर्तमानके उस सारे ढाँचेको तोड़ डालें जो साधारण भौतिक तथा मानसिक मनुष्यका निर्माण करता है और उसके स्थानपर अपने अंदर दृष्टिके उस नवीन केंद्र तथा कर्मण्यताओंके उस नये संसारकी रचना करें जो एक दिव्य मानवता या अतिमानव-प्रकृतिका गठन करेंगे।

इसके लिये सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि हम मनकी उस केंद्रीय श्रद्धा और दृष्टिको तिलांजलि दे दें जिनके अनुसार यह एक चिर-अभ्यस्त वहिर्मुखी संसार-व्यवस्था और घटनाक्रममें ही अपना विकास, सुख-संतोष और रस लाभ करनेमें अपनी सारी शक्ति लगाये रखता है। अवश्य ही इस वहिर्मुख झुकावके स्थानपर हमें उस गभीरतर श्रद्धा और

दृष्टिको प्रतिष्ठित करना होगा जो केवल भगवान्‌को देखती और केवल भगवान्‌की ही खोज करती है। दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपनी सारी निम्नतर सत्ताको इस नवीन श्रद्धा और महत्तर दृष्टिके सम्मुख सीस नवानेके लिये बाधित करें। हमारी सारी प्रकृतिको पूर्ण समर्पण करना होगा; उसे अपने-आपको अपने एक-एक अंग और एक-एक चेष्टा समेत, उस वस्तुके प्रति सौंप देना होगा जो असंस्कृत इंद्रिय-मानसको स्थूल संसार और इसके पदार्थोंकी अपेक्षा बहुत ही कम सत्य प्रतीत होती है। हमारी संपूर्ण सत्ताको—अंतरात्मा, मन, इंद्रिय, हृदय, इच्छाशक्ति, प्राण और शरीरको—अपनी सभी शक्तियोंका अर्पण इतनी पूर्णताके साथ तथा ऐसे तरीकेसे करना होगा कि वह भगवान्‌का उपयुक्त वाहन बन जाय। पर यह कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि संसारकी प्रत्येक वस्तु अपने रूढ़ स्वभावका, जो उसके लिये एक नियम होता है, अनुसरण करती है और मौलिक परिवर्तनका प्रतिरोध करती है। इसके विपरीत, *पूर्णयोग एक ऐसी क्रांतिके लिये प्रयास करता है जिससे बढ़कर* मौलिक रूपांतर कोई हो ही नहीं सकता। इस योगमें हमें अपने अंदरकी प्रत्येक चीजको बारंबार केंद्रगत श्रद्धा, संकल्प और दृष्टिकी ओर फेरना होगा। प्रत्येक विचार और आवेगको उपनिषद्‌की भाषामें यह स्मरण कराना होगा कि दिव्य ब्रह्म वह है, न कि यह जिसकी लोग यहाँ उपासना करते हैं।[1] अपने प्राणके तंतु-तंतुको इस बातके लिये प्रेरित करना होगा कि आजतक जो चीजें उसकी सत्ताकी प्रतिनिधि थीं उन सबको वह पूरी तरहसे त्यागना स्वीकार कर ले। मनको मन ही बने रहना छोड़कर अपनेसे परेकी किसी वस्तुसे प्रकाशमान बनना होगा। प्राणको एक ऐसी विशाल, शांत, तीव्र और शक्तिशाली वस्तुमें बदल जाना होगा जो अपनी पुरानी अंध, आतुर एवं संकीर्ण सत्ताको या क्षुद्र आवेग एवं कामनाको पहचानतक न सके। यहाँतक कि शरीरको भी परिवर्तनमेंसे गुजरना होगा और आजकी तरह एक तृष्णामय पशु या बाधक रोड़ा न रहकर आत्माका सजग सेवक और तेजस्वी यंत्र तथा जीवंत विग्रह बनना होगा।

इस कार्यकी कठिनाईके कारण स्वभावतः ही सरल और मर्मस्पर्शी उपायोंका अनुसरण किया गया है। इस कठिनाईके कारण ही धर्मों और योग-संप्रदायोंमें जगत्‌के जीवनको आंतरिक जीवनसे पृथक् कर देनेकी प्रवृत्ति पैदा हुई है जो फिर गहराईसे जमकर बैठ गयी है। ऐसा अनुभव किया

[1] तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। —केनोपनिषद्, १-४

जाता है कि इस जगत्‌की शक्तियाँ और उनके वास्तविक कार्य या तो ईश्वरसे बिलकुल संबंध नहीं रखते अथवा वे माया या और किसी अबोध्य एवं विषम कारणके वश दिव्य सत्यके अंधकारमय विरोधी हैं। इनसे विपरीत दिशामें 'सत्य'की शक्तियाँ और उनके आदर्श कार्य हैं। वे चेतनाके उस स्तरसे, जो अपने आवेगों एवं बलोंमें अंध, अज्ञ तथा विकृत हैं और जो हमारे पार्थिव जीवनका आधार हैं, एक सर्वथा भिन्न स्तरके साथ संबंध रखते दिखायी देते हैं। इस प्रकार, ईश्वरका शुभ्र और पवित्र राज्य तथा दानवका अँधेरा और मलिन राज्य—इन दोनोंमें विरोध तुरंत दीख पड़ता है। हम अपने रेंगनेवाले पार्थिव जन्म एवं जीवनका उदात्त आध्यात्मिक ईश्वर-चेतनासे विरोध अनुभव करते हैं। हमें सहज ही निश्चय हो जाता है कि जीवनका मायाके वशमें होना और आत्माका शुद्ध ब्रह्म-सत्तामें एकाग्र होना—दोनोंमें किसी प्रकारका भी मेल नहीं साधा जा सकता। इसलिये सबसे सुगम उपाय यह है कि जो चीजें पार्थिव जीवनसे संबंध रखती हैं उन सबसे हम मुँह मोड़ लें और केवल नग्न आत्माके साथ सीधे ऊपर चढ़कर ऊर्ध्वस्थित आध्यात्मिक लोकमें वापिस लौट जायें। इस प्रकार एक अनन्य एकाग्रताका सिद्धांत हमें अपनी ओर आकृष्ट करता है और साथ ही आवश्यक भी जान पड़ता है। योगके कुछ विशिष्ट संप्रदायोंमें इसे अत्यंत प्रमुख स्थान प्राप्त है, क्योंकि इस एकाग्रताके द्वारा हम संसारका आग्रहपूर्वक त्याग करते हुए उस एक परम देवके प्रति पूर्ण आत्म-निवेदनके लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं जिसपर हम अपने-आपको एकाग्र करते हैं। उस समय हमारे लिये यह आवश्यक नहीं रहता कि हम सभी निम्न चेष्टाओंको नये एवं उच्चतर आध्यात्मीकृत जीवनकी कठिन दीक्षाके लिये बाध्य करें और उन्हें इसके प्रतिनिधि या कार्यवाहक शक्तियाँ बननेके लिये शिक्षित करें। तब इतना ही काफी होता है कि हम उन्हें समाप्त या शांत कर दें, और, अधिक-से-अधिक, कुछ-एक ऐसी शक्तियाँ सुरक्षित रखें जो एक ओर शरीरके भरण-पोषणके लिये तथा दूसरी ओर भगवन्मिलनके लिये आवश्यक हों।

पूर्णयोगका असली उद्देश्य और विचार ही हमें इस सीधी, किंतु कष्ट-साध्य तथा उत्तुंग विधिको अपनानेसे रोकता है। सर्वांगीण रूपांतरकी आशा हमें इस बातसे रोकती है कि हम किसी छोटी पगडंडीका अवलंबन करें अथवा लक्ष्यकी ओर वेगपूर्वक अग्रसर होनेके लिये अपनी सब विघ्न-बाधाओंको परे फेंककर अपनेको हल्का बना लें। कारण, हम तो अपनी संपूर्ण सत्ताको और संसारको ईश्वरके लिये जीतने चले हैं। हमने अपनी

संभूति और सत्ता दोनोंको उसे दे देनेका निश्चय किया है न कि केवल किसी दूरस्थ लोकमें सुदूर और निगूढ़ देवताके प्रति अमूर्त्त-सी भेंटके रूपमें केवल विशुद्ध और नग्न आत्माको प्रस्तुत करनेका अथवा जो कुछ भी हम हैं उस सबको अचल कूटस्थ ब्रह्मके प्रति सर्वमेधमें स्वाहा करके मिटा देनेका ही निश्चय किया है। जिस भगवान्‌की हम उपासना करते हैं वह केवल दूरस्थ विश्वातिरिक्त सद्वस्तु नहीं, बल्कि एक अर्द्ध-आवृत अभिव्यक्ति है जो यहीं विश्वमें हमारे पास और सामने विद्यमान है। जीवन भगवान्‌की एक ऐसी अभिव्यक्तिका क्षेत्र है जो अभी पूर्ण नहीं हुई है। यहीं, इसी जीवनमें, इसी भूतलपर, इसी शरीरमें,—इहैव, जैसा कि उपनिषदें बार-बार कहती हैं,—हमें देवाधिदेवको प्रकट करना है। उसकी परात्पर महिमा, ज्योति और मधुरिमाको हमें यहीं अपनी चेतनाके लिये जीवित-जागृत बनाना है, यहीं उसे अधिगत और यथासंभव व्यक्त करना है। अतः अपने योगमें हमें जीवनको, उसका पूर्ण रूपांतर करनेके लिये, अवश्य स्वीकार करना होगा। यह स्वीकृति हमारे संघर्षमें चाहे जो भी कठिनाइयाँ बढ़ा दे, उनसे हमें घबराना नहीं होगा। यद्यपि हमारा रास्ता अधिक ऊबड़-खाबड़ है, प्रयत्न अधिक जटिल, विकट, और चकरा देने यहाँतक कि हताश कर देनेवाला है तथापि इसके पुरस्कार-स्वरूप एक विशेष अवस्थाके बाद हमें एक महान् लाभ प्राप्त हो जाता है। जब एक बार हमारा मन केंद्रीय दृष्टिमें काफी हदतक स्थिर होता है और हमारी इच्छाशक्ति समूचे रूपमें उस एक ही उद्देश्यकी ओर अभिमुख हो जाती है, तब जीवन स्वयं हमारा सहायक बन जाता है। एकनिष्ठ, जागरूक एवं पूर्णतः सचेतन रहकर हम जीवनके रूपोंकी हरएक छोटी-मोटी बारीकीको और उसकी चेष्टाओंके सभी प्रसंगोंको अपने अंदरकी यज्ञीय अग्निके लिये हविके रूपमें ग्रहण कर सकते हैं। संघर्षमें विजयी होकर, हम इस जड़ सत्तातकको विवश कर सकते हैं कि यह पूर्णताकी प्राप्तिमें हमारी सहायक हो। जो शक्तियाँ हमारा विरोध करती हैं उन्हींका राज्य छीनकर हम अपनी उपलब्धिको समृद्ध कर सकते हैं।

*

एक और दिशा भी है जिसमें किसी साधारण योगका साधक सरलताकी शरण लेता है। वह सरलता सहायक होनेपर भी संकीर्णता पैदा करने-वाली है और सर्वांगीण लक्ष्यके साधकके लिये निषिद्ध है। योगसाधना करनेसे हमारी सत्ताकी असाधारण जटिलता, हमारे व्यक्तित्वकी उद्दीपक

पर साथ ही व्याकुलकारी बहुविधता और विश्वप्रकृतिकी विपुल असीम अस्तव्यस्तता हमारे सामने उपस्थित होती है। जो मनुष्य आत्माकी प्रच्छन्न गहराइयाँ और विशालताएँ न जानता हुआ अपने साधारण जागरित अवस्थाके स्तरपर रहता है उस साधारण मनुष्यके लिये उसकी मनोवैज्ञानिक सत्ता काफी सरल होती है। इच्छाओंका एक छोटा-सा, पर कोलाहलकारी दल, कुछ एक अनुपेक्षणीय बौद्धिक एवं सौंदर्यमूलक तृष्णाएँ, कुछ रुचियाँ, और असंगत या विसंगत एवं अधिकतर क्षुद्र विचारोंकी एक प्रबल धाराके बीच कतिपय प्रभुत्वपूर्ण और प्रधान विचार, न्यूनाधिक-अनिवार्य प्राणिक आवश्यकताओंका एक समुदाय, शारीरिक स्वास्थ्य और रोगकी हेरा-फेरी, एक-के-बाद एक करके आनेवाले विकीर्ण एवं असंगत हर्ष और शोक, बार-बार होनेवाली मामूली हलचलें और परिवर्तन, मन या शरीरकी बहुत विरली प्रबल गवेषणाएँ और उतार-चढ़ाव और प्रकृतिका, कुछ तो उसके विचार एवं संकल्पकी सहायता लेकर और कुछ इसके बिना या इसके रहते भी, इन सब चीजोंको एक स्थूल व्यावहारिक ढंगसे, एक कामचलाऊ अव्यवस्थित क्रमके साथ व्यवस्थित करना यही उसकी सत्ताका उपादान होता है। औसत मानव प्राणी आज भी अपनी आंतरिक सत्तामें उतना ही असंस्कृत और अविकसित है जितना कि पुरातन और आदिम मनुष्य अपने बाह्य जीवनमें था। परंतु ज्योंही हम अपने भीतर गहरे उतरते हैं,—और योगका अर्थ ही आत्माकी समस्त बहुविध गहराइयोंमें डुबकी लगाना है,—त्योंही हमें पता चलता है कि जैसे मनुष्यने अपने विकासमें अपने-आपको बाहरी तौरपर एक समूचे जटिल जगत्से घिरा पाया है वैसे ही हम आंतरिक तौरपर भी एक जटिल जगत्से घिरे हुए हैं, जिसे जानने तथा जीतनेकी जरूरत है।

यह एक अत्यंत क्षोभजनक उपलब्धि होती है जब हमें पता चलता है कि हमारे प्रत्येक अंगका, अर्थात् बुद्धि, इच्छा-शक्ति, इंद्रिय-मानस, प्राणिक या कामनामय आत्मा, हृदय और शरीरका मानो सचमुच ही, अपना-अपना जटिल व्यक्तित्व है और शेष अंगोंसे स्वतंत्र प्राकृतिक गठन है। प्रत्येक अंग न तो अपने-आपसे मेल खाता है, न दूसरोंसे और न ही उस प्रति-निधिरूप अहंसे मेल खाता है जो हमारे उथले अज्ञानपर किसी केंद्रस्थ और केंद्रस्थकारक आत्माद्वारा डाला गया प्रतिबिम्ब है। इस उपलब्धिसे हमें ज्ञात होता है कि हम एक ही नहीं, अपितु अनेक व्यक्तित्वोंसे गठित हैं और उनमेंसे प्रत्येककी अपनी-अपनी माँगें और पृथक्-पृथक् प्रकृति है। हमारा अस्तित्व भद्दे रूपसे गढ़ा हुआ एक गड़बड़झाला है जिसमें हमें दिव्य

व्यवस्थाके नियमका सूत्रपात करना है। और, साथ ही हमें यह भी पता लगता है कि जैसे वाहरसे वैसे ही अंदरसे भी हम संसारमें अकेले नहीं हैं और हमारे अहंका तीव्र भेद एक प्रवल अध्यारोप एवं भ्रमके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; हमारा कोई अपना पृथक् अस्तित्व नहीं है, और वास्तवमें हम भीतरी निर्जनता या एकांतमें अलग-अलग भी नहीं रहते। हमारा मन एक ऐसी मशीन है जो ग्रहण, संवर्धन एवं परिवर्तन करती है और जिसमें ऊपरसे, नीचेसे और वाहरसे प्रतिक्षण अविरत विजातीय द्रव्य,—विषम पदार्थोंका एक प्रवहमान पुंज,—लगातार प्रविष्ट होता रहता है। हमारे आधेसे अधिक विचार और भाव हमारे निजी नहीं होते अर्थात् उनका रूप हमसे वाहर ही तैयार होता है। कदाचित् ही किसी विचार वा भावके विषयमें ऐसा कहा जा सकता हो कि वह हमारी प्रकृतिका सचमुच मौलिक अंग है। अधिकांशमें वे दूसरोंसे या परिपार्श्वसे हमारे अंदर आते हैं, चाहे कच्चे मालके रूपमें आवें या तैयार सामानके रूपमें। परंतु इससे भी वड़े परिमाणमें वे यहाँकी विश्व-प्रकृतिसे या अन्य लोकों तथा स्तरों और उनके जीवों, शक्तियों एवं प्रभावोंसे आते हैं। हमारे ऊपर और चारों ओर चेतनाके अन्य स्तर भी हैं,—मनके स्तर, प्राणके स्तर और सूक्ष्म अन्नमय स्तर जो हमारे ऐहिक जीवन और कर्मको पोषण प्रदान करते हैं, अथवा जो अपने पदार्थों और शक्तियोंकी अभिव्यक्तिके लिये हमारे जीवन और कर्मको अपना साधन वनाते हैं, इनपर दवाव डालते तथा इन्हें वशमें करके अपने काममें लाते हैं। क्योंकि हमारी सत्ता जटिल है और हम विश्वकी अंतःप्रवाही शक्तियोंके प्रति वहुत तरफसे खुले हुए हैं और उनके दास हैं, हमारे पृथक् मोक्षकी कठिनाई अत्यधिक वढ़ जाती है। इस सवका हमें विचार करना है, इससे निवटना है, अपनी प्रकृतिके गुप्त उपादानको तथा इसकी घटक और परिणामभूत चेष्टाओंको जानना है और इस सवमें एक दिव्य केंद्र, एक सच्चा सामंजस्य और ज्योतिर्मय व्यवस्था स्थापित करना है।

योगके प्रचलित मार्गोंमें इन संघर्षकारी उपादानोंका समाधान करनेके लिये जो विधि प्रयोगमें लायी जाती है वह सीधी और सरल है। हमारे अंदरकी प्रधान मानसिक शक्तियोंमेंसे कोई एक भगवत्प्राप्तिके एकमात्र साधनके तौरपर चुन ली जाती है और शेष सभीको जड़वत् स्तब्ध कर दिया जाता है अथवा अपनी क्षुद्रतामें घुल-घुलकर मरने दिया जाता है। भक्त सत्ताकी भावमय शक्तियोंको और हृदयकी तीव्र उमंगोंको अधिकारमें लाकर ईश्वर-प्रेममें निमग्न रहता है, मानों वह एक अनन्य एकतान अग्नि-

शिखाके रूपमें समाहित हो। वह विचारकी हलचलके प्रति उदासीन होता है, बुद्धिके आग्रहोंको पीछे छोड़ देता है और मनकी ज्ञान-पिपासाकी कुछ पर्वाह नहीं करता। उसे जिस ज्ञानकी आवश्यकता है वह केवल उसकी श्रद्धा और उसकी वे अनुप्रेरणाएँ हैं जो भगवान्‌के साथ युक्त हृदयसे फूट निकलती हैं। कर्म करनेके ऐसे किसी भी संकल्पसे उसे कुछ मतलब नहीं जो प्रियतमकी प्रत्यक्ष पूजामें या उसके मंदिरकी सेवामें तत्पर न हो। उधर, ज्ञानवान् मनुष्य स्वेच्छापूर्वक विवेकशक्ति तथा मनन-चिंतनमें लीन रहकर मनके अंतर्मुख प्रयत्नमें स्वातंत्र्य लाभ करता है। वह आत्माका एकाग्र चिंतन करता है, सूक्ष्म अंतर्विवेकसे वह प्रकृतिके माया-प्रपंचमें आत्माकी शांत उपस्थितिको पहचान सकनेमें समर्थ होता है और बोधात्मक विचारके द्वारा प्रत्यक्ष अध्यात्म-अनुभव प्राप्त करता है। वह भावावेशोंकी क्रीड़ाके प्रति तटस्थ, वासनाकी आतुर पुकारके प्रति बधिर और प्राणकी हलचलोंसे विरत रहता है। जितनी भी जल्दी ये उससे झड़ जायँ और उसे स्वतंत्र, स्थिर और शांत—नित्य अकर्ता—बने रहने दें उतना ही अधिक वह भाग्यशाली होता है। शरीर उसके मार्गका रोड़ा है, प्राणके व्यापार उसके शत्रु हैं; यदि उनकी माँगें कम-से-कम की जा सकें तो वह उसका महान् सौभाग्य होता है। चारों ओरके संसारसे जो अनगिनत कठिनाइयाँ पैदा होती हैं उनके विरुद्ध बाह्य भौतिक और आंतर आध्यात्मिक एकांतकी मजबूत बाड़ खड़ी करके वह उनका निवारण करता है। आभ्यंतर शांतिकी दीवारकी ओटमें सुरक्षित रहकर वह निर्विकार रहता है और साथ ही संसारसे तथा दूसरोंसे निर्लिप्त भी। अपने संग या भगवान्‌के संग एकाकी रहना, ईश्वर और उसके भक्तोंके संग एकांतवास करना, मनके एकमात्र आत्मोन्मुख प्रयत्नके घेरेमें या हृदयकी ईश्वरमुखी उमंगके घेरेमें अपने-आपको बंद कर लेना—यही इन योगोंकी प्रवृत्तिकी दिशा है। इनमें सभी ग्रंथियोंको काटकर समस्या हल कर ली जाती है, केवल एक केंद्रीय कठिनाई रह जाती है जो हमारी एकमात्र मनोतीत प्रेरक-शक्तिका पीछा करती है। अपनी प्रकृतिकी विक्षिप्त करनेवाली पुकारोंके बीच हम विशेष रूपसे एकांगी एकाग्रताके सिद्धांतकी शरण लेते हैं।

परंतु पूर्णयोगके साधकके लिये यह आंतरिक या बाह्य एकांतवास उसकी आध्यात्मिक उन्नतिमें एक प्रसंग या अवसरमात्र हो सकता है। जीवनको स्वीकार करते हुए उसे केवल अपना भार ही नहीं, बल्कि अपने काफी भारी बोझके साथ-साथ जगत्‌का बहुत-सा भार भी वहन करना होता है। अतएव, उसका योग दूसरोंके योगकी अपेक्षा बहुत अधिक

संग्राममय है, किंतु वह केवल व्यष्टिगत संग्राम ही नहीं, बल्कि एक विस्तृत प्रदेशपर छेड़ा गया समष्टिगत युद्ध है। साधकको केवल अपने अंदर ही अहंकारमूलक असत्य और अव्यवस्थाकी शक्तियोंपर विजय प्राप्त नहीं करनी है, बल्कि संसारमें भी इनपर विजय प्राप्त करनी है जहाँ कि ये इन्हीं विरोधी और अक्षय शक्तियोंका प्रतिनिधित्व कर रही होती हैं। इनका यह प्रतिनिधिक स्वरूप इन्हें एक बहुत अधिक दुर्दम प्रतिरोध-शक्ति ही नहीं, बल्कि पुनरावर्तनका लगभग अनंत अधिकार भी प्रदान करता है। प्रायः ही उसे यह अनुभव होता है कि अपना व्यक्तिगत युद्ध अविचल तौरपर जीत चुकनेके बाद भी उसे, एक प्रत्यक्षतः अनंत युद्धके रूपमें, वह युद्ध बार-बार जीतना है, क्योंकि उसकी आंतरिक सत्ता अब इतनी अधिक विस्तृत हो चुकी है कि वह न केवल साधककी अपनी सुनिश्चित आवश्य-कताओं और अनुभवोंसे युक्त उसकी अपनी सत्ताको समाविष्ट किये हुए है, अपितु वह दूसरोंकी सत्ताके साथ भी एकाकार है। कारण, अब साधक अपने अंदर ब्रह्मांडको धारण किये होता है।

सर्वांगीण पूर्णताके अन्वेषकको ऐसी छूट भी प्राप्त नहीं है कि वह अपने आंतरिक अंगोंके संघर्षको मनमाने ढंगसे हल कर ले। उसे विचार-लब्ध ज्ञानको संशयरहित श्रद्धाके साथ समन्वित करना होगा; प्रेमकी सौम्य आत्माको शक्तिकी अदम्य माँगके साथ सुसंगत करना होगा तथा परात्पर शांतिमें संतुष्ट रहनेवाली आत्माकी निष्क्रियताको दिव्य सहायक और दिव्य योद्धाकी क्रियाशीलताके साथ घुला-मिला देना होगा। अन्य आत्म-जिज्ञासुओंकी भाँति उसके सामने भी बुद्धिके प्रतिकूल तर्क-वितर्क, इंद्रियोंका दुर्जय वेग, हृदयके विक्षोभ, कामनाओंके दाँव-घात और स्थूल शरीरका बंधन—ये सब अपने समाधानके लिये उपस्थित होते हैं। परंतु इनके पारस्परिक तथा आंतरिक संघर्षोंके साथ और उसके लक्ष्यमें ये संघर्ष जो बाधाएँ पहुँचाते हैं उनके साथ उसे और ही ढंगसे निबटना होता है। इन सब विद्रोही तत्त्वोंके साथ बरतते हुए उसे एक असंख्यगुना अधिक दुःसाध्य पूर्णता प्राप्त करनी है। इन्हें दिव्य उपलब्धि और अभिव्यक्तिके यंत्र मानकर उसे इनके बेसुरे स्वरोंको बदलना होगा, इनकी घनी अँधेरी गुहाओंमें आलोक पहुँचाकर इन्हें अलग-अलग तथा सम्मिलित तौरपर रूपांतरित करना होगा, इन्हें अपने-आपमें तथा एक-दूसरेके साथ पूर्णतया सुसंगत करना होगा। किसी एक भी कण या तंतु या कंपनकी उपेक्षा नहीं करनी होगी, कहीं लेशमात्र भी अपूर्णता नहीं रहने देनी होगी। एकांगी एकाग्रता, यहाँतक कि इस प्रकारकी अनेक क्रमागत एकाग्रताएँ भी उसके

जटिल कार्यकी सिद्धिके लिये केवल अस्थायी साधन ही हो सकती हैं; इनकी उपयोगिता समाप्त होते ही इन्हें त्याग देना होगा। जिस कठिन सिद्धिके लिये उसे श्रम करना है वह एक सर्वांगीण एकाग्रता है।

*

निःसंदेह, किसी भी योगकी पहली शर्त होती है एकाग्रता, परंतु पूर्ण-योगके असली स्वरूपके अनुसार वह एकाग्रता सर्वग्राही होनी चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि यहाँ भी विचारों, भावों या इच्छा-शक्तिको अलग-अलग एक ही धारणा, विषय, अवस्था, आंतरिक गति या तत्त्वपर दृढ़तासे टिकानेकी आवश्यकता वारंवार पड़ती है, परंतु यह केवल एक गौण एवं सहायक प्रक्रिया है। इस योगकी अधिक विशाल क्रिया है—संपूर्ण सत्ताको एक विशाल और वृहत् रूपमें परम देवकी ओर उद्घाटित करना और समग्र सत्ताको अपने सब अंगोंमें तथा अपनी सभी शक्तियोंके द्वारा उस एक विश्वात्मामें एक स्वरसे तन्मय करना। इसके विना यह योग अपने लक्ष्यको सिद्ध नहीं कर सकता। कारण, हम उस चेतनाको पानेके अभिलाषी हैं जो परम देवमें निहित है और विश्वमें कार्य करती है; उसीको हम अपनी सत्ताके एक-एक अंगकी और अपनी प्रकृतिकी एक-एक चेष्टाकी अधिष्ठात्री बनाना चाहते हैं। विशालता और एकाग्रतासे युक्त संपूर्ण सत्ता और प्रकृति ही इस साधनाका सारभूत स्वरूप है और यह स्वरूप ही इसकी क्रिया-प्रणालीको निश्चित करेगा।

यद्यपि समस्त सत्ताको भगवान्‌पर एकाग्र करना योगका स्वरूप है तथापि हमारी सत्ता इतनी जटिल वस्तु है कि हम इसे आसानीसे और एकदम ऊपर नहीं उठा सकते—यह तो ऐसा होगा मानों हम सारे संसारको दो हाथोंमें भर लेना चाहते हों। न हम सारी सत्ताको एक ही साथ किसी काममें लगा सकते हैं। मनुष्यको अपने स्व-अतिक्रमणके प्रयत्नमें साधारणतया अपनी प्रकृतिरूपी जटिल मशीनके किसी एक करण या शक्तिशाली उपकरणको ही अपने वशमें करना होता है। इस करण या उपकरणको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक अच्छा समझकर ही वह उसको चुनता है और उसके सामने जो लक्ष्य है उसकी ओर मशीनको चलानेके लिये इसका उपयोग करता है। इस चुनावमें विश्व-प्रकृति ही सदा उसकी मार्गदर्शिका होनी चाहिये। परंतु यहाँ उसके अंदर प्रकृति अपनी उच्चतम और विशालतम अवस्थामें होनी चाहिये, न कि अपनी निम्नतम अवस्थामें या किसी संकीर्ण गतिके रूपमें। निम्नतर प्राणिक क्रियाओंमेंसे एक

कामना ही ऐसी है जिसे प्रकृति अपने अत्यंत शक्तिशाली उपकरणके तौरपर अपनाती है। परंतु मनुष्यका विशेष लक्षण यह है कि वह एक मानसिक प्राणी है, केवल प्राणमय जीव नहीं। जैसे वह अपने प्राणिक आवेगोंको संयत और मर्यादित करनेके लिये अपने चिंतनशील मन और इच्छा-शक्तिका प्रयोग कर सकता है, वैसे ही वह उस उच्चतर प्रकाशमान मनकी क्रियाको भी अवतरित कर सकता है जिसे उसके अंदरकी गभीरतर आत्मा या हृत्पुरुषकी सहायता प्राप्त होती रहती है, और इस प्रकार इन महत्तर तथा विशुद्धतर प्रेरक शक्तियोंके द्वारा वह इस कामनारूपी प्राणिक और सांवेदनिक आवेगका प्रभुत्व दूर कर सकता है। वह इसे पूरी तरहसे वशीभूत या परिचालित कर सकता है और रूपांतरके लिये इसे इसके दिव्य स्वामीको सौंप भी सकता है। यह उच्चतर मन और यह गभीरतर आत्मा अर्थात् मनुष्यके अंदर स्थित चैत्य तत्त्व, दो अंकुश हैं जिनके द्वारा भगवान् उसकी प्रकृतिको अपने अधिकारमें ला सकते हैं।

मनुष्यमें जो उच्चतर मन है वह तार्किक मन या तर्क-बुद्धिसे भिन्न है, वह एक अधिक उच्च, पवित्र, विशाल और शक्तिशाली वस्तु है। पशु प्राणमय और इंद्रिय-प्रधान जीव है; यह कहा जाता है कि मनुष्य पशुसे इस बातमें भिन्न है कि उसमें बुद्धिकी शक्ति है। परंतु यह इस विषयका एक अत्यंत संक्षिप्त, अत्यंत अपूर्ण और भ्रामक वर्णन है। बुद्धि तो एक विशिष्ट और सीमित, प्रयोजनीय और साधनभूत क्रियामात्र है। इस क्रियाका मूल इससे एक बहुत बड़ी वस्तुमें है, एक ऐसी शक्तिमें है जो एक उज्ज्वलतर, वृहत्तर एवं असीम आकाशमें रहती है। निरीक्षण, तर्क-वितर्क, विचार-विमर्ष तथा निर्णय करनेवाली हमारी बुद्धिके तात्कालिक या मध्यवर्ती महत्त्वसे भिन्न इसका सच्चा और अंतिम महत्त्व यह है कि यह मनुष्यको एक ऊर्ध्व ज्योतिको ठीक प्रकारसे ग्रहण करनेके लिये तथा उसकी सम्यक् क्रियाके लिये तैयार करती है। यह ज्योति उत्तरोत्तर मनुष्यके उस निम्न तमसाच्छन्न प्रकाशका, जो पशुका परिचालन करता है, स्थान ग्रहण करती जाती है। पशुमें भी प्राथमिक बुद्धि, एक प्रकारका मन, आत्मा, इच्छा-शक्ति और तीव्र भावावेश विद्यमान है; इसकी मानसिक रचना, कम विकसित होते हुए भी, मनुष्यके समान ही है। परंतु पशुकी ये सब शक्तियाँ स्वयंचल और सर्वथा सीमित, यहाँतक कि प्रायः निम्नतर स्नायविक सत्तासे निर्मित होती हैं। उसके सभी बोधों, संवेदनों और क्रियाओंपर वे स्नायविक और प्राणिक सहज-प्रेरणाएँ, क्षुधाएँ, कामनाएँ एवं भोग्य वस्तुएँ शासन करती हैं जो जीवन-आवेग और प्राणिक कामनासे बँधी हुई

हैं। मनुष्य भी प्राणिक प्रकृतिकी इस यांत्रिक क्रियासे बँधा हुआ है, पर अपेक्षाकृत कम। वह अपने आत्म-विकासके कठिन कार्यमें एक प्रबुद्ध संकल्प, प्रबुद्ध विचार और प्रबुद्ध भावोंका प्रयोग कर सकता है। वह कामनाके निम्न व्यापारको उत्तरोत्तर इन अधिक सचेतन और विचारवान् मार्गदर्शकोंके वशमें ला सकता है। जितना ही वह अपने निम्न स्वको इस प्रकार नियंत्रित और प्रबुद्ध कर सकता है उतना ही वह मनुष्य है, पशु नहीं। परंतु एक इससे भी महत्तर प्रबुद्ध विचार, दृष्टि और संकल्प है जो अनंतके साथ संबद्ध है और जो मनुष्यके अपने संकल्पसे अधिक दिव्य संकल्पका सचेतन रूपसे अनुसरण करता है तथा अधिक विराट् एवं परात्पर ज्ञानके साथ गुँथा हुआ है। इस विचार, दृष्टि एवं संकल्पको जब मनुष्य अपनी कामनाके स्थानपर पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित करना शुरू कर पाता है तब समझो कि उसने अतिमानवकी ओर आरोहण आरंभ कर दिया है, वह भगवान्की ओर अपनी ऊर्ध्वमुखी यात्रामें अग्रसर होने लगा है।

इसलिये हमें सबसे पहले विचार, प्रकाश और संकल्पके उच्चतम मनको या गभीरतम वेदन और भावके अंतरीय हृदयको,—दोनोंमेंसे किसी एकको या, यदि हम समर्थ हों तो, एक साथ दोनोंको—अपनी चेतनाका केंद्र बनाना होगा और फिर उसे प्रकृतिको पूरी तरहसे भगवान्की ओर ले जानेके लिये एक साधनके रूपमें प्रयुक्त करना होगा। योगका श्रीगणेश तब होता है जब हमारा प्रबुद्ध विचार, संकल्प और हृदय सब एक स्वरसे हमारे ज्ञानके एकमात्र वृहत् ध्येयकी ओर, हमारे कर्मके एकमात्र प्रकाशमय तथा अनंत स्रोतकी ओर और हमारे भावके एकमात्र अक्षय भाजनकी ओर अभिमुख होकर उसीमें एकाग्र हो जाते हैं। हमारी खोजका ध्येय होना चाहिये उस प्रकाशका मूलस्रोत जो हमारे अंदर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, और उस शक्तिका वास्तविक उद्गम जिसे हम अपने अंगोंके संचालनके लिये पुकार रहे हैं। हमारा एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये स्वयं भगवान् जिनके लिये हमारी गुप्त प्रकृतिका कोई भाग, जाने-अनजाने, सदैव अभीप्सा करता है। मनको एकमेव भगवान्के विचार, बोध, दिव्य दर्शन, उद्बोधक स्पर्श और आत्म-साक्षात्कारपर ही व्यापक, बहुमुख किंतु अनन्य भावमें एकाग्र होना चाहिये। हृदयकी ज्वालाको सर्वमय और सनातन भगवान्की ओर एकाग्र भावसे प्रज्वलित होना चाहिये और, एक बार जब हम उन्हें प्राप्त कर लें तो हमें सर्वसुन्दरकी उपलब्धि और दिव्यानंदमें गहरी डुबकी लगाकर निमग्न हो जाना चाहिये। भगवान् जो कुछ भी हैं उस सबकी प्राप्ति और चरितार्थतामें संकल्पको दृढ़ और अचल रूपसे एकाग्र होना

चाहिये और भगवान् हमारे अंदर जो कुछ प्रकट करना चाहते हैं उस सबकी ओर हमें अपने संकल्पको स्वतंत्र और नमनीय रूपमें खोल देना चाहिये। यही योगका त्रिविध मार्ग है।

*

परंतु जिस वस्तुको हम अभी जानते नहीं उसपर हम अपने-आपको एकाग्र कैसे करें? और फिर भी जबतक हम भगवान्पर अपनी सत्ताकी एकाग्रताको सिद्ध नहीं कर लेते तबतक हम उसका ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकते। योगमें ज्ञान तथा उसकी प्राप्तिके प्रयत्नसे हमारा मतलब यह है कि हम एकमेवपर अपनेको इस प्रकार एकाग्र करें कि हमें अपने अंदर तथा उस सबके अंदर जिससे हम अभिज्ञ हैं उसकी उपस्थितिका जीवंत साक्षात्कार और सतत अनुभव प्राप्त हो। इतना ही बस नहीं कि हम शास्त्रोंके स्वाध्यायसे या दार्शनिक तर्क-वितर्कके बलपर भगवान्को बुद्धिद्वारा समझनेमें अपनेको उत्सर्ग कर दें। क्योंकि, अपने लंबे मानसिक श्रमके अंतमें हम चाहे वह सब कुछ जान लें जो सनातन देवके विषयमें कहा गया है, वह सब कुछ आत्मसात् कर लें जो अनंतके संबंधमें सोचा जा सकता है, फिर भी संभव है कि हम उसे बिलकुल न जान पावें। इसमें संदेह नहीं कि बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योगमें प्रथम अवस्था हो सकती है, किंतु यह अनिवार्य नहीं है; यह कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसमेंसे गुजरना सबके लिये आवश्यक हो या जिसमेंसे गुजरनेको सबसे कहा जा सके। ध्यान-चिंतन करनेवाली बुद्धि ज्ञानकी जिस बौद्धिक प्रतिभाको प्राप्त करती है वह यदि योगकी आवश्यक शर्त या अनिवार्य प्रारंभिक प्राप्ति हो तो योग इने-गिने लोगोंके सिवा शेष सबके लिये असाध्य हो जाय। ऊपरसे आनेवाला प्रकाश अपना काम शुरू कर सकनेके लिये हमसे जिस चीजकी माँग करता है वह केवल आत्माकी पुकार है और मनके भीतर पर्याप्त मात्रामें समर्थन है। मनमें बार-बार भगवान्का विचार करके, क्रियाशील अंगोंमें तदनुरूप संकल्प करके और अभीप्सा, श्रद्धा तथा हार्दिक कामनाके द्वारा यह समर्थन किया जा सकता है। यदि ये सब एकस्वर होकर या एकताल होकर न चल सकते हों तो इनमेंसे किसीको अग्रणी या प्रधान भी बनाया जा सकता है। विचार प्रारंभमें असमर्थ हो सकता है और होगा ही; अभीप्सा संकीर्ण और अपूर्ण हो सकती है। श्रद्धा अल्पप्रकाशित हो सकती है, यहाँतक कि, ज्ञानकी चट्टानपर सुप्रतिष्ठित न होनेके कारण, चलायमान तथा अनिश्चित भी

हो सकती है। वह आसानीसे मंद भी पड़ सकती है। यह भी संभव है कि वह बार-बार बुझ जाय और आँधीदार घाटीमें मशालकी भाँति उसे कठिनाईसे फिर-फिर प्रज्वलित करना पड़े। परंतु यदि साधक एक बार अंतरकी गहराईसे दृढ़ आत्म-निवेदन कर दे और आत्माकी पुकारके प्रति जाग जाय तो ये अपूर्ण चीजें भी दिव्य प्रयोजनके लिये पर्याप्त साधन हो सकती हैं। अतएव, ज्ञानी लोग ईश्वरकी ओर मनुष्यकी पहुँचके मार्गोंको सीमित कर देनेमें सदा ही संकोचशील रहे हैं। वे उसके प्रवेशके लिये तंग-से-तंग द्वार, सबसे नीची और सबसे अँधेरी खिड़की तथा तुच्छ-से-तुच्छ प्रवेश-पथ भी बंद नहीं करना चाहते। कोई भी नाम, कोई भी रूप, कोई भी प्रतीक, कोई भी अर्घ्य पर्याप्त समझा गया है यदि उसके साथ आत्म-निवेदनका भाव हो; क्योंकि जिज्ञासुके हृदयमें भगवान् अपनेको विराजमान देखते हैं और यज्ञको स्वीकार कर लेते हैं।

तो भी, आत्म-निवेदनको प्रेरित करनेवाला विचार-बल जितना महान् और विशाल होगा, साधकके लिये यह उतना ही उत्तम होगा; उसकी उपलब्धि संभवतः उतनी ही अधिक पूर्ण और प्रचुर होगी। यदि हमें पूर्णयोगकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करना है तो यह अच्छा होगा कि भगवान्के एक ऐसे विचारको लेकर चलें जो स्वयं पूर्ण हो। हृदयमें एक ऐसी अभीप्सा होनी चाहिये जो किन्हीं संकुचित सीमाओंसे रहित साक्षात्कार-को प्राप्त करनेके लिये खूब विशाल हो। हमें केवल एक सांप्रदायिक एवं धार्मिक बहिर्दृष्टिको ही नहीं, अपितु उन सभी एकपक्षीय दार्शनिक विचारोंको भी त्यागना होगा जो अनिर्वचनीय भगवान्को एक सीमित करनेवाले मानसिक सूत्रमें आबद्ध कर देनेका यत्न करते हैं। हमारा योग जिस शक्तिशाली विचार या प्रबल भावनाको लेकर सुचारु रूपसे चल सकता है वह स्वभावतः ही एक ऐसे चेतन अनत देवका विचार या भाव है जिसमें सब कुछ आ जाता है तथा जो सबको अतिक्रांत कर जाता है। हमें अपनी ऊर्ध्वदृष्टि उस स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान्, पूर्ण और आनंदमय परम एक तथा परम एकत्वकी ओर रखनी होगी जिसमें भूतमात्र गति करते और निवास करते हैं और जिसके द्वारा सभी मिल सकते और एक हो सकते हैं। यह 'सनातन' परमदेव आत्माके समक्ष अपनेको प्रकट करने और उसपर अपना वरदहस्त रखनेमें एक साथ ही वैयक्तिक भी है और निर्वैयक्तिक भी। वह वैयक्तिक है, क्योंकि वह चेतन भगवान् एवं अनंत पुरुष है जो विश्वके असंख्य दिव्य एवं अदिव्य व्यक्तियोंमें अपनी एक टूटी-फूटी छाया डालता है। वह निर्वैयक्तिक है, क्योंकि वह हमें अनंत सत्,

चित् और आनंद प्रतीत होता है और क्योंकि वह सभी सत्ताओं और सभी शक्तियोंका मूल स्रोत, आधार एवं घटक है और हमारी सत्ता अर्थात् हमारे मन-प्राण-शरीरका वास्तविक उपादान है तथा हमारी आत्मा और हमारी भौतिक सत्ता है। भगवान्‌पर एकाग्र होनेका अभ्यास करते हुए विचारके लिये केवल यही पर्याप्त नहीं है कि यह उसके अस्तित्वको बौद्धिक रूपमें समझ ले अथवा उसे एक अमूर्त्त भाव या तर्कसिद्ध आवश्यकता मान ले। इसे एक द्रष्टाका विचार बनना होगा जो घट-घटवासी भगवान्‌से यहीं मिल सके, जो हमारे अंदर उसे साक्षात् कर सके और जो उसकी शक्तियोंकी गतिका साक्षी एवं स्वामी वन सके। वह एकमेव सत् है; वह मूल और विश्वव्यापी आनंद है जिससे यह सब जगत् बना है और जो इससे परे भी है। वह एकमेव अनंत चेतना है जो सब चेतनाओंको गठित करती और उनकी सब गतियोंको अनुप्राणित करती है। वह एकमेव असीम सत् है जो समस्त कर्म और अनुभवको धारण करता है। उसका संकल्प वस्तुओंके विकासको उनके अवतक असिद्ध पर अनिवार्य लक्ष्य तथा पूर्णताकी ओर ले चलता है। उसपर हृदय अपने-आपको उत्सर्ग कर सकता है, परम प्रियतमके रूपमें उसके पास पहुँच सकता है और प्रेमके सार्वभौम माधुर्य एवं आनंदके सजीव सिंधुके रूपमें उसके अंदर स्पंदन और विचरण कर सकता है। क्योंकि उसका हर्ष वह गुप्त हर्ष है जो आत्माको उसके सभी अनुभवोंमें आश्रय देता है और भ्रांतिशील अहंको भी उसकी अग्नि-परीक्षाओं और संघर्षोंमें तवतक धारण करता है जवतक कि समस्त दुःख और क्लेश मिट नहीं जाते। उसका प्रेम और आनंद उस अनंत दिव्य प्रेमीका प्रेम और आनंद है जो सभी वस्तुओंको उनके पथसे अपनी सुखमय एकताकी ओर खींच रहा है। उसीपर संकल्प अपनेको इस रूपमें दृढ़तया एकाग्र कर सकता है कि वह एक अदृश्य शक्ति है जो इसे संचालित और क्रियान्वित करती है तथा इसके बलका स्रोत है। निर्वैयक्तिकतामें यह प्रेरक बल एक स्वयं-प्रकाशमान शक्ति है जो सब परिणामोंको धारण करती है और स्थिरतापूर्वक तबतक कार्य करती है जवतक कि वह उन्हें सिद्ध ही नहीं कर लेती। वैयक्तिकतामें यह योगका सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् ईश्वर है जिसे अपने संकल्पके उद्देश्यकी सिद्धिमें कोई चीज वाधा नहीं पहुँचा सकती। इसी श्रद्धासे जिज्ञासुको अपनी खोज और प्रयत्न शुरू करना होता है। इस भूतलपर अपने संपूर्ण पुरुषार्थमें और, सवसे वढ़कर, अगोचरको प्राप्त करनेके अपने पुरुषार्थमें मनोमय मनुष्य विवश होकर श्रद्धाद्वारा ही आगे वढ़ता है। जव उसे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त

होगा, तब श्रद्धा दिव्य रूपसे कृतार्थ और पूर्ण होकर ज्ञानकी नित्य ज्योति-शिखामें परिणत हो जायगी।

*

हमारे समस्त ऊर्ध्वमुख प्रयत्नमें कामनाका निम्नतर तत्त्व प्रारंभमें स्वभावतः ही आ घुसेगा। कारण, जिसे ज्ञानदीप्त संकल्प एकमात्र करने योग्य कार्य समझता है और एकमात्र प्राप्तव्य सर्वोच्च ध्येयके रूपमें खोजता है, जिसे हृदय एकमात्र आनंदपूर्ण वस्तु जानकर गले लगाता है उसीको हमारे अंदरका कामनामय पुरुष भी अहंमय कामनाकी क्षुब्ध व्यग्रताके साथ खोजेगा। यह कामनामय पुरुष अपने-आपको सीमित और व्याहत अनुभव करता है, और क्योंकि यह सीमित है, इसलिये यह कामना और संघर्ष करता है। अपने अंदरकी इस कामनाशील प्राणशक्ति या कामनामय पुरुषको हमें शुरूमें स्वीकार करना होता है, पर केवल इसलिये कि इसका रूपांतर किया जा सके। यहाँतक कि सर्वथा प्रारंभसे ही इसे सिखाना होता है कि यह और सभी इच्छाएँ त्यागकर केवल भागवत्प्राप्तिकी कामना-पर ही अपने-आपको एकाग्र करे। इस महत्त्वपूर्ण अवस्थाके प्राप्त हो जानेके बाद इसे यह सिखाना होता है कि यह अपने पृथक् स्वार्थके लिये नहीं, बल्कि संसारवासी ईश्वर और हमारे अंतर्वासी भगवान्‌के लिये कामना करे। किसी भी व्यक्तिगत आध्यात्मिक लाभमें इसे ध्यान नहीं लगाना होगा, यद्यपि हमें निश्चय है कि समस्त संभव आध्यात्मिक लाभ हमें प्राप्त होगा। बल्कि, इसे उस महान् कर्ममें ध्यान लगाना होगा जो हमारे और दूसरोंके अंदर किया जाना है, उस उच्च भावी अभिव्यक्तिमें जो संसारमें भगवान्‌की एक भव्य चरितार्थता होनेवाली है, उस परम सत्यमें जिसे खोजना, जीवनमें लाना और सदाके लिये सिंहासनाधिरूढ़ करना है। परंतु सबसे अंतमें इसे जो बात सिखानी होती है वह इसके लिये अत्यंत कठिन है। वह है ध्येयकी ठीक प्रकारसे खोज करना। यह बात ठीक ध्येयको खोजनेकी अपेक्षा भी कहीं अधिक कठिन है, क्योंकि इसे अपने अहंभावमय तरीकेसे नहीं, बल्कि भगवान्‌के तरीकेके अनुसार कामना करना सीखना होगा। इसे परिपूर्णताकी अपनी शैलीका, लक्ष्य-प्राप्तिके अपने स्वप्नका, उचित और काम्यके विषयमें अपने विचारका वैसा आग्रह करना सर्वथा छोड़ देना होगा जैसा कि प्रबल भेदमूलक इच्छा-शक्ति सदा ही किया करती है। एक अधिक विशाल और अधिक महान् इच्छाशक्तिको चरितार्थ करनेकी इसे स्पृहा करनी होगी और एक कम

स्वार्थासक्त तथा कम अज्ञ पथप्रदर्शनके द्वारपर प्रतीक्षा करनेको राजी होना होगा। इस प्रकार शिक्षित होकर यह कामना जो अत्यंत चंचल है, जो मनुष्यको अत्यधिक हैरान और परेशान करती है तथा प्रत्येक प्रकारका स्खलन पैदा करती है, अपने दिव्य स्वरूपमें परिणत होने योग्य बन जायगी। क्योंकि, कामना और रागावेशके भी अपने दिव्य रूप हैं। समस्त तृष्णा और दुःखसे परे आत्माकी जिज्ञासाका एक विशुद्ध हर्षावेश है, आनंदकी एक ऐसी इच्छा है जो परम दिव्यानंदोंकी प्राप्तिमें महामहिम होकर विराजमान है।

जब एक बार हमारी एकाग्रताका ध्येय हमारे तीन प्रधान करणों अर्थात् विचार, हृदय और संकल्पको अधिकृत कर लेता है और इनसे अधिकृत हो जाता है,—यह एक ऐसी ऊँची स्थिति है जो पूरी तरह तभी प्राप्त हो सकती है यदि हमारे अंदरकी कामनात्मा दिव्य विधानके अधीन हो जाय,—तभी हमारी रूपांतरित प्रकृतिमें तन-मन-जीवनकी पूर्णता सफलता-पूर्वक प्राप्त की जा सकती है। किंतु यह कार्य अहंकारकी निजी तृप्तिके लिये नहीं, वरन् इसलिये करना होगा कि संपूर्ण सत्ता दिव्य उपस्थितिके लिये उपयुक्त मंदिर एवं दिव्य कर्मके लिये निर्दोष यंत्र बन सके। दिव्य कर्म सचमुच किया ही तभी जा सकता है जब यंत्र समर्पित और पूर्णता-युक्त होकर निःस्वार्थ कार्यके योग्य बन जाय,—और यह तब होगा जब वैयक्तिक कामना और अहंकार तो मिट जायँ, पर स्वातंत्र्यप्राप्त व्यक्ति बना रहे। जब क्षुद्र अहं मिट जाता है तब भी सच्चे आध्यात्मिक पुरुषका अस्तित्व रह सकता है और उसके अंदर ईश्वरका संकल्प, कर्म और आनंद तथा उसकी पूर्णता और समृद्धिका आध्यात्मिक उपयोग भी बना रह सकता है। हमारे कर्म तब दिव्य होंगे और दिव्य ढंगसे ही किये जायँगे। हमारा ईश्वरार्पित मन, जीवन और संकल्प तब दूसरोंके अंदर और संसारके अंदर उस चीजको चरितार्थ करनेमें सहायता पहुँचानेके लिये प्रयुक्त होंगे जिसे हम अपने अंदर चरितार्थ कर चुके हैं, अर्थात् उस सब साकार एकता, प्रेम, स्वतंत्रता, बल, शक्ति, ज्योति और अमर आनंदको चरितार्थ करनेमें प्रयुक्त होंगे जिसे हम स्वयं प्रकट कर सकते हैं और जो इहलोकमें आत्माके साहसिक कर्मका लक्ष्य है।

इस पूर्ण एकाग्रताके प्रयत्नसे या कम-से-कम इसकी ओर स्थिर प्रवृत्तिसे ही योगका आरंभ होता है। यह आवश्यक है कि परम देवके प्रति अपना सर्वस्व समर्पित करनेके लिये हमारे अंदर अडिग और अटूट संकल्प हो और हम अपनी संपूर्ण सत्ता तथा प्रकृतिको अंग-प्रत्यंगसहित उस सनातन

देवपर उत्सर्ग कर दें जो 'सर्व' है। अपनी एकमात्र काम्य वस्तुपर हमारी अनन्य एकाग्रता जितनी शक्तिशाली तथा पूर्ण होगी, एकमात्र स्पृहणीय एकमेवके प्रति हमारा आत्म-समर्पण भी उतना ही पूर्ण होगा। परंतु यह अनन्यता, अंतमें, संसारको देखनेके हमारे मिथ्या ढंग और हमारे संकल्पके अज्ञानके सिवा और किसी चीजका बहिष्कार नहीं करेगी। सनातन देवपर हमारी एकाग्रता मनके द्वारा तब पूर्ण होगी जब हम सदा-सर्वदा-सर्वत्र भगवान्‌के ही दर्शन करने लगेंगे—केवल उनके निज स्वरूपमें तथा अपने अंदर ही नहीं, बल्कि सब पदार्थों, प्राणियों और घटनाओंमें भी। हृदयके द्वारा यह तब पूर्ण होगी जब सारे भाव भगवान्‌के ही प्रेममें संपुटित हो जायँगे,—शुद्ध और निरपेक्ष भगवान्‌के प्रेममें ही नहीं, बल्कि संसारके अंदर अपने सभी जीवों, शक्तियों, व्यक्तियों और दृश्य पदार्थोंमें रहनेवाले भगवान्‌के प्रेममें भी। संकल्पके द्वारा यह तब पूर्ण होगी जब हम सदा दैवी प्रेरणाको अनुभव और ग्रहण करेंगे तथा उसीको अपनी एकमात्र चालक शक्ति स्वीकार करेंगे। परंतु इसका अर्थ यह होगा कि अहंमूलक प्रकृतिके भटकनेवाले आवेगोंका तथा उनमें भी अंतिम विद्रोही, उन्मार्गगामीतकका वध करके हमने अपनेको विश्वमय बना लिया है और सभी पदार्थोंमें हो रही एक ही दैवी क्रियाको सदा हर्षपूर्वक स्वीकार करनेके लिये हम योग्य बन गये हैं। यह पूर्णयोगकी पहली आधारभूत सिद्धि है।

जब हम भगवान्‌के प्रति व्यक्तिके पूर्ण आत्म-निवेदनकी बात करते हैं तब हमारा अभिप्राय अंतमें इसी चीजसे होता है, इससे कम किसी चीजसे नहीं। परंतु निवेदनकी यह समग्र पूर्णता अनवरत प्रगतिके द्वारा ही प्राप्त हो सकती है जब कि कामनाका रूपांतर करके उसका अस्तित्व मिटानेकी लंबी और कठिन प्रक्रिया निःशेष रूपसे पूर्ण कर ली जाय। पूर्ण आत्म-निवेदनमें पूर्ण आत्म-समर्पण भी निहित है।

*

इस योगकी दो गतियाँ हैं जिनके बीचमें एक संक्रमण-अवस्था आती है, अथवा यूँ कहें कि इस योगमें दो काल आते हैं,—एक तो समर्पणकी क्रिया-प्रणालीका, दूसरा उसके शिखर और परिणामका। पहलेमें व्यक्ति भगवान्‌को अपने अंगोंमें ग्रहण करनेके लिये अपने-आपको तैयार करता है। इस सारे प्रारंभिक कालमें उसे निम्नतर प्रकृतिके करणोंद्वारा काम करते हुए भी ऊपरसे अधिकाधिक सहायता प्राप्त करनी होती है। परंतु इस गतिकी पिछली संक्रमण-अवस्थामें हमारा व्यक्तिगत और अनिवार्यतः-

अज्ञानपूर्ण प्रयत्न उत्तरोत्तर कम होता जाता है और उच्चतर प्रकृति कार्य करने लगती है; अनादि परम शक्ति इस सीमित मर्त्य शरीरमें अवतरित होती है और इसे उत्तरोत्तर अधिकृत तथा रूपांतरित करती जाती है। दूसरी अवस्थामें महत्तर गति निम्नतर गतिका, जो पहले अनिवार्य प्रारंभिक क्रिया थी, पूर्णतया स्थान ले लेती है। किंतु यह केवल तभी किया जा सकता है जब कि हमारा आत्म-समर्पण पूर्ण हो। हमारे अंदरका अहं-रूप पुरुष अपने बल, ज्ञान या इच्छाशक्तिके सहारे या अपने किसी गुणके बलपर अपने-आपको भगवान्‌की प्रकृतिमें रूपांतरित नहीं कर सकता। वह केवल इतना ही कर सकता है कि वह अपने-आपको रूपांतरके योग्य बनाये और जो कुछ वह बनना चाहता है उसके प्रति अपना अधिकाधिक समर्पण करता जाय। जबतक अहं हमारे अंदर क्रियाशील रहता है तबतक हमारी व्यक्तिगत क्रिया अपने स्वरूपमें सत्ताके निम्नतर स्तरोंका एक अंगमात्र रहती है और सदा रहेगी ही। वह अज्ञानमय या अर्द्ध-प्रकाशयुक्त अपने क्षेत्रमें सीमित और अपनी शक्तिकी दृष्टिसे बहुत अपूर्ण रूपमें प्रभावशाली होती है। यदि आध्यात्मिक रूपांतर किंचित् भी सिद्ध करना है, और यदि अपनी प्रकृतिका केवल प्रकाशप्रद परिवर्तन करना ही इष्ट नहीं है, तो हमें अपनी व्यष्टि-सत्तामें यह चमत्कारक कार्य सिद्ध करनेके लिये दिव्य शक्तिका आह्वान करना होगा; कारण, उसीमें इस कार्यके लिये अपेक्षित सामर्थ्य, निर्णायक, सर्वज्ञानमय और असीम सामर्थ्य विद्यमान है। परंतु मानवीय व्यक्तिगत क्रियाके स्थानपर भगवान्‌की क्रियाको पूर्णतया स्थापित करना तुरत ही पूरी तरहसे संभव नहीं होता, क्योंकि नीचेसे होनेवाला हस्तक्षेप ऊर्ध्व स्तरकी क्रियाके सत्यको मिथ्या रूप दे देता है। इसलिये पहले हमें ऐसे समस्त हस्तक्षेपको बंद या निष्फल कर देना होगा और वह भी अपनी स्वतंत्र इच्छासे। जिस चीजकी हमसे माँग की जाती है वह यह है कि हम निम्नतर प्रकृतिकी प्रवृत्तियों और मिथ्यात्वोंका सतत और सदा-सर्वदा पुनः-पुनः परित्याग करें और जैसे-जैसे हमारे अंगोंमें सत्यकी वृद्धि हो वैसे-वैसे हम इसे दृढ़ आश्रय प्रदान करते जायँ। क्योंकि, भीतर प्रविष्ट होती हुई संजीवनी ज्योति, पवित्रता और शक्तिको अपनी प्रकृतिमें उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित करने और इनकी चरम पूर्णता साधित करनेके लिये हमें इनका पोषण एवं संवर्धन करना होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इन्हें मुक्त हृदयसे अंगीकार करें और जो कुछ भी इनके विपरीत एवं इनसे हीनतर या असंगत है उस सबका दृढ़तापूर्वक परित्याग करें।

अपने-आपको तैयार करनेकी प्रथम गतिमें अर्थात् व्यक्तिगत प्रयत्नके

कालमें जिस विधिका हमें प्रयोग करना है वह संपूर्ण सत्ताकी एकाग्रता है,—उस भगवान्‌पर एकाग्रता है जिसे वह पाना चाहती है और, इसके स्वाभाविक परिणामके तौरपर, उस सबका सतत परित्याग एवं उस सबका परिवर्जन है जो भगवान्‌का सच्चा सत्य नहीं है। इस दृढ़ परित्यागका परिणाम उस सबका समग्र निवेदन होगा जो कुछ कि हम हैं और जो कुछ हम सोचते, अनुभव करते और कार्य करते हैं। आत्म-निवेदन क्रमशः सर्वोच्च देवके प्रति समग्र आत्मदानमें परिसमाप्त होगा, क्योंकि आत्म-निवेदनका शिखर और उसकी पूर्णताका चिह्न है संपूर्ण प्रकृतिका सर्वसंग्राहक निरपेक्ष समर्पण। योगकी दूसरी अवस्थामें, जो मानवीय और दिव्य क्रियाके बीचकी संक्रमण-अवस्था है, मानवीय क्रियाके स्थानपर एक अन्य क्रिया ऊर्ध्वमें अधिष्ठित होगी। वह है दिव्य शक्तिके प्रति वृद्धिशील, विशुद्ध और जागरूक नमनशीलता, उसके प्रति अधिकाधिक प्रकाशयुक्त दिव्य प्रत्युत्तर—किंतु उसीके प्रति, किसी अन्यके प्रति नहीं। इसके फलस्वरूप, ऊपरसे आयेगा एक महान् और सचेतन चमत्कारी क्रियाका वर्धमान प्रवाह। अंतिम अवस्थामें किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं होता, न कोई नियत विधि और न कोई बँधी साधना ही होती है। प्रयत्न और तपस्याका स्थान एक सहज-स्वाभाविक विकास ले लेता है। विशुद्ध और पूर्णता-प्राप्त पार्थिव प्रकृतिकी कलीमेंसे भगवान्‌रूपी कुसुम शक्तिशाली और आनंदप्रद ढंगसे स्वयमेव विकसित होने लगता है। योगकी क्रियाके स्वाभाविक क्रम यही हैं।

ये गतियाँ वास्तवमें सदा तथा अटल रूपमें इस प्रकार एक कठोर आनुक्रमिक रूपमें बँधी हुई नहीं होतीं। पहली अवस्थाकी समाप्तिसे पूर्व दूसरी अवस्था कुछ-कुछ शुरू हो जाती है। पहली अवस्था अंशतः तबतक जारी रहती है जबतक दूसरी पूर्ण नहीं हो लेती। इस बीच चरम दिव्य क्रिया समय-समयपर आश्वासनके रूपमें अभिव्यक्त हो सकती है और बादमें वह हमारे अंदर अंतिम तौरपर प्रतिष्ठित तथा हमारी प्रकृतिके लिये सहज-स्वाभाविक हो जाती है। वैसे तो सदा ही व्यक्तिकी अपेक्षा कोई उच्चतर और महत्तर शक्ति उसके पीछे विद्यमान होती है जो उसके वैयक्तिक प्रयत्न और पुरुषार्थमें भी उसका पथप्रदर्शन करती है। पर्देकी ओटमें प्रच्छन्न इस महत्तर पथप्रदर्शनके प्रति वह कितनी ही बार सचेतन भी हो सकता है, यहाँतक कि कुछ कालके लिये पूर्ण रूपसे और अपनी सत्ताके कुछ भागोंमें तो नित्य रूपसे भी सचेतन रह सकता है। बल्कि, यह सचेतनता उसे बहुत पहले भी प्राप्त हो सकती है, जब कि उसकी संपूर्ण

सत्ता अपने सभी अंगोंमें निम्नतर परोक्ष नियंत्रणकी अपवित्रतासे अभी मुक्त भी नहीं हुई होती। यहाँतक कि वह प्रारंभसे ही इस प्रकार सचेतन रह सकता है; उसके अन्य अंग न भी सही, किंतु उसका मन और हृदय दोनों योगमें सर्वप्रथम पदार्पण करनेके बादसे ही इस प्रच्छन्न शक्तिके अभिभूतकारी और तीक्ष्ण पथ-प्रदर्शनका प्रत्युत्तर एक प्रकारकी प्रारंभिक पूर्णताके साथ दे सकते हैं। परंतु संक्रमण-अवस्था जैसे-जैसे आगे बढ़ती और अपनी समाप्तिके निकट पहुँचती है वैसे-वैसे जो लक्षण उसे अन्य अवस्थाओंसे अधिकाधिक स्पष्ट रूपमें पृथक् करता है वह इस महान् प्रत्यक्ष नियंत्रणकी सतत, पूर्ण एवं समरस क्रिया है। इस महत्तर एवं दिव्यतर पथ-प्रदर्शनकी, जो हमारे लिये व्यक्तिगत नहीं होता, प्रधानता इस बातका चिह्न होती है कि प्रकृति समग्र आध्यात्मिक रूपांतरके लिये उत्तरोत्तर परिपक्व हो रही है। यह इस बातका अचूक चिह्न होती है कि अतम-निवेदन केवल सिद्धांततः ही स्वीकार नहीं किया गया है अपितु वह क्रिया और शक्तिमें भी पूर्णतः चरितार्थ हो गया है। परम देवने अपनी चमत्कारमयी ज्योति, शक्ति और आनंदके चुने हुए मानवीय आधारके सिरपर अपना ज्योतिर्मय हस्त धर दिया है।

तीसरा अध्याय

कर्ममें आत्म-समर्पण—गीताका मार्ग

केवल दूरस्थ, नीरव या उन्नीत आनंद-विभोर पारलौकिक जीवन ही नहीं, वरन् समस्त जीवन हमारे योगका क्षेत्र है। सोचने, देखने, अनुभव करने और रहनेकी हमारी स्थूल, संकीर्ण और खंडात्मक मानवीय शैलीका गंभीर एवं विशाल अध्यात्म-चेतनामें तथा एक सर्वांगपूर्ण आंतरिक एवं बाह्य अस्तित्वमें रूपांतर और हमारे सामान्य मानव-जीवनका दिव्य जीवन-प्रणालीमें रूपांतर इसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस परम लक्ष्यका साधन है—हमारी संपूर्ण प्रकृतिका अपने-आपको भगवान्के हाथोंमें सौंप देना। हमें अपनी प्रत्येक चीज अपने अंतःस्थ ईश्वर, विश्वमय 'सर्व' और विश्वातीत परमात्माको समर्पित कर देनी होगी। अपने संकल्प, अपने हृदय और अपने विचारको उस एक और वहुरूप भगवान्पर पूर्ण-रूपेण एकाग्र करना और अपनी संपूर्ण सत्ताको निःशेष रूपसे भगवान्पर ही न्योछावर कर देना इस योगकी एक निर्णायक गति है, यह अहंका उस 'तत्'की ओर मुड़ना है जो उससे अनंतगुना महान् है, यही उसका आत्मदान और अनिवार्य समर्पण है।

मानव प्राणीका जीवन, जैसा कि यह साधारणतया बिताया जाता है, नाना तत्त्वोंके अर्द्ध-स्थिर, अर्द्ध-तरल समूहसे बना हुआ है। वे तत्त्व हैं—अत्यंत अपूर्णतया नियंत्रित विचार, इंद्रियानुभव, संवेदन, भाव, कामनाएँ, सुखोपभोग तथा कर्म जो अधिकतर रूढ़िबद्ध एवं पुनरावर्ती और केवल अंशतः प्रभावशाली और विकसनशील होते हैं, पर जो सबके सब उथले अहंके इर्द-गिर्द केंद्रित रहते हैं। इन (विचार, इंद्रियानुभव आदि) क्रियाओंकी गतिका सम्मिलित परिणाम वह आंतरिक विकास होता है जो कुछ अंशमें तो इसी जीवनमें प्रत्यक्ष और फलप्रद होता है और कुछ अंशमें भावी जन्मोंमें होनेवाली प्रगतिके लिये बीजका काम करता है। सचेतन सत्ताकी यह प्रगति, उसके उपादानभूत अंगोंका विस्तार, उत्तरोत्तर आत्म-प्रकाशन और अधिकाधिक समस्वरित विकास ही मानवके अस्तित्व एवं जीवनका संपूर्ण अर्थ और समस्त सार है। चेतनाके इस सार्थक विकासके लिये ही मनुष्यने, मनोमय प्राणीने इस स्थूल शरीरमें प्रवेश किया है।

यह विकास विचार, इच्छाशक्ति, भाव, कामना, कर्म और अनुभवकी सहायतासे होता है और अंतमें परम दिव्य आत्म-ज्ञान प्राप्त करा देता है। इसके सिवा शेष सब कुछ सहायक और गौण है अथवा आनुषंगिक और निष्प्रयोजन है; केवल वही चीज आवश्यक है जो मनुष्यकी प्रकृतिके विकासमें और उसकी अंतरात्मा एवं आत्माकी उन्नतिमें अथवा यूँ कहें कि उनकी उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति और उपलब्धिमें पोषक और सहायक हो।

हमारे योगका लक्ष्य बस इह-जीवनके इस परम लक्ष्यको शीघ्रसे शीघ्र प्राप्त करना है। यह योग प्राकृतिक विकासकी मंद तथा अस्त-व्यस्त प्रगतिकी साधारण, लंबी विधिको छोड़ देता है। प्राकृतिक विकास तो, अधिक-से-अधिक, एक प्रच्छन्न अनिश्चित-सी उन्नति ही होता है; यह कुछ हदतक परिस्थितिके दबावके द्वारा और कुछ हदतक लक्ष्यहीन शिक्षा और अर्ध-प्रकाशमान सोद्देश्य प्रयत्नके द्वारा संपन्न होता है। यह सुयोगोंका, अनेक भूलों, पतनों और पुनःपतनोंके साथ, आंशिक रूपमें प्रबुद्ध और अर्द्ध-यांत्रिक उपयोगमात्र होता है। इसका एक वहुत बड़ा भाग प्रत्यक्ष परिस्थितियों और आकस्मिक घटनाओं एवं उनके परिवर्तनोंसे गठित होता है, यद्यपि इसके पीछे गुप्त दिव्य सहायता एवं पथ-प्रदर्शन अवश्य छिपा रहता है। योगमें हम इस अस्तव्यस्त, केंकड़ेकी-सी टेढ़ी चालके स्थानपर एक वेगशाली, सचेतन और आत्म-प्रेरित विकास-प्रक्रियाको प्रतिष्ठित करते हैं जो हमें यथासंभव सीधे ही अपने लक्ष्यकी ओर ले जा सकती है। एक ऐसे विकासमें जो संभवतः असीम हो सकता है कहीं किसी लक्ष्यकी चर्चा करना एक दृष्टिसे अशुद्ध होगा। फिर भी हम अपनी वर्तमान उपलब्धिसे परे एक तात्कालिक लक्ष्य एवं दूरतर उद्देश्यकी कल्पना कर सकते हैं जिसके लिये मनुष्यकी आत्मा अभीप्सा कर सकती है। एक नूतन जन्मकी संभावनाका द्वार उसके सामने खुला पड़ा है; वह सत्ताके एक उच्चतर और विशालतर स्तरमें आरोहण कर सकता है और वह स्तर उसके अंगोंका रूपांतर करनेके लिये यहाँ अवतरित हो सकता है। एक विस्तृत और प्रदीप्त चेतनाका उदय होना भी संभव है जो उसे मुक्त आत्मा और पूर्णताप्राप्त शक्ति वना देगी और यदि वह चेतना व्यक्तिके परे भी सब ओर व्याप्त हो जाय तो वह दिव्य मानवता अथवा नवीन, अतिमानसिक और अतएव अतिमानवीय जातिकी भी रचना कर सकती है। इसी नूतन जन्मको हम अपना लक्ष्य बनाते हैं। दिव्य चेतनामें विकसित होना, केवल आत्माको ही नहीं, अपितु अपनी प्रकृतिके सभी अंगोंको पूर्ण रूपसे दिव्यतामें रूपांतरित करना हमारे योगका संपूर्ण प्रयोजन है।

*

हमारी योग-साधनाका उद्देश्य है—सीमित एवं वहिर्मुख अहंको वहिष्कृत कर देना और उसके स्थानपर ईश्वरको प्रकृतिके नियंता अंतर्यामीके रूपमें सिंहासनासीन करना। इसका तात्पर्य है—सबसे पहले कामनाको उसके अधिकारसे च्युत कर देना और फिर उसके सुखको प्रधान मानवीय प्रेरक-भावके रूपमें कदापि स्वीकार न करना। आध्यात्मिक जीवन अपना पोषण कामनासे नहीं, वल्कि मूल सत्ताके विशुद्ध और अहंतारहित आध्यात्मिक आनंदसे प्राप्त करेगा। हमारी उस प्राणिक प्रकृतिको ही नहीं जिसकी निशानी कामना है, वल्कि हमारी मानसिक सत्ताको भी नूतन जन्म तथा रूपांतरकारी परिवर्तनका अनुभव करना होगा। हमारे विभक्त, अहंपूर्ण, सीमित और अज्ञानयुक्त विचार एवं बोधको विलुप्त हो जाना होगा और इसके स्थानपर उस अंधकाररहित दिव्य प्रकाशकी एक व्यापक एवं अविकल धाराको प्रवाहित होना होगा जिसका अंतिम और सर्वोच्च रूप एक ऐसी स्वाभाविक स्वयं-सत् सत्य-चेतना हो जिसमें अंधकारमें खोजने-वाला अर्द्ध-सत्य तथा स्खलनशील भ्रांति न हो। हमारे विमूढ़, व्याकुल, अहं-केंद्रित तथा क्षुद्र-भाव-प्रेरित संकल्प एवं कर्मका अंत हो जाना चाहिये और इसके स्थानपर एक तीव्र-प्रभावशाली, ज्ञानपूर्वक स्वयंचालित और भगवान्से प्रेरित एवं अधिष्ठित शक्तिकी पूर्ण क्रियाको प्रतिष्ठित होना चाहिये। हमारे सभी कार्योंमें उस परम निर्वैयक्तिक, अविचल और निर्भ्रान्त संकल्पको दृढ़ और सक्रिय होना चाहिये जो भगवान्के संकल्पके साथ सहज और शांत एकत्व रखता हो। हमें अपने दुर्बल अहंकारमय भावोंकी अतृप्तिकर ऊपरी क्रीड़ाका वहिष्कार कर इसके स्थानपर उस निभृत, गंभीर और विशाल अंतरस्थ चैत्य हृदयका आविर्भाव करना होगा जो उन भावोंके पीछे छिपा हुआ अपने मुहूर्त्तकी प्रतीक्षा कर रहा है। इस अंतरीय हृदयसे—जिसमें भगवान्का वास है—प्रेरित होकर हमारे सब भाव और अनुभव भागवत प्रेम और बहुविध आनंदकी दोहरी उमंगकी प्रशांत और प्रगाढ़ गतियोंमें रूपांतरित हो जायँगे। यही है दिव्य मानवता या विज्ञानमय जातिका लक्षण। यही—न कि मानवीय बुद्धि और कर्मकी अतिरंजित किंवा उदात्तीकृत शक्ति—उस अतिमानवका रूप है जिसे अपने योगके द्वारा विकसित करनेके लिये हमें आह्वान प्राप्त हुआ है।

साधारण मानवजीवनमें वहिर्मुख कर्म स्पष्ट ही हमारे जीवनका तीन-चौथाई या इससे भी वड़ा भाग होता है; केवल कुछ-एक असाधारण व्यक्ति ही,—जैसे ऋषि-मुनि, विरले मनीषी, कवि और कलाकार,—अपने

भीतर अधिक रह सकते हैं। निःसंदेह ये, कम-से-कम अपनी प्रकृतिके अंतरतम अंगोंमें, अपने-आपको बाह्य कर्मकी अपेक्षा आंतरिक विचार और भावमें ही अधिक गढ़ते हैं। परंतु इन आंतर और बाह्य पक्षोंमेंसे कोई भी दूसरेसे पृथक् होकर *पूर्ण* जीवनके रूपकी रचना नहीं करेगा, वरंच जब आंतर और बाह्य जीवन पूर्णतः एकीभूत होकर अपनेसे परेकी किसी वस्तुकी लीलामें रूपांतरित हो जायँगे तब उनकी वह समरसता ही पूर्ण जीवनको मूर्त्त रूप देगी। अतएव, कर्मयोग,—अर्थात् केवल ज्ञान और भावमें ही नहीं, अपितु अपने संकल्प और कार्योंमें भी भगवान्‌के साथ मिलन,—पूर्णयोगका एक अनिवार्य अंग है, एक ऐसा आवश्यक अंग है जिसके महत्त्वका वर्णन नहीं हो सकता। वास्तवमें, हमारे विचार और भावका रूपांतर एक पंगु उपलब्धि ही रहेगा यदि इसके साथ हमारे कार्योंकी भावना और बाह्य रूपका भी एक अनुरूप रूपांतर न हो जाय।

परंतु यदि यह पूर्ण रूपांतर संपन्न करना है तो हमें अपने मन और हृदयकी भाँति अपने कार्यों और बाह्य चेष्टाओंको भी भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करना होगा, अपनी कार्य करनेकी सामर्थ्योंका अपने पीछे विद्यमान महत्तर शक्तिके हाथोंमें समर्पण करनेके लिये सहमत होना होगा तथा इस समर्पणको उत्तरोत्तर संपन्न भी करना होगा। हम ही कर्त्ता और कर्मी हैं इस भावको मिटा देना होगा। जो भागवत संकल्प इन सम्मुखीन प्रतीतियोंके पीछे छिपा हुआ है, उसीके हाथोंमें हमें सब कुछ सौंप देना होगा, ताकि वह इस सबका अधिक सीधे तौरसे उपयोग कर सके, क्योंकि उस अनुमन्ता संकल्पके द्वारा ही हमारे लिये कोई भी कार्य करना संभव होता है। एक निगूढ़ शक्तिशाली देव ही हमारे कार्योंका सच्चा स्वामी और अधिष्ठाता साक्षी है, और केवल वही हमारे अहंकारसे उत्पन्न अज्ञान, कालुष्य और विकारमें भी हमारे कर्मोंका संपूर्ण मर्म और अंतिम प्रयोजन जानता है। हमें अपने सीमित और विकृत अहंभावमय जीवन और कर्मोंका उस महत्तर दिव्य जीवन, संकल्प और बलके विशाल एवं प्रत्यक्ष प्रवाहमें पूर्ण रूपांतर साधित करना होगा जो हमें इस समय गुप्त रूपमें धारण कर रहा है। इस महत्तर संकल्प और बलको हमें अपने अंदर सचेतन और स्वामी बनाना होगा; इसे आजकी तरह केवल अतिचेतन और धारण करनेवाली और अनुमति देनेवाली शक्ति ही नहीं बने रहना होगा। जो सर्वज्ञ शक्ति और सर्वशक्तिमान् ज्ञान आज गुप्त है उसका पूर्ण ज्ञानमय प्रयोजन एवं प्रक्रिया हमारे अंदर बिना विकृत हुए संचरित हो—ऐसी अवस्था हमें प्राप्त करनी होगी। वह शक्ति और ज्ञान हमारी समस्त रूपांतरित प्रकृतिको

अपनी उस शुद्ध और निर्बाध प्रणालिकामें परिणत कर देंगे जो सहर्ष स्वीकृति देने और भाग लेनेवाली होगी। यह पूर्ण निवेदन तथा समर्पण और इससे फलित होनेवाला यह समग्र रूपांतर तथा (ज्ञान और बलका) स्वतंत्र संचार सर्वांगीण कर्मयोगका समस्त मूल साधन और अंतिम लक्ष्य हैं।

उन लोगोंके लिये भी जिनकी पहली स्वाभाविक गति चिंतनात्मक मन और उसके ज्ञानका अथवा हृदय और उसके भावोंका पूर्ण निवेदन तथा समर्पण और फलतः उनका पूर्ण रूपांतर होती है, कर्मोंका अर्पण इस रूपांतरके लिये एक आवश्यक अंग है। अन्यथा, पारलौकिक जीवनमें वे ईश्वरको भले ही पा लें पर इह-जीवनमें वे भगवान्‌को अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगे, इह-जीवन उनके लिये निरर्थक, अदिव्य और असंगत वस्तु ही रहेगा। वह सच्ची विजय उनके भाग्यमें नहीं है जो हमारे पार्थिव जीवनकी पहेलीकी कुंजी होगी; उनका प्रेम आत्म-विजयी एवं परिपूर्ण प्रेम नहीं होगा, न उनका ज्ञान ही एक समग्र चेतना और सर्वांगीण ज्ञान होगा। निःसंदेह, यह संभव है कि केवल ज्ञान या ईश्वराभिमुख भावको लेकर या इन दोनोंको एक साथ लेकर योग प्रारंभ किया जाय और कर्मोंको योगकी अंतिम गतिके लिये रख छोड़ा जाय। परंतु इसमें हानि यह है कि हम आंतरिक अनुभवमें सूक्ष्म-वृत्तिवाले बनकर तथा अपने बाह्य-संबंधशून्य आंतरिक अंगोंमें बंद रहते हुए अतीव एकांगी रूपमें भीतर-ही-भीतर निवास करनेकी ओर आकृष्ट हो सकते हैं। संभव है कि वहाँ हम अपने आध्यात्मिक एकांतवासके कठोर आवरणसे आच्छादित हो जायँ और फिर बादमें अपनी आंतरिक जीवनधाराको सफलतापूर्वक बाह्य जीवनमें प्रवाहित करना और उच्चतर प्रकृतिमें हमने जो सिद्धि प्राप्त की है उसे बाह्य जीवनके क्षेत्रमें व्यवहृत करना हमें कठिन मालूम होने लगे। जब हम इस बाह्य राज्यको भी अपनी आंतरिक विजयोंमें जोड़नेकी ओर प्रवृत्त होंगे, तब हम अपनेको एक ऐसी शुद्ध रूपसे आंतरिक क्रियाके अत्यधिक अभ्यस्त पायँगे जिसका जड़ स्तरपर कोई प्रभाव नहीं होगा। तब बहिर्जीवन और शरीरका रूपांतर करनेमें हमें बड़ी भारी कठिनाई होगी। अथवा हम देखेंगे कि हमारा कर्म अंतर्ज्योतिके साथ मेल नहीं खाता; यह अभीतक पुराने अभ्यस्त भ्रांत पथोंका ही अनुसरण करता है और पुराने सामान्य अपूर्ण प्रभावोंके अधीन है; हमारा अंतरस्थ सत्य एक कष्टकर खाईके द्वारा हमारी बाह्य प्रकृतिकी अज्ञानपूर्ण क्रियासे पृथक् होता चला जाता है। यह अनुभव प्रायः ही होता है, क्योंकि ऐसी एकांगी पद्धतिमें प्रकाश और बल स्वयंपूर्ण बन जाते हैं और अपने-आपको जीवनमें प्रकट करने या पृथ्वी और इसकी

प्रक्रियाओंके लिये नियत भौतिक साधनोंका प्रयोग करनेको इच्छुक नहीं होते। यह ऐसा ही है मानो हम किसी अन्य विशालतर एवं सूक्ष्मतर जगत्‌में रह रहे हों और जड़ तथा पार्थिव सत्तापर हमारा दिव्य प्रभुत्व बिलकुल भी न हो या शायद किसी प्रकारका भी प्रभुत्व नहींके बराबर हो।

फिर भी प्रत्येकको अपनी प्रकृतिके अनुसार चलना चाहिये और यदि हमें अपने स्वाभाविक योगमार्गका अनुसरण करना है तो उसमें कुछ कठिनाइयाँ तो सदा ही आयँगी जिन्हें कुछ कालके लिये स्वीकार करना पड़ेगा। योग, अंततः, मुख्य रूपमें आंतर चेतना और प्रकृतिका परिवर्तन है, पर यदि हमारे अंगोंका संतुलन ही ऐसा हो कि प्रारंभमें यह परिवर्तन कुछ अंगोंमें ही करना संभव हो और शेषको अभी ऐसे ही छोड़कर बादमें अपने हाथमें लेना आवश्यक हो तो हमें इस प्रक्रियाकी प्रत्यक्ष अपूर्णताको स्वीकार करना ही होगा। तथापि पूर्णयोगकी आदर्श क्रियाप्रणाली एक ऐसी विकासधारा होगी जो अपनी प्रक्रियामें प्रारंभसे ही सर्वांगीण और अपनी प्रगतिमें अखंड तथा सर्वतोमुखी हो। कुछ भी हो, इस समय हमारा प्रमुख विषय उस योग-मार्गका निरूपण करना है जो अपने लक्ष्य और संपूर्ण गतिधाराकी दृष्टिसे सर्वांगीण हो, किंतु जो कर्मसे प्रारंभ करे और कर्म-द्वारा ही अग्रसर हो, पर साथ ही हर सीढ़ीपर एक जीवनदायी दिव्य प्रेमसे अधिकाधिक प्रेरित और एक सहायक दिव्य ज्ञानसे अधिकाधिक आलोकित हो।

*

आध्यात्मिक कर्मोंका सबसे महान् दिव्य सत्य जो आजतक मानव-जातिके लिये प्रकट किया गया है, अथवा कर्मयोगकी पूर्णतम पद्धति जो अतीतमें मनुष्यको विदित थी, भगवद्‌गीतामें पायी जाती है। महाभारतके उस प्रसिद्ध उपाख्यानमें कर्मयोगकी महान् मूलभूत रूपरेखा अनुपम अधिकारके साथ और विश्वस्त अनुभवकी निर्भ्रान्त दृष्टिके साथ सदाके लिये अंकित कर दी गयी है। यह ठीक है कि केवल उसका मार्ग ही, जैसा कि पूर्वजोंने इसे देखा था, पूरी तरह खोलकर बताया गया है; पूर्ण चरितार्थता या सर्वोच्च रहस्यके विकासका संकेत ही दिया गया है, उसे खोलकर नहीं रखा गया है; उसे परम रहस्यके अव्यक्त अंशके रूपमें छोड़ दिया गया है। इस मौनके कारण स्पष्ट हैं, क्योंकि चरितार्थता अनुभवका विषय होती है और कोई भी उपदेश इसे प्रकट नहीं कर सकता। इसका वर्णन किसी ऐसे ढंगसे नहीं किया जा सकता जिसे मन सचमुचमें समझ सके, क्योंकि मनको वह प्रकाशमय रूपांतरकारी अनुभव प्राप्त ही नहीं है। इसके अतिरिक्त

जो आत्मा उन चमकीले द्वारोंको पार कर अंतर्ज्योतिकी ज्वालाके सम्मुख पहुँच गयी है उसके लिये समस्त मानसिक तथा शाब्दिक वर्णन जितना क्षुद्र, अपर्याप्त तथा प्रगल्भ होता है उतना ही निःसार भी होता है। सभी दिव्य सिद्धियोंका निरूपण हमें विवश होकर मनोमय मनुष्यके साधारण अनुभवके अनुरूप रचित भाषाकी अनुपयुक्त और भ्रामक शब्दावलिमें ही करना पड़ता है। इस प्रकार वर्णित होनेके कारण वे सिद्धियाँ केवल उन्हींको ठीक-ठीक समझमें आ सकती हैं जो पहलेसे ही ज्ञानी हों और, ज्ञानी होनेके कारण, इन निःसार बाह्य शब्दोंको एक परिवर्तित, आंतरिक तथा रूपांतरित अभिप्राय प्रदान कर सकते हों। वैदिक ऋषियोंने प्रारंभमें ही बल देकर कहा था कि परम ज्ञानके शब्द केवल उन्हींके लिये अर्थ-द्योतक होते हैं जो पहलेसे ही ज्ञानी हों। गीताने अपने गूढ़ उपसंहारके रूपमें जो मौन साध लिया है उससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जिस समाधानकी हम खोज कर रहे हैं उसतक वह नहीं पहुँच पायी है; वह उच्चतम आध्यात्मिक मनकी सीमाओंपर ही रुक जाती है और उन्हें पार कर अतिमानसिक प्रकाशकी दीप्तियोंतक नहीं पहुँचती। फिर भी उसका प्रधान रहस्य है—हृदयस्थ ईश्वरके साथ केवल स्थितिशील ही नहीं, वरन् क्रियाशील एकत्व और हमारे दिव्य मार्गदर्शक तथा हमारी प्रकृतिके स्वामी एवं अंतर्वासीके प्रति पूर्ण समर्पणका सर्वोच्च गुह्य ज्ञान। यह समर्पण अतिमानसिक रूपांतरका अनिवार्य साधन है और फिर अतिमानसिक परिवर्तनसे ही सक्रिय एकत्व संभव होता है।

तब गीताद्वारा प्रतिपादित कर्मयोग-प्रणाली क्या है? इसके मुख्य सिद्धांत या इसकी आध्यात्मिक पद्धतिका हम संक्षेपमें इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं कि वह चेतनाकी दो विशालतम और उच्चतम अवस्थाओं या शक्तियों, अर्थात् समता और एकताका मिलन है। इसकी पद्धतिका सार है भगवान्‌को अपने जीवनमें तथा अपनी अंतरात्मा और आत्मामें निःशेष रूपसे अंगीकार करना। व्यक्तिगत कामनाके आंतरिक त्यागसे समता प्राप्त होती है। इससे भगवान्‌के प्रति हमारा पूर्ण समर्पण साधित होता है तथा हमें विभाजक अहंसे मुक्ति पानेमें सहायता मिलती है और यह मुक्ति ही हमें एकत्व प्रदान करती है। परंतु यह एकत्व शक्तिकी सक्रिय अवस्थामें होना चाहिये न कि केवल स्थितिशील शांति या निष्क्रिय आनंदकी अवस्थामें। गीता हमें कर्मोंके और प्रकृतिकी पूर्णवेगमयी शक्तियोंके भीतर भी आत्माकी स्वतंत्रताका आश्वासन देती है, पर केवल तभी यदि हम अपनी समस्त सत्ताकी उस सत्ताके प्रति अधीनता स्वीकार कर लें जो पृथक् और सीमित करनेवाले अहंसे उच्चतर है। यह एक

ऐसी सर्वांगपूर्ण शक्तिमय सक्रियताको प्रस्थापित करती है जो प्रशांत निष्क्रियतापर आधारित हो। इसका रहस्य है--एक ऐसा बृहत्तम कर्म जो अचल शांतिके आधारपर दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित हो अर्थात् परम अंतरीय निश्चल-नीरवताकी एक स्वच्छंद अभिव्यक्ति हो।

यह संसार एक एवं अखंड, नित्य, विश्वातीत और विश्वमय ब्रह्म है जो विभिन्न वस्तुओं और प्राणियोंमें विभिन्न प्रतीत होता है। पर वह केवल प्रतीतिमें ही ऐसा है, क्योंकि वास्तवमें वह सदा सभी पदार्थों और प्राणियोंमें एक तथा 'सम' है और भिन्नता तो केवल ऊपरी वस्तु है। जवतक हम अज्ञानमयी प्रतीतिमें रहते हैं तबतक हम 'अहं' हैं और प्रकृतिके गुणोंके अधीन रहते हैं। बाह्य आकारोंके दास बने हुए, द्वंद्वोंसे बँधे हुए और शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, सौभाग्य-दुर्भाग्य एवं जय-पराजयके बीच ठोकरें खाते हुए हम लाचार मायाके पहियेके लोहमय या स्वर्णलोहमय घेरेपर चक्कर काटते रहते हैं। सबसे अच्छी अवस्थामें भी हमारी स्वतंत्रता अत्यंत तुच्छ और सापेक्ष ही होती है और उसीको हम अज्ञानपूर्वक अपनी स्वतंत्र इच्छा कहते हैं। पर मूलतः वह मिथ्या होती है, क्योंकि प्रकृतिके गुण ही हमारी व्यक्तिगत इच्छामेंसे अपने-आपको व्यक्त करते हैं; प्रकृतिकी शक्ति ही हमें ज्ञानपूर्वक वशमें रखती हुई, पर हमारी समझ और पकड़से बाहर रहकर यह निर्धारित करती है कि हम क्या इच्छा करेंगे और वह इच्छा किस प्रकार करेंगे। हमारा स्वतंत्र अहं नहीं, बल्कि प्रकृति यह चुनाव करती है कि अपने जीवनकी किसी घड़ीमें हम एक युक्तियुक्त संकल्प या विचाररहित आवेगके द्वारा किस पदार्थकी अभिलाषा करेंगे। इसके विपरीत, यदि हम ब्रह्मकी एकीकारक वास्तविक सत्तामें निवास करते हैं तो हम अहंसे ऊपर उठकर विश्वप्रकृतिको लाँघ जाते हैं। तव हम अपनी सच्ची अंतरात्माको पुनः प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा बन जाते हैं। आत्मामें हम प्रकृतिकी प्रेरणासे ऊपर और उसके गुणों एवं शक्तियोंसे उत्कृष्ट होते हैं। अंतरात्मा, मन और हृदयमें पूर्ण समता प्राप्त करके हम अपनी उस सच्ची आत्माको, जो स्वभावसे ही एकत्व-धर्मवाली है, अनुभव कर लेते हैं। हमारी यह सच्ची आत्मा सभी सत्ताओंके साथ एकीभूत है। यह उस सत्ताके साथ भी एकीभूत है जो अपने-आपको इन सव सत्ताओंमें तथा उस सवमें प्रकट करती है जिसे हम देखते और अनुभव करते हैं। यह समता और एकता एक अनिवार्य दोहरी नींव है जो हमें भागवत सत्ता, भागवत चेतना और भागवत कर्मके लिये स्थापित करनी होगी। यदि हम सवके साथ एकाकार नहीं हैं तो

आध्यात्मिक दृष्टिसे हम दिव्य नहीं हैं। सब वस्तुओं, घटनाओं और प्राणियोंके प्रति आत्मिक समता रखे विना हम दूसरोंको आध्यात्मिक दृष्टिसे नहीं देख सकते, न हम उन्हें दिव्य ढंगसे जान सकते हैं और न उनके प्रति दिव्य ढंगसे सहानुभूति ही रख सकते हैं। परा शक्ति एवं एकमेव नित्य और अनंत देव सब पदार्थों और सब प्राणियोंके प्रति 'सम' है, और क्योंकि वह 'सम' है, वह अपने कर्मों और अपनी शक्तिके सत्यके अनुसार और प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणीके सत्यके अनुसार पूर्ण ज्ञानपूर्वक कार्य कर सकता है।

अपिच, मनुष्यको जो सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है वह केवल यही है। यह एक ऐसी स्वतंत्रता है जिसे वह तबतक नहीं प्राप्त कर सकता जबतक वह अपनी मानसिक पृथक्तासे ऊपर नहीं उठता और विश्व-प्रकृतिमें एक चिन्मय आत्मा नहीं बन जाता। भगवान्की इच्छा ही संसारमें एकमात्र स्वतंत्र इच्छा है और इसीको प्रकृति कार्य-रूपमें परिणत करती है; कारण, वह अन्य सभी इच्छाओंकी स्वामिनी और स्रष्ट्री है। मनुष्यकी स्वतंत्र इच्छा एक अर्थमें सच्ची हो सकती है, परंतु प्रकृतिके गुणोंसे संबंध रखनेवाली अन्य सभी चीजोंकी भाँति, यह भी केवल सापेक्ष रूपमें ही सत्य है। मन प्राकृतिक शक्तियोंके भँवरपर सवार होता है, अनेक संभावनाओंके बीच एक स्थितिपर अपनेको संतुलित कर लेता है, एक या दूसरी तरफ झुक जाता है, एक निश्चय कर लेता है और समझता है कि मैंने चुनाव किया है। परंतु यह उस शक्तिको नहीं देखता और न इसे उसका तनिक आभास ही होता है जिसने पीछे छिपे रहकर इसके चुनावका निश्चय किया है। यह उसे देख भी नहीं सकता, क्योंकि वह शक्ति एक ऐसी वस्तु है जो अखंड है और हमारी दृष्टिके लिये निर्विशेप है। मन तो अधिक-से-अधिक इस शक्तिके उन नानाविध और जटिल विशिष्ट निर्धारणोंमेंसे कुछ-एकका पर्याप्त स्पष्टता और सूक्ष्मताके साथ विवेचनमात्र कर सकता है जिसके द्वारा यह शक्ति अपने अप्रमेय प्रयोजनोंको सिद्ध करती है। स्वयं एकांगी होनेसे, मन हमारी सत्ता-रूपी मशीनके एक भागपर सवार हो जाता है और काल एवं परिपार्श्वमें इसकी जो चालक शक्तियाँ हैं उनके नौ-दशमांशसे तथा अपनी गत तैयारी एवं भावी दिशासे अनभिज्ञ ही रहता है। परंतु, क्योंकि यह सवार होता है, यह समझता है कि यह मशीनको चला रहा है। एक दृष्टिसे इसका महत्त्व है : क्योंकि मनकी वह स्पष्ट रुचि जिसे हम अपनी इच्छा कहते हैं और उस रुचिके संबंधमें हमारा वह दृढ़ निश्चय जो हमारे सामने

ऐच्छिक चुनावके रूपमें उपस्थित होता है, विश्व-प्रकृतिके अत्यंत शक्तिशाली निर्धारकोंमेंसे एक है; किंतु यह निश्चय कभी भी स्वतंत्र और सर्वेसर्वा नहीं होता। मानव-इच्छाकी इस क्षुद्र निमित्तमात्रताके पीछे कोई विराट्, शक्तिशाली और नित्य वस्तु है जो उसकी रुचिकी दिशाकी देख-रेख करती है और उसकी इच्छाके किसी विशेष रुखको बल प्रदान करती है। प्रकृतिमें एक अखंड सत्य है जो हमारी वैयक्तिक रुचिसे अधिक महान् है और इस अखंड सत्यमें, या इसके परे और पीछे भी, कोई ऐसी चीज है जो सब परिणामोंको निश्चित करती है। उसकी उपस्थिति और उसका गुप्त ज्ञान प्रकृतिकी क्रियाप्रणालीके अंदर ठीक संबंधों, परिवर्तनशील या स्थिर आवश्यकताओं तथा गतिके अनिवार्य सोपानोंके एक सक्रिय और सहजप्राय बोधको स्थिर रूपसे बनाये रखते हैं। एक निगूढ़ दिव्य इच्छाशक्ति है,—नित्य और अनंत, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्,—जो इन सब प्रत्यक्षतः-अनित्य और सांत, निश्चेतन या अर्धचेतन पदार्थोंकी समष्टिमें तथा इनमेंसे प्रत्येक व्यष्टिमें अपनेको प्रकट करती है। जब गीता कहती है कि सब जीवोंके हृद्देशमें ईश्वर विराजमान है और वह प्राणिमात्रको प्रकृतिकी मायाके द्वारा यंत्रारूढ़की भाँति चला रहा है तो वहाँ उसका अभिप्राय इसी निगूढ़ शक्ति या उपस्थितिसे है।

यह दिव्य इच्छाशक्ति कोई विजातीय शक्ति या उपस्थिति नहीं है। इसका हमसे घनिष्ठ संबंध है और हम स्वयं इसके अंग हैं, क्योंकि यह हमारी अपनी उच्चतम आत्माकी ही चीज है और हमारी आत्मा ही इसे धारण करती है। हाँ, यह हमारी सचेतन मानसिक इच्छाशक्ति नहीं है। प्रत्युत, जिसे हमारी सचेतन इच्छाशक्ति स्वीकार करती है उसे यह प्रायः ही ठुकरा देती है और जिसे हमारी सचेतन इच्छाशक्ति ठुकरा देती है उसे यह प्रायः स्वीकार कर लेती है। कारण, जहाँ यह गुप्त एकमेव इच्छा-शक्ति सबको और प्रत्येक अखंड वस्तुको तथा एक-एक अंशको जानती है वहाँ हमारा स्थूल मन केवल वस्तुओंके एक छोटे-से भागको ही जानता है। हमारी इच्छाशक्ति मनके भीतर सचेतन है और जो कुछ भी यह जानती है विचारद्वारा ही जानती है। दिव्य इच्छाशक्ति हमारे लिये अति-चेतन है, क्योंकि यह मूलतः मनसे परेकी वस्तु है; यह सब कुछ जानती है, क्योंकि यह स्वयं सब कुछ है। हमारी सर्वोच्च आत्मा जो इस वैश्व शक्तिकी स्वामिनी और भर्त्री है हमारा अहं-रूप स्व नहीं है, न ही वह हमारी वैयक्तिक प्रकृति है। वह तो कोई परात्पर तथा विश्वमय वस्तु है जिसकी ये क्षुद्रतर वस्तुएँ फेनराशि और तरल तरंगेंमात्र हैं। यदि

हम अपनी सचेतन इच्छाको अर्पित कर दें और इसे सनातन पुरुषकी इच्छाके साथ एक हो जाने दें, तब और केवल तभी हम सच्चा स्वातंत्र्य प्राप्त कर सकते हैं। भागवत स्वातंत्र्यमें निवास करते हुए हम बंधनोंमें जकड़ी हुई उस तथाकथित स्वतंत्र-इच्छासे तब और नहीं चिमटे रहेंगे जो कठपुतलीके समान चालित स्वतंत्रता होती है तथा जो अज्ञ, मिथ्या एवं सापेक्ष है और अपने ही न्यूनतापूर्ण प्राणिक प्रेरक भावों एवं मानसिक आकारोंकी भ्रांतिसे बद्ध है।

*

एक विभेदको, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है, हमें अपनी चेतनामें दृढ़तया अंकित कर लेनेकी जरूरत है, वह है प्रकृति और पुरुषमें विभेद, यांत्रिक प्रकृति और इसके स्वतंत्र स्वामीमें, ईश्वर या एकमात्र ज्योतिर्मयी भागवती संकल्प-शक्ति और विश्वके अनेक कार्यवाहक गुणों और शक्तियोंमें विभेद।

प्रकृति,—सनातनकी चेतनाशक्तिके रूपमें नहीं जो कि इसका दिव्य सत्य रूप है, बल्कि अपने उस रूपमें जिसमें यह हमें अज्ञानमें प्रतीत होती है,—एक कार्यवाहक शक्ति है, जो यंत्रवत् क्रिया करती है। इसके विषयमें हमें जो अनुभव होते हैं उनके अनुसार यह सचेतन रूपमें बुद्धिशाली नहीं है, यद्यपि इसके सभी काम पूर्ण बुद्धिसे प्रेरित होते हैं। अपने-आप स्वामिनी न होती हुई भी, यह एक ऐसी आत्म-सचेतन शक्ति[1]से पूर्ण है जो अपने अंदर अनंत प्रभुत्वको धारण किये हुए है। इस शक्तिके द्वारा परिचालित होनेके कारण यह सबपर शासन करती है और जिस कार्यको ईश्वर इसके द्वारा करना चाहते हैं उसे यह ठीक-ठीक संपन्न करती है। भोग न करती हुई भी यह भोगी जाती है और सब भोगोंका भार अपने अंदर वहन करती है। प्रक्रिया-शक्तिके रूपमें 'प्रकृति' एक यंत्रवत् कार्य करनेवाली सक्रिय शक्ति है, क्योंकि यह अपनेपर लादी हुई गतिको पूरा करती है। परंतु इसके अंदर वह एकमेव है जो जानता है,—एक सत्ता वहाँ विराज रही है जो इसकी समस्त क्रिया-प्रक्रियासे अभिज्ञ है। प्रकृति अपने साथ संयुक्त या अपने अंदर विराजमान 'पुरुष'का ज्ञान, प्रभुत्व और आनंद धारण करती हुई कार्य करती है; परंतु यह इनमें भाग तभी ले सकती है यदि यह अपने अंदर व्याप्त उस पुरुषके अधीन रहकर उसे प्रतिबिंबित करे। पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है और फिर भी स्थिर तथा निष्क्रिय है; वह

---

[1] यह शक्ति ईश्वरकी चिन्मय दिव्य शक्ति है, परात्पर और विश्वगत जननी है।

प्रकृतिके कार्यको अपनी चेतना और ज्ञानमें धारण करता है और उसका उपभोग करता है। वह प्रकृतिके कार्योंको अनुमति देता है और प्रकृति उससे अनुमत कार्योंको उसकी प्रसन्नताके लिये संपादित करती है। पुरुष अपनी अनुमतिको अपने-आप कार्यान्वित नहीं करता; वह प्रकृतिको उसके कार्यमें आश्रय देता है और जो कुछ वह अपने ज्ञानमें देखता है उसे शक्ति, प्रक्रिया एवं मूर्त्त परिणाममें प्रकट करनेके लिये उसे अनुमति देता है। यह प्रकृति और पुरुषका सांख्यकृत विवेचन है। यद्यपि सारा वास्तविक सत्य यही नहीं है, यद्यपि यह किसी भी प्रकार पुरुष या प्रकृतिका सर्वोच्च सत्य नहीं है फिर भी यह सत्ताके अपरार्धमें एक प्रामाणिक तथा अपरिहार्य अनिवार्य ज्ञान है।

किसी भी पिंडमें विद्यमान व्यष्टिरूप आत्मा या चेतन सत् इस अनुभव-ग्राही पुरुषके साथ या इस क्रियाशील प्रकृतिके साथ तदाकार हो सकता है। यदि वह अपने-आपको प्रकृतिके साथ तदाकार करता है तो वह स्वामी, भोक्ता और ज्ञाता नहीं होता, बल्कि प्रकृतिके गुणों और व्यापारोंको प्रतिबिंबित करता है। अपनी इस तदाकारतासे वह उस दासता और यांत्रिक क्रिया-प्रणालीमें भाग लेता है जो इस प्रकृतिका अपना विशेष धर्म है। यहाँतक कि प्रकृतिमें पूर्णतया लीन होकर यह आत्मा अचेतन या अवचेतन बन जाती है, प्रकृतिके स्थूल रूपोंमें पूर्ण रूपसे प्रसुप्त हो रहती है जैसे मिट्टी और धातुमें, या फिर लगभग प्रसुप्त हो रहती है जैसे उद्भिज-जीवनमें। वहाँ, उस अचेतनामें, यह तमस्‌के अर्थात् अंधता और जड़ताके तत्त्वके, उनकी शक्ति या गुणकी प्रबलताके अधीन होती है। सत्त्व और रज भी वहाँ अवश्य होते हैं, पर वे तमके घने आवरणमें छिपे रहते हैं। देहधारी जीव जब अपनी विशेष प्रकारकी चेतनामें उदित हो रहा होता है, किंतु अभी प्रकृतिमें तमकी अत्यधिक प्रबलताके कारण सच्चे अर्थोंमें चेतन नहीं होता, तब वह उत्तरोत्तर रजस्‌के अधीन होता जाता है। रजस् कामना तथा अंधप्रेरणासे प्रेरित कर्म और आवेशका तत्त्व, शक्ति, गुण या अवस्था है। इस अवस्थामें एक प्रकारकी पाशविक प्रकृति गठित और विकसित होती है जिसकी चेतना संकीर्ण और बुद्धि असंस्कृत होती है तथा जिसके प्राणिक अभ्यास और आवेग राजस-तामसिक होते हैं। महत् अचेतनासे आध्यात्मिक स्तरकी ओर और भी अधिक बाहर आकर देहधारी पुरुष सत्त्वको, अर्थात् प्रकाशके गुणको, उन्मुक्त करता है और एक प्रकारका ज्ञान, स्वामित्व तथा सापेक्ष स्वातंत्र्य प्राप्त करता है और इसके साथ-साथ उसे आंतरिक संतोष और सुखका परिच्छिन्न तथा मर्यादित अनुभव

भी प्राप्त होता है। मनुष्यकी अर्थात् स्थूल देहमें रहनेवाले मनोमय पुरुषकी प्रकृति ऐसी ही होनी चाहिये, परंतु इन कोटि-कोटि देहधारी जीवोंमेंसे कुछ-एकको छोड़कर किसीकी भी प्रकृति ऐसी नहीं होती। साधारणतः उसमें अंध पार्थिव जड़ता और विक्षुब्ध एवं अज्ञ पाशव जीवन-शक्ति इतनी अधिक होती है कि वह प्रकाशमय और आनंदमय आत्मा नहीं वन सकता, वल्कि वह समस्वर संकल्प और ज्ञानसे युक्त मन भी नहीं वन सकता। हम देखते हैं कि स्वतंत्र, स्वामी, ज्ञाता और भोक्ता पुरुषके सच्चे स्वभावकी ओर मनुष्यका आरोहण अभी यहाँ पूर्ण नहीं हुआ है, अभीतक यह विघ्न-वाधा और विफलतासे ही आक्रांत है। कारण, मानवीय और पार्थिव अनुभवमें ये सत्त्व, रज और तम सापेक्ष गुण हैं; इनमेंसे किसीका भी ऐकान्तिक और पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता। सव एक-दूसरेसे मिले हुए हैं और इनमेंसे किसी एकको भी शुद्ध क्रिया कहीं नहीं पायी जाती। इनकी अस्तव्यस्त और अनिश्चित परस्पर-क्रिया ही अहम्मन्य मानव-चेतनाके अनुभवोंको निर्धारित करती है और इस प्रकार वह चेतना प्रकृतिके एक अस्थिर संतुलनके झूलेमें झूलती रहती है।

देहधारी आत्माके प्रकृतिमें लीन होनेका चिह्न यह होता है कि उसकी चेतना अहंके घेरेमें ही सीमित रहती है। इस सीमित चेतनाकी स्पष्ट छाप मन और हृदयकी सतत असमतामें और अनुभवके स्पर्शोंके प्रति उनकी अनेकविध प्रतिक्रियाओंके वीचके अस्तव्यस्त संघर्ष और असामंजस्यमें देखी जा सकती है। मानवीय प्रतिक्रियाएँ लगातार द्वंद्वोंमें चक्कर काटती रहती हैं। द्वंद्व इस कारण पैदा होते हैं कि आत्मा प्रकृतिके अधीन है और प्रभुत्व तथा उपभोगके लिये प्रायः ही एक तीव्र पर ओछा संघर्ष करती रहती है। परंतु वह संघर्ष अधिकांशमें निष्फल जाता है और आत्मा प्रकृतिके प्रलोभक तथा दुःखमय विरोधी द्वंद्वों,—सफलता और विफलता, सौभाग्य और दुर्भाग्य, शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य, हर्ष और शोक तथा सुख और दुःख—के अंतहीन घेरेमें चक्कर काटती रहती है। प्रकृतिके अंदर ग्रस्त रहनेकी इस अवस्थासे जागकर जव यह एकमेव और भूतमात्रके साथ अपनी एकता अनुभव करती है तभी यह इन द्वंद्वोंसे मुक्त होकर कर्त्री जगत्-प्रकृतिसे अपना ठीक संवंध स्थापित कर सकती है। तव यह उसके हीनतर गुणोंके प्रति तटस्थ, उसके द्वंद्वोंके प्रति समचित्त और स्वामित्व तथा स्वातंत्र्यके योग्य हो जाती है। अपनी ही नित्य सत्ताके प्रशांत, प्रगाढ़ एवं अमिश्रित आनंदसे परिपूर्ण होकर यह उच्च सिंहासनाधिरूढ़ ज्ञाता और साक्षीके रूपमें प्रकृतिसे ऊर्ध्वमें आसीन (उदासीन)

रहती है। देहधारी आत्मा अपनी शक्तियोंको कर्ममें प्रकट करना जारी रखती है, किंतु यह अज्ञानमें अब और ग्रस्त नहीं रहती, न ही अपने कर्मोंसे बद्ध होती है। इसके कर्मोंका इसके भीतर अब कोई परिणाम उत्पन्न नहीं होता, बल्कि केवल बाहर प्रकृतिमें ही परिणाम उत्पन्न होता है। प्रकृतिकी संपूर्ण गति इसे ऊपरी सतहपर तरंगोंका उठना और गिरनामात्र प्रतीत होती है। इन तरंगोंसे इसकी अगाध शांति एवं विशाल आनंदमें, इसकी वृहत् विश्वव्यापिनी समता या निःसीम ईश्वर-भावमें किंचित् भी अंतर नहीं पड़ता।[1]

*

हमारे प्रयत्नकी प्रतिज्ञाएँ निम्नलिखित हैं और वे एक ऐसे आदर्शकी ओर इंगित करती हैं जो अधोलिखित सूत्रोंमें या इनके समानार्थक सूत्रोंमें प्रकट किया जा सकता है—

ईश्वरमें निवास करना, अहंमें नहीं। एक वृहत् आधारपर प्रतिष्ठित होकर कार्य करना, क्षुद्र अहम्मन्य चेतनापर प्रतिष्ठित होकर नहीं, बल्कि विश्व-आत्मा और विश्वातीत परम देवकी चेतनापर प्रतिष्ठित होकर कार्य करना।

सभी घटनाओंमें और सभी सत्ताओंके प्रति पूर्णतया सम होना और उन्हें इस रूपमें देखना तथा अनुभव करना कि वे अपने साथ और भगवान्के साथ एक हैं। सभीको अपनेमें और सभीको ईश्वरमें अनुभव करना; ईश्वरको सबमें तथा अपने-आपको सबमें अनुभव करना।

ईश्वरमें निवास करते हुए कर्म करना, अहंमें नहीं। यहाँ सबसे पहली बात यह है कि कर्मका चुनाव व्यक्तिगत आवश्यकताओं और मानदंडोंके विचारसे नहीं, बल्कि ऊर्ध्व-स्थित सजीव और सर्वोच्च सत्यके आदेशके अनुसार करना। इसके बाद, ज्योंही हम आध्यात्मिक चेतनामें काफी हदतक

---

[1] यह आवश्यक नहीं कि कर्मयोगके लिये हमें गीताका संपूर्ण दर्शन निर्विवाद स्वीकार करना चाहिये। हम चाहें तो इसे एक मनोवैज्ञानिक अनुभवका वर्णन मान सकते हैं, जो योगकी व्यावहारिक भित्तिके रूपमें उपयोगी है। इस क्षेत्रमें यह पूर्णतः युक्तियुक्त है और ऊँचे तथा विस्तृत अनुभवसे पूरी तरह संगत भी है। इस कारण मैंने यह उचित समझा है कि इसे यहाँ यथासंभव आधुनिक चिंतनकी भाषामें प्रतिपादित कर दूँ। जो कुछ मनोविज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक वैश्व-सत्ता-विषयक दर्शनसे संबंध रखता है वह सब मैंने छोड़ दिया है।

प्रतिष्ठित हो जायँ, त्योंही अपनी पृथक् इच्छाशक्ति या चेष्टासे कर्म करना छोड़ देना, वरंच अपनेसे अतीत भागवत संकल्पकी प्रेरणा और पथ-प्रदर्शनकी छायामें कर्मको उत्तरोत्तर होने और बढ़ने देना। अंतमें, चरम-फलस्वरूप, उस उच्च अवस्थामें उठ जाना जिसमें हमें भागवत शक्तिके साथ ज्ञान तथा शक्ति, चेतना, कर्म और सत्ताके आनंदमें तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही एक ऐसी प्रवल क्रियाशीलता अनुभव करना जो मर्त्य कामना, प्राणिक अंध-प्रेरणा, आवेग और मायामय मानसिक स्वतंत्र इच्छाके वशीभूत न हो, प्रत्युत अमर आत्म-आनंद और अनंत आत्म-ज्ञानमें ज्योतिष्मान् रूपसे धारित और विकसित हो। यही वह सक्रियता है जो प्राकृतिक मनुष्यको, सचेतन रूपमें, दिव्य आत्मा और सनातन आत्माके अधीन और उसमें निमज्जित कर देनेसे प्रवाहित होती है। आत्मा ही वह सत्ता है जो सदासे इस जगत्-प्रकृतिके परे है और इसे संचालित करती है।

*

परंतु आत्म-साधनाके किन क्रियात्मक उपायोंसे हम यह सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं?

स्पष्ट है कि समस्त अहम्मूलक क्रिया और उसकी नींव अर्थात् अहम्मय चेतनाका वहिष्कार ही हमारी अभीष्ट सिद्धिका उपाय है। और, क्योंकि कर्मयोगके पथमें कर्म ही सवसे पहले खोलने योग्य ग्रंथि है, हमें इसे वहींसे खोलनेका प्रयत्न करना होगा जहां, अर्थात् कामना और अहंभावमें, यह मुख्य रूपसे वँधी हुई है। अन्यथा हम केवल कुछ-एक विखरे धागे ही काटेंगे न कि अपने वंधनका मर्मस्थल। इस अज्ञानमय एवं विभक्त प्रकृतिके प्रति हमारी अधीनताकी यही दो ग्रंथियाँ हैं—कामना और अहंभाव। इन दोमेंसे कामनाकी जन्मभूमि है भाव, संवेदन और अंध-प्रेरणाएँ, वहींसे यह विचारों और इच्छाशक्तिपर अपना प्रभाव डालती है। अहंभाव इन चेष्टाओंमें तो रहता ही है, पर साथ ही वह चिंतनात्मक मन और उसकी इच्छाशक्तिमें भी अपनी गहरी जड़ें फैलाता है और वहीं वह पूर्णतः आत्म-सचेतन भी होता है। भूतकी तरह वसेरा डाले हुई जगद्व्यापिनी अविद्याकी ये ही युगल अंधकारमय शक्तियाँ हैं जिनमें हमें प्रकाश पहुँचाना है और जिनसे हमें छुटकारा प्राप्त करना है।

कर्मके क्षेत्रमें कामना अनेक रूप धारण करती है। उनमें सवसे अधिक प्रवल रूप है अपने कर्मोंके फलके लिये प्राणमय पुरुषकी लालसा

या उत्कण्ठा। जिस फलकी हम लालसा करते हैं वह आंतरिक सुखरूपी पुरस्कार हो सकता है; वह किसी अभिमत विचार या किसी प्रिय संकल्पकी पूर्ति या अहंकारमय भावोंकी तृप्ति, या अपनी उच्चतम आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओंकी सफलताका गौरवरूपी पुरस्कार हो सकता है। अथवा वह एक बाह्य पारितोषिक हो सकता है, अर्थात् एक ऐसा प्रतिफल जो सर्वथा स्थूल हो, जैसे धन, पद, प्रतिष्ठा, विजय, सौभाग्य अथवा प्राणिक या शारीरिक कामनाकी किसी और प्रकारकी तृप्ति। परंतु ये सब समान रूपसे कुछ ऐसे फंदे हैं जिनके द्वारा अहंभाव हमें बाँधता है। सदा ही ये सुख-संतोष हमारे अंदर यह भाव और विचार पैदा करके कि हम स्वामी और स्वतंत्र हैं हमें छला करते हैं, जब कि वास्तवमें अंध 'कामना'की कोई स्थूल या सूक्ष्म, भली या बुरी मूर्त्ति ही--जो जगत्को प्रचालित करती है,--हमें जोतती और चलाती है अथवा हमपर सवार होती और हमें कोड़े लगाती है। इसीलिये गीताने कर्मका जो सबसे पहला नियम बताया है वह है फलकी किसी भी प्रकारकी कामनाके बिना कर्तव्य कर्म करना, अर्थात् निष्काम कर्म करना।

देखनेमें तो यह नियम आसान है, फिर भी इसे एक प्रकारकी पूर्ण सद्हृदयता और स्वतंत्रकारी समग्रताके साथ निभाना कितना कठिन है! अपने कामके अधिक बड़े भागमें यदि हम इस सिद्धांतका प्रयोग करते भी हैं तो बहुत कम, और तब भी प्रायः कामनाके सामान्य नियमको एक प्रकारसे संतुलित करने और इस क्रूर आवेगकी अतिशयित क्रियाको कम करनेके लिये ही करते हैं। अधिक-से-अधिक हम इतनेसे ही संतुष्ट हो जाते हैं कि हम अपने अहंभावको संयत और संशोधित कर लें जिससे वह हमारी नैतिक भावनाको बहुत अधिक ठेस लगाने और दूसरोंको अत्यंत निर्दयतापूर्वक पीड़ा पहुँचानेवाला न रहे। और, अपनी इस आंशिक आत्म-साधनाको हम अनेक नाम और रूप देते हैं; अभ्यासके द्वारा हम कर्तव्य-भावना, दृढ़ सिद्धांत-निष्ठा, वैराग्यपूर्ण सहिष्णुता या धार्मिक समर्पण और ईश्वरेच्छाके प्रति एक शांत या आनंदपूर्ण निर्भरताका स्वभाव बना लेते हैं। परंतु गीताका आशय इन चीजोंसे नहीं है, यद्यपि ये अपने-अपने स्थानमें उपयोगी अवश्य हैं। इसका लक्ष्य है एक चरम-परम, पूर्ण एवं दृढ़-स्थिर अवस्था, एक ऐसी प्रवृत्ति और भावना जो आत्माका संपूर्ण संतुलन ही बदल डालेगी। प्राणिक आवेगका मनद्वारा निग्रह करना नहीं, बल्कि अमर आत्माकी दृढ़ अविचल स्थिति ही इसका नियम है।

इसके लिये वह जिस कसौटीका उल्लेख करती है वह है मन और

हृदयकी पूर्ण समता—सभी परिणामोंके प्रति, सभी प्रतिक्रियाओंके प्रति, सभी घटनाओंके प्रति। यदि सौभाग्य और दुर्भाग्य, यदि मान और अपमान, यदि यश और अपयश, यदि जय और पराजय, यदि प्रिय घटना और अप्रिय घटना आवें और चली जावें, पर हम उनसे चलायमान न हों, इतना ही नहीं, वरन् वे हमें छूतक न सकें और हम भावों, स्नायविक प्रतिक्रियाओं एवं मानसिक दृष्टिमें स्वतंत्र बने रहें, प्रकृतिके किसी भी भागमें जरा-सी भी चंचलता या हलचलके साथ प्रत्युत्तर न दें, तभी समझना चाहिये कि हमें वह पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी है जिसकी ओर गीता निर्देश करती है, अन्यथा नहीं। छोटी-से-छोटी प्रतिक्रिया भी इस बातका प्रमाण होती है कि हमारी साधना अभी अपूर्ण है, हमारी सत्ताका कोई भाग अज्ञान और बंधनको अपना नियम स्वीकार करता है और अभीतक पुरानी प्रकृतिसे चिपटा हुआ है, हमारी आत्म-विजय कुछ ही अंशमें सिद्ध हुई है, यह हमारी प्रकृतिरूपी भूमिकी कुछ लंबाईमें या किसी हिस्सेमें या किसी छोटेसे चप्पेमें अभीतक अपूर्ण या अवास्तविक है। अथच अपूर्णताका वह जरा-सा कंकड़ योगके संपूर्ण भवनको भूमिसात् कर सकता है!

सम आत्म-भावसे मिलती-जुलती और अवस्थाएँ भी होती हैं जिन्हें गीताकी गंभीर और वृहत् आध्यात्मिक समता समझ बैठनेकी भूल हमें नहीं करनी चाहिये। निराशाजनित त्यागकी भी एक समता होती है और अभिमानकी तथा कठोरता एवं तटस्थताकी भी समता होती है। ये सब अपनी प्रकृतिमें अहंभावमय होती हैं। साधना-पथमें ये आया ही करती हैं, किंतु इन्हें त्याग देना होगा अथवा इन्हें वास्तविक शममें रूपांतरित कर देना होगा। इनसे और अधिक ऊँचे स्तरपर तितिक्षावादी (stoic) की समता, धार्मिक-वृत्तिमय त्यागकी या साधु-संतोंकी-सी अनासक्तिकी समता तथा जगत्से किनारा खींचकर उसके कर्मोंसे तटस्थ रहनेवाली आत्माकी समता भी होती हैं। ये भी पर्याप्त नहीं हैं; ये प्रारंभिक प्रवेश-पथ हो सकती हैं, किंतु आत्माके वास्तविक और पूर्ण स्वत:सत् विशाल सम-एकत्वमें हमारे प्रवेशके लिये ये प्रारंभिक आत्म-अवस्थाएँ ही होती हैं अथवा ये अपूर्ण मानसिक तैयारियोंसे अधिक कुछ नहीं होतीं।

यह निश्चित है कि इतने बड़े परिणामपर हम बिना किन्हीं प्रारंभिक अवस्थाओंके तुरंत ही नहीं पहुँच सकते। सबसे पहले हमें संसारके आघातोंको इस प्रकार सहना सीखना होगा कि हमारी सत्ताका केंद्रीय भाग उनसे अछूता और शांत रहे, भले ही हमारा स्थूल मन, हृदय और प्राण खूब जोरसे डगमगा जायँ। अपने जीवनकी चट्टानपर अविचल खड़े रहकर,

हमें अपनी आत्माको विलग कर लेना होगा, ताकि वह हमारी प्रकृतिके इन बाह्य व्यापारोंका पीछेसे निरीक्षण करती रहे या अंदर बहुत गहरे स्थित होकर इनकी पहुँचसे परे रहे। इसके बाद, निर्लिप्त आत्माकी इस शांति और स्थिरताको इसके करणोंतक फैलाकर, शांतिकी किरणोंको प्रकाशमय केंद्रसे अधिक अंधकारमय परिधितक शनैः-शनैः प्रसारित करना संभव हो जायगा। इस प्रक्रियामें हम बहुत-सी गौण अवस्थाओंकी क्षणिक सहायता ले सकते हैं, किसी प्रकारकी तितिक्षाका अभ्यास (stoism), कोई शांतिप्रद दर्शन, किसी प्रकारका धार्मिक भावातिरेक हमें अपने लक्ष्यके किंचित् निकट पहुँचानेमें सहायक हो सकते हैं। अथवा हम अपनी मानसिक प्रकृतिकी कम प्रबल एवं उन्नत किंतु उपयोगी शक्तियोंको भी सहायताके लिये पुकार सकते हैं। परंतु अंतमें हमें इनका त्याग या रूपांतर करके इनके स्थानपर पूर्ण आंतरिक समता और स्वतःसत् शांति, यहाँतक कि, यदि संभव हो तो, अपने सभी अंगोंमें एक अखंड, अक्षय, आत्म-संस्थित और स्वाभाविक आनंद प्राप्त करना होगा।

किंतु तब हम काम करना ही कैसे जारी रख सकेंगे? क्योंकि साधारणतया मानव प्राणी काम इसलिये करता है कि उसे कोई कामना होती है अथवा वह मानसिक, प्राणिक या शारीरिक अभाव या आवश्यकता अनुभव करता है। वह या तो शरीरकी आवश्यकताओंसे परिचालित होता है या धन-संपत्ति एवं मान-प्रतिष्ठाकी तृष्णासे, अथवा मन या हृदयकी व्यक्तिगत संतुष्टिकी लालसा किंवा शक्ति या सुखकी अभिलाषासे। अथवा वह किसी नैतिक आवश्यकताके वशीभूत होकर उसीसे इधर-उधर प्रेरित होता है, या कम-से-कम इस आवश्यकता या कामनासे प्रेरित होता है कि वह अपने विचारों या अपने आदर्शों या अपने संकल्प या अपने दल या अपने देश या अपने देवताओंका संसारमें प्रभुत्व स्थापित करे। यदि इनमेंसे कोई भी कामना अथवा अन्य कोई भी कामना हमारे कार्यकी परिचालिका नहीं होती तो ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त प्रवर्तक कारण या प्रेरकशक्ति ही हटा ली गयी है और तब स्वयं कर्म भी अनिवार्य रूपसे बंद हो जाता है। गीता दिव्य जीवनका अपना तीसरा महान् रहस्य खोलकर इस शंकाका उत्तर देती है। एक अधिकाधिक ईश्वराभिमुख और अंततः ईश्वर-अधिकृत चेतनामें रहते हुए हमें समस्त कर्म करने ही होंगे; हमारे कर्म भगवान्के प्रति यज्ञ-रूप होने चाहियें, और अंतमें तो हमें संपूर्ण सत्ताको,—मन, संकल्प-शक्ति, हृदय, इंद्रिय, प्राण और शरीर, सबको—एकमेवके प्रति समर्पित कर देना चाहिये जिससे कि ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-सेवा ही

हमारे कर्मोंका एकमात्र प्रेरक भाव बन जाय। निःसंदेह, प्रेरक शक्तिका और कर्मोंके स्वरूपतकका यह रूपांतर ही गीताका प्रधान विचार है। कर्म, प्रेम और ज्ञानके गीताकृत अद्वितीय समन्वयका यही आधार है। अंतमें, कामना नहीं, बल्कि सनातनकी प्रत्यक्षतः अनुभूत इच्छा ही हमारे कर्मकी एकमात्र परिचालिका और इसके आरंभका एकमात्र उद्गम रह जाती है।

समता, अपने कर्मोंके फलकी समस्त कामनाका त्याग, अपनी प्रकृति और समष्टि-प्रकृतिके परम प्रभुके प्रति यज्ञ-रूपमें कर्म करना,—यही गीताकी कर्मयोग-प्रणालीमें ईश्वर-प्राप्तिके तीन प्रधान साधन हैं।

चौथा अध्याय

यज्ञ, त्रिदल-पथ और यज्ञके अधीश्वर

यज्ञके विधानका अभिप्राय वह सार्वजनीन दिव्य कर्म है जो इस सृष्टिके आदिमें लोकसंग्रहके प्रतीकके रूपमें प्रकट हुआ था। इसी विधानके आकर्षणसे एक दिव्यीकारक, रक्षक शक्ति इस अहम्मय और विभक्त सृष्टिकी भूलोंको सीमित और संशोधित तथा उन्हें शनैः-शनैः दूर करनेके लिये अवतरित होती है। यह अवतरण, अथवा पुरुष या भागवत आत्माका यह यज्ञ,—जिसके द्वारा वह अपने-आपको शक्ति और जड़प्रकृतिके अधीन कर देता है, ताकि वह इन्हें अनुप्राणित और प्रकाशयुक्त कर सके—निश्चेतना और अविद्याके इस संसारकी रक्षाका बीज है। कारण, गीता कहती है कि "यज्ञको इन प्रजाओंका साथी बनाकर प्रजापतिने इन्हें उत्पन्न किया।"[1] यज्ञके विधानको स्वीकार करना अहंका इस बातको क्रियात्मक रूपसे अंगीकार करना है कि इस संसारमें वह न तो अकेला है और न मुख्य ही है। यह उसका इस बातको मान लेना है कि, इस अत्यंत खंडित सत्तामें भी, उसके परे और पीछे कोई ऐसी वस्तु है जो उसका अपना अहंमय व्यक्तित्व नहीं है, कोई ऐसी वस्तु है जो उससे महत्तर और पूर्णतर है, एक दिव्यतर सर्वमय सत्ता है जो उससे दास्य और सेवाकी माँग करती है। निःसंदेह, विराट् विश्व-शक्ति यज्ञको हमारे ऊपर थोपती है और जहाँ आवश्यकता हो वहाँ वह हमें इसके लिये बाध्य भी करती है। जो इस विधानको सचेतन रूपमें स्वीकार नहीं करते उनसे भी यह यज्ञका भाग ले लेती है—और यह अनिवार्य ही है, क्योंकि यह जगत्का अंतरीय स्वभाव है। हमारे अज्ञान या हमारी मिथ्या अहंमूलक जीवन-दृष्टिसे प्रकृतिके इस शाश्वत आधारभूत सत्यमें कोई अंतर नहीं पड़ सकता। कारण, यह प्रकृतिका एक अंतर्निहित सत्य है कि यह अहं जो अपनेको एक पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ता समझता है और स्वयं अपने लिये जीनेका अपना अधिकार जताता है स्वतंत्र नहीं है और हो भी नहीं सकता, न ही यह दूसरोंसे पृथक् है और न हो ही सकता है। यदि यह चाहे भी,

[1] सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। गीता ३-१०

तो भी यह केवल अपने लिये ही नहीं जी सकता, वल्कि सच पूछो तो सभी अहं एक निगूढ़ एकताके द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। प्रत्येक सत्ता विवश होकर अपने भंडारमेंसे लगातार कुछ-न-कुछ वितरण कर रही है। प्रकृतिसे प्राप्त उसकी मानसिक आयमेंसे या उसकी प्राणिक और शारीरिक संपत्ति, उपलव्धि और निधिमेंसे एक धारा उस सवकी ओर वहती रहती है जो उसके चारों ओर है। और, फिर वह अपनी ऐच्छिक या अनैच्छिक भेंटके वदलेमें अपने परिपार्श्वसे सदैव कुछ-न-कुछ प्राप्त भी करती है। अपने इस आदान-प्रदानसे ही यह अपना विकास संपन्न कर सकती है और साथ ही इससे यह समष्टिको भी सहायता देती है। इस प्रकार प्रारंभमें थोड़ा-थोड़ा और अपूर्ण रूपमें यज्ञ करते हुए दीर्घकालके वाद हम सचेतन रूपसे यज्ञ करना सीख जाते हैं। यहाँतक कि अंतमें हम अपने-आपको तथा उन सव चीजोंको, जिन्हें हम अपनी समझते हैं, प्रेम और भक्तिभावके साथ 'उस'को दे देनेमें आनन्द अनुभव करते हैं, चाहे 'वह' हमें आपाततः अपनेसे भिन्न प्रतीत होता है और निश्चय ही हमारे सीमित व्यक्तित्वोंसे भिन्न है भी। यज्ञ एवं उसका दिव्य प्रतिफल तव हमारी अंतिम पूर्णताका साधन वन जाते हैं जिसे हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; कारण, अव हम इसे अपने अंदर सनातन प्रयोजनकी परिपूर्त्तिका मार्ग समझने लगते हैं।

परंतु वहुधा यज्ञ अचेतन रूपसे, अहंभावपूर्वक और महान् सार्वभौम विधानके सच्चे अर्थको जाने या अंगीकार किये विना किया जाता है। पृथ्वीतलके अधिकांश प्राणी इसे इसी प्रकार करते हैं; और, जव यह इस प्रकार किया जाता है तव व्यक्ति इसके प्राकृतिक अवश्यंभावी लाभकी एक यांत्रिक न्यूनतम मात्रा ही प्राप्त करता है। इसके द्वारा वह धीमे-धीमे और कठिनाईसे प्रगति करता है और वह प्रगति भी अहंकी क्षुद्रता तथा यातनासे सीमित एवं पीड़ित होती है। दिव्य यज्ञका गंभीर आनंद और मंगलमय फल तो तभी उपलव्ध हो सकते हैं जव हृदय, संकल्प और ज्ञानात्मक मन अपने-आपको इस विधानसे संवद्ध करके इसका हर्षपूर्वक अनुसरण करें। इस विधानके संवंधमें मनके ज्ञान तथा हृदयकी प्रसन्नताकी पराकाष्ठा इस अनुभवमें होती है कि हम जो उत्सर्ग करते हैं वह अपनी ही आत्मा और आत्मतत्त्वके तथा सवकी एकमेव आत्मा और आत्मतत्त्वके प्रति ही करते हैं। और, यह वात तव भी सत्य होती है जव कि हम अपनी आत्माहुति परम देवके प्रति नहीं, वल्कि मनुष्यों या क्षुद्रतर शक्तियों और तत्त्वोंके प्रति अर्पित कर रहे होते हैं। याज्ञवल्क्य उपनिषद्में कहते हैं, "पत्नी हमें पत्नीके लिये नहीं, वल्कि आत्माके लिये प्यारी होती है।"

इसे व्यक्तिगत अहंके निम्नतर अर्थमें लिया जाय, तो भी यह एक ऐसा निर्विवाद सत्य है जो अहंमूलक प्रेमके रंजित एवं आवेशयुक्त दावोंके पीछे छिपा रहता है। परंतु उच्चतर अर्थमें यह उस प्रेमका भी आंतरिक आशय है जो अहंभावमय नहीं, बल्कि दिव्य होता है। समस्त सच्चा प्रेम एवं समस्त यज्ञ, वास्तवमें, एक मूलगत अहंभाव और उसकी विभाजनात्मक भ्रांतिका प्रकृतिद्वारा किया गया विरोध है; यह एक आवश्यक प्रथम विभाजनसे एकत्वकी पुनरुपलब्धिकी ओर मुड़नेका उसका प्रयत्न है। प्राणियोंकी समस्त एकता वास्तवमें एक आत्म-गवेषणा है, यह उसके साथ मिलन है जिससे हम पृथक् हो चुके हैं और साथ ही दूसरोंमें अपनी आत्माकी उपलब्धि है।

परंतु, एक दिव्य प्रेम और एकत्व ही उस वस्तुको प्रकाशमें अधिकृत कर सकते हैं जिसे इन चीजोंके मानवीय रूप अंधकारमें खोज रहे हैं। कारण, सच्चा एकत्व केवल उस प्रकारका संगठन और राशिकरण ही नहीं होता जिस प्रकारका समान हितवाले जीवनके द्वारा जुड़े हुए भौतिक कोषाणुओंका होता है, न यह भावोंका ज्ञानमूलक सामंजस्य किंवा सहानुभूति, सामाजिकता या निकट संसर्ग ही होता है। जो हमसे प्रकृतिजनित भेदोंके कारण अलग हो गये हैं उनसे हम वास्तवमें एकीभूत केवल तभी हो सकते हैं जब हम भेदको मिटाकर अपनेको उस वस्तुमें प्राप्त कर लें जो हमें 'अपना-आप' नहीं प्रतीत होती। संगठन प्राणिक और भौतिक एकता है; इसका यज्ञ पारस्परिक सहायता और सुविधाओंका यज्ञ है। निकटता, सहानुभूति और सामाजिकता, मानसिक, नैतिक और भावुक एकताको जन्म देती है; इनका यज्ञ पारस्परिक सहायता और पारस्परिक संतुष्टिका यज्ञ है। परंतु सच्ची एकता तो केवल आध्यात्मिक एकता ही होती है; इसका यज्ञ पारस्परिक आत्मदान और हमारी आंतरिक सत्ताओंका परस्पर मिलन होता है। यज्ञका विधान विश्व-प्रकृतिमें इस पूर्ण और निःशेष आत्मदानकी पराकाष्ठाकी ओर ही गति करता है, यह इस चेतनाको जागृत करता है कि यजनकर्तामें और यज्ञके ध्येयमें एक ही सार्वभौम आत्मा है। यज्ञकी यह पराकाष्ठा मानवीय प्रेम एवं भक्तिकी भी सर्वोच्च अवस्था होती है जब कि वह दिव्य बननेके लिये प्रयत्न करती है। कारण, प्रेमकी सबसे ऊँची चोटी भी पूर्ण पारस्परिक आत्मदानके स्वर्गकी ओर इंगित करती है, इसका सर्वोच्च शिखर भी दो आत्माओंका उल्लासपूर्वक घुलमिल जाना है।

विश्वव्यापी विधानका यह गंभीरतर विचार गीताकी कर्म-संबंधी शिक्षाका

मर्म है; यज्ञके द्वारा सर्वोच्च देवके साथ आध्यात्मिक मिलन और सनातन देवके प्रति निःशेष आत्मदान इसके सिद्धांतका सार है। यज्ञके विषयमें एक असंस्कृत विचार यह है कि यह कष्टमय आत्मबलिदान, कठोर आत्म-पीड़न तथा कृच्छ्र आत्मोच्छेदका कार्य है। इस प्रकारका यज्ञ आत्म-पंगुकरण और आत्म-यातनाकी सीमातक भी पहुँच सकता है। ये चीजें मनुष्यके अपने प्रकृतिगत 'अहं'को अतिक्रांत करनेके कठिन प्रयासमें कुछ समयके लिये आवश्यक हो सकती हैं। यदि मनुष्यकी प्रकृतिमें अहंभाव उग्र और आग्रहपूर्ण हो तो कभी-कभी एक तदनुरूप प्रबल आंतरिक अवदमन और उसीके तुल्य उग्रताके द्वारा उसका मुकाबला करना ही होता है। परंतु गीता अपने प्रति किसी मात्रामें भी अधिक उग्रताके प्रयोगको मना करती है। क्योंकि अंतःस्थित आत्मा वास्तवमें विकसित हो रहा परमेश्वर ही है, वह कृष्ण है, वह भगवान् है। उसे उस प्रकार पीड़ा और यंत्रणा नहीं पहुँचानी है जिस प्रकार संसारके असुर उसे पीड़ा और यंत्रणा पहुँचाते हैं, बल्कि उसे उत्तरोत्तर संवर्धित, पालित-पोषित और दिव्य प्रकाश, बल, हर्ष और विशालताकी ओर ज्वलंत रूपसे उद्घाटित करना है। अपनी आत्माको नहीं, बल्कि आत्माके आंतरिक रिपुओंके दलको हमें निरुत्साहित और निष्कासित करना है, इन्हें आत्मोन्नतिकी वेदीपर बलि चढ़ा देना है। निर्दयतापूर्वक इन सबका उच्छेद किया जा सकता है। इनके नाम हैं,— काम, क्रोध, असमता, लोभ, बाह्य सुख-दुःखोंके प्रति मोह और बलात् आक्रमण करनेवाले दैत्योंका सैन्यदल जो आत्माकी भ्रांतियों और दुःखोंके मूल कारण हैं। इन्हें अपने अंग नहीं, बल्कि अपनी आत्माकी वास्तविक और दिव्य प्रकृतिपर अनधिकार आक्रमण करनेवाले और उसे विकृत करने-वाले समझना चाहिये; बलि शब्दके कठोरतर अर्थके अनुसार इनकी बलि चढ़ा देनी होगी, भले ही ये जाते समय अपनी प्रतिच्छायाद्वारा जिज्ञासुकी चेतनापर कैसा भी दुःख क्यों न डाल जायँ।

परंतु यज्ञका वास्तविक सार बलिदान नहीं, आत्मार्पण है। इसका उद्देश्य आत्मोच्छेद नहीं आत्म-परिपूर्णता है। इसकी विधि आत्म-दमन नहीं, महत्तर जीवन है, आत्म-पंगूकरण नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक मानवीय अंगोंका दिव्य अंगोंमें रूपांतर है, आत्म-यंत्रणा नहीं, वरन् क्षुद्रतर सुखसे महत्तर आनंदकी ओर प्रयाण है। केवल एक ही चीज है जो उपरितलकी प्रकृतिके अपरिपक्व या कलुषित भागके लिये प्रारंभमें दुःखदायी होती है। यह एक अनिवार्य अनुशासन है जिसकी उससे माँग की जाती है, एक ऐसा परित्याग है जो अपूर्ण अहंके विलयके लिये आवश्यक है। परंतु इसके

बदलेमें उसे शीघ्र ही एक अपरिमित फल मिल सकता है, यह दूसरोंमें, सभी वस्तुओंमें, विश्वव्यापी एकतामें, विश्वातीत आत्मा एवं आत्म-तत्त्वकी स्वतंत्रतामें और भगवान्‌के स्पर्शके हर्षोन्मादमें एक वास्तविक महत्तर या चरम पूर्णता प्राप्त कर सकती है। हमारा यज्ञ कोई ऐसा दान नहीं है जिसके बदले दूसरी ओरसे कोई प्रतिदान या फलप्रद स्वीकृति प्राप्त न हो। यह तो हमारी सनातन आत्मा और हमारी शरीरधारी आत्मा एवं सचेतन प्रकृतिका पारस्परिक आदान-प्रदान है। क्योंकि, यद्यपि हम किसी भी प्रतिफलकी माँग नहीं करते, तथापि हमारे अंदर गहराईमें यह ज्ञान रहता ही है कि एक अद्‌भुत प्रतिफलकी प्राप्ति अवश्यंभावी है। आत्मा जानती है कि वह अपने-आपको भगवान्‌पर वृथा ही न्योछावर नहीं करती। कुछ भी याचना न करती हुई भी वह दिव्य शक्ति और उपस्थितिकी अनंत संपदाओंको प्राप्त करती है।

अंतमें हमें यज्ञके पात्र (यजनीय) और यज्ञकी विधिपर विचार करना है। यज्ञ अदिव्य शक्तियोंको अर्पण किया जा सकता है अथवा यह दिव्य शक्तियोंको भी अर्पण किया जा सकता है। यह विराट् विश्वमय देवको अर्पण किया जा सकता है अथवा यह विश्वातीत परम देवको भी अर्पण किया जा सकता है। जो अर्घ्य चढ़ाया जाता है उसका कोई भी रूप हो सकता है—पत्र-पुष्प-फल-तोय या अन्न-धान्यका उत्सर्ग, यहाँतक कि उस सबका निवेदन जो कुछ कि हमारे पास है और उस सबका अर्पण जो कुछ कि हम हैं। पात्र और हवि चाहे कोई भी हो, पर जो हविको ग्रहण करता और स्वीकार करता है वह परात्पर और विश्वव्यापी सनातन देव ही होता है, भले ही तात्कालिक पात्र उसे अस्वीकार कर दे या उसकी ओर उपेक्षा दिखाये। परात्पर देव जो विश्वसे अतीत है, यहाँ भी, प्रच्छन्न रूपमें ही सही, हममें, जगत्‌में और इसकी घटनाओंमें विद्यमान है; हमारे निखिल कर्मोंके सर्वज्ञ द्रष्टा और ग्रहीता तथा उनके गुप्त स्वामीके रूपमें वह यहाँ उपस्थित है। एकमेव देव ही हमारे सब कार्यों और प्रयत्नों, पापों और स्खलनों तथा दुःखों और संघर्षोंका अंतिम परिणाम निर्धारित करता है, चाहे हम इस बातके प्रति सचेतन हों या अचेतन, चाहे हम इसे जानते एवं प्रत्यक्ष अनुभव करते हों अथवा न जानते हों और न अनुभव करते हों। सब वस्तुएँ उसके अगणित रूपोंमें उसीकी ओर प्रेरित होती और उन रूपोंके द्वारा उसी एक सर्वव्यापक सत्ताके प्रति अर्पित होती हैं। चाहे जिस भी रूपमें और चाहे जिस भी भावनाके साथ हम उसके पास पहुँचें उसी रूपमें और उसी भावनाके साथ वह हमारे यज्ञको ग्रहण करता है।

कर्मोंके यज्ञका फल भी कर्म और उसके प्रयोजनके अनुसार एवं उस प्रयोजनकी मूल भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। परंतु (आत्मदानके सिवा) अन्य सभी यज्ञ एकांगी, अहंभावमय, मिश्रित, कालावच्छिन्न तथा अपूर्ण होते हैं,—ऊँची-से-ऊँची शक्तियों और तत्त्वोंके प्रति अर्पित यज्ञोंका भी ऐसा ही स्वरूप होता है; उनका फल भी आंशिक, सीमित, कालावच्छिन्न तथा अपनी प्रतिक्रियाओंमें मिश्रित होता है और उससे केवल एक तुच्छ या अवांतर प्रयोजन ही सिद्ध हो सकता है। पूर्ण रूपसे स्वीकार्य यज्ञ तो केवल चरम और परम ऐकांतिक आत्म-दान ही होता है अर्थात् एक ऐसा समर्पण होता है जो एकमेव देवके प्रति उसकी प्रत्यक्ष उपस्थितिमें, भक्ति और ज्ञानके साथ, स्वेच्छापूर्वक और निःसंकोच किया जाता है, उस एकमेव देवके प्रति जो एक साथ ही हमारी अंतर्यामी आत्मा एवं चतुर्दिग्व्यापी उपादानभूत विश्वात्मा है तथा अभिव्यक्तिमात्रसे परे परम सद्वस्तु है और गुप्त रूपसे एक साथ ये सभी चीजें है, जो सर्वत्र निगूढ़ अंतर्यामी परात्परता है। जो आत्मा अपने-आपको पूर्ण रूपसे ईश्वरको दे देती है, उसे ईश्वर भी अपने-आपको पूर्ण रूपसे दे देता है। केवल वही जो अपनी संपूर्ण प्रकृतिको अर्पित कर देता है आत्माको प्राप्त करता है। केवल वही जो प्रत्येक वस्तु दे सकता है सर्वत्र विश्वमय भगवान्‌का रसास्वादन कर सकता है। केवल एक परम आत्म-उत्सर्ग ही परात्पर देवतक पहुँच पाता है। जो कुछ भी हम हैं उस सबको यज्ञद्वारा ऊपर उठा ले जानेसे ही हम सर्वोच्च देवको साकार रूपमें प्रकट करने और यहाँ परात्पर आत्माकी अंतर्यामी चेतनामें निवास करनेमें समर्थ हो सकते हैं।

*

जो माँग हमसे की जाती है वह संक्षेपमें यही है कि हम अपने संपूर्ण जीवनको एक सचेतन यज्ञका रूप दे दें। हमें अपनी सत्ताके प्रत्येक पल और प्रत्येक गतिको सनातन देवके प्रति एक सतत और भक्तियुक्त आत्मदानमें परिणत करना होगा। अपने सब कर्मोंको, छोटे-से-छोटे और अत्यंत साधारण एवं तुच्छ कर्मोंको तथा बड़े-से-बड़े और अत्यंत असाधारण एवं श्रेष्ठ कर्मोंको, सभीको एक समान, ईश्वरार्पण-भावसे करना होगा। हमारी व्यष्टिभावापन्न प्रकृतिको एक ऐसी बाह्य तथा आंतर क्रियाकी अखण्ड चेतनामें निवास करना होगा जो हमसे परेकी और अहंसे महान् किसी वस्तुके प्रति निवेदित हो। यह कोई महत्वकी बात नहीं कि हवि किस वस्तुकी है और उसे हम किसकी भेंट चढ़ाते हैं, पर भेंट करते समय ऐसी चेतना

होनी चाहिये कि सब सत्ताओंमें विद्यमान एकमेव दिव्य परम सत्ताको ही हम यह वस्तु भेंट कर रहे हैं। हमारे अत्यंत साधारण और अति स्थूल भौतिक कार्योंको भी ऐसा उदात्त रूप धारण करना होगा। जब हम भोजन करें, हमें इस रूपमें सचेतन होना चाहिये कि हम अपना भोजन अपने अंदर विराजमान उस दिव्य उपस्थितिको दे रहे हैं। अवश्य ही इसे मंदिरमें एक पवित्र आहुति होना चाहिये और केवल शारीरिक आवश्यकता या शारीरिक भोगका भाव हमसे दूर हट जाना चाहिये। किसी महान् प्रयासमें, किसी ऊँची साधनामें अथवा किसी कठिन या उदात्त पुरुषार्थमें—चाहे हम उसका बीड़ा अपने लिये उठावें या दूसरोंके लिये या जातिके लिये,—यह अब संभव नहीं होना चाहिये कि हम जाति-संबंधी, अपने-आप-संबंधी या दूसरों-संबंधी धारणामें ही आबद्ध हो जायँ। जो काम हम कर रहे हैं वह हमें सचेतन भावसे कर्मोंके यज्ञके रूपमें अर्पित करना होगा, पर अपने-आपको, दूसरोंको या जातिको नहीं, बल्कि इनके द्वारा या सीधे ही एकमेव देवाधिदेवको अर्पित करना होगा; जो अंतर्वासी भगवान् इन आकारोंके पीछे छिपा हुआ था उसे अब और अधिक हमसे छिपा नहीं रहना चाहिये, बल्कि हमारी आत्मा, हमारे मन और हमारी इंद्रियोंके समक्ष सदा उपस्थित रहना चाहिये। अपने कर्मोंकी प्रक्रियाएँ और परिणाम हमें उस एकमेवके हाथोंमें सौंप देने चाहियें, इस भावसे कि वह उपस्थिति अनंत और परमोच्च है और वही हमारे प्रयत्न तथा हमारी अभीप्साको संभव बनाती है। उसीकी सत्तामें सब कुछ घटित होता है; उसीके लिये प्रकृति हमसे समस्त प्रयत्न और अभीप्सा करवाती है और उस सबको फिर उसीकी वेदीपर अर्पित कर देती है। जिन कार्योंमें अति स्पष्ट रूपसे प्रकृति स्वयं ही कर्त्री होती है और हम उसकी क्रियाके साक्षी, धारक और सहायकमात्र होते हैं उनमें भी हमें कर्म और उसके दिव्य स्वामीका ऐसा ही अखंड स्मरण और स्थिर ज्ञान रहना चाहिये। हमारे अंदर हमारे श्वास-प्रश्वास और हमारे हृदयकी धड़कनतकको भी सचेतन बनाया जा सकता है और बनाना होगा ही। उन्हें विश्वव्यापी यज्ञके जीवित-जागृत लय-तालके रूपमें अनुभव करना होगा।

स्पष्ट है कि इस प्रकारके विचार और इसके प्रबल अभ्यासमें तीन परिणाम अंतर्निहित हैं जो हमारे आध्यात्मिक आदर्शके लिये केंद्रीय महत्व रखते हैं। सर्वप्रथम यह प्रत्यक्ष है कि यद्यपि ऐसा अभ्यास भक्तिके बिना भी प्रारंभ किया जा सकता है तथापि वह संभवनीय उच्चतम भक्तिकी ओर सीधे और अनिवार्य तौरपर ले जायगा, क्योंकि यह स्वभावतः ही

गंभीर होकर एक कल्पनीय पूर्णतम आराधना एवं अत्यंत गंभीर ईश्वर-प्रेममें परिणत हो जायगा। इसके साथ-साथ हमें सब वस्तुओंमें भगवान्का अधिकाधिक अनुभव भी अवश्य प्राप्त होगा, अपने समस्त विचार, इच्छा-शक्ति एवं कर्ममें तथा अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें हम भगवान्के साथ उत्तरोत्तर गहरा अंतर्मिलन लाभ करेंगे और अधिकाधिक भाव-विभोर होकर अपनी संपूर्ण सत्ता भगवान्को निवेदित कर देंगे। वस्तुतः पूर्ण और निरपेक्ष भक्तिका असली सार भी कर्मयोगके इन फलितार्थोंके अंतर्गत हो जाता है। जो जिज्ञासु इन्हें जीवंत-जाग्रत् रूपमें चरितार्थ करता है वह आत्म-निष्ठताकी असली भावनाकी एक स्थिर और प्रभावशाली प्रति-मूर्त्तिका अपनेमें निरंतर निर्माण करता है, और यह अनिवार्य ही है कि इसमेंसे फिर उस सर्वोच्च देवकी अत्यंत मग्न करनेवाली पूजाका जन्म हो जिसे यह सेवा अर्पित की जाती है। समर्पित कर्मी जिस दिव्य उपस्थितिके साथ उत्तरोत्तर घनिष्ठ समीपता अनुभव करता है उसके प्रति उसमें अनन्य प्रेम क्रमशः प्रवल होता जाता है। इसके साथ ही एक सार्वभौम प्रेम भी पैदा होता है या वह इस अनन्य प्रेमके अंदर निहित रहता है। यह कोई भेदमूलक, क्षणिक, चंचल एवं लोलुप भाव नहीं होता, वल्कि एक सुस्थिर निःस्वार्थ प्रेम, एकत्वका एक गंभीरतर स्पंदन होता है और सभी सत्ताओं, जीवित गोचर पदार्थों एवं प्राणियोंके लिये, जो भगवान्के वास-स्थान हैं, समान रूपसे उत्पन्न होता है। सभीमें जिज्ञासु अपने एकमात्र सेव्य और आराध्य देवसे मिलन अनुभव करने लगता है। कर्मोंका मार्ग यज्ञके इस पथसे चलकर भक्तिके मार्गसे जा मिलता है। यह स्वयं एक परिपूर्ण, तन्मयकारी और सर्वांगीण भक्ति हो सकता है, एक ऐसी गहरी-से-गहरी भक्ति हो सकता है जिसे हृदयकी उमंग पाना चाह सकती है अथवा मनका प्रवल भाव कल्पनामें ला सकता है।

और फिर, इस योगका अभ्यास एकमात्र केंद्रीय मोक्षदायक ज्ञानके सतत आंतरिक स्मरणकी अपेक्षा रखता है। उस ज्ञानको निरंतर सक्रिय ढंगसे कर्मोंके रूपमें वाहर उँड़ेलनेसे इस स्मरणको उद्दीप्त करनेमें सहायता मिलती है। सवमें एक ही आत्मा है, एकमेव भगवान् ही सव कुछ है; सव भगवान्में हैं, सव भगवान् हैं और विश्वमें भगवान्के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—यह विचार या यह श्रद्धा तवतक कर्मीकी चेतनाकी संपूर्ण पीठिका रहती है, जवतक कि यह उसकी चेतनाका सार-सर्वस्व ही नहीं वन जाती। इस प्रकारके स्मरणको अर्थात् अपने-आपको क्रियाशील वनानेवाले इस प्रकारके ध्यानको उस 'तत्'के—जिसका हम इतने शक्ति-

शाली रूपसे स्मरण करते हैं अथवा इतने अनवरत रूपसे ध्यान करते हैं,— प्रगाढ़ और निर्बाध संदर्शन तथा सजीव और सर्वस्पर्शी ज्ञानमें बदल जाना चाहिये और निश्चय ही अंतमें यह इसमें बदल भी जाता है। क्योंकि इससे बाध्य होकर हम प्रतिक्षण समस्त सत्ता, संकल्प और कर्मके उद्गमके सामने निरंतर अपनी जिज्ञासा निवेदित करते हैं और इन सब विभिन्न आकारों तथा प्रतीतियोंका हम उस 'तत्'में, जो इनका कर्त्ता और धर्त्ता है, आलिङ्गन करते हैं और साथ-ही-साथ इन्हें अतिक्रांत भी कर जाते हैं। यह मार्ग अपने लक्ष्यपर तबतक नहीं पहुँच सकता जबतक कि यह सर्वत्र एक विश्वव्यापी आत्माकी कृतियोंको स्पष्ट एवं सजीव रूपमें भौतिक रूपमें देखनेके समान ही प्रत्यक्ष तौरपर, नहीं देख लेता। अपने शिखरपर यह उस अवस्थातक ऊँचा उठ जाता है जहाँ हम नित्य-निरंतर अतिमानसिक और परात्पर भगवान्‌की उपस्थितिमें ही रहते-सहते, सोचते-विचारते और संकल्प तथा कर्म करते हैं। जो कुछ हम देखते और सुनते हैं, जो कुछ भी हम छूते और अनुभव करते हैं और जिस-किसी भी चीजके प्रति हम सचेतन होते हैं उस सबको हमें उसी वस्तुके रूपमें जानना और अनुभव करना होगा जिसकी हम पूजा और सेवा करते हैं; सभीको भगवान्‌की प्रतिमामें परिणत करना होगा, सभीको उसके देवत्वका निवासधाम अनुभव करना होगा तथा नित्य सर्वव्यापकतासे आच्छादित करना होगा। बहुत पहले नहीं तो अपनी समाप्तिके समय यह कर्ममार्ग, भागवत उपस्थिति और संकल्प एवं बलके साथ अंतर्मिलन होनेपर, एक ज्ञानमार्गमें बदल जाता है। वह ज्ञानमार्ग ऐसे किसी भी मार्गसे अधिक पूर्ण एवं सर्वांगीण होता है जिसे कोरी मानवी मति रच सकती या बुद्धिकी खोज उपलब्ध कर सकती है।

अंतमें, इस यज्ञ-रूपी योगका अभ्यास हमें इस बातके लिये बाध्य करता है कि हम अपने संकल्प, मन और कर्ममेंसे अहम्भावके समस्त आंतरिक अवलंबनोंका त्याग कर दें और अपनी प्रकृतिमेंसे इसके बीज, इसकी उपस्थिति एवं इसके प्रभावको निकाल फेंकें। सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करना होगा; सब कुछ भगवान्‌को लक्ष्य करके ही करना होगा। हमें अपने लिये पृथक् सत्ताके रूपमें कुछ भी नहीं करना होगा, दूसरोंके लिये भी, चाहे वे पड़ोसी, मित्र और परिजन हों, अथवा देश या मानवजाति या अन्य प्राणी हों, केवल इस नातेसे कुछ नहीं करना होगा कि वे हमारे निजी जीवन, विचार और भावधारासे संबद्ध हैं, न इस नातेसे ही कुछ करना होगा कि हमारा अहं उनकी भलाईमें अपेक्षाकृत अधिक रुचि रखता

है। कर्म तथा विचारके इस दृष्टिकोणसे सभी काम और समस्त जीवन भगवान्‌की अपनी विराट् वैश्व सत्ताके निःसीम मंदिरमें उसकी दैनिक सक्रिय आराधना और सेवा ही बन जाते हैं। जीवन व्यक्तिमें सनातन देवका उत्तरोत्तर एक ऐसा यज्ञ बनता जाता है जो अनवरत एक नित्य परात्परताके प्रति स्वयमेव अर्पित होता रहता है। यह सनातन विश्वगत आत्माके क्षेत्रकी विशाल यज्ञीय भूमिमें अर्पित किया जाता है और नित्य शक्ति या सर्वव्यापिनी माता ही स्वयं इसे अर्पित करती है। अतएव, यह मार्ग कर्मोंद्वारा और कर्मगत भाव तथा ज्ञानद्वारा मिलन एवं अंतःसंभाषण प्राप्त करनेका मार्ग है, और यह वैसा ही पूर्ण और सर्वांगीण है जैसे कि हमारी ईश्वराभिमुख इच्छाशक्ति आशा कर सकती है अथवा जैसे कि हमारी आत्म-शक्ति कार्यान्वित कर सकती है।

सर्वांगीण और चरम-परम कर्मयोगकी समस्त शक्ति इस मार्गमें विद्यमान है। साथ ही, दिव्य आत्मा और स्वामीके प्रति अपने यज्ञ और आत्मोत्सर्गके विधानके कारण, यह प्रेममार्ग और ज्ञानमार्ग दोनोंकी संपूर्ण शक्तिसे भी संपन्न है। इसके अंतमें ये तीनों दिव्य शक्तियाँ एक-दूसरेसे घुल-मिलकर और एकीभूत, परिपूरित एवं सर्वगुण-संपन्न होकर एक साथ काम करती हैं।

भगवान् या सनातन पुरुष हमारे कर्मोंके यज्ञका अधीश्वर है और अपनी संपूर्ण सत्ता एवं चेतनामें तथा इसके अभिव्यक्तिक्षम करणोंमें उसके साथ मिलन ही यज्ञका एकमात्र लक्ष्य है। अतएव, कर्मोंके यज्ञकी क्रमिक प्रगतिकी नाप दो प्रकारसे करनी होगी——प्रथम, हमारी प्रकृतिमें किसी ऐसी वस्तुके विकासके द्वारा जो हमें भागवत प्रकृतिकी ओर अधिक निकट ले जाती है, और दूसरे, भगवान्‌के अर्थात् उसकी उपस्थितिके अनुभवके द्वारा, हमारे प्रति उसकी अभिव्यक्तिके तथा उस 'उपस्थिति'के साथ अधिकाधिक सान्निध्य एवं मिलनके अनुभवके द्वारा। परंतु भगवान् तत्त्वतः अनंत है और उसकी अभिव्यक्ति भी बहुल रूपसे अनंत है। यदि ऐसी ही बात है तो अपनी सत्ता और प्रकृतिमें सच्ची सर्वांगीण पूर्णता हम किसी एक ही प्रकारके अनुभवसे नहीं प्राप्त कर सकते; इसके लिये तो दिव्य अनुभवकी अनेक विभिन्न लड़ियोंको मिलाना आवश्यक होगा। न ही हम इसे तादात्म्यकी किसी एक ही दिशाका एकांगी अनुसरण करके और उसे उसकी चरम सीमातक पहुँचाकर प्राप्त कर सकते हैं; बल्कि इसके लिये तो हमें अनंतके अनेक पार्श्वोंमें सामंजस्य साधना होगा।' हमारी प्रकृतिके पूर्ण रूपांतरके लिये यह अनिवार्य है कि हमारी चेतना सर्वांगीण हो और साथ ही बहुरूप एवं शक्तिमय अनुभवसे संपन्न भी हो।

इस अनंतके किसी भी समग्र ज्ञान या वहुमुख अनुभवके लिये एक आधारभूत अनुभूति परमावश्यक है, वह यह कि हम भगवान्‌को एक ऐसी सारभूत सत्ता और सत्य अनुभव करें जिसके स्वरूपमें आकृतियों या गोचर पदार्थोंके कारण कुछ अंतर नहीं पड़ता। अन्यथा, संभव है कि हम आकृतियोंके जालमें ही फँसे रह जायँ अथवा विश्वगत या विशेष रूपोंके विशृंखल वाहुल्यमें अव्यवस्थित रूपसे भटकते फिरें। और, यदि हम इस गड़बड़से वच भी जायँ तो इसके वदले हमें किसी मानसिक सूत्रसे या किसी सीमित व्यक्तिगत अनुभवके घेरेमें आवद्ध होना पड़ेगा। एकमात्र सुनिश्चित और सर्वसमन्वयात्मक सत्य, जो विश्वकी वास्तविक भित्ति है, यह है कि जीवन एक अज आत्मा तथा आत्मसत्ताकी अभिव्यक्ति है, और जीवनके गुप्त रहस्यकी कुंजी इस आत्माका अपनी रची हुई सत्ताओंसे सच्चा संवंध है। इस सव जीवनके पीछे सनातन पुरुषकी एक ऐसी दृष्टि है जो अपने असंख्य भूतभावोंको देख रही है; इसमें सव ओर तथा सभी जगह एक अव्यक्त कालातीत सनातन पुरुष कालगत अभिव्यक्तिके वाहर और भीतर ओत-प्रोत है। परंतु यदि यह ज्ञान केवल एक ऐसा वौद्धिक तथा दार्शनिक विचारमात्र हो जिसमें न कोई जीवन हो और न जिसका कोई फल ही होता हो, तो योगके लिये यह किसी कामका नहीं; कारण, कोई भी निरी मानसिक उपलव्धि जिज्ञासुके लिये पर्याप्त नहीं हो सकती। योग जिसकी खोज करता है वह केवल विचार या मनका सत्य नहीं, वरंच एक सजीव और अभिव्यंजक अध्यात्म-अनुभवका सक्रिय सत्य है। एक सच्ची अनंत उपस्थितिका सतत अंतर्वासी और सर्वव्यापी सान्निध्य, जीवंत वोध, घनिष्ठ संवेदन तथा समागम और प्रत्यक्ष अनुभव एवं संस्पर्श हमारे भीतर सदा-सर्वदा और सर्वत्र जागृत रहना चाहिये। वह उपस्थिति हमारे संग एक ऐसी सजीव और सर्वव्यापक सद्वस्तुके रूपमें रहनी चाहिये जिसमें हम और सभी पदार्थ निवास करते, चलते-फिरते और काम-काज करते हैं। उसे हमें हर समय और हर जगह मूर्त्त, गोचर एवं घटघटवासी अनुभव करना होगा। हमें उसके प्रत्यक्ष दर्शन इस रूपमें करने होंगे कि वह सव पदार्थोंकी सच्ची आत्मा है, उसे इस रूपमें स्पर्श करना होगा कि वह सवका अविनाशी सार है, उससे इस रूपमें घनिष्ठ मिलन लाभ करना होगा कि वह सवकी अंतरतम आत्मा है। यहाँ सभी सत्ताओंमें इस आत्मा और आत्म-तत्त्वको मानसिक विचारद्वारा ग्रहण करना ही नहीं, वल्कि इसे देखना, अनुभव करना, इंद्रियोंद्वारा जानना तथा प्रत्येक प्रकारसे इसका संस्पर्श प्राप्त करना और ऐसे ही सुस्पष्ट रूपसे सभी सत्ताओंको इस आत्मा और आत्मतत्त्वमें

अनुभव करना—यह एक आधारभूत अनुभव है जिसके चारों ओर अन्य समस्त ज्ञानको केंद्रित होना होगा।

वस्तुओंकी यह अनंत और नित्य आत्मा सर्वव्यापक सद्वस्तु है, सर्वत्र विद्यमान एक ही सत्ता है; यह एकमेवाद्वितीय एकीकारक उपस्थिति है और भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न नहीं है। इस विश्वमें प्रत्येक आत्मा या प्रत्येक दृश्य पदार्थके भीतर हम उसके परिपूर्ण स्वरूपका साक्षात्कार, संदर्शन या अनुभव कर सकते हैं। कारण, इसकी अनंतता एक निरी देश और कालकी असीमता या अनंतता ही नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक और सारभूत वस्तु है। एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुमें या कालके एक क्षणमें भी वह अनंत वैसे ही असंदिग्ध रूपमें अनुभव किया जा सकता है जैसे कि युगोंके विस्तार या सौर पिण्डोंकी पारस्परिक दूरीके वृहत् प्रमाणमें किया जा सकता है। उसका ज्ञान या अनुभव कहीं भी शुरू हो सकता है और किसी भी वस्तुके द्वारा प्रकट हो सकता है; क्योंकि भगवान् सबमें हैं और सब कुछ भगवान् ही है।

तथापि इस आधारभूत अनुभवका प्रारंभ भिन्न-भिन्न प्रकृतिके व्यक्तियोंके लिये विभिन्न प्रकारसे होगा और उस संपूर्ण सत्यके विकसित होनेमें वहुत समय लगेगा जो इसके सहस्रों पहलुओंमें छिपा हुआ है। उस शाश्वत उपस्थितिको मैं पहले-पहल संभवतः अपनेमें या अपनी आत्माके तौरपर देखता अथवा अनुभव करता हूँ और बादमें ही अपनी इस महत्तर आत्माके दर्शन और अनुभवको प्राणिमात्रतक विस्तारित कर सकता हूँ। तब मैं संसारको अपने अंदर या अपने साथ एकीभूत अनुभव करता हूँ। इस विश्वको मैं अपनी सत्ताके अंदर एक नाटकके रूपमें और इसकी प्रक्रियाओंके अभिनय-को अपनी विराट् आत्माके अंदर पदार्थों, आत्माओं और शक्तियोंकी एक गतिके रूपमें देखता हूँ। सभी जगह मैं अपने-आपसे ही मिलता हूँ, और किसीसे नहीं। किंतु इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि यह सब मैं उस असुरकी-सी भ्रांत दृष्टिके कारण नहीं करता जो अपनी ही अत्यधिक विस्तृत प्रतिमूर्त्तिमें निवास करता है, अहंको ही भ्रमवश अपना स्वरूप और अपनी आत्मा समझता है और अपने आंशिक व्यक्तित्वको अपने चारों ओरकी सभी वस्तुओंपर एक प्रभुत्वशाली सत्ताके रूपमें थोपनेका यत्न करता है। कारण, ज्ञानका उदय होनेसे मैं यह सत्य तो ग्रहण कर ही चुका हूँ कि मेरी सच्ची आत्मा अहं नहीं है; और साथ ही अपनी महत्तर आत्मा मुझे सदा यूँ अनुभव होती है कि यह एक निर्वैयक्तिक वृहत् सत्ता या एक तात्त्विक व्यक्ति है जो फिर भी अपनेसे परे सब व्यक्तियोंको अंतर्गत रखता

है या फिर यह एक ही साथ दोनों चीजें है। परंतु कुछ भी हो, चाहे यह निर्वैयक्तिक हो या असीम व्यक्तित्व, अथवा युगपत् दोनों ही हो तो भी यह एक अहं-अतीत अनंत है। यदि मैंने इसे पहले दूसरोंके अंदर नहीं, वरन् इसके उस रूपमें ढूँढ़ा तथा पाया है, जिसे मैं 'अपना-आप' कहता हूँ, तो इसका कारण यही है कि वहाँ, मेरी चेतनाके विषयिगत होनेके कारण, इसे पाना, तत्काल जान लेना और अनुभव करना मेरे लिये अत्यंत सुगम है। परंतु ज्योंही यह आत्मा दिखायी दे त्योंही यदि संकुचित साधनरूप अहं इसमें विलीन न होने लगे, अथवा यदि क्षुद्रतर बाह्य मनोनिर्मित 'मैं' उस महत्तर स्थिर अजन्मा आध्यात्मिक 'मैं'में विलुप्त हो जानेसे इन्कार करे, तो मेरा अनुभव या तो विशुद्ध नहीं है या उसके मूलमें ही कहीं त्रुटि है। अभी भी मुझमें कहीं एक अहंमूलक बाधा है; मेरी प्रकृतिके किसी भागने एक 'स्व'-दर्शी और 'स्व'-संरक्षी निषेधको आत्माके सर्वग्रासी सत्यके विरोधमें खड़ा कर दिया है।

दूसरी तरफ—और कुछ लोगोंके लिये यह अधिक सुगम तरीका है—मैं भगवान्‌को पहले अपनेसे बाहर जगत्‌में अर्थात् अपनेमें नहीं, बल्कि दूसरोंमें देख सकता हूँ। वहाँ प्रारंभसे ही मैं उससे इस रूपमें मिलता हूँ कि वह एक अंतर्वासी और सर्वाधार अनंत है जो अपने उपरितलपर धारण की हुई इन सब आकृतियों, प्राणियों और शक्तियोंसे बँधा हुआ नहीं है। अथवा मैं यह देखता और अनुभव करता हूँ कि वह एक शुद्ध एकाकी आत्मा और आत्मतत्त्व है जो इन सब शक्तियों और सत्ताओंको अपने अंदर धारण किये हुए है, और तब मैं अपनी अहंबुद्धिको अपने चारों ओरकी इस निश्चल-नीरव सर्वव्यापक उपस्थितिमें विलीन कर देता हूँ। बादमें यही मेरी करणात्मक सत्ताको व्याप्त और अधिकृत करने लगती है, और कर्म-संबंधी मेरी सभी प्रेरणाएँ, विचार और वाणीका मेरा सब प्रकाश, मेरी चेतनाकी समस्त रचनाएँ और इस एकमेव विश्व-विस्तृत सत्ताके अन्य आत्म-रूपोंके साथ मेरी चेतनाके संबंध और संघर्ष—ये सभी इसीमेंसे निकलते प्रतीत होते हैं। मैं अब पहलेकी तरह यह क्षुद्र व्यक्तिगत स्व नहीं, वरन् 'तत्' हूँ जिसने अपना कुछ अंश आगे कर रखा है और वह अंश विश्वमें उस ('तत्')की क्रियाओंके एक विशेष रूपको धारण करता है।

एक और आधारभूत अनुभव भी है जो सबसे परले सिरेका है और फिर भी कभी-कभी प्रथम निर्णायक उद्घाटन या योगकी प्रारंभिक प्रगतिके रूपमें प्राप्त होता है। वह उस अनिर्वचनीय, उच्च, परात्पर एवं अविज्ञेय सत्ताके प्रति जागरण है जो मेरे और इस संसारके भी, जिसमें मैं निवास

करता प्रतीत होता हूँ, ऊपर अवस्थित है, वह उस कालातीत और देशातीत अवस्था या सत्ताके प्रति जागरण है जो, साथ ही, मेरे अंदरकी तात्त्विक चेतनाके लिये, सबल और असंदिग्ध रूपमें, एक अनन्य दुर्निवार सत्य है। प्रायः इस अनुभवके साथ एक और भी इतना ही प्रबल बोध होता है,—वह यह कि इहलोककी सब वस्तुएँ या तो स्वप्न वा छायाकी भाँति भ्रमात्मक हैं अथवा वे अस्थायी, गौण और केवल अर्द्ध-वास्तविक हैं। कम-से-कम कुछ समयके लिये मेरे चारों ओरका सब दृश्य जगत् ऐसा दिखायी दे सकता है कि यह चलचित्र-से छाया-रूपों या तलीय आकारोंका चलना-फिरना है और मेरा अपना कर्म ऐसा मालूम हो सकता है कि यह मेरे ऊपर या बाहरके किसी अबतक अगृहीत और संभवतः अनधिगम्य स्रोतसे निकली तरल रचना हो। इस चेतनामें रहने और इस प्रवेशात्मक अनुभवको विकसित करने अथवा वस्तुओंके स्वरूपके इस प्रथम संकेतका अनुसरण करनेका अर्थ होगा—अहं और जगत्का अज्ञेयमें लय करने किंवा मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करनेके लक्ष्यकी ओर अग्रसर होना। किंतु परिणतिकी केवल यही एक दिशा हो ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत, मेरे लिये यह भी संभव है कि मैं तबतक प्रतीक्षा करता रहूँ जबतक इस कालातीत रिक्त मोक्षकी निश्चल-नीरवताके द्वारा मैं अपनी सत्ता और अपने कार्योंके इस अद्यावधि अज्ञात स्रोतके साथ संबंध न जोड़ लूँ। तब रिक्तता भरने लगती है और इसमेंसे भगवान्का सकल बहुविध सत्य और क्रियाशील अनंत सत्ताके समस्त रूप एवं अभिव्यक्तियाँ तथा अनेकानेक स्तर उदित होने लगते हैं अथवा वे इसके अंदर ही प्रवाहित होने लगते हैं। यह अनुभव पहले तो मनमें और फिर हमारी सारी सत्तामें एक चरम, अथाह और अतल-प्राय शांति और नीरवता स्थापित कर देता है। अभिभूत, वशीकृत, स्तब्ध तथा अपने-आपसे निर्मुक्त होकर मन स्वयं इस नीरवताको ही परात्पर सत्ता स्वीकार कर लेता है। परंतु पीछे जिज्ञासुको पता चलता है कि उसके लिये सब कुछ ही अंतर्निहित या नवसृष्ट रूपमें इस निश्चल-नीरवतामें विद्यमान है अथवा सब कुछ इस निश्चल-नीरवताके ही द्वारा एक महत्तर निगूढ़ परात्पर सत्तासे उसके अंदर अवतरित होता है। कारण, यह परात्पर एवं निरपेक्ष सत्ता अलक्षण शून्यताकी शांतिमात्र नहीं है; इसके अपने अनंत आधेय और ऐश्वर्य हैं जब कि हमारे आधेय और ऐश्वर्य इनसे हीन और न्यून हैं। यदि सब वस्तुओंका यह स्रोत न होता तो विश्व उत्पन्न ही न हो सकता; सब शक्तियाँ, क्रियाएँ और कर्म भ्रमरूप होते, सृष्टि और अभिव्यक्तिमात्र असंभव होती।

यही हैं तीन मूल-रूप अनुभव, इतने मूलभूत कि ज्ञानमार्गके योगीको ये चरम तथा स्वतः-पर्याप्त प्रतीत होते हैं, साथ ही ये उसे निश्चित रूपमें अन्य सब अनुभवोंके शिरोमणि एवं प्रतिनिधि भी प्रतीत होते हैं। परंतु परिपूर्णताके अन्वेषकके लिये ये अनन्य सत्य नहीं होते, न ही ये सनातनके समग्र सत्यके पूर्ण और एकमात्र सूत्र होते हैं, वरंच ये एक महत्तर दिव्य ज्ञानके अपूर्ण आरंभ एवं विशाल आधारमात्र होते हैं, भले ही ये उसे कृपाके चमत्कारसे शुरूकी अवस्थामें ही एकाएक और अनायास प्राप्त हो जायँ या लंबी यात्रा और श्रमके पश्चात् कठिनाईसे उपलब्ध होवें। अन्य अनुभव भी हैं जिनकी निश्चय ही आवश्यकता है और जिनकी खोज उनकी संभाव्यताओंके परले छोरतक करनी होगी। यद्यपि उनमेंसे कुछ एक प्रथम दृष्टिमें ऐसे प्रतीत होते हैं कि ये केवल उन भागवत रूपोंको समाविष्ट करते हैं जो सत्ताकी क्रियाशीलताके लिये यंत्रात्मक हैं किंतु उसके सारतत्त्वमें अंतर्निहित नहीं हैं, तो भी जब हम उनका अनुसरण अंततक करते हैं अर्थात् क्रियाशीलतामें-से होते हुए उसके सनातन स्रोततक पहुँचते हैं तो हमें पता चलता है कि वे भगवान्के उस रूपका प्रकाश करते हैं जिसके बिना वस्तुओंके मूल सत्यका हमारा ज्ञान असमृद्ध और अपूर्ण ही रह जाता। ये यंत्रात्मक सत्ताएँ जो देखनेमें ऐसी प्रतीत होती हैं, उस रहस्यकी कुंजी हैं जिसके बिना स्वयं मूलभूत तत्त्व भी अपना संपूर्ण गुह्यार्थ प्रकाशित नहीं करते। भगवान्का प्रकाश करनेवाले सभी रूपोंको हमें पूर्णयोगकी विशाल परिधिके अंदर ले आना होगा।

*

यदि संसार और उसके कर्मोंसे पलायन, अर्थात् परम मोक्ष एवं शम ही जिज्ञासुका एकमात्र ध्येय होता, तो ये तीन महान् आधारभूत अनुभव उसके आध्यात्मिक जीवनकी कृतार्थताके लिये पर्याप्त होते। इन्हींमें एकाग्र होकर वह अन्य समस्त दिव्य या लौकिक ज्ञानका त्याग कर देता और स्वयं भारमुक्त होकर शाश्वत प्रशांतिकी ओर प्रयाण करता। परंतु उसे संसार और इसके कर्मोंको भी अपने ध्यानमें रखना है, इनके मूलभूत दिव्य सत्यको जानना है और दिव्य सत्य तथा व्यक्त सृष्टिके उस प्रतीयमान विरोधका समाधान करना है जो अधिकतर आध्यात्मिक अनुभवोंके आरंभमें जिज्ञासुके सामने उपस्थित हुआ करता है। साधनाकी चाहे जिस भी दिशाका वह अनुसरण करे उसमें एक शाश्वत द्वैत अर्थात् सत्ताकी दो अवस्थाओंका पार्थक्य उसके सामने उपस्थित होता है। उसे प्रतीत होता है कि ये अवस्थाएँ परस्पर-विरोधी हैं और इनका विरोध ही जगत्की पहेलीकी असली जड़ है। बादमें, वह जान सकता है और अवश्य ही

जान लेता है कि ये 'एकं सत्'के दो ऐसे ध्रुव हैं जो शक्तिकी दो परस्पर-संबद्ध, ऋण-धनात्मक समकालीन धाराओंसे जुड़े हुए हैं और इनकी एक दूसरेपर क्रिया ही सत्ताके अंतर्निहित तत्त्वोंकी अभिव्यक्तिकी वास्तविक अवस्था है, इनका पुनर्मिलन ही जीवनकी विषमताओंके समाधानका एक नियत साधन है और इसीसे उस सर्वांगीण सत्यकी उपलब्धि हो सकती है जिसकी कि वह खोज कर रहा है।

एक ओर तो उसे भान होता है कि यह आत्मा या नित्य आत्म-तत्त्व—ब्रह्म, यह सनातन सब जगह रमा हुआ है, एक ही स्वयंभू-सत्ता यहाँ कालगत रूपमें प्रत्येक दृश्य या गोचर पदार्थके पीछे विद्यमान है और विश्वसे परे कालातीत है। उसे एक प्रबल और सर्वाभिभावी अनुभव होता है कि यह आत्मा न तो हमारा सीमित अहं है और न ही यह हमारा मन, प्राण या शरीर है; यह विश्वव्यापी है पर बाह्य दृश्य प्रपंच-रूप नहीं है और फिर भी उसकी आत्मिक इन्द्रिय-शक्तिके लिये यह किसी भी साकार या दृश्य वस्तुकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रत्यक्ष है; यह सार्वभौम है पर अपने अस्तित्वके लिये संसारकी किसी वस्तुपर या संसारकी समूची सृष्टिपर भी निर्भर नहीं है; यदि यह सारे-का-सारा जगत् लुप्त हो भी जाय, तो भी इसके लयसे उसके स्थिर अंतरीय अनुभवके विषयभूत इस सनातनमें कोई अंतर नहीं पड़ेगा। उसे निश्चय हो चुका है कि एक अवर्णनीय स्वयंभू-सत्ता है जो उसका तथा सब वस्तुओंका सार है। उसे उस तात्त्विक चेतनाका अंतरंग ज्ञान हो गया है जिसकी हमारा चिंतक मन, प्राण-संवेदन और देह-संवेदन आंशिक और हीन प्रतिमाएँमात्र हैं, उसे यह भी अनुभव हो गया है कि वह चेतना एक ऐसी असीम शक्तिसे संपन्न है जो इन सब शक्तियोंका आदिस्रोत है और फिर भी इन सब सम्मिलित शक्तियोंके योग या बल या स्वरूपके द्वारा समझमें नहीं आ सकती, न इनके द्वारा उसकी व्याख्या ही हो सकती है। वह एक ऐसा अविच्छेद्य स्वयं-सत् आनंद अनुभव करता है और उसमें निवास करता है जो हमारा क्षुद्रतर क्षणिक हर्ष या प्रसन्नता या सुख नहीं है। एक निर्विकार अविनाशी अनंतता, एक कालातीत नित्यता, एक ऐसी आत्म-सचेतनता जो यह ग्रहणशील एवं प्रतिक्रियाकारी या स्पर्शक-तुल्य (tentacular) मानसिक चेतना नहीं है, वरन् इसके पीछे और ऊपर है तथा इसके नीचे भी विद्यमान है, यहाँतक कि निश्चेतनामें भी अन्तर्निहित है, और एक ऐसी एकता जिसमें किसी और सत्ताकी संभावना ही नहीं है—यह इस सुस्थिर अनुभवका चतुर्विध स्वरूप है। तथापि यह नित्य स्वयंभू-सत्ता उसे इस रूपमें भी

दिखायी देती है कि यह एक चेतन काल-पुरुष है जो घटनाओंके प्रवाहको वहन करता है, एक आत्म-विस्तृत आत्मिक 'देश' है जो सब वस्तुओं और सत्ताओंको धारण करता है, एक आत्मिक सत्तत्त्व है जो अनाध्यात्मिक, अनित्य और सांत प्रतीत होनेवाली सभी वस्तुओंका वास्तविक रूप और उपादान हैं। जो क्षणभंगुर, देश-काल-बद्ध और सीमित है वह सब भी उसे यों अनुभूत होता है कि वह अपने सारतत्त्व, बल और ऊर्जामें उस एकमेव, सनातन तथा अनंतसे भिन्न कुछ नहीं है।

तो भी उसके अंदर या उसके सामने केवल यह नित्य आत्म-सचेतन सत्ता, यह आध्यात्मिक चेतना, स्वयं-प्रकाश शक्तिकी यह अनंतता और यह कालातीत तथा अपार परमानंद ही विद्यमान नहीं है। इसके साथ ही, परिमित देश-कालमें बँधा यह विश्व या शायद एक प्रकारका निःसीम सांत भी उसके अनुभवके सम्मुख निरंतर वर्तमान है। इसके अंदर सब कुछ नश्वर, सीमित, खण्डित, अनेकात्मक तथा अज्ञ है, दुःख-द्वंद्वके प्रति खुला हुआ है, एकताकी किसी असिद्ध किंतु अंतर्निहित स्वरमाधुरीकी संदेह-पूर्वक खोज कर रहा है, अचेतन या अर्ध-चेतन है या, जब अधिक-से-अधिक चेतन होता है तब भी मूल अविद्या और निश्चेतनासे बँधा रहता है। सुतरां, वह सदा शांति या आनंदकी समाधिमें ही नहीं रहता और यदि वह रहे भी तो भी यह कोई हल नहीं होगा, क्योंकि वह जानता है कि यह अविद्यामय जगत् तब भी उससे बाहर अथच उसकी किसी विस्तीर्णतर आत्माके भीतर मानो सदाके लिये चल रहा होगा। कभी तो उसे यह प्रतीत होता है कि उसकी आत्माकी ये दो अवस्थाएँ उसकी चेतनाकी स्थितिके अनुसार उसके लिये बारी-बारीसे आती हैं। और, कभी ऐसा लगता है कि ये उसकी सत्ताके दो अवयव हैं, दो अर्द्ध—ऊर्ध्व और निम्न या आंतर और बाह्य अर्द्ध—हैं जिनमें मेल नहीं है और जिनमें मेल बैठाना आवश्यक है। उसे शीघ्र ही मालूम हो जाता है कि उसकी चेतनाके इस पार्थक्यमें एक बड़ी भारी मोक्षजनक शक्ति है, क्योंकि इसके कारण वह अब अविद्या एवं निश्चेतनासे पूर्ववत् बद्ध नहीं रहता। यह पार्थक्य अब उसे अपना और जगत्का वास्तविक स्वरूप नहीं, वरन् एक भ्रम प्रतीत होता है जो दूर किया जा सकता है अथवा यह उसे कम-से-कम एक अस्थायी मिथ्या स्वानुभव अर्थात् माया मालूम देता है। उसके अंदर प्रलोभन पैदा होता है कि वह इसे केवल भगवान्का प्रतिषेध, अथवा अनन्तकी अगम रहस्य-लीला किंवा उसका छद्मवेश या हास्यास्पद अभिनय मान ले। समय-समयपर उसके अनुभवको यह वास्तवमें दुर्दम रूपसे

ऐसा ही भासित होता है,—एक ओर तो ब्रह्मकी प्रोज्ज्वल सत्यता और दूसरी ओर मायाका अंधकारमय भ्रम। परंतु उसके अंदरकी कोई चीज उसे इस प्रकार सदाके लिये सत्ताको दो भागोंमें विभक्त कर डालनेकी अनुमति नहीं देगी। अधिक सूक्ष्मतासे देखनेपर वह जान जाता है कि इस अर्द्ध-प्रकाश या अंधकारमें भी सनातन विद्यमान है—मायाका आवरण पहने हुए स्वयं ब्रह्म ही यहाँ विराजमान है।

यह एक वर्द्धनशील आध्यात्मिक अनुभवका प्रारंभ है। यह उसके समक्ष इस बातको अधिकाधिक प्रकट कर देता है कि जो चीज उसे पहले अंधकारमय अगम माया प्रतीत होती थी वह तब भी सनातन पुरुषकी चिच्छक्तिसे भिन्न और कुछ नहीं थी। वह शक्ति इस विश्वसे परे कालातीत और असीम है, पर वह यहाँ, उज्ज्वल और धूसर, विरोधी तत्त्वोंका जामा पहनकर मन, प्राण और जड़में भगवान्‌की क्रमिक अभिव्यक्तिके चमत्कारके लिये सर्वत्न फैली हुई है। समस्त कालातीत सत्ता कालगत क्रीड़ाके लिये दबाव डालती है; कालगत सभी कुछ कालातीत आत्म-तत्त्वके आधारपर और उसीके चारों ओर परिभ्रमण करता है। यदि पार्थक्यका अनुभव मोक्षजनक था तो यह एकत्वका अनुभव गतिशील और कार्यक्षम है। वह अब अपनेको केवल ऐसा ही अनुभव नहीं करता कि वह अपने आत्म-तत्त्वमें सनातन पुरुषका अंश है, अपनी तात्त्विक आत्मा और आत्म-तत्त्वमें सनातन पुरुषके साथ पूर्णतया एकीभूत है, वरंच यह भी कि वह अपनी सक्रिय प्रकृतिमें उसकी सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ चिच्छक्तिका यंत्न है। उसके अंदर सनातन देवकी वर्तमान लीला चाहे कितनी भी सीमित और सापेक्ष क्यों न हो तथापि वह उसकी अधिकाधिक विस्तृत चेतना और शक्तिकी ओर उद्घाटित हो सकता है और इस विस्तारकी कोई भी निर्धारणीय सीमा नहीं प्रतीत होती। उस चिच्छक्तिका एक आध्यात्मिक एवं अति-मानसिक स्तर भी उसके ऊर्ध्वमें अपनेको प्रकट करता है और संपर्क स्थापित करनेके लिये नीचे झुकता हुआ प्रतीत होता है। उस स्तरमें ये सीमाएँ और श्रृंखलाएँ नहीं हैं और उसकी शक्तियाँ भी सनातनके एक महत्तर अवतरण और एक कम प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न आत्म-प्रकाशके आश्वासनके साथ कालगत क्रीड़ापर दबाव डाल रही हैं। इस प्रकार, ब्रह्म-मायाका जो द्वैत एक समय विरोधमय प्रतीत होता था और अब द्विदल या द्वयात्मक अनुभव होता है उसका रहस्य जिज्ञासुके समक्ष इस रूपमें आविष्कृत हो जाता है कि वह सब आत्माओंकी आत्मा, सत्ताके स्वामी और विश्व-यज्ञके एवं उसके अपने यज्ञके अधीश्वरका प्रथम महान् और क्रियाशील रूप है।

भगवत्प्राप्तिकी एक और दिशामें एक दूसरा द्वैत जिज्ञासुके अनुभवके विषयके रूपमें उपस्थित होता है। एक तरफ तो उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि एक साक्षि-चेतना है जो ग्रहण, निरीक्षण और अनुभव करती है, जो कर्म करती नहीं जान पड़ती, किंतु जिसके लिये हमारे भीतर और वाहरके ये सभी कर्म प्रारंभ किये जाते और जारी रखे जाते प्रतीत होते हैं। उसके साथ ही, दूसरी तरफ वह एक कर्त्री शक्ति या कार्य-प्रक्रियाकी शक्तिको जानता है जो सभी कल्पनीय क्रियाओंको गठित, प्रेरित और परिचालित करती, गोचर एवं अगोचर अगणित पदार्थोंको उत्पन्न करती तथा अपनी अविरत कर्मधारा और सृष्टि-प्रवाहके स्थिर आधारोंके तौरपर उन्हें प्रयोगमें लाती दिखायी देती है। साक्षि-चेतनामें एकांतभावसे प्रवेश करके वह शांत, निर्लिप्त तथा निश्चल हो जाता है। वह देखता है कि अबतक वह प्रकृतिकी गतियोंको निष्क्रिय भावमें प्रतिविंवित करता आया है और फिर पीछे उन्हींको अपनी मान लेता रहा है; तथाच, इसी प्रति-विंवित करनेकी क्रियाके कारण उन्हें उसकी अंतरस्थ साक्षी आत्मासे एक आध्यात्मिक-सा मूल्य और महत्त्व प्राप्त हो गया है। परंतु अव उसने वह अध्यारोप या प्रतिविंवात्मक तादात्म्य वापिस ले लिया है। वह केवल अपनी शांत आत्माके प्रति ही सचेतन है और उसके चारों ओर जो गतिशील है उस सवसे विलग है। सव चेष्टाएँ उसके वाहर हो रही हैं और उनकी अंतरीय वास्तविकताकी एकदम इति हो गयी है। वे उसे अव यांत्रिक प्रतीत होती हैं, अव वह उनसे अनासक्त रहकर उन्हें समाप्त कर सकता है। केवल राजसिक गतिमें प्रवेश करनेपर उसे एक विपरीत प्रकारका आत्मज्ञान होता है। स्वयं अपने विपयमें उसे ऐसा अनुभव होता है मानो वह क्रियाओंका एक पुंज और शक्तियोंकी रचना एवं परिणाम है; यदि इस सव प्रपंचके वीच कोई सक्रिय चेतना, यहाँतक कि किसी प्रकारका गतिशील पुरुष हो भी सही तो भी इसमें स्वतंत्र आत्मा तो कहीं नहीं है। सत्ताकी ये दो विभिन्न और विरोधी अवस्थाएँ उसमें वारी-वारीसे आती हैं अथवा एक साथ एक-दूसरेके आमने-सामने ही आ उपस्थित होती हैं। एक तो आंतर सत्तामें प्रशांत रहकर निरीक्षण करती है, किंतु चलायमान नहीं होती और प्रकृतिकी क्रियामें भाग नहीं लेती; दूसरी किसी वाह्य या तलवर्त्ती आत्मामें सक्रिय रहती हुई अपनी अभ्यस्त गतियाँ जारी रखती है। उसने पुरुप-प्रकृतिके महान् द्वैतके एक तीव्र पृथक्कारक अनुभवमें प्रवेश पा लिया है।

परंतु जैसे-जैसे चेतना गभीर होती जाती है, वैसे-वैसे वह इस वातसे

सचेतन होता जाता है कि यह केवल एक प्रारंभिक संमुखीन प्रतीति है। उसे विदित हो जाता है कि उसकी अंत:स्थित साक्षी आत्माके प्रशांत अवलंबनके द्वारा अथवा उसकी स्वीकृति या अनुमतिसे ही यह कार्यवाहिका प्रकृति उसकी सत्तापर घनिष्ठता या दृढ़तासे कार्य कर सकती है। यदि आत्मा अपनी अनुमति वापिस ले ले तो भी प्रकृतिकी गतियाँ सर्वथा यंत्रवत् बार-बार होती ही रहती हैं। प्रारंभमें ये जवर्दस्त होती हैं मानो अब भी बलात् अपना अधिकार जमानेका यत्न कर रही हों, पर बादमें इनकी सक्रियता और वास्तविकता न्यूनातिन्यून हो जाती है। स्वीकृति या अस्वीकृतिकी इस शक्तिका अधिक सक्रिय प्रयोग करनेपर वह देखता है कि प्रकृतिकी गतियोंको वह पहले तो धीमे-धीमे तथा अनिश्चित रूपसे और पीछे अधिक निश्चित तौरपर परिवर्तित कर सकता है। अंतमें उसके समक्ष यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि इस साक्षी आत्मामें या इसके पीछे एक ज्ञाता और अधिष्ठाता संकल्प विराजमान है जो प्रकृतिमें क्रिया कर रहा है। उसे उत्तरोत्तर ऐसा भासित होने लगता है कि प्रकृतिके सब व्यापार उस चीजकी अभिव्यक्तियाँ हैं जिसे प्रकृतिकी सत्ताका यह प्रभु जानता है और जिसके लिये यह या तो सक्रिय संकल्प करता है या निष्क्रिय अनुमति देता है। स्वयं प्रकृति भी यांत्रिक इसी अंशमें प्रतीत होती है कि उसके व्यापार सावधानीसे व्यवस्थित किये हुए दिखायी देते हैं, परंतु वास्तवमें वह एक चिन्मय शक्ति है जिसके अंदर एक आत्मा है, जिसकी प्रवृत्तियोंमें एक आत्मसचेतन आशय है और जिसकी गतिविधियों तथा रचनाओंमें एक गुप्त संकल्प एवं ज्ञानका प्रकाश अभिव्यक्त होता है। यह द्वैत, पक्षत: भिन्न होनेपर भी, अपने-आपमें अविच्छेद्य है; जहाँ-जहाँ प्रकृति है वहाँ-वहाँ पुरुष है, जहाँ-जहाँ पुरुष वहाँ-वहाँ प्रकृति। अपनी निष्क्रियतामें भी वह प्रकृतिकी संपूर्ण शक्ति एवं बलोंको, प्रयोगके लिये तैयार अवस्थामें, अपने अंदर धारण किये होता है। प्रकृति कर्मके वेगमें भी अपने सर्जनोद्देश्यके संपूर्ण आधार तथा आशयके रूपमें पुरुषकी समस्त निरीक्षक और आदेशात्मक चेतनाको अपने साथ लिये फिरती है। एक बार फिर जिज्ञासु अपने अनुभवसे जान लेता है कि 'एकं सत्'के दो ध्रुव हैं और इनकी परस्पर-संबद्ध ऋण-धनात्मक शक्तिकी दो दिशाएँ या धाराएँ हैं जो एक-दूसरीके साथ मिलकर 'सत्'के अंतर्निहित वस्तुमात्रकी अभिव्यक्ति संपादित करती हैं। यहाँ भी वह देखता है कि भेदात्मक रूप मोक्षजनक है; यह उसे उस बंधनसे मुक्त कर देता है जो अविद्यामें प्रकृतिकी दोषपूर्ण क्रियाओंके साथ एकाकारता स्थापित करनेसे पैदा होता है। एकीकारक रूप क्रियाशील

और फलोत्पादक है; यह उसे प्रभुत्व और पूर्णता प्राप्त करनेकी सामर्थ्य देता है। प्रकृतिके अंदर जो चीज कम दिव्य या प्रत्यक्षतः अदिव्य है उसे त्यागकर वह अपने अंदर इसके आकारों और गतियोंको एक महत्तर जीवनके उत्कृष्टतर आदर्श तथा उसके विधान एवं लयतालके अनुसार फिरसे गढ़ सकता है। एक आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्तर-विशेषपर यह द्वैत और भी अधिक पूर्णताके साथ एक चिच्छक्तिमय परम आत्माका द्विक बन जाता है। इसकी शक्तिमत्ता किन्हीं भी बाधाओंको नहीं मानती और प्रत्येक सीमाको तोड़ डालती है। इस प्रकार पुरुष-प्रकृतिका यह द्वैत, जो पहले भेदयुक्त प्रतीत होता था पर अब द्वयात्मक अनुभव होता है, उसके समक्ष अपने समस्त सत्यसहित इस रूपमें प्रकाशित हो जाता है कि यह सब आत्माओंकी आत्माका, सत्ताके स्वामी और यज्ञके ईश्वरका द्वितीय महान्, यंत्रात्मक और कार्यसाधक रूप है।

भगवत्प्राप्तिकी इनसे भिन्न एक तीसरी दिशामें जिज्ञासुके सामने एक और, इनसे मिलता-जुलता पर पक्षतः विभिन्न, द्वैत उपस्थित होता है जिसमें द्वयात्मक स्वरूप अधिक शीघ्रतासे प्रत्यक्ष होता है। वह ईश्वर और शक्तिका क्रियाशील द्वैत है। एक तरफ तो जिज्ञासुको अनंत और स्वयंभू देवाधिदेवके उस सत्तात्मक रूपका ज्ञान होता है जिसमें वह देव सब वस्तुओंको सत्ताकी अनिर्वचनीय गर्भावस्थामें धारण करता है, जिसमें वह सब आत्माओं-की आत्मा और सब जीवोंका जीव है, सब पदार्थोंका आध्यात्मिक पदार्थ और निर्वैयक्तिक अकथनीय सत् है; पर साथ ही वह एक असीम व्यक्ति भी है जो यहाँ अगणित व्यक्तित्वोंमें अपने-आपको ही प्रकट करता है, वह ज्ञानका स्वामी, शक्तियोंका स्वामी, प्रेम, आनंद और सौंदर्यका ईश्वर, सब लोकोंका एक ही उद्गम, आत्म-अभिव्यंजक और आत्मसर्जक है, विश्वात्मा, विश्व-मन तथा विश्व-प्राण है, वह एक चेतन और सजीव सद्वस्तु है और इस दृश्य जगत्को, जो अचेतन एवं निर्जीव जड़तत्त्व प्रतीत होता है, आश्रय प्रदान करता है। दूसरी तरफ उसे देवाधिदेवके उस रूपका भी ज्ञान होता है जो कार्य-निष्पादक चिच्छक्तिसे संपन्न है। वह चिच्छक्ति एक ऐसी आत्म-सचेतन शक्तिके रूपमें प्रकट की गयी है जो अपने भीतर सब कुछ धारण और वहन करती है और उसे विश्वगत देश-कालमें अभिव्यक्त करनेके लिये नियुक्त है। उसे प्रत्यक्ष हो गया है कि यहाँ एक परम और अनंत सत् है जो अपने दो भिन्न पार्श्वोंमें हमारे सामने प्रकट है और उन पार्श्वोंका एक-दूसरेके साथ सीधे और उलटेका संबंध है। उस सत्स्वरूप देवाधिदेवमें सभी कुछ तैयार या पूर्व-वर्तमान है, वह उससे प्रादुर्भूत तथा

उसके संकल्प और उपस्थितिके द्वारा धारित होता है। शक्तिस्वरूप देवाधिदेव सबको प्रकट करता है और उन्हें यहाँ गतिमें वहन भी करता है। उसी शक्तिसे और उसी शक्तिमें सब कुछ संभूत होता तथा क्रिया करता है और अपने वैयक्तिक या सार्वभौम प्रयोजनको विकसित करता है। यह भी एक द्वैत है जो अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक है। यह शक्तिकी उस द्विगुण धाराको उत्पन्न करता तथा समर्थ बनाता है जो जगत्के व्यापारोंके लिये सदैव आवश्यक प्रतीत होती है। शक्तिकी ये धाराएँ एक ही सत्ताके दो ध्रुव हैं, परंतु द्वैतके इस रूपमें ये ध्रुव एक-दूसरेके अधिक निकट हैं तथा प्रत्येक दूसरेकी शक्तिको अपने सारतत्त्व तथा सक्रिय प्रकृतिमें सदैव स्पष्ट रूपसे धारण करता है। इस तथ्यके बलपर दिव्य परम रहस्यके दो महान् तत्त्व—वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक अथवा सगुण और निर्गुण—यहाँ परस्पर एकीभूत हैं, सर्वांगीण सत्यका अन्वेषक ईश्वर-शक्तिके द्वैतमें अपने-आपको दिव्य परात्परता और अभिव्यक्तिके उस परम रहस्यके निकट अनुभव करता है जो किसी अन्य अनुभवके द्वारा प्रस्तुत रहस्यकी अपेक्षा अधिक अंतरंग और चरम है।

ईश्वरी शक्ति, भागवती चिच्छक्ति एवं जगज्जननी, सनातन 'एक' और व्यक्त 'बहु'के बीच मध्यस्था बनती है। एक तरफ तो यह एकमेवसे लायी शक्तियोंकी क्रीड़ाद्वारा, अपने व्यक्तीकारक तत्त्वमें 'एक'की अनंत आकृतियोंको तिरोभूत रखती और उसीमेंसे उन्हें आविर्भूत करती हुई, विश्वमें बहुगुणित भगवान्को प्रकट करती है; दूसरी तरफ उन्हीं शक्तियों-की पुनरारोहणकारिणी धारासे वह सब वस्तुओंको 'तत्'में, जिससे वे निर्गत हुई हैं, वापिस ले जाती है, जिससे कि आत्मा अपनी विकासशील अभि-व्यक्तिमें वहाँ भगवान्की ओर अधिकाधिक लौट सके अथवा यहाँ अपना दिव्य स्वरूप धारण कर सके। यद्यपि प्रकृति संसारके यंत्रवत् चलनेकी क्रियाको आयोजित करती है तो भी उसका वास्तविक रूप यह नहीं कि वह निश्चेतन तथा यंत्रवत् कार्य-निष्पादन करनेवाली शक्ति है, जैसा कि उसके बाह्याकारपर प्रथम दृष्टि डालते ही हम अनुभव करते हैं; न ही उसमें वह 'मिथ्यात्व'का धर्म है जो 'माया'-विषयक हमारी प्रथम धारणाके साथ जुड़ा रहता है, अर्थात् यह धर्म कि वह भ्रमों या अर्ध-भ्रमोंकी सृष्टि करनेवाली है। अनुभविनी आत्माको यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ एक चिन्मय शक्ति है जिसका सारतत्त्व और स्वभाव वही है जो परमदेवका है, क्योंकि वह उसीसे प्रकट हुई है। यदि ऐसा लगता है कि उसने हमें अविद्या और निश्चेतनामें डुबा दिया है,—किसी ऐसी योजनाकी

पूर्त्तिके लिये जिसे हम अभी समझ नहीं पाते,—यदि उसकी शक्तियाँ हमें विश्वकी इन सब अनिश्चित शक्तियोंके रूपमें दिखायी देती हैं तो भी यह पता चलते देर नहीं लगती कि वह हमारे अंदर दिव्य चेतनाके विकासके लिये कार्य कर रही है और ऊपर स्थित होकर वह हमें अपनी उच्चतर सत्ताकी ओर खींच रही है तथा दिव्य ज्ञान, संकल्प एवं आनंदके वास्तविक सारको हमारे सम्मुख अधिकाधिक प्रकट कर रही है। अज्ञानकी गतियोंमें भी जिज्ञासुकी आत्माको यह अनुभव हो जाता है कि प्रकृतिका सचेतन मार्ग-निर्देश उसके पगोंको अवलंब दे रहा है और उन्हें शनैः-शनैः या शीघ्रतासे, सीधे रास्ते या बहुत घुमा-फिराकर, अंधकारसे महत्तर चेतनाके प्रकाशकी ओर, मृत्युसे अमरताकी ओर और अशुभ एवं दुःखसे उस शुभ और सुखकी ओर ले जा रहा है जिनकी उसका मानवीय मन अभी एक धुंधली-सी कल्पना ही कर सकता है। इस प्रकार उसकी शक्ति एक साथ मोक्षप्रद तथा गतिशील, सर्जनकारी एवं कार्यक्षम हैं,—वस्तुएँ जैसी आज हैं, केवल उन्हींकी नहीं, बल्कि जो आगे पैदा होनेको हैं उनकी भी वह रचना करती है। अज्ञानके तत्त्वसे निर्मित उसकी निम्नतर चेतनाकी टेढ़ी-मेढ़ी और उलझी गतियोंको बहिष्कृत कर वह उसकी आत्मा और प्रकृतिको फिरसे उच्चतर दैवी प्रकृतिके सत्त्व और बलोंमें गढ़ती और नया बनाती है।

इस द्वैतमें भी भेदात्मक अनुभव संभव है। इसके एक सिरेपर जिज्ञासु केवल सत्ताके उस स्वामीसे सचेतन हो सकता है जो उसे मुक्त और दिव्य बनानेके लिये उसके अंदर अपने ज्ञान, शक्ति और आनंदके सामर्थ्य बलपूर्वक उँडेल रहा है; शक्ति उसे इन ज्ञान आदिका द्योतक निर्वैयक्तिक बल या ईश्वरका गुणमात्र प्रतीत हो सकती है। दूसरे सिरेपर वह विश्वका *सृजन करनेवाली उस जगज्जननीसे मिलन प्राप्त कर सकता है जो अपने* आत्मतत्त्वमेंसे देवताओं और लोकोंको तथा सब पदार्थों और सत्ताओंको उत्पन्न करती है। अथवा, यदि वह इन दोनों ही रूपोंको देखता है तो भी वह इन्हें एक असम एवं विभेदक दृष्टिसे ही देख सकता है, वह एकको दूसरेके अधीन कर देता है तथा शक्तिको ईश्वरके पास पहुँचनेका साधन-मात्र समझता है। इसके परिणामस्वरूप एक एकांगी प्रवृत्ति पैदा होती है अथवा समतोलता नष्ट हो जाती है; अर्थात् कार्य-निष्पादनका जो बल प्राप्त होता है वह अपने आधारपर सुप्रतिष्ठित नहीं होता अथवा ईश्वरीय सत्यका जो प्रकाश उपलब्ध होता है वह पूर्णतः क्रियाशील नहीं होता। जब इस द्वैतके दोनों पक्षोंका पूर्ण मिलन साधित हो जाता है और वह

उसकी चेतनापर अधिकार कर लेता है तब जिज्ञासु उस पूर्णतर शक्तिके प्रति उद्‌घाटित होने लगता है जो उसे यहाँके विचारों और बलोंके अस्त-व्यस्त संघर्षसे सर्वथा बाहर निकालकर उच्चतर सत्यमें ले जायगी और इस अविद्यामय जगत्‌को प्रकाशयुक्त और मुक्त करने तथा इसपर प्रभुत्वपूर्ण ढंगसे क्रिया करनेके लिये उस सत्यके अवतरणको संभव बना देगी। उसने अब सर्वांगीण रहस्यको स्पर्श करना प्रारंभ कर दिया है। यह रहस्य अपने पूर्ण रूपमें तभी अधिगत हो सकता है जब वह मूल अज्ञानके साथ जटिलतापूर्वक गुँथे हुए ज्ञानके उस दोहरे स्तरको लाँघ जाता है जिसका यहाँ राज्य छाया हुआ है और जब वह उस सीमाको पार कर लेता है जहाँ आध्यात्मिक मन अतिमानसिक विज्ञानमें विलीन हो जाता है। एकमेवके इस तीसरे तथा अत्यंत क्रियाशील द्वैत-पक्षके द्वारा ही जिज्ञासु यज्ञ-महेश्वरकी सत्ताके गहनतम रहस्यमें अत्यंत सर्वांगीण पूर्णताके साथ प्रवेश करने लगता है।

कारण, जीवनकी पहेलीका हल जैसे इस रहस्यमें छिपा है कि अचित्‌मेंसे चेतना, प्राणहीनमेंसे प्राण और प्रकृतिमेंसे आत्मा प्रकट होती है वैसे ही यह इस रहस्यके पीछे भी छिपा है कि इस आपाततः निर्वैयक्तिक विश्वमें भी व्यक्तित्व उपस्थित है। यहाँ फिर एक और क्रियाशील द्वैत विद्यमान है जो प्रथम दृष्टिमें जैसा दिखायी देता है उससे कहीं अधिक व्यापक है और जो शनैः-शनैः आत्म-प्रकाश करनेवाली शक्तिकी लीलाके लिये नितांत आवश्यक है। अपनी अध्यात्म-अनुभूतिमें जिज्ञासुके लिये यह संभव है कि वह द्वैतके एक ध्रुवपर खड़ा होकर विराट् मनका अनुसरण करता हुआ सभी जगह मूलभूत निर्वैयक्तिकताके दर्शन करे। कारण, जड़ जगत्‌में विकासोन्मुख आत्मा एक ऐसी वृहत् निर्वैयक्तिक निश्चेतनासे प्रारंभ करती है जिसमें हमारी अंतर्दृष्टिको तब भी एक प्रच्छन्न अनंत आत्माकी उपस्थिति दिखायी देती है। फिर यह उस अनिश्चित चैतन्य और व्यक्तित्वके प्रादुर्भावके साथ-साथ आगे बढ़ती है जो अपनी पूर्णतम अवस्थामें भी एक उपाख्यानसे प्रतीत होते हैं—एक ऐसा उपाख्यान जो अविच्छिन्न धाराके रूपमें बराबर ही चलता रहता है। बादमें, यह जीवनके अनुभवद्वारा मनसे ऊपर उठकर एक अनंत, निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष अतिचेतनामें जा पहुँचती है जहाँ व्यक्तित्व, मनश्चेतना, प्राण-चेतना—सभी निर्वाण या मोक्षकारक नास्तिके कारण अंतर्धान होते जान पड़ते हैं। इससे निचले शिखरपर जिज्ञासु अब भी इस आधारभूत निर्वैयक्तिकताको ही एक सर्वत्र विद्यमान, साथ ही बड़ी भारी मोक्षप्रद शक्तिके रूपमें अनुभव करता है। यह उसके ज्ञानको वैयक्तिक मनकी संकीर्णतासे मुक्त कर देती है, यह उसके

संकल्पको वैयक्तिक कामनाके पंजेसे, उसके हृदयको क्षुद्र विकारी भावोंके बंधनसे, उसके प्राणको उसकी तुच्छ निजी प्रणालीसे और उसकी आत्माको अहंबुद्धिसे मुक्त कर देती है। यह उन्हें शांति, समता, विशालता एवं सार्वभौमता प्रदान करती है और साथ ही अनंतताका आलिंगन करनेकी स्वतंत्रता भी। ऐसा प्रतीत होगा कि कर्मयोगके लिये व्यक्तित्व एक आवश्यक तत्त्व है, मानो यह उसका मुख्य अवलंब तथा उद्‌गमतुल्य है। परंतु यहाँ भी पता चलता है कि निर्वैयक्तिक एक अत्यंत प्रत्यक्ष मोक्ष-कारक शक्ति है, क्योंकि एक विशाल अहंरहित निर्वैयक्तिकतासे ही मनुष्य स्वतंत्र कर्ता और दिव्य स्रष्टा बन सकता है। कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि द्वैतके निर्वैयक्तिक ध्रुवसे प्राप्त इस अनुभवके दुर्दम प्रभावके द्वारा प्रेरित होकर ही ऋषियोंने यह घोषणा कर दी हो कि बस यही एक मार्ग है और निर्वैयक्तिक अतिचेतना ही सनातनका अनन्य सत्य है।

परंतु इस द्वैतके विपरीत ध्रुवपर स्थित जिज्ञासुको अनुभवकी एक अन्य ही दिशा दिखायी देती है जो हमारे हृदयके मूल तथा हमारी ठेठ जीवन-शक्तिमें गहरे जमे हुए अंतर्ज्ञानको प्रमाणित करती है। वह यह है कि निर्वैयक्तिक सनातनतामें व्यक्तित्व चेतना, प्राण और आत्माकी तरह थोड़े दिनोंका मेहमान नहीं है, वरंच इसमें सत्ताका वास्तविक मर्म निहित है। विराट् शक्तिके इस सुन्दर पुष्पको विश्व-प्रयासके लक्ष्यका पूर्वाभास तथा इसके वास्तविक आशयकी झलक प्राप्त है। जैसे ही जिज्ञासुमें गुह्य नेत्र खुलता है, उसे पीछे अवस्थित उन लोकोंका ज्ञान होता है जिनमें चैतन्य और व्यक्तित्व बहुत बड़ा स्थान रखते हैं तथा प्रथम महत्त्वकी वस्तु बन जाते हैं। यहाँ स्थूल जगत्‌में भी इस गुह्य दृष्टिके लिये जड़-तत्त्वकी निश्चेतना एक गुप्त व्यापक चेतनासे भर उठती है, इसकी निर्जीवता स्पंदनशील जीवनको बसाये हुई है और इसकी यांत्रिक प्रणाली एक अंतर्वासी प्रज्ञाका कौशल है, क्योंकि ईश्वर और जीव सभी जगह हैं। सबसे ऊपर वह अनंत चिन्मय पुरुष है जिसने अपने-आपको इन सब लोकोंके अंदर नाना रूपोंमें प्रकट कर रखा है। निर्वैयक्तिकता तो उसके प्राकट्यका केवल एक प्रथम साधन है। यह मूल तत्त्वों तथा शक्तियोंका क्षेत्र है और अभिव्यक्तिका एक सम आधार है। परंतु वे शक्तियाँ अपने-आपको सत्ताओंके द्वारा प्रकट करती हैं और सचेतन आत्माएँ उनके अधिष्ठातृ-देवता हैं। वे उस चिन्मय पुरुषकी, जो उनका मूलस्रोत है, अंशविभूतियाँ हैं। नानारूप अगणित व्यक्तित्व, जो उस एकमेवको प्रकट करता है, अभिव्यक्तिका वास्तविक आशय और प्रधान उद्देश्य है। आज यदि व्यक्तित्व

संकुचित, खंडित तथा प्रतिबंधक प्रतीत होता है तो इसका कारण यही है कि यह अपने उद्गमकी ओर नहीं खुला है अथवा अपनेको विराट् तथा अनंतसे परिपूरित करके अपने दैवी सत्य और पूर्णत्वमें कुसुमित नहीं हुआ है। इस प्रकार यह सृष्टि-रचना कोई भ्रम या आकस्मिक यांत्रिक-संयोग नहीं है, कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसके होनेकी जरूरत नहीं थी; यह कोई निष्फल प्रवाह भी नहीं है, बल्कि सचेतन और जीवंत सनातनकी प्रगाढ़ गतिशीलता है।

एक ही सत्ताके दो सिरोंसे दिखायी देनेवाला यह दृश्यगत आत्यंतिक विरोध पूर्णयोगके जिज्ञासुके सामने कोई मौलिक कठिनाई नहीं पैदा करता। उसके संपूर्ण अनुभवने उसे दिखा दिया है कि इन युगलरूप अवस्थाओं और इनकी शक्तियोंकी परस्परसंबद्ध ऋण-योगात्मक धाराओंकी इसलिये आवश्यकता है कि एकमेव सत्ताके भीतर जो कुछ है उसकी अभिव्यक्ति साधित हो सके। स्वयं उसके लिये व्यक्तित्व और अव्यक्तित्व उसके आध्यात्मिक आरोहणके हितार्थ दो पंख रहे हैं और उसे यह भाविदृष्टि प्राप्त हो गयी है कि वह एक ऐसी चोटीपर पहुँचेगा जहाँ उनकी साहाय्यप्रद परस्पर-क्रिया उनकी शक्तियोंके सम्मिलनका रूप ले लेगी और एक अखंड सद्वस्तुको आविर्भूत करेगी तथा भगवान्‌की आद्या शक्तिको क्रियामें प्रवृत्त कर देगी। सत्ताके मूलभूत पक्षोंमें ही नहीं, बल्कि अपनी साधनाकी संपूर्ण प्रक्रियामें भी उसने उनका दोहरा सत्य तथा परस्परपूरक व्यापार अनुभव किया है। एक निर्वैयक्तिक उपस्थितिने उसकी प्रकृतिपर ऊपरसे अधिकार जमा लिया है अथवा उसके अंदर प्रविष्ट होकर उसे अपने वशमें कर लिया है। एक प्रकाशने अवतीर्ण होकर उसके मन तथा जीवन-शक्तिको एवं उसके शरीरके ठेठ कोषोंतकको आप्लावित कर दिया है, उन्हें ज्ञानसे प्रकाशित कर दिया है और उसके अपने स्वरूपको एवं उसकी अत्यंत प्रच्छन्न तथा संदेहातीत चेष्टाओंतकको उसके आगे खोलकर रख दिया है; जो-जो अज्ञानसे संबंध रखता था उस सबको या तो प्रकाशमें लाकर पवित्र कर दिया है या उसे मिटा डाला है अथवा उसे एक उज्ज्वल रूपमें परिणत कर दिया है। एक शक्ति उसके अंदर धाराओंमें या समुद्रकी भाँति प्रवाहित हुई है, उसने उसकी सत्तामें तथा सभी अंगोंमें क्रिया की है, सभी जगह विघटन, नव-निर्माण, पुनर्गठन तथा रूपांतर किया है। एक आनंदने उसे आक्रांत किया है और जतला दिया है कि वह दुःख-तापको असंभव कर दे सकता है तथा स्वयं पीड़ाको भी दिव्य सुखमें बदल सकता है। एक सीमातीत प्रेमने प्राणिमात्रसे उसका संबंध जोड़

दिया है अथवा एक अभेद्य घनिष्ठता और अकथ मधुरता एवं सुन्दरताका लोक उसके सामने प्रकाशित कर दिया है और पार्थिव जीवनकी विषमताके बीच भी अपने पूर्णताके विधान तथा अपने परमोल्लासको आरोपित करना आरंभ कर दिया है। एक आध्यात्मिक सत्य और ऋतने इस संसारके शुभ और अशुभको अपूर्णता या मिथ्यात्वका दोषी ठहराया है और एक परम शुभ एवं उसके सूक्ष्म सामंजस्य-सूत्रका तथा उसके द्वारा कर्म, अनुभूति और ज्ञानके उन्नयनका रहस्य खोल दिया है। परंतु इन सबके पीछे तथा इनके अंदर उसने एक देवको अनुभव किया है जो ये सभी चीजें है,—जो प्रकाशका दाता, मार्गदर्शक, सर्वज्ञ, शक्तिका स्वामी, आनंददाता, सखा, सहायक, पिता, माता, संसार-क्रीड़ामें खेलका साथी, उसकी सत्ताका परम प्रभु, उसकी आत्माका प्रियतम और प्रेमी है। भगवान्‌के साथ आत्माके संपर्कमें वे सभी संबंध विद्यमान रहते हैं जिनसे मानव व्यक्ति परिचित है; किंतु वे अतिमानवीय स्तरोंपर पहुँच जाते हैं और उसे दिव्य प्रकृति धारण करनेके लिये बाध्य कर देते हैं।

जिस चीजकी हम खोज कर रहे हैं वह पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण शक्ति है और साथ ही सत्ताके मूलमें अवस्थित 'सर्व' एवं अनंतके साथ मिलनकी परिपूर्ण विपुलता है। पूर्णयोगके जिज्ञासुके लिये कोई भी एक अनुभव या कोई भी एक भागवत पथ सनातन देवके ऐकान्तिक सत्यका रूप धारण नहीं कर सकता, चाहे वह मानव-मनके लिये कितना भी अभिभूतकारी, उसकी क्षमताके लिये कितना भी पर्याप्त और एकमात्र या चरम सद्वस्तुके रूपमें कितनी भी सुगमतासे स्वीकार्य क्यों न हो। भागवत एकत्वके चरम-परम अनुभवका और भी अधिक प्रगाढ़ आलिंगन तथा यथेष्ट अवगाहन वह केवल तभी कर सकता है यदि वह भागवत बहुत्वके अनुभवका पूर्ण रूपसे अनुसरण करे। बहुदेवतावाद और एकदेवतावादके पीछे जो कुछ भी सत्य है वह सब उसकी खोजके क्षेत्रके भीतर आ जाता है; परंतु मानव-मनके निकट इनका जो स्थूल अर्थ है उसे लाँघकर वह भगवान्‌के भीतर निहित इनके गुह्य सत्यको पकड़ पाता है। वह देख लेता है कि कलहायमान संप्रदायों और दर्शनोंका लक्ष्य क्या है और सद्वस्तुके प्रत्येक पार्श्वको वह उसके अपने स्थानमें स्वीकार करता है। किंतु उनकी संकीर्णता और भ्रांतियोंको तजकर वह तबतक आगे बढ़ता जाता है जबतक वह उस एकमेव सत्यको ही नहीं ढूँढ़ लेता जो उन्हें एक साथ बाँधे हुए है। मानवरूप-ईश्वरवाद (Anthropomorphism) एवं मनुष्य-पूजाकी निन्दा उसे विचलित नहीं कर सकती, क्योंकि वह देखता है कि

ये तो उस अज्ञ तथा गर्वित तर्कबुद्धि या विश्लेषक मनके पक्षपात हैं जो अपने संकुचित क्षेत्रमें अपनी ही धुरीके चारों ओर घूमता रहता है। यद्यपि मानवीय संबंध, जैसे कि ये आज मनुष्यद्वारा व्यवहारमें लाये जाते हैं, तुच्छता, विकार और अज्ञानसे पूर्ण हैं तो भी ये भगवान्‌की ही किसी वस्तुके विरूप प्रतिबिंब हैं और इन्हें भगवान्‌की ओर फेरकर वह उसे पा लेता है जिसके ये प्रतिबिंब हैं और उसे जीवनमें अपनी अभिव्यक्ति करनेके लिये नीचे उतार लाता है। मनुष्यके ही द्वारा, जब कि वह अपने-आपको अतिक्रान्त करके परम पूर्णत्वकी ओर उद्‌घाटित हो जाता है, भगवान् अपनेको यहाँ व्यक्त करते हैं। आध्यात्मिक विकासकी धारा और प्रक्रियामें ऐसा होना अनिवार्य है। अतएव, वह ईश्वरको मानव-शरीर धारण किये देखकर, **मानुषीं तनुमाश्रितम्**, उससे घृणा नहीं करेगा, न उसके प्रति अपनेको अंधा ही बना लेगा। ईश्वर-विषयक सीमित मानवीय धारणाको पार कर वह एकमेव दिव्य सनातनके विचारपर पहुँच जायगा। परंतु वह देवताओंके,—सनातनके उन वैश्व व्यक्तित्वोंके,—जो जगत्-क्रीड़ाको आश्रय देते हैं, रूपोंमें भी उस सनातनका साक्षात् करेगा और विभूतियों—देहधारी जगत्-शक्तियों या मानव-नायकों—के आवरणके पीछे भी उसे पहचानेगा, वह गुरुमें उसका आदर और आज्ञा-पालन करेगा और अवतारमें भी उसकी पूजा करेगा। यदि वह किसी ऐसे व्यक्तिसे मिल सके जो उस 'सत्'को उपलब्ध कर चुका है या वही 'तत्' बन रहा है जिसकी वह स्वयं खोज कर रहा है और यदि 'तत्'की अभिव्यक्तिके इस आधारमें उसकी ओर खुलकर वह स्वयं भी उसे उपलब्ध कर सके तो इसे वह अपना परम सौभाग्य मानेगा। कारण, यह एक विकसनशील परिपूर्णताका अत्यंत स्पष्ट चिह्न होता है और साथ ही जड़तत्त्वमें उस वृद्धिशील अवतरणके महत् रहस्यका आश्वासन होता है जो स्थूल सृष्टिका गुप्त तात्पर्य है और पार्थिव सत्ताकी सार्थकता है।

यज्ञकी प्रगतिमें यज्ञका अधीश्वर जिज्ञासुके सामने अपनेको इसी प्रकार प्रकट करता है। यह प्राकट्य किसी भी स्थितिमें प्रारंभ हो सकता है; किसी भी रूपमें कर्मका स्वामी उसके अंदर कर्मको अपने हाथमें ले सकता है और अपनी उपस्थितिको निरावृत करनेके लिये उसपर तथा कर्मपर उत्तरोत्तर दबाव डाल सकता है। समय आनेपर सभी रूप अपने-आपको प्रकाशित करते हैं, एक-दूसरेसे वियुक्त और संयुक्त होते हैं, घुलते-मिलते और एक हो जाते हैं। अंतमें उस सबमेंसे वह परम सर्वांगीण सद्वस्तु उद्‌भासित हो उठती है जो मनके लिये अज्ञेय है, क्योंकि मन अज्ञानका

अंग है, पर जो फिर भी ज्ञेय है, क्योंकि वह अध्यात्म-चेतना और अतिमानसिक ज्ञानके प्रकाशमें अपने प्रति सचेतन है।

*

यज्ञका प्रथम लक्ष्य और इसकी चरम सफलताकी शर्त है—सर्वोच्च सत्य या सर्वोच्च सत्, चित्, शक्ति, आनंद और प्रेमका दिव्य दर्शन—उन सत्य आदिका जो निर्वैयक्तिक भी हैं और वैयक्तिक भी और जो इस कारण हमारी सत्ताके दोनों पार्श्वोंको,—क्योंकि हमारे अंदर भी तो व्यक्तित्व, और अव्यक्तित्वमय तत्त्वों तथा शक्तियोंका समुदाय अस्पष्ट रूपसे मिले हुए हैं,—ऊँचा उठा ले जाते हैं। यज्ञकी सफलताका रूप यह होता है कि जो 'तत्' हमारी दृष्टि और अनुभूतिके समक्ष इस प्रकार व्यक्त होता है उसके साथ हम अपनी सत्ताका मिलन प्राप्त कर लेते हैं। यह मिलन तीन प्रकारका होता है। एक तो आध्यात्मिक सारतत्त्वमें तादात्म्य, दूसरा इस परमोच्च सत्ता और चेतनामें हमारी आत्माका अंतर्वास, तीसरा 'तत्' और हमारी ऐहिक यंत्रात्मक सत्तामें प्रकृतिगत साधर्म्य या एकत्वरूपी सक्रिय मिलन। पहला अज्ञानसे मुक्ति और सत्य तथा सनातनसे तादात्म्य अर्थात् मोक्ष और सायुज्य है जो ज्ञानयोगका विशेष लक्ष्य है। दूसरा आत्माका भगवान्‌के साथ या उसके अंदर निवास अर्थात् सामीप्य और सालोक्य है। यह सब प्रकारके प्रेमयोग एवं आनंदयोगकी बलवती आशा है। तीसरा प्रकृतिमें एकरूपता या भगवत्साधर्म्य है अर्थात् वैसा ही पूर्ण बनना जैसा पूर्ण 'वह' है,—यह शक्ति एवं पूर्णताके या दिव्य कर्मों तथा सेवाके सभी योगोंका उच्च उद्देश्य है। तीनोंकी सम्मिलित पूर्णता,—जो यहाँ आत्म-अभिव्यंजक भगवान्‌की बहुगुणित एकतापर आधारित होती है,—सर्वांगीण योगकी परिणति है, इसके त्रिविध पथका लक्ष्य तथा इसके त्रिविध यज्ञका फल है।

तादात्म्य-रूप मिलन हमें उपलब्ध हो सकता है अर्थात् हमारी सत्ताके उपादानका उस परम आत्मिक उपादानमें, हमारी चेतनाका उस दिव्य चेतनामें, हमारी आत्मस्थितिका आध्यात्मिक परमानंदकी उस मस्तीमें अथवा सत्ताके उस शांत शाश्वत आनंदमें मोक्ष तथा रूपांतर साधित हो सकता है। भगवान्‌में प्रकाशमय अंतर्निवास हम प्राप्त कर सकते हैं; इससे हम अंधकार तथा अज्ञानकी इस निम्नतर चेतनामें किसी प्रकारके पतन या निर्वासनसे सुरक्षित रहेंगे और हमारी आत्मा प्रकाश, हर्ष, स्वातंत्र्य और एकत्वके अपने स्वाभाविक लोकमें स्वतंत्रता तथा स्थिरतापूर्वक विचरण

करेगी। यह अंतर्निवास हमें किसी अन्य पारलौकिक जीवनमें ही प्राप्त नहीं करना है, वरन् इसे यहाँ भी खोजना और उपलब्ध करना है, और ऐसा तभी हो सकता है यदि एक अवतरण संपन्न हो, अर्थात् यदि भागवत सत्यको यहाँ उतार लाया जाय और आत्माके निज धामको, प्रकाश, हर्ष, स्वतंत्रता और एकताके धामको यहाँ प्रतिष्ठित किया जाय। हमारी आत्मा और चेतन तत्त्वके समान ही जब हमारी करणात्मक सत्ता भी मिलन लाभ कर लेगी, तब हमारी अपूर्ण प्रकृति दैवी प्रकृतिके साक्षात् रूप और प्रतिमूर्त्तिमें परिणत हो जायगी। इसे अज्ञानकी अंध, कुंठित, पंगु और विषम चेष्टाओंको तजकर ज्योति, शांति, आनंद, सामंजस्य, सार्व-भौमता, प्रभुता, पवित्रता और पूर्णताका स्वभाव धारण करना होगा। इसे अपने-आपको दिव्य ज्ञानके पात्रमें, सत्ताकी दिव्य संकल्पशक्ति और बलके यंत्रमें तथा दिव्य प्रेम, आनंद और सौंदर्यके स्रोतमें रूपांतरित कर देना होगा। यही वह रूपांतर है जो हमें संपन्न करना होगा, अपनी काल-वद्ध सांत सत्ताको सनातन और अनंतके साथ योगयुक्त करके हमें उस सबको, जो कुछ कि हम इस समय हैं या प्रतीत होते हैं, पूर्ण रूपसे रूपां-तरित करना होगा।

यह सब कठिन परिणति तभी संभव हो सकती है यदि हमारी चेतनाका एक महान् परिवर्तन तथा आमूलचूल विपर्यय और हमारी प्रकृतिका एक अलौकिक समग्र रूपांतर संपन्न हो जाय। संपूर्ण सत्ताको आरोहण करना होगा, इहलोकमें बँधी हुई और अपने करणोपकरणों तथा अपनी परिस्थितियोंसे जकड़ी हुई आत्माको ऊर्ध्वस्थ स्वतंत्र शुद्ध आत्माकी ओर आरोहण करना होगा, जीवको किसी आनंदमय अति-जीवकी ओर, मनको किसी प्रकाशमय अतिमानसकी ओर तथा प्राणको किसी वृहत् अति-प्राणकी ओर आरोहण करना होगा; यहाँतक कि हमारे शरीरको भी अपने उद्गमसे मिलनेके लिये एक शुद्ध तथा नमनीय आत्मिक उपादानकी ओर आरोहण करना होगा। यह आरोहण एक ही तेज उड़ानमें पूरा नहीं हो सकता, वल्कि वेदमें वर्णित यज्ञके आरोहणकी भाँति यह एक शिखरसे दूसरे शिखरपर आरोहण होता है जिसमें मनुष्य प्रत्येक चोटीसे यह देखता है कि अभी ऊपर और वहुत कुछ है जिसे संपन्न करना शेष है।[1] साथ ही, ऊपर हमने जो उपलब्ध किया है उसे नीचे प्रतिष्ठित करनेके लिये अवतरणका होना भी आवश्यक है। प्रत्येक शिखरको जीतनेके वाद हमें उसकी शक्ति

---

[1] यत्सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम। ऋ. १. १०. २

और प्रकाशको निम्नतर मर्त्य गतिमें उतारनेके लिये लौटना होता है। ऊर्ध्वमें नित्य-प्रकाशमान ज्योतिकी उपलब्धिके अनुरूप ही नीचे अवचेतन प्रकृतिकी गहनतम गुहाओंतक प्रत्येक अंगमें छिपी हुई उस ज्योतिका उन्मुक्त होना भी आवश्यक है। आरोहणकी यह तीर्थयात्रा एवं रूपांतरके प्रयासके लिये यह अवतरण अनिवार्य रूपसे अपने साथ तथा अपने चारों ओरकी विरोधी शक्तियोंके साथ एक संघर्ष होता है, एक लंबा युद्ध होता है। जब-तक यह चलता रहता है तबतक स्वभावत: ही ऐसा लग सकता है कि यह कभी समाप्त नहीं होगा। क्योंकि, हमारी सारी पुरानी तमसावृत और अज्ञ प्रकृति रूपांतरकारी प्रभावका बार-बार हठपूर्वक विरोध करेगी, पारिपार्श्विक विश्वप्रकृतिकी अनेकों बद्धमूल शक्तियाँ इसकी शिथिल अनि-च्छुकता या इसके सबल प्रतिरोधका पृष्ठपोषण करेंगी, अज्ञानकी शक्तियाँ, उसकी शासक सत्ताएँ और उसके अधिपति अपना राज्य आसानीसे नहीं छोड़ेंगे।

प्रारंभमें दीर्घकालके लिये एक प्राय: आयासपूर्ण तथा कष्टप्रद अवस्था आ सकती है जिसमें हमारी सत्ताकी तैयारी और शुद्धि होती रहती है। यह अवस्था तबतक रहती है जबतक कि सारी-की-सारी सत्ता ही महत्तर सत्य और प्रकाश अथवा भागवत प्रभाव और उपस्थितिके प्रति उद्घाटित होनेके लिये उद्यत और उपयुक्त नहीं हो जाती। और, जब यह केंद्रत: योग्य, उद्यत और उद्घाटित हो जाती है तब भी उस अवस्थाके आनेमें बहुत समय लग जाता है जब हमारे मन, प्राण और शरीरकी सब गतियाँ और हमारे व्यक्तित्वके सब बहुविध एवं संघर्षकारी अंग तथा तत्त्व रूपांतरकी कठिन और कठोर प्रक्रियाको स्वीकार करनेके योग्य बन जाते हैं और स्वीकार करके उसे सहन करनेमें भी समर्थ होते हैं। जब हम अपनी चेतनाका अंतिम अतिमानसिक रूपांतर और विपर्यय करना चाहते हैं, तब अपनी सत्ताके सभी अंगोंके इच्छुक रहते भी हमें वर्तमान अस्थिर सृष्टिसे संबद्ध सार्वभौम शक्तियोंके विरुद्ध जो संघर्ष जीतना पड़ता है वह अत्यधिक कठिन होता है। कारण, वह अतिमानसिक रूपांतर तो किसी प्रकाशयुक्त अज्ञानको नहीं, वरन् भागवत सत्यको उसकी परिपूर्णतामें हमारे अंदर प्रतिष्ठित करेगा जब कि ये शक्तियाँ केवल प्रकाशयुक्त अज्ञानको ही अधिक सुगमतासे अवकाश देना चाहेंगी।

इसीलिये यह अनिवार्य है कि हम उस 'तत्'के प्रति जो हमसे परे है पूर्ण रूपसे नमन और समर्पण करें। इससे उसकी शक्ति हमारे अंदर पूर्ण और स्वतंत्र रूपसे क्रिया कर सकेगी। जैसे-जैसे यह आत्म-दान बढ़ता

है, यज्ञका कर्म अधिक सुगम और अधिक शक्तिशाली होता जाता है और विरोधी शक्तियोंकी वाधाका अधिकांश वल, वेग और सत्त्व नष्ट हो जाता है। जो कुछ इस समय कठिन या अव्यवहार्य प्रतीत होता है उसे संभवनीय और यहाँतक कि सुनिश्चित वस्तुमें परिणत करनेके लिये दो आभ्यांतर परिवर्तन अत्यधिक सहायक होते हैं। प्रथम तो अंदरकी वह गुप्त अंतरतम आत्मा सामने आ जाती है जो मनकी चंचल क्रियाशीलतासे, हमारे प्राणिक आवेगोंकी हलचलसे तथा भौतिक चेतनाके अंधकारसे आवृत थी—यही वे तीन शक्तियाँ हैं जिन्हें हम इस समय, इनके अस्तव्यस्त संयोगमें, अपनी आत्मा कहकर पुकारते हैं। आत्माके सामने आनेके फलस्वरूप केंद्रमें एक भागवत उपस्थिति अपनी मोक्षजनक ज्योति और अमोघ शक्तिके सहित, अपेक्षाकृत निर्वाध रूपमें, विकसित होने लगेगी और फिर उसकी ज्योति एवं शक्ति हमारी प्रकृतिके समस्त चेतन और अवचेतन स्तरोंके भीतर विकीर्ण होने लगेगी। यही दो चिह्न हैं, इनमेंसे पहला यह सूचित करता है कि परम खोजके प्रति हमारी दीक्षा और समर्पण पूर्ण हो गये हैं, दूसरा यह कि भगवान्‌ने हमारा यज्ञ अंतिम रूपमें स्वीकार कर लिया है।

पाँचवाँ अध्याय

यज्ञका आरोहण (१) :: ज्ञानके कर्म—चैत्य पुरुष

इस प्रकार, यही हमारे यज्ञके यजनीय परम और अनंत देवका आधारभूत सर्वांगीण ज्ञान है और यही त्रिविध यज्ञ अर्थात् कर्मोंके यज्ञ, प्रेम और पूजाके यज्ञ एवं ज्ञानके यज्ञका वास्तविक रूप है। कारण, जब हम केवल कर्मोंके यज्ञकी चर्चा करते हैं तब भी हमारा मतलब केवल अपने बाह्य कर्मोंके अर्पणसे नहीं, अपितु उस सबके अर्पणसे होता है जो हमारे अंदर क्रियाशील और शक्तिमय है। अपनी बाह्य क्रियाओंके समान ही अपनी आंतरिक गतियाँ भी हमें उसी एक वेदीपर अर्पित करनी होती हैं। यज्ञके रूपमें किये गये समस्त कर्मका मूल तत्त्व होता है आत्म-साधना तथा आत्म-पूर्णताका एक ऐसा प्रयत्न जिसके द्वारा हम उस ऊर्ध्व ज्योतिसे, जो हमारे मन, हृदय, संकल्प, इन्द्रिय, प्राण और शरीरकी सभी गतियोंमें प्रवाहित होती है, चैतन्यमय और ज्योतिर्मय बननेकी आशा कर सकते हैं। दिव्य चेतनाकी बढ़ती हुई ज्योतिसे हम अपनी आत्मामें संसार-यज्ञके स्वामीका सान्निध्य और साथ ही अपनी अंतरतम सत्ता तथा आध्यात्मिक स्वरूपमें उससे तादात्म्य भी प्राप्त कर लेंगे, जो कि प्राचीन वेदांतके अनुसार जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य है। अपिच, इसकी सहायतासे हम, अपनी प्रकृतिमें भगवत्-साधर्म्य लाभ कर, अपनी संभूतिमें भी उससे एकमय हो जायँगे, जो कि वेदके ऋषियोंकी गूढ़ भाषामें यज्ञके प्रतीकका गुह्य तात्पर्य है।

परंतु, यदि पूर्णयोगकी दृष्टिमें मानसिक सत्तासे आध्यात्मिक सत्ताकी ओर द्रुत विकासका स्वरूप यही है तो एक प्रश्न पैदा होता है जो अत्यधिक जटिल होते हुए भी क्रियात्मक दृष्टिसे अत्यंत प्रबल महत्त्व रखता है। जीवन और कर्मके वर्तमान रूपके साथ और अपनी अभी भी अपरिवर्तित मानव-प्रकृतिकी विशेष प्रवृत्तियोंके साथ हमें किस प्रकार व्यवहार करना होगा? एक महत्तर चेतनाकी ओर आरोहण करना एवं इसकी शक्तियोंका हमारे मन, प्राण और शरीरपर अधिकार कर लेना योगका प्रमुख लक्ष्य माना गया है; तथापि इहलोकका जीवन ही—कहीं औरका कोई अन्य जीवन नहीं—आत्माके कार्यके वर्तमान क्षेत्रके रूपमें प्रस्तुत किया गया है; यह कार्य हमारी यंत्रात्मक सत्ता और प्रकृतिका रूपांतर है, उसका उच्छेद

नहीं। तो फिर हमारी सत्ताकी वर्तमान क्रियाओंका क्या होगा? ज्ञान और इसके प्राकटचकी ओर अभिमुख मनकी क्रियाओंका, हमारे भावग्राही और संवेदनग्राही अंगोंकी क्रियाओंका, बाह्य आचार, जनन और उत्पादनकी क्रियाओंका और मनुष्य, पदार्थ, जीवन, संसार एवं विश्वप्रकृतिकी शक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त करनेमें प्रवृत्त इच्छाशक्तिकी क्रियाओंका क्या होगा? क्या इनका त्याग करना होगा और इनके स्थानपर जीवन-यापनकी कोई अन्य प्रणाली प्रतिष्ठित करनी होगी जिसमें अध्यात्मभावापन्न चेतना अपनी सच्ची अभिव्यक्ति और आकृति प्राप्त कर सके? क्या इन्हें वैसी-की-वैसी जारी रखना होगा जैसी कि ये अपने बाह्य रूपमें हैं और केवल कर्मगत आंतरिक भावनाके द्वारा ही इन्हें रूपांतरित करना होगा अथवा क्या इनका क्षेत्र विस्तृत करना और इन्हें नये रूपोंमें उन्मुक्त करना होगा? क्या यह कार्य चेतनाके एक वैसे विपर्ययके द्वारा करना होगा जैसा कि भूतलपर तब देखनेमें आया था जब मनुष्यने पशुकी प्राणिक क्रियाओंको तर्क, विचारयुक्त इच्छा-शक्ति, परिष्कृत भाव एवं सुव्यवस्थित बुद्धिके अंतःसंचारसे मानसीकृत, विस्तारित और रूपांतरित करनेका बीड़ा उठाया था? अथवा, क्या कुछ कार्योंका तो त्याग करना होगा और केवल ऐसे ही कर्मोंको जारी रखना होगा जो आध्यात्मिक परिवर्तन सहन कर सकें, और शेष कर्मोंके स्थानपर एक नये जीवनका सर्जन करना होगा जो, अपनी स्फुरणा और प्रेरकशक्तिकी भाँति अपने रूपमें भी, मुक्त आत्माकी एकता, विशालता, शांति, हर्ष और सामंजस्यको प्रकट करनेवाला हो? सभी समस्याओंमेंसे यही एक ऐसी समस्या है जिसने उन लोगोंके मनको जिन्होंने योगकी लंबी यात्रामें मानवसे भगवान्‌की ओर ले जानेवाले पथोंका अनुसरण करनेका यत्न किया है बहुत व्याकुल कर रखा है।

इसके लिये सब प्रकारके समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके एक छोरपर तो यह समाधान है कि कर्म और जीवनका पूर्ण रूपसे त्याग कर देना चाहिये,—जहाँतक कि ऐसा करना शारीरिक तौरपर संभव है—और दूसरे छोरपर यह कि जीवनको ज्यों-का-त्यों पर एक नयी भावनाके साथ अंगीकार करना चाहिये, एक ऐसी भावनाके साथ जिससे इसकी सभी चेष्टाएँ अनुप्राणित और उदात्त हो उठें, और देखनेमें चाहे वे वैसी ही रहें जैसी पहले थीं, किंतु उनकी मूल भावना और, फलतः, उनका अंतरीय अर्थ परिवर्तित हो जाय। संसारत्यागी तपस्वी या अंतर्मुख, आनंद-विभोर एवं आत्म-विस्मृत गुह्यदर्शी जिस आत्यंतिक समाधानपर आग्रह करते हैं वह स्पष्ट ही पूर्णयोगके उद्देश्यके प्रतिकूल है; क्योंकि यदि हमें जगत्‌में

भगवान्‌को उपलब्ध करना है तो यह जगत्-व्यवहार तथा स्वयं कर्मको सर्वथा एक ओर तजकर नहीं किया जा सकता। इससे कुछ निचले शिखरपर, प्राचीन कालमें धार्मिक विचारकोंने यह नियम निर्धारित किया था कि मनुष्यको केवल ऐसे काम ही जारी रखने चाहियें जो स्वाभाविक रूपसे भगवान्‌की जिज्ञासा, सेवा या पूजाप्रणालीके अंग हों और कुछ अन्य ऐसे काम जो इनसे संबद्ध हों अथवा इनके साथ ही कुछ वे काम भी जो जीवनकी सामान्य व्यवस्थाके लिये अनिवार्य हों, किंतु जो धार्मिक भावनासे और परंपरागत धर्म तथा धर्मशास्त्रके विधि-निषेधोंके अनुसार ही किये जायँ। परंतु यह इतना रूढ़िबद्ध नियम है कि इसके द्वारा स्वतंत्र आत्मा अपने-आपको कर्मोंमें चरितार्थ नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त, यह एक घोषित तथ्य है कि यह नियम ऐहिक जीवनसे पारलौकिक जीवनकी ओर जानेकी कठिनाइयोंको पार करनेके लिये एक अस्थायी समाधानसे अधिक कुछ नहीं है। इसके अनुसार अंतिम ध्येय तो एकमात्र पारलौकिक जीवन ही रहता है। वास्तवमें, किसी भी सर्वांगीण योगको गीताके इस व्यापक आदेशकी ही शरण लेनी होगी कि मुक्त आत्माको भी, सत्यमें निवास करते हुए जीवनके सभी कर्म करते रहने चाहियें, ताकि एक गुप्त दिव्य पथ-प्रदर्शनके अनुसार हो रहे विश्व-विकासकी योजना मंद या विनष्ट न हो जाय। परंतु यदि सभी कर्म वैसे ही आकार-प्रकारके साथ और वैसी ही पद्धतिके अनुसार करने होंगे जैसे वे अब अज्ञानमें किये जाते हैं, तो हमारी प्राप्ति केवल आंतरिक ही होगी और इस बातका भी भय रहेगा कि कहीं हमारा जीवन वाह्य क्षीण ज्योतिके कार्योंमें लगी हुई अन्त-र्ज्योतिका एक संदिग्ध और अस्पष्ट सूत्र ही न बन जाय और परिपूर्ण आत्मा अपनी दिव्य प्रकृतिसे भिन्न या विजातीय अपूर्णताके साँचेमें ही अपने-आपको प्रकट न करती रहे। यदि कुछ समयतक इससे अच्छा कुछ नहीं किया जा सकता,—और संक्रमणके दीर्घकालमें ऐसा कुछ अनिवार्यतः होता ही है,—तो ऐसी स्थिति तवतक बनी ही रहेगी जवतक सव साधन-सामग्री तैयार नहीं हो जाती और अंतःस्थित आत्मा शरीर और वहिर्जगत्‌के जीवनपर अपने रूपोंको लागू करनेमें पर्याप्त समर्थ नहीं हो जाती। किंतु इसे केवल एक संक्रमणावस्थाके रूपमें ही स्वीकार किया जा सकता है, अपनी आत्माके आदर्श या अपने पथके चरम लक्ष्यके रूपमें नहीं।

इसी कारण, नैतिक समाधान भी अपर्याप्त है। नैतिक नियम प्रकृतिके दुर्दम अश्वोंके मुँहमें लगाममात्र डालता है और उनपर एक कठिन तथा आंशिक नियंत्रणका प्रयोग करता है, परंतु इसमें प्रकृतिका ऐसा रूपांतर

करनेकी शक्ति नहीं है कि वह दिव्य आत्म-ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली अंतः-स्फुरणाओंको चरितार्थ करती हुई सुरक्षित स्वतंत्रतामें विचरण कर सके। इसके सर्वोत्तम रूपमें भी इसकी विधि है—सीमाओंको निर्धारित करना, दानवका निग्रह करना तथा हमारे चारों तरफ एक सापेक्ष और अत्यंत संदिग्ध रक्षाकी दीवार खड़ी कर देना। आत्म-रक्षणका यह या इसी प्रकारका कोई अन्य उपाय साधारण जीवनमें किंवा योगमें कुछ कालके लिये आवश्यक हो सकता है; किंतु योगमें यह केवल संक्रमणावस्थाका एक चिह्न भर हो सकता है। हमारा लक्ष्य है आमूल रूपांतर और आध्यात्मिक जीवनकी पावन विशालता और यदि हमें यह प्राप्त करना है तो हमें एक अधिक गंभीर समाधान तथा एक अधिक विश्वस्त अति-नैतिक और क्रिया-शील तत्त्वकी खोज करनी होगी। इस विषयमें साधारण धार्मिक समाधान यह है कि व्यक्तिको अंदरसे आध्यात्मिक और बाहरी जीवनमें नैतिक होना चाहिये, पर यह एक समझौतामात्र है। हम जिस लक्ष्यकी खोज कर रहे हैं वह जीवन और आत्मामें समझौता नहीं, वरन् आंतर सत्ता और बाह्य जीवन दोनोंका आध्यात्मीकरण है। अतएव, वस्तुओंके मूल्य और महत्त्वके संबंधमें मनुष्यने जो गड़बड़ मचा रखी है,—ऐसी गड़बड़ जो आध्यात्मिक और नैतिकके भेदको उड़ा देती है और यहाँतक दावा करती है कि नैतिक तत्त्व ही हमारी प्रकृतिमें एकमात्र सच्चा आध्यात्मिक तत्त्व है,—वह हमारे लिये किसी कामकी नहीं हो सकती। वास्तवमें नीतिधर्म एक मानसिक नियंत्रण है और सीमित भ्रांतिशील मन स्वतंत्र और सदा-प्रकाशमान आत्मा नहीं है और न हो ही सकता है। इसी प्रकार, उस सिद्धांतको भी स्वीकार करना असंभव है जो जीवनको ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानता है, उसके तत्त्वोंको ज्यों-का-त्यों मूलभूत रूपमें ग्रहण करता है और उसे रंजित तथा सुशोभित करनेके लिये एक अर्द्ध-आध्यात्मिक या मिथ्या-आध्यात्मिक प्रकाशको आमंत्रित करता है। न ही प्राण और अध्यात्ममें एक प्रकारका कुसंबंध स्थापित करनेके लिये बार-बार यत्न करना उपयुक्त हो सकता है,—ऐसा कुसंबंध कि भीतर तो गुह्य अनुभव हो और बाहर एक ऐसा सौंदर्यरसिक, बौद्धिक एवं ऐन्द्रिय प्रकृतिपूजावाद या उच्च सुखवाद हो जो गुह्य अनुभवका सहारा लेकर और आध्यात्मिक स्वीकृतिकी चमक-दमकमें अपनी कामनाओंको तृप्त करता रहे। कारण, यह भी एक अनिश्चित समझौता है और यह कभी भी सफल नहीं हो सकता, यह दिव्य सत्य और उसकी सर्वांगपूर्णतासे उतना ही दूर है जितना कि इससे उलटा अतिनैतिकवाद। ये सभी उस भ्रांति-

शील मानव-मनके स्खलनपूर्ण हल हैं जो उच्च आध्यात्मिक शिखरों और साधारण मानसिक एवं प्राणिक प्रेरक-भावोंकी निम्नतर उपत्यकाके बीच कार्य-निर्वाह करनेका मार्ग टटोल रहा है। इनके मूलमें जो भी आंशिक सत्य छिपा हो उसे केवल तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि उसे आध्यात्मिक स्तरतक ऊँचा उठाकर और परम सत्य-चेतनामें परखकर अविद्याकी मलिनता और भ्रांतिसे छुड़ा लिया जाय।

संक्षेपमें, यह निःशंक होकर कहा जा सकता है कि जबतक वह अतिमानसिक सत्य-चेतना प्राप्त नहीं हो जाती जिसके द्वारा वस्तुओंके वाह्य रूप अपने-अपने स्थानमें सुस्थित हो जायँगे और उनका सारतत्त्व तथा वह अन्तरीय तत्त्व भी जो सीधा इस आध्यात्मिक सारतत्त्वसे निकलता है प्रकट हो जायँगे, तबतक कोई भी प्रस्तावित समाधान सामयिक होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस बीच हमारी एकमात्र सुरक्षा इस वातमें है कि हम आध्यात्मिक अनुभूतिके पथ-प्रदर्शक नियमकी खोज करें अथवा अपने भीतरके उस प्रकाशको उन्मुक्त करें जो हमें तबतक मार्ग दिखा सकता है जवतक कि वह महत्तर साक्षात् सत्य-चेतना हमें अपनेसे ऊर्ध्व स्तरमें प्राप्त नहीं हो जाती या हमारे अंदर ही उत्पन्न नहीं हो जाती। क्योंकि हमारे अंदरकी और सब चीजें जो केवल वाहरी हैं, वह सब कुछ जो आध्यात्मिक वोध या प्रत्यक्षानुभव नहीं है,—बुद्धिकी कल्पनाएँ, उसके उपपादन अथवा निष्कर्ष, जीवन-शक्तिके निर्देश या उसकी प्रेरणाएँ तथा भौतिक पदार्थोंकी असंदिग्ध आवश्यकताएँ, ये सब कभी अर्ध-प्रकाश होते हैं और कभी मिथ्या प्रकाश। ये प्रकाश, अपने श्रेष्ठ रूपमें भी, केवल कुछ कालके लिये ही सहायक हो सकते हैं या केवल थोड़ी-सी ही सहायता कर सकते हैं और शेषांशमें तो ये हमें वाधा पहुँचाते या भ्रममें ही डालते हैं। आध्यात्मिक अनुभूतिका पथ-प्रदर्शक नियम तो मानव-चेतनाको भागवत चेतनाकी ओर खोल देनेसे ही अवगत हो सकता है। हममें ऐसी शक्ति होनी चाहिये कि हम भागवती शक्तिकी क्रिया, आज्ञा और सक्रिय उपस्थितिको अपने अंदर ग्रहण कर सकें और अपने-आपको उसके नियंत्रणके प्रति समर्पित कर सकें। इस समर्पण और नियंत्रणसे ही पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है। परंतु समर्पण तवतक निश्चित रूपसे साधित नहीं हो सकता और न ही तवतक पथ-प्रदर्शनका कोई पूरा भरोसा हो सकता है जवतक कि हम उन मानसिक रचनाओं, प्राणिक आवेगों और अहंके उत्तेजनोंसे आक्रांत हैं जो हमें आसानीसे छलकर मिथ्या अनुभवके हाथोंमें सौंप सकते हैं। इस विपत्तिका सामना हम अपनी उस अंतरात्मा या चैत्य पुरुषके

उद्घाटनके द्वारा ही कर सकते हैं जो अभी नौ बटा दस भाग छिपा हुआ है। यह हमारे अंदर विद्यमान तो आरंभसे ही होता है, पर साधारणतया क्रियाशील नहीं होता। यही हमारी वह अन्तर्ज्योति है जिसे हमें उन्मुक्त करना होगा। कारण, जबतक हम अविद्याके घेरेमें ही घूमते रहते हैं और सत्य-चेतना हमारे ईश्वराभिमुख पुरुषार्थका संपूर्ण नियंत्रण अपने हाथमें नहीं ले लेती, तबतक इस अन्तरतम आत्माका प्रकाश ही हमारा एकमात्र अचूक प्रकाश होता है। भागवती शक्तिकी क्रिया जो हमारे अंदर संक्रमणके नियमोंके अनुसार कार्य करती है, और चैत्य पुरुषका प्रकाश जो हमें सदा अज्ञानकी शक्तियोंकी माँगों और उत्तेजनाओंसे बचाकर एक उच्चतर संवेगका सचेतन रूपमें और सावधानताके साथ अनुसरण करनेके लिये प्रेरित करता है—ये दोनों अपने बीचके संक्रमण-कालमें हमारे कर्मके एक नित्य-विकसन-शील आभ्यांतर नियमको जन्म देते हैं। वह नियम तबतक चालू रहता है जबतक हम अपनी प्रकृतिमें आध्यात्मिक और अतिमानसिक विधानको प्रतिष्ठित नहीं कर पाते। इस संक्रमणमें, स्वभावतः ही, तीन अवस्थाएँ आ सकती हैं, एक तो वह जिसमें हम समस्त जीवन और कर्मको स्वीकार करते और इन्हें भगवान्‌को सौंप देते हैं ताकि वह इन्हें शुद्ध तथा परिवर्त्तित करे और इनके अंदरके सत्यको उन्मुक्त कर दे, दूसरी वह जिसमें हम पीछेकी ओर हट जाते हैं और अपने चारों ओर एक आध्यात्मिक दीवार खड़ी करके इसके दरवाजोंमेंसे केवल ऐसे कार्योंको प्रवेश करने देते हैं जो आध्यात्मिक रूपांतरके नियमके अधीन रहना स्वीकार करते हैं, तीसरी वह जिसमें आत्माके संपूर्ण सत्यके उपयुक्त नये रूपोंसे संपन्न, स्वतंत्र और सर्वस्पर्शी कर्म करना हमारे लिये फिरसे संभव हो जाता है। किंतु इन चीजोंका निर्णय किसी मानसिक नियमसे नहीं, बल्कि अपनी अंतरस्थ आत्माके प्रकाशमें और भागवती शक्तिके नियामक बल एवं वृद्धिशील मार्गदर्शनके अनुसार करना होगा। वह भागवती शक्ति पहले तो परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपमें प्रेरित करती है, फिर स्पष्ट रूपमें नियंत्रण रखना और आदेश देना आरंभ करती है और अंतमें योगका संपूर्ण भार ही अपने हाथमें ले लेती है।

यज्ञके त्रिविध स्वरूपके अनुसार हम कर्मोंको भी तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं, ज्ञानके कर्म, प्रेमके कर्म तथा प्राणगत शक्तिके कर्म, और यह देख सकते हैं कि किस प्रकार यह अधिक सुनम्य आध्यात्मिक नियम प्रत्येक क्षेत्रमें लागू होता है और निम्नतर प्रकृतिसे उच्चतर प्रकृतिकी ओरके संक्रमणको संपादित करता है।

*

ज्ञानकी खोजमें मानव-मनकी जो क्रियाएँ होती हैं उन्हें योगके दृष्टि-कोणसे स्वभावतः ही दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक तो है पराविद्या या परम अतिबौद्धिक ज्ञान जो अपने-आपको परात्पर-रूप एकमेव और अनंतकी खोजपर एकाग्र करता है अथवा प्राकृतिक प्रपंचके मूलमें स्थित चरम सत्योंके भीतर अंतर्ज्ञान, निदिध्यासन एवं साक्षात् आंतर संस्पर्शके द्वारा प्रवेश करनेका यत्न करता है। दूसरी है अपरा विद्या; यह अपने-आपको गोचर पदार्थों अर्थात् एकमेव और अनंत देवके उन छद्म-रूपोंके बाह्य ज्ञानमें विकीर्ण कर देती है जिनमें वह देव हमें अपने चारों ओरकी जगत्-अभिव्यक्तिके वाह्यतर पदार्थोंके भीतर और इनके द्वारा दृष्टिगोचर होता है। इन दो, पर और अपर, गोलार्धोंका जो स्वरूप मनुष्योंने मनकी अज्ञ सीमाओंमें निर्मित या कल्पित किया है उसमें भी ये, विकसित होकर, कुछ तीव्र रूपमें पृथक् हो गये हैं.......दर्शनने कभी तो आध्यात्मिक या कम-से-कम अंतर्ज्ञानात्मक और कभी वस्तुनिरपेक्ष एवं बौद्धिक वनकर तथा कभी आध्यात्मिक अनुभवको बौद्धिक रूप देकर या आत्मिक उपलब्धियोंको तर्कके उपकरणका सहारा देकर, सदैव अंतिम सत्यके निर्धारणको अपना क्षेत्र माननेका दावा किया है। परंतु जब वौद्धिक दर्शनने तत्त्व-चिंतनके अति सूक्ष्म शिखरोंपर पहुँचकर अपनेको व्यावहारिक जगत्-संबंधी तथा नश्वर पदार्थोंके अनुशीलन-विषयक ज्ञानसे विलग नहीं भी किया तब भी यह, अमूर्त चिंतनके अपने स्वभावके कारण, जीवनके लिये शक्तिका स्रोत शायद कभी नहीं रहा। अवश्य ही, कभी-कभी यह उच्च चिंतनके लिये शक्तिशाली रहा है, इसने विना किसी परोक्ष उपयोग या लक्ष्यके मानसिक सत्यका उसीके लिये अनुसंधान किया है और कभी-कभी शब्दों और विचारोंके अस्पष्ट एवं काल्पनिक आदर्शलोकमें मनके सूक्ष्म व्यायामके लिये भी इसने शक्तिशाली रूपमें कार्य किया है। परंतु जीवनके अधिक गोचर तथ्योंसे यह दूर ही हट गया है अथवा उनके ऊपरसे छलांग मारकर उन्हें छोड़ता चला गया है। यूरोपमें प्राचीन दर्शन बहुत शक्तिशाली रहा, पर केवल कुछ एक लोगोंके लिये ही; भारतमें इसने, अपने अधिक आध्यात्मीकृत रूपोंमें, प्रबल प्रभाव डाला, किंतु जातिके जीवनका रूपांतर नहीं कर सका......धर्मने, दर्शनकी भाँति, शिखरोंपर ही रहनेका यत्न नहीं किया, वरन् इसका लक्ष्य मनुष्यके मनके भागोंकी अपेक्षा कहीं अधिक उसके प्राण या जीवनके भागोंको अधिकारमें लाना और उन्हें ईश्वरकी ओर आकृष्ट करना था। इसने आध्यात्मिक सत्य और प्राणिक तथा भौतिक जीवनके बीच सेतु बाँधनेकी घोषणा की। इसने

निम्नतरको उच्चतरके अधीन करने और दोनोंमें संगति बैठाने, जीवनको भगवान्‌की सेवा करनेके योग्य तथा भूतलको द्युलोकका आज्ञा-पालक बनानेका यत्न किया। यह स्वीकार करना होगा कि बहुधा इस आवश्यक प्रयत्नका परिणाम विपरीत ही हुआ, इसने द्यौको पृथ्वीकी कामनाओंका समर्थक बना दिया, क्योंकि धार्मिक विचारका बहाना बनाकर मनुष्य लगातार अपने अहंकी पूजा और सेवा ही करता रहा। धर्म अपने सारभूत आध्यात्मिक अनुभवकी छोटी-सी उज्ज्वल रश्मिको निरंतर त्याग कर, जीवनके साथ किये गये अपने सदा-विस्तारशील अनिश्चित समझौतोंके धुँधले समुदायमें ही पूरी तरह खो गया। चिंतनात्मक मनको संतुष्ट करनेके प्रयत्नमें इसने बहुत बार इसे या तो दबा डाला या मत-मजहबके सिद्धांतोंकी बेड़ी पहिना दी। मानव-हृदयको अपने पाशमें पकड़नेकी चेष्टा करते हुए, यह स्वयं ही धर्मानुरागी भावुकतावाद और संवेदनवादके गर्त्तोंमें जा गिरा। मनुष्यकी प्राणिक प्रकृतिपर शासन करनेके लिये उसे अपने अधिकारमें लानेका यत्न करते हुए, यह स्वयं ही कलुषित हो गया और उस समस्त धर्मांधता, नरसंहारी क्रोधोन्माद, अत्याचारकी जंगली या कठोर प्रवृत्ति, प्ररोही मिथ्यात्व एवं दृढ़ अज्ञानासक्तिका शिकार हो गया जिनमें कि प्राणिक प्रकृतिकी स्वाभाविक रुचि होती है। मनुष्यके स्थूल भागको ईश्वरकी ओर आकृष्ट करनेकी इसकी इच्छाने स्वयं इसे ही धोखा देकर धर्मसंबंधी यांत्रिकता, खोखले संस्कार और निर्जीव कर्मकांडकी जंजीरसे बाँध दिया। सर्वोत्कृष्ट वस्तुने बिगड़कर सबसे निकृष्टको जन्म दिया; कारण, जीवन-शक्तिकी विचित्र रसायन-विद्या अच्छाईमेंसे बुराई पैदा करती है जैसे कि यह बुराईमेंसे अच्छाई भी पैदा कर सकती है। साथ ही, इस अधोमुख पतनके विरुद्ध आत्मरक्षाके व्यर्थ प्रयासमें, धर्मने एक प्रबल प्रेरणाके वश ज्ञान, कर्म-कलाप, कला एवं जीवनतकको दो विपरीत श्रेणियों,—आध्यात्मिक और सांसारिक, धार्मिक और ऐहिक, पवित्र और अपवित्र,—में बाँटकर सत्तामात्रको दो खंडोंमें विभक्त कर दिया। परंतु स्वयं यह रक्षात्मक विभाजन भी रूढ़िरूप तथा कृत्रिम बन गया और इसने रोगको ठीक करनेके स्थानपर उसे बढ़ा दिया..... दूसरी ओर विज्ञान, कला और जीवन-विद्या यद्यपि पहले धर्मकी छत्रछायामें ही सेवा या निवास करते रहे, पर आगे चलकर ये उससे अलग हो गये, उसके विजातीय या विरोधी बन गये, अथवा यहाँतक कि उसके उन शिखरोंसे, जिनके लिये तत्त्वज्ञानात्मक दर्शन और धर्म अभीप्सा करते हैं, पर जो इन्हें निरुत्साह, वन्ध्य और सुदूर या निःसार और मायामय तथा

अवास्तविकताके शिखर प्रतीत होते हैं, ये उदासीनता, घृणा या संदेहपूर्वक पीछे हट गये। कुछ कालके लिये यह विच्छेद उस चरम सीमाको पहुँच गया जहाँतक कि मानव-मनकी एकांगी असहिष्णुता इसे ले जा सकती थी, यहाँतक कि यह भय पैदा हो गया कि कहीं इसके परिणामस्वरूप एक अधिक उच्च या अधिक आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्तिका प्रयत्नमात्र सर्वथा लुप्त ही न हो जाय। पर वास्तवमें पार्थिव जीवनमें भी एक उच्चतर ज्ञान ही एकमात्र ऐसी चीज है जिसकी सदा-सर्वदा आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना निम्नतर विज्ञान और कार्य-व्यवहार, चाहे वे अपने परिणामोंकी प्रचुरताकी दृष्टिसे कितने भी फलप्रद, समृद्ध, स्वतंत्र और चमत्कारक क्यों न हों, सहज ही एक ऐसे यज्ञका रूप धर लेते हैं जो बिना ठीक विधिके मिथ्या देवोंको अर्पित होता है। अंतमें वे मनुष्यके हृदयको कलुषित और कठोर बनाकर एवं उसके मनके क्षितिजोंको सीमित कर या तो एक पाषाणमय भौतिक कारागृहमें बंद कर देते हैं या एक अंतिम निराशाजनक संशय-विकल्प और मोहभंगकी ओर ले जाते हैं। इस अर्द्ध-ज्ञानके, जो अभीतक अज्ञान ही है, भास्वर प्रस्फुरणके ऊपर एक वन्ध्य अज्ञेयवाद हमारी प्रतीक्षा कर रहा है।

एक ऐसा योग, जो परम देवको सर्वांगीण रूपमें प्राप्त करनेके लिये किया जाता है, विश्वात्माके कर्मों या स्वप्नोंकी भी—यदि वे स्वप्न हैं तो—अवहेलना नहीं करेगा, न ही वह उस भव्य उद्यम और बहुमुखी विजयसे पराङ्मुख होगा जिसे परम देवने मानव प्राणीमें अपने लिये निर्धारित किया है। परंतु इस प्रकारकी व्यापकताके लिये इसकी पहली शर्त्त यह है कि संसारमें हमारे कर्म भी यज्ञके अंग होने चाहियें और वह यज्ञ हमें सर्वोच्च देव तथा भागवती शक्तिको ही अर्पित करना चाहिये, किसी अन्य देव तथा अन्य शक्तिको नहीं, साथ ही वह हमें ठीक भावनाके साथ और यथार्थ ज्ञानपूर्वक, अपनी स्वतंत्र आत्माके द्वारा अर्पित करना चाहिये, जड़-प्रकृतिके सम्मोहित क्रीतदासद्वारा नहीं। यदि कर्मोंका विभाजन करना ही हो तो इन दो प्रकारके कर्मोंमें ही विभाजन करना होगा—एक तो वे जो हृदयकी पावन ज्वालाके अत्यंत निकट हैं और दूसरे वे जो इससे अधिक दूर हैं तथा इसी कारण इसके द्वारा न्यूनतम प्रभावित या प्रकाशित हैं,—अथवा यूं कहें कि एक तो वे समिधाएँ जो जोरसे या चमकके साथ जलती हैं और दूसरे वे काष्ठ जो वेदीपर अत्यंत घना ढेर लगा दिये जानेके कारण अपनी आर्द्र, भारी और विस्तृत बहुलतासे आगकी तेजीको रोक देते हैं। परंतु वैसे, इस विभाजनके अतिरिक्त, ज्ञानके सभी कर्म जो

सत्यको खोजते या प्रकट करते हैं, अपने-आपमें, पूर्ण उत्सर्गके लिये उचित सामग्री हैं; उनमेंसे किसीको भी दिव्य जीवनके विशाल ढाँचेसे बहिष्कृत करनेकी आवश्यकता नहीं। मानसिक और भौतिक विज्ञान जो पदार्थोंके नियमों, आकारों तथा प्रक्रियाओंका अनुसंधान करते हैं, वे विज्ञान जो मनुष्यों और जीव-जंतुओंके जीवनसे संबंध रखते हैं, सामाजिक, राजनीतिक, भाषासंबंधी तथा ऐतिहासिक विज्ञान और साथ ही वे विज्ञान जो उन कार्यों और व्यापारोंको जानने तथा नियंत्रित करनेका यत्न करते हैं जिनसे मनुष्य अपने संसार और परिपार्श्वको वशीभूत कर उन्हें उपयोगमें लाता है, उत्कृष्ट ललित कलाएँ जो एक साथ ही कर्म भी हैं और ज्ञान भी,—कारण, प्रत्येक सुनिर्मित और अर्थगर्भित कविता, चित्र, मूर्त्ति या भवन सर्जनशील ज्ञानकी कृति होता है, चेतनाकी जीवंत उपलब्धि एवं सत्यकी प्रतिमा होता है, मानसिक और प्राणिक अभिव्यक्ति या जगत्-अभिव्यक्तिका सक्रिय रूप होता है,—वह सब जो कि खोज करता है, वह सब जो कि उपलब्ध करता है, वह सब जो कि वाणी या आकार प्रदान करता है, अनंतकी लीलाके ही किसी अंशको चरितार्थ करता है और उतने अंशमें वह ईश्वर-उपलब्धि या दिव्य सृष्टिका साधन बनाया जा सकता है। परंतु योगीको देखना होगा कि आगेसे वह उसे अज्ञ मानसिक जीवनके अंगके रूपमें कभी स्वीकार न करे। उसे वह केवल तभी स्वीकार कर सकता है यदि वह अपने अंतर्निहित संवेदन, स्मरण और समर्पणके द्वारा अध्यात्म-चेतनाकी गतिमें परिणत हो जाय और इसके सर्वग्राही एवं प्रकाशप्रद ज्ञानकी विशाल पकड़का अंग बन जाय।

सब कुछ यज्ञके रूपमें ही करना चाहिये, सब कार्योंका ध्येय और उनके प्रयोजनका सार एकमेव भगवान् ही होना चाहिये। जो विद्याएँ ज्ञान-वृद्धिमें सहायक हैं उनके अध्ययनमें योगीका लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह मनुष्यमें तथा प्राणियों, पदार्थों और शक्तियोंमें भागवती चित्-शक्तिके व्यापारों तथा उसके सृष्टि-संबंधी आशयोंकी खोज करे और उन्हें हृदयंगम करे, साथ ही उन रहस्यों एवं प्रतीकोंका, जिनमें वह अपनी अभिव्यक्तिको व्यवस्थित करती है, कार्यान्वित करनेके उसके ढंगको भी खोजे और समझे। व्यावहारिक विद्याओंमें, चाहे वे मानसिक और भौतिक हों अथवा गुह्य और आंतरात्मिक, योगीका लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह भगवान्के तरीकों और उसकी गतिविधियोंकी तहमें जाय और जो काम हमें सौंपा गया है उसकी साधन-सामग्रीका ज्ञान प्राप्त करे जिससे हम आत्माके रहस्य, आनंद और आत्म-कृतार्थताको सचेतन और निर्दोष रूपसे प्रकट करनेके

लिये उस ज्ञानको काममें ला सकें। कलाओंमें योगीका लक्ष्य केवल सौंदर्य-भावनाकी और मन या प्राणकी तृप्ति करना नहीं, बल्कि यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान्को देखना, उसके कार्योंमें उसके भाव और अर्थका आत्म-प्रकाश अनुभव करते हुए उसकी पूजा करना तथा देवताओं, मनुष्यों, प्राणियों और पदार्थोंमें उसी एकमेव भगवान्को व्यक्त करना होना चाहिये। जो सिद्धांत धार्मिक अभीप्सा और सच्ची-से-सच्ची तथा महान्-से-महान् कलामें घनिष्ठ संबंध देखता है वही सार-रूपमें सही देखता है; किंतु हमें मिश्रित और संदिग्ध धार्मिक प्रेरकभावके स्थानपर आध्यात्मिक अभीप्सा, दृष्टि एवं अर्थ-प्रकाशक अनुभूतिको प्रतिष्ठित करना होगा। क्योंकि दृष्टि जितनी अधिक विशाल और व्यापक होगी, जितना ही अधिक यह मानवतामें और सब पदार्थोंमें छुपे हुए भगवान्की अनुभूतिको अपने अंदर धारण करेगी और एक स्थूल धार्मिकताके परे अध्यात्म-जीवनमें उन्नीत हो जायगी, इस उच्च आशयसे उद्भूत होनेवाली कला भी उतनी ही अधिक प्रकाशमान, नमनीय, गभीर और शक्तिशाली होगी। योगीकी दूसरे लोगोंसे विशेषता यह होती है कि वह एक उच्चतर तथा विशालतर अध्यात्म-चेतनामें निवास करता है; अतः उसकी समस्त ज्ञानकृति या सर्जन-कृति निश्चय ही वहींसे उद्भूत होनी चाहिये, वह मनमें नहीं गढ़ी जानी चाहिये,––क्योंकि वह दृष्टि एवं सत्य मनोमय मनुष्यकी दृष्टि एवं सत्यसे अधिक महान् है जिसकी अभिव्यक्ति योगीको करनी होती है अथवा यूँ कहना चाहिये कि जो योगीकी व्यक्तिगत संतुष्टिके हित नहीं, बल्कि दिव्य प्रयोजनके हित अपने-आपको उसके द्वारा प्रकट करने तथा उसके कार्योंको ढालनेके लिये उसपर दवाव डालता है।

इसके साथ ही जो योगी परम देवको जानता है वह इन कर्मोंमें किसी प्रयोजन या आवश्यकताके वशीभूत नहीं होता, क्योंकि उसके लिये ये न तो कोई कर्त्तव्य होते हैं, न मनका आवश्यक धंधा और न ही कोई उत्कृष्ट विनोद या सर्वोच्च मानवीय प्रयोजनद्वारा आरोपित कोई कार्य। वह किसी कर्ममें भी आसक्त और अवरुद्ध नहीं हो जाता, न ही इन कर्मोंमें यश, गौरव या व्यक्तिगत संतोषरूपी उसका कोई निजी हेतु होता है; वह इन्हें छोड़ भी सकता है या जारी भी रख सकता है, जैसी भी उसके अंतःस्थित भगवान्की इच्छा हो, परंतु उच्चतर पूर्ण ज्ञानकी खोजमें किसी अन्य कारणसे इनका त्याग करनेकी उसे आवश्यकता नहीं। वह इन कर्मोंको ठीक वैसे ही करेगा जैसे परम शक्ति कर्म करती है और सर्जन करती है, अर्थात् सर्जन और अभिव्यंजनके आध्यात्मिक हर्षविशेषके लिये

अथवा ईश्वरके रचे इस संसारको सुसंबद्ध रखने या लोकसंग्रह करने और इसे यथावत् व्यवस्थित या परिचालित करनेमें सहायता देनेके लिये। गीताकी शिक्षा है कि ज्ञानी मनुष्यको अपने जीवनके ढंगसे उन लोगोंमें भी जिन्हें अभी आध्यात्मिक चेतना प्राप्त नहीं हुई है 'सभी' कर्मोंके लिये—केवल उन्हींके लिये नहीं जो अपने स्वरूपकी दृष्टिसे पुण्यमय, धार्मिक या तपोमय समझे जाते हैं, बल्कि सभीके लिये—प्रेम पैदा करना चाहिये, साथ ही उसे उनके अंदर सब कर्म करनेका अभ्यास भी डलवाना चाहिये। उसे अपने दृष्टांतसे मनुष्योंको संसार-कर्मसे हटाना नहीं चाहिये। कारण, संसारको उसकी महान् ऊर्ध्वमुखी अभीप्सामें आगे बढ़ाना होगा; मनुष्यों और राष्ट्रोंको ऐसी राहसे नहीं ले चलना होगा कि वे अज्ञानमय कर्मसे अकर्मके निकृष्टतर अज्ञानमें जा गिरें अथवा शोचनीय विघटन और विनाशकी उस प्रवृत्तिमें जा डूबें जो जातियों तथा राष्ट्रोंपर तब आक्रमण करती है जब कि तामसिक तत्त्व,—अंधकारमय अस्तव्यस्तता और भ्रांतिका या क्लांति और जड़ताका तत्त्व—प्रबल हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं, "मुझे भी कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई चीज नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो या जो मुझे अभी अपने लिये प्राप्त करनी आवश्यक हो; तो भी मैं संसारमें कर्म करता हूँ, क्योंकि यदि मैं कर्म न करूँ तो सब नियम-धर्म अस्तव्यस्त हो जायँगे, लोकोंमें अव्यवस्था छा जायगी और मैं इन प्रजाओंका विनाशक बन जाऊँगा।" आध्यात्मिक जीवनको अपनी पवित्रताके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं कि वह अवर्णनीय ब्रह्मके सिवा और सभी वस्तुओंमें रस लेना छोड़ दे या ज्ञान-विज्ञान, कला-कलाप और जीवनके मूलपर ही कुठाराघात करे। अपितु पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान एवं कर्मका एक सहज फल यह हो सकता है कि यह उन्हें उनकी सीमाओंसे ऊपर उठा ले जा सकता है, साथ ही उनमें हमारे मनको जो अज्ञानयुक्त, परिमित, मंद या क्षुब्ध सुख मिलता है उसके स्थानपर आनंदका एक स्वतंत्र, प्रगाढ़ और उन्नायक वेग प्रतिष्ठित करके यह उन्हें सर्जनशील आध्यात्मिक बल और प्रकाशका एक नवीन उद्गम प्रदान कर सकता है। वह उद्गम फिर उन्हें उनकी परिपूर्ण ज्ञान-ज्योति और अद्यावधि स्वप्नातीत संभावनाओंकी ओर तथा अर्थ, रूप और प्रयोगकी अत्यंत सक्रिय शक्तिकी ओर अधिक शीघ्रता तथा गंभीरताके साथ ले जा सकता है। जो एकमात्र आवश्यक वस्तु है उसीका सर्वप्रथम तथा सदा-सर्वदा अनुसरण करना होगा, और सभी चीजें तो उसके परिणाम-स्वरूप स्वयमेव प्राप्त हो जायँगी। उनकी हमें अपने अंदर कोई नयी

वृद्धि नहीं करनी पड़ेगी, वरंच उस आवश्यक वस्तुके आत्म-प्रकाशमें तथा उसके आत्म-प्रकाशक बलके अंशोंके रूपमें उनकी पुनः-प्राप्ति एवं पुनर्निर्माण ही करना होगा।

*

यही दिव्य और मानवीय ज्ञानमें सच्चा संबंध है। इनके पारस्परिक भेदका मर्म यह नहीं है कि ये पवित्र और अपवित्र दो विषम क्षेत्रोंमें विभक्त हैं, बल्कि यह है कि इनकी क्रियाके मूलमें रहनेवाली चेतना भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। जो ज्ञान उस साधारण मानसिक चेतनासे उत्पन्न होता है जो पदार्थोंकी बाहरी या ऊपरी सतहोंमें, क्रिया-पद्धति और प्रपंचमें रुचि रखती है,—चाहे वह रुचि उस प्रपंचके लिये हो या किसी ऊपरी उपयोगिताके लिये अथवा कामना या बुद्धिकी मानसिक या प्राणिक संतुष्टिके लिये हो,—वह मानवीय ज्ञान है। परंतु ज्ञानकी यह क्रिया यदि आध्यात्मिक या आध्यात्मीकारक चेतनासे उत्पन्न हो तो यह योगका अंग बन सकती है। कारण, आध्यात्मिक चेतना जिस भी वस्तुका निरीक्षण करती है या जिस भी वस्तुके भीतर प्रवेश करती है उसमें कालातीत सनातनकी उपस्थितिको और सनातनकी कालगत अभिव्यक्तिके तरीकोंको खोजती और उपलब्ध करती है। यह तो स्पष्ट ही है कि अज्ञानसे ज्ञानकी ओर संक्रमण करनेके लिये एकनिष्ठता अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। अतएव, जिज्ञासुके लिये यह आवश्यक हो सकता है कि वह अपनी शक्तियाँ एकत्र कर उन्हें केवल उसीपर केंद्रित करे जो संक्रमणकी क्रियामें सहायक है, साथ ही, जो कुछ सीधा उस अनन्य लक्ष्यकी ओर उन्मुख नहीं है उस सबसे कुछ कालके लिये किनारा खींच ले या उसे केवल गौण स्थान ही दे। वह अनुभव कर सकता है कि मानव-ज्ञानका यह या वह अनुशीलन, जिसमें वह अपने मनकी स्थूल शक्तिके द्वारा व्यस्त रहनेका अभ्यस्त था, अब भी उसे उसी प्रवृत्ति या अभ्यासके वश, गहराइयोंमेंसे ऊपरी सतहकी ओर ले आता है अथवा यह उसे उन शिखरोंसे, जिनपर वह चढ़ चुका है या जिनके पास वह पहुँचनेवाला ही है, निचले स्तरोंपर उतार लाता है। तब ये प्रवृत्तियाँ कुछ कालके लिये स्थगित रखनी या छोड़नी पड़ सकती हैं जबतक कि वह उच्चतर चेतनामें सुस्थिर होकर इसकी शक्तियोंको सभी मानसिक क्षेत्रोंपर प्रयुक्त करनेमें समर्थ नहीं हो जाता; बादमें ये उस प्रकाशके अधीन होकर या उसमें उन्नीत होकर उसकी चेतनाके रूपांतरके द्वारा अध्यात्म तथा देवत्वके क्षेत्रमें परिवर्तित हो जाती हैं। जो कुछ

इस प्रकार रूपांतरित नहीं किया जा सकता या दिव्य चेतनाका अंग बननेसे इन्कार करता है उस सबको वह बिना झिझकके त्याग देगा। पर ऐसा वह किसी ऐसी पूर्वनिश्चित धारणाके कारण नहीं करेगा कि यह सब सारशून्य है या नये अंतर्जीवनका अंश बननेमें असमर्थ है। इन चीजोंके लिये कोई निश्चित मानसिक कसौटी या सिद्धांत नहीं हो सकता। अतः वह किसी अपरिवर्तनीय नियमका अनुसरण नहीं करेगा, बल्कि मनकी किसी भी प्रवृत्तिको अपने संवेदन, अंतर्दृष्टि या अनुभूतिके अनुसार स्वीकार या अस्वीकार करेगा। इस प्रकार, अंतमें महत्तर शक्ति और ज्योति प्रकट हो जायँगी, नीचे जो कुछ भी है उस सबकी ये अचूक छानबीन करेंगी और मानव-विकासने दिव्य प्रयासके लिये जो कुछ तैयार किया है उसमेंसे अपने लिये सामग्रीका ग्रहण या वर्जन करेंगी।

ठीक किस प्रकारसे या किस क्रमसे यह विकास एवं परिवर्तन होगा यह बात निश्चय ही वैयक्तिक प्रकृतिके स्वरूप, उसकी आवश्यकता और सामर्थ्योंपर निर्भर करेगी। आध्यात्मिक क्षेत्रमें सारतत्त्व सदा एक ही होता है, पर फिर भी वहाँ विविधताका कोई अंत नहीं होता; कम-से-कम पूर्णयोगमें तो सीमित तथा सुनिश्चित मानसिक नियमकी कठोरता प्रायः ही लागू नहीं होती। कारण, कोई भी दो प्रकृतियाँ, जब वे एक ही दिशामें चलती हैं तब भी, ठीक एकसमान लीकों अथवा पद-चिह्नोंपर या अपनी प्रगतिकी सर्वथा एकसमान अवस्थाओंमेंसे होती हुई आगे नहीं बढ़तीं। तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्नतिकी अवस्थाओंका तर्क-सम्मत क्रम बहुत कुछ इस प्रकारका होता है। सर्वप्रथम, एक विस्तीर्ण परिवर्तन होता है जिसमें व्यक्तिगत प्रकृतिकी सभी विशिष्ट एवं स्वाभाविक मानसिक क्रियाएँ ऊँची उठायी जाती हैं या उच्चतर दृष्टिबिंदुसे जाँची जाती हैं और हमारी अंतःस्थित आत्मा, चैत्य पुरुष अथवा यज्ञके पुरोहितके द्वारा भगवान्‌की सेवामें उत्सर्ग कर दी जाती हैं। उसके बाद सत्ताके आरोहणके लिये तथा इसके ऊर्ध्वमुख प्रयाससे प्राप्त होनेवाले चेतना-संबंधी एक नवीन शिखरकी विशिष्ट ज्योति और शक्तिको ज्ञानकी संपूर्ण क्रियामें उतार लानेके लिये प्रयत्न होता है। इस अवस्थामें व्यक्ति अपने-आपको चेतनाके आभ्यंतर केंद्रीय परिवर्तनपर प्रबल रूपसे एकाग्र कर सकता है और बहिर्गामी मानसिक जीवनके बड़े भारी भागको त्याग सकता है अथवा उसे तुच्छ और गौण स्थान दे सकता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें वह इसे या इसके कुछ भागोंको समय-समयपर फिरसे अपना भी सकता है—यह देखनेके लिये कि कहाँतक नवीन अंतरीय आंतरात्मिक और आध्यात्मिक चेतना इसकी

गतियोंके भीतर लायी जा सकती है। परंतु शनैः-शनैः स्वभाव या प्रकृतिका वह दबाव कम होता जायगा जो मानव प्राणियोंमें किसी एक या दूसरे प्रकारके कर्मको ऐसा आवश्यक बना देता है कि वह जीवनका एक अनिवार्य-सा अंग प्रतीत होने लगता है। अंतमें कोई भी आसक्ति शेष नहीं रहेगी, कहीं भी कोई निम्नतर दबाव या चालक शक्ति अनुभूत नहीं होगी। हमें केवल भगवान्से ही मतलब होगा, केवल भगवान् ही हमारी सारी सत्ताकी एकमात्र आवश्यकता होंगे। यदि कर्म करनेके लिये कोई दबाव होगा भी तो वह दृढ़मूल कामनाका या विश्वप्रकृतिकी शक्तिका नहीं, बल्कि उस महत्तर चित्-शक्तिकी ज्योतिर्मयी प्रेरणाका दबाव होगा जो उत्तरोत्तर हमारी सारी सत्ताका एकमात्र प्रेरक-बल बनती जा रही है। दूसरी तरफ, आंतर आध्यात्मिक विकासके किसी कालमें व्यक्तिको कर्मोंके निषेधकी अपेक्षा कहीं अधिक उनके विस्तारका अनुभव भी हो सकता है; योग-शक्तिके चमत्कारी स्पर्शसे मानसिक सर्जनकी नयी क्षमताओं और ज्ञानके नये क्षेत्रोंका उद्घाटन भी हो सकता है। सौंदर्यात्मक अनुभूति, एक क्षेत्रमें या युगपत् अनेक क्षेत्रोंमें कलात्मक सर्जनकी शक्ति, साहित्यिक भावप्रकाशनकी बुद्धि या प्रतिभा, दार्शनिक चिंतनकी योग्यता, आँख या कान या हाथकी कोई शक्ति या मनकी शक्ति भी उद्बुद्ध हो सकती है जहाँ पहले इनमेंसे कोई भी दिखायी नहीं देती थी। अंतरस्थ भगवान् इन निगूढ़ ऐश्वर्योंको उन गहराइयोंमेंसे जिनमें ये छिपे पड़े हैं, बाहर निकाल ला सकता है अथवा ऊपरसे कोई शक्ति अपने सामर्थ्योंको नीचे उँडेल सकती है, इसलिये कि वह हमारी यंत्रात्मक प्रकृतिको उस कर्म या सर्जनके योग्य बना सके जिसकी प्रणालिका या निर्मात्री बनना ही इसका प्रयोजन है। योगके गुप्त महेश्वरकी चुनी हुई विधि या विकास-पद्धति कोई भी क्यों न हो, फिर भी इस अवस्थाकी सामान्य परिसमाप्ति इस वृद्धिशील चेतनामें होती है कि वह ऊर्ध्वस्थित योग-महेश्वर हमारे मनकी सभी गतियोंका तथा ज्ञानकी संपूर्ण क्रियाओंका संचालक, निर्णायक तथा निर्मायक है।

जिस रूपांतरसे जिज्ञासुका ज्ञानात्मक मन और ज्ञानके कर्म अविद्याकी कार्यप्रणाली छोड़कर, पहले थोड़ा-थोड़ा और फिर पूरी तरहसे आत्माके प्रकाशमें काम करनेवाली मुक्त चेतनाकी कार्यप्रणालीका अनुसरण करने लगते हैं, उसके दो चिह्न होते हैं। प्रथम यह कि चेतनाका एक केंद्रीय परिवर्तन हो जाता है और परम तथा विश्वमय सत्ताका, स्वयं भगवान् और सर्वगत भगवान्का एक वर्धमान प्रत्यक्ष अनुभव, दर्शन तथा वेदन प्राप्त होता है। फलतः मन उन्नीत होकर सबसे पहले और प्रधान रूपसे

इसी चीजमें अधिकाधिक संलग्न होता जायगा और यह अनुभव करने लगेगा कि वह उच्च एवं विशाल होकर एकमात्र आधारभूत ज्ञानके प्रकाशनका एक उत्तरोत्तर उद्दीप्त साधन बन रहा है। पर साथ ही केंद्रीय चेतना समय पाकर ज्ञानकी बाह्य मानसिक क्रियाओंको उत्तरोत्तर ऊँचा ले जायगी और इन्हें अपना एक भाग या अधिकृत प्रदेश बना लेगी। यह इनके भीतर अपनी अधिक विशुद्ध गतिका संचार करेगी और अधिकाधिक आध्यात्मीकृत तथा ज्ञानोद्दीप्त मनको इन तलीय क्षेत्रों अर्थात् अपने नवविजित प्रदेशोंमें, और साथ ही अपने गभीरतर आध्यात्मिक साम्राज्यमें अपना यंत्र बना लेगी। यह दूसरा चिह्न होगा जो इस बातकी विशेष पूर्ति तथा सिद्धिका चिह्न होगा कि भगवान् स्वयं ज्ञाता बन गये हैं और जो किसी समय शुद्ध रूपसे मानवीय मानसिक कार्य था उसकी गतियों सहित, सभी आंतरिक व्यापार उनके ज्ञानका क्षेत्र बन गये हैं। वैयक्तिक चुनाव, सम्मति किंवा अभिरुचि न्यूनातिन्यून होती जायगी, बौद्धिक क्रिया, मानसिक उधेड़बुन या अतिकठोर मस्तिष्क-श्रम भी न्यूनातिन्यून हो जायगा; जो कुछ देखना आवश्यक है, जो कुछ जानना आवश्यक है वह सब अंदरकी एक ज्योति ही देखेगी और जानेगी, वही विकास, निर्माण एवं संघटन भी करेगी। अंदरका ज्ञाता ही व्यक्तिके मुक्त तथा विश्वभावापन्न मनमें एक सर्वग्राही ज्ञानके कर्म करेगा।

ये दो परिवर्तन उस प्रारंभिक सफलताके चिह्न हैं जिसके होनेपर मानसिक प्रकृतिके कार्य उन्नीत, आध्यात्मीकृत, विस्तारित, विश्वमय एवं मुक्त हो जाते हैं और अपने इस असली प्रयोजनसे सचेतन हो जाते हैं कि वे कालावच्छिन्न विश्वमें अपनी अभिव्यक्तिको विरचित और विकसित करनेवाले भगवान्‌के साधन हैं। परंतु यह नहीं हो सकता कि रूपांतरका संपूर्ण क्षेत्र केवल इतना ही हो, क्योंकि पूर्ण सत्यका जिज्ञासु अपना आरोहण केवल इन सीमाओंतक ही समाप्त नहीं कर सकता, न वह अपनी प्रकृतिके विशालीकरणको ही यहींतक सीमित कर सकता है। यदि वह ऐसा करेगा तो ज्ञान अभी भी उस मनका व्यापार बना रहेगा जो मुक्त, विश्वमय एवं अध्यात्ममय तो बन चुका है, पर फिर भी अपेक्षाकृत सीमाबद्ध एवं सापेक्ष है और अपनी क्रियाशीलताके असली सारमें भी अपूर्ण है, जैसा कि मनमात्र स्वभावतः ही होता है। यह सत्यकी महान् रचनाओंको स्पष्ट रूपसे प्रतिक्षिप्त तो करेगा, पर जिस क्षेत्रमें सत्य विशुद्ध, प्रत्यक्ष, प्रभुत्वशाली और स्वाभाविक है वहाँ-वहाँ विचरण नहीं कर सकेगा। इस शिखरसे अभी और ऊँचा आरोहण करना होगा, जिससे आध्यात्मीकृत मन अपनेको

अतिक्रांत कर ज्ञानकी अतिमानसिक शक्तिमें रूपांतरित हो जायगा। आध्यात्मीकरणकी प्रक्रियामें यह मानव-बुद्धिकी भड़कीली दरिद्रतामेंसे बाहर निकलना शुरू कर ही चुका होगा; और अब यह पहले उच्चतर मनके विशुद्ध विपुल विस्तारोंमें और तदनन्तर ऊर्ध्वके प्रकाशसे प्रकाशित और भी महत्तर प्रज्ञाके ज्योतिष्मान् मण्डलोंमें क्रमशः आरोहण करेगा। इस अवस्थामें यह एक अंतर्ज्ञानकी जो परतः-प्रकाशित नहीं, बल्कि स्वतः-प्रकाशमान एवं स्वतः-सत्य होता है और जो पहलेकी तरह पूर्ण रूपसे मानसिक न होनेके कारण भ्रांतिके बहुल आक्रमणसे अभिभूत भी नहीं होता,—प्रारंभिक दीप्तियोंको अधिक खुलकर अनुभव करने लगेगा और एक कम मिश्रित प्रतिक्रियाके साथ उन्हें अपने अंदर प्रवेश भी करने देगा। परंतु यहाँ भी आरोहणकी समाप्ति नहीं हो जायगी, फिर इसे और भी ऊपर उस अखंडित अंतर्ज्ञानके असली स्तरमें उठना होगा जो मूलभूत सत्‌की आत्मसंवित्‌से निकला हुआ प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश है और, इससे भी परे, वह तत्त्व प्राप्त करना होगा जहाँसे यह प्रकाश आता है। कारण, मनसे भी परे एक अधिमानस है, एक अधिक मूलभूत और क्रियाशील शक्ति है जो मनको आश्रय देती है, उसे अपनेमेंसे निकली हुई एक क्षीण रश्मि समझती है और एक अधोमुखी गतिको संक्रांत करनेवाले पट्टे या अविद्याको उत्पन्न करनेवाले साधनके तौरपर उसका प्रयोग करती है। आरोहणका अंतिम पग होगा स्वयं इस अधिमानसको भी पार करना, अथवा इसका अपने और भी महत्तर उद्‌गममें लौट जाना तथा विज्ञानकी अतिमानसिक ज्योतिमें रूपांतरित हो जाना। अतिमानसिक ज्योतिमें ही भागवत सत्य-चेतनाकी मुहर है। इस चेतनामें विश्वगत निश्चेतना और छायासे अकलुषित परम सत्यके कर्मोंको संगठित करनेकी एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जैसी इससे नीचेकी अन्य किसी चेतनामें हो ही नहीं सकती। वहाँ पहुँचना और अविद्याका रूपांतर कर सकनेवाली अतिमानसिक क्रियाशक्तिको वहाँसे उतार लाना पूर्णयोगका सुदूर पर अटल और परम लक्ष्य है।

जैसे ही इनमेंसे प्रत्येक उच्चतर शक्तिका प्रकाश ज्ञानके मानवीय कार्योंपर डाला जाता है, पवित्र एवं अपवित्र और मानवीय एवं दैवीका सब प्रकारका भेद अधिकाधिक क्षीण होने लगता है और आगे चलकर यह अंतिम तौरपर मिट जाता है, मानो यह एक सर्वथा निरर्थक वस्तु हो। भागवत विज्ञान जिस चीजको स्पर्श करता तथा जिसके भीतर पूर्णरूपेण प्रवेश करता है, वह रूपांतरित होकर इसके निज प्रकाश और बलकी गति बन जाती है। वह गति निम्नतर बुद्धिकी मलिनता और सीमाओंसे मुक्त

होती है। अतएव, कुछ कार्योंसे नाता तोड़ लेना नहीं, वरन् उन्हें अनुप्राणित करनेवाली चेतनाको बदलकर उन सबका कायापलट कर देना ही मुक्तिका मार्ग है, यही ज्ञानयज्ञका एक अधिक महान्—सदा ही अधिकाधिक महान्—ज्योति और शक्तिकी ओर आरोहण है। मन और बुद्धिके सब कर्मोंको पहले उच्च और विशाल बनाना होगा, फिर उन्हें प्रकाशयुक्त करके उच्चतर प्रज्ञाके स्तरमें उठा ले जाना होगा, तत्पश्चात् उन्हें एक महत्तर मनोतीत अंतर्ज्ञानकी क्रियाओंमें परिणत कर अधिमानस-ज्योतिके प्रबल प्रवाहोंमें रूपांतरित करना होगा, और फिर इन्हें भी अतिमानसिक विज्ञानके पूर्ण प्रकाश और प्रभुत्वमें रूपांतरित कर देना होगा। इस जगत्में चेतनाका जो विकास हो रहा है उसमें इस चीजके पूर्वचिह्न विद्यमान हैं पर अभी यह वहाँ बीजरूपमें तथा उसकी प्रक्रियाके आयासपूर्ण दृढ़ आशयमें छुपी हुई है। यह प्रक्रिया या यह विकास तबतक नहीं रुक सकता जबतक यह आत्माकी अद्यावधि-अपूर्ण अभिव्यक्तिके स्थानपर पूर्ण अभिव्यक्तिके यंत्र विकसित नहीं कर लेता।

*

यदि ज्ञान चेतनाकी एक विशालतम शक्ति है और इसका व्यापार मुक्त और आलोकित करना है, तो प्रेम एक गंभीरतम तथा तीव्रतम शक्ति है और दिव्य परम रहस्यकी अतिशय गंभीर तथा निगूढ़ गुहाओंकी कुंजी बननेका विशेष सौभाग्य भी इसीको प्राप्त है। मनोमय जीव होनेके कारण मनुष्यकी प्रवृत्ति यह है कि वह चिंतक मन तथा इसके तर्क एवं संकल्पको और सत्यके पास पहुँचने तथा उसे कार्यान्वित करनेके इसके तरीकेको सर्वोपरि महत्त्व देता है, यहाँतक कि उसका झुकाव यह माननेकी ओर है कि और कोई तरीका है ही नहीं। उसका हृदय, जो अपने भावों और अपरिमेय गतियोंसे संपन्न है, उसकी बुद्धिको ऐसा दिखायी देता है कि यह एक अंधकारयुक्त एवं संदिग्ध शक्ति है—जो प्रायः ही भयानक तथा भ्रामक होती है—और इसलिये इसे तर्कबुद्धि, मानसिक संकल्प और प्रज्ञाके नियंत्रणमें रखनेकी आवश्यकता है। परंतु हृदयमें या इसके पीछे एक गंभीरतर गुह्य ज्योति भी है। यह हृदयकी ज्योति चाहे वह चीज नहीं है जिसे हम अंतर्ज्ञान कहते हैं,—क्योंकि अंतर्ज्ञान मनकी चीज न होते हुए भी मनसे होकर ही नीचे आता है—तथापि, यह सत्यसे सीधा संबंध रखती है और ज्ञानगर्वित मानवीय बुद्धिकी अपेक्षा भगवान्‌के अधिक निकट है। प्राचीन शिक्षाके अनुसार अंतर्यामी भगवान् या निगूढ़ पुरुषका स्थान

गुह्य हृदयमें है,—हृदये गुहायाम्, जैसा कि उपनिषदें कहती हैं,—और अनेक योगियोंके अनुभवके अनुसार, इसीकी गहराइयोंसे आंतर आप्त पुरुषकी वाणी या निःश्वास प्रकट होता है।

हृदयसंबंधी यह द्विविध भाव, उसकी यह गभीरता और अंधता, जो परस्परविरोधी दिखायी देती हैं, मानवकी भावमय सत्ताके दोहरे स्वरूपके कारण पैदा होती हैं। सामनेकी तरफ तो मनुष्यमें प्राणमय भावका हृदय है जो पशुके हृदय जैसा है, यद्यपि है अधिक विविध रूपसे विकसित। इसके भाव अहंकारमय आवेशके द्वारा अंध और सहज राग-अनुराग तथा उन जीवन-आवेगोंकी समस्त क्रीड़ाके द्वारा शासित होते हैं जो दोषों और विकारोंसे भरे हुए हैं और प्रायः ही निकृष्ट पतनका कारण बनते हैं। यह निस्तेज तथा भ्रष्ट जीवन-शक्तिकी वासनाओं, कामनाओं, क्रोधों, उत्कट या भयानक माँगों या तुच्छ लोभों और नीच क्षुद्रताओंसे आक्रांत है और उनमें आबद्ध है और साथ ही, आवेगमात्रके अधीन होनेके कारण, हीन अवस्थामें गिरा हुआ है। भावमय हृदय और संवेदनशील सतृष्ण प्राणका यह मिश्रण मनुष्यमें कामनाकी मिथ्या आत्माको जन्म देता है। यह कामनात्मा वह अपरिष्कृत और भयावह तत्त्व है जिसपर तर्कबुद्धि, ठीक ही, अविश्वास करती है तथा नियंत्रण रखनेकी आवश्यकता अनुभव करती है, यद्यपि जिस वास्तविक नियंत्रण किंवा निग्रहको यह हमारी अपरिपक्व और आग्रहशील प्राणिक प्रकृतिपर स्थापित करनेमें सफल होती है वह सदा अत्यंत अनिश्चित और वंचनात्मक ही रहता है। परंतु मनुष्यकी सच्ची आत्मा इस भावमय हृदयमें नहीं है। वह प्रकृतिकी किसी ज्योतिर्मयी गुहामें निभृत एक सच्चे और अदृश्य हृदयमें है। वहाँ, दिव्य ज्योतिके एक विशेष अंतर्निस्यंदनकी छायामें हमारी आत्मा वा प्रशांत अंतरतम सत्ता अवस्थित है जिसका ज्ञान विरले ही लोगोंको है। चाहे आत्मा है तो सभीमें, पर बहुत कम ही अपनी सच्ची आत्माको जानते हैं अथवा इसकी प्रत्यक्ष प्रेरणा अनुभव करते हैं। भगवान्‌की इस नन्हीं-सी चिनगारीका वास हम सभीमें है। यह हमारी प्रकृतिके इस तमसाच्छन्न पिण्डको धारण करती है और इसीके चारों ओर चैत्य पुरुष अर्थात् हमारे अंदरकी गठित आत्मा या वास्तविक 'मनुष्य' वर्धित होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्यके अंदरका यह चैत्य पुरुष विकसित होता है और हृदयकी गतियाँ इसकी भविष्य-वाणियों तथा प्रेरणाओंको प्रतिबिंबित करने लगती हैं त्यों-त्यों मनुष्य अपनी आत्माके प्रति उत्तरोत्तर सचेतन होता चलता है; वह अब केवल एक ऊँची श्रेणीका पशु नहीं रहता। वह अपने अंतर्यामी परमेश्वरकी झाँकियोंके

प्रति जागृत होकर इसकी गंभीरतर जीवन और चेतना-विषयक सूचनाओंको तथा दिव्य वस्तुओंके प्रति संवेगको अपने अंदर अधिकाधिक ग्रहण करने लगता है। वह पूर्णयोगका एक निर्णायक क्षण होता है जब कि यह चैत्य पुरुष मुक्त होकर, पर्देके पीछेसे सामनेकी ओर आकर, अपनी भविष्य-सूचनाओं, दृष्टियों और प्रेरणाओंकी परिपूर्ण बाढ़से मनुष्यके तन-मन-प्राणको आप्लावित करने और पार्थिव प्रकृतिमें देवत्वके निर्माणका उपक्रम करनेमें समर्थ होता है।

हृदयकी क्रियाओंपर विचार करते हुए, ज्ञानके कर्मोंकी भाँति ही, इसकी दो प्रकारकी गतियोंमें प्रारंभिक भेद करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। एक तो वे गतियाँ हैं जो सच्ची अंतरात्मासे प्रेरित होती हैं अथवा उसके मुक्त होनेमें सहायता करती हैं और प्रकृतिपर शासन करती हैं और दूसरी वे जो अशुद्ध प्राणिक प्रकृतिकी संतुष्टिमें ही लगी रहती हैं। परंतु इस अर्थमें साधारणतः जो भेद किये जाते हैं वे योगके गंभीर या आध्यात्मिक प्रयोजनके लिये नहींके बराबर उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ, धार्मिक भावों और लौकिक संवेदनोंमें भी भेद किया जा सकता है और आध्यात्मिक जीवनका यह एक नियम बनाया जा सकता है कि केवल धार्मिक भावोंको ही बढ़ाना उचित है और सभी सांसारिक संवेदनों तथा रागोंको या तो त्याग देना चाहिये या उन्हें अपनी सत्तासे निकाल फेंकना चाहिये। क्रियात्मक रूपमें इसका अर्थ होगा—एक ऐसे संत या भक्तका धार्मिक जीवन जो भगवान्‌के साथ अकेला रहता है या केवल सार्वभौम ईश्वर-प्रेममें ही दूसरोंसे जुड़ा होता है अथवा, अधिक-से-अधिक, बाह्य संसारपर पवित्र, धार्मिक या भक्तिमूलक प्रेमके स्रोतोंको प्रवाहित कर रहा होता है। परंतु स्वयं धार्मिक भाव भी प्राणिक चेष्टाओंके उपद्रव और अंधकारसे प्रायः निरंतर ही आक्रांत होता रहता है। यह बहुत बार या तो असंस्कृत होता है या संकुचित या मतांध, अथवा यह ऐसी चेष्टाओंसे मिला रहता है जो आत्मिक पूर्णताके चिह्न नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि संतभावकी यह उत्कट प्रतिमूर्त्ति, जो कठोर पुरोहितीय पद्धतिमें जकड़ी हुई है, अपने सर्वोत्तम रूपमें भी, पूर्णयोगके व्यापक आदर्शसे बिल्कुल भिन्न वस्तु है। ईश्वर और जगत्‌के साथ एक अधिक व्यापक आंतरात्मिक तथा भावमय संबंध जोड़ना अनिवार्य है जो अपने स्तरमें अधिक गंभीर तथा नमनीय हो, अपने व्यवहारोंमें अधिक व्यापक और सर्वस्पर्शी हो और अपने क्षेत्रके भीतर सारे-के-सारे जीवनको समा लेनेमें अधिक समर्थ हो।

मनुष्यके संसारी मनने एक इससे भी अधिक व्यापक सूत्र प्रदान किया

हैं जो नैतिक भावनापर आधारित है। संसारी मन भावोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त करता है, एक तो वे भाव हैं जो नैतिक भावनासे अनुमोदित हैं और दूसरे वे जो अहम्मूलक हैं तथा स्वार्थपूर्ण रूपमें सर्वसाधारण एवं लौकिक हैं। परार्थ, परोपकार, करुणा, शुभेच्छा, मानवहित, सेवा-कार्य, अथवा मनुष्य तथा प्राणिमात्रके मंगलके लिये प्रयत्न ही हमारा आदर्श होना चाहिये; इस सिद्धांतके अनुसार मनुष्यके अंतर्विकासका पथ यह है कि वह अहंभावकी केंचुली उतारकर आत्म-त्यागकी एक ऐसी आत्मामें विकसित हो जाय जो केवल या मुख्यतः दूसरोंके लिये अथवा समूची मनुष्यजातिके लिये जीवन यापन करे। अथवा, यदि यह पथ इतना अधिक सांसारिक और मानसिक है कि हमारी संपूर्ण सत्ता इससे संतुष्ट नहीं हो सकती,—क्योंकि हमारे अंदर एक अधिक गहरा धार्मिक तथा आध्यात्मिक स्वर भी है जिसे यह मानवहितवादी सूत्र विचारमें नहीं लाता,—तो इसे एक धार्मिक-नैतिक आधारपर प्रतिष्ठित किया जा सकता है, और वास्तवमें इसकी मूल भित्ति थी भी ऐसी ही। एवं, हृदयकी भक्तिद्वारा भगवान् या पुरुषोत्तमकी आंतरिक पूजामें या परम ज्ञानकी खोजद्वारा अनिर्वचनीयके अनुसंधानमें एक और चीज भी सम्मिलित की जा सकती है। वह है परार्थके कार्योंद्वारा पुरुषोत्तमकी पूजा अथवा मनुष्यजातिके प्रति या अपने आस-पासके लोगोंके प्रति प्रेम और सेवाके कार्योंके द्वारा अपनी सत्ताकी तैयारी। सच पूछो तो इस धार्मिक-नैतिक भावनाद्वारा ही सार्वभौम हितकामना या विश्वजनीन करुणाके नियमका या पड़ोसीके प्रति प्रेम और सेवाके नियमका, अर्थात् वैदांतिक, बौद्ध या ईसाई आदर्शका जन्म हुआ था। कारण, मानव-हितका आदर्श सब बंधनोंसे मुक्त होकर मानसिक और नैतिक आचारधर्मकी सांसारिक पद्धतिका उच्चतम स्तर तभी बन सकता था यदि वह एक प्रकारके सांसारिक शीतलीकरण (refrigeration) के द्वारा अपने अंदरके धार्मिक तत्त्वकी प्रचंडताको शांत कर देता। धार्मिक प्रणालीमें कर्मोंका यह नियम एक ऐसा साधन है जो अपना उद्देश्य सिद्ध होनेपर लुप्त हो जाता है या फिर यह एक गौण विषय ही है। यह उस मतवादका अंश है जिसके द्वारा मनुष्य देवत्वकी पूजा और खोज करता है अथवा यह निर्वाणके मार्गमें आत्माके उच्छेदका अंतिमसे पहला कदम है। सांसारिक आदर्शमें इसे अपने-आपमें एक उद्देश्यका उच्च पद प्रदान किया जाता है। यह मानव-प्राणीकी नैतिक पूर्णताका चिह्न बन जाता है, अथवा यह भूतलपर मनुष्यकी एक अधिक सुखमय अवस्था या एक अधिक श्रेष्ठ समाजकी किंवा जातिके एक अधिक एकीभूत जीवनकी शर्त बन जाता है। परंतु इनमेंसे कोई भी

चीज आत्माकी उस माँगको पूरा नहीं करती जिसे पूर्णयोग हमारे सामने रखता है।

परार्थ, परोपकार, मानवहित और सेवा मानसिक चेतनाके पुष्प हैं और, अपने सर्वोत्तम रूपमें भी, ये सार्वभौम दिव्य प्रेमकी आध्यात्मिक ज्योतिशिखाका मनद्वारा किया गया एक भावशून्य और निस्तेज अनुकरण-मात्र हैं। ये वास्तवमें मनुष्यको अहं-बुद्धिसे मुक्त नहीं करते, वल्कि इसे केवल विस्तारित कर उच्चतर तथा विपुलतर तृप्ति प्रदान करते हैं। मनुष्यके प्राणिक जीवन एवं प्रकृतिका परिवर्तन करनेमें क्रियात्मक रूपसे अशक्त होते हुए, ये केवल इसकी चेष्टाको कुछ संशोधित और शांत करके इसके अपरिवर्तित अहंभावमय मूलतत्त्वपर लीपापोती कर देते हैं। अथवा यदि एक पूर्ण सत्य-संकल्पके साथ एवं अतिकठोरतापूर्वक इनका अनुसरण किया जाय तो इसके लिये हमारी प्रकृतिके एक ही अंगको अतीव विस्तृत करनेकी जरूरत होगी। इस प्रकारकी अति करनेसे विश्वमय और विश्वातीत सनातनकी ओर हमारी व्यष्टिभूत सत्ताके अनेक पहलुओंके पूर्ण तथा समग्र दिव्य विकासके लिये कोई आधार नहीं रह जायगा। धार्मिक-नैतिक आदर्श भी पर्याप्त पथप्रदर्शक नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो केवल धार्मिक और नैतिक आवेगोंमें पारस्परिक सहायताके लिये समझौता है या पारस्परिक रियायतोंका शर्तनामा। धार्मिक आवेग साधारण मानव-प्रकृतिकी उच्चतर प्रवृत्तियोंको अपने अंदर समाकर पृथ्वीपर एक अधिक दृढ़ आधिपत्य जमाना चाहता है और नैतिक आवेग थोड़ेसे धार्मिक उत्साहके द्वारा अपने-आपको अपनी मानसिक कठोरता और रूक्षतामेंसे निकालकर ऊपर उठनेकी आशा करता है। इन दोनोंके वीच शर्तनामा करनेमें धर्म अपने-आपको गिराकर मानसिक स्तरपर ले आता है और इस प्रकार उसे मनकी स्वभावगत त्रुटियाँ तथा जीवनका परिवर्तन एवं रूपांतर करनेमें इसकी अक्षमता उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त होती हैं। मन द्वंद्वोंका क्षेत्र है और जैसे इसके लिये केवल सापेक्ष या भ्रम-मिश्रित सत्योंको छोड़कर किसी निरपेक्ष सत्यको प्राप्त करना असंभव है वैसे ही किसी निरपेक्ष शुभकी प्राप्ति भी असंभव है। कारण, नैतिक शुभ तो अशुभके सहायक और संशोधकके रूपमें ही अपना अस्तित्व रखता है और अशुभ उसके साथ सदा लगा रहता है, मानो यह उसकी छाया, उसका पूरक एवं उसकी सत्ताका हेतु-सा हो। परंतु आध्यात्मिक चेतना मानसिक स्तरसे ऊँचे स्तरके साथ संवंध रखती है और वहाँ सव द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। वहाँ असत्य जव उस सत्यके सामने आता है जिसे मिथ्या वनाकर तथा वलपूर्वक हथिया-

कर यह उससे लाभ उठाता था और अशुभ जब उस शुभके सम्मुख खड़ा होता है जिसका यह विकार या मलिन प्रतिनिधि था, तब ये असत्य और अशुभ, पोषण न मिलनेके कारण, विवश होकर क्षीण होने लगते हैं और अन्तमें समाप्त हो जाते हैं। पूर्णयोग मानसिक तथा नैतिक आदर्शोंके भंगुर सत्त्वका अवलंबन लेनेसे इन्कार करता है और इस क्षेत्रमें अपना सारा वल तीन केंद्रीय प्रबल विधियोंपर लगाता है--सच्ची अंतरात्मा या चैत्य पुरुषको विकसित करना जिससे कि यह कामनाकी मिथ्या आत्माका स्थान ले ले, मानव-प्रेमको दिव्य प्रेममें उदात्त करना और चेतनाको उसके मानसिक स्तरसे उठाकर उस आध्यात्मिक और अतिमानसिक स्तरमें ले जाना जिसकी शक्तिसे ही आत्मा और जीवन-शक्ति--दोनों अविद्याके आवरणों और छलछद्मोंसे पूर्णरूपेण मुक्त की जा सकती हैं।

अंतरात्मा या चैत्य पुरुषका निज स्वभाव भागवत सत्यकी ओर मुड़ना है, वैसे ही जैसे सूर्यमुखीका स्वभाव सूर्यकी ओर मुड़ना है। जो कुछ भी दिव्य है या दिव्यताकी ओर बढ़ रहा है उस सबको यह स्वीकार करता है और उससे चिपक जाता है और जो कुछ उस दिव्यताका विकार या इन्कार है तथा जो कुछ मिथ्या और अदिव्य है उस सबसे यह परे हटता है। परंतु यह अंतरात्मा पहले-पहल देवाधिदेवकी एक चिनगारीमात्र और वादमें घने अंधकारके बीच जल रही एक नन्हीं-सी ज्वाला ही होती है। अधिकांशमें यह अपने आंतर पावन धाममें छिपी रहती है और अपने-आपको आविर्भूत करनेके लिये इसे मन, प्राणशक्ति और भौतिक चेतनासे अनुरोध करना और उन्हें प्रेरित करना पड़ता है कि वे यथासंभव उत्तम प्रकारसे इसे प्रकट करें। साधारणतः यह अधिक-से-अधिक उनकी वहिर्मुखताको अपने अंतःप्रकाशसे आप्लावित करने तथा उनके अंध तमस् या उनके स्थूलतर मिश्रणको अपनी पावन सूक्ष्मताद्वारा कुछ कम करनेमें ही सफल होती है। यहाँतक कि जब चैत्य पुरुष गठित हो जाता है और अपने-आपको जीवनमें कुछ प्रत्यक्ष ढंगसे प्रकट करनेमें समर्थ होता है तब भी यह इने-गिने लोगोंके सिवा शेष सभीमें सत्ताका एक छोटा-सा अंश ही होता है। प्राचीन ऋषि इसके लिये जिस रूपकका प्रयोग करते थे वह यह है कि "इस देहसंघातमें यह मनुष्यके अँगूठेसे अधिक वड़ा नहीं है।" यह शारीरिक चेतनाके अंधकार एवं अज्ञ क्षुद्रता और मनके भ्रांत निश्चयों या प्राणिक प्रकृतिकी धृष्टता तथा उग्रतापर विजय पानेमें सदा सक्षम नहीं होता। यह अंतरात्मा मनुष्यके मानसिक, भावुक एवं संवेदनात्मक जीवनको, जैसा कि यह है, उसके संवंधों, उसकी चेष्टाओं, उसके पालित-

पोषित रूपों तथा आकारोंके सहित स्वीकार करनेके लिये बाध्य होती है। इसे इस सब सापेक्ष सत्यमेंसे जो एक सतत मिथ्याकारी भ्रमसे मिला हुआ है, इस प्रेममेंसे जो पाशविक शरीरके प्रयोजनों या प्राणिक अहंकारकी तृप्तिमें लगा हुआ है, औसत मनुष्यके इस जीवनमेंसे जो देवाधिदेवकी विरल तथा मंद झाँकियों तथा राक्षस और पिशाचकी घोरतर बीभत्सताओंसे बिंधा हुआ है, दिव्य तत्त्वको निर्मुक्त और संवर्धित करनेके लिये यत्न करना होता है। यद्यपि इसका संकल्प सारतः निर्भ्रांत होता है तो भी यह प्रायः अपने करणोंके दबावमें आकर अपने कार्यमें गलती कर जाती है, अशुद्ध वेदन प्राप्त कर लेती है, व्यक्तिके चुनावमें अशुद्धि करती है और अपने संकल्पके यथार्थ रूपके विषयमें तथा अभ्रांत आंतर आदर्शकी अभिव्यक्तिकी अवस्थाओंके संबंधमें बरबस भूलें कर बैठती है। तथापि इसके अंदर एक ऐसा भविष्य-ज्ञान है जो इसे तर्क-बुद्धिकी अपेक्षा या ऊँची-से-ऊँची कामनाकी भी अपेक्षा अधिक अचूक पथप्रदर्शक बना देता है, प्रत्यक्ष भ्रांतियों तथा स्खलनोंके मध्य भी इसकी आवाज सूक्ष्म बुद्धि और विवेकपूर्ण मानसिक निर्णयकी अपेक्षा अधिक अच्छा मार्गदर्शन कर सकती है। आत्माकी यह आवाज वह चीज नहीं है जिसे हम नैतिक भावना (Conscience) कहते हैं, वह तो केवल एक मानसिक स्थानापन्न-वस्तु है जो प्रायः ही रूढ़ तथा भ्रांतिशील होती है। आत्माकी आवाज एक अधिक गंभीर और बहुत ही कम सुनायी देनेवाली पुकार है। तथापि जब कभी यह सुनायी दे, इसका अनुसरण करना अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण होता है, यहाँतक कि तर्क-बुद्धि और बाह्य नैतिक उपदेशकी सहायतासे प्रत्यक्षतया सीधे रास्तेपर चलनेकी अपेक्षा अपनी आत्माकी पुकारके पीछे भटकना अधिक अच्छा होता है। परंतु जब जीवन भगवान्‌की ओर मुड़ता है तभी अंतरात्मा वास्तवमें आगे आ सकती है और बाह्य अंगोंपर अपनी शक्तिका बलपूर्वक प्रयोग कर सकती है। स्वयं भगवान्‌की चिनगारी होनेसे, भगवान्‌की ओर ज्योतिशिखाके रूपमें बढ़ना ही इसका सच्चा जीवन और इसके अस्तित्वका वास्तविक हेतु है।

योगमें एक विशेष अवस्थामें पहुँचनेपर जब कि मन पर्याप्त अचंचल हो जाता है और पहलेकी तरह पग-पगपर अपने मानसिक निश्चयोंकी क्षमताका आश्रय नहीं लेता, जब प्राण स्थिर और वशीभूत हो चुकता है और अपनी अविवेकपूर्ण इच्छाशक्ति, माँग और कामनाके संबंधमें पूर्ववत् निरंतर आग्रहशील नहीं रहता, और जब शरीरको भी इतना बदल दिया जाता है कि वह अंतरीय ज्वालाको अपनी बहिर्मुखता, जड़ता या निष्क्रियताके

ढेरके नीचे पूरी तरहसे दबा नहीं सकता, तब एक भीतर छुपी हुई और अपने विरल प्रभावोंके समय ही अनुभूत होनेवाली अंतरतम सत्ता सामने आनेमें समर्थ हो जाती है, यह शेष अंगोंको भी आलोकित कर सकती है तथा साधनाका नेतृत्व अपने हाथमें ले सकती है। इसका स्वभाव ही भगवान् या सर्वोच्च देवकी ओर अनन्य अभिमुखता है,—एक ऐसी अनन्य अभिमुखता जो अनन्य होती हुई भी क्रिया तथा गतिमें नमनशील होती है। यह एकनिष्ठ बुद्धिकी तरह किसी लक्ष्यकी कट्टरताको अथवा एकनिष्ठ प्राणिक शक्तिकी भाँति किसी प्रभुत्वशाली विचार या आवेगकी हठधर्मिताको जन्म नहीं देती। प्रतिक्षण और नमनशील असंदिग्धताके साथ यह सत्यकी ओर ले जानेवाले मार्गका निर्देश करती है, सही कदम और गलत कदममें सहज ही भेद जतलाती है, दिव्य या ईश्वरमुखी गतिको अदिव्य वस्तुके चिमटनेवाले मिश्रणसे पृथक् कर देती है। इसका कार्य एक जाज्वल्यमान मशालके समान है जो, प्रकृतिमें जो कुछ भी परिवर्तनीय है, उस सबको स्पष्ट दिखा देती है। इसमें संकल्पकी एक अग्नि है जो पूर्णताके लिये और समस्त आंतर तथा बाह्य सत्ताके रूपांतरकारी परिवर्तनके लिये आग्रह करती है। यह सर्वत्र दिव्य सारतत्त्व ही देखती है और आवरण एवं आवरक आकारमात्रका परित्याग कर देती है। यह सत्य, संकल्पशक्ति, बल एवं प्रभुत्व तथा हर्ष, प्रेम एवं सौंदर्यकी आग्रहपूर्वक माँग करती है, स्थिर ज्ञानके उस सत्यकी जो अज्ञानके केवल व्यावहारिक क्षणिक सत्यका अतिक्रमण कर जाता है, केवल प्राणिक सुखकी नहीं, बल्कि आंतरिक हर्षकी,—क्योंकि यह पतनकारी सुखोंकी अपेक्षा पवित्रीकारक कष्ट-क्लेशको कहीं अधिक पसंद करती है,—उस प्रेमकी नहीं जो अहंकारमय लालसाके खूँटेसे बँधा हुआ है या जिसके पैर पंकमें फँसे हुए हैं, बल्कि ऊँची उड़ान लेनेवाले प्रेमकी, उस सौंदर्यकी जो सनातनका निरूपण करनेके अपने पुरोहित-पदपर प्रतिष्ठित है तथा अहंके नहीं, बल्कि आत्माके यंत्रोंके रूपमें काम आनेवाले बल, संकल्प और प्रभुत्वकी आग्रहपूर्वक माँग करती है। इसका संकल्प जीवनको दिव्य बनाने, उसके द्वारा उच्चतर सत्यको अभिव्यक्त करने और उसे भगवान् तथा सनातन सत्तापर उत्सर्ग कर देनेके लिये होता है।

परंतु चैत्य पुरुषका अत्यंत अंतरंग स्वभाव है भगवान्को पानेके लिये पवित्र प्रेम, हर्ष और एकत्वद्वारा प्रवृत्त होना। भागवत प्रेम ही उसकी खोजका प्रथम विषय होता है, यही प्रेरक, उसका लक्ष्य तथा उसका सत्यका सितारा होता है जो हमारे अंदरके नवजात देवत्वके नवोदित या अभी भी अंधकारावृत पालनेकी प्रकाशमय गुहापर चमक रहा होता है। अपने

विकास और अपरिपक्व अस्तित्वकी प्रथम दीर्घ अवस्थामें वह पार्थिव प्रेम, वात्सल्य, मृदुता, सद्भावना, करुणा और दयाकी और समस्त सुन्दरता, कोमलता, सूक्ष्मता, प्रकाश, बल एवं साहस आदि उन सब चीजोंकी सहायता ले चुका होता है जो मानव-प्रकृतिकी स्थूलता तथा साधारणताको सूक्ष्म एवं पवित्र करनेमें सहायक हो सकती हैं। परंतु वह जानता है कि अपने सर्वोत्तम रूपमें भी ये मानवीय गतियाँ कितनी मिश्रित होती हैं, वह यह भी जानता है कि अपने निकृष्टतम रूपमें ये कैसी पतित होती हैं और साथ ही अहं तथा आत्मवंचक कल्पना-जनित मिथ्यात्वकी और आत्मगतिके अनुकरणसे लाभ उठानेवाले निम्नतर 'स्व'की मुहरछापसे कैसी चिह्नित होती हैं। आविर्भूत होते ही यह, एकदम, सभी पुराने संबंधों तथा त्रुटिपूर्ण भावमय चेष्टाओंका उच्छेद करने और उनके स्थानपर प्रेम तथा एकत्वके महत्तर आध्यात्मिक सत्यको स्थापित करनेके लिये उद्यत तथा उत्सुक होता है। यह मानवीय रीतियों और गतियोंको फिर भी स्वीकार कर सकता है, किंतु इस शर्तपर कि वे एकमेव देवकी ओर ही मोड़ दी जायँगी। यह केवल उन्हीं संबंधोंको स्वीकार करता है जो सहायक होते हैं,—हृदयमें गुरुके लिये मान, ईश्वरान्वेषकोंका समागम, अज्ञानमय मानवीय और जीव-जंतुमय जगत् तथा इसके प्राणियोंके प्रति आध्यात्मिक करुणा, सौंदर्यका वह हर्ष, सुख एवं संतोष जो सर्वत्र भगवान्के दर्शन करनेसे ही प्राप्त होता है। यह हृदयके गुह्य केंद्रमें विराजमान अंतर्यामी भगवान्के साथ प्रकृतिका मिलन संपादित करनेके लिये उसे भीतर निमज्जित करता है और जब ऐसी पुकार विद्यमान होगी तब अहंभावकी कोई भर्त्सना, परार्थ या कर्तव्य या परोपकार या सेवाके कोरे बाहरी बुलावे इसे धोखा नहीं देंगे अथवा इसे इसकी पवित्र अभीप्सासे और निज अंतःस्थित दिव्यताके आकर्षणके प्रति इसकी आज्ञाकारितासे विमुख नहीं करेंगे। यह सत्ताको परात्पर आनंदोद्रेककी ओर उठा ले जाता है और एकमेव सर्वोच्च देवतक पहुँचनेके लिये अपनी ऊर्ध्वगतिमें संसारके समस्त अधोमुख आकर्षणको अपने पंखोंपरसे झाड़ फेंकनेके लिये उद्यत रहता है। पर साथ ही यह घृणा, कलह, विभाजन, अंधकार और कलहशील अज्ञानके इस जगत्को मुक्त तथा रूपांतरित करनेके लिये उस परात्पर प्रेम तथा परम आनंदका यहाँ आह्वान भी करता है। सार्वभौम भागवत प्रेम, व्यापक करुणा तथा तीव्र और अति महान् संकल्पकी ओर यह अपने-आपको खोल देता है—सबके मंगलके लिये, उस जगन्माताके आलिंगनके लिये जो अपनी संतानोंको सब ओरसे आच्छादित किये हुई है या अपने चारों ओर एकत्र कर रही है, उस दिव्य अनुरागके संस्पर्शके

लिये जिसने संसारका सार्वभौम अज्ञानसे उद्धार करनेके लिये रात्रिके भीतर डुबकी लगायी है। यह सत्ताके इन महान् एवं सुप्रतिष्ठित सत्योंके मानसिक अनुकरणों या किसी प्राणिक दुरुपयोगसे आक्रुष्ट या भ्रांत नहीं होता। यह अपनी अन्वेषक विद्युत्-दृष्टिसे इन्हें प्रकाशमें ले आता है और दिव्य प्रेमके संपूर्ण सत्यका नीचे आवाहन करता है इसलिये कि वह इन दूषित रचनाओंमें सुधार करे, मानसिक, प्राणिक एवं दैहिक प्रेमको इनकी त्रुटियों या इनके विकारोंसे मुक्त करे और घनिष्ठता, एकता, आरोही हर्षावेश तथा अवरोही उल्लासका इनका प्रचुर भाग इनके सामने प्रकट करे।

प्रेमके और प्रेमसंबंधी कर्मोंके सभी सच्चे सत्योंको चैत्य पुरुष उनके अपने स्थानमें स्वीकार करता है। परंतु इसकी ज्वाला सदा ऊपरकी ओर आरोहण करती है और यह आरोहणको सत्यकी निम्नतरसे उच्चतर कोटियोंकी ओर अग्रसर करनेको उत्कण्ठित होता है। कारण, यह जानता है कि सर्वोच्च सत्यकी ओर आरोहणके तथा उस सर्वोच्च सत्यके अवरोहणके द्वारा ही प्रेमको शूलीसे मुक्त किया जा सकता है और सिंहासनपर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। शूली एक ऐसे भागवत अवतरणका चिह्न है जो जागतिक रूप-विकृतिकी आड़ी रेखासे अवरुद्ध और प्रतिबद्ध है। यह विकृति जीवनको दुःख और दुर्भाग्यकी अवस्थामें परिणत कर देती है। मूल सत्यकी ओर आरोहणके द्वारा ही यह विकृति सुधारी जा सकती है और प्रेमके सभी कर्म तथा ज्ञानके और जीवनके सब कर्म भी पुनः दिव्य अर्थ प्राप्त करके सर्वांगीण आध्यात्मिक सत्ताके अंग बन सकते हैं।

छठा अध्याय

यज्ञका आरोहण (२) : : प्रेमके कर्म—प्राणके कर्म

चैत्य पुरुषको यज्ञका नेता और पुरोहित बनाकर प्रेम, कर्म और ज्ञानका यज्ञ करनेसे यह प्राण भी अपने सच्चे आध्यात्मिक स्वरूपमें रूपांतरित किया जा सकता है। यदि ज्ञान-यज्ञ, यथाविधि करनेपर, सहज ही एक ऐसी विशालतम और पवित्रतम हवि बन जाता है जो सर्वोच्च देवके प्रति अर्पित करने योग्य होती है, तो हमारी आध्यात्मिक पूर्णताके लिये प्रेम-यज्ञ भी इससे कुछ कम आवश्यक नहीं है। अपितु, यह अपनी अनन्यतामें अधिक तीव्र एवं समृद्ध होता है और ज्ञान-यज्ञके समान ही विशाल तथा पवित्र भी बनाया जा सकता है। प्रेम-यज्ञकी तीव्रतामें यह पावन विशालता तब आती है जब हमारे समस्त क्रिया-कलापमें एक दिव्य असीम आनंदकी भावना एवं शक्ति प्रवाहित होती है और हमारे जीवनका संपूर्ण वातावरण सर्वमय और परमोच्च एकमेवकी अनन्य भक्तिसे परिपूरित हो उठता है। प्रेम-यज्ञ अपनी पूर्णताकी पराकाष्ठाको तब पहुँचता है जब सर्वमय भगवान्‌को अर्पित होकर यह सर्वांगीण, उदार और असीम हो जाता है तथा जब, पुरुषोत्तमकी ओर उन्नीत होकर, यह वह दुर्बल, स्थूल तथा क्षणिक चेष्टा नहीं करता जिसे सामान्य लोग प्रेम कहते हैं, बल्कि एक विशुद्ध, वृहत् तथा गभीर एकीकारक आनंद बन जाता है।

यद्यपि परात्पर और विश्वव्यापी भगवान्‌के प्रति दिव्य प्रेम ही हमारे आध्यात्मिक जीवनका नियम होना चाहिये, तथापि यह वैयक्तिक प्रेमके अखिल रूपोंका अथवा व्यक्त जगत्‌में एक आत्माको दूसरीके प्रति आकृष्ट करनेवाले संबंधोंका नितांत वहिष्कार नहीं करता। बल्कि, यह एक आंतरात्मिक परिवर्तनकी, अविद्याके आवरणोंको दूर करनेकी और पुरानी निम्नतर चेतनाको जारी रखनेवाली अहंभावमय मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाओंको शुद्ध करनेकी माँग करता है। प्रेमकी प्रत्येक गतिको अध्यात्मभावापन्न होकर मानसिक अभिरुचि, प्राणिक आवेश या शारीरिक लालसापर नहीं, बल्कि आत्माद्वारा आत्माके अंगीकार और प्रत्यभिज्ञानपर निर्भर करना होगा। प्रेमको उसके मूलभूत आध्यात्मिक तथा आंतरात्मिक सारतत्त्वमें पुनः प्रतिष्ठित करके मन-प्राण-शरीरको उस महत्तर एकत्वके

अभिव्यंजक यंत्र एवं अंग बनाकर रखना होगा। इस परिवर्तनमें वैयक्तिक प्रेम भी आप-से-आप ऊँचा उठ जायगा और उस दिव्य अंतर्वासीके प्रति, जो प्राणिमात्रमें रहनेवाले एकमेवके द्वारा अधिकृत मन, आत्मा और शरीरके अंदर विराजमान है, दिव्य प्रेममें परिणत हो जायगा।

निःसंदेह, समस्त आराधन-रूप प्रेमके मूलमें एक आध्यात्मिक शक्ति होती है। जब यह अज्ञानपूर्वक तथा ससीम पदार्थको अर्पित किया जाता है तब भी विधि-विधानकी दरिद्रता तथा उसके परिणामोंकी तुच्छतामेंसे आध्यात्मिक वैभवकी कुछ छटा दिखायी देती है। पूजात्मक प्रेम एक साथ ही अभीप्सा भी होता है और तैयारी भी। यह अपनी अविद्यागत क्षुद्र सीमाओंके भीतर भी एक साक्षात्कारकी झलक प्राप्त करा सकता है जो अभी न्यूनाधिक अंध तथा आंशिक होनेपर भी आश्चर्यजनक होता है। अतएव, ऐसे क्षण भी आते हैं जब हम नहीं, बल्कि एकमेव ही हममें प्रेम करता है और प्रेमका पात्र होता है और मानवीय अनुराग भी इस अनंत प्रेम और प्रेमीकी जरा-सी झाँकीसे उदात्त एवं महिमान्वित किया जा सकता है। यही कारण है कि देवता एवं प्रतिमाकी अथवा किसी आकर्षक व्यक्ति या श्रेष्ठ पुरुषकी पूजाको तुच्छताकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये, क्योंकि ऐसी पूजाएँ सोपान होती हैं जिनके द्वारा मानवजाति अनंतके आनंद-पूर्ण रागावेश और उल्लासकी ओर गति करती है। ये अनंतको सांत करती हुई भी उसके रागावेश और उल्लासको हमारी अपूर्ण दृष्टिके समक्ष प्रकाशित करती हैं, जब कि अभी हमें निम्नतर सोपानोंको, जो प्रकृतिने हमारी प्रगतिके लिये बनाये हैं, प्रयोगमें लाना तथा अपनी उन्नतिके क्रमोंको अंगीकार करना होता है। वस्तुतः हमारी भावमय सत्ताके विकासके लिये कई प्रकारकी प्रतिमापूजाएँ अनिवार्य हैं, अतएव ज्ञानीजनको तबतक किसी भी अवसरपर प्रतिमाका भंग करनेके लिये उतावला नहीं होना चाहिये जबतक वह इसके स्थानपर इससे प्रतिरूपित सद्वस्तुको पुजारीके हृदयमें प्रतिष्ठित न कर सके। अपिच, इनमें यह शक्ति इसलिये है कि इनके अंदर सदैव कोई ऐसी चीज होती है जो इनके रूपोंसे बड़ी है, और यहाँ-तक कि जब हम परमोच्च पूजाकी अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं तब भी वह चीज बनी रहती है और इस पूजाका विस्तार या इसकी व्यापक समग्रताका अंग बन जाती है। सब रूपों और अभिव्यक्तियोंसे अतीत 'तत्'को जानकर भी यदि हम प्राणी और पदार्थमें, मनुष्य, जात, पशु, पौधे और पुष्पमें, अपने हाथोंकी कृति और प्रकृतिकी शक्तिमें, जो अब हमारे लिये जड़ मशीनरीकी अंध क्रिया नहीं रहती, वरन् विश्वशक्तिका मुखमंडल

और वल-वैभव वन जाती है, भगवान्‌को स्वीकार नहीं कर सकते तो हमारा ज्ञान अभी हमारे अंदर अपक्व है और हमारा प्रेम भी अपूर्ण है, क्योंकि वह सनातन इन चीजोंमें भी उपस्थित है।

परात्पर एवं परम सत्[1]को किंवा अनिर्वचनीयको हमारे द्वारा अर्पित चरम अवर्णनीय आराधना भी पूर्ण पूजा नहीं होती यदि हम मनुष्य,[2] पदार्थ और प्रत्येक प्राणीमें, जहाँ कहीं वह अपना दिव्यत्व प्रकट करता है अथवा जहाँ कहीं वह इसे छिपाता है वहाँ-वहाँ सर्वत्र उसे अपनी पूजा अर्पित नहीं करते। अवश्य ही, इसमें एक प्रकारका अज्ञान होता है जो हृदयको कैद कर रखता है, उसके भावोंको विकृत कर डालता है और उसकी आहुतिके मर्मको धुँधला कर देता है। समस्त आंशिक पूजा एवं समस्त धर्म, जो मानसिक या भौतिक प्रतिमा खड़ी करता है, इससे मोहित होकर इसके भीतरी सत्यको अज्ञानके किसी-न-किसी आवरणके द्वारा आच्छादित तथा रक्षित रखनेका यत्न करता है और सत्यको उसकी मूर्त्तिमें सहज ही खो वैठता है। परंतु ऐकांतिक ज्ञानका अभिमान भी एक अंतराय और वाधा ही होता है। कारण, वैयक्तिक प्रेमके पीछे, इसके अज्ञ मानवीय रूपसे ढका हुआ, एक रहस्य छुपा है जिसे मन पकड़ नहीं पाता। वह भगवान्‌के शरीरका रहस्य है, अनंतके गुह्य रूपका मर्म है, जिसके पास हम हृदयके हर्षोन्माद तथा शुद्ध और उदात्त संवेदनकी तीव्रताके द्वारा ही पहुँच सकते हैं। इसका आकर्षण, जो दिव्य मुरलीमोहनकी पुकार और सर्व-सुन्दरकी मोहक प्रेरणा है, गुह्य प्रेम एवं स्पृहाके द्वारा ही हमें प्राप्त हो सकता है तथा हमें अधिकृत कर सकता है। यह प्रेम एवं स्पृहा अंतमें रूप तथा रूपातीतको एक कर देती है, आत्मा तथा जड़को अभिन्न कर देती है। इसी एकत्वको प्रेमगत भावना यहाँ अज्ञानके अंधकारमें खोज रही है और इसीको वह तव प्राप्त भी कर लेती है जव वैयक्तिक मानवी प्रेम स्थूल जगत्‌में प्रकट हुए अंतर्यामी भगवान्‌के प्रेममें परिवर्तित हो जाता है।

जो वात वैयक्तिक प्रेमके संवंधमें कही गयी है, वही सार्वभौम प्रेमके वारेमें भी लागू होती है। सहानुभूति, सद्भावना, सर्वजनीन शुभकामना और परोपकार, मानवजातिसे प्रेम, प्राणिमात्रके प्रति प्रेम, हमारे चारों ओरके अखिल रूपों एवं आकृतियोंका आकर्षण—इन सवके द्वारा ही आत्मा सव प्रकारसे विशाल वनती है। फलतः मनुष्य मनोमय तथा भावमय रूपमें अपने अहंकी प्रथम सीमाओंसे मुक्त हो जाता है। इस विशालताको

---

[1] परं भावम्। गीता—९-११. [2] मानुषीं तनुमाश्रितम्। गीता—९-११

फिर विश्वमय भगवान्‌के प्रति एकीकारक दिव्य प्रेममें ऊँचा उठाना आवश्यक होता है। प्रेममें परिसमाप्त आराधन, आनंदमें परिसमाप्त प्रेम–सीमातिशायी प्रेम, परात्परमें प्राप्त होनेवाले लोकोत्तर आनंदका आत्म-परिवेष्टित हर्षावेश, जो भक्ति-मार्गके अंतमें हमारी प्रतीक्षा करता है,—एक अधिक व्यापक परिणाम पैदा करता है, अर्थात् यह हमारे अंदर भूतमात्रके प्रति सार्वभौम प्रेम एवं सत्‌मात्रका आनंद सरसाता है। हम प्रत्येक पर्देके पीछे भगवान्‌के दर्शन करते हैं, सभी गोचर पदार्थोंमें सर्व-सुन्दरका आत्मिक तौरपर आलिंगन करते हैं। उसकी असीम अभिव्यक्तिमें विद्यमान सार्वभौम आनंद हमारे द्वारा प्रवाहित होता है, वह प्रत्येक रूप और गतिको अपनी तरंगमें समा लेता है, पर किसीमें बद्ध या स्थित नहीं हो जाता और सदैव एक महत्तर तथा पूर्णतर अभिव्यक्तिकी ओर बढ़ता रहता है। यह सार्वभौम प्रेम मोक्षकारी है और साथ ही रूपांतर करनेमें भी समर्थ है। आकृतियों और प्रतीतियोंका विरोध-वैषम्य अब हृदयपर प्रभाव नहीं डालता, क्योंकि हृदयने इन सबके पीछे विद्यमान एकमेव परम सत्यको अनुभव कर लिया है और इनका संपूर्ण प्रयोजन भी समझ लिया है। निःस्वार्थ कर्मी और ज्ञानीकी आत्माकी निष्पक्ष समता दिव्य प्रेमके जादूभरे स्पर्शसे आलिंगन करनेवाले हर्षावेश तथा शत-सहस्रदेहधारी दिव्यानंदमें परिवर्तित हो जाती है। सभी वस्तुएँ दिव्य प्रियतमके असीम सुख-सदनमें उसीकी मूर्त्तियाँ बन जाती हैं और अखिल गतियाँ उसीकी लीलाएँ। यहाँतक कि दुःख भी परिवर्तित हो जाता है और दुःखदायक वस्तुएँ अपनी प्रतिक्रियामें तथा अपने सार रूपमें भी बदल जाती हैं; दुःखके रूप झड़ जाते हैं, उनके स्थानपर आनंदके रूप उत्पन्न हो जाते हैं।

चेतनाके परिवर्तनका स्वरूप अपने सार रूपमें यही है। यह परिवर्तन स्वयं जीवनको भी दिव्य प्रेम और आनंदके महिमान्वित क्षेत्रमें परिणत कर देता है। अपने सार-तत्त्वमें यह जिज्ञासुके लिये तब आरंभ होता है जब वह साधारण स्तरसे आध्यात्मिकमें पदार्पण करता है और संसारपर तथा अपने-आप और दूसरोंपर एक प्रकाशयुक्त दृष्टि एवं अनुभूतिवाले नूतन हृदयसे दृष्टिपात करता है। यह अपनी पराकाष्ठाको तब पहुँचता है जब आध्यात्मिक स्तर अतिमानसिक भी बन जाता है। वहाँ हम इसे केवल सार रूपमें ही अनुभव नहीं करते, बल्कि समस्त आंतर जीवन तथा संपूर्ण बाह्य सत्ताका रूपांतर करनेवाली शक्तिके रूपमें इसका सक्रिय अनुभव भी प्राप्त कर सकते हैं।

*

प्रेमकी आत्मा और प्रकृतिका मिश्रित एवं सीमित मानवी भावके स्वरूपसे परम तथा सर्व-समालिंगी दिव्य अनुरागमें यह जो रूपांतर होता है इसे स्वीकार करना अनेक पार्थिव बंधनोंमें फँसे मानवी संकल्पके लिये कठिन भले ही हो, पर मनके लिये इसे कल्पनामें लाना नितांत कठिन नहीं है। हाँ, जब हम प्रेमके कर्मोंपर आयेंगे तब एक प्रकारकी समस्या खड़ी हो सकती है। जैसे ज्ञानमार्गकी एक अतीव अतिरंजित पद्धतिमें उस समस्याकी ग्रंथिको ही काट डाला जाता है वैसे ही यहाँ भी समस्याकी ग्रंथिको काट डालना और सांसारिक कर्मका परित्याग करके उसके असंस्कृत रूपोंके साथ प्रेमकी भावनाको एकीभूत करनेकी कठिनाईसे भाग जाना संभव है। हमारे सामने यह मार्ग खुला है कि हम बाह्य जीवन और कर्मसे सर्वथा हटकर हृदयकी नीरवतामें भगवान्का आराधन करते हुए एकाकी रहें। यह भी संभव है कि हम केवल वही कर्म अपनावें जो या तो स्वतः भगवत्प्रेमको प्रकट करते हैं,——जैसे प्रार्थना, स्तुति एवं प्रतीकात्मक पूजा-पाठादिरूप अनुष्ठान,——या ऐसी अंगभूत क्रियाएँ लें जो इन चीजोंसे संबद्ध होकर इनकी भावनाको कुछ-कुछ धारण कर सकती हैं, और अन्य सब कर्मोंको एक तरफ छोड़ दें; आत्मा संत और भक्तके आत्म-मग्न या परमात्म-केंद्रित जीवनमें अपनी अंतरीय अभिलाषा पूरी करनेके लिये संसार-पथसे हट जाय। दूसरी तरफ, यह भी संभव है कि जीवनके किवाड़ अधिक विशालतया खोल दिये जायँ और अपना भगवत्प्रेम अपने अड़ोस-पड़ोसके लोगोंके प्रति तथा मानवजातिके प्रति सेवा-कार्योंमें लगाया जाय। हम मनुष्य तथा पशु एवं प्रत्येक प्राणीके प्रति विश्वप्रेम, शुभ-कामना एवं परोपकार और दान तथा सहायताके कार्य कर सकते हैं, एक प्रकारकी आध्यात्मिक उमंगके द्वारा उन्हें रूपांतरित भी कर सकते हैं, कम-से-कम उनके निरे नैतिक बाह्य रूपके भीतर आध्यात्मिक प्रेरक-भावकी एक महत्तर शक्तिका प्रवेश करा सकते हैं। आजके धार्मिक विचारक प्रायः इसी समाधानका समर्थन करते हैं, और हम देखते हैं कि इसीको वे सर्वत्र ईश्वरान्वेषकके या दिव्य प्रेम तथा ज्ञानपर अपने जीवनको आधारित करने-वाले मनुष्यके उपयुक्त कर्म-क्षेत्रके रूपमें विश्वासपूर्वक प्रस्तुत कर रहे हैं। परंतु पार्थिव जीवनके साथ भगवान्के पूर्ण मिलनके लिये प्रचालित पूर्णयोग इस संकुचित क्षेत्रमें ही नहीं रुक सकता, न ही वह इस मिलनको भूतदया तथा परोपकारके नैतिक नियमकी क्षुद्रतर चारदीवारीके अंदर बंद ही कर सकता है। इसमें तो कर्ममात्रको भगवज्जीवनका अंग बनाना होगा, केवल प्रेम और परोपकारमय सेवाके कर्मोंको ही नहीं, बल्कि ज्ञानके कर्मोंको,

वल, उत्पादन एवं सर्जनके कर्मोंको, हर्ष, सौंदर्य एवं अध्यात्मसुखके कर्मों और संकल्प, प्रयत्न एवं सामर्थ्यके कर्मोंको भी भगवज्जीवनके अंग बनाना होगा। ये सब कार्य करनेका इस योगका तरीका बाह्य और मानसिक नहीं, बल्कि आंतरिक और आध्यात्मिक होगा। इसी आशयसे यह सभी कर्मोंमें, वे चाहे जो भी हों, दिव्य प्रेम एवं भजन-पूजनकी भावना और भगवान् एवं उसके सौंदर्यमें प्रसन्नताकी भावना ले आयगा, ताकि यह समस्त जीवनको आत्माके भगवत्प्रेममय कर्मोंके यज्ञ तथा इसकी सत्ताके स्वामीकी पूजाके रूपमें परिणत कर सके।

इस प्रकार अपने कर्मोंकी भावनासे मनुष्य अपने जीवनको पुरुषोत्तमके प्रति पूजात्मक कर्ममें परिवर्तित कर सकता है। गीतामें कहा गया है कि, "जो मुझे भक्तिभरे हृदयसे पत्र-पुष्प या फल-तोय अर्पित करता है, उसकी वह भक्ति-भेंट मैं स्वीकार करता हूँ और उसका उपभोग करता हूँ।"[१] यह बात नहीं कि कोई समर्पित बाहरी भेंट ही इस प्रकार प्रेम और भक्ति-पूर्वक दी जा सकती है, बल्कि हमारे सब विचार, हमारे सब भाव और संवेदन तथा हमारी सब बाह्य चेष्टाएँ और उनके रूप एवं विषय भी सनातनके प्रति ऐसे उपहार हो सकते हैं। यह ठीक है कि एक विशेष कार्यका या कार्यके किसी विशेष रूपका अपना महत्त्व होता है, यहाँतक कि भारी महत्त्व होता है, पर मुख्य वस्तु तो कार्यगत भावना ही है। कार्य जिस भावनाका प्रतीक या मूर्त्त प्रकाश होता है वही इसे इसका संपूर्ण मूल्य प्रदान करती है तथा इसका मर्म बताकर इसका समर्थन करती है। अथवा यह कहा जा सकता है कि दिव्य प्रेम और पूजाके पूर्ण कर्ममें तीन अवयव होते हैं जो एक ही अखण्ड अवयवीकी अभिव्यक्तियाँ होते हैं,—कर्ममें भगवान्‌की क्रियात्मक पूजा, कर्मके बाह्य रूपमें किसी दिव्य दृष्टि और जिज्ञासाको या भगवान्‌के साथ किसी संबंधको प्रकट करनेवाला पूजा-प्रतीक, और तीसरा हृदय, अंतरात्मा और आत्मामें एकत्व या एकत्वा-नुभूतिके लिये आंतरिक परानुरक्ति और अतिस्पृहा। इस तरीकेसे ही जीवन पूजामें परिवर्तित किया जा सकता है,—इसके पीछे परात्पर तथा सार्वभौम प्रेमकी भावना और एकत्वकी खोज एवं अनुभूतिको प्रतिष्ठित करके, प्रत्येक कार्यको ईश्वरोन्मुख भावका या भगवान्‌के साथ संबंधका प्रतीक या अभिव्यक्ति बनाकर, जो कुछ हम करें उस सबको पूजाके कार्यमें

---

[१] पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मना॥ गीता ९—२६

तथा आत्माके अंतर्मिलन, मनकी समझ, प्राणके आज्ञापालन और हृदयके समर्पणके कार्यमें परिणत करके इसे पूजाका रूप दिया जा सकता है।

किसी भी पूजाविधिमें प्रतीक, अर्थपूर्ण विधि-विधान या अभिव्यंजक प्रतिमा केवल गतिशील और समृद्धिवर्धक सौंदर्यात्मिक तत्त्व ही नहीं होती, अपितु एक ऐसा भौतिक साधन भी होती है जिससे मानव प्राणी अपने हृदयके भाव और अभीप्साको बाहरी तौरपर सुनिश्चित, पुष्ट तथा क्रियाशील बनाने लगता है। क्योंकि, यद्यपि आध्यात्मिक अभीप्साके बिना पूजा निरर्थक और वृथा है, तथापि अभीप्सा भी कर्म और रूपके बिना एक शरीर-रहित शक्ति होती है और जीवनके लिये पूरी तरह फलप्रद नहीं हो सकती। परंतु दुर्भाग्यवश मानव-जीवनगत सभी रूपोंका यही अंत बदा है कि वे स्थिर आकारमें बँधकर निरे लोकाचारात्मक और, परिणामतः, निर्जीव हो जाते हैं। यद्यपि पूजापद्धति तथा रूप अपनी शक्तिको उस मनुष्यके लिये सदैव सुरक्षित रखते हैं जो उनके आशयमें अब भी पैठ सकता है, तथापि अधिकतर लोग विधि-विधानको यांत्रिक रीतिरस्मके रूपमें तथा प्रतीकको निर्जीव चिह्नके रूपमें बरतने लगते हैं। यह चीज धर्मकी आत्माका हनन कर डालती है, इसलिये अंतमें पूजा-विधि और रूपको बदलना या बिलकुल छोड़ देना पड़ता है। यहाँतक कि कुछ ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जिनकी दृष्टिमें समस्त पूजाविधि और रूप इसी कारण संदिग्ध और सदोष होते हैं; किंतु ऐसे तो विरले ही होते हैं जो बाह्य प्रतीकोंकी सहायताके बिना काम चला सकें। और फिर, मानव-प्रकृतिका एक दिव्य तत्त्व-विशेष भी अपनी आध्यात्मिक तृप्तिकी पूर्णताके लिये सदैव इनकी अपेक्षा रखता है। सदा ही प्रतीक वहींतक युक्तियुक्त होता है जहाँतक वह यथार्थ एवं सत्य-शिव-सुन्दर होता है, और कोई यहाँतक भी कह सकता है कि जो आध्यात्मिक चेतना रसग्राही या भावुक तत्त्वसे सर्वथा रहित होती है वह पूर्ण रूपमें या कम-से-कम सर्वांगीण रूपमें आध्यात्मिक नहीं होती। आध्यात्मिक जीवनमें कर्मका आधार आध्यात्मिक चेतना होती है जो नित्य-स्थायिनी और नवस्फूर्त्तिदायिनी है, अपनेको नित नये रूपोंमें प्रकट करनेको प्रेरित होती है अथवा सदैव किसी रूपके सत्यको आत्माके प्रवाहके द्वारा पुनः नूतन कर सकती है। अपनेको इस प्रकार प्रकट करके हरएक कामको आत्माके किसी सत्यका जीवंत प्रतीक बनाना ही इसकी सर्जनशील दृष्टि और प्रेरणाका वास्तविक स्वभाव है। इसी भावसे आत्म-जिज्ञासुको जीवनके साथ बरतना होगा, उसका रूप बदलना होगा तथा उसे उसके सारतत्त्वमें महिमान्वित करना होगा।

परमोच्च दिव्य प्रेम एक सर्जनशील शक्ति है। यद्यपि यह स्वयं अपनेमें शांत और निर्विकार रह सकता है तो भी यह बाह्य रूप और प्राकट्यमें रस लेता है और मूक तथा निराकार देवत्व बने रहनेके लिये बाधित नहीं है। यहाँतक कहा गया है कि स्वयं यह सृष्टि भी प्रेमका कार्य थी या कम-से-कम एक ऐसे क्षेत्रका निर्माण थी जिसमें भागवत प्रेम अपने प्रतीकोंका आविष्कार करके अपनेको परस्पर-व्यवहार तथा आत्म-दानके कर्ममें चरितार्थ कर सके। यह सृष्टिका आदि स्वरूप भले ही न हो किंतु यह इसका अंतिम लक्ष्य और आशय सहजमें हो सकता है। यह ठीक है कि इस समय सृष्टिका स्वरूप ऐसा नहीं प्रतीत होता, परंतु इसका कारण यह है कि यद्यपि भागवत प्रेम संसारमें है और प्राणियोंके इस सब विकासको धारण कर रहा है तो भी जीवनका उपादान और कार्य-व्यवहार तो अहंमूलक रचना तथा भेदभावनासे ही गठित है, वह एक ऐसे संघर्षसे निर्मित है जो हमारे जीवन और चेतनाको, निष्प्राण तथा निश्चेतन प्रकृतिके इस प्रत्यक्षतः-उदासीन, निष्ठुर, यहाँतक कि शत्रुरूप जगत्‌में, अपने अस्तित्व तथा स्थायित्वके लिये करना पड़ता है। इस संघर्षके गोलमाल और अंधकारमें सबकी एक-दूसरेसे मुठभेड़ होती है, प्रत्येककी इच्छा होती है कि वह अपनी निजी अस्तिका अधिकार प्रथम और प्रधान जतावे और केवल गौण रूपमें ही अपने-आपको दूसरोंमें तथा बहुत थोड़ा-सा दूसरोंके लिये माने। यहाँतक कि मनुष्यका परार्थ-भाव भी वास्तवमें स्वार्थपूर्ण रहता है और वह ऐसा रहेगा ही जबतक कि आत्माको दिव्य एकत्वका रहस्य प्राप्त नहीं हो जाता। उस एकत्वका परम उद्‌गम ढूँढ़ने, उसे अंदरसे निकाल लाने और बाह्य जीवनके परले छोरोंतक प्रसारित करनेके लिये ही योगका अभ्यास किया जाता है। कर्म-मात्र तथा सर्जनमात्रको पूजा, उपासना और यज्ञके ही एक रूप तथा प्रतीकमें बदल जाना होगा। इसे अपने अंदर एक ऐसी चीज धारण करनी होगी जो इसपर उत्सर्गकी और भागवत चेतनाके ग्रहण एवं प्रतिरूपणकी तथा प्रियतमकी सेवा, आत्म-दान एवं समर्पणकी छाप लगा दे। ऐसा हमें यथासंभव कर्मके बाह्य शरीर और रूपमें भी करना होगा; इसकी भीतरी उमंगमें तो ऐसा सदा ही करना होगा,—ऐसी तीव्रताके साथ जिससे पता चले कि यह हमारी आत्मासे सनातनकी ओर बहनेवाला एक प्रवाह है।

कर्ममय आराधन स्वतः एक महान्, पूर्ण एवं प्रभावशाली यज्ञ होता है जो अपने-आपको अनेकगुना करके एकमेवका ज्ञान प्राप्त करता है और भगवान्‌के तेजःपुंजके प्रसारको संभव बनाता जाता है। कारण, भक्ति अपने-

आपको कर्ममें मूर्त्त करके न केवल अपने मार्गको विशाल, समृद्ध और शक्तिशाली बनाती है, बल्कि इस जगत्‌के अंदर कर्मोंके कठोरतर पथमें हर्ष तथा प्रेमका एक दिव्य-रसमय तत्त्व भी ले आती है। भक्तिमार्गके प्रारंभमें इस तत्त्वका प्रायः अभाव ही होता है, क्योंकि तब केवल तपोमय आध्यात्मिक संकल्प ही संघर्षमय उन्नतिकारी प्रयासके साथ एक सीधी चढ़ाई चढ़ता है और हृदय अभी या तो प्रसुप्त होता है या मूक रहनेको बाध्य होता है। यदि दिव्य प्रेमकी भावना प्रवेश पा सके, तो पथकी कठोरता कम पड़ जायगी, तनाव हलका हो जायगा, कठिनाई तथा संघर्षके गर्भमें भी माधुर्य एवं हर्ष उपस्थित रहेगा। निश्चय ही, हमारे समस्त संकल्पों, कर्मों और चेष्टाओंका परम देवके प्रति अनिवार्य समर्पण पूरी तरहसे संपन्न और सफल तभी होगा जब कि वह एक प्रेममय समर्पण हो। यदि समस्त जीवन इस पूजा-विधिमें परिणत हो जाय, यदि सभी कर्म भगवान्‌के प्रेममें तथा संसार और इसके प्राणियोंके प्रेममें किये जायँ और सब प्राणी ऐसे दिखें और लगें मानो वे नाना छद्म-रूपोंमें अभिव्यक्त भगवान् ही हों तो इस भावके बलपर सारा जीवन और कर्म पूर्णयोगके अंग बन जायेंगे।

यज्ञका असली प्राण है—हृदयकी भक्तिका आंतरिक अर्पण और यज्ञके प्रतीक एवं उसकी क्रियामें अर्पणकी भाव-भावना। यदि अर्पणको पूर्ण और विराट् बनाना है, तो सब भावोंको भगवान्‌की ओर मोड़ना ही होगा। यह मानव-हृदयकी शुद्धिका एक अत्यंत तीव्र उपाय है। कोई भी नैतिक या सौंदर्यबोधात्मक शुद्धीकरण अपने अपूर्ण बल और ऊपरी दबावको लिये हुए इसके समान प्रभावशाली कभी नहीं हो सकता। अंतरमें एक चैत्य अग्नि प्रज्वलित करनी होगी जिसमें प्रत्येक चीज भगवान्‌के नामसे होम देनी होगी। उस अग्निमें सब भाव अपने स्थूलतर अंशोंको त्याग देनेके लिये बाधित किये जायँगे, जो भाव अदिव्य विकार हैं वे राख कर दिये जायँगे, और अन्य सब भाव भी अपनी न्यूनताएँ त्यागते जायँगे जबतक कि विशालतम प्रेम और निर्मल दिव्य आनंदकी भावना ज्वाला और धूम और धूपमेंसे उद्‌भूत नहीं हो उठेगी। इस प्रकार एक दिव्य प्रेम उदित होगा और उस प्रेमको जब एक सक्रिय विश्वव्यापिनी समताके साथ, मनुष्य एवं प्राणिमात्रमें विराजमान भगवान्‌के प्रति एक अंतरीय भावके रूपमें विस्तारित किया जायगा, तो वह जीवनकी पूर्णताकी सिद्धिके लिये अधिक समर्थ होगा और एक अधिक सच्चा साधन होगा। भ्रातृभावका निर्बल मानसिक आदर्श कभी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। कर्मोंमें प्रवाहित इस प्रकारका प्रेम ही जगत्‌में समस्वरता और इसके सभी प्राणियोंमें सच्ची

एकता संपादित कर सकता है। इसके सिवा अन्य सभी उपायें इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये व्यर्थके प्रयास होंगे जबतक कि दिव्य प्रेम इस पार्थिव प्रकृतिमें प्रकट हुई अभिव्यक्तिके सारके रूपमें अपने-आपको प्रकट नहीं कर देता।

यहीं हमारे अन्तःस्थ निगूढ़ चैत्य पुरुषका यज्ञके अग्रणीके रूपमें आविर्भाव अत्यंत महत्त्व रखता है। यह अन्तरतम पुरुष ही कर्ममें आत्माका पूर्ण बल तथा प्रतीकमें सारतत्त्व ला सकता है। यही प्रतीककी सनातन नूतनता, सत्यता और सुन्दरताका विश्वास दिला सकता है, तब भी जब कि आध्यात्मिक चेतना अपूर्ण होती है; यह उसे मृत रूप या दूषित तथा दूषक जादू-टोना बन जानेसे बचा सकता है। यही कर्मके लिये प्रतीककी शक्तिको इसके आशय सहित सुरक्षित रख सकता है। हमारी सत्ताके अन्य सभी अंग—मन, प्राण-शक्ति, भौतिक या शारीरिक चेतना—इतने अधिक अविद्याके वशमें हैं कि ये विश्वस्त यंत्र नहीं हो सकते, किसी पथ-प्रदर्शक या निर्भ्रांत आवेगके स्रोत बनना तो और भी दूरकी बात है। इन अंगों या शक्तियोंके प्रेरक भाव और कर्मका बहुत बड़ा भाग सदैव प्रकृतिके पुराने नियम, धोखा देनेवाली मीठी गोलियों तथा रुचिकर निम्न गतियोंसे ही चिपटा रहता है। ये उन वाणियों और शक्तियोंका, जो हमें अपनी ओर पुकारती हैं और प्रेरित करती हैं कि हम अपनेको अति-क्रांत करके महत्तर सत्ता तथा विशालतर प्रकृतिमें रूपांतरित कर दें, अनिच्छा, धमकी या विद्रोह या बाधक जड़ताके द्वारा सामना करती हैं। इनके अधिकतर भागका प्रत्युत्तर या तो विरोध-रूप होता है अथवा मर्यादित या समयानुकूल स्वीकृति-रूप। यदि ये पुकारके पीछे चलती भी हैं तो भी, जान-बूझकर नहीं तो यांत्रिक अभ्यासवश, ये आध्यात्मिक क्रियाके अंदर अपनी स्वभावगत दुर्बलताएँ तथा भ्रांतियाँ ले आनेमें लग जाती हैं। प्रतिक्षण ही ये आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक प्रभावोंसे स्वार्थपूर्ण लाभ उठानेके लिये प्रेरित होती हैं। उन प्रभावोंसे हमारे भीतर जो बल, हर्ष या प्रकाश आता है उसे ये निम्नतर प्राणिक हेतुके लिये प्रयुक्त करती हुई पकड़ी जा सकती हैं। बादमें, जब जिज्ञासु विश्वातीत, विश्व-व्यापी या अंतर्यामी भागवत प्रेमकी ओर खुल जाता है तब भी, यदि वह इसे जीवनके अंदर उँडेलनेका यत्न करता है, तो उसे इन निम्नतर प्रकृति-शक्तियोंके अंधकार तथा विकार पैदा करनेवाले बलका सामना करना पड़ता है। सदैव ये गड्ढोंकी ओर घसीटती हैं, उस उच्चतर तीव्रतामें अपने पतनकारी तत्त्व ढार देती हैं, उतरती हुई शक्तिको अपने लिये तथा अपने स्वार्थोंके लिये पकड़ लेनेकी चेष्टा करती हैं और इसे कामना तथा

अहंकारका एक बढ़ा-चढ़ा मानसिक, प्राणिक या भौतिक साधन बनाकर पतित कर डालती हैं। भागवत प्रेम तो सत्य और प्रकाशके एक नये स्वर्ग तथा नये संसारकी सृष्टि करनेवाला प्रेम है, किंतु ये उलटे उसीको यहाँ बंदी बना लेना चाहती हैं, इसलिये कि वह पुराने संसारकी दलदलपर सोनेका मुलम्मा चढ़ानेके लिये और भावोद्दीपक प्राणिक कल्पना तथा मानसिक आदर्शभूत मनोरथ-सृष्टिके पुराने मलिन मिथ्या आकाशोंको अपने नीले-गुलाबी रंगसे रँगनेके लिये एक बड़ी भारी अनुमति तथा गौरवप्रद एवं उन्नायक बल बनकर रहे। यदि ऐसा मिथ्याकरण होने दिया गया तो उच्चतर प्रकाश, बल और आनंद लौट जायँगे और हम निम्नतर अवस्थामें पतित हो जायँगे; अथवा हमारी उपलब्धि एक अरक्षित पड़ाव और मिश्रणतक ही सीमित रहेगी या वह एक हीनतर हर्षावेगसे ढक जायगी, यहाँतक कि उसमें डूब ही जायगी, पर वह हर्षावेग सच्चा आनंद नहीं होगा। यही कारण है कि भागवत प्रेम समस्त सृष्टिका हृदय और सभी उद्धारक तथा सर्जक शक्तियोंमें अत्यंत बलशाली होता हुआ भी पार्थिव जीवनमें बहुत ही कम सामने उपस्थित, सबसे कम सफल रक्षक एवं सबसे कम सर्जक रहा है। मानव-प्रकृति इसे इसकी शुद्धावस्थामें सहन करनेमें असमर्थ रही है, कारण यही है कि यह सभी दिव्य बलोंमें सर्वाधिक प्रबल, पवित्र, विरल और तीव्र है। जो थोड़ा-सा ग्रहण किया जा सकता था उसे भी तुरंत बिगाड़कर प्राणगत अतिशय पुण्याडंबर, दुर्बल धार्मिक या नैतिक भावुकता, प्रफुल्ल मन या उत्तेजना-कलुषित जीवन-आवेगके ऐंद्रिय या यहाँतक कि लंपट प्रेमसंबंधी गुह्यवादका रूप दे दिया गया है। जो गुह्य ज्वाला अपनी होम-शिखाओंसे संसारका नव-निर्माण कर सकती है, यह विकृत प्रेम उसे आश्रय देनेमें असमर्थ है और इस कमीकी पूर्त्ति उक्त मिथ्याचारोंसे की गयी है। केवल अंतरतम हृत्पुरुष ही अनावृत और अपनी पूरी शक्तिके साथ उदित होकर हमारी जीवनयात्राके यज्ञको इन गर्त्तजालोंमेंसे अक्षत ले चल सकता है। प्रतिक्षण यह मन और प्राणके असत्योंको पकड़ता है, उनकी पोल खोलता तथा उन्हें हटाता है, दिव्य प्रेम एवं आनंदके सत्यको दृढ़तापूर्वक अधिकृत करता है और उसे मनकी उमंगोंके उत्तेजनसे तथा मार्गभ्रष्ट करनेवाली प्राण-शक्तिके अंध-उत्साहसे पृथक् करता है। परंतु मन, प्राण और स्थूल सत्तामें जो भी चीजें अपने अंतःसारकी दृष्टिसे सत्य हैं उन सबका यह उद्धार करता है और उन्हें तबतक यात्रामें अपने संग लिये चलता है जबतक कि वे भावनामें नवीन तथा आकृतिमें उदात्त होकर शिखरोंपर आरोहण करती चल सकती हैं।

परंतु अंतरतम हृत्पुरुषका पथप्रदर्शन तबतक पर्याप्त नहीं प्रतीत होता जबतक यह अपने-आपको निम्नतर प्रकृतिके इस ढेरमेंसे निकालकर उच्चतम आध्यात्मिक स्तरोंतक उठानेमें सफल नहीं हो जाता और इहलोकमें अवतीर्ण वह दिव्य स्फुलिंग एवं ज्वाला अपने-आपको अपने मूल, तेजोमय आकाशके साथ फिरसे मिला नहीं देती। क्योंकि अब यह वह आध्यात्मिक चेतना नहीं है जो अपूर्ण है तथा मानव मन, प्राण एवं शरीरके घने कोषोंमें अपने-आपको खोये हुई है, अब तो यह वह पूर्ण आध्यात्मिक चेतना है जो अपनी पवित्रता, स्वतंत्रता तथा तीव्र विशालतासे संपन्न है। जिस प्रकार इसमें नित्य ज्ञाता ही हमारे अंदर ज्ञाता तथा ज्ञानमात्रका प्रेरक एवं प्रयोक्ता बन जाता है, उसी प्रकार वह नित्य आनंद-स्वरूप ही हमारा उपास्य देव हो जाता है और वह अपनी सत्ता तथा आनंदके इस सनातन दिव्य अंशको, जो बाहर विश्वकी लीलामें संलग्न है, अपनी ओर आकर्षित करता है, वह अनंत प्रेमी ही अपनेको अपनी असंख्य व्यक्त आत्माओंके अंदर मधुर एकत्वमें उँडेल देता है। संसारमें जो भी सौंदर्य है वह सब तब इस प्रियतमका सौंदर्य हो जाता है; सौंदर्यके सभी रूपोंको उस शाश्वत सौंदर्यके प्रकाशके तले स्थित होकर अनावृत दिव्य पूर्णताके एक उन्नायक तथा रूपांतरकारी बलके आगे आत्मसमर्पण करना पड़ता है। तब समस्त आनंद और हर्ष सर्वानंदमयके ही हो जाते हैं; भोग, सुख या आरामके सभी हीनतर रूपोंको इसकी बाढ़ों या धाराओंके वेगका आघात सहन करना पड़ता है। इसके आकर्षक दबावके नीचे वे या तो असमर्थ वस्तुओंकी तरह चूर-चूर हो जाते हैं या वे अपनेको दिव्य आनंदके रूपोंमें परिणत करनेको बाध्य होते हैं। इस प्रकार वैयक्तिक चेतनाके लिये एक ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है जो इसके अंदर अज्ञानके मूल्योंकी न्यूनताओं और हीनताओंका प्रभाव-पूर्वक प्रतिकार कर सकती है। अंतमें, सनातनके अपने निज प्रेम और हर्षकी अतिशय वास्तविकता तथा सघन मूर्त्तताको जीवनमें उतार लाना संभव होने लगता है। अथवा, कम-से-कम हमारी अध्यात्म-चेतनाके लिये अपनेको मनसे अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और विशालतामें उठा ले जाना संभव हो जाता है। अतिमानसिक विज्ञानके प्रकाश और बलमें ही दिव्य आत्म-प्रकटन तथा आत्म-संगठनकी शक्तिका तेज और हर्ष विद्यमान हैं। वही अज्ञानके जगत्का परित्राण कर सकते हैं और वही आत्माके सत्यकी प्रतिमामें इसका नवसर्जन कर सकते हैं।

अतिमानसिक विज्ञानमें ही आंतरिक आराधनकी कृतार्थता, परिपूर्ण उच्चता तथा सर्वसमालिंगी विस्तीर्णता है, गभीर और पूर्ण मिलन है, परम

ज्ञानके बल और हर्षको वहन करनेवाले प्रमके प्रज्वलित पंख हैं। कारण, जो शून्य निष्क्रिय शांति तथा निस्तब्धता मुक्त मनका द्युलोक है उसे अति-क्रांत करनेवाले सक्रिय हर्षविशेको अतिमानसिक प्रेम जन्म देता है, साथ ही यह अतिमानसिक निश्चल-नीरवताकी प्रारंभिक गंभीरतम महत्तर प्रशांतिका परित्याग भी नहीं करता। प्रेमकी एकता, जो भेदोंकी वर्तमान सीमाओं तथा प्रत्यक्ष विषमताओंके द्वारा न्यून या नष्ट हुए बिना इन सबको अपनेमें सम्मिलित कर सकती है, अतिमानसिक स्तरपर अपनी संपूर्ण संभाव्य शक्तिके शिखरपर पहुँच जाती है। वहाँ प्राणिमात्रके बीच प्रगाढ़ एकत्व, जो भगवान् और आत्माके गभीर एकत्वपर प्रतिष्ठित होता है, संबंधोंकी क्रीड़ासे संगति स्थापित कर सकता है और यह क्रीड़ा ही एकत्वको अधिक पूर्ण एवं निरपेक्ष बनाती है। प्रेमकी शक्ति विज्ञानमय होकर जीवनके सभी संबंधोंको बिना संकोच या भयके स्वायत्त कर सकती है और उन्हें अपरिष्कृत, मिश्रित तथा क्षुद्र मानवीय ढंगोंसे मुक्त करके तथा दिव्य जीवनकी सुखमय साधन-सामग्रीके रूपमें उदात्त करके ईश्वरकी ओर मोड़ सकती है। अति-मानसिक अनुभवका यह स्वभाव ही है कि यह दिव्य मिलन या अनंत एकत्वसे च्युत हुए बिना या उसे जरा भी कम किये बिना भेदकी क्रीड़ाको जारी रख सकता है। अतिमानसीकृत चेतनाके लिये मनुष्यों और जगत्के साथ स्थापित सभी संबंधोंको शुद्ध तेजोबलमें तथा रूपांतरित अर्थके द्वारा आलिंगित करना पूरी तरह संभव होगा। कारण, आत्मा तब प्रेम या सौंदर्य-विषयक समस्त भाव एवं संपूर्ण खोजके लक्ष्यके रूपमें एकमेव सनातनको निरंतर अनुभव करेगी और सब वस्तुओं तथा सब प्राणियोंमें उस एकमेव भगवान्से मिलने और उसके साथ एक हो जानेके लिये विस्तृत तथा मुक्त प्राणावेगका आत्मिक रूपमें प्रयोग कर सकेगी।

*

यज्ञके कर्मोंकी तीसरी वा अंतिम श्रेणीमें उन सब कर्मोंका समावेश किया जा सकता है जो प्रत्यक्षतः ही कर्मयोगके विशेष अंग हैं; क्योंकि वही यज्ञकी सिद्धिका क्षेत्र और उसके मुख्य प्रदेश हैं। जीवनके अधिक प्रत्यक्ष कार्य-व्यवहारका संपूर्ण क्षेत्र भी इसके अंदर आ जाता है। पार्थिव जीवनसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेके लिये अपने-आपको बाहरकी ओर झोंकनेवाली जीवनेच्छाके नानाविध सामर्थ्य भी इसीके अंतर्गत हो जाते हैं। यहीं तपस्यात्मक या पारलौकिक आध्यात्मिकता अपनी खोजके लक्ष्य-भूत सत्यका अकाटय खण्डन अनुभव करती है; परिणामतः वह पार्थिव

जीवनसे मुँह मोड़नेको विवश हो जाती है और इसे अप्रतिकार्य अविद्याका एक नित्य अंधकारमय क्रीड़ाक्षेत्र मानकर त्याग देती है। तथापि ठीक इसी कार्य-व्यवहारको पूर्णयोग आध्यात्मिक विजय और दिव्य रूपांतरके लिये अपना क्षेत्र बनानेका दावा करता है। अधिक तपस्यामय अभ्यास-क्रम जिस क्षेत्रको सर्वथा त्याग देते हैं तथा अन्य विधियाँ जिसे केवल अल्प-कालिक अग्नि-परीक्षाके क्षेत्र या निगूढ़ आत्माकी एक क्षणिक, बाह्य तथा संदिग्धार्थक क्रीड़ाके रूपमें स्वीकार करती हैं, पूर्णयोगका जिज्ञासु उसका पूरी तरहसे आलिंगन एवं स्वागत करता है, इस नाते कि यह परिपूर्णता तथा दिव्य कर्मका और गुप्त एवं अंतर्वासी आत्माकी पूर्ण आत्मोपलब्धिका क्षेत्र है। अपने अंदर देवत्वकी उपलब्धि उसका प्रथम लक्ष्य है, परंतु संसारमें—इसकी योजना और रूप-रचनाद्वारा किये गये देवत्वके प्रत्यक्ष निषेधके पीछे भी—देवत्वकी पूर्ण उपलब्धि और, अंतमें, किसी परात्पर सनातनकी क्रियाशीलताकी पूर्ण उपलब्धि उसका लक्ष्य है। इस क्रिया-शीलताके अवतरणसे ही यह संसार और आत्मा अपने आवरक कोषोंको खोल डालनेमें समर्थ होंगे और अपने आविष्कारक स्वरूप तथा अभिव्यंजक प्रक्रियामें दिव्य बन जायँगे जैसे वे अब गुप्त रूपसे अपने निगूढ़ सारमें हैं ही।

पूर्णयोगका यह लक्ष्य इसके अनुगामियोंको पूरी तरहसे स्वीकार करना होगा, परंतु इसे स्वीकार करते हुए भी इसकी प्राप्तिके मार्गमें आनेवाली अनंत बाधाओंसे अनभिज्ञ नहीं रहना होगा। बल्कि, हमें उस प्रबल कारणका पूरा ज्ञान होना आवश्यक है जिसके बलपर अन्य कितनी ही साधनाएँ यह भी माननेसे इनकार करती हैं कि यह लक्ष्य पार्थिव जीवनका सच्चा मर्म हो सकता है, इसकी अनिवार्यता स्वीकार करनेकी बात तो दूर रही। कारण, यहाँ पृथ्वी-प्रकृतिमें प्राणके कर्मोंमें ही उस कठिनाईका असली मर्म छिपा है जिसके कारण दर्शन एकाकिताके शिखरोंकी ओर झुक गया है तथा धर्मकी आतुर दृष्टि भी मर्त्य-शरीरगत जन्मकी व्याधिसे दूरस्थ स्वर्ग या निर्वाणकी नीरव शांतिकी ओर फिर गयी है। हमारी मर्त्य सीमाओं और अविद्याके गर्त्तजालोंके होते हुए भी शुद्ध ज्ञानका मार्ग जिज्ञासुके अनु-सरणके लिये अपेक्षाकृत सीधा और सरल होता है। शुद्ध प्रेमके पथकी अपनी ही विघ्न-बाधाएँ, विरह-वेदनाएँ एवं अग्नि-परीक्षाएँ होती हैं तथापि वह, तुलनात्मक दृष्टिसे, खुले आकाशमें पक्षीके विचरनेकी भाँति सुगम हो सकता है। ज्ञान और प्रेम तत्त्वतः पवित्र हैं और ये मिश्रित, जटिल, भ्रष्ट एवं पतित तभी होते हैं जब कि ये प्राण-शक्तियोंकी अस्पष्ट गतिमें

भाग लेते हैं और उनके द्वारा बाह्य जीवनकी असंस्कृत गतियों तथा हठीले निम्नतर प्रेरक-भावोंके लिये बलात् अधिकृत किये जाते हैं। इन शक्तियोंमेंसे केवल जीवन-शक्ति या कम-से-कम एक प्रकारकी प्रबल जीवनेच्छा अपने असली सारमें भी एक अपवित्र, अभिशप्त या भ्रष्ट वस्तु प्रतीत होती है। इसके संसर्गसे, इसके मलिन आवरणोंमें लिपटी हुई या इसकी सतरंगी दलदलमें फँसी हुई दिव्यताएँ भी स्वयं सामान्य एवं पंकिल हो जाती हैं और इनके विकारोंमें नीचेकी ओर घसीटी जाने तथा दुर्भाग्यवश दानव एवं असुर जैसी बन जानेसे मुश्किलसे ही बच पाती हैं। अंधेरी और मलिन जड़ताका तत्त्व इसकी जड़में है; शरीर और इसकी आवश्यकताओं तथा कामनाओंके कारण सभी मनुष्य क्षुद्र मन, तुच्छ तृष्णाओं और उमंगोंसे, छोटी-छोटी व्यर्थकी चेष्टाओं, आवश्यकताओं, चिंताओं, व्यग्रताओं तथा सुख-दुःखोंकी निरर्थक आवृत्तिसे बँधे हुए हैं। ये सब चीजें अपनेसे परे किसी चीजकी ओर नहीं ले जातीं और इनपर एक ऐसे अज्ञानकी छाप लगी हुई है जिसे अपने 'क्यों' और 'किधर'का कुछ पता नहीं है। यह जड़ स्थूल मन अपने छोटे पार्थिव देवोंके अतिरिक्त और किसी देवत्वमें विश्वास नहीं करता; यह संभवतः और भी अधिक सुख-सुविधा तथा सुप्रबंधकी आकांक्षा करता है, पर ऊर्ध्वगति और आध्यात्मिक मुक्तिकी याचना नहीं करता। सत्ताके केंद्रमें हमारी एक अधिक रसिक और बलवत्तर जीवनेच्छासे भेंट होती है, पर यह एक अंधी राक्षसी एवं विकृत आत्मा होती है और ठीक उन्हीं तत्त्वोंमें मजा लेती है जो जीवनको आयासमय संघर्ष तथा दुःखदायी कलह बना डालते हैं। यह मानवीय या पैशाचिक कामनाकी आत्मा है जो भड़कीले रंग, उच्छृंखल काव्य तथा शुभ-अशुभ, हर्ष-शोक, प्रकाश-अंधकार, मादक हर्ष और कटु यंत्रणाके एक मिश्रित प्रवाहके उग्र दुःखांत या उद्दीपक गीति-नाटकमें आसक्त रहती है। यह इन चीजोंसे प्यार करती है और इन्हें अधिकाधिक पाना चाहती है, अथवा, जब यह दुःख भोगती तथा इनके विरुद्ध चिल्लाती भी है तब भी यह और कोई चीज स्वीकार नहीं कर सकती और न ही उसमें रस ले सकती है। यह उच्चतर वस्तुओंसे घृणा और विद्रोह करती है और अपने आवेशमें ऐसी किसी भी दिव्यतर शक्तिको कुचल देना, चीर डालना या गला घोंटके मार देना चाहती है जो जीवनको शुद्ध, उज्ज्वल तथा सुखी बनाने तथा उस उत्तेजक मिश्रणकी तीक्ष्ण सुराको इसके अधरोंसे छीननेका प्रस्ताव रखनेका दुस्साहस करती है। एक और जीवनेच्छा भी है जो एक उत्थापक आदर्शात्मक मनका अनुसरण करनेको उद्यत होती है तथा उसके इस प्रस्तावसे

आकृष्ट हो जाती है कि जीवनमेंसे कुछ सामंजस्य, सौंदर्य, प्रकाश तथा उत्कृष्टतर व्यवस्थाका रस ले लेना चाहिये; परंतु यह प्राणिक प्रकृतिका एक बहुत छोटा-सा भाग है और अपने अधिक उग्र या अंधतर एवं मूढ़तर साथियोंसे सहज ही अभिभूत हो सकती है। यह मनकी पुकारसे अधिक ऊँची किसी पुकारका तबतक आसानीसे साथ नहीं देती जबतक वह पुकार अपना नाश आप ही नहीं कर लेती, जैसा कि धर्म प्रायः ही करता है, यह नाश वह अपनी माँगको उन अवस्थाओंतक कम कर लेनेसे करती है जिन्हें हमारी अंध प्राणिक प्रकृति अधिक अच्छी तरहसे समझ सके। आध्यात्मिक जिज्ञासु अपने अंदर इन सब शक्तियोंसे सचेतन हो जाता है तथा इन्हें अपने चारों ओर सब जगह अनुभव करता है। उसे इनके साथ निरंतर संघर्ष तथा युद्ध करना पड़ता है, ताकि वह इनके चंगुलसे छुटकारा पा सके तथा इन्होंने उसकी सत्ता एवं पारिपार्श्विक मानव-सत्तापर जो चिर-रक्षित आधिपत्य जमा रखा है उससे इन्हें च्युत कर सके। यह कठिनाई एक बड़ी भारी कठिनाई है; क्योंकि उनका अधिकार अत्यंत दृढ़ है, स्पष्ट रूपसे अदम्य है, यहाँतक कि यह इस तिरस्कारपूर्ण उक्तिको सत्य सिद्ध करता है कि मानव-प्रकृति कुत्तेकी दुमके समान है। इसे आचार-शास्त्र, धर्म, तर्कबुद्धि या अन्य किसी उद्धारक पुरुषार्थके बलसे चाहे कितना भी सीधा करनेका यत्न क्यों न करो, यह अंतमें सदा ही विश्व-प्रकृतिकी कुटिल वक्रावस्थामें पुनः-पुनः लौट आती है। इस अत्यंत विक्षुब्ध जीवनेच्छाका बल तथा चंगुल इतना दृढ़ है, इसकी वासनाओं तथा भ्रांतियोंका संकट इतना महान् है, इसके आक्रमणका आवेश या इसके विघ्नोंकी कष्टकर बाधा इतनी सूक्ष्म-आग्रहशील या दृढ़-विद्रोही है तथा द्युलोकके ठेठ द्वारोंतक ऐसी अड़ी रहती है कि संत और योगी भी इसके षड्यंत्र या इसके बलात्कारके विरुद्ध खड़े होनेके लिये अपनी मुक्त पवित्रता या अपने अभ्यस्त आत्म-प्रभुत्वपर भरोसा नहीं कर सकते। इस जन्मजात कुटिलताको सीधा कर डालनेका सारा परिश्रम संघर्षकारिणी संकल्पशक्तिको वृथा प्रतीत होता है। सुखमय स्वर्गकी ओर पलायन या निवृत्ति अथवा शांतिपूर्ण लय, सहज ही, एकमात्र तत्त्वज्ञान होनेके श्रेयको प्राप्त कर लेता है और पुनः जन्म न लेनेके मार्गकी खोज इस रूपमें प्रचलित हो जाती है कि पार्थिव जीवनके नीरस बंधनकी या एक दयनीय मिथ्या उन्माद या अंध तथा संदिग्ध सुख-सौभाग्य एवं सिद्धि-सफलताकी यही एकमात्र ओषधि है।

तथापि इस विक्षुब्ध प्राणिक प्रकृतिकी कोई ओषधि, इसके उद्धारका कोई उपाय तथा रूपांतरकी संभावना तो होनी ही चाहिये और है भी।

किंतु इसके लिये पहले इसकी पथ-भ्रष्टताका कारण ढूंढ़ना होगा और उस कारणका प्रतिकार स्वयं प्राण या जीवनके केंद्रमें तथा उसके असली तत्त्वमें करना होगा, चूँकि प्राण भी भगवान्‌की शक्ति है, यह किसी अतिदुष्ट आकस्मिकता या अंधकारमय दानवीय आवेगकी रचना नहीं है, इसकी वर्तमान आकृति चाहे कैसी भी तमसावृत या विकृत क्यों न हो। प्राणकी मुक्तिका बीज स्वयं इसके अपने अंदर ही है, प्राणशक्तिसे ही हमें अपना साधन-बल प्राप्त करना होगा। कारण, यद्यपि ज्ञानमें रक्षाकारी प्रकाश है, प्रेममें उद्धारकारी तथा रूपांतरकारी सामर्थ्य है, तथापि ये इह-जीवनमें तबतक सफल नहीं हो सकते जबतक ये प्राणकी अनुमति प्राप्त नहीं कर लेते और इसके केंद्रमें निहित किसी मुक्त-शक्ति-रूपी साधनका प्रयोग भ्रांतिशील मानवीय प्राण-शक्तिको दिव्य प्राणशक्तिमें उठा ले जानेके लिये नहीं कर पाते। यज्ञके कर्मोंका विभाजन करके कठिनाईकी गाँठ काट डालना संभव नहीं। हम यह निश्चय करके इससे नहीं बच सकते कि हम केवल प्रेम और ज्ञानके ही कर्म करेंगे और संकल्प एवं शक्ति, अधिकार एवं उपार्जन, उत्पादन एवं सार्थक शक्ति-व्यय तथा युद्ध, विजय एवं प्रभुत्वके कर्मोंसे किनारा कर लेंगे, कि हम जीवनके अधिक बड़े भागको अपनेसे दूर कर देंगे क्योंकि यह साक्षात् कामना और अहंकाररूपी उपादानसे ही निर्मित प्रतीत होता है और इसलिये असामंजस्य तथा निरे संघर्ष एवं अव्यवस्थाका क्षेत्र बनना ही इसके भाग्यमें लिखा है। ऐसा विभाग वास्तवमें किया ही नहीं जा सकता; अथवा, यदि इसके लिये प्रयत्न किया भी जाय तो यह अपने असली उद्देश्यमें अवश्य ही असफल रहेगा। कारण, यह हमें संसार-शक्तिके कुल सामर्थ्योंसे पृथक् कर देगा और अखंड विश्व-प्रकृतिके एक महत्त्वपूर्ण अंगको, इसकी एकमात्र उसी शक्तिको जो किसी भी सृष्ट्युत्पादक कर्ममें आवश्यक साधन है, बंधन बना देगा। प्राण-शक्ति यहाँ विश्वप्रकृतिमें एक अपरिहार्य माध्यम है, एक कार्य-साधक तत्त्व है। मनको इसकी सहायताकी आवश्यकता है, यदि मनके कर्मोंको केवल आकृतिहीन उज्ज्वल आंतरिक रचनाएँ ही नहीं रहना है। आत्माको इसकी इसलिये जरूरत है कि वह अपनी व्यक्त संभावनाओंको बाह्य सामर्थ्य और रूप प्रदान करके जड़-प्रकृतिके अंदर अपनी पूर्ण आत्म-अभिव्यक्तिको मूर्त्त रूपमें चरितार्थ कर सके। यदि प्राण आत्माकी अन्य क्रिया-प्रणालियोंको अपनी मध्यस्थ शक्तिकी सहायता देनेसे इनकार करता है अथवा यदि आत्मा ही प्राणको अंगीकार नहीं करती है, तो ये दोनों इह-लोकपर अपने समस्त संभव प्रभावके होते हुए भी, स्थितिशील पर एकाकी या स्वर्णिम पर निर्वीर्य

वस्तुमें परिणत हो सकते हैं। अथवा. यदि कुछ संपन्न हुआ भी तो वह हमारे कर्मका एक आंशिक तेजः-प्रसार होगा जो बाह्यकी अपेक्षा कहीं अधिक आंतरिक ही होगा। वह शायद जीवनमें कुछ हेर-फेर तो करेगा, पर उसे परिवर्त्तित नहीं कर सकेगा। दूसरी तरफ, यदि प्राण अपनी शक्तियोंको आत्माके समक्ष प्रस्तुत तो करे, पर असंस्कृत रूपमें, तो इसका परिणाम और भी बुरा हो सकता है। कारण, संभव है कि वह प्रेम या ज्ञानकी आध्यात्मिक क्रियाको हीन और भ्रष्ट गतियोंमें परिणत कर डाले अथवा उन्हें अपनी निष्कृष्ट या विकृत क्रियाओंकी दुःसंगिनी बना दे। प्राण एक सर्जनशील आध्यात्मिक उपलब्धिकी पूर्णताके लिये अपरिहार्य है, किंतु वह प्राण जो मुक्त, रूपांतरित और उदात्त हो, न कि वह जो साधारण मानसीकृत मानव-पाशविक हो अथवा आसुरिक या पैशाचिक हो, और न ही वह जो दिव्य तथा अदिव्य दोनोंका मिश्रण हो। अन्य संसार-त्यागी या स्वर्गकामी अभ्यास-विधियाँ चाहे जो करें, पर कठिन होते हुए भी पूर्णयोगका अटल व्रत यही है। यह जीवनके बाह्य कर्मोंकी समस्या-को उलझा नहीं रहने दे सकता, इसे उनके अंदरकी नैसर्गिक दिव्यताको ढूंढ़कर उसे प्रेम तथा ज्ञानकी दिव्यताओंके साथ सदाके लिये और दृढ़ता-पूर्वक संबद्ध कर देना होगा।

यह भी कोई हल नहीं है कि जीवनके कर्मोंसे संबंध तबतक स्थगित रखा जाय जबतक प्रेम और ज्ञान उस शिखरतक विकसित नहीं हो जाते जहाँ वे जीवन-शक्तिका नव-निर्माण करनेके लिये एक प्रभावशाली तथा सुरक्षित रूपमें अपना अधिकार स्थापित कर सकें। कारण, हम देख चुके हैं कि इसके लिये उन्हें पहले अमित ऊँचाइयोंतक उठना होता है; तभी वे उस प्राणिक विकारसे सुरक्षित रह सकते हैं जो उनकी उद्धारक शक्तिको कुंठित या पंगु कर देता है। यदि एक बार हमारी चेतना अतिमानसिक प्रकृतिके शिखरोंतक पहुँच सके तो ये दुर्बलताएँ सचमुचमें दूर हो जायँगी। परंतु इसमें द्विविधा यह है कि जहाँ अपने कंधोंपर असंस्कृत जीवन-शक्तिका भार उठाये अतिमानसिक शिखरोंतक पहुँचना असंभव है वहाँ आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक स्तरोंके निर्भ्रांत प्रकाश तथा अजेय बलको नीचे उतारे बिना प्राणेच्छाका जड़मूलसे नव-निर्माण करना भी उतना ही असंभव है। अतिमानसिक चेतना केवल ज्ञान, आनंद, घनिष्ठ प्रेम और एकत्व ही नहीं है, वह तपस् या संकल्प भी है, बल और शक्तिका तत्त्व भी है, और वह तबतक अवतरित नहीं हो सकती जबतक इस व्यक्त प्रकृतिमें तपस् अर्थात् बल एवं शक्तिका तत्त्व उसे ग्रहण

करने तथा स्पन्दित करनेके लिये पर्याप्त विकसित तथा उदात्त नहीं हो जाता। परंतु संकल्प, बल और शक्ति प्राण-शक्तिके सहजात तत्त्व हैं, इस कारण प्राण ठीक कहता है कि ज्ञान और प्रेम ही सर्वोच्च नहीं हैं, और वह ठीक ही किसी ऐसी चीजकी तृप्तिके लिये प्रेरित होता है जो अपेक्षाकृत अत्यधिक विचारशून्य, दुर्दान्त और भयानक होते हुए भी भगवान् तथा परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये अपने ही वीरतापूर्ण और उत्साहपूर्ण ढंगसे साहस कर सकती है। प्रेम और ज्ञान ही भगवान्के एकमात्र पहलू नहीं हैं, उसका एक पहलू शक्तिका भी है। जैसे मन ज्ञानके लिये टटोलता है, हृदय प्रेमके लिये टोहता है, वैसे ही प्राण भी शक्ति और शक्ति-लभ्य अधिकारकी प्राप्तिके लिये यत्न करता है, भले ही यह यत्न वह लड़खड़ाते हुए, अनाड़ीपनसे या हड़बड़ीके साथ क्यों न करे। 'शक्ति'की इस प्रकारकी निन्दा करना कि यह स्वभावतः पतनकारिणी और अशुभ होनेके कारण अपने-आपमें अनुपादेय या अवांछनीय वस्तु है, नैतिक वा धार्मिक मनकी भूल है। अनेकों उदाहरणोंसे प्रत्यक्षतः ठीक प्रमाणित होनेपर भी, यह मूलतः एक अंध एवं अयुक्तियुक्त धारणा है। शक्ति चाहे कितनी भी विकृत और दुष्प्रयुक्त क्यों न हो, जैसे प्रेम और ज्ञान भी विकृत और दुष्प्रयुक्त होते हैं, फिर भी वह दिव्य है तथा भगवान्के उपयोगके लिये यहाँ प्रतिष्ठित की गयी है। शक्ति,—संकल्प वा बल—लोकोंकी संचालिका है और चाहे वह ज्ञान-शक्ति हो या प्रेम-शक्ति अथवा प्राण-शक्ति हो या कर्म-शक्ति या शरीर-शक्ति, वह सदा ही अपने मूलमें आध्यात्मिक होती है और साथ ही अपने स्वभावमें दिव्य भी। परंतु नर-पशु, मानव या दानव अज्ञानमें इसका जो प्रयोग करता है उसका त्याग करना होगा और उसके स्थानपर इसके एक ऐसे महत्तर एवं स्वाभाविक व्यापारको—हमारे लिये वह चाहे अलौकिक ही क्यों न हो—प्रतिष्ठित करना होगा जो कि अनंत तथा सनातनके साथ एकीभूत अन्तश्चेतनाके द्वारा ही प्रेरित और परिचालित हो। पूर्णयोग जीवनके कर्मोंका वर्जन करके आन्तरिक अनुभव-मात्रसे संतुष्ट नहीं रह सकता। उसका बाह्यको बदलनेके लिये अन्दर जाना आवश्यक है, और इसके लिये प्राण-बलको उस योग-शक्तिका अंग तथा व्यापार बनाना होगा जो भगवान्के साथ संपर्क रखती है तथा जो अपने मार्गदर्शनमें दिव्य है।

जीवनके कर्मोंके साथ आध्यात्मिक तौरपर संबंध स्थापित करनेमें सारी कठिनाई इसलिये पैदा होती है कि जिजीविषा-शक्तिने अपने अविद्यागत प्रयोजनोंके लिये एक मिथ्या प्रकारकी कामनात्माको जन्म दिया है और

इसे वास्तविक चैत्य-रूपी भगवत्स्फुलिंगके स्थानपर ला बिठाया है। जीवनके सभी या अधिकतर कर्म आज इस कामनामय आत्मासे प्रचालित या कलुषित हैं अथवा वे ऐसे प्रतीत होते हैं। जो कर्म नैतिक या धार्मिक हैं, जो परार्थवाद, परोपकार, आत्म-बलिदान एवं स्वार्थ-त्यागका जामा पहने हैं वे भी इसीके तैयार किये तानेबानेसे बुने हुए हैं। यह कामनामय आत्मा एक अहमात्मक एवं विभाजक आत्मा है और इसकी सभी सहजप्रेरणाएँ भेदमूलक अहंख्यापनके लिये होती हैं। यह खुल्लमखुल्ला या न्यूनाधिक चमकीले पर्दोंकी आड़में अपनी ही वृद्धिके लिये, अपने स्वत्व एवं उपभोग तथा विजय और साम्राज्यके लिये सदा ही जोर लगाती रहती है। यदि विक्षोभ, असामंजस्य और विकारके अभिशापको जीवनसे हटाना है, तो सच्ची आत्मा वा हृत्पुरुषको उसके प्रमुख पदपर प्रतिष्ठित करना ही होगा और साथ ही कामना तथा अहंकारकी मिथ्या आत्माका विनाश भी करना होगा। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि स्वयं जीवनपर ही बलात्कार करना होगा और उसे अपनी कृतार्थताकी स्वाभाविक दिशामें चलनेसे मना करना होगा। कारण, इस बाह्य कामनामय आत्माके पीछे हमारे भीतर एक आन्तर तथा वास्तविक प्राणमय पुरुष भी है जिसे विनष्ट नहीं करना, बल्कि प्रमुख स्थान देना है और भागवत प्रकृतिकी शक्तिके तौरपर अपनी सच्ची कार्यप्रणालीके प्रयोगके लिये उन्मुक्त करना है। हमारी सच्ची अन्तरतम आत्माके पथप्रदर्शनमें इस वास्तविक प्राणमय पुरुषका प्रधान बनकर रहना प्राण-शक्तिके दिव्य ढंगसे चरितार्थ करनेके लिये आवश्यक है। वे उद्देश्य अपने सारमें चाहे वही रहेंगे, पर अपने आंतरिक आशय और बाह्य स्वरूपमें पूर्ण रूपसे परिवर्तित हो जायँगे। भागवत प्राण-शक्ति भी विकासका एक संकल्प तथा आत्मख्यापनकी शक्ति ही होगी, किंतु यह ख्यापन तलवर्ती क्षुद्र अस्थायी व्यक्तित्वका नहीं, बल्कि अन्तरस्थ भगवान्‌का होगा, यह विकास भी उस सच्चे दिव्य व्यक्ति, केंद्रीय सत्ता एवं गुप्त अक्षर पुरुषके रूपमें होगा जो अहंको वशीभूत तथा विलुप्त करके ही उदित हो सकता है। जीवनका सच्चा उद्देश्य है--विकास, पर प्रकृतिमें एक ऐसी आत्माका विकास जो अपने-आपको मन, प्राण और शरीरमें प्रतिष्ठित तथा अभिवर्धित करे; स्वामित्व, पर सब पदार्थोंमें भगवान्‌का भगवान्‌पर स्वामित्व, न कि अहंकी कामनाका वस्तुओंपर वस्तुओंके लिये स्वामित्व; उपभोग, पर संसारमें दिव्य आनंदका उपभोग; अंधकारकी शक्तियोंके साथ एक विजयी संघर्षके रूपमें युद्ध, विजय और साम्राज्य, आंतर तथा बाह्य प्रकृतिपर पूर्ण आध्यात्मिक स्व-शासन

और प्रभुत्व, अज्ञानके क्षेत्रोंपर ज्ञान, प्रेम एवं भागवत संकल्पद्वारा विजय।

यही जीवनके कर्मोंके इस दिव्य अनुष्ठानकी तथा प्रगतिशील रूपांतरकी, जो त्रिविध यज्ञका तीसरा अंग है, शर्त्तें हैं और यही इसके उद्देश्य भी होने चाहियें। योगका लक्ष्य जीवनको बौद्धिक नहीं, बल्कि अतिमानसिक बनाना है, नैतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक बनाना है। इसका मुख्य प्रयोजन बाह्य व्यवहारों या स्थूल मनोवैज्ञानिक हेतुओंको नियंत्रित करना नहीं, वरन् जीवन तथा इसके कर्मको इनके गुप्त दिव्य तत्त्वपर पुनः प्रतिष्ठित करना है; क्योंकि, इस प्रकार नये आधारपर प्रतिष्ठित होकर ही जीवन सीधे ऊर्ध्व-स्थित गुप्त भागवती शक्तिके द्वारा परिचालित हो सकता है और आजकी भाँति सनातन नटवरका छद्मवेश और विरूपकारी आवरण न रहकर दिव्यताकी एक स्पष्ट अभिव्यक्तिमें रूपांतरित हो सकता है। बाह्य कार्य-कुशलता नहीं, जो मन तथा बुद्धिका तरीका है, बल्कि चेतनाका मूलगत आध्यात्मिक परिवर्तन ही जीवनका कायापलट कर सकता है और इसके दु:ख-द्विविधाग्रस्त वर्तमान स्वरूपसे इसका परित्राण कर सकता है।

*

इस प्रकार, जीवनके दृश्य-प्रपंचपर बाह्य कौशल-प्रयोगके द्वारा नहीं, बल्कि इसके असली तत्त्वके रूपांतरके द्वारा ही पूर्णयोग इसे प्रकृतिकी विक्षुब्ध तथा अज्ञानमय गतिसे ज्योतिर्मय तथा समस्वर गतिमें परिवर्तित करनेका विचार प्रस्तुत करता है। तीन शर्त्तें हैं जो इस केंद्रीय आंतर क्रांति तथा नवीन निर्माणकी सफलताके लिये अनिवार्य हैं। इनमेंसे एक भी अपने-आपमें पूर्ण रूपसे पर्याप्त नहीं है, किंतु इनकी संयुक्त त्रिगुण शक्तिसे जीवनको ऊँचा उठाया जा सकता है, उसका रूपांतर किया जा सकता है और संपूर्ण रूपसे किया जा सकता है। सर्वप्रथम, जीवन, अपने वर्तमान रूपमें, कामनाकी एक हलचल ही है और इसने हमारे अंदर अपने केंद्रके तौरपर एक कामनामय पुरुषकी रचना कर रखी है। यह कामना-पुरुष जीवनकी सभी चेष्टाओंको अपनेद्वारा जाँचता है और उनमें अपने अज्ञानयुक्त, अर्द्ध-प्रकाशित एवं पराजित प्रयत्नकी व्याकुल चीख-पुकार और दु:ख-दर्दको निहित कर देता है। दिव्य जीवन प्राप्त करनेके लिये कामनाको मिटाना होगा और उसके स्थानपर एक शुद्धतर तथा स्थिरतर प्रेरक-शक्तिकी प्रतिष्ठा करनी होगी, कामनाकी पीड़ित आत्माको विनष्ट कर उसके स्थानपर अपने अंदरके प्रच्छन्न सच्चे प्राणमय पुरुषकी प्रशांति, शक्ति एवं प्रसन्नताको प्रकट

करना होगा। दूसरे, जीवनका वर्तमान रूप कुछ तो प्राण-शक्तिके आवेगसे प्रेरित वा परिचालित होता है और कुछ मनसे। मन, अधिकांशमें, अज्ञान-युक्त प्राणावेगका दास और पृष्ठ-पोषक है, पर अंशतः यह उसका एक चंचल और कम प्रकाशमय या कम योग्य मार्गदर्शक तथा उपदेशक भी है। दिव्य जीवनके लिये मन और प्राणावेगको यंत्रमात्र बनकर रहना होगा, इससे अधिक कुछ नहीं, और अंतरतम हृत्पुरुषको योगमार्गके अग्रणी या दिव्य मार्ग-दर्शनके निर्देशकके तौरपर उनका स्थान ग्रहण करना होगा। अंतमें जीवन, अपने वर्तमान रूपमें, विभाजक अहंकी संतुष्टिमें तत्पर है; इस अहंको विलुप्त होना होगा और इसका स्थान सच्चे आध्यात्मिक पुरुष अर्थात् केंद्रीय पुरुषको लेना होगा। स्वयं जीवनको भी पार्थिव सत्तामें भगवान्‌की चरितार्थताकी ओर मोड़ देना होगा। इसे अपने भीतर जाग रही भागवत शक्तिको अनुभव करना तथा उसके लक्ष्यका आज्ञाकारी यंत्र बनना होगा।

इन तीन रूपांतरकारी आंतर गतियोंमेंसे पहलीमें ऐसी कोई चीज नहीं है जो प्राचीन तथा परिचित न हो, क्योंकि यह सदैव आध्यात्मिक साधनाका एक मुख्य उद्देश्य रही है। गीताके एक सुस्पष्ट सिद्धांतमें इसका अत्युत्तम निरूपण किया गया है। उसमें बताया गया है कि कर्मके प्रेरकके रूपमें फलोंकी कामनाका पूर्ण त्याग, स्वयं कामनाका पूर्ण उच्छेद एवं विशुद्ध समताकी पूर्ण प्राप्ति आध्यात्मिक व्यक्तिकी सामान्य अवस्थाएँ हैं। कामनाके विनाशका एकमात्र सच्चा और अचूक चिह्न पूर्ण आध्यात्मिक समता है, अर्थात् सब पदार्थोंके प्रति आत्मिक समता रखना, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय और सफलता-विफलतासे चलायमान न होना, उच्च और नीच, मित्र और शत्रु, पुण्यात्मा और पापीको सम दृष्टिसे देखना, सर्वभूतमें एकमेवकी नानारूप अभिव्यक्ति और सब पदार्थोंमें देहधारी आत्माकी बहुविध क्रीड़ा या गुप्त क्रमविकासको अनुभव करना। हमारा लक्ष्य मनकी अचंचलता, एकाकिता तथा उदासीनताकी स्थिति नहीं है, न प्राणकी जड़ निस्तब्धता एवं उस शरीर-चेतनाकी निष्क्रिय अवस्था ही हमारा लक्ष्य है जो या तो कोई भी चेष्टा करनेको सहमत नहीं होती अथवा हर प्रकारकी चेष्टा करनेको उद्यत हो जाती है—यद्यपि इन चीजोंको कभी-कभी भूलसे आध्यात्मिक स्थिति मान लिया जाता है—बल्कि हमारा लक्ष्य एक ऐसा विशाल एवं सर्वग्राही अविचल विश्वात्मभाव है जैसा कि प्रकृतिके पीछे रहनेवाली साक्षी आत्माका होता है। यद्यपि यहाँकी सब वस्तुएँ शक्तियोंका एक अस्थिर और अर्द्ध-व्यवस्थित एवं अर्द्ध-अस्तव्यस्त संगठन प्रतीत होती

हैं, फिर भी मनुष्य यह अनुभव कर सकता है कि इनके मूलमें एक सर्वाधार शांति, निश्चल-नीरवता एवं विशालता विद्यमान है जो निष्क्रिय नहीं, बल्कि शांत है, अशक्त नहीं, बल्कि गुप्त रूपसे सर्वशक्तिमान् है; यह शांति एक ऐसी घनीभूत तथा अचल-अटल शक्तिसे संपन्न है जो विश्वकी सभी हलचलोंको सहन करनेमें समर्थ है। यह पीछे रहनेवाली उपस्थिति सब वस्तुओंके प्रति आत्मिक समता रखती है। इसके अंदर जो शक्ति निहित है वह किसी भी कार्यके लिये प्रवाहित की जा सकती है, पर साक्षी आत्माकी कोई भी कामना अपने लिये किसी भी कर्मका चुनाव नहीं करती। असलमें कर्मका कर्त्ता तो वह सत्य है जो स्वयं कर्म तथा उसके प्रत्यक्ष रूपों और आवेगोंसे परे तथा अधिक महान् है, मन या प्राण-शक्ति या शरीरसे भी परे तथा अधिक महान् है, चाहे अपने तात्कालिक प्रयोजनके लिये वह मानसिक, प्राणिक या शारीरिक रूप भी धारण कर सकता है। जब इस प्रकार कामनाकी मृत्यु हो जाती है और यह शांत सम विशालता चेतनामें सर्वत्र छा जाती है तभी हमारे अंदरका सच्चा प्राणमय पुरुष पर्देसे बाहर निकल आता है और अपनी निर्विकार, गंभीर तथा शक्तिशाली उपस्थितिको व्यक्त करता है। प्राणमय पुरुषका सच्चा स्वरूप यही है; यह दिव्य पुरुषका जीवनके अंदर प्रसारित अंश है,—शांत, सशक्त और प्रकाशमय है, नाना सामर्थ्योंसे संपन्न है, भगवत्संकल्पका आज्ञाकारी है, अहंसे रहित है और फिर भी, बल्कि वास्तवमें इसी कारण समस्त कार्य, ध्येयसिद्धि तथा अत्यंत उच्च या अति वृहत् साहस-कर्म करनेमें समर्थ है। तब एक सच्ची प्राण-शक्ति भी पहलेकी तरह क्षुब्ध, व्याकुल, विभक्त एवं आयासकारी स्थूल बलके रूपमें नहीं, वरन् एक महान्, ज्योतिर्मय दिव्य शक्तिके रूपमें प्रकट होती है। वह शक्ति शांति, बल और आनंदसे परिपूर्ण है, वह विशाल पथपर विचरण करनेवाला जीवनका देवदूत है जिसके शक्तिके पंख संसारको आच्छादित किये हैं।

परंतु विशाल सामर्थ्य और समताकी अवस्थामें पहुँचानेवाला यह रूपांतर भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह हमारे लिये दिव्य जीवनके करणोपकरणको खोल देता है, तथापि यह उसका शासन और सूत्र-संचालन हमें प्रदान नहीं करता। यहींपर उन्मुक्त हृत्पुरुषकी उपस्थिति हस्तक्षेप करती है। यह हृत्पुरुष हमें सर्वोच्च शासन और मार्ग-दर्शन तो प्रदान नहीं करता,—क्योंकि वह इसका कार्य नहीं है,—किंतु यह अज्ञानसे दिव्य ज्ञानमें संक्रमणके कालमें आंतर तथा बाह्य जीवन एवं कर्मके लिये एक वृद्धिशील पथ-प्रदर्शन अवश्य प्रदान करता है। प्रतिक्षण यह एक पद्धति,

पथ एवं सोपानक्रमका निर्देश करता है जो हमें एक ऐसी संसिद्ध आध्यात्मिक स्थितिमें पहुँचा देगा, जहाँ एक परम क्रियाशील उपक्रम-शक्ति सदा उपस्थित रहकर दिव्यीकृत प्राण-शक्तिकी क्रियाओंका संचालन करती रहेगी। इसके द्वारा प्रसारित प्रकाशसे प्रकृतिके अन्य अंग भी आलोकित हो उठते हैं जो अवतक अपनी भ्रांत तथा स्खलनशील शक्तियोंसे अधिक श्रेष्ठ किसी मार्ग-दर्शकके अभावके कारण अज्ञानके घेरेमें भटकते आ रहे हैं। मनको तो यह विचारों तथा वोधोंका यथार्थ अनुभव प्रदान करता है और प्राणको इस बातका अचूक ज्ञान कि कौन-सी चेष्टायें भ्रांत हैं अथवा भ्रांत करने-वाली हैं और कौन-सी सत्प्रेरित। अंदर विराजमान एक शांत भविष्य-वक्ताके समान कोई हमारे पतनोंके कारणोंको हमारे सामने खोलकर हमें समयपर चेतावनी दे देता है कि वे फिर नहीं होने चाहियें, अनुभव तथा अन्तर्ज्ञानके द्वारा हमारे कार्योंकी सही दिशाका, उनके ठीक कदम तथा यथार्थ आवेगका एक ऐसा नियम निकाल लेता है जो कठोर नहीं, वल्कि नमनीय होता है। एक ऐसी संकल्प-शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो जिज्ञासा-कुल पर अत्यधिक भ्रांतिशील मनके साथ नहीं, वल्कि विकसनशील सत्यके साथ अधिक समस्वर होती है। उदय होनेवाले महत्तर प्रकाशके प्रति सुनिश्चित अभिमुखता, आत्मिक सहज-प्रेरणा, आन्तरात्मिक कुशलता, तथा वस्तुओंके वास्तविक तत्त्व, गति एवं आशयमें पैठनेवाली एक ऐसी अंतर्दृष्टि जो आंतर संस्पर्श, आंतर दृष्टि और यहाँतक कि तादात्म्यके द्वारा उपलव्ध ज्ञानके तथा आध्यात्मिक दिव्य दृष्टिके सदा अधिकाधिक निकट पहुँचती जाती है, ये सव मानसिक निर्णयकी उथली सूक्ष्मताका और प्राण-शक्तिके उत्सुक अवधारणोंका स्थान लेने लगते हैं। जीवनके कर्म भी अपनेको शुद्ध करने तथा भ्रांतिका त्याग करने लगते हैं और वुद्धिद्वारा थोपी हुई कृत्रिम या तार्किक व्यवस्थाकी तथा कामनाके मनमाने नियमकी जगह अन्तरात्माकी गभीर अन्तर्दृष्टिके निर्देशको प्रतिष्ठित करके परम आत्माके गूढ़ पथोंमें प्रवेश करने लगते हैं। हृत्पुरुप जीवनपर यह नियम लागू कर देता है कि यह अपने सारे कर्मोंको भगवान् और सनातनके प्रति आहुतिके रूपमें अर्पित करे। जीवन जीवनातीतके प्रति आह्वान वन जाता है; इसका प्रत्येक छोटे-से-छोटा कार्य भी अनन्तकी भावनासे विशाल हो उठता है।

जैसे-जैसे हमारे अंदर आन्तरिक समता वढ़ती है और हमें उस सच्चे प्राणमय पुरुपका अधिकाधिक अनुभव प्राप्त होता है जो एक महत्तर आदेश-निर्देश देनेके लिये प्रतीक्षा कर रहा है, जैसे-जैसे हमारी प्रकृतिके सभी

अंगोंमें अंतरात्माकी पुकार बढ़ती है वैसे-वैसे वह, जिसे हमारी पुकार संबोधित करती है, अपनेको प्रकाशित करने लगता है, जीवन तथा इसके सामर्थ्योंको अधिकृत करनेके लिये अवतरित होता है, और उन्हें अपनी उपस्थिति तथा प्रयोजनकी उच्चता, गभीरता और विशालतासे भर देता है। अधिकतर लोगोंमें नहीं तो बहुतोंमें यह समता तथा मुक्त आंतरात्मिक संवेग या निर्देशकी अवस्थासे पहले भी अपना कुछ-न-कुछ अंश प्रकट करता है। बाह्य अज्ञानके ढेरके नीचे दबे पड़े और छुटकारेके लिये क्रन्दन कर रहे प्रच्छन्न चैत्य तत्त्वकी पुकार, विह्वल ध्यानका एवं ज्ञानकी खोजका दबाव, हृदयकी उत्कंठा और एक ऐसा सच्चा एवं तीव्र संकल्प जो अभी अज्ञानमय है—ये सब उच्चतर प्रकृतिको निम्नतरसे पृथक् करनेवाले पर्देको हटाकर मूल स्रोतके द्वार खोल सकते हैं। दिव्य पुरुषकी एक कला अपने-आपको या अनंतके कुछ प्रकाश, बल, आनंद एवं प्रेमको व्यक्त कर सकती है। संभव है कि यह केवल एक क्षणिक सत्य-दर्शन, एक झलक या एक अचिर झाँकी ही हो जो शीघ्र ही लौट जाय तथा प्रकृतिके तैयार होनेतक प्रतीक्षा करे, परंतु यह बार-बार भी प्राप्त हो सकती है, बढ़ सकती है और देरतक भी रह सकती है। ऐसी दशामें एक लंबी और विस्तृत सर्वांगीण क्रिया आरंभ हो जाती है, जो कभी विशद या तीव्र और कभी मन्द एवं धुँधली होती है। किसी-किसी समय एक भागवत शक्ति सामने आकर मार्ग दिखाती है और प्रेरणा या निर्देश तथा प्रकाश प्रदान करती है। अन्य समयोंमें यह पीछे हट जाती है तथा सत्ताको उसीके साधनोंके भरोसे छोड़ती प्रतीत होती है। सत्तामें जो कुछ भी अज्ञ, अंध एवं कलुषित है अथवा केवल अपूर्ण तथा निकृष्ट है उसे उभाड़कर और शायद चरम सीमाको पहुँचाकर उसका उपाय वा सुधार किया जाता है, अथवा उसे समाप्त किया जाता है, उसे अपने दुःखदायी परिणाम दिखाकर अपने लोप या रूपांतरके लिये पुकार करनेको विवश किया जाता है, या फिर उसे एक निकम्मी या सुधारके अयोग्य वस्तुकी भाँति प्रकृतिसे निकाल दिया जाता है। यह प्रक्रिया सरल तथा सम नहीं हो सकती, दिन और रात, प्रकाश और अंधकार, शांति और निर्माण अथवा युद्ध और उथल-पुथल, वर्धमान भागवत चेतनाकी उपस्थिति और अनुपस्थिति, आशाके शिखर तथा निराशाके अतल गर्त, प्रियतमका आलिंगन और उसके विरहकी वेदना, विरोधी शक्तियोंका दुर्धर्ष आक्रमण तथा प्रबल धोखा, उग्र विरोध एवं दुर्बल करनेवाला परिहास अथवा देवताओं तथा ईश्वरीय दूतोंकी सहायता, सांत्वना एवं संदेश बारी-बारीसे आते हैं। जीवन-समुद्रको दीर्घकालतक और बलपूर्वक अत्यधिक

मथा और विलोड़ा जाता है जिससे कि इसका अमृत और गरल प्रबलताके साथ उछल-उछलकर ऊपर आते हैं। यह क्रिया तबतक चलती रहती है जबतक कि हमारी सारी सत्ता और प्रकृति वृद्धिशील अवतरणके पूर्ण राज्य एवं उसकी व्यापक उपस्थितिके लिये पूर्ण रूपसे सज्जित और सन्नद्ध नहीं हो जाती। परंतु यदि समता, आंतरात्मिक ज्योति और इच्छाशक्ति विद्यमान हों, तो यह प्रक्रिया—यद्यपि यह पूर्ण रूपसे टाली तो नहीं जा सकती—बहुत हलकी एवं सुगम अवश्य की जा सकती है। निश्चय ही, तब यह अपनी अत्यंत कष्टकर विपदाओंसे मुक्त हो जायगी; आंतर शम, प्रसाद एवं विश्वास रूपांतरकी सभी कठिनाइयों और परीक्षाओंमें कदमोंको सहारा देंगे और वर्धमान शक्ति प्रकृतिकी पूर्ण स्वीकृतिसे लाभ उठाकर विरोधी शक्तियोंके सामर्थ्यको शीघ्र ही न्यून और नष्ट कर देगी। निश्चित मार्ग-दर्शन और रक्षण सदा-सर्वदा विद्यमान रहेंगे, कभी सामने उपस्थित और कभी पर्देके पीछे कार्यरत। अंतिम परिणामकी शक्ति प्रयत्नके आरंभमें तथा बीचकी लंबी अवस्थाओंमें भी पहलेसे ही उपस्थित रहेगी। हर समय जिज्ञासु दिव्य मार्गदर्शक और रक्षकसे या परम मातृ-शक्तिकी क्रियासे सचेतन रहेगा; उसे इस बातका ज्ञान होगा कि सब कुछ अधिक-से-अधिक भलेके लिये ही किया जा रहा है और प्रगति निश्चित है एवं विजय अनिवार्य। दोनों अवस्थाओंमें एक ही प्रक्रिया अटल रूपसे काम करती है; आंतर तथा बाह्य, संपूर्ण प्रकृतिको, संपूर्ण जीवनको, अपनाना होगा जिससे इसकी शक्तियों एवं इनकी गतियोंको ऊर्ध्वके दिव्यतर जीवनके दबावके द्वारा अभिव्यक्त, परिचालित तथा रूपांतरित किया जा सके। ऐसा तबतक करना होगा जबतक कि महत्तर आध्यात्मिक शक्तियाँ इहलोकके सब कुछको अपने अधिकारमें लाकर आध्यात्मिक कर्म तथा दिव्य लक्ष्यका साधन नहीं बना लेतीं।

इस प्रक्रियामें तथा इसकी प्रारंभिक अवस्थामें ही यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अपने संबंधमें हम जो कुछ जानते हैं वह अर्थात् हमारी वर्तमान चेतन सत्ता हमारी गुप्त सत्ताके विशाल संघातकी एक प्रतिनिधि-रचना, तलीय क्रिया एवं परिवर्तनशील बाह्य परिणाम है। हमारा प्रत्यक्ष जीवन और इसके कर्म कुछ-एक अर्थपूर्ण अभिव्यक्तियोंकी शृंखलासे अधिक कुछ नहीं हैं, किंतु जिसे यह जीवन अभिव्यक्त करनेका यत्न करता है वह उपरितलपर नहीं है। जिस गोचर सम्मुखस्थ सत्ताको हम 'अपना-आप' मानते हैं और जिसे हम अपने चारों ओरके संसारके सामने प्रस्तुत करते हैं, उसकी अपेक्षा हमारी सत्ता एक बहुत अधिक विस्तृत वस्तु है। यह

सम्मुखस्थ तथा बाह्य सत्ता मानसिक रचनाओं, प्राणिक चेष्टाओं तथा शारीरिक व्यापारोंका एक अस्त-व्यस्त संकर है। इसके घटक अवयवों तथा मशीनरीमें इसका पूर्ण विश्लेषण करनेपर भी हमारी वास्तविक सत्ताका सारा रहस्य प्रकाशमें नहीं आता। उसे तो हम अपनी सत्ताके पीछे, नीचे और ऊपर, इसके प्रच्छन्न स्तरोंमें, प्रवेश करके ही जान सकते हैं। अत्यंत पूर्ण तथा सूक्ष्मतलीय छानबीन और प्रयोग-कुशलतासे भी हमें अपने जीवनका, उसके उद्देश्यों एवं उसकी प्रवृत्तियोंका सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, न हम उनका पूरी सफलताके साथ नियंत्रण ही कर सकते हैं। हमारी यह असमर्थता ही मानवजातिके जीवनको नियंत्रित, मुक्त तथा पूर्ण बनानेमें हमारी बुद्धि, नैतिकता और अन्य प्रत्येक बाह्य क्रियाकी असफलताका वास्तविक कारण है। हमारी अत्यंत धुँधली भौतिक चेतनाके भी नीचे एक अवचेतन सत्ता है। इसमें सब प्रकारके बीज, जो हमारे बिना जाने ही हमारे उपरितलपर अंकुरित हो उठते हैं, ऐसे छिपे पड़े हैं जैसे आच्छादक एवं पोषक धरतीमें सब प्रकारके बीज छिपे रहते हैं। साथ ही, इसमें हम निरंतर ऐसे नये बीज भी डाल रहे हैं जो हमारे अतीतको चिरायु करते हैं और हमारे भविष्यपर प्रभाव डालते हैं। यह अवचेतन सत्ता एक अंधकारपूर्ण सत्ता है जो अपनी गतियोंमें क्षुद्र एवं विशृंखल है और प्रायः ही मनमौजी ढंगसे अवबौद्धिक होती है, किंतु पार्थिव जीवनपर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अथच हमारे मन, हमारे प्राण एवं हमारी सचेतन स्थूल सत्ताके मूलमें एक विस्तृत प्रच्छन्न चेतना भी है,—आंतर मनोमय, आंतर प्राणमय, आंतर सूक्ष्मतर अन्नमय स्तर हैं जो अंतरतम चैत्य सत्ता, अर्थात् अन्य सबको संबद्ध करनेवाली अंतरात्माके द्वारा धारित हैं। इन निगूढ़ स्तरोंमें भी ऐसे अनेकों पूर्व-विद्यमान व्यक्तित्व निहित हैं जो हमारी विकसनशील तलीय सत्ताकी साधन-सामग्री, चालक शक्तियाँ तथा अंतःप्रवृत्तियाँ जुटाते हैं। यहाँ हममेंसे प्रत्येकके अंदर एक केंद्रीय पुरुषके साथ-साथ अनेक गौण व्यक्तित्व भी हो सकते हैं जो इस पुरुषकी अभिव्यक्तिके विगत इतिहासके द्वारा अथवा बाह्य जड़जगत्में इसकी वर्तमान क्रीड़ाको आश्रय देनेवाले आंतर स्तरोंपर इसके आविर्भावोंके द्वारा निर्मित होते हैं। अपने ऊपरी तलपर हम अपने चारों ओरके सब पदार्थोंसे विच्छिन्न हैं, सिवा इसके कि हम उस बाह्य मन एवं इंद्रिय-सन्निकर्षके द्वारा उनसे संपर्क प्राप्त करते हैं जो हमें जगत्के प्रति तथा जगत्को हमारे प्रति केवल बहुत थोड़ा-सा ही खोलता है, किंतु इन आंतर स्तरोंमें हमारे तथा शेष सत्ताके बीचकी दीवार पतली है तथा आसानीसे टूट जाती है। यहाँ हम वैश्व तथा

वैयक्तिक सत्ताका निर्माण करनेवाली गुप्त विश्व-शक्तियों, मानस-शक्तियों, प्राण-शक्तियों एवं सूक्ष्मभौतिक शक्तियोंकी क्रिया तुरंत अनुभव कर सकते हैं—यह नहीं कि उनके परिणामोंसे इसका अनुमानमात्र कर सकते हैं, बल्कि इसे प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। यदि हम अपनेको इसके लिये कुछ शिक्षित करें तो हम इन विश्व-शक्तियोंको, जो अपने-आपको हमपर या हमारे चारों ओर फेंकती हैं, अपने हाथमें लेकर अधिकाधिक अपने वशमें कर सकते हैं अथवा कम-से-कम हमपर तथा दूसरोंपर होनेवाली इनकी क्रियाको और इनकी रचनाओं एवं वास्तविक गतियोंको भी बहुत काफी परिवर्तित कर सकते हैं। हमारे मानव मनके ऊपर और भी महत्तर स्तर हैं जो इसके लिये अतिचेतन हैं। वहाँसे प्रभाव, शक्तियाँ तथा संस्पर्श गुप्त रूपसे अवतीर्ण होते हैं; वे यहाँकी वस्तुओंके आद्य निर्धारक हैं और यदि उनके पूर्ण ऐश्वर्य समेत उनका यहाँ आवाहन किया जाय तो वे स्थूल संसारके जीवनकी संपूर्ण रचना और व्यवस्थाको पूर्ण रूपसे बदल सकते हैं। यह सब एक गुप्त अनुभव और ज्ञान है। पूर्णयोगमें जब हम भागवत शक्तिकी ओर उद्घाटित होते हैं तो वह हमपर क्रिया करती हुई इस सब अनुभव और ज्ञानको उत्तरोत्तर हमारे समक्ष प्रकाशित करती है, इसे प्रयोगमें लाती और इसके परिणामोंको हमारी संपूर्ण सत्ता तथा प्रकृतिके रूपांतरके लिये साधनों एवं सोपानोंके रूपमें तैयार करती है। तब हमारा जीवन ऊपरी तलपर उछलती हुई एक छोटी-सी लहर नहीं रहता, बल्कि विश्वजीवन और हमारा जीवन एक-दूसरेमें प्रविष्ट हो जाते हैं, भले ही अभी वे घुल-मिलकर एकीभूत नहीं हो जाते। हमारी आत्मसत्ता एवं हमारी आत्मा किसी विशाल विश्वात्माके साथ आंतरिक तादात्म्यकी स्थितिमें ही नहीं, अपितु परात्परके साथ एक प्रकारके सायुज्यकी स्थितिमें भी उन्नीत हो जाती है, यद्यपि विश्व-व्यापारसे भी वह सचेतन रहती है और उसपर प्रभुत्व भी रखती है।

इस प्रकार हमारी खंडित सत्ताको अखंड बनानेकी प्रक्रियासे ही योगनिष्ठ भागवत शक्ति अपने ध्येयकी ओर अग्रसर होगी। मुक्ति, सिद्धि एवं स्वामित्व इस अखंडीकरणपर ही आश्रित हैं, क्योंकि उपरितलकी लघु तरंग अपनी ही गतिपर काबू नहीं पा सकती, अपने चारों ओरके विराट् जीवनपर कोई वास्तविक नियंत्रण प्राप्त करना तो उसके लिये और भी कम संभव है। शक्ति,—अनंत और सनातन देवकी शक्ति,—हमारे भीतर अवतरित होती है, कार्य करती है, प्रत्येक आवरणको टुकड़े-टुकड़े करके हमें विशाल तथा मुक्त कर देती है, दृष्टि, विचारणा और प्रत्यक्ष

ज्ञानकी नित्य नवीनतर तथा महत्तर शक्तियों और नूतनतर तथा महत्तर प्राणिक प्रेरक-भावोंको हमारे सामने प्रस्तुत करती है, आत्मा और उसके करणोंको अधिकाधिक विस्तृत करके नये नमूनेमें ढालती है, प्रत्येक न्यूनताको हमारे सामने ला खड़ा करती है, ताकि उसे दोषी ठहराकर दूर किया जाय। यह हमें महत्तर पूर्णताकी ओर खोल देती है, अनेक जन्मों या युगोंका कार्य अल्प कालमें कर डालती है जिसके फल-स्वरूप नूतन जन्म तथा अभिनव दृश्य हमारे भीतर लगातार खुलते जाते हैं। अपने कार्यमें विस्तारशील यह हमारी चेतनाको शरीरकी सीमासे मुक्त कर देती है। फलतः, हमारी चेतना समाधि या निद्रामें अथवा यहाँतक कि जागरित अवस्थामें भी बाहर जाकर अन्य लोकोंमें या इस लोकके अन्य प्रदेशोंमें प्रवेश कर वहां कार्य कर सकती है अथवा अपना अनुभव अपने साथ ला सकती है। यह बाहर फैल जाती है, शरीरको अपना एक छोटा-सा भागमात्र अनुभव करती है, और उसे अपने अंतर्गत करने लगती है जो पहले इसे अपने अंतर्गत रखता था। यह विश्वचेतनाको प्राप्त करती है और विश्वके समान व्यापक बननेके लिये अपनेको विस्तृत करती है। जगत्में क्रीड़ारत शक्तियोंको यह बाह्य निरीक्षण तथा संपर्कसे ही नहीं, बल्कि अंदरसे तथा प्रत्यक्ष रूपसे जानने लगती है, उनकी गतिको अनुभव करती है, उनके व्यापारको पहचानती है, और उनपर तुरंत ही उसी प्रकार क्रिया कर सकती है जिस प्रकार एक वैज्ञानिक भौतिक शक्तियोंपर क्रिया करता है। हमारे मन-प्राण-शरीरमें उनके कार्यों तथा परिणामोंको स्वीकृत या अस्वीकृत करके अथवा संशोधित, परिवर्तित या पुनर्गठित करके यह प्रकृतिकी पुरानी क्षुद्र चेष्टाओंके स्थानपर नयी अति महत् शक्तियाँ तथा गतियाँ उत्पन्न कर सकती है। हम वैश्व मनकी शक्तियोंके व्यापारको अनुभव करने लगते हैं तथा यह जानने लगते हैं कि किस प्रकार उस व्यापारसे हमारे विचार उत्पन्न होते हैं। अपने मानसिक बोधोंके सत्य और अनृतको हम अंदरसे अलग-अलग करते हैं और उनका क्षेत्र बढ़ाते हैं तथा उनका अर्थ विस्तृत एवं प्रकाशित करते हैं। हम अपने मन तथा कर्मके स्वामी बन जाते हैं और अपने चारों ओरके जगत्में मनकी गतियोंका रूप निर्धारित करनेमें समर्थ और तत्पर हो जाते हैं। विश्वव्यापी प्राण-शक्तियोंकी धारा और तरंगको हम अनुभव करने लगते हैं, अपने बोधों, भावों, संवेदनों एवं आवेगोंके उद्गम और नियमको जान लेते हैं, स्वीकार, परित्याग एवं पुनर्गठन करनेमें स्वतंत्र होते हैं और प्राणशक्तिके उच्चतर स्तरोंकी ओर उठ जाते हैं। 'जड़तत्त्व'की पहेलीकी कुंजी भी हमें उपलब्ध होने लगती

है, 'मन', 'प्राण' तथा 'चेतना'के साथ होनेवाली इसकी क्रीड़ाको हम समझ लेते हैं, इसका करणात्मक तथा फलित व्यापार हम अधिकाधिक जानते जाते हैं तथा अंतमें इसके इस चरम रहस्यका पता पा लेते हैं कि यह केवल शक्तिका नहीं, बल्कि निर्वर्त्तित तथा अवरुद्ध या अस्थिर तथा बद्ध चेतनाका भी रूप है और हम यह भी देखने लगते हैं कि यह मुक्त हो सकता है तथा उच्चतर शक्तियोंको प्रत्युत्तर देनेके लिये नमनीय बन सकता है, और साथ ही इसमें ऐसी शक्यताएँ भी हैं कि यह आत्माकी आधीसे अधिक निश्चेतन प्रतिमूर्त्ति और अभिव्यक्ति न रहकर उसका सचेतन शरीर बन सकता है। यह सब और इससे भी अधिक कुछ उत्तरोत्तर संभव होता जाता है जैसे-जैसे भागवती शक्तिकी क्रिया हमारे अंदर बढ़ती है और प्रत्युत्तर देनेमें हमारी तमसाच्छन्न चेतनाके अत्यधिक प्रतिरोध या आयासके विरुद्ध आगे बढ़ने, पीछे हटने और फिर आगे बढ़नेके बहुत अधिक संघर्ष और प्रयत्नके द्वारा महत्तर पवित्रता, सत्यता, उच्चता तथा विशालताकी ओर अग्रसर होती है—एक ऐसे संघर्ष और प्रयत्नके द्वारा जो अर्द्ध-निश्चेतन तत्त्वका सचेतन तत्त्वमें सुमहान् रूपांतर करनेके कार्यके कारण अनिवार्य हो जाता है। यह सब हमारे अंदर होनेवाले आंतरात्मिक जागरणपर, भागवत शक्तिके प्रति हमारे प्रत्युत्तरकी पूर्णता तथा हमारे वर्धमान समर्पणपर निर्भर करता है।

परंतु यह सब तो केवल बाह्य कर्मकी महत्तर संभावनासे समन्वित एक महत्तर आंतर जीवन ही कहला सकता है और केवल एक संक्रमण-कालीन उपलब्धि होता है। पूर्ण रूपांतर तो तभी हो सकता है यदि हमारा यज्ञ अपने उच्चतम शिखरोंपर आरोहण करे और दिव्य अतिमानसिक विज्ञानकी शक्ति, ज्योति एवं आनंदके द्वारा जीवनपर अपनी क्रिया करे। कारण, केवल तभी वे सब शक्तियाँ, जो विभक्त हैं और अपने-आपको जीवन तथा इसके कर्मोंमें अधूरे तौरपर प्रकट करती हैं, अपने मूल एकत्व, सामंजस्य, एकमेव सत्य, वास्तविक पूर्णत्व तथा पूर्ण मर्मतक ऊँची उठ सकती हैं। वहाँ ज्ञान और संकल्प एक ही हैं, प्रेम और बल एक अखण्ड गति हैं। जो-जो द्वन्द्व हमें यहाँ सताते हैं वे वहाँ अपनी समस्वरित एकतामें परिणत हो जाते हैं। शिव वहाँ अपना चरम रूप विकसित करता है और अशिव अपनेको अपने दोषसे मुक्त करके उस शिवमें लौट जाता है जो इसके पीछे बराबर ही विद्यमान था। पाप-पुण्य एक दिव्य पवित्रता तथा निर्भ्रान्त सत्य गतिमें विलीन हो जाते हैं। सुखकी दोलायमान क्षणिकता एक ऐसे आनंदमें विलीन हो जाती है जो एक शाश्वत तथा प्रसन्न आध्या-

त्मिक ध्रुवताकी क्रीड़ा है। दुःख ध्वस्त होता हुआ उस आनंदका स्पर्श पा लेता है जो *निश्चेतनकी इच्छाके किसी घोर विकारके वश तथा आनंदको* ग्रहण करनेमें इसकी असमर्थताके कारण विश्वासघातपूर्वक त्याग दिया गया था। जैसे-जैसे हमारी चेतना सीमित एवं देहबद्ध अन्न-मनमेंसे परा-प्रज्ञाके उच्चात्युच्च शिखरकी स्वतंत्रता तथा पूर्णतामें उठती जाती है, वैसे-वैसे ये चीजें, जो मनके निकट एक कल्पना या रहस्यमात्र हैं, प्रत्यक्ष तथा अनुभवग्राह्य होती जाती हैं। परंतु ये पूर्ण रूपसे सत्य तथा स्वाभाविक तभी हो सकती हैं जब अतिमानस-सत्य हमारी प्रकृतिका नियम बन जाय।

अतएव, जीवनकी सार्थकता एवं इसकी मुक्ति और रूपांतरित पार्थिव प्रकृतिके अंदर इसका दिव्य जीवनमें कायापलट—यह सब इसपर निर्भर करता है कि आरोहण सफलतापूर्वक संपन्न हो और इन उच्चतम स्तरोंसे पृथ्वी-चेतनामें एक परिपूर्ण गतिशीलताका अवतरण साधित हो जाय।

*

जैसी कि पूर्णयोगके स्वरूपकी कल्पना या अवधारणा की गयी है, यह इन आध्यात्मिक साधनोंको लेकर आगे बढ़ता है तथा इसका सारा आधार प्रकृतिके इस पूर्ण रूपांतरपर ही है। इसका यह स्वरूप अपने-आप इस प्रश्नका निश्चित उत्तर दे देता है कि इस योगमें जीवनके साधारण कार्योंको किस भावसे करना होता है और उनका क्या स्थान है।

पूर्णयोगमें कर्मों और जीवनका तपस्वी या ध्यानी या रहस्यवादीका-सा कोई भी नितांत त्याग, निमग्न ध्यान और निष्क्रियताका कोई सिद्धांत, प्राण-शक्ति और इसकी क्रियाओंका कोई भी उन्मूलन या तिरस्कार, पृथ्वी-प्रकृतिमें अभिव्यक्तिका किसी प्रकारका परिवर्जन—इन सबका कुछ भी स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। जिज्ञासुके लिये किसी समय यह आवश्यक हो सकता है कि वह तबतक अपने भीतर, पीछेकी ओर हटकर रहे, अपनी आंतर सत्तामें निमग्न रहे, वर्तमान जीवनके कलह-कोलाहलके प्रति अपने द्वार बंद रखे जबतक कि एक विशेष आंतर परिवर्तन संपादित न हो जाय या कोई ऐसी चीज उपलब्ध न हो जाय जिसके बिना अब जीवनपर कोई प्रभावपूर्ण क्रिया करना कठिन या असंभव हो गया हो। परंतु यह केवल एक अवसर या प्रसंग, एक अस्थायी आवश्यकता या उपक्रमरूप आध्यात्मिक दाँव-पेच ही हो सकता है; यह उसके योगका नियम या सिद्धांत नहीं हो सकता।

मानव-जीवनके कार्यकलापका धार्मिक या नैतिक आधारपर अथवा

एक साथ दोनों आधारोंपर विभाग करना, उन्हें केवल पूजासंबंधी कर्मों या केवल लोकसेवा और परोपकारके कर्मोंतक सीमित कर देना पूर्णयोगकी भावनाके विपरीत होगा। कोई निपट मानसिक नियम या निरा मानसिक अंगीकार या निषेध इसकी साधनाके उद्देश्य और क्रमके विरुद्ध होता है। सभी चीजोंको आध्यात्मिक शिखरतक ऊँचा उठा ले जाना होगा और आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित करना होगा। आंतर आध्यात्मिक परिवर्तनके प्रत्यक्षानुभव तथा बाह्य रूपांतरको जीवनके किसी एक भागपर ही नहीं, बल्कि सारे-के-सारे जीवनपर लागू करना होगा। जो कुछ इस परिवर्तनमें सहायक है या इसे अनुमति देता है वह सब स्वीकार करना होगा, जो कुछ अपने-आपको रूपांतरकारिणी गतिके अधीन कर देनेमें अशक्त या अयोग्य है अथवा इससे इन्कार करता है वह सब त्याग देना होगा। वस्तुओंके या जीवनके किसी भी रूपके प्रति, किसी पदार्थ और कार्यके प्रति नाममात्रकी भी आसक्ति नहीं रखनी होगी। सब कुछ त्याग देना होगा यदि ऐसी जरूरत आ पड़े; वह सब कुछ स्वीकार करना होगा जिसे भगवान् दिव्य जीवनके लिये अपनी साधन-सामग्रीके रूपमें वरण करें। परंतु जो स्वीकार या परित्याग करे वह न तो मन होना चाहिये, न कामनाकी स्पष्ट या प्रच्छन्न प्राणिक शक्ति, और न ही नैतिक भावना, प्रत्युत वह होना चाहिये हृत्पुरुषका आग्रह, योगके दिव्य मार्गदर्शकका आदेश, उच्चतर आत्मा या आत्म-तत्त्वकी दिव्य दृष्टि और परम प्रभुका ज्ञानदीप्त मार्गदर्शन। अध्यात्म-मार्ग कोई मानसिक मार्ग नहीं है। मानसिक नियम या मानसिक चेतना इसकी निर्धारयित्री या इसकी नेत्री नहीं हो सकती।

ऐसे ही, चेतनाकी दो श्रेणियों, आध्यात्मिक और मानसिक अथवा आध्यात्मिक और प्राणिक, में मेल या समझौता करना अथवा बाह्यतः अपरिवर्तित जीवनको केवल भीतरसे उदात्त कर देना योगका नियम या लक्ष्य नहीं हो सकता। सारे जीवनको अपनाना होगा पर सारे ही जीवनका रूपांतर भी करना होगा; सारे जीवनको अतिमानस-प्रकृतिमें अवस्थित आध्यात्मिक सत्ताका एक अंग, रूप एवं समुचित अभिव्यक्ति बनना होगा। जड़ जगत्में आध्यात्मिक विकासका शिखर और उसकी सर्वोच्च गति यही है। जैसे प्राण-प्रधान पशुसे मनोमय मनुष्यमें परिवर्तित होनेपर जीवन अपनी मूल चेतना, क्षेत्र और प्रयोजनमें कुछ-से-कुछ हो गया था, वैसे ही देहभावापन्न मनोमय जीवसे एक ऐसे आध्यात्मिक तथा अति-मानसिक जीवमें परिवर्तन, जो जड़तत्त्वका प्रयोग तो करेगा, पर इसके वशमें नहीं होगा, जीवनको ऊँचा उठाकर कुछ-से-कुछ बना देगा। तब

जीवन दोषयुक्त, त्रुटिपूर्ण, सीमित एवं मानवीय न रहकर अपनी आधारिक चेतना, क्षेत्र और प्रयोजनमें बिलकुल और ही चीज बन जायगा। जीवनके उन सब रूपोंको, जो परिवर्तनको नहीं सह सकते, लुप्त हो जाना होगा, जो इसे सहन कर सकते हैं केवल वही जीवित बचे रहेंगे और आत्माके राज्यमें प्रवेश करेंगे। भागवत शक्ति कार्य कर रही है और वह हर क्षण चुनाव करेगी कि क्या करना है या क्या नहीं करना है, किसे क्षणिक या स्थायी रूपसे ग्रहण करना है और किसे क्षणिक या स्थायी रूपसे त्याग देना है। यदि हम उसके स्थानपर अपनी कामना या अपनी 'मैं'को नहीं ला बिठाते,—और इस बारेमें आत्माको सदा जाग्रत्, सदा सावधान, दिव्य मार्गदर्शनके प्रति सचेतन तथा हमारे अंदर या बाहरसे होनेवाले अदिव्य कुपथप्रवर्तनके प्रति प्रतिरोधपूर्ण रहना होगा,—तो वह शक्ति सुपर्याप्त है तथा अकेली ही सर्वसमर्थ है और वही हमें ऐसे मार्गों एवं ऐसे साधनोंसे कृतार्थताकी ओर ले जायगी जो मनके लिये इतने विशाल, इतने अंतरीय और इतने जटिल हैं कि यह उनका अनुसरण ही नहीं कर सकता, उनके संबंधमें आदेश-निर्देश देना तो दूर रहा। यह एक दुर्गम, विकट एवं विपत्संकुल पथ है, पर इसके सिवाय और कोई पथ है भी नहीं।

दो नियम ऐसे हैं जो कठिनाईको कम कर देंगे और विपदाका निवारण करेंगे। हमें उस सबका परित्याग करना होगा जिसका स्रोत अहंकारमें, प्राणिक कामना, कोरे मन और उसकी अत्यभिमानपूर्ण तर्कणा और अक्षमतामें है, तथा उस सबका भी जो अविद्याके इन प्रतिनिधियोंकी सहायता करता है। हमें अंतरतम आत्माकी वाणी, गुरुके निर्देश, परम प्रभुके आदेश और भगवती माताकी क्रियाप्रणालीका श्रवण और अनुसरण करना सीखना होगा। जो कोई शरीरकी कामनाओं तथा दुर्बलताओंसे, क्षुब्ध-अज्ञानयुक्त प्राणकी तृष्णाओं और वासनाओंसे, तथा महत्तर ज्ञानकी शांति और ज्योतिको न पाये हुए वैयक्तिक मनके आदेशोंसे चिपटा रहता है वह सच्चे आंतरिक नियमको नहीं ढूंढ़ सकता और दिव्य चरितार्थताके मार्गमें रोड़े अटका रहा है। जो कोई तमसाच्छन्न करनेवाली उन शक्तियोंको जान लेने तथा त्यागने और भीतर तथा बाहर विद्यमान सच्चे मार्गदर्शकको पहचानने तथा उसके पीछे चलनेमें समर्थ है वह आध्यात्मिक नियमको खोज लेगा और योगके लक्ष्यपर पहुँच जायगा।

चेतनाका आमूल तथा पूर्ण रूपांतर पूर्णयोगका संपूर्ण मर्म है। इतना ही नहीं, अपने उत्तरोत्तर प्रबल रूपमें तथा अपनी विकसनशील अवस्थाओंके द्वारा यह इस योगकी संपूर्ण पद्धति भी है।

सातवाँ अध्याय

आचारके मानदंड और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य

जिस ज्ञानपर कर्मयोगीको अपने समस्त कर्म और विकासकी नींव रखनी होती है उसके भवनकी मुख्य शिला है—एकताका अधिकाधिक प्रत्यक्ष वोध एवं सर्वव्यापी एकत्वका जीवंत-जाग्रत् अनुभव। कर्मयोगी जिस वर्धमान चेतनामें रहता-सहता है वह यह है कि संपूर्ण सत्ता एक अविभाज्य समष्टि है—समस्त कर्म भी इसी दिव्य अविभाज्य समष्टिका अंग है। अब उसका वैयक्तिक कर्म तथा इसके परिणाम पहलेकी तरह कोई ऐसी पृथक् गति नहीं हो सकते और न ही वे कोई ऐसी पृथक् गति प्रतीत हो सकते हैं जो समष्टिमें पृथग्भूत व्यष्टिकी अहंभावमयी "स्वतंत्र" इच्छासे मुख्यतया या पूर्णतया निर्धारित हो। हमारे कर्म एक अविभाज्य विश्व-कर्मका भाग हैं। वे जिस समष्टिमेंसे उठते हैं उसके अंदर यथास्थान रखे हुए होते हैं अथवा यों कहना अधिक ठीक होगा कि वे अपनेको स्वयं अपने स्थानमें रखते हैं और उनका परिणाम उन शक्तियोंके द्वारा निर्धारित होता है जो हमारी पहुँचसे परे हैं। वह विश्व-कर्म अपनी विराट् समग्रता तथा अपनी प्रत्येक छोटी-मोटी क्रियामें उस एकमेवकी अखंड गति है जो अपने-आपको विश्वमें उत्तरोत्तर अभिव्यक्त कर रहा है। मनुष्य भी अपने अंदर तथा बाहर रम रहे इस एकमेवके प्रति तथा प्रकृतिकी गतिमें इसकी शक्तियोंकी गूढ़, अद्‌भुत तथा मार्मिक प्रक्रियाके प्रति जितना जाग्रत् होता है उतना ही वह अपने तथा वस्तुओंके सच्चे स्वरूपसे अधिकाधिक सचेतन होता जाता है। यह कर्म एवं गति हममें तथा हमारे चारों ओर रहनेवालोंमें भी वैश्व व्यापारोंके उस छोटे-से खंडित अंशतक ही सीमित नहीं है जिससे हम अपनी स्थूल चेतनामें अभिज्ञ हैं; इसके आधारमें वह अपरिमेय मूलभूत पारिपार्श्विक सत्ता विद्यमान है जो हमारे मनके लिये प्रच्छन्न या अवचेतन है, साथ ही यह उस अनंत परात्पर सत्तासे भी आकृष्ट होती है जो हमारी प्रकृतिके लिये अतिचेतन है। हमारा कर्म भी हमसे अज्ञात विश्वमयतामेंसे उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार हम स्वयं उससे प्रादुर्भूत हुए हैं। हम तो इसे अपने वैयक्तिक स्वभाव और व्यक्तिगत विचारात्मक मन या संकल्पसे अथवा आवेग या कामनाकी शक्तिसे एक

आकारमात्र देते हैं। किंतु वस्तुओंका वास्तविक सत्य एवं कर्मका यथार्थ नियम इन वैयक्तिक तथा मानवीय रचनाओंको अतिक्रांत किये हुए हैं। जो कोई भी दृष्टिबिंदु एवं मनुष्यका बनाया हुआ कर्मका जो कोई भी नियम वैश्व गतिकी इस अविभाज्य समग्रताकी उपेक्षा करता है वह आध्यात्मिक सत्यके नेत्रके लिये एक अपूर्ण दृष्टिकोण तथा अज्ञानयुक्त सिद्धांत होता है, भले ही बाह्य व्यवहारमें वह कितना भी उपयोगी क्यों न हो।

जब हम इस विचारकी कुछ झाँकी प्राप्त कर चुकते हैं अथवा इसे अपनी चेतनामें इस रूपमें जमा देनेमें सफल हो जाते हैं कि यह मनका एक ज्ञान है तथा उससे फलित एक अंतरात्म-वृत्ति है, तब भी अपने बाह्य अंगोंमें तथा क्रियाशील प्रकृतिमें इस सार्वभौम दृष्टिबिंदुका अपनी वैयक्तिक सम्मति, वैयक्तिक इच्छा-शक्ति और वैयक्तिक उमंग एवं कामनाकी माँगोंके साथ मेल बैठाना हमारे लिये कठिन होता है। हमें अब भी इस अखंड गतिके साथ इस प्रकार व्यवहार करते रहना पड़ता है मानो यह एक निर्वैयक्तिक साधन-सामग्रीका पुंज हो जिसमेंसे हमें, अहंको अथवा व्यक्तिको, अपनी ही इच्छा-शक्ति तथा मनकी मौजके अनुसार निजी संघर्ष एवं प्रयत्नसे कुछ गढ़ना है। अपनी परिस्थितिके प्रति मनुष्यकी साधारण वृत्ति यही है, पर वास्तवमें है यह मिथ्या, क्योंकि हमारी 'मैं' और उसकी इच्छा-शक्ति वैश्व शक्तियोंकी रचनाएँ एवं कठपुतलियाँ हैं और जब हम अहंसे पीछे हटकर उस सनातन देवके दिव्य ज्ञान-संकल्पकी चेतनामें भीतर लौटते हैं जो इन शक्तियोंमें कार्य करता है, तभी हम ऊर्ध्वलोकसे एक तरह प्रतिनिधि-रूपमें नियुक्त होकर इनके स्वामी बन सकते हैं। परंतु दूसरी तरफ यह वैयक्तिक स्थिति मनुष्यके लिये तबतक यथार्थ वृत्ति बनी रहती है जबतक वह अपने व्यक्तित्वसे प्रेम करता है, किंतु उसे पूर्ण रूपसे विकसित नहीं कर पाता है; क्योंकि इस दृष्टिबिंदु तथा प्रेरक बलके बिना वह अपने अहंमें वर्धित नहीं हो सकता, न ही अवचेतन या अर्ध-चेतन विश्वमय समष्टि-सत्तामेंसे अपने-आपको पर्याप्त रूपसे विकसित कर सकता है और विशिष्ट बना सकता है।

परंतु पीछे जब हमें विकासकी पृथक्कारक, व्यक्तिप्रधान एवं उग्र अवस्थाकी आवश्यकता नहीं रहती, जब हम इस क्षुद्र अवस्थासे, जिसकी शिशु-आत्माको आवश्यकता पड़ती है, एकता, सार्वभौमता तथा विश्वचेतनाकी ओर और इससे भी परे अपनी परात्पर आत्म-प्रकृतिकी ओर बढ़ना चाहते हैं तब अपने संपूर्ण जीवन-अभ्यासपरसे इस अहं-चेतनाके प्रभुत्वको दूर करना कठिन हो जाता है। अपनी विचारशैली ही नहीं, अपितु अनुभव,

संवेदन और कर्म करनेके अपने तरीकेमें भी हमारे लिये यह स्पष्टतया समझ लेना अनिवार्य है कि यह गति या यह वैश्व कर्म-सत्ताकी कोई ऐसी असहाय निर्वैयक्तिक तरंग नहीं है जो किसी अहंके बल एवं आग्रहके अनुसार उस अहंकी इच्छाशक्तिका साथ देती हो। बल्कि, यह उस वैश्व पुरुषकी गति है जो अपने क्षेत्रका ज्ञाता है, उस ईश्वरके कदम हैं जो अपनी विकासशील कर्म-शक्तिका स्वामी है। जैसे गति एक तथा अखण्ड है, वैसे ही जो गतिके अंदर विद्यमान है वह भी एक, अद्वितीय तथा अखण्ड है। यही नहीं कि समस्त परिणाम उसीके द्वारा निर्धारित होता है, अपितु समस्त प्रारंभ, क्रिया तथा प्रक्रिया उसकी वैश्व शक्तिकी गतिपर निर्भर हैं और केवल गौणतया तथा अपने बाह्य रूपमें ही ये प्राणीसे संबंध रखते हैं।

तो फिर व्यक्तिरूपी कर्मीकी आध्यात्मिक स्थिति क्या होगी? सक्रिय विश्वप्रकृतिमें इस एक विश्वमय पुरुष तथा इस एक समग्र गतिसे उसका वास्तविक संबंध क्या है? वह केवल एक केंद्र है—एक ही वैयक्तिक चेतनाके विभेदनका केंद्र, एक ही अखण्ड गतिके निर्धारणका केंद्र। उसका व्यक्ति-भाव एक दृढ़ व्यक्तित्वकी तरंगके रूपमें एकमेव विराट् पुरुष तथा परात्पर एवं सनातन पुरुषको प्रतिबिंबित करता है। अज्ञानमें यह सदा एक भग्न एवं विरूप प्रतिबिंब ही होता है, क्योंकि हमारी चेतन जाग्रत् आत्मा, जो उस तरंगका शिखर है, दिव्य आत्माके अपूर्ण तथा मिथ्याभूत सादृश्यको ही प्रतिक्षिप्त करती है। हमारी सब सम्मतियाँ, कसौटियाँ, रचनाएँ एवं नियम-व्यवस्थाएँ केवल ऐसी चेष्टाएँ होती हैं जो वैश्व तथा विकसनशील समग्र क्रियाको और भगवान्‌की एक चरम अभिव्यक्तिमें सहायक इसकी बहुमुखी गतिको इस टूटे-फूटे, प्रतिबिंबित तथा विकृत करनेवाले दर्पणमें यत्किंचित् प्रदर्शित करती ह। हमारा मन भी इस वैश्व क्रियाको यथासंभव उत्तम रूपमें एक ऐसे सीमित सादृश्यके साथ प्रदर्शित करता है जो वैसे-वैसे अधिक सक्षम होता जाता है जैसे-जैसे मनका विचार अपनी विशालता, ज्योति और शक्तिमें बढ़ता है; किंतु यह सदा एक सादृश्य ही होता है, यहाँतक कि यह एक सच्चा आंशिक प्रतिरूप भी नहीं होता। भागवत संकल्प केवल विश्वकी एकतामें और जीवधारी तथा विचारशील प्राणियोंकी समष्टिमें ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यष्टिकी आत्मामें अपने दिव्य रहस्यके किंचित् अंशको तथा अनंतके निगूढ़ सत्यको उत्तरोत्तर आविर्भूत करनेके लिये युग-युगतक कार्य करता रहता है। अतएव, विश्वमें, समष्टि तथा व्यष्टिमें एक बद्धमूल सहज-ज्ञान किंवा विश्वास है कि वह पूर्णता लाभ कर सकता है, उसके अंदर एक निरंतर वृद्धिशील तथा अधिक पर्याप्त एवं अधिक समस्वर आत्म-

विकासके लिये अविराम प्रवृत्ति है,—एक ऐसे विकासके लिये जो वस्तुओंके गुप्त सत्यके अधिक निकट हो। यह प्रवृत्ति वा प्रयत्न मनुष्यके रचनाकारी मनके समक्ष ज्ञान, वेदन, चरित्र, सौंदर्यवोध और कर्मके मानदंडोंके रूपमें प्रकट होता है,—ऐसे नियमों, आदर्शों, सूत्रों एवं सिद्धांतोंके रूपमें प्रकट होता है जिन्हें मनुष्य सार्वभौम नियमोंका रूप दे देनेका यत्न करता है।

*

यदि हमें आत्मामें स्वतंत्र होना है, यदि हमें केवल परम सत्यके ही अधीन रहना है, तो हमें इस विचारको तिलांजलि दे देनी होगी कि अनंत सत्ता हमारे मानसिक या नैतिक नियमोंसे वँधी हुई है या कि हमारे ऊँचे-से-ऊँचे वर्तमान मानदंडोंमें भी कोई अनुल्लंघनीय, पूर्ण या नित्य वस्तु विद्यमान हो सकती है। अधिकाधिक ऊँचे अस्थायी मानदंडोंका तवतक निर्माण करना, जवतक कि उनकी आवश्यकता हो, भगवान्‌की विश्व-विकास-यात्रामें उनकी सेवा करना है; किंतु एक पूर्णनिरपेक्ष मानदंडकी कठोर स्थापना करना सनातन स्रोतके प्रवाह-पथमें वाधा खड़ी करनेका यत्न करना है। प्रकृति-वद्ध आत्मा जव एक वार यह सत्य अनुभव कर लेती है तव वह शुभाशुभके द्वंद्वसे मुक्त हो जाती है। कारण, जो कुछ भी व्यक्ति और विश्वको उनकी दिव्य परिपूर्णताके लिये सहायता देता है वह सव शुभ है, और जो कुछ उस वर्धमान पूर्णताको रोकता या भंग करता है वह सव अशुभ है। परंतु, क्योंकि पूर्णता कालमें प्रगतिशील या विकासशील है, शुभ और अशुभ भी परिवर्तनशील वस्तुएँ हैं तथा अपने अर्थ एवं मूल्य-को समय-समयपर वदलते रहते हैं। कोई एक वस्तु, जो आज अशुभ है तथा जो अपने वर्तमान रूपमें अवश्यमेव त्याज्य है, एक समय सामूहिक तथा वैयक्तिक उन्नतिके लिये सहायक एवं आवश्यक थी। कोई दूसरी वस्तु जिसे आज हम अशुभ मानते हैं एक अन्य आकार तथा विन्यासमें सहज ही किसी भावी पूर्णताका अंग वन सकती है। और, फिर आध्यात्मिक धरातलपर हम इस विभेदसे भी परे चले जाते हैं, क्योंकि तव हम इन सव चीजोंका जिन्हें हम शुभ और अशुभ कहते हैं प्रयोजन एवं दिव्य उपयोग जान लेते हैं। इनमें जो कुछ भी मिथ्या है उसका तव हमें त्याग करना होता है; जिसे हम अशुभ कहते हैं उसमें और जिसे हम शुभ कहते हैं उसमें जो कुछ भी विकृत, अज्ञ तथा तमोग्रस्त है उस सवका हमें समान रूपसे त्याग करना होता है। तव हमें केवल सत्य और दिव्यको ही

अंगीकार करना होता है, किंतु शाश्वत प्रक्रियाओंमें हमें कोई और भेद करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

जो लोग केवल कठोर मानदंडके अनुसार ही कार्य कर सकते हैं और केवल मानवीय मूल्योंको ही अनुभव कर सकते हैं, दिव्य मूल्योंको नहीं, उन्हें यह सत्य संभवतः एक ऐसी भयानक रियायत प्रतीत होगा जो नैतिकताके आधारतकको नष्ट कर सकती है और आचारमात्रमें अव्यवस्था पैदा करके केवल संकरको ही स्थापित कर सकती है। निःसंदेह, यदि चुनाव नित्य एवं अपरिवर्तनशील नैतिकता और नैतिकताके नितांत अभावके बीच हो, तो अविद्याग्रस्त मनुष्यके लिये इसका ऐसा ही परिणाम होगा। परंतु मानवीय स्तरपर भी, यदि हममें यह पहचाननेके लिये पर्याप्त ज्योति एवं पर्याप्त नमनशीलता हो कि आचारका कोई मानदंड अस्थायी होता हुआ भी अपने समयतकके लिये आवश्यक हो सकता है और यदि हम उसका तबतक सच्चाईसे पालन कर सकें जबतक उसके स्थानपर एक श्रेष्ठतर मानदंड प्रतिष्ठित न कर लें, तो हमें कोई ऐसी हानि नहीं होगी, बल्कि हम केवल एक अपूर्ण तथा असहिष्णु सद्‌गुणकी कट्टरताको ही खोयेंगे। परंतु इसके स्थानपर हमें प्राप्त होगी उन्मुक्तता, अनवरत नैतिक प्रगतिकी क्षमता, उदारता, संघर्षरत और स्खलनशील प्राणियोंके प्रति, इस सब संसारके प्रति ज्ञानयुक्त सहानुभूति रखनेकी योग्यता; साथ ही इस उदारताके द्वारा हमें इसे इसके मार्गपर अग्रसर होनेमें सहायता देनेका अधिक योग्य अधिकार और अधिक महान् बल भी प्राप्त होंगे। अंतमें, जहाँ मनुष्यता समाप्त होगी तथा दिव्यता आरंभ होगी, जहाँ मानसिक चेतना अतिमानसिकमें अंतर्धान हो जायगी और सांत अपनेको अनंतमें निमज्जित कर देगा वहाँ अशुभमात्र एक परात्पर दिव्य शुभमें विलीन हो जायगा और यह शुभ फिर चेतनाके जिस-जिस स्तरको स्पर्श करेगा उस-उसपर एक सार्वभौम रूप धारण कर लेगा।

इसलिये, यह एक निश्चित बात है कि जिन किन्हीं भी मानदंडोंसे हम अपने आचारका नियमन करना चाहें वे सभी केवल हमारे अस्थायी, अपूर्ण एवं विकासशील प्रयत्न ही होते हैं। इन प्रयत्नोंका प्रयोजन यह होता है कि जिस वैश्व उपलब्धिकी ओर प्रकृति बढ़ रही है उसमें अपनी लड़खड़ाती मानसिक प्रगतिको हम अपने प्रति प्रदर्शित कर सकें। परंतु दिव्य अभिव्यक्ति हमारे क्षुद्र नियमों तथा भंगुर पुण्य भावनाओंसे आबद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि इसके मूलमें जो चेतना है वह इन वस्तुओंकी तुलनामें अतीव बृहत् है। यदि एक बार हम इस तथ्यको, जो हमारी

तर्कशक्तिके स्वेच्छाचारी राज्यके लिये काफी क्षोभजनक है, हृदयंगम कर लें तो हम मनुष्यजातिकी वैयक्तिक तथा सामूहिक यात्राकी प्रगतिकी विभिन्न अवस्थाओंको नियंत्रित करनेवाले क्रमिक मानदंडोंको पारस्परिक संबंधकी दृष्टिसे उनके समुचित स्थानपर रखनेमें अधिक अच्छी तरह समर्थ होंगे। इनमेंसे अत्यंत व्यापक मानदंडोंपर यहाँ हम एक विहंगम दृष्टि डाल लें। हमें देखना है कि उस अन्य माप-रहित आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक कार्यशैलीसे इनका कैसा संबंध है। योग इस शैलीको आयत्त करना चाहता है और इस ओर उसकी प्रगति तब होती है जब व्यक्ति भगवत्संकल्पके प्रति समर्पण करता है, और इस ओर अधिक सफलतापूर्वक वह तब अग्रसर होता है जब व्यक्ति इस समर्पणके द्वारा एक ऐसी महत्तर चेतनाकी ओर आरोहण करता है जिसमें सक्रिय सनातन ब्रह्मके साथ एक प्रकारका तादात्म्य संभव हो जाता है।

*

मानवीय आचारके मुख्य मानदंड चार हैं जो एक सीढ़ीके उत्तरोत्तर ऊँचे सोपान हैं। प्रथम है वैयक्तिक आवश्यकता, अभिरुचि एवं कामना; द्वितीय है समष्टिका नियम एवं हित; तृतीय है आदर्श नैतिक नियम और अंतिम है प्रकृतिका सर्वोच्च दिव्य नियम।

मनुष्य इन चारमेंसे पहले दोको ही अपने प्रकाशप्रद और मार्गदर्शक साधनोंके रूपमें संग लेकर अपने जीवन-विकासकी सुदीर्घ यात्रा आरंभ करता है, क्योंकि ये दोनों उसकी पाशविक एवं प्राणिक सत्ताके नियम हैं, और प्राणप्रधान तथा देहप्रधान पशुवृत्ति मनुष्यके तौरपर ही वह अपना विकास प्रारंभ करता है। इस भूतलपर मनुष्यका असली कार्य है—मानवताके साँचेमें भगवान्‌को अधिकाधिक मूर्तिमंत करना; सचेत रूपमें हो या अचेत रूपमें, इसी लक्ष्यके लिये विश्वप्रकृति अपनी बाह्य तथा आंतर प्रक्रियाओंके घने पर्देकी आड़में उसके अंदर कार्य कर रही है। परंतु भौतिक या पाशविक मनुष्य जीवनके आंतरिक लक्ष्यसे अनभिज्ञ है; वह केवल इसकी आवश्यकताओं तथा कामनाओंको ही जानता है और, स्वभावतः ही, अपनी आवश्यकताकी प्रतीति तथा कामनाके उत्तेजनों और निर्देशोंको छोड़कर और कोई ऐसा मार्गदर्शक उसके पास नहीं है जो उसे बता सके कि उससे किस चीजकी अपेक्षा की जाती है। निःसंदेह, और सब चीजोंसे पहले अपनी शारीरिक तथा प्राणिक माँगें और आवश्यकताएँ पूरी करना, तथा, दूसरे स्थानपर, अपने अंदर जो भी हृद्‌गत या मनोगत तृष्णाएँ या

कल्पनाएँ या गतिशील विचार उठते हैं उन्हें पूरा करना उसके आचारका पहला प्राकृतिक नियम होता है। केवल एक ही ऐसा समबल या प्रवल नियम है जो इस अनिवार्य प्राकृतिक माँगका परिवर्तन या प्रतिषेध कर सकता है। यह वह माँग है जो उसके परिवारके अथवा समाज या वंश एवं गण या समुदायके, जिसका वह सदस्य है, विचारों, आवश्यकताओं और कामनाओंके द्वारा उसपर लादी जाती है।

यदि मनुष्य केवल अपने लिये ही जी सकता,—ऐसा तो वह तभी कर सकता था यदि व्यक्तिका विकास जगत्‌में भगवान्‌का एकमात्र लक्ष्य होता,—तो इस दूसरे नियमके कार्यान्वित होनेकी आवश्यकता ही न पड़ती। परंतु सत्तामात्र अवयवी तथा अवयवोंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाके द्वारा और निर्मित द्रव्य एवं उसके निर्मायक अंगोंकी एक-दूसरेके लिये आवश्यकता तथा समुदाय एवं उसके व्यक्तियोंकी अन्योन्य-निर्भरताके द्वारा ही प्रगति करती है। भारतीय दर्शनके शब्दोंमें, भगवान् अपने-आपको सदा ही व्यष्टि तथा समष्टिके द्विविध रूपमें प्रकट करता है। मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व तथा इसकी पूर्णता एवं स्वतंत्रताकी वृद्धिके लिये बल लगाता हुआ भी अपनी वैयक्तिक आवश्यकताएँ एवं कामनाएँ पूरी करनेमें तबतक असमर्थ रहता है जबतक वह अन्य मनुष्योंके साथ मिल करके बल नहीं लगाता। वह अपने-आपमें पूर्ण है और फिर भी दूसरोंके बिना अधूरा है। यह बाध्यता उसके वैयक्तिक आचार-नियमको सामुदायिक नियमके घेरेमें ले आती है। सामुदायिक नियमकी उत्पत्ति एक स्थायी समुदाय-सत्ताके निर्माणसे होती है जिसका अपना सामूहिक मन तथा प्राण होता है। व्यक्तिके अपने देहबद्ध मन और प्राण एक नश्वर इकाईके रूपमें उस सामूहिक मन और प्राणके अधीन होते हैं। तथापि उसके अंदर एक ऐसी सत्ता भी है जो अमर तथा स्वतंत्र है और जो समष्टि-शरीरसे बँधी हुई नहीं है,—ऐसे समष्टि-शरीरसे जो उसके देहबद्ध जीवनकी समाप्तिके बाद भी बना रहता है, परंतु जो उसकी नित्य आत्मासे अधिक स्थायी नहीं हो सकता, न ही इसे अपने नियमसे बाँधनेका दावा कर सकता है।

यह देखनेमें अधिक व्यापक तथा प्रभुत्वपूर्ण नियम, अपने-आपमें, उस प्राणिक तथा शारीरिक सिद्धांतके विस्तारसे अधिक कुछ नहीं है जो व्यष्टि-रूप प्राथमिक मनुष्यको संचालित करता है; यह गण या समुदायका नियम है। व्यक्ति अपने जीवनको कुछ अन्य व्यक्तियोंके जीवनके साथ जिनसे वह जन्म, अभिरुचि या परिस्थितिके कारण संबद्ध होता है, कुछ हदतक एकीभूत कर लेता है। समुदायकी सत्ता उसकी अपनी सत्ता एवं तृप्तिके

अत्यंत कठिन होगा और इसके अनिश्चित अस्तित्वको बनाये रखना तो और भी अधिक दुष्कर। अधिक सुगम उपाय यह है कि समाज व्यक्तिपर पूर्ण रूपसे नहीं, बल्कि सामान्य रूपसे शासन करे। प्रकृति प्रारंभसे ही सहज-स्वभाववश इसी प्रणालीका अनुसरण करती है और कठोर नियम एवं अलंघ्य लोकाचारके द्वारा तथा मानव प्राणीकी अबतक वशवर्त्ती एवं अल्पविकसित बुद्धिको सावधानतापूर्वक अनुशासित करके इस प्रणालीको संतुलित रखती है।

आदिम समाजोंमें वैयक्तिक जीवन एक कठोर और अपरिवर्तनशील सांघिक रीति-रिवाज एवं नियमके अधीन पाया जाता है; यह मानवी समुदायका एक प्राचीन तथा नित्यताभिलाषी नियम है जो सदा ही अविनाशी देवके सनातन आदेश, **एष धर्मः सनातनः**, का वेष धारण करनेका यत्न करता है। यह आदर्श मानव मनसे मिटा नहीं है; मानव-विकासकी अत्यंत अभिनव दिशा यह है कि मानवकी आत्माको दास बनानेके लिये सामूहिक जीवनकी इस प्राचीन प्रवृत्तिका एक परिवर्द्धित एवं बहुमूल्य संस्करण प्रचलित किया जाय। किंतु इसमें भूतलपर महत्तर सत्य तथा महत्तर जीवनके सर्वांगीण विकासके लिये एक बहुत बड़ा खतरा है। व्यक्तिकी कामनाएँ एवं स्वतंत्र अन्वेषणाएँ चाहे कैसी भी अहंकारमय क्यों न हों, अपने वर्तमान रूपमें चाहे वे कैसी भी मिथ्या या विकृत क्यों न हों, फिर भी उनके प्रच्छन्न अणुओंमें विकासका एक ऐसा बीज निहित है जो समष्टिके लिये अपरिहार्य है। व्यक्तिके अनुसंधानों और स्खलनोंके मूलमें एक ऐसी शक्ति निहित है जिसे सुरक्षित रखना तथा दिव्य आदर्शकी प्रतिमूर्त्तिमें रूपांतरित करना अनिवार्य है। उस शक्तिको आलोकित तथा प्रशिक्षित करना तो आवश्यक है, किंतु उसे दबा डालना अथवा केवल समाजकी गाड़ीके भारी-भरकम पहियेको खींचनेमें ही लगा देना कदापि उचित नहीं।

चरम पूर्णताके लिये व्यक्तिवादकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी समष्टि-भावनाके मूलमें निहित शक्तिकी। व्यक्तिका गला घोंटना सहज ही मनुष्यवर्ती ईश्वरका गला घोंटनेके समान ही हो सकता है। अपिच, मानवताके वर्तमान संतुलनमें इस प्रकारका कोई वास्तविक भय कदाचित् ही हो सकता है कि अतिरञ्जित व्यक्तिवाद सामाजिक अखंड सत्ताको विभक्त कर डालेगा। पर इस बातकी निरंतर आशंका है कि कहीं समाज-रूपी समुदायका अतिमात्र दबाव अपने भारी अप्रकाशयुक्त यंत्रसम बोझसे व्यक्तिगत आत्माके स्वतंत्र विकासको दबा ही न डाले अथवा अनुचित

रूपसे निरुत्साहित ही न कर दे। कारण, व्यष्टिगत मनुष्यको अपेक्षाकृत अधिक सुगमतासे प्रकाशयुक्त एवं सचेतन बनाया जा सकता है और साथ ही उसे स्पष्ट प्रभावोंके प्रति उन्मीलित भी किया जा सकता है; समष्टिगत मनुष्य अबतक भी अंधकारयुक्त एवं अर्ध-चेतन है तथा उन वैश्व शक्तियोंके द्वारा शासित है जो समष्टिके वश तथा ज्ञानसे बाहर हैं।

दमन और पंगूकरणके इस भयके विरुद्ध व्यक्तिकी प्रकृति प्रतिक्रिया करती है। यह एक एकाकी प्रतिरोधके द्वारा भी प्रतिक्रिया कर सकती है और वह प्रतिरोध अपराधीके अंधप्रेरित तथा पाशविक विद्रोहसे लेकर एकांतवासी तथा तपस्वीके पूर्ण परित्यागतकका रूप धारण कर सकता है। यह सामाजिक भावनामें व्यक्तिवादी प्रवृत्तिके समर्थनके द्वारा भी प्रतिक्रिया कर सकती है, यह इस प्रवृत्तिको समष्टि-चेतनापर बलपूर्वक थोपकर वैयक्तिक तथा सामाजिक माँगमें समझौता भी करा सकती है। परंतु समझौता कोई समाधान नहीं होता; यह तो केवल कठिनाईको ताकपर धर देता है और अंतमें समस्याको और भी जटिल बनाकर उसके विचारणीय पहलुओंको कई गुना बढ़ा देता है। आवश्यकता है एक नये तत्त्वका आह्वान करनेकी जो इन दो विरोधी प्रवृत्तियोंसे भिन्न एवं उच्चतर हो तथा इन्हें पार कर जाने और साथ ही इनका समन्वय करनेका सामर्थ्य रखता हो। प्राकृतिक वैयक्तिक नियम यह स्थापना करता है कि हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं, अभिरुचियों तथा कामनाओंकी पूर्त्ति ही आचारका एकमात्र मानदंड है और प्राकृतिक सांघिक नियम यह स्थापना करता है कि समूचे समाजकी आवश्यकताओं, अभिरुचियों एवं कामनाओंकी पूर्त्ति एक अधिक उत्कृष्ट मानदंड है। इन दोनों नियमोंके ऊपर एक ऐसे आदर्श नैतिक नियमके विचारको जन्म लेना ही था जो आवश्यकता एवं कामनाकी पूर्त्ति-रूप न हो, वल्कि इन्हें एक आदर्श व्यवस्थाके हित नियंत्रित करे, यहाँतक कि इन्हें वलपूर्वक दवाये या विनष्ट करे,—एक ऐसी व्यवस्थाके हित जो पाशविक, प्राणिक एवं शारीरिक नहीं, वरन् मानसिक हो और जो प्रकाश एवं ज्ञान तथा यथार्थ प्रभुत्व एवं यथार्थ गति और सत्य व्यवस्थाके लिये मनकी खोजकी उपज हो। जिस क्षण यह विचार मनुष्यमें प्रवल हो जाता है उसी क्षणसे वह व्यस्तकारी प्राणिक तथा शारीरिक जीवनको त्यागकर मानसिक जीवनमें प्रवेश करने लगता है; वह विश्व-प्रकृतिके त्रिविध आरोहणके प्रथम सोपानसे द्वितीयपर आरोहण करता है। उसकी आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ भी अपने प्रयोजनके उच्चतर प्रकाशसे किंचित् प्रभावित हो जाती हैं; मानसिक आवश्यकता तथा सौंदर्य-

भावनात्मक, बौद्धिक एवं भावगत कामना भौतिक तथा प्राणिक प्रकृतिकी माँगपर प्रभुत्व करने लगती हैं।

*

आचारका प्राकृतिक नियम शक्तियों, अंतःप्रवृत्तियों तथा कामनाओंके संघर्षसे इनके संतुलनकी ओर गति करता है; उच्चतर नैतिक नियम मानसिक तथा नैतिक प्रकृतिके विकासके द्वारा एक स्थिर अंतरीय मानदंडकी ओर अथवा निरपेक्ष गुणों अर्थात् न्याय, सत्य, प्रेम, यथार्थ तर्क, यथार्थ सामर्थ्य, सौंदर्य एवं प्रकाशके एक स्वयं-रचित आदर्शकी ओर बढ़ता है। अतएव, मूलतः, यह एक वैयक्तिक मानदंड है; यह समष्टि-मनकी रचना नहीं है। विचारक व्यक्ति होता है; जो वस्तु अन्यथा रूपरहित मानवीय समष्टिमें अवचेतन पड़ी रहती है उसे निकाल लाने तथा आकार देनेवाला भी वही होता है। नैतिक प्रयासी भी व्यक्ति होता है; वाह्य नियमके जूए तले आकर नहीं, प्रत्युत आभ्यंतर प्रकाशके आदेशानुसार आत्म-साधना करना भी मूलतः एक वैयक्तिक प्रयत्न होता है। परंतु अपने वैयक्तिक मानदंडको एक चरम नैतिक आदर्शके प्रतिरूपके तौरपर स्थापित करके विचारक इसे केवल अपनेपर नहीं, अपितु उन सब व्यक्तियोंपर, जिनतक उसका विचार पहुँच तथा पैठ सकता है, लाद देता है। जैसे-जैसे बहु-संख्यक लोग इसे विचारमें अधिकाधिक स्वीकार करने लगते हैं,—चाहे व्यवहारमें वे इसे बिलकुल न मानें या केवल अधूरे तौरपर ही मानें,—वैसे-वैसे समाज भी नयी स्थितिका अनुसरण करनेको बाधित होता है। यह विचारात्मक प्रभावको आत्मसात् करता है तथा अपनी संस्थाओंको इन उच्चतर आदर्शोंसे ईषत् प्रभावित नये रूपोंमें ढाल देनेका यत्न करता है, पर इसमें उसे कोई विशेष आश्चर्यजनक सफलता नहीं मिलती। सदा ही उसकी प्रवृत्ति इन्हें एक अनुल्लंघनीय नियम, आदर्श रीति-नीति, यांत्रिक विधि-विधान तथा अपनी सजीव इकाइयोंपर एक वाह्य सामाजिक वलात्कारके रूपमें परिणत कर देनेकी ओर होती है।

कारण, जब व्यक्ति अंशतः स्वतंत्र हो चुकता है, एक ऐसा नैतिक अवयवी बन चुकता है जो सचेतन विकासके योग्य, अंतर्मुख जीवनसे अज्ञान तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उत्सुक होता है, उसके बाद भी चिरकालतक समाज अपनी परिपाटियोंमें वाह्य बना रहता है, एक ऐसा भौतिक तथा आर्थिक संगठन बना रहता है जो यांत्रिक होता है; वह उन्नति तथा आत्म-पूर्णताकी अपेक्षा स्थिति तथा स्व-रक्षाकी ओर ही अधिक दत्तचित्त रहता

है। वर्तमान कालमें, स्वभावप्रेरित तथा स्थितिशील समाजपर विचारशाली तथा प्रगतिशील व्यक्तिने यह एक बड़ी भारी विजय प्राप्त की है कि उसने अपने विचार-संकल्पसे समाजको इस बातके लिये बाधित करनेकी शक्ति अधिगत कर ली है कि वह भी चिंतन करे, सामाजिक न्याय एवं सत्याचरण तथा सांघिक सहानुभूति एवं पारस्परिक करुणाके विचारके प्रति अपने-आपको खोले, अपनी संस्थाओंकी कसौटीके रूपमें अंध प्रथाकी अपेक्षा कहीं अधिक तर्क-बुद्धिके नियमकी खोज करे और यह समझे कि उसके नियमोंकी न्याय्यताके लिये उसके सदस्योंकी मानसिक तथा नैतिक सहमति कम-से-कम एक मुख्य तत्त्व अवश्य है। और, नहीं तो, एक आदर्शके रूपमें समष्टि-मनके लिये अब यह मानना संभव हो चला है कि उसका अनुमतिदाता प्रकाश होना चाहिये, बल नहीं, यहाँतक कि उसके दण्ड-विधानका लक्ष्य भी नैतिक विकास होना चाहिये, प्रतिशोध या दमन नहीं। भविष्यमें विचारककी सबसे महान् विजय तब होगी जब वह व्यष्टि तथा समष्टि दोनोंको इस बातके लिये प्रेरित कर सकेगा कि वे अपना जीवन-संबंध तथा इसकी एकता एवं स्थिरता स्वतंत्र तथा समस्वर सहमति और आत्म-अनुकूलन-पर आधारित करें और आंतर आत्माको बाह्य रूप और रचनाकी यंत्रणासे दबा न डालें बल्कि बाह्य रूपको आंतर सत्यके अनुसार निर्मित तथा नियंत्रित करें।

परंतु यह जो सफलता उसने प्राप्त की है वह भी वास्तविक सफलता होनेसे कहीं अधिक एक बीजरूप वस्तु ही है। व्यक्तिमें निहित नैतिक नियम तथा उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओंके नियमके बीच, समाजके समक्ष प्रस्तुत नैतिक नियम तथा जाति, कुल, धार्मिक संघ, समाज एवं राष्ट्रकी भौतिक एवं प्राणिक आवश्यकताओं, कामनाओं, रीति-रिवाजों, पक्षपातों, स्वार्थों एवं आवेशोंके बीच सदैव असामंजस्य तथा वैषम्य रहता है। नैतिकतावादी वृथा ही अपने चरम सदाचारसंबंधी मानदंडको उत्तोलित करता है तथा सबसे यह अनुरोध करता है कि वे परिणामोंका विचार किये बिना ही इसके प्रति स्थिरनिष्ठ रहें। उसकी दृष्टिमें व्यक्तिकी आवश्यकताएँ एवं कामनाएँ—यदि ये नैतिक नियमके विरुद्ध हों तो—अयुक्त होती हैं और सामाजिक नियम भी—यदि यह उसकी औचित्य-भावनाके विपरीत हो और यदि उसका अंतःकरण भी इसे स्वीकार न करता हो तो—उसपर कोई अधिकार नहीं रख सकता। व्यक्तिके लिये उसका चरम समाधान यह है कि वह ऐसी कामनाओं और अधिकारोंका पालन-पोषण न करे जो प्रेम, सत्य और न्यायसे संगत न हों। समाज या राष्ट्रसे

वह माँग करता है कि यह सत्य, न्याय, मानवता और परम लोक-कल्याणकी तुलनामें अन्य सभी चीजोंको, यहाँतक कि अपनी सुरक्षा तथा अपने अत्यंत आवश्यक हितोंको भी, तुच्छ समझे।

कुछ-एक महान् क्षणोंको छोड़कर और किसी समय कोई भी व्यक्ति इन शिखरोंतक ऊँचा नहीं उठता, आजतक उत्पन्न किसी भी समाजने इस आदर्शको पूर्ण नहीं किया है। अथच नैतिकता तथा मानव-विकासकी वर्तमान दशामें संभवतः कोई भी इसे पूर्ण नहीं कर सकता अथवा किसीको भी ऐसा नहीं करना चाहिये। प्रकृति ऐसा नहीं करने देगी, प्रकृति जानती है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। पहला कारण यह है कि हमारे नैतिक आदर्श स्वयं अधिकांशतः अपूर्ण-विकसित, अज्ञानयुक्त तथा मनमाने हैं, ये आत्माके सनातन सत्योंकी प्रतिलिपियाँ होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक मानसिक रचनाएँ हैं। शास्त्रमूलक तथा दुराग्रहपूर्ण होनेसे ये कतिपय ऐकांतिक मानदंडोंको सिद्धांत-रूपमें प्रबलतया प्रतिपादित करते हैं, पर क्रियात्मक रूपमें आचारशास्त्रकी प्रत्येक विद्यमान पद्धति अव्यवहार्य सिद्ध होती है या वास्तवमें उस ऐकांतिक मानदंडसे निरंतर न्यून रहती है जिसका कि आदर्श दावा करता है। यदि हमारी आचारसंबंधी पद्धति कोई समझौता या कामचलाऊ चीज हो, तो यह अपनेको निःसत्त्व बनानेवाले उन और अगले समझौतोंको भी तुरंत औचित्यका आधार दे देगी जिन्हें करनेके लिये समाज और व्यक्ति जल्दी मचाया करते हैं। और, यदि यह समझौता-न-करनेवाली दृढ़ताके साथ पूर्ण प्रेम, न्याय एवं सत्यका आग्रह करे, तो यह मानवीय संभाव्यताके शिखरसे बहुत ऊँची चली जायगी और बगला भगतिके साथ मानी तो जायगी, पर व्यवहारमें उपेक्षित ही रहेगी। यहाँतक भी देखनेमें आता है कि नैतिक पद्धति मानवतामें विद्यमान उन अन्य तत्त्वोंकी अवगणना करती है जो जीवित बचे रहनेके लिये इसके समान ही आग्रह करते हैं, पर नैतिक सूत्रकी चारदीवारीके भीतर बंद होनेसे इन्कार करते हैं। जिस प्रकार कामनाके वैयक्तिक नियममें अनंत अखंड वस्तुके कुछ ऐसे अमूल्य तत्त्व अंतर्निहित हैं जिन्हें प्रबल सामाजिक विचारके अत्याचारसे बचाना होता है, ठीक इसी प्रकार व्यष्टिगत मानव तथा समष्टिगत मानव दोनोंके स्वभावज आवेगोंमें भी कुछ ऐसे बहुमूल्य तत्त्व अंतर्निहित हैं जो अबतक आविष्कृत किसी भी सदाचारसंबंधी सूत्रकी सीमाओंसे बाहर हैं और फिर भी चरम दिव्य पूर्णताकी समृद्धि एवं समस्वरताके लिये आवश्यक हैं।

अपिच पूर्ण प्रेम, पूर्ण न्याय, पूर्ण सत्-तर्क व्याकुल तथा अपूर्ण मानवताके द्वारा वर्तमान कालमें प्रयोगमें लाये जाते हुए सहज ही संघर्षकारी तत्त्व

बन जाते हैं। न्याय प्रायः उस चीजकी माँग करता है जिससे प्रेम दूर भागता है। सत्-तर्क एक संतुष्टिकारक सूत्र या नियमकी खोजमें प्रकृतिके तथा मानवीय संबंधोंके तथ्योंपर निष्पक्ष भावसे विचार करता हुआ पूर्ण न्याय या पूर्ण प्रेमके कैसे भी शासनको हेर-फेरके बिना स्वीकार नहीं कर पाता है। सच तो यह है कि मनुष्यका पूर्ण न्याय व्यवहारमें अनायास ही महान् अन्याय सिद्ध होता है; क्योंकि उसका मन, अपनी रचनाओंमें एकपक्षीय तथा कठोर होनेके कारण, एकपक्षीय, आंशिक एवं उग्र योजना या रचना प्रस्तुत करता है और उसकी सर्वांगता तथा पूर्णताका दावा भरता है, साथ ही वह उसके एक ऐसे प्रयोगका भी दावा भरता है जो वस्तुओंके सूक्ष्मतर सत्य एवं जीवनकी नमनीयताकी उपेक्षा करता है। हमारे सभी मानदंड कार्यमें परिणत किये जानेपर या तो समझौतोंकी दोलामें दोलायमान रहते हैं अथवा इस आंशिकता एवं अनमनीय रचनाके कारण अपने लक्ष्यसे चूक जाते हैं। मानवता एकसे दूसरी स्थितिमें डोलती रहती है; जाति परस्पर-विरोधी दावोंसे प्रेरित होकर टेढ़े-मेढ़े मार्गपर चलती रहती है और, सर्वतोदृष्ट्या, प्रकृतिके अभिमतको ही स्वाभाविक रूपमें क्रियान्वित करती है, पर करती है बहुत अपव्यय तथा कष्टसहनके साथ। वह उस कार्यको संपन्न नहीं कर पाती जिसे वह चाहती या ठीक मानती है अथवा ऊपरसे आनेवाली सर्वोच्च ज्योति शरीरधारी आत्मामें जिसकी माँग करती है।

*

तथ्य यह है कि जब हम पूर्ण नैतिक गुणोंके सिद्धांतपर पहुँच जाते हैं तथा एक आदर्श नियमका निरपवाद एवं अलंघ्य शासन स्थापित कर लेते हैं तब भी हम अपने अनुसंधानकी समाप्तिपर नहीं पहुँच गये होते, न हमें कोई मोक्षकारक सत्य ही प्राप्त हो गया होता है। निःसंदेह, नैतिक नियममें एक ऐसी चीज निहित है जो हमें अपने अंदरके अन्नमय तथा प्राणमय पुरुषके द्वारा सीमाबद्ध होनेकी स्थितिसे ऊँचा उठनेमें सहायता देती है, एक ऐसा आग्रह निहित है जो मानवताकी वैयक्तिक तथा सामूहिक आवश्यकताओं एवं कामनाओंका अतिक्रम कर जाता है,—ऐसी मानवताकी जो अभीतक उस प्राणपूरित पार्थिव पंकमें फँसी है जिसमें इसने अपनी जड़ें जमायी थीं। साथ ही, नैतिक नियममें एक ऐसी अभीप्सा भी निहित है जो हमें अपने अंदरके मानसिक तथा नैतिक पुरुषको विकसित करनेमें सहायता देती है। अतएव, इस नये उन्नायक तत्त्वके रूपमें हमें एक बड़े महत्त्वकी

प्राप्ति हुई है; इसके परिणामोंने पार्थिव प्रकृतिके कठिन विकासमें एक काफी महान् प्रगतिको परिलक्षित किया है। इन नैतिक धारणाओंकी अपर्याप्तताके पीछे कोई ऐसी चीज भी छिपी हुई है जो अवश्यमेव परम सत्यसे संबद्ध है; इनमें एक ऐसे प्रकाश और बलकी भी आभा है जो अब-तक अप्राप्त दिव्य प्रकृतिका अंग हैं। परंतु इन चीजोंकी मानसिक धारणा वह प्रकाश नहीं है और न इनकी नैतिक परिकल्पना ही वह बल है। ये तो केवल मनकी बनायी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं, ये उस दिव्य आत्माको मूर्त्तिमान् नहीं कर सकतीं जिसे ये अपने सुनिश्चित सूत्रोंमें बाँधनेकी व्यर्थमें चेष्टा करती हैं। परंतु हमारे अंदरके मनोमय तथा नैतिक पुरुषके परे एक महत्तर दिव्य पुरुष भी है जो आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक है; क्योंकि विस्तीर्ण आध्यात्मिक स्तरके द्वारा ही, जहाँ मनके सूत्र साक्षात् आंतर अनुभूतिकी शुभ्र ज्योतिमें विलीन हो जाते हैं, हम मनसे परे पहुँच सकते हैं और इसकी रचनाओंका अतिक्रम कर अतिमानसिक सद्वस्तुओंकी विशालता एवं स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। वहीं हम उन दिव्य शक्तियोंका सामंजस्य भी अनुभव कर सकते हैं जो हमारे मनके सामने तुच्छ और गलत रूपमें उपस्थित की जाती हैं अथवा नैतिक नियमके संघर्षकारी वा दोलायमान तत्त्वोंके द्वारा मिथ्या रूपमें चित्रित की जाती हैं। वहीं रूपांतरित प्राणमय तथा अन्नमय एवं ज्ञानदीप्त मनोमय पुरुषका उस अति-मानसिक आत्मामें एकीकरण संभव हो सकता है जो हमारे मन, प्राण और शरीरका गुप्त स्रोत है और साथ ही इनका लक्ष्य भी है। वहीं परम दिव्य ज्ञानकी ज्योतिमें परस्पर एकीभूत पूर्ण न्याय, प्रेम एवं सत्याचरणकी—जो उससे अत्यंत भिन्न होता है जिसकी हम कल्पना करते हैं—किसी तरहकी संभावना हो सकती है। वहीं हमारी सत्ताके अंगोंके परस्पर-संघर्षका सम्यक् समाधान हो सकता है।

दूसरे शब्दोंमें, समाजके बाह्य नियम तथा मनुष्यके नैतिक नियमके ऊपर और इनके परे भी एक सत्य एवं नियम है जिसे इनके अंदरकी कोई चीज शिथिल रूपमें तथा अज्ञानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाती है। यह एक बृहत् निर्बंध चेतनाका विस्तीर्णतर सत्य है, एक दिव्य नियम है जिसकी ओर मनुष्य तथा समाजकी ये अंध तथा स्थूल व्यवस्थाएँ क्रमिक और स्खलन-शील पगोंसे बढ़ रही हैं। ये पग पशुके प्राकृतिक नियमको लाँघकर एक अधिक उन्नत प्रकाश या सार्वभौम नियममें पहुँचनेका यत्न करते हैं। वह दिव्य मानदण्ड ही हमारी प्रकृतिका परम आध्यात्मिक नियम और सत्य होना चाहिये, क्योंकि हमारे अंदरका देवत्व हमारी आत्मा है जो

गुप्त पूर्णताकी ओर बढ़ रही है। और, फिर, क्योंकि हम संसारमें ऐसे देहधारी जीव हैं जिनका एक-सा जीवन और प्रकृति है और साथ ही हम ऐसी व्यष्टि-आत्माएँ हैं जो परात्परके साथ सीधा संबंध जोड़नेमें समर्थ हैं, हमारी आत्माका यह परम सत्य द्विविध होना चाहिये। यह एक ऐसा नियम एवं सत्य होना चाहिये जो महान् आध्यात्मीकृत सामूहिक जीवनकी पूर्ण गतिविधि, समस्वरता और लयतालकी खोज करे और प्रकृतिकी विविधता-पूर्ण एकतामें प्रत्येक प्राणी तथा सभी प्राणियोंके साथ हमारे संबंधोंको भी पूर्ण रूपसे निर्धारित करे। साथ ही यह एक ऐसा नियम एवं सत्य भी होना चाहिये जो जीवधारी व्यक्तिकी आत्मा तथा उसके मन, प्राण और शरीरमें भगवान्‌की प्रत्यक्ष अभिव्यक्तिके लयताल और यथार्थ क्रमोंको हमारे सामने प्रतिक्षण प्रकाशित करता रहे।* अनुभवसे हम देखते हैं कि कार्यका यह परम प्रकाश एवं बल अपने सर्वोच्च प्रकट रूपमें एक अलंघ्य नियम है और साथ ही पूर्ण स्वातंत्र्य भी। अलंघ्य नियम तो यह इसलिये है कि एक शाश्वत सत्यके द्वारा यह हमारी प्रत्येक आंतर तथा बाह्य चेष्टाको नियंत्रित करता है, परंतु फिर भी क्षण-क्षणमें और एक-एक चेष्टामें परम पुरुषका पूर्ण स्वातंत्र्य हमारी सचेतन और मुक्त प्रकृतिकी पूर्ण नमनीयताको प्रयोगमें लाता है।

नैतिक आदर्शवादी अपने आचारसंबंधी ज्ञात तथ्योंमें और मानसिक तथा नैतिक सूत्रसे संबंध रखनेवाले हीनतर बलों और घटक-तत्त्वोंमें इस परम नियमको खोजनेका यत्न करता है। अथच इन्हें धारित तथा व्यवस्थित करनेके लिये वह आचारका एक आधारभूत तत्त्व चुन लेता है जो मूलत: निस्सार होता है तथा बुद्धि, उपयोगिता, भोगवाद, तर्कणा, अंतर्ज्ञानात्मक विवेक-बुद्धि अथवा किसी अन्य सामान्यीकृत मानदंडसे विरचित होता है। ऐसे सब प्रयत्नोंका असफल होना पहलेसे ही निश्चित है। हमारी आंतर प्रकृति नित्य आत्माकी एक प्रगतिशील अभिव्यक्ति है और यह ऐसी जटिल शक्ति है कि किसी एक प्रभुत्वशाली मानसिक वा नैतिक सिद्धांतसे बाँधी नहीं जा सकती। अतिमानसिक चेतना ही इसकी विभिन्न एवं परस्परविरुद्ध शक्तियोंके समक्ष उनके आध्यात्मिक सत्यको प्रकाशित करके उनकी विषमताओंको समस्वर कर सकती है।

---

* अतएव, गीताके अनुसार "धर्म" उस कार्यको कहते हैं जो हमारी आत्म-सत्ताकी सारभूत प्रकृतिके द्वारा नियंत्रित हो। धर्म वास्तवमें एक ऐसा शब्द है जो मत-मजहब या नैतिकतासे परे किसी और ही वस्तुको द्योतित करता है।

अर्वाचीनतर धर्म आचारके परम सत्यकी आदर्शमूर्त्तिको स्थिर करने, किसी पद्धतिको स्थापित करने तथा अवतार या पैगंबरके मुखसे ईश्वरीय नियमको घोषित करनेका प्रयत्न करते हैं। ये पद्धतियाँ नीरस नैतिक धारणाकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली एवं क्रियाशील होती हुई भी, अधिकांशमें, उस नैतिक तत्त्वके आदर्शवादात्मक गुणगानके अतिरिक्त कुछ नहीं होतीं जो धार्मिक भावसे तथा अपने अतिमानवीय उद्गमकी छापसे पवित्रीकृत होता है। ईसाई आचार-शास्त्र-जैसी कई एक चूड़ांत पद्धतियाँ भी प्रकृतिके द्वारा त्याग दी जाती हैं, क्योंकि वे अव्यवहार्य ऐकांतिक नियमपर अक्रियात्मक रूपसे आग्रह करती हैं। अन्य कई पद्धतियाँ अंतमें विकासात्मक समझौते ही सिद्ध होती हैं और काल-प्रवाहके अग्रसर होनेपर उनका कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता। यथार्थ दिव्य नियम इन मानसिक मिथ्या रूपोंसे भिन्न है। यह उन कठोर नैतिक निर्णयोंकी पद्धति नहीं हो सकता जो हमारी सभी जीवन-गतियोंको जबर्दस्ती अपने कड़े साँचोंमें ढालनेका यत्न करते हैं। दिव्य नियम तो जीवन तथा आत्माका सत्य है और यह, निश्चय ही, हमारे कर्मके प्रत्येक क्रमको तथा हमारे जीवनप्रश्नोंकी सारी जटिलताओंको एक स्वतंत्र एवं सजीव नमनीयताके साथ अपनावेगा और उन्हें अपने शाश्वत प्रकाशके साक्षात् स्पर्शसे अनुप्राणित कर देगा। निस्संदेह, यह किसी नियम एवं सूत्रकी तरह नहीं, बल्कि उस सर्वतोव्यापी तथा अंतर्व्यापी चेतन उपस्थितिके रूपमें कार्य करेगा जो हमारे सब विचारों, कर्मों, भावों और संकल्पावेगोंको अपने अचूक बल एवं ज्ञानके द्वारा निर्धारित करती है।

प्राचीनतर धर्मोंने मनीषियोंके धर्मसूत्र, मनु या कन्फ्यूशसके स्मृति-वाक्य और एक ऐसे गहन शास्त्रकी स्थापना की जिसमें उन्होंने सामाजिक नियम तथा नैतिक सिद्धांतको और हमारी उच्चतम प्रकृतिके कतिपय नित्य तत्त्वोंके निरूपणको एक प्रकारके एकीकारक मिश्रणमें मिला देनेका यत्न किया। इन तीनोंका उन्होंने एक समान आधारपर वर्णन किया,—इस आधारपर कि ये तीनों ही, समान रूपसे, नित्य सत्यों या सनातन धर्मकी अभिव्यक्ति हैं। परंतु इनमेंसे दो तो विकसनशील तत्त्व हैं और कुछ कालके लिये वे युक्तियुक्त होते हैं, वे मानसिक रचनाएँ किंवा सनातन देवकी इच्छाकी मानवकृत व्याख्याएँ हैं; तीसरेके लिये कुछ सामाजिक एवं नैतिक सूत्रोंसे संबद्ध तथा उनके वशीभूत होनेके कारण, अपने रूपोंके भाग्यमें भागीदार होना ही बदा है। फलतः, या तो शास्त्र अव्यवहार्य हो जाता है और इसे उत्तरोत्तर परिवर्त्तित करना या अंतिम रूपसे त्याग देना होता है अथवा यह व्यक्ति तथा जातिकी आत्मोन्नतिमें अत्यधिक बाधक बना

रहता है। यह एक सामूहिक तथा बाह्य मर्यादा खड़ी करता है और व्यक्तिकी आंतर प्रकृतिकी अर्थात् उसके अंदरकी गूढ़ अध्यात्म-शक्तिके अनिर्धार्य तत्त्वोंकी अवहेलना करता है। परंतु व्यक्तिकी प्रकृतिकी उपेक्षा नहीं हो सकती; इसकी माँग अलंघ्य है। बाह्य आवेगोंका असंयत उपभोग करनेसे व्यक्ति अराजकता तथा विध्वंसकी स्थितिमें जा पड़ता है, किंतु किसी निश्चित यांत्रिक नियमके द्वारा उसकी आत्माकी स्वतंत्रताको कुचलने तथा दबा देनेसे उसका विकास रुक जाता है अथवा उसकी आंतरिक मृत्यु हो जाती है। अतएव, इस प्रकारका बाह्य दमन या निर्धारण नहीं, वरन् अपनी उच्चतम आत्माकी स्वतंत्र खोज तथा शाश्वत गतिका सत्य ही वह परमार्थ है जो उसे उपलब्ध करना है।

उच्चतर नैतिक नियमको व्यक्ति अपने मन तथा संकल्प एवं आंतरात्मिक अनुभूतिमें खोज निकालता है और फिर उसे जातिमें व्यापक बनाता है। परम नियमकी खोज भी व्यक्तिको ही अपनी आत्मामें करनी होगी। उसके बाद ही वह इसे आध्यात्मिक प्रभावके द्वारा—मानसिक विचारके बलपर नहीं—दूसरोंतक विस्तारित कर सकता है। किसी नैतिक नियमको कुछ-एक ऐसे मनुष्योंपर एक नियम या आदर्शके रूपमें आरोपित किया जा सकता है जिन्होंने चेतनाकी वह भूमिका या मन, संकल्प और आंतरात्मिक अनुभवकी वह सूक्ष्मता अधिगत न की हो जिसमें यह नियम या आदर्श उनके लिये वास्तविक वस्तु और सजीव शक्ति बन सकता है। एक आदर्शके रूपमें इसे तनिक भी व्यवहारमें लानेकी आवश्यकताके विना इसकी पूजा भी की जा सकती है। एक नियमके तौरपर इसके बाह्य रूपमें इसका पालन भी किया जा सकता है चाहे इसका आंतरिक आशय सर्वथा छूट ही क्यों न जाय। पर अतिमानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन ऐसे ढंगसे यंत्रवत् नहीं चलाया जा सकता, उसे मानसिक आदर्श वा बाह्य नियमका रूप नहीं दिया जा सकता। उसकी अपनी ही महान् सरणियाँ हैं, किंतु उन्हें वास्तविक बनानेकी आवश्यकता है, वे व्यक्तिकी चेतनामें अनुभूत सक्रिय शक्तिकी कार्य-प्रणालियाँ तथा मन, प्राण एवं शरीरका रूपांतर करनेमें समर्थ सनातन सत्यकी प्रतिलिपियाँ होनी चाहियें। और, क्योंकि यह इस प्रकार वास्तविक, कार्यक्षम तथा अनिवार्य है, अतिमानसिक चेतना और आध्यात्मिक जीवनको सार्वभौम बनाना ही एकमात्र ऐसी शक्ति है जो इस भूतलके सर्वोच्च प्राणियोंमें व्यक्तिगत और सामूहिक पूर्णताका मार्ग प्रशस्त कर सकती है। दिव्य चेतना तथा उसके पूर्ण सत्यके साथ हमारा सतत संबंध स्थापित होनेसे ही चिन्मय भगवान् या क्रियाशील ब्रह्मका

कोई रूप-विशेष हमारी पार्थिव सत्ताका उद्धार कर सकता है तथा इसके कलह, स्खलन, दुःखों और असत्योंको परम ज्योति, शक्ति एवं आनंदकी प्रतिमूर्त्तिमें रूपांतरित कर सकता है।

परम पुरुषके साथ आत्माके ऐसे अविच्छिन्न संबंधकी पराकाष्ठा ही आत्मदान है। इसीको हम भगवत्संकल्पके प्रति समर्पण तथा पृथग्भूत अहंका सर्वमय 'एक'में निमज्जन कहते हैं। आत्माकी बृहत् विश्वमयता एवं सबके साथ प्रगाढ़ एकता ही अतिमानसिक चेतना तथा आध्यात्मिक जीवनकी भित्ति और अनिवार्य स्थिति है। उस विश्वमयता तथा एकतामें ही हम देहधारी आत्माके जीवनके भीतर दिव्य अभिव्यक्तिका परम नियम ढूंढ़ सकते हैं; उसीमें हम अपनी वैयक्तिक प्रकृतिकी परम गति-विधि तथा यथार्थ लीलाका पता पा सकते हैं। उसीमें ये सब निम्नतर विषमताएँ इन व्यक्त जीवोंके बीच—जो एकमेव परमेश्वरके अंश तथा एक ही विश्व-जननीकी संतानें हैं,—सच्चे संबंधोंकी विजयी समस्वरतामें परिणत हो सकती हैं।

*

समस्त आचार तथा कर्म उस बल एवं शक्तिकी गतिका अंग हैं, जो अपने उद्गम, गूढ़ आशय तथा संकल्पमें अनंत एवं दिव्य है, चाहे उसके ये रूप जिन्हें हम देखते हैं निश्चेतन या अज्ञानयुक्त, भौतिक, प्राणिक, मानसिक तथा सांत ही क्यों न प्रतीत होते हों। यह शक्ति व्यष्टिगत तथा समष्टिगत प्रकृतिकी अंधतामें भगवान् तथा अनंतके किंचित् अंशको उत्तरोत्तर प्रकाशित करनेके लिये कार्य कर रही है। यह ज्योतिकी ओर ले चल रही है पर अभी अविद्याके द्वारा ही। पहले-पहल यह मनुष्यको उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओंमेंसे राह दिखाती है; तदनंतर यह उसे उसकी विस्तारित आवश्यकताओं तथा कामनाओंमेंसे, जो मानसिक तथा नैतिक आदर्शसे संयत एवं आलोकित होती हैं, परिचालित करती है। यह उसे एक ऐसी आध्यात्मिक चरितार्थताकी ओर ले जानेकी तैयारी कर रही है जो इन सब चीजोंको पार कर जायगी और फिर भी इनके भाव तथा प्रयोजनमें जो कुछ भी दिव्यतया सत्य है उस सबमें इन्हें कृतार्थ तथा समन्वित करेगी। आवश्यकताओं तथा कामनाओंको यह दिव्य संकल्प तथा आनंदमें रूपांतरित कर देती है। मानसिक तथा नैतिक अभीप्साको यह सत्य तथा पूर्णत्वकी ऐसी शक्तियोंमें रूपांतरित कर देती है जो इनसे परे हैं। वैयक्तिक प्रकृतिके खंडित प्रयास एवं पृथक् अहंके क्षोभ और

संघर्षके स्थानपर यह हमारे अंदरके विश्वात्मभूत पुरुष, केंद्रीय सत्ता एवं परम आत्माकी अंशरूप आत्माका शांत, गंभीर, समस्वर और कल्याणकर नियम प्रतिष्ठित करती है। हमारे अंदरका यह सच्चा पुरुष विश्वमय होनेके कारण अपनी पृथक् तृप्तिकी खोज नहीं करता, वल्कि केवल यही चाहता है कि प्रकृतिके अंदर इसकी वाह्य अभिव्यक्तिमें इसके वास्तविक स्वरूपका विकास हो, इसकी आंतरिक दिव्य आत्मा, तथा इसके अंदरकी वह परात्पर आध्यात्मिक शक्ति एवं उपस्थिति प्रकट हो जो सभीके साथ एकमय है और प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी तथा दिव्य सत्ताके समस्त सामूहिक व्यक्तित्व और शक्तियोंके साथ भी समरस है। साथ ही यह सच्चा पुरुष इन सवको अतिक्रांत भी कर जाता है तथा किसी प्राणी या समुदायके अहंभावमें नहीं वँधता और न उनकी निम्न प्रकृतिके अज्ञ नियंत्रणोंद्वारा सीमित ही होता है। हमारे समस्त अन्वेषण और प्रयासकी तुलनामें यह एक उच्च उपलव्धि है, यह हमारी प्रकृतिके सभी तत्त्वोंके पूर्ण समन्वय तथा रूपांतरका निश्चित आश्वासन देती है। शुद्ध, समग्र और निर्दोष कार्य तो केवल तभी किया जा सकता है जव यह उपलव्धि संपन्न हो जाय तथा हम अपने अंदरके इस गुप्त देवाधिदेवका उच्च स्तर प्राप्त कर लें।

पूर्ण अतिमानसिक कर्म किसी एक ही मूलसूत्र या सीमित नियमका अनुसरण नहीं करेगा। व्यष्टिभूत अहंवादीके या किसी संगठित समष्टि-मनके मानदंडको यह संभवतः पूरा नहीं करेगा। यह न तो संसारके पक्के व्यावहारिक मनुष्यकी माँगके अनुसार चलेगा, न लोकाचारी नैतिकता-वादीकी, न देशभक्तकी, न भावनाप्रधान विश्वप्रेमीकी और न ही आदर्श-स्रष्टा दार्शनिककी। एक आलोकित एवं ऊर्ध्वीकृत सत्ता, इच्छा-शक्ति तथा ज्ञानकी अखंडतामें यह शिखरोंपरसे एक स्वतःप्रवृत्त स्रोतस्स्रवणके द्वारा उद्भूत होगा न कि किसी निर्वाचित, अवधारित एवं मर्यादित क्रियाके द्वारा जो वौद्धिक तर्क वा नैतिक संकल्पसे प्राप्त होनेवाली अंतिम चीज होती है। इसका एकमात्र ध्येय होगा—हमारे अंदर निहित देवत्वको प्रकट करना और लोकसंग्रह करना अर्थात् संसारको एक साथ संवद्ध रखना तथा भावी अभिव्यक्तिकी ओर आगे वढ़ाना। यह भी इसका ध्येय और प्रयोजन तो वहुत कम होगा, अधिकांशमें यह सत्ताका एक स्वतःस्फूर्त नियम तथा दिव्य सत्यके प्रकाश और इसके स्वयं गतिशील प्रभावके द्वारा कार्यका सहज निर्धारण ही होगा। यह उसी प्रकार निःसृत होगा जिस प्रकार प्रकृतिका कार्य उसके मूल-स्थित समग्र संकल्प और ज्ञानसे निःसृत होता है। पर वह संकल्प तथा ज्ञान अव और इस अज्ञ प्रकृतिमें तमसाच्छन्न

नहीं रहेंगे, बल्कि चिन्मय परमा प्रकृतिमें आलोकित होंगे। यह एक ऐसा कार्य होगा जो द्वंद्वोंसे बँधा हुआ नहीं होगा, वरन् उस एकसार आनंदमें परिपूर्ण और विशाल होगा जो आत्माको सत्तामात्रमें उपलब्ध होता है। पीड़ित तथा अज्ञानग्रस्त अहंकी व्यग्रताओं और स्खलनोंका स्थान दिव्य शक्ति तथा प्रज्ञाकी मंगलकारी एवं अंतःस्फुरित गति ले लेगी और यह शक्ति एवं प्रज्ञा ही हमें प्रेरित और प्रचालित करेगी।

यदि ईश्वरीय हस्तक्षेपके किसी चमत्कारसे संपूर्ण मानवजाति एक साथ इस स्तरतक उठायी जा सके तो इसके फलस्वरूप इस भूतलपर परंपरा-प्रसिद्ध स्वर्णयुग या सत्ययुग अर्थात् सत्यके या सच्चे जीवनके युग जैसी कोई वस्तु हमें प्राप्त हो जायगी। सत्ययुगका चिह्न यह होता है कि दिव्य नियम प्रत्येक प्राणीमें स्वतःस्फूर्त्त एवं सचेतन होता है और अपने कार्य पूर्ण समस्वरता तथा स्वतंत्रताके साथ करता है। पृथक्कारक विभाजन नहीं, बल्कि एकता और सार्वभौमता जातिकी चेतनाकी आधारशिला होगी। प्रेम निरपेक्ष होगा; समानता धर्मशासनके साथ संगत और विभिन्नतामें भी परिपूर्ण होगी। पूर्ण न्याय हमारी अंतःसत्ताकी,—जो पदार्थोंके और अपने तथा दूसरोंके स्वरूपके सत्यके साथ समस्वर है और अतएव यथार्थ तथा युक्त परिणामके संबंधमें विश्वस्त है,—एक स्वतःस्फूर्त्त क्रियाके द्वारा उपलब्ध होगा। सत्-तर्क अब पूर्ववत् मानसिक नहीं, वरन् अतिमानसिक होगा और वह कृत्रिम मापदंडोंके पर्यवेक्षणसे नहीं, बल्कि युक्त संबंधोंके स्वतंत्र और सहज बोध तथा उनकी अनिवार्य कार्यान्वितिके द्वारा ही संतुष्टि अनुभव करेगा। व्यक्ति और समाजमें कलह या समाज-समाजमें दुःखदायी संघर्ष नहीं रहने पायेगा। देहधारी जीवोंमें निहित सार्वभौम चेतना एकतामें समरस विविधताको सुनिश्चित आधार प्रदान करेगी।

मानवजातिकी वर्तमान अवस्थामें, सर्वप्रथम, व्यक्तिको ही मार्गदर्शक तथा नायकके रूपमें इस शिखरपर आरोहण करना होगा। निश्चय ही, उसका एकाकीपन उसके बाह्य कार्योंको एक ऐसी दिशा और रूप दे देगा जो सचेतनतः-दिव्य सामूहिक कार्यकी दिशा और रूपसे सर्वथा भिन्न होंगे। उसके कार्योंकी मूल भित्ति एवं आंतरिक भूमिका तो वही होगी, किंतु स्वयं कार्य उनसे बहुत भिन्न हो सकते हैं जैसे वे अज्ञानमुक्त भूतलपर होंगे। तथापि उसकी चेतना और उसके आचारकी दिव्य यांत्रिकता—यदि इस प्रकारका शब्द इतनी स्वतंत्र वस्तुके लिये बरता जा सकता हो—वैसी ही होगी जैसी कि वर्णित की गयी है। यह प्राणिक अपवित्रता, कामना और अशुद्ध आवेगके प्रति उस दासतासे मुक्त होगी जिसे हम पापके नामसे

पुकारते हैं, यह निर्दिष्ट नैतिक सूत्रोंके उस नियंत्रणसे बँधी हुई नहीं होगी जिसे हम पुण्यका नाम देते हैं। यह मनसे अधिक महान् चेतनामें सहज रूपसे निश्चयात्मक, पवित्र एवं पूर्ण होगी और पद-पदपर आत्माके प्रकाश तथा सत्यसे परिचालित होगी। परंतु जो लोग अतिमानसिक पूर्णता प्राप्त कर चुके हों उनका यदि कोई समूह या समुदाय बनाया जा सके, तो निश्चय ही वहाँ एक दिव्य सृष्टि मूर्त्तिमंत हो सकेगी; एक नयी पृथ्वी अवतरित हो सकेगी जो नूतन स्वर्ग होगी, इस पार्थिव अज्ञानके तिरोहित होते हुए अंधकारमें विज्ञानमय ज्योतिके जगत्का यहाँ सर्जन हो सकेगा।

आठवाँ अध्याय

परम इच्छाशक्ति

आत्माकी इस विकसनशील अभिव्यक्तिके प्रकाशमें,—उस आत्माकी जो पहले प्रत्यक्षत: अज्ञानमें बद्ध होती है और पीछे अनंतकी शक्ति तथा प्रज्ञामें स्वतंत्र होती है,—हम कर्मयोगीके प्रति गीताके इस महान् एवं सर्वोच्च उपदेशको अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं कि, "सब धर्मों अर्थात् आचार-व्यवहारके सब सिद्धांतों, विधानों एवं नियमोंको त्यागकर केवल मेरी ही शरण ले।" सभी मानदंड और नियम कुछ ऐसी अस्थायी रचनाएँ होते हैं जो जड़-प्रकृतिसे आत्माकी ओर संक्रमण करते हुए अहंकी आवश्यकताओंपर आधारित होती हैं। नि:संदेह ये सामयिक उपाय सापेक्ष रूपमें अनिवार्य होते हैं जबतक कि हम संक्रमणकी अवस्थाओंसे तृप्त, शरीर और प्राणके जीवनसे संतुष्ट एवं मनके व्यापारमें आसक्त रहते हैं, अथवा मानसिक स्तरके उन प्रदेशोंमें ही आबद्ध रहते हैं जो आध्यात्मिक दीप्तियोंके द्वारा थोड़े-बहुत प्रभावित हैं। परंतु इनके परे एक असीम अतिमानसिक चेतनाकी निर्बाध विशालता है जहाँ सभी अस्थायी रचनाओंका अंत हो जाता है। यदि हममें ऐसा विश्वास एवं साहस नहीं है कि हम अपने-आपको सर्वलोकमहेश्वर तथा सर्वभूत-सुहृत्के हाथोंमें सौंप दें और अपनी मानसिक सीमाओं एवं मर्यादाओंका पूरी तरहसे त्याग कर दें तो सनातन तथा अनंतके आध्यात्मिक सत्यमें पूर्ण रूपसे प्रवेश करना हमारे लिये संभव नहीं हो सकता। एक-न-एक समय हमें नि:शेष भावसे, संकोच, भय वा संशयके बिना, मुक्त, अनंत तथा परिपूर्ण ब्रह्मके महासागरमें डुबकी लगानी ही होगी। विधानसे परे है मुक्तता; वैयक्तिक मापदंडों और सार्वजनिक एवं सार्वभौम मापदंडोंके परे कोई अधिक महान् वस्तु है, एक निर्वैयक्तिक नमनीयता, दिव्य स्वतंत्रता, लोकोत्तर बल एवं स्वर्गीय संवेग है। आरोहणके संकीर्ण पथके पश्चात् ही शिखरपर विस्तृत अधित्यकाएँ आती हैं।

आरोहणके तीन क्रम हैं,—सबसे नीचे शारीरिक जीवन है जो आवश्यकता तथा कामनाके दबावके वशीभूत है, मध्यमें मानसिक, उच्चतर

भावमय तथा आंतरात्मिक नियम है जो महत्तर हितों, अभीप्साओं, अनुभवों एवं विचारोंको टोहता है और शिखरपर पहले तो गंभीरतर आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक भूमिका है और फिर अतिमानसिक नित्य चेतना है जिसमें हमारी सब अभीप्साएँ एवं जिज्ञासाएँ अपना अंतरीय अर्थ जान लेती हैं। शारीरिक जीवनमें सर्वप्रथम कामना एवं आवश्यकता और तदनंतर व्यक्ति तथा समाजके क्रियात्मक हित ही प्रभुत्वशाली विचार तथा प्रधान प्रेरक-बल होते हैं। मानसिक जीवनमें विचारों तथा आदर्शोंका प्रभुत्व होता है,—उन विचारोंका जो सत्यका वेष धारण किये हुए अर्द्ध-प्रकाश होते हैं, तथा उन आदर्शोंका जो वर्धमान पर अपूर्ण अंतर्ज्ञान एवं अनुभवके परिणामके रूपमें मनके द्वारा विरचित होते हैं। जब कभी मानसिक जीवन प्रबल होता है तथा शारीरिक जीवन अपना पाशविक आग्रह कम कर देता है, तब मनुष्य—मनोमय प्राणी—अपने-आपको मानसिक प्रकृतिके उस आवेगसे प्रेरित अनुभव करता है जो व्यक्तिके जीवनको विचार वा आदर्शकी भावनामें ढाल देनेका आवेग होता है, और अंतमें समाजका अधिक अनिश्चित एवं अधिक जटिल जीवन भी इस सूक्ष्म प्रक्रियामेंसे गुजरनेको बाध्य होता है। आध्यात्मिक जीवनमें अथवा उस अवस्थामें जब मनसे अधिक ऊँची शक्ति प्रकट हो चुकती है तथा प्रकृतिको अपने अधिकारमें कर लेती है, ये सीमित प्रेरक-बल पीछे हटने लगते हैं और क्षीण तथा लुप्त होते जाते हैं। तब, एकमात्र, आध्यात्मिक वा अतिमानसिक आत्मा, भागवत पुरुष या परात्पर तथा विश्वगत सत्तत्त्व ही हमारा ईश्वर होता है और वही हमारी प्रकृतिके नियम या 'स्व-धर्म'की उच्चतम, विशालतम एवं सर्वांगीणतम संभव अभिव्यक्तिके अनुसार हमारे चरम विकासको स्वच्छंदतापूर्वक गढ़ता है। अंतमें हमारी प्रकृति पूर्ण सत्य तथा इसकी सहज स्वतंत्रतामें कार्य करने लगती है; क्योंकि वह केवल सनातनकी ज्योतिर्मय शक्तिका ही अनुसरण करती है। व्यक्तिके लिये तब और कोई चीज प्राप्त करनेको नहीं रह जाती, न कोई कामना ही पूर्ण करनेको शेष रहती है; वह तो सनातनके निर्वैयक्तिक स्वरूप या विराट् व्यक्तित्वका अंश बन जाता है। जीवनमें भागवत आत्माको अभिव्यक्त और लीलायित करना तथा दिव्य लक्ष्यकी ओर यात्रा करते हुए संसारका धारण और परिचालन करना—इन उद्देश्योंको छोड़कर और कोई उद्देश्य तब उसे कार्यके लिये प्रेरित नहीं कर सकता। मानसिक धारणाएँ, सम्मतियाँ और कल्पनाएँ तब और उसकी अपनी नहीं रहतीं; क्योंकि उसका मन निश्चल-नीरव हो जाता है, यह तब दिव्य ज्ञानके प्रकाश तथा सत्यकी प्रणालिकामात्र होता है। आदर्श उसकी आत्माकी विशालताके

लिये अत्यंत संकीर्ण हो जाते हैं; उसके अंदर तो अनंतका महासागर सदा हिलोरें मारता और उसे गति देता रहता है।

*

जो कोई भी व्यक्ति सच्चाईके साथ कर्मोंके पथपर आरूढ़ होता है उसे उस अवस्थाको, जिसमें आवश्यकता तथा कामना हमारे कार्योंका प्रथम नियम होती हैं, कोसों दूर छोड़ देना होगा। कारण, जो भी इच्छाएँ अभीतक उसकी सत्ताको व्याकुल करती हैं उनको उसे—यदि वह योगके उच्च ध्येयको अपनाता है तो—अपनेसे पृथक् कर अपने अंदर स्थित ईश्वरके हाथोंमें सौंप देना होगा। परा शक्ति साधकके और सर्वजनके मंगलके लिये उन इच्छाओंके साथ यथायोग्य वर्ताव करेगी। क्रियात्मक रूपमें हम यह देखते हैं कि जब एक बार ऐसा समर्पण कर दिया जाता है,—हाँ, इसके साथ सच्चा परित्याग भी सदैव आवश्यक होता है,—तब भी पुरानी प्रकृतिके अविरत आवेगके वश कामनाके अहंमूलक उपभोगकी प्रवृत्ति कुछ कालके लिये उभर सकती है। परंतु वह केवल इसलिये उभरती है कि कामनाके अर्जित आवेगको समाप्त कर दे तथा इसकी प्रतिक्रियाओंद्वारा, इसके दुःख तथा बेचैनीद्वारा—जो उच्चतर शांतिकी प्रसादपूर्ण घड़ियों किंवा दिव्य आनंदकी अद्भुत गतियोंसे तीव्र रूपमें भिन्न होते हैं—शरीरधारी प्राणीकी सत्ताके अत्यंत अशिक्षणीय अंगको, उसकी स्नायविक, प्राणिक एवं भाविक प्रकृतिको भी यह सिखा दे कि अहंभावमयी कामना उस आत्माके लिये नियम नहीं होती जो मुक्ति चाहती है अथवा अपनी मूल देव-प्रकृतिके लिये अभीप्सा करती है। फिर भी उन प्रवृत्तियोंके अंदर कामनाका जो तत्त्व है वह आगे चलकर एक अनवरत वर्जक और रूपांतरकारी दबावके द्वारा निकाल फेंका जायगा या दृढ़तापूर्वक दूर कर दिया जायगा। केवल उनके अंदरकी वह शुद्ध क्रिया-शक्ति (प्रवृत्ति) ही जो ऊपरसे प्रेरित या आरोपित समस्त कर्म तथा फलमें एक समान आनंद लेनेके कारण अपना औचित्य सिद्ध करती है, अंतिम पूर्णताके सुखद सामंजस्यमें सुरक्षित रखी जायगी। कर्म करना एवं उपभोग करना स्नायवीय सत्ताका स्वाभाविक नियम तथा अधिकार है; किंतु वैयक्तिक कामनाके द्वारा अपने कर्म तथा भोगका चुनाव करना उसकी एक अज्ञानयुक्त इच्छामात्र है, उसका अधिकार नहीं। चुनाव तो परम तथा वैश्व इच्छाशक्तिको ही करना होगा; कर्मको उस परम इच्छाशक्तिकी प्रबल गतिमें बदल जाना होगा; भोगका स्थान शुद्ध आध्यात्मिक आनंदकी क्रीड़ाको लेना

होगा। समस्त वैयक्तिक इच्छा या तो ऊपरसे प्राप्त अस्थायी प्रतिनिधित्व होती है या अज्ञानी असुरके द्वारा परकीय स्वत्वका अपहरण।

सामाजिक नियम अर्थात् हमारी उन्नतिकी दूसरी अवस्था एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा अहंको वशमें रखा जाता है, इसलिये कि वह विस्तीर्णतर सामूहिक अहंके अधीन रहकर अनुशासन सीख सके। यह नियम किसी भी नैतिक अर्थसे सर्वथा शून्य हो सकता है और केवल समाजकी आवश्यकताओं या क्रियात्मक हितको—हितके विषयमें किसी समाजकी जैसी भी कल्पना हो उसके अनुसार—प्रकट कर सकता है। अथवा यह उन आवश्यकताओं और उस हितको एक ऐसे रूपमें भी प्रकट कर सकता है जो एक उच्चतर नैतिक या आदर्श नियमके द्वारा संशोधित, रंजित तथा परिपूरित हो। जो व्यक्ति विकास कर रहा है, पर अभीतक पूर्णतः विकसित नहीं हुआ है उसके लिये यह नियम सामाजिक कर्त्तव्य, पारिवारिक दायित्व, सांप्रदायिक या राष्ट्रीय मार्गके रूपमें तबतक अनिवार्य ही होता है जबतक कि यह उच्चतर शुभ-विषयक उसकी प्रगतिशील भावनाके विरुद्ध नहीं होता। परंतु कर्मयोगका साधक इसे भी कर्मोंके स्वामीपर उत्सर्ग कर देगा। जब वह इस प्रकारका समर्पण कर चुकेगा, उसके बादसे उसके सामाजिक आवेग तथा निर्णय, उसकी कामनाओंकी भाँति ही, केवल इसलिये उपयोगमें लाये जायँगे कि वे सर्वथा समाप्त हो जायँ। अथवा जहाँतक ये कुछ कालके लिये अभी भी आवश्यक होंगे वहाँतक ये संभवतः उसे इस योग्य बनानेके लिये काममें लाये जायँगे कि वह अपनी निम्नतर मानसिक प्रकृतिको समूची मानवजाति या इसके किसी समूह-विशेषके साथ, इसकी चेष्टाओं, आशाओं और अभीप्साओंके साथ एकाकार कर सके। परंतु वह अल्पकाल बीत जानेके बाद ये हटा लिये जायँगे और एकमात्र दिव्य शासन ही स्थिर रहेगा। वह भगवान्के साथ तथा दूसरोंके साथ दिव्य चेतनाके द्वारा ही एकमय होगा, मनोमय प्रकृतिके द्वारा नहीं।

कारण, जब साधक स्वतंत्र हो जायगा उसके बाद भी वह संसारमें ही रहेगा और संसारमें रहनेका मतलब है कर्मोंमें रहना। परंतु कामनाके बिना कर्मोंमें रहनेका अर्थ है समूचे संसारकी भलाईके लिये या वर्ग या जातिके लिये या भूतलपर विकसित होनेवाली किसी नयी सृष्टिके लिये कर्म करना अथवा अपने अंतःस्थ भागवत संकल्पद्वारा नियुक्त कार्य करना। यह कार्य उसे उस परिस्थिति या समुदायसे प्राप्त ढाँचेमें करना होगा जिसमें वह पैदा हुआ है या जिसमें उसे रखा गया है अथवा यह उसे एक ऐसे ढाँचेमें करना होगा जो दैवी आदेशने उसके लिये चुना या पैदा किया है।

अतएव, हमारी पूर्णताकी अवस्थामें हमारी मानसिक सत्ताके अंदर ऐसी कोई भी चीज शेष नहीं रहनी चाहिये जो उस वर्ग एवं समुदायका या भगवान्‌के और किसी भी सामूहिक रूपका विरोध करे या उसके साथ हमारी सहानुभूति एवं स्वतंत्र एकमयतामें बाधा डाले जिसका नेता, सहायक या सेवक बननेके लिये वह भगवान्‌के द्वारा नियुक्त है। परंतु अंतमें इसे भगवान्‌के साथ तादात्म्यद्वारा प्राप्त एक स्वतंत्र आत्म-एकाकारता बन जाना होगा, न कि मेल-मिलापकी कोई ऐसी मानसिक शर्त्त या नैतिक गाँठ या कोई प्राणिक साहचर्य बने रहना होगा जो किसी प्रकारके वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांप्रदायिक या धार्मिक अहंकारसे नियंत्रित हो। यदि किसी सामाजिक नियमका पालन किया भी जायगा तो वह किसी भौतिक आवश्यकता या वैयक्तिक या सार्वभौम हितवुद्धि या उपयोगिताके वश अथवा परिस्थितिके दबाव या किसी कर्त्तव्य-भावनाके कारण नहीं किया जायगा, बल्कि केवल कर्मोंके स्वामीके लिये तथा इस बातको ईश्वरेच्छा अनुभव करते या जानते हुए किया जायगा कि सामाजिक विधान या नियम या संबंध, जैसा भी वह है, अंतर्जीवनकी प्रतिमाके रूपमें अभी भी सुरक्षित रखा जा सकता है और उसका उल्लंघन करके मनुष्योंमें 'बुद्धिभेद' नहीं पैदा करना चाहिये। दूसरी ओर, यदि सामाजिक विधान या नियम या संबंधकी अवहेलना की भी जायगी तो वह कामना, वैयक्तिक संकल्प या वैयक्तिक सम्मतिको तुष्ट करनेके लिये नहीं की जायगी, वरन् इसलिये कि हमें आत्माके विधानको प्रकट करनेवाले एक महत्तर नियमका अनुभव हो चुका होगा अथवा यह ज्ञान प्राप्त हो चुका होगा कि दिव्य सर्व-संकल्पकी प्रगतिमें वर्त्तमान नियमों और रूपोंके परिवर्तन, अतिक्रमण या उन्मूलनके लिये प्रयास अवश्य होना चाहिये जिससे कि विश्व-विकासके लिये आवश्यक एक अधिक स्वतंत्र और विशाल जीवनका उदय हो सके।

अब रहा नैतिक नियम या आदर्श; ये दोनों उन बहुतसे लोगोंको भी जो अपनेको स्वतंत्र समझते हैं, सदैव पवित्र एवं बुद्धि-अगोचर प्रतीत होते हैं। परंतु अपनी दृष्टि सदा ऊर्ध्वमुखी रहनेके कारण, साधक, इन्हें उन भगवान्‌के प्रति उत्सर्ग कर देगा जिन्हें समस्त आदर्श अपूर्ण एवं आंशिक रूपसे ही प्रकट करनेकी चेष्टा करते हैं। सभी नैतिक गुण उनके स्वभाव-सिद्ध तथा असीम पूर्णत्वके तुच्छ तथा अनमनीय हास्यास्पद अभिनयमात्र हैं। स्नायविक या प्राणिक कामनाके मिटनेके साथ ही पाप एवं अशुभका बंधन भी मिट जाता है; क्योंकि इसका संबंध हमारे अंदरके उस गुणसे है जो प्राणगत आवेशका गुण (रजोगुण) है तथा जो हमें प्रवृत्तिके लिये प्रेरित

या प्रचालित करता है, और इसलिये प्रकृतिके इस गुणका रूपांतर होते ही यह छिन्न-भिन्न हो जाता है। परंतु अभीप्सुको रूढ़िभूत या अभ्यासगत पुण्यकी अथवा किसी मनोनिर्दिष्ट या उच्च या निर्मल सात्त्विक पुण्यकी सुवर्ण-रंजित या स्वर्णिम शृंखलासे भी आबद्ध नहीं रहना होगा। इसके स्थानपर उसे एक ऐसी वस्तु प्रतिष्ठित करनी होगी जो उस क्षुद्र एवं न्यूनतापूर्ण वस्तुसे जिसे मनुष्य (Virtue) या पुण्य कहते हैं अधिक गंभीर और अधिक तात्त्विक हो। 'वर्चु' (Virtue) शब्दका मूल अर्थ था मनुष्यत्व और यह नैतिक मन तथा इसकी रचनाओंसे अधिक विस्तृत और अधिक गहरी वस्तु है। कर्मयोगकी सिद्धि इससे भी ऊँची और गहरी अवस्था है जिसे शायद "आत्म-भाव" कह सकते हैं—क्योंकि आत्मा मनुष्यसे अधिक महान् है। परम सत्य और प्रेमके कर्मोंमें स्वयमेव स्रवित होता हुआ यह स्वतंत्र आत्म-भाव मानवीय पुण्यका स्थान ले लेगा। परंतु इस परम सत्यको न तो व्यावहारिक बुद्धिके छोटे-मोटे कमरोंमें रहनेके लिये वाधित किया जा सकता है और न ही इसे उस व्यापकतर चिंतक बुद्धिकी अधिक गरिमामयी रचनाओंमें आबद्ध किया जा सकता है जो अपने निरूपणों-को परिमित मानव-बुद्धिपर शुद्ध सत्यके रूपमें आरोपित किया करती है। यह भी आवश्यक नहीं कि यह परम प्रेम मानवीय आकर्षण, सहानुभूति तथा दयाकी आंशिक एवं मंद और अज्ञ एवं भावोद्वेलित चेष्टाओंसे संगत ही हो, इनसे अभिन्न होना तो दूरकी वात रही। क्षुद्र नियम विशालतर गतिको वाँध नहीं सकता; मनकी खंड उपलब्धि आत्माकी परम परिपूर्णता-पर शासन नहीं कर सकती।

सर्वप्रथम, उच्चतर प्रेम एवं सत्य अपनी गतिको साधकमें उसकी निजी प्रकृतिके सारभूत धर्म या पथके अनुसार ही चरितार्थ करेगा। क्योंकि, वह धर्म या पथ दिव्य प्रकृतिका एक विशेष रूप एवं परा शक्तिकी एक विशिष्ट शक्ति ही होता है, जिसमेंसे उसकी अंतरात्मा लीलामें आविर्भूत होती है,—निःसंदेह यह उस धर्म वा पथके रूपोंसे सीमित नहीं होती, क्योंकि आत्मा तो सीमारहित है। फिर भी इसके प्रकृति-तत्त्वपर उस गतिका प्रभाव अंकित रहता है और यह तत्त्व उस प्रवल प्रभावके चक्राकार घुमावोंके चारों ओर उन सरणियों या दिशाओंमें निर्वाध रूपसे विकसित होता है। साधक दिव्य सत्य-गतिको ज्ञानी या शूरवीर योद्धा या प्रेमी तथा उपभोक्ता या कर्मी एवं सेवकके स्वभावके अनुसार अथवा तीन मूल गुणोंके किसी अन्य ऐसे सम्मिश्रणमें प्रकट करेगा जो उसकी सत्ताके अपनी ही आंतर प्रेरणाद्वारा नियत आकारका गठन करनेवाला हो। उसके

कार्योंमें स्वच्छंद क्रीड़ा करती हुई उसकी इस स्व-प्रकृति (स्वधर्म)को ही मनुष्य उसमें देखेंगे न कि किसी बाह्य क्षुद्रतर नियम या विधानके द्वारा गठित, निर्धारित तथा कृत्रिमतया नियमित आचारको।

परंतु, इससे भी ऊँची एक और उपलब्धि है, एक 'आनंत्य' है जिसमें यह अंतिम नियम-मर्यादा भी अतिक्रांत हो जाती है, क्योंकि प्रकृति पूर्ण रूपसे तृप्त हो जाती है तथा इसकी सीमाएँ विलुप्त हो जाती हैं। वहाँ आत्मा सभी सीमाओंसे मुक्त रहती है, क्योंकि वह अपने अंदरकी दिव्य इच्छाशक्तिके अनुसार सभी रूपों तथा साँचोंका प्रयोग करती है, पर वह जिस भी शक्ति या रूपको उपयोगमें लाती है उससे निगड़ित नहीं हो जाती, उससे आबद्ध या उसके अंदर अवरुद्ध नहीं हो जाती। यह कर्म-मार्गका शिखर है और यही आत्माकी उसके कर्मोंमें पूर्ण स्वाधीनता है। वास्तवमें, वहाँ कोई भी कर्म इसके नहीं होते; इसकी सभी चेष्टाएँ 'परम'की ही स्वरलहरी होती हैं। वे उसीसे निःसृत होती हैं—ऐसे स्वतंत्र रूपमें जैसे अनंतमेंसे एक स्वतःस्फूर्त्त संगीत निःसृत होता है।

*

अतएव, समर्पण ही कर्मयोगका साधन तथा साध्य है—अपनी समस्त चेष्टाओंका परम तथा विश्वव्यापी इच्छाशक्तिके प्रति पूर्ण समर्पण, अशेष कर्मोंका अपने अंतःस्थित किसी ऐसी नित्य सत्ताके शासनके प्रति विना किसी शर्त्त तथा नियम-मर्यादाके समर्पण, जो हमारी अहं-प्रकृतिकी साधारण कर्म-प्रणालीका स्थान ग्रहण कर लेती है। परंतु वह दिव्य परम इच्छाशक्ति क्या है तथा हमारे भ्रांत करणों एवं हमारी अंध तथा बंदीकृत बुद्धिद्वारा वह कैसे पहचानी जा सकती है?

साधारणतया हम अपने विषयमें ऐसा सोचते हैं कि हम संसारमें एक पृथक् "अहं" हैं जो एक पृथक् शरीर तथा मनोमय एवं नैतिक प्रकृतिपर शासन करता है, अपने स्व-निर्धारित कार्य पूरी स्वाधीनतासे चुनता है तथा स्वतंत्र है और इसी कारण अपने कर्मोंका एकमात्र स्वामी एवं उत्तरदायी है। यह कल्पना करना कि कैसे हमारे अंदर इस प्रतीयमान "अहं" तथा इसके साम्राज्यकी अपेक्षा अधिक सत्य, अधिक गंभीर एवं अधिक शक्ति-शाली कोई अन्य वस्तु हो सकती है साधारण मनुष्यके लिये सुगम नहीं—उस मनुष्यके लिये जिसने अपनी रचना तथा रचनाकारी तत्त्वोंपर विचार नहीं किया है तथा इनके मूलमें गंभीर दृष्टि नहीं डाली है; यह उन मनुष्योंके लिये भी कठिन है जिन्होंने चिंतन तो किया है, पर जिन्हें

आध्यात्मिक दृष्टि एवं अनुभूति प्राप्त नहीं हुई है। परंतु दृश्य-प्रपंचके यथार्थ ज्ञानकी भाँति आत्मज्ञानका भी सबसे पहला कदम यह है कि हम वस्तुओंके प्रतीयमान सत्यके मूलमें जायँ और उस वास्तविक पर निगूढ़ तथा तात्त्विक और क्रियाशील सत्यको दृढ़ निकालें जो इनकी प्रतीतियोंसे आवृत है।

यह अहं या "मैं" हमारा सारभूत भाग होना तो दूर रहा, हमारा स्थायी सत्य भी नहीं है; यह प्रकृतिकी एक रचनामात्र है, उसका एक रूप है, बोधग्राही तथा विवेककारी मनमें यह विचारका केंद्रीकरण करनेवाला एक मानसिक रूप है, हमारे प्राणमय भागोंमें यह भाव तथा संवेदनका केंद्रीकरण करनेवाला एक प्राणिक रूप है और हमारे शरीरोंमें यह शारीरिक सचेतन ग्रहणशीलताका एक रूप है जो देहतत्त्व तथा इसके व्यापारका केंद्रीकरण करता है। आंतरिक तौरपर हम जो कुछ हैं वह अहं नहीं, बल्कि चेतना, अंतरात्मा या आत्मसत्ता है। बाहरसे एवं स्थूल रूपमें हम जो कुछ हैं तथा जो कुछ करते हैं वह अहं नहीं, वरन् विश्वप्रकृति है। कर्त्री वैश्व शक्ति हमारा रूप गढ़ती है और इस प्रकार गठित हमारी प्रकृति तथा परिस्थिति एवं मनोवृत्तिके द्वारा, वैश्व शक्तियोंसे रचित हमारी व्यष्टिभावापन्न रूप-रचनाके द्वारा, हमारे कार्यों तथा उनके परिणामोंको प्रेरित वा निर्दिष्ट करती है। वास्तवमें विचार, इच्छा वा कर्म हम नहीं करते, बल्कि विचार हममें उदित होता है, इच्छाशक्ति हममें उद्भूत होती है, आवेग तथा कर्म हममें घटित होते हैं। हमारा अहंभाव प्राकृतिक चेष्टाओंके इस समस्त प्रवाहको अपने चारों ओर एकत्र कर लेता है तथा इसे अपने सम्मुख विचारार्थ उपस्थित करता है। वैश्व शक्ति किंवा विश्व-प्रकृति ही विचारकी रचना करती है, इच्छाशक्तिको बलात् आरोपित करती है और प्रेरणाका संचार करती है। हमारा शरीर, मन तथा अहं उस कार्यरत शक्ति-समुद्रकी तरंग हैं, ये उसपर शासन नहीं करते प्रत्युत उसके द्वारा शासित तथा परिचालित होते हैं। सत्य तथा आत्मज्ञानकी ओर प्रगति करते-करते साधकको एक ऐसे स्थलपर पहुँचना होगा जहाँ आत्मा अपनी दिव्यदृष्टिसंपन्न आंखें खोलती है और अहं तथा कर्म-संबंधी इस सत्यको पहचान लेती है। तब साधक यह विचार त्याग देता है कि कोई मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक "अहं" है जो कर्म करता या कर्मका संचालन करता है; वह जान जाता है कि प्रकृति एवं वैश्व प्रकृतिकी शक्ति ही अपने निश्चित गुणोंका अनुसरण करती हुई उसमें तथा सभी पदार्थों एवं प्राणियोंमें एकमात्र और अद्वितीय कर्म-कर्त्री है।

परंतु प्रकृतिके गुणोंको किसने निश्चित किया है? अथवा शक्तिकी गतियोंका उद्गम एवं अधिष्ठाता कौन है? इसके मूलमें अवस्थित है एक चेतना—अथवा एक 'चेतन'—जो इसके कर्मोंका स्वामी, साक्षी, ज्ञाता, भोक्ता, धर्त्ता तथा अनुमंता है; यह चेतना है आत्मा या पुरुष। प्रकृति हमारे अंदर कर्मको आकार देती है; पुरुष इसके अंदर या इसके पीछे रहकर उसे साक्षिभावसे देखता और अनुमति देता है तथा उसका धारण एवं भरण करता है। प्रकृति हमारे मनमें विचारकी रचना करती है; इसके अंदर या पीछे अवस्थित पुरुष उस विचारको तथा उसके अंतर्निहित सत्यको जानता है। प्रकृति कर्मका परिणाम निश्चित करती है; इसके अंदर या पीछे अवस्थित पुरुष उस परिणामको भोगता या सहता है। प्रकृति मन और तनकी रचना करती है, उनपर परिश्रम करती एवं उन्हें विकसित करती है; पुरुष उस रचना एवं विकासको धारण करता है और प्रकृतिके कार्योंके प्रत्येक पगको अनुमति देता है। प्रकृति एक संकल्पशक्तिका प्रयोग करती है जो पदार्थों एवं मनुष्योंमें कार्य करती है और पुरुष, जो करना चाहिये उसे अपनी अंतर्दृष्टिसे देखकर, उस संकल्प-शक्तिको कर्ममें प्रवृत्त करता है। यह पुरुष तलीय अहं नहीं है, बल्कि अहंके पीछे अवस्थित निश्चल-नीरव आत्मा है, शक्तिका स्रोत है, ज्ञानका उद्गम तथा ग्रहीता है। हमारी मानसिक "मैं" इस आत्मा अथवा शक्ति एवं ज्ञानकी एक मिथ्या प्रतिच्छायामात्र है। अतः यह पुरुष या भरण करनेवाला चैतन्य प्रकृतिके अखिल कर्मोंका मूल, ग्रहीता तथा आधार है, पर यह स्वयं कर्ता नहीं है। सामनेकी ओर अवस्थित प्रकृति अथवा प्रकृति-शक्ति तथा इसके मूलमें विद्यमान शक्ति अथवा चित्-शक्ति या आत्म-शक्ति—क्योंकि यही दो विश्व-जननीके आंतर तथा बाह्य रूप हैं,—उस सबकी व्याख्या कर देती हैं जो कुछ कि संसारमें किया जाता है। विश्वजननी किंवा प्रकृति-शक्ति ही एकमात्र तथा अद्वितीय कर्मकर्त्री है।

पुरुष-प्रकृति, चित्-शक्ति किंवा विश्वप्रकृतिको धारण करनेवाली आत्मा,—क्योंकि ये दोनों अपने पार्थक्यमें भी एक तथा अविभेद्य हैं,—एक साथ ही विश्वव्यापी तथा विश्वातीत शक्ति हैं। परंतु व्यक्तिमें भी कोई ऐसी सत्ता है जो मानसिक अहं नहीं है, कोई ऐसी सत्ता है जो इस महत्तर सद्वस्तुसे सारतः अभिन्न है। यह सत्ता उस एकमेव पुरुषका शुद्ध प्रतिबिंब या अंश है; यह अंतरात्मा है, पुरुष या शरीरधारी जीव है, व्यक्तिगत आत्मा या जीवात्मा है; यह शुद्ध आत्मा है जो अपने बल एवं ज्ञानको इसलिये सीमित करती प्रतीत होती है कि परात्पर तथा विश्वगत

प्रकृतिकी वैयक्तिक क्रीड़ाको आश्रय दे सके। गंभीरतम वास्तविकताके क्षेत्रमें अनंततया 'एक' अनंततया 'बहु' भी है; हम 'तत्'के प्रतिबिंब या अंशमात्र नहीं, बल्कि 'तत्' ही हैं। हमारे अहंके विपरीत, हमारा आध्यात्मिक व्यक्तित्व हमारी विश्वमयता तथा परात्परताका निषेध नहीं करता। परंतु इस समय हमारी अंतःस्थ अंतरात्मा या आत्मा विश्वप्रकृतिमें व्यष्टि-भावके निर्माणमें तल्लीन रहनेके कारण अपने-आपको अहंके विचारसे भ्रांत होने देती है। उसे इस अज्ञानसे छुटकारा पाना है, उसे जानना है कि वह परम तथा विश्वव्यापी आत्माकी एक प्रतिच्छाया या एक अंश या रूप है और विश्वकर्ममें इसकी चेतनाका एकमात्र केंद्र है। परंतु यह 'जीव पुरुष' भी कर्मोंका कर्त्ता नहीं है वैसे ही जैसे कि अहं कर्त्ता नहीं है, अथवा जैसे द्रष्टा तथा ज्ञाताकी धारक चेतना कर्त्री नहीं है। इस प्रकार, सदा-सर्वदा परात्पर तथा विश्वव्यापिनी शक्ति ही एकमात्र कर्त्री है, परंतु इसके पीछे अवस्थित है एकमेव परमदेव जो इसमेंसे युगल-शक्ति, पुरुष-प्रकृति एवं ईश्वर-शक्ति*के रूपमें प्रकट होता है। वह 'परम' इस शक्तिके रूपमें गतिशील हो जाता है और इसीके द्वारा वह विश्वमें कर्मोंका एकमात्र आरंभक और स्वामी है।

*

यदि कर्म-विषयक सत्य यही है तो सबसे पहले साधकको यह करना

---

*ईश्वर-शक्ति और पुरुष-प्रकृति बिलकुल एक ही चीज हों ऐसी बात नहीं; क्योंकि पुरुष और प्रकृति पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं, पर ईश्वर और शक्ति अपने अंदर एक-दूसरेको समाविष्ट रखते हैं। ईश्वर वह पुरुष है जो प्रकृतिको अपने अंतर्गत रखता है तथा अपने अंदर विराजमान शक्तिके सामर्थ्यसे शासन करता है। शक्ति वह प्रकृति है जो पुरुष-रूप आत्मासे युक्त है तथा ईश्वरकी इच्छाके अनुसार कार्य करती है; ईश्वरकी इच्छा उस शक्तिकी अपनी ही इच्छा है तथा अपनी गतिमें वह ईश्वरको उपस्थितिको सदा अपने संग रखती है। पुरुष-प्रकृतिका अनुभव कर्म-मार्गपर चलनेवाले जिज्ञासुके लिये अत्यंत उपयोगी होता है; क्योंकि चेतन पुरुष और शक्तिका पार्थक्य तथा शक्तिकी यांत्रिक क्रियाके प्रति पुरुषकी अधीनता हमारे अज्ञान एवं अपूर्णत्वका एक प्रबल कारण हैं। अतएव इस अनुभवसे पुरुष अपनेको प्रकृतिकी यांत्रिक प्रक्रियासे मुक्त करके स्वतंत्र हो सकता है और प्रकृतिपर प्रथम आध्यात्मिक नियंत्रण प्राप्त कर सकता है। ईश्वर-शक्ति पुरुष-प्रकृतिके संबंध और इस संबंधकी अज्ञ क्रियाके पीछे अवस्थित है और विकासके प्रयोजनके लिये इसका उपयोग करती है। ईश्वर-शक्तिका अनुभव पुरुषको उच्चतर गतिशीलता और दिव्य व्यापारमें सहयोगी बना सकता है और आध्यात्मिक प्रकृतिमें सत्ताका पूर्ण एकत्व एवं सामंजस्य साधित कर सकता है।

होगा कि वह कर्मके अहंकारमय रूपोंसे पीछे हटे तथा इस भावनासे मुक्त हो जाय कि कोई "मैं" है जो कार्य करती है। उसे यह देखना तथा अनुभव करना होगा कि जो कोई भी चीज उसमें घटित होती है वह उसके उन मानसिक तथा शारीरिक करणोंकी सुनम्य, सचेतन वा अवचेतन या कभी पराचेतन सहज प्रक्रियासे घटित होती है जो कि आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक विश्व-प्रकृतिकी शक्तियोंके द्वारा परिचालित होते हैं। उसके उपरितलपर एक व्यक्तित्व है जो चुनाव करता तथा इच्छा करता है, हार मान लेता तथा संघर्ष करता है और प्रकृतिमें अपने-आपको सुरक्षित रखने अथवा प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेका यत्न करता है। पर यह व्यक्तित्व स्वयं प्रकृतिकी ही रचना है और यह उसके द्वारा इस प्रकार शासित, परिचालित तथा निर्धारित होता है कि यह स्वतंत्र नहीं कहला सकता। यह उसमें निहित आत्माकी रचना या अभिव्यक्ति है,—यह आत्माकी अंशभूत आत्मा होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रकृतिका अंशभूत 'स्व' है, यह आत्माकी प्राकृतिक तथा प्रक्रियात्मक सत्ता है न कि उसकी आध्यात्मिक तथा शाश्वत सत्ता, यह एक अस्थायी निर्मित व्यक्तित्व है, न कि वास्तविक अमर व्यक्ति। साधकको तो वास्तविक अमर व्यक्ति बनना होगा। उसे आंतरिक तौरपर निश्चल बननेमें सफल होना होगा और बाह्य क्रियाशील व्यक्तित्वसे अपने-आपको निरीक्षकके रूपमें पृथक् कर लेना होगा। उसे अपने अंदर वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ाका अध्ययन करना होगा और इसके लिये उसे इसके पैंतरों तथा गतियोंमें आसक्त रहनेकी विमूढ़कारी अवस्थाओंसे पीछे स्थित होना होगा। इस प्रकार निश्चल, शांत, अनासक्त, आत्म-अध्ययनार्थी तथा अपनी प्रकृतिका द्रष्टा बनकर वह अनुभव करता है कि वह व्यष्टि-रूप आत्मा है जो विश्व-प्रकृतिके कर्मोंका निरीक्षण करती है, इसके परिणामोंको शांत भावसे स्वीकार करती है तथा प्राकृतिक-कर्मसंबंधी आवेगको अनुमति देती या उससे अपनी अनुमति हटा लेती है। इस समय यह आत्मा या पुरुष एक संतुष्ट दर्शकसे अधिक कुछ नहीं है, अपनी आवृत चेतनाके दबावसे यह हमारी सत्ताकी क्रिया और अभिवृद्धिपर शायद प्रभाव डालता है, किंतु अधिकांशमें अपनी शक्तियाँ या इनका कुछ भाग बाह्य व्यक्तित्वको सौंप देता है,—वास्तवमें यह इन्हें प्रकृतिको ही सौंप देता है, क्योंकि यह बाह्य 'स्व' प्रकृतिका ईश नहीं, बल्कि उसके अधीन है, अनीश है। परंतु एक बार अनावृत होकर यह अपनी स्वीकृति या निषेधको कार्यकारी बना सकता है, अपने कर्मका स्वामी बन सकता है और प्रकृतिके परिवर्तनका प्रभुत्वपूर्ण भावमें निर्धारण कर

सकता है। चाहे प्रकृतिकी अभ्यस्त गति स्थिर संस्कार और पुराने शक्ति-संग्रहके परिणाम-स्वरूप, दीर्घकालतक, पुरुषकी स्वीकृतिके बिना भी होती रहे और चाहे, पहलेसे अभ्यास न होनेके कारण, प्रकृति किसी स्वीकृत गतिका भी दृढ़तापूर्वक निषेध करती रहे, फिर भी उसे पता चलेगा कि अंतमें उसीकी स्वीकृति या अस्वीकृतिकी विजय होती है,—धीमे-धीमे, वहुत प्रतिरोधके साथ अथवा शीघ्रतापूर्वक, अपने साधनों एवं प्रवृत्तियोंको द्रुतगतिसे अनुकूल बनाते हुए,—प्रकृति अपने-आपको और अपने व्यापारोंको उसकी आंतर दृष्टि या संकल्पके द्वारा निर्दिष्ट दिशामें परिवर्तित कर लेती है। इस प्रकार साधक मानसिक नियंत्रण या अहंमूलक इच्छाशक्तिके प्रयोगके स्थानपर आंतरिक आध्यात्मिक संयम सीख जाता है जो उसे उसके अंदर काम करनेवाली प्रकृति-शक्तियोंका स्वामी बना देता है और तव वह उनका अचेतन यंत्र या जड़ दास नहीं रहता। उसके ऊपर तथा चारों ओर विराजमान है शक्ति अर्थात् जगज्जननी और यदि उसे इसकी प्रणालियोंका सत्य ज्ञान हो तथा इसमें निहित दिव्य इच्छाशक्तिके प्रति वह सच्चे भावसे समर्पण करे तो वह इससे वे सभी चीजें प्राप्त कर सकता है जिनकी आवश्यकता वा इच्छा उसकी अंतरतम आत्माको होती है। अंतमें, वह अपने तथा प्रकृतिके भीतर उस सर्वोच्च क्रियाशील आत्मासे सज्ञान हो जाता है जो उसके सव 'देखने' तथा 'जानने'का स्रोत है, और साथ ही अनुमति, स्वीकृति तथा परित्यागका भी स्रोत है। यह है महेश्वर, परात्पर देव, सर्वगत एक, ईश्वर-शक्ति जिसका उसकी आत्मा एक अंश है अर्थात् उस परम सत्ताका सत्तांश तथा उस परम शक्तिका शक्त्यंश है। हमारी शेष प्रगति उन प्रणालियोंके विषयमें हमारे ज्ञानपर निर्भर करती है जिनके अनुसार कर्मोंका स्वामी जगत्में तथा हममें अपनी इच्छाको प्रकट करता है और जिनके अनुसार वह परात्पर एवं विराट् शक्तिके द्वारा सभी कर्म संपन्न करता है।

ईश्वर अपनी सर्वज्ञतामें वह चीज देखता है जो करनी होती है। यह 'देखना' (ईक्षण) ही उसका संकल्प है, यह सर्जनक्षम शक्तिका एक रूप है। जो कुछ वह देखता है उसे उसके साथ एकीभूत सर्व-सचेतन माता अपनी क्रियाशील आत्माके अंदर ले लेती और मूर्त्तिमंत करती है और कार्यवाहिका प्रकृति-शक्ति उसे उनकी सर्वशक्तिमती सर्वज्ञताकी स्वाभाविक क्रियाके रूपमें चरितार्थ कर देती है। परंतु जो होना है और अतएव जो करना है उसके विषयमें यह अंतर्दृष्टि ईश्वरकी निज सत्तामेंसे ही उद्भूत होती है, सीधे उसकी चेतनासे तथा उसकी सत्ताके आनंदसे ही प्रवाहित

होती है, सहज-स्फूर्त्त रूपमें, जैसे सूर्यसे प्रकाश निकलता है। यह अंतर्दृष्टि मानवीय 'देखने'का प्रयास नहीं है, न ही यह कर्म एवं उद्देश्यके सत्यका अथवा प्रकृतिकी यथार्थ माँगका कष्टसाध्य मानवीय ज्ञान है। जब हमारी व्यष्टिगत आत्मा अपनी सत्ता तथा ज्ञानमें ईश्वरके साथ पूर्णतः एकीभूत हो जाती है तथा आद्या शक्ति या परात्परा मातासे साक्षात् संबंध स्थापित कर लेती है, तब हममें भी परम इच्छाशक्ति उच्च एवं दिव्य प्रकारसे उद्भूत हो सकती है,—एक ऐसी वस्तुके रूपमें उद्भूत हो सकती है जो विश्वप्रकृतिकी सहज-स्फूर्त्त क्रियासे संपन्न होनी निश्चित है तथा संपन्न होती ही है। तब कोई कामना, कोई उत्तरदायित्व, कोई प्रतिक्रिया नहीं रहती; आश्रयदायी तथा सर्वतोव्यापी एवं अंतर्वासी भगवान्‌की शांति, निश्चलता, ज्योति एवं शक्तिमें ही सब कुछ घटित होता है।

परंतु तादात्म्यकी यह सर्वोच्च उपलब्धि साधित होनेसे पहले भी परम इच्छाशक्तिका कोई रूप हमारे अंदर एक अलंघ्य प्रेरणा एवं ईश्वर-प्रेरित क्रियाके रूपमें प्रकट हो सकता है। तब हम एक स्वयंस्फूर्त्त आत्मनिर्धारक शक्तिके द्वारा कर्म करते हैं, पर प्रयोजन और उद्देश्यका पूर्णतर ज्ञान बादमें ही उत्पन्न होता है। अथवा कर्मका आवेग अंतःप्रेरणा या संबोधिके रूपमें भी प्रकट हो सकता है, पर वह प्रकट होता है मनकी अपेक्षा कहीं अधिक हृदय एवं शरीरमें ही। यहाँ अमोघ दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, पर पूर्ण एवं यथार्थ ज्ञान अभी भी स्थगित रहता है और जब आता है तो देरमें। परंतु भागवत इच्छाशक्ति करणीय कार्यके एक प्रकाशमान अनन्य आदेश अथवा समग्र बोध या एक अविच्छिन्न बोध-शृंखलाके रूपमें भी हमारे संकल्प या विचारके भीतर अवतरित हो सकती है अथवा वह ऊपरसे एक ऐसे निर्देशके रूपमें भी उतर सकती है जिसे निम्नतर अंग सहज भावसे क्रियान्वित करते हैं। जब योग अभी अपरिपक्व होता है, केवल कुछ-एक कार्य ही इस ढंगसे किये जा सकते हैं, अथवा केवल एक सामान्य क्रिया ही इस प्रकार प्रवृत्त हो सकती है और वह भी केवल उच्चता और ज्ञान-दीप्तिकी अवस्थाओंमें ही। जब योगमें पूर्णता प्राप्त होती है तो कर्ममात्र इसी कोटिका हो जाता है। निःसंदेह, इस वृद्धिशील प्रगतिको हम तीन अवस्थाओंमें विभक्त कर सकते हैं जिनके द्वारा सर्वप्रथम, हमारी व्यक्तिगत इच्छाशक्ति अपनेसे परतर परम इच्छाशक्ति या चिच्छक्तिके द्वारा यदा-कदा या बहुधा आलोकित या प्रेरित होती है, बादमें यह उसे निरंतर अपने स्थानपर प्रतिष्ठित करती जाती है और अंतमें यह उस दिव्य बल-क्रियाके साथ एकीभूत तथा उसमें निमज्जित हो जाती है। प्रथम अवस्था वह है

जब हम अभी बुद्धि, हृदय तथा इंद्रियोंके द्वारा ही संचालित होते हैं; इन बुद्धि आदिको दिव्य स्फुरणा तथा पथप्रदर्शनकी खोज अथवा प्रतीक्षा करनी होती है और उसे ये सदा ही उपलब्ध अथवा ग्रहण नहीं कर पाते। दूसरी अवस्था वह है जब उच्च, प्रकाशित या अंतर्ज्ञानात्मक अध्यात्मभावित मन उत्तरोत्तर मानवीय बुद्धिका स्थान ग्रहण करता जाता है और आंतर चैत्य हृदय बाह्य मानवीय हृदयका तथा विशुद्ध एवं निःस्वार्थ प्राणिक बल इंद्रियोंका स्थान लेता जाता है। तीसरी अवस्था वह है जब हम अध्यात्म-भावापन्न मनसे भी ऊपर उठकर अतिमानसिक स्तरोंपर पहुँच जाते हैं।

इन तीनों ही अवस्थाओंमें मुक्त कर्मका मूल स्वरूप एक ही होता है,—यह प्रकृतिका एक स्वतःस्फूर्त्त व्यापार होता है, किंतु अब यह पूर्ववत् अहंके द्वारा या उसके लिये नहीं प्रत्युत परम पुरुषकी इच्छाके अनुसार तथा उसके भोगके लिये संपन्न किया जाता है। और भी ऊँचे स्तरपर यह व्यापार निरपेक्ष तथा विश्वमय परब्रह्मका परम सत्य बन जाता है, जिसे अब और हमारी निम्नतर प्रकृतिकी स्खलनशील, अज्ञ और सर्व-विकारक शक्ति अपने अपूर्ण बोध और अपनी हीन या विकृत कार्यान्वितिके द्वारा चरितार्थ नहीं करती, बल्कि सर्वज्ञ एवं परात्पर विश्वजननी ही व्यष्टिकी आत्माके द्वारा व्यक्त करती है और उसीकी प्रकृतिके द्वारा सचेतन रूपमें कार्यान्वित भी करती है। ईश्वरने अपने-आपको और अपनी परम प्रज्ञा एवं नित्य चेतनाको अज्ञ प्रकृति-शक्तिमें छुपा रखा है और इसे अनुमति देता है कि यह व्यक्तिको, उसकी सहायताके द्वारा, अहंके रूपमें प्रचालित करे। अपने आशयोंको अधिक श्रेष्ठ बनाने और अधिक शुद्ध आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्य अर्द्धप्रबुद्ध एवं अपूर्ण ढंगसे जो-जो प्रयत्न करता है उन सबके रहते भी प्रकृतिकी यह निम्नतर क्रिया प्रायः प्रधान बनी रहती है। हमारे अंदर प्रकृतिके पिछले कार्योंकी जो शक्ति संचित है, उसकी जो अतीत रचनाएँ एवं चिररूढ़ संस्कार निहित हैं उनके कारण हमारा पूर्णता-प्राप्तिका मानवीय प्रयत्न विफल हो जाता है, अथवा यह बहुत ही अधूरे ढंगसे आगे बढ़ता है। यह सफलताके सच्चे और गगनचुंबी शिखरपर केवल तभी आरोहण करता है जब हमारे ज्ञान या शक्तिसे अधिक महान् ज्ञान या शक्ति हमारे अज्ञानका आवरण भेद डालती है और हमारी वैयक्तिक इच्छाशक्तिको परिचालित करती अथवा अपने हाथमें ले लेती है। कारण, हमारी मानवीय इच्छाशक्ति एक पथभ्रष्ट एवं भ्रांतिशील रश्मि है जो परम इच्छाशक्तिसे विच्छिन्न हो गयी है। निम्नतर क्रियामेंसे उच्चतर ज्योति तथा शुद्धतर शक्तिमें शनैः-शनैः उदित होनेका काल पूर्णताके

प्रयासीके लिये मृत्युके अंधकारकी उपत्यका होता है; यह परीक्षाओं, यातनाओं, दुःखों, अज्ञानावरणों, स्खलनों, भ्रांतियों, गर्त्तजालोंसे संकुल एक भीषण पथ होता है। इस अग्नि-परीक्षाको संक्षिप्त तथा हलका करनेके लिये अथवा इसमें दिव्य आनंदका संचार करनेके लिये अपेक्षित है—श्रद्धा, और मनका उस ज्ञानके प्रति वृद्धिशील समर्पण जो अपनेको भीतरसे हमपर आरोपित करता है तथा सबसे अधिक अपेक्षित है सच्ची अभीप्सा और यथार्थ, अविचल एवं निष्कपट अभ्यास। गीता कहती है, "निराशारहित हृदयके साथ, स्थिरचित्त होकर, योगका अभ्यास करो";* क्योंकि पथकी प्रारंभिक अवस्थामें हमें चाहे आंतरिक कलह एवं दुःखके तीक्ष्ण गरलके बड़े लंबे घूंट पीने पड़ते हैं, तो भी इस प्याले का अंतिम स्वाद है—अमृतत्वकी सुधाकी मधुरिमा तथा नित्य आनंदकी सोम-सुरा।

* स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा। गीता ६-२३

नवाँ अध्याय

समताकी प्राप्ति और अहंका नाश

समग्र आत्म-निवेदन, पूर्ण समता, अहंका निर्मम उन्मूलन, प्रकृतिका उसकी अज्ञानमय कार्यशैलियोंसे रूपांतरकारी उद्धार—ये सब सोपान हैं जिनसे भागवत इच्छाशक्तिके प्रति समस्त सत्ता एवं प्रकृतिका समर्पण अर्थात् सच्चा, सर्वांगीण एवं अशेष आत्मदान निष्पन्न तथा सिद्ध किया जा सकता है। सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है अपने कर्मोंमें आत्म-निवेदनकी पूर्ण भावना; इसे पहले-पहल सारी सत्तामें व्याप्त एक सतत संकल्पका रूप धारण करना होगा, फिर इसे उसकी एक अंतरीय आवश्यकता बनना होगा, अंतमें इसे उसका एक स्वयं-प्रेरित पर सजीव एवं सचेतन अभ्यास तथा हममें, सभी प्राणियोंमें एवं विश्वके सभी व्यापारोंमें विद्यमान परमदेव एवं निगूढ़ शक्तिके प्रति यज्ञरूपमें सब कर्म करनेका एक सहज स्वभाव ही बन जाना होगा। जीवन इस यज्ञकी वेदी है, कर्म आहुति हैं, वे परात्पर और विश्वमय शक्ति एवं उपस्थिति, जिनका हमें अभी ज्ञान या साक्षात्कार तो प्राप्त नहीं हुआ है पर अनुभूति या झाँकी मिली है, हमारे इष्टदेव हैं जिनके प्रति हमारे कर्म अर्पित होते हैं। इस यज्ञ या आत्म-निवेदनके दो पहलू हैं; एक तो स्वयं कर्म और दूसरा वह भाव जिससे उसे संपन्न किया जाता है अर्थात् जो कुछ भी हम देखते, सोचते और अनुभव करते हैं उस सबमें अपने कर्मोंके स्वामीकी पूजाका भाव।

अपने अज्ञानमें हम जो अच्छे-से-अच्छा प्रकाश साधिकार प्राप्त कर सकते हैं उसीसे प्रारंभमें हमारा कर्म भी निर्धारित होता है। उसीको हम करणीय कर्म समझते हैं। कर्मका मूलतत्त्व तो एक ही है, कर्मका रूप चाहे किसी भी हेतुसे नियत क्यों न हो, चाहे वह हमारी कर्तव्य-विषयक भावनासे नियत हो या अपने सजातीयोंके प्रति हमारी सहानुभूतिसे, अथवा दूसरोंके लिये या संसारके लिये क्या हितकर है इस विषयमें हमारी धारणासे नियत हो किंवा एक ऐसे व्यक्तिके आदेशसे जिसे हम मानव गुरु मानते हैं, जो हमसे अधिक ज्ञानी है तथा हमारे लिये कर्ममात्रके उस स्वामीका प्रतिनिधि है जिसमें हम आस्था तो रखते हैं, पर जिसे हम अभीतक जानते नहीं। परंतु कर्म-यज्ञका मूलतत्त्व हमारे कर्मोंमें अवश्य होना चाहिये

और वह मूलतत्त्व है अपने कर्मोंके फलकी समस्त कामनाका समर्पण, कर्मके जिस परिणामके लिये हम अवतक भी हाथ-पाँव मारते हैं उसके प्रति आसक्तिमात्रका परित्याग। कारण, जवतक हम फलमें आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं तवतक यज्ञ भगवान्‌के प्रति नहीं वल्कि हमारे अहंके प्रति ही अर्पित होता है। हम भले ही दूसरी तरह सोचें, पर हम अपनेको धोखा दे रहे होते हैं; भगवान्-विषयक अपने विचारकी, कर्तव्य-विषयक अपनी भावनाकी, अपने सजातीयोंके प्रति सहानुभूतिकी, संसारके या दूसरोंके हितके संवंधमें अपनी धारणाकी, गुरुके प्रति अपने आज्ञापालनतककी ओटमें हम अपनी अहंकारमय तृप्तियों तथा अभिरुचियोंको छिपाये होते हैं तथा अपनी प्रकृतिमेंसे कामनामात्रका उन्मूलन करनेकी हमसे जो माँग की जाती है उससे वचनेके लिये इन सभी चीजोंको दिखावटी ढालके रूपमें प्रयुक्त कर रहे होते हैं।

योगकी इस अवस्थामें और इसकी संपूर्ण प्रक्रियामें भी कामनाका यह रूप एवं अहंका यह आकार एक ऐसा शत्रु होता है जिसके विरुद्ध हमें सदैव निर्निद्र जागरूकताके साथ सावधान रहना होगा। जव हम इसे अपने अंदर छुपे हुए और सव प्रकारके भेस धारण करते हुए पायें तो हमें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये, वल्कि इसके सभी छद्मरूपोंके पीछे इसे ढूंढ़ निकालनेके लिये सजग रहना चाहिये और इसके प्रभावको दूर करनेके लिये निष्ठुर। इस गतिका प्रकाशप्रद शब्द गीताकी यह निर्णायक पंक्ति है, "कर्म करनेमें तेरा अधिकार है, परंतु उसके फलपर कभी, किसी भी अवस्थामें नहीं।"* फल तो केवल कर्ममात्रके स्वामीका ही है; हमारा इससे इतना ही मतलव है कि हम सच्चाई और सावधानीके साथ कर्म करके उसका फल तैयार करें और यदि यह प्राप्त हो जाय तो इसे इसके दिव्य स्वामीको सौंप दें। जैसे हमने फलके प्रति आसक्तिका त्याग किया है वैसे ही हमें कर्मके प्रति आसक्ति भी त्यागनी होगी। एक काम, एक कार्यक्रम या एक कार्यक्षेत्रके स्थानपर दूसरेको ग्रहण करने अथवा, यदि प्रभुका स्पष्ट आदेश हो, तो सव कर्मोंको छोड़ देनेके लिये भी हमें प्रतिक्षण तैयार रहना होगा। अन्यथा हम कर्म प्रभुके लिये नहीं करते, वल्कि कर्मसे मिलनेवाली निजी संतुष्टि एवं प्रसन्नताके लिये अथवा राजसिक प्रकृतिको कर्मकी आवश्यकता होनेके कारण या अपनी रुचियोंकी पूर्त्तिके लिये करते हैं; पर ये सव तो अहंके पड़ाव और अड्डे हैं। हमारे जीवनकी साधारण

---

* कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता २-४७

चेष्टाओंके लिये ये कैसे भी आवश्यक क्यों न हों, फिर भी आध्यात्मिक चेतनाकी प्रगतिमें इनका त्याग करना होगा, इनके स्थानपर इनके दिव्य प्रतिरूपोंकी प्रतिष्ठा करनी होगी। आनंद, अर्थात् निर्वैयक्तिक एवं ईश्वर-प्रेरित आनंद अप्रकाशित प्राणिक सुख-संतोषको और भागवत शक्तिका आनंदपूर्ण आवेग राजसिक आवश्यकताको वहिष्कृत अथवा पदच्युत कर देगा। अपनी रुचियोंकी पूर्त्ति करना हमारी कोई आवश्यकता या उद्देश्य नहीं रहेगा, इसके स्थानपर स्वतंत्र आत्मा और प्रकाशयुक्त प्रकृतिके कर्ममें एक स्वाभाविक क्रियाशील सत्यके द्वारा भगवत्संकल्पकी परिपूर्त्ति करना ही हमारा उद्देश्य हो जायगा। अंतमें, जैसे कर्मफल तथा कर्मके प्रति आसक्ति हृदयसे वाहर निकाल दी गयी है, वैसे ही अपने कर्त्ता होनेके विचार तथा भावके प्रति अंतिम दृढ़ आसक्ति भी छोड़नी होती है; भगवती शक्तिको अपने ऊपर तथा भीतर इस रूपमें जानना एवं अनुभव करना होता है कि वही सच्ची तथा एकमात्र कर्त्री है।

*

कर्म तथा उसके फलके प्रति आसक्तिका परित्याग मन एवं अंतरात्मामें पूर्ण समताकी प्राप्तिके लिये एक विशाल गतिका प्रारंभ है; यदि हमें आत्मामें पूर्णता प्राप्त करनी है तो इस समताको सर्वतोव्यापी वनना होगा। कारण, कर्मोंके स्वामीकी पूजा यह माँग करती है कि हम अपनेमें, सव वस्तुओं तथा सभी घटनाओंमें उनके स्वामीको स्पष्ट रूपसे पहचानें तथा हर्षपूर्वक स्वीकार करें। समता इस पूजाका प्रतीक है; यह आत्माकी वेदी है जिसपर सच्चा यजन-पूजन किया जा सकता है। ईश्वर सर्व-भूतोंमें समान रूपसे विराजमान हैं, अपने-आप और दूसरोंमें, ज्ञानी और अज्ञानीमें, मित्र और शत्रुमें, मनुष्य और पशुमें, पापी और पुण्यात्मामें हमें किसी प्रकारका भी तात्त्विक भेद नहीं करना चाहिये। हमें किसीसे घृणा नहीं करनी चाहिये, किसीको नीच नहीं समझना चाहिये, किसीसे जुगुप्सा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सभीमें हमें उस एकमेवके दर्शन करने हैं जो स्वेच्छापूर्वक प्रकट या प्रच्छन्न है। ईश्वर पदार्थों तथा व्यक्तियोंमें जो भी आकार धारण करना चाहता है तथा उनकी प्रकृतिमें जो भी कर्म करना चाहता है उसके लिये जो कुछ सर्वोत्तम है उसके ज्ञानके अनुसार और साथ ही अपनी इच्छाके अनुसार वह किसी एकमें कम प्रकट है या किसी दूसरेमें अधिक, अथवा कुछ दूसरोंमें गुप्त तथा पूर्णतः विकृत है। सव कुछ हमारी आत्मा ही है, वही एक आत्मा जिसने अनेक रूप धारण

कर रखे हैं। घृणा-द्वेष और अवज्ञा-वितृष्णा, मोह-आसक्ति और राग-अनुराग किसी विशेष अवस्थामें स्वाभाविक, आवश्यक एवं अनिवार्य होते हैं; ये हमारे अंदर प्रकृतिके चुनावका साथ देते हैं अथवा उसके करने और बनाये रखनेमें सहायक होते हैं। परंतु कर्मयोगीके लिये तो ये एक पुरानी वस्तुके अवशेष होते हैं, मार्गके विघ्न और अज्ञानकी प्रक्रिया होते हैं और जैसे वह प्रगति करता है, ये उसकी प्रकृतिसे झड़कर अलग हो जाते हैं। शिशु-आत्माको अपने विकासके लिये इनकी आवश्यकता होती है; परंतु दिव्य विकासमें एक प्रौढ़ आत्मासे ये पृथक् हो जाते हैं। दैवी प्रकृतिमें, जिसकी ओर हमें आरोहण करना है, एक वज्रोपम यहाँतक कि विनाशक कठोरता हो सकती है, परंतु घृणा नहीं; दिव्य व्यंग्य हो सकता है किंतु तिरस्कार नहीं; शांत, स्पष्टदर्शी और प्रबल निराकरण हो सकता है पर घृणा और जुगुप्सा नहीं। जिस वस्तुका हमें विनाश करना है उससे भी घृणा नहीं करनी होगी और यह मानना ही होगा कि वह भी उस सनातनकी ही एक प्रच्छन्न एवं अस्थायी गति है।

और, क्योंकि सब वस्तुएँ अभिव्यक्तिगत आत्मा ही हैं, हमें कुरूप तथा सुन्दर, पंगु तथा पूर्ण, सभ्य तथा असभ्य, रुचिकर तथा अरुचिकर, शुभ तथा अशुभके प्रति आत्मिक समता धारण करनी होगी। यहाँ भी घृणा, अवज्ञा एवं जुगुप्सा नाममात्र नहीं होगी, वरंच इनके स्थानपर होगी वह समदृष्टि जो सब वस्तुओंको उनके सत्य स्वरूप तथा नियत स्थानमें देखती है। कारण, हमें जानना चाहिये कि सभी वस्तुएँ यथासंभव उत्तम रीतिसे या किसी अपरिहार्य त्रुटिके साथ, अपने लिये अभिमत परिस्थितियोंमें, अपनी प्रकृतिकी तात्कालिक अवस्था या इसके व्यापार या विकासके लिये संभवनीय ढंगसे, भगवान्‌के किसी ऐसे सत्य या तथ्य अथवा उसकी शक्ति या शक्यताको ही प्रकाशित या आच्छादित और विकसित या विकृत करती हैं जो वर्द्धनशील अभिव्यक्तिमें अपनी उपस्थितिके द्वारा वस्तुओंकी वर्तमान संपूर्ण समष्टिके हित और अंतिम परिणामकी पूर्णताके लिये आवश्यक होती है। उसी सत्यकी हमें क्षणिक अभिव्यक्तिके पीछे खोज एवं उपलब्धि करनी होगी। तब हम प्रतीतियोंसे और अभिव्यक्तिकी त्रुटियों या विकृतियोंसे अवरुद्ध न होकर उस भगवान्‌की पूजा कर सकेंगे जो अपने आवरणोंके पीछे सदा निष्कलुष, शुद्ध, सुन्दर और परिपूर्ण है। इसमें संदेह नहीं कि सभी कुछ बदल डालना है, कुरूपताका नहीं, बल्कि दिव्य सुन्दरताका वरण करना है, अपूर्णताको अपना विश्राम-स्थल नहीं मानना है, वरन् पूर्णताके लिये प्रयास करना है, अशिवको नहीं, बल्कि परम शिवको

अपना सार्वभौम लक्ष्य बनाना है। परंतु हम जो कुछ भी करें उसे आध्यात्मिक समझ तथा ज्ञानके साथ करना होगा; हमें केवल दिव्य शुभ, सौंदर्य, पूर्णत्व एवं हर्षकी प्राप्तिके लिये ही चेष्टा करनी होगी, इनके मानवीय मानोंकी प्राप्तिके लिये नहीं। यदि हममें समता नहीं है, तो यह इस बातका चिह्न है कि अविद्या अभीतक हमारे पीछे लगी है; हम वास्तवमें कुछ भी नहीं समझ पावेंगे और यह संभव ही नहीं वरन् निश्चित-सा है कि तब हम पुरानी अपूर्णताका नाश केवल दूसरीको जन्म देनेके लिये ही करेंगे; क्योंकि हम अपने मानव-मन तथा कामनामय पुरुषकी चीजोंको दिव्य वस्तुओंकी स्थानापन्न बना रहे हैं।

समताका अर्थ कोई नया अज्ञान अथवा अंधता नहीं है; यह हमसे दृष्टिके धुंधलेपनकी तथा समस्त विविधताके अंतकी माँग नहीं करती और न इसे ऐसा करनेकी आवश्यकता ही है। भेदका अस्तित्व है ही, अभिव्यक्तिकी विविधता भी विद्यमान है और इस विविधताको हम खूब अच्छी तरह समझेंगे,—पहले जब हमारी दृष्टि पक्षपातपूर्ण तथा भ्रांतिशील प्रेम और घृणासे, स्तुति और निंदासे, सहानुभूति और वैर-विरोधसे तथा राग और द्वेषसे तिमिराच्छन्न थी तब हम इसे जितना समझ पाते थे उसकी अपेक्षा अब बहुत अधिक ठीक रूपमें समझ पायेंगे। परंतु इस विविधताके मूलमें हम सदा उस परिपूर्ण तथा निर्विकार ब्रह्मको ही देखेंगे जो इसके अंदर विराजमान है और किसी भी विशिष्ट अभिव्यक्तिके—चाहे वह हमारे मानवीय मानदंडोंको सुडौल एवं पूर्ण प्रतीत होती हो या बेडौल एवं अपूर्ण और चाहे वह मिथ्या एवं अशुभ ही क्यों न प्रतीत होती हो—ज्ञानपूर्ण प्रयोजन किंवा दिव्य आवश्यकताको हम अनुभव करेंगे और जानेंगे अथवा यदि यह हमसे छिपी हुई हो तो कम-से-कम इसमें विश्वास अवश्य करेंगे।

इसी प्रकार हम दुःखदायी वा सुखदायी सभी घटनाओंके प्रति, जय और पराजय, मान और अपमान, यश और अपयश तथा सौभाग्य और दुर्भाग्यके प्रति मन तथा आत्माकी ऐसी ही समता धारण करेंगे। कारण, सभी घटनाओंमें हम अखिल कर्मों तथा फलोंके स्वामीकी इच्छाके दर्शन करेंगे तथा उन्हें भगवान्की विकासशील अभिव्यक्तिके सोपान अनुभव करेंगे। देखनेवाली अंदरकी आँख जिनकी खुली हुई है उनके समक्ष भगवान् अपने-आपको शक्तियों तथा उनकी क्रीड़ा एवं परिणामोंमें और पदार्थों एवं प्राणियोंमें प्रकट करता है। सब वस्तुएँ एक दिव्य परिणतिकी ओर बढ़ रही हैं; हर्ष तथा संतोषकी भाँति प्रत्येक अनुभव, दुःख एवं

अभाव भी वैश्व गतिको, जिसे समझना तथा संपुष्ट करना हमारा कर्त्तव्य है, पूरा करनेमें एक आवश्यक कड़ी होता है। विद्रोह, निंदा या चीख-पुकार हमारी अपरिष्कृत एवं अज्ञानयुक्त अंध-प्रवृत्तियोंका आवेग होती है। अन्य प्रत्येक वस्तुकी तरह विद्रोहके भी लीलामें अनेक उपयोग हैं, यहाँतक कि वह दिव्य विकासके यथासमय और यथास्थिति संपन्न होनेके लिये आवश्यक, सहायक तथा विहित है; किंतु अज्ञानमय विद्रोहकी चेष्टा आत्माकी बाल्यावस्था या उसके अप्रौढ़ यौवनसे संबंध रखती है। परिपक्व आत्मा दोषारोपण नहीं करती, बल्कि समझने तथा अधिकृत करनेका यत्न करती है, चीख-पुकार नहीं मचाती, बल्कि स्वीकार कर लेती है या सुधरने तथा पूर्ण बननेका प्रयास करती है, अंदरसे विद्रोह नहीं करती, वरन् आज्ञापालन करने और चरितार्थ तथा रूपांतरित करनेकी कोशिश करती है। सुतरां, हम स्वामीके हाथोंसे सभी वस्तुओंको सम आत्माके साथ ग्रहण करेंगे। जबतक दिव्य विजयका मुहूर्त्त नहीं आ जाता तबतक हम असफलताको भी एक प्रसंगके रूपमें उसी प्रकार शांतिपूर्वक स्वीकार करेंगे जिस प्रकार सफलताको। दारुणतम पीड़ा और दुःख-कष्टसे भी, यदि विधिके विधानमें वे हमें प्राप्त हों, हमारी आत्माएँ, मन और तन चलायमान नहीं होंगे, और न ये तीव्र-से-तीव्र हर्ष एवं सुखसे ही अभिभूत होंगे। इस प्रकार अत्यंत संतुलित होकर, सभी वस्तुओंके साथ सम शांतिसे संपर्कमें आते हुए हम स्थिरतापूर्वक अपने मार्गपर बढ़ते जायँगे जबतक कि हम एक अधिक ऊँची अवस्थाके लिये तैयार नहीं हो जाते और परम एवं विराट् आनंदमें प्रवेश नहीं कर पाते।

*

यह समता सुदीर्घ अग्नि-परीक्षा तथा धीर आत्म-साधनाके बिना अधिगत नहीं हो सकती। जबतक कामना प्रबल होती है तबतक निस्तब्धताकी तथा कामनाकी थकावटकी घड़ियोंको छोड़कर समता किंचित् भी प्राप्त नहीं हो सकती, और तब यह, संभवतः, सच्ची शांति तथा तात्त्विक आध्यात्मिक एकता होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक निष्क्रिय उदासीनता, या कामनाकी ठिठक ही होगी। इसके अतिरिक्त, इस साधनाके या आत्मिक समताके इस विकासके कुछ-एक आवश्यक काल एवं क्रम होते हैं। साधारणतया हमें सहिष्णुताकी अवस्थासे प्रारंभ करना होता है; क्योंकि हमें सब स्पर्शोंका सामना करना, उन्हें झेलना तथा आत्मसात् करना सीखना है। अपनी नस-नसको हमें यह सिखाना होगा कि जो चीज दुःख देती

तथा घृणा पैदा करती है उससे यह झिझके नहीं और जो वस्तु प्रिय लगती तथा आकृष्ट करती है उसकी ओर उत्सुकतापूर्वक लपके नहीं, वरंच प्रत्येक वस्तुको स्वीकार करे, उसका सामना करे, उसे सहन करे तथा वशमें करे। सभी स्पर्शोंको सहनेके लिये हमें सशक्त होना चाहिये, केवल उन्हींको नहीं जो हमारे लिये विशिष्ट और वैयक्तिक हों, वरन् उन्हें भी जो हमारे चारों ओरके तथा ऊपर या नीचेके लोकों एवं उनके निवासियोंके साथ हमारी सहानुभूति या संघर्षसे हमें प्राप्त हों। अपने ऊपर होनेवाली मनुष्यों, पदार्थों और शक्तियोंकी क्रियाको तथा अपने साथ उनके संघर्षणको, देवताओंके दवाव और असुरोंके आक्रमणोंको हम शांत भावसे सहन करेंगे। अपनी आत्माकी अक्षुब्ध गहराइयोंमें हम उस सवका सामना करेंगे और उसे अपने अंदर पूर्ण रूपसे निमज्जित कर लेंगे जो कुछ कि आत्माके अनंत अनुभवके रास्ते हमारे सामने संभवतः आ सकता है। यह समताकी तैयारीका तितिक्षामय काल है, यद्यपि यह इसकी एक सर्वथा प्रारंभिक अवस्था है तथापि यह वीरतापूर्ण काल है। परंतु शरीर और हृदय एवं मनकी इस दृढ़ सहिष्णुताको भागवत इच्छाशक्तिके प्रति आध्यात्मिक अधीनताके सुपुष्ट भावका सहारा देना होगा; इस जीते-जागते पुतलेको, अपनी पूर्णताको गढ़नेवाले भागवत हस्तके स्पर्शके प्रति, दुःखमें भी, नत होना होगा—कठोर वा साहसपूर्ण सहमतिपूर्वक ही नहीं, अपितु ज्ञानपूर्वक अथवा उत्सर्गके भावमें। ईश्वर-प्रेमीकी ज्ञानपूर्ण, भक्तिपूर्ण अथवा यहाँतक कि करुणापूर्ण तितिक्षा भी संभवनीय है और इस प्रकारकी तितिक्षा उस निरी वर्वर और स्व-निर्भर सहिष्णुतासे अधिक अच्छी होती है जो ईश्वरके इस आधारको अत्यंत कठोर वना सकती है; क्योंकि इस प्रकारकी तितिक्षा एक ऐसी शक्ति तैयार करती है जो ज्ञान और प्रेमको धारण कर सकती है; इसकी स्थिरता एक ऐसी गभीरतः प्रेरित शांति होती है जो सहज ही आनंदमें परिणत हो जाती है। उत्सर्ग और तितिक्षाके इस कालका लाभ यह होता है कि हमें समस्त आघातों और संपर्कोंका सामना करनेवाला आत्म-वल प्राप्त हो जाता है।

इसके वाद उस उच्चासीन तटस्थता एवं उदासीनताका काल आता है जिसमें आत्मा हर्ष और विषादसे मुक्त हो जाती है और सुखकी लालसाके पाशसे तथा दुख:दर्दके शूलोंके अंधेरे वंधनसे छूट जाती है। सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियोंपर, अपने और दूसरोंके सभी विचारों, भावों, संवेदनों और कार्योंपर आत्मा ऊपरसे अपनी दृष्टि डालती है, पर वह स्वयं अस्पृष्ट एवं निर्विकार रहती है और इन चीजोंसे चलायमान नहीं होती।

यह समताकी तैयारीका चिंतनात्मक काल है, एक विशाल तथा अतिमहान् गति है। परंतु इस उदासीनताको, कर्म तथा अनुभवसे निष्क्रिय पराङमुखताके रूपमें स्थायी नहीं हो जाना चाहिये; यह व्याकुलता, विरक्ति तथा अरुचिसे उत्पन्न घृणा-रूप नहीं होनी चाहिये, न ही यह निराश या असंतुष्ट कामनाकी ठिठक या उस पराजित एवं असंतुष्ट अहंकी उद्विग्नता होनी चाहिये जो अपने रागयुक्त लक्ष्योंसे बलात् पीछे हटा दिया गया है। पीछे हटनेकी ये चेष्टाएँ अपक्व आत्मामें अवश्यमेव प्रकट होती हैं और आतुर एवं कामना-प्रचालित प्राणिक प्रकृतिको निरुत्साहित करके ये एक प्रकारसे प्रगतिमें सहायक भी हो सकती हैं, किंतु ये वह पूर्णता नहीं हैं जिसके लिये हम पुरुषार्थ कर रहे हैं। जिस उदासीनता या तटस्थताकी प्राप्तिके लिये हमें प्रयत्न करना होगा वह है वस्तुओंके स्पर्शोंसे परे ऊर्ध्व-अवस्थित* आत्माकी प्रशांत उच्चता; यह उन स्पर्शोंको देखती तथा स्वीकार या अस्वीकार करती है, पर अस्वीकृतिकी अवस्थामें चलायमान नहीं होती और स्वीकृतिसे वशीकृत नहीं हो जाती। यह अपने-आपको उस प्रशांत आत्मा किंवा आत्म-तत्त्वके निकट और उससे संबद्ध तथा एकमय अनुभव करने लगती है जो स्वयंभू है और प्रकृतिके व्यापारोंसे पृथक् है, पर जो विश्वकी गति-चेष्टासे अतीत, शांत एवं अचल सद्वस्तुका एक अंश रहकर या उसमें निमज्जित होकर उन व्यापारोंको आश्रय देता तथा संभव बनाता है। उच्च अतिक्रमणके इस कालके फलस्वरूप एक ऐसी आत्मिक शांति प्राप्त होती है जो जागतिक गतिकी मृदुल हिलोरों अथवा तूफानी तरंगों और लहरोंसे आंदोलित और उद्वेलित नहीं होती।

यदि हम आंतर परिवर्तनकी इन दो अवस्थाओंमेंसे किसीमें भी बद्ध या अवरुद्ध हुए बिना इन्हें पार कर सकें, तो हम उस महत्तर दिव्य समतामें प्रवेश पा लेंगे जो आध्यात्मिक उत्साह तथा शांत हर्षावेशको धारण करनेमें समर्थ है और जो पूर्णताप्राप्त आत्माकी एक आनंदमयी, सब कुछ समझने तथा सब कुछ अधिकृत करनेवाली समता है,—उसकी सत्ताकी एक ऐसी प्रगाढ़ तथा सम विशालता एवं परिपूर्णता है जो सब वस्तुओंका आलिंगन करती है। यह सर्वोच्च अवस्था है और इसे प्राप्त करनेका पथ भगवान् तथा विश्वजननीके प्रति पूर्ण आत्मदानके हर्षमेंसे होकर जाता है। कारण, शक्ति तब एक आनंदपूर्ण प्रभुत्वसे सुशोभित होती है, शांति सघन होकर आनंदमें परिणत हो जाती है, तब दिव्य स्थिरताकी संपद्को उन्नीत करके

* या उदासीन।

दिव्य गतिकी संपद्‌का आधार बना दिया जाता है। परंतु यदि यह महत्तर पूर्णता प्राप्त होनी है तो आत्माकी उस तटस्थ उदासीनताको, जो पदार्थों, व्यक्तियों, गतियों और शक्तियोंके प्रवाहपर ऊपरसे दृक्पात करती है, परिवर्तित होना होगा और दृढ़ तथा शांत नमन और सबल एवं गंभीर समर्पणके एक नये भावमें परिणत हो जाना होगा। यह नमन तब 'हरि-इच्छा'का नहीं, बल्कि सहर्ष स्वीकृतिका भाव होगा; क्योंकि तब दुःख झेलने अथवा भार या कष्ट सहनेका भाव तनिक भी नहीं होगा; प्रेम और आनंद तथा आत्मदानका हर्ष ही इसका उज्ज्वल ताना-बाना होगा। यह समर्पण केवल उस दिव्य संकल्पके प्रति ही नहीं होगा जिसे हम अनुभव और स्वीकार एवं शिरोधार्य करते हैं, वरन् इस संकल्पमें निहित उस दिव्य प्रज्ञाके प्रति भी होगा जिसे हम अंगीकार करते हैं और इसके अंतर्निहित उस दिव्य प्रेमके प्रति भी जिसे हम अनुभव करते और सोल्लास अनुमति प्रदान करते हैं,—यह उस आत्मा किंवा आत्मसत्ताकी प्रज्ञा एवं प्रेमके प्रति होगा जो हमारी और सबकी परम आत्मा एवं आत्मसत्ता है और जिसके साथ हम मंगलमय एवं परिपूर्ण एकत्व उपलब्ध कर सकते हैं। एकाकिनी शक्ति, शांति एवं स्थिरता ज्ञानीकी चिंतनात्मक समताका अंतिम मंत्र है; परंतु आत्मा अपने सर्वांग अनुभवमें अपने-आपको इस स्वरचित स्थितिसे मुक्त कर लेती है और सनातनके अनादि और अनंत आनंदके परम सर्वसमालिंगी उल्लासके सागरमें अवगाहन करती है। इस प्रकार, अंतमें हम सब स्पर्शोंको आनंदपूर्ण समतासे ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उनमें हम उस अक्षय प्रेम तथा आनंदका संस्पर्श अनुभव करते हैं जो वस्तुओंके अंतस्तलमें सदा-सर्वदा विद्यमान है। विराट् एवं सम हर्षावेशके इस शिखरपर पहुँचनेका परम फल यह होता है कि अध्यात्म-सुख तथा असीम आनंदके प्रथम द्वार खुल जाते हैं और एक ऐसे दिव्य हर्षकी प्राप्ति होती है जो मन और बुद्धिसे परे है।

इससे पूर्व कि कामनाके नाश तथा आत्मिक समताकी प्राप्तिका यह प्रयत्न अपनी चरम पराकाष्ठा एवं सफलताको प्राप्त हो, आध्यात्मिक क्रियाके उस क्रमको पूर्ण कर लेना आवश्यक है जो अहंभावको जड़से नष्ट कर डालता है। किंतु कर्मीके लिये कर्मके अहंकारका त्याग इस परिवर्तनका एक परमावश्यक अंग है। कारण, यद्यपि हमने फलों तथा फलोंकी कामनाका यज्ञके अधीश्वरके प्रति उत्सर्ग करके राजसिक इच्छाके अहंभावसे नाता तोड़ लिया है फिर भी कर्त्तृत्वका अहंकार हमने शायद अभीतक बचा रखा है। अभी भी हम इस भावके वशीभूत हैं कि स्वयं हम ही कर्मके कर्त्ता हैं, हम ही

इसके उद्गम और हम ही अनुमतिदाता हैं। अभी भी हमारी "मैं" ही चुनती और निर्णय करती है, हमारी "मैं" ही उत्तरदायित्व लेती और निंदा-प्रशंसा अनुभव करती है। इस विभाजक अहंबुद्धिका नितांत उच्छेद हमारे योगका प्रधान लक्ष्य है। यदि किसी प्रकारके अहंको कुछ समयके लिये हमारे अंदर बचा ही रहना है तो वह इसका एक रूपमात्र है जो अपनेको रूप ही समझता है और हमारे अंदर चेतनाके सच्चे केंद्रकी अभिव्यक्ति या स्थापना होनेके साथ ही नष्ट हो जानेके लिये उद्यत रहता है। वह सच्चा केंद्र एकमेवाद्वितीय चेतनाका ज्योतिर्मय रूपायण तथा 'एकं सत्'का शुद्ध वाहन एवं यंत्र होता है। वैश्व शक्तिकी वैयक्तिक अभिव्यक्ति एवं क्रियाका आधार होता हुआ वह क्रमशः अपने पीछे हमारे सच्चे अंतःपुरुष एवं केंद्रीय नित्य पुरुषको अर्थात् 'परम'की एक शाश्वत सत्ता, और परात्पर शक्तिकी एक अंशभूत शक्तिको प्रकाशित करता है।*

यहाँ, इस गतिमें भी, जिसके द्वारा आत्मा अहंके प्रच्छन्न आवरण शनैः-शनैः उतार फेंकती है, सुस्पष्ट क्रमोंमेंसे गुजरते हुए उन्नति होती है। कारण, केवल कर्मोंके फलपर ही ईश्वरका अधिकार हो ऐसी बात नहीं, अपितु हमारे कर्म भी निश्चित रूपसे उसीके होने चाहियें; जैसे वह हमारे फलोंका स्वामी है वैसे ही वह हमारे कर्मका भी सच्चा स्वामी है। इस बातको केवल चिंतनात्मक मनसे समझ लेना ही हमारे लिये पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह हमारी समस्त चेतना तथा इच्छाशक्तिके प्रति पूर्णतः सत्य बन जानी चाहिये। साधकको यह केवल सोचना और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि उसे कार्य करते समय, इसके आरंभमें और इसकी संपूर्ण प्रक्रियामें, प्रत्यक्ष रूपसे तथा गहराईके साथ यह देखना और अनुभव भी करना होगा कि उसके कर्म उसके अपने बिलकुल नहीं हैं, वरन् वे उसके द्वारा परम सत्तासे प्रवाहित हो रहे हैं। उसको उस शक्ति, उपस्थिति एवं संकल्पशक्तिसे सदा सचेतन रहना होगा जो उसकी व्यक्तिगत प्रकृतिके द्वारा कार्य करती है। परंतु ऐसी वृत्ति धारण करनेमें भय यह है कि वह अपनी प्रच्छन्न या उदात्तीकृत "मैं" या किसी निम्नतर शक्तिको भ्रांतिवश ईश्वर समझकर इसकी माँगोंको सर्वोच्च आदेशोंका स्थान दे देगा। वह इस निम्नतर प्रकृतिके सामान्य दाँवमें फँस जायगा और उच्चतर शक्तिके प्रति अपने कल्पित समर्पणको अपनी इच्छाकी, यहाँतक कि अपनी कामनाओं

---

* अंशः सनातनः; परा प्रकृतिर्जीवभूता। गीता १५-७ ; ७-५।

एवं आवेशोंकी परिवर्द्धित एवं असंयत तृप्तिका बहाना बना लेगा। अतः एक महान् सद्हृदयताकी आवश्यकता है और इसे केवल अपने सचेतन मनमें ही स्थापित करना काफी नहीं है, बल्कि इससे कहीं अधिक अपने उस प्रच्छन्न भागमें भी स्थापित करना आवश्यक है जो गुप्त चेष्टाओंसे भरा पड़ा है। कारण वहाँ, विशेषकर हमारी प्रच्छन्न प्राणिक प्रकृतिमें, एक ऐसा मायावी और बहुरूपिया उपस्थित है जिसका सुधार करना अत्यंत दुष्कर है। सुतरां, कामनाके उन्मूलनमें तथा सभी क्रियाओं एवं सभी घटनाओंके प्रति दृढ़ आत्मिक समतामें बहुत अधिक उन्नति कर लेनेके बाद ही साधक अपने कर्मोंका भार पूर्ण रूपसे भगवान्‌को सौंप सकता है। उसे प्रतिक्षण अहंकारके छलों तथा अंधकारकी उन भ्रामक शक्तियोंके दाँवोंपर सजग दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ना होगा जो सदा ही अपनेको प्रकाश तथा सत्यके अनन्य स्रोतके रूपमें प्रदर्शित करती हैं और जिज्ञासुकी आत्माको बंदी बनानेके लिये दिव्य रूपोंका स्वांग रचती हैं।

इसके पश्चात् उसे तुरंत ही अपनेको साक्षीकी स्थितिके प्रति अर्पित करनेका अगला कदम उठाना होगा। प्रकृतिसे पृथक्, निर्वैयक्तिक तथा वीतराग होकर, उसे अपने भीतर काम करती हुई कर्त्री प्रकृति-शक्तिका निरीक्षण करना तथा उसकी क्रियाको समझना होगा। इस पार्थक्यके द्वारा उसे प्रकृतिकी वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ाको पहचानना सीखना होगा, उषा और निशा एवं दिव्यता और अदिव्यताके प्रकृतिकृत सम्मिश्रणको अलग-अलग करके देखना और प्रकृतिकी उन भीषण शक्तियों एवं सत्ताओंको जानना होगा जो अज्ञानी मानव प्राणीका अपने कार्यके लिये उपयोग करती हैं। गीता कहती है कि विश्वशक्ति (Nature) हमारे अंदर प्रकृतिके त्रिविध गुण—प्रकाश तथा सत्‌के गुण, आवेश एवं कामनाके गुण और अंधता तथा जड़ताके गुण—के द्वारा कार्य करती है। जिज्ञासुको अपनी प्रकृतिके इस राज्यमें होनेवाली सब कार्रवाईके तटस्थ तथा विवेचक साक्षीके रूपमें इन गुणोंकी पृथक् तथा सम्मिलित क्रियामें भेद करना सीखना होगा। वैश्व शक्तियोंकी सूक्ष्म अगोचर प्रणालियों तथा छद्मवेशोंके समस्त गोरखधंधेमें उसे अपने अंदर इनकी क्रियाओंका अनुसंधान करना होगा और इस गड़बड़-झालेकी प्रत्येक पेचीदगीको समझना होगा। ज्यों-ज्यों वह इस ज्ञानमें अग्रसर होगा त्यों-त्यों वह अनुमन्ता बननेमें समर्थ होता जायगा और आगेको प्रकृतिका मूढ़ यंत्र नहीं रहेगा। सर्वप्रथम उसे प्रकृति-शक्तिको इस बातके लिये प्रेरित करना होगा कि वह उसके करणोंपर अपनी क्रिया करते हुए अपने दो निम्नतर गुणोंके व्यापारको अभिभूत करके उन्हें प्रकाश एवं सत्‌के

गुणके वशीभूत कर दे और, तदनंतर, उसे इस सत्त्वगुणको भी इसके लिये प्रेरित करना होगा कि यह भी अपनेको अर्पित करे, ताकि एक उच्चतर दिव्य शक्ति तीनोंको ही इनके दिव्य प्रतिफलोंमें, परम विश्रांति और शम, दिव्य ज्ञानदीप्ति और आनंद तथा नित्य दिव्य बल-क्रिया वा तपस्में रूपांतरित कर सके। इस साधना तथा परिवर्तनका प्रथम भाग हमारी मानसिक सत्ताकी संकल्प-शक्तिके द्वारा सिद्धांत-रूपमें दृढ़तापूर्वक संपन्न हो सकता है; परंतु इसकी पूर्ण सिद्धि तथा परिणामभूत रूपांतर तो तभी संपन्न हो सकते हैं जब गभीरतर अंतरात्मा प्रकृतिपर अपने प्रभुत्वको अधिक दृढ़ करके प्रकृतिके शासकके रूपमें मनोमय पुरुषका स्थान ग्रहण कर ले। ऐसा हो जानेपर जिज्ञासु केवल अभीप्सा तथा भावना एवं प्रारंभिक तथा वृद्धिशील आत्मोत्सर्गके साथ ही नहीं, अपितु अत्यंत सबल रूपमें यथार्थ एवं सक्रिय आत्मदानके साथ अपने कर्मोंका परम इच्छाशक्तिके प्रति पूर्ण समर्पण करनेके लिये तैयार हो जायगा। उसके अपूर्ण मानव-बुद्धिवाले मनके स्थानपर क्रमशः एक आध्यात्मिक और ज्ञानदीप्त मन प्रतिष्ठित होता जायगा और यह भी अंतमें अतिमानसिक सत्य-ज्योतिमें प्रवेश कर सकेगा। तब वह अस्तव्यस्त एवं अपूर्ण क्रिया करनेवाले तीन गुणोंसे संपन्न अपनी अज्ञानमय प्रकृतिके द्वारा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक शांति, ज्योति, शक्ति एवं आनंदकी दिव्यतर प्रकृतिके द्वारा कर्म करेगा। वह अपने कर्म और भी अज्ञतर भावुक हृदयकी प्रेरणा, प्राण-सत्ताकी कामना, शरीरके आवेग एवं अंधप्रवृत्ति तथा अज्ञ मन एवं संकल्पके पारस्परिक मिश्रणके द्वारा नहीं करेगा, बल्कि पहले आध्यात्मीकृत सत्ता एवं प्रकृतिके द्वारा और अंतमें अतिमानसिक सत्य-चेतना तथा उसकी परा प्रकृतिकी दिव्य शक्तिके द्वारा करेगा।

इस प्रकार वे अंतिम पग उठाये जा सकते हैं जिनसे प्रकृतिका पर्दा हट सकता है और जिज्ञासु समस्त सत्ताके स्वामीका साक्षात्कार कर सकता है और उसके सभी कर्म उस परम शक्तिके कर्ममें निमज्जित हो सकते हैं जो सदा शुद्ध, सत्य, पूर्ण और आनंदमय है। इस प्रकार वह अपने कर्मों और कर्मफलोंको अतिमानसिक शक्तिके प्रति पूर्ण रूपसे समर्पित करके केवल उस सनातन कर्त्ताके एक सचेतन यंत्रके रूपमें कार्य कर सकता है। तब वह अनुमति नहीं देगा, वरन् भगवान्‌के आदेशको अपने करणोंमें ग्रहण करके और अतिमानसिक शक्तिके हाथोंका यंत्र बनकर उस आदेशका अनुसरण करेगा। तब वह कर्म नहीं करेगा, बल्कि अतिमानसकी निर्निद्र शक्तिको अपने द्वारा कार्य करने देगा। तब वह यह नहीं चाहेगा कि

उसकी मानसिक कल्पनाएँ चरितार्थ हों तथा उसकी भाविक कामनाएँ पूरी हों, वल्कि वह एक ऐसे सर्वशक्तिमान् संकल्पका अनुसरण करेगा और उसमें सहयोग देगा जो सर्ववित् ज्ञान है तथा गुह्य, चमत्कारक एवं अगाध प्रेम है और है सत्ताके नित्य आनंदका विशाल अतल सागर।

दसवाँ अध्याय

प्रकृतिके तीन गुण

यदि आत्माको अपनी सत्ता और कर्मोंमें स्वतंत्र होना है तो अपरा प्रकृतिकी स्वाभाविक क्रियाका अतिक्रम करना उसके लिये अनिवार्य है। इस तथ्यात्मक वैश्व प्रकृतिके प्रति सुसमंजस अधीनता किंवा प्रकृतिके करणोंकी शुभ और अविकल कर्मकी अवस्था आत्माके लिये आदर्श नहीं है, उसके लिये तो अधिक अच्छा यह है कि वह ईश्वर तथा उसकी शक्तिके अधीन रहे, पर अपनी प्रकृतिकी स्वामिनी बने। परम इच्छाशक्तिके माध्यम या वाहनके रूपमें उसे अपनी अंतर्दृष्टि और स्वीकृति या अस्वीकृतिके द्वारा यह निर्णय करना होगा कि प्रकृतिने मन-प्राण-शरीररूपी प्राकृतिक करणोंकी चेष्टाके लिये जो शक्ति-भंडार, पारिपार्श्विक अवस्थाएँ तथा सम्मिलित गतिके लयताल प्रदान किये हैं उनका क्या प्रयोग किया जायगा। परंतु इस निम्नतर प्रकृतिपर प्रभुत्व केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है यदि इसे पार करके इसका प्रयोग ऊपरसे किया जाय। ऐसा तभी किया जा सकता है यदि हम इसकी कर्मसंबंधी शक्तियों और गुणों एवं अवस्थाओंको अतिक्रांत कर जायँ; अन्यथा हम इसकी अवस्थाओंके ही अधीन रहेंगे और विवश होकर इसके द्वारा शासित होते रहेंगे, इस तरह हम आत्मामें स्वतंत्र नहीं होंगे।

प्रकृतिकी तीन मूल अवस्थाओंका विचार प्राचीन भारतीय मनीषियोंकी उपज है और इसकी सत्यता हमारे सामने सहज ही स्पष्ट नहीं होती, क्योंकि यह उनके सुदीर्घ अध्यात्मविषयक परीक्षण तथा गभीर आंतर अनुभूतिका परिणाम था। अतएव, सुदीर्घ आंतर अनुभव तथा अंतरंग आत्म-निरीक्षणके विना और प्रकृति-शक्तियोंका साक्षात् ज्ञान प्राप्त किये बिना इसे ठीक-ठीक समझना या दृढ़तासे उपयोगमें लाना कठिन है। तथापि कुछ मोटे निर्देश कर्म-मार्गपर आरूढ़ जिज्ञासुके लिये अपनी प्रकृतिके अनेक-विध शक्ति-संयोगोंको समझने, विश्लेषित करने तथा उन्हें अपनी स्वीकृति या निषेधसे नियंत्रित करनेमें सहायक हो सकते हैं। प्रकृतिकी मूल अवस्थाओंको भारतीय पुस्तकोंमें गुण कहा गया है और इन्हें सत्त्व, रज और तमके नाम दिये गये हैं। सत्त्व संतुलनकी शक्ति है और गुणके

रूपमें यह सत्, सामंजस्य, सुख और प्रकाश कहलाता है; रज गतिकी शक्ति है और गुणके रूपमें यह संघर्ष, प्रयत्न, आवेश तथा कर्म कहलाता है; तम अचेतना एवं जड़ताकी शक्ति है और गुणके रूपमें यह अंधता, अक्षमता तथा निष्क्रियता कहलाता है। ये विशेष लक्षण अध्यात्मविषयक आत्मविश्लेषणके लिये प्रायः ही प्रयुक्त होते हैं और भौतिक प्रकृतिमें भी ये ठीक घटते हैं। अपरा प्रकृतिकी एक-एक वस्तु और हरेक सत्तामें ये निहित हैं और प्रकृतिकी कार्यप्रणाली तथा इसका गतिशील रूप इन गुणात्मक शक्तियोंकी परस्पर-क्रियाके ही परिणाम हैं।

चेतन या अचेतन सभी वस्तुओंका प्रत्येक रूप क्रियारत प्राकृतिक शक्तियोंका एक स्थिरतापूर्वक रक्षित संतुलन होता है। यह उन सहायक, वाधक या विनाशक संपर्कोंके अंतहीन प्रवाहके अधीन होता है जो इसे अपने चारों ओरकी शक्तियोंके अन्य संयोगोंसे प्राप्त होते हैं। हमारी अपनी मन-प्राण-शरीररूपी प्रकृति भी इस प्रकारके रचनाकारी शक्ति-संयोग या त्रिगुण-संयोग तथा संतुलनके सिवा और कुछ नहीं है। पारि-पार्श्विक स्पर्शोंके ग्रहण तथा उनके प्रति प्रतिक्रियामें ये तीन गुण ग्रहीताका स्वभाव तथा प्रत्युत्तरका स्वरूप निर्धारित करते हैं। जड़ तथा अशक्त रहकर वह किसी प्रत्युत्तर-स्वरूप प्रतिक्रिया, आत्म-रक्षाकी किसी चेष्टा, अथवा आत्मसात् करने एवं अनुकूल वनानेकी किसी भी क्षमताके विना उन स्पर्शोंको झेल सकता है; यह तमोगुण है, जड़ताकी रीति है। तमके लक्षण हैं—अंधता, अचेतनता, अक्षमता और निर्बुद्धिता, प्रमाद, आलस्य, निष्क्रियता और यांत्रिक पुनरावर्त्तिता, मनकी जड़ता, प्राणकी मूर्च्छा और आत्माकी निद्रा। इसका प्रभाव, यदि उसे अन्य तत्त्वोंके द्वारा सुधारा न जाय तो, इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता कि प्रकृतिका वह रूप या संतुलन विघटित हो जायगा और उसके स्थानपर न कोई नया रूप उत्पन्न होगा और न कोई नया संतुलन या क्रियाशील विकासकी कोई नयी शक्ति ही उत्पन्न होगी। इस जड़ अशक्तताके मूलमें निहित है अज्ञानका तत्त्व तथा पारिपार्श्विक शक्तियोंके उत्तेजक या आक्रामक स्पर्श एवं उनके सुझावको तथा नूतन अनुभवके लिये उनकी प्रेरणाको समझने और आयत्त एवं प्रयुक्त करनेकी अयोग्यता या प्रमादपूर्ण अनिच्छा।

दूसरी ओर, प्रकृतिके स्पर्शोंका ग्रहीता उसकी शक्तियोंसे संस्पृष्ट तथा उत्तेजित, पीड़ित वा आक्रांत होकर दवावके अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी कर सकता है। प्रकृति उसे प्रयत्न, प्रतिरोध एवं प्रयास करने, अपनी परिस्थितिको अधिकृत या स्वांगीकृत तथा अपनी इच्छाशक्तिको स्थापित

करने और युद्ध, निर्माण एवं विजय करनेके लिये स्वीकृति, प्रोत्साहन तथा प्रेरणा देती है। यह रजोगुण है, आवेश, कर्म और कामनाकी तृष्णाकी रीति है। संघर्ष, परिवर्तन और नवसर्जन, विजय और पराजय, हर्ष और शोक तथा आशा और निराशा इसकी संतानें हैं और ये इसका ऐसा चित्र-विचित्र जीवन-सदन निर्मित करती हैं जिसमें यह मौज मनाता है। परंतु इसका ज्ञान अपूर्ण या मिथ्या ज्ञान होता है जो अपने साथ अज्ञानयुक्त प्रयत्न, भूल-भ्रांति, अनवरत कुसामंजस्य, आसक्तिका कष्ट, हताश कामना, और हानि एवं असफलताका दुःख लाता है। रजोगुणकी देन है गतिशील बल, स्फूर्त्ति, कर्मण्यता तथा ऐसी शक्ति जो सर्जन एवं कर्म करती है और विजय कर सकती है। किंतु यह रजोगुण अविद्याके मिथ्या प्रकाशों या अर्द्धप्रकाशोंमें विचरण करता है और असुर, राक्षस तथा पिशाचके स्पर्शसे कलुषित होता है। मानव-मनका उद्धत ज्ञान और उसके निज-संतुष्ट विकार एवं धृष्ट भ्रांतियाँ; मद, अहंकार और महत्त्वाकांक्षा; क्रूरता, अत्याचार, पाशविक क्रोध और उग्रता; स्वार्थ, क्षुद्रता, छल-कपट और निकृष्ट नीचता; ईर्ष्या, असूया एवं अथाह कृतघ्नता और काम, लोभ, लूट-मार एवं बलापहार जो पृथ्वी-प्रकृतिको विकृत करते हैं, इस अनिवार्य किंतु उग्र एवं भयानक प्रकृति-वृत्तिकी स्वाभाविक संतानें हैं।

परंतु देहधारी जीव प्रकृतिके इन दो गुणोंसे ही बँधा हुआ नहीं है; एक इनसे अच्छा और अधिक प्रकाशयुक्त ढंग भी है जिससे वह अपने चारों ओरके संपर्कों और जगत्-शक्तियोंके प्रवाहके साथ व्यवहार कर सकता है। इन संपर्कों और शक्तियोंको वह स्पष्ट समझ, समस्थिति एवं संतुलनके साथ भी ग्रहण कर सकता है और इनकी ओर प्रतिक्रिया कर सकता है। प्राकृतिक जीवकी इस व्यवहार-शैलीमें एक ऐसी शक्ति है जो समझसे युक्त होनेके कारण सहानुभूति प्रकाशित करती है; यह प्रकृतिकी प्रेरणा और उसकी विधियोंकी थाह लेती है और उन्हें अधिकृत तथा विकसित करती है। इसमें एक ऐसी बुद्धि है जो प्रकृतिकी कार्य-प्रणालियों तथा उसके आशयोंकी तहमें जाती है और उन्हें आत्मसात् करके उपयोगमें ला सकती है। इसमें एक ऐसी प्रसन्न प्रतिक्रिया होती है जो अभिभूत नहीं होती किंतु मेल साधती है, सुधारती एवं समस्वर करती है तथा सभी वस्तुओंमेंसे सार निकाल लेती है। यह सत्त्वगुण है, अर्थात् प्रकृतिकी वह वृत्ति है जो प्रकाश और संतुलनसे पूर्ण है, सत्, ज्ञान, आनंद, सौंदर्य तथा सुख और ठीक समझ, ठीक संतुलन एवं ठीक व्यवस्थाके लक्ष्यकी ओर अभिमुख है। इसका स्वभाव है ज्ञानकी उज्ज्वल विशदता

और सहानुभूति एवं अंतरंगताका ज्वलंत उत्साह। सूक्ष्मता और ज्ञान-दीप्ति, संयमित शक्ति, समस्त सत्ताकी पूर्ण समस्वरता एवं समतोलता सात्त्विक प्रकृतिकी सर्वोच्च उपलब्धि है।

कोई भी सत्ता वैश्व शक्तिके इन गुणोंमेंसे पूरी तरह किसी एकके ही न्यारे साँचेमें ढली हुई नहीं है; हरएकमें और हर जगह तीनोंके तीनों विद्यमान हैं। इनके परिवर्तनशील संबंधों तथा परस्पर-संचारी प्रभावोंका सतत संयोजन और वियोजन होता रहता है, बहुधा शक्तियोंका संघट्ट तथा मल्लयुद्ध एवं एक-दूसरीपर प्रभुता करनेके लिये संघर्ष भी चलता रहता है। सभीके अंदर कम या अधिक अंश या मात्रामें सात्त्विक वृत्तियाँ होती हैं, भले ही किसी-किसीमें ये अलक्ष्य-सी न्यूनतम मात्रामें ही क्यों न हों; सभीमें प्रकाश, निर्मलता एवं प्रसन्नताकी स्पष्ट सरणियाँ या अविकसित प्रवृत्तियाँ, परि-स्थितिके साथ सूक्ष्म अनुकूलीकरण और सहानुभूति, बुद्धि, समतोलता, यथार्थ विचार, यथार्थ संकल्प और भाव, यथार्थ आवेग, सद्गुण और नियम-क्रम देखनेमें आते हैं। सभीमें राजसिक वृत्तियाँ भी होती हैं, सभीमें आवेग, कामना, आवेश और संघर्षवाले मलिन अंग, विकार, असत्य एवं भ्रांति और असंतुलित हर्ष एवं शोक दृष्टिगोचर होते हैं और सभीमें कर्म एवं उत्सुक सर्जनकी उग्र प्रेरणा, और परिस्थितिके दवाव तथा जीवनके आक्रमणों एवं प्रस्तावोंके प्रति प्रबल या साहसपूर्ण अथवा प्रचंड या भयानक प्रति-क्रियाएँ भी दिखायी देती हैं। सभीमें तामसिक वृत्तियाँ भी होती हैं, सभीमें स्थिर अंधकारमय भाग, अचेतनताके क्षण या स्थल, दुर्बल सहिष्णुता या जड़ स्वीकृतिका चिररूढ़ स्वभाव या इसके प्रति अस्थायी रुचि, प्रकृतिगत दुर्वलताएँ या क्लांति, प्रमाद और आलस्यकी गतियाँ देखनेमें आती हैं, अज्ञान एवं अशक्ततामें पतन, विषाद, भय और भीरुतापूर्ण जुगुप्सा अथवा परिस्थितियोंके प्रति और मनुष्यों, घटनाओं एवं शक्तियोंके दवावके प्रति अधीनता भी सभीके अंदर पायी जाती है। हम सभी अपनी प्राकृतिक शक्तिकी कुछ दिशाओंमें अथवा अपने मन या स्वभावके कई भागोंमें सात्त्विक हैं, कुछ दूसरी दिशाओंमें राजसिक और कई अन्य दिशाओंमें तामसिक भी हैं। किसी मनुष्यके सामान्य स्वभाव और विशिष्ट मन तथा कर्मधारामें इन गुणोंमेंसे जो कोई भी साधारणतया प्रवल होता है उसीके अनुसार उस मनुष्यके संवंधमें यह कहा जाता है कि वह सात्त्विक, राजसिक या तामसिक है। परंतु ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो सदा एक ही प्रकारके हों और अपने प्रकारमें विशुद्ध तो कोई भी नहीं होता। ज्ञानी सदा या पूर्णतया ज्ञानी नहीं होते, वुद्धिमान् केवल खंडशः ही वुद्धिमान् होते हैं;

साधु अपने अंदर अनेक असाधु चेष्टाएँ दवाये रखता है और दुष्ट निरे दुष्ट ही नहीं होते। जड़-से-जड़ मनुष्यमें भी अप्रकट अथवा अप्रयुक्त एवं अविकसित क्षमताएँ होती हैं। अत्यंत भीरु व्यक्ति भी किसी-किसी समय अपना जौहर दिखाता है अथवा उसका भी एक साहसी रूप होता है, असहाय और दुर्वलकी प्रकृतिमें भी शक्तिका एक प्रसुप्त स्रोत होता है। सत्त्व आदि प्रधान गुण देहधारी जीवके मूल आत्मिक प्रतिरूप नहीं होते, वरन् उस रचनाके चिह्नमात्र होते हैं जो रचना जीव अपने इस जीवनके लिये या अपने वर्तमान सत्ता-कालमें अपने विकासके किसी विशिष्ट क्षणमें निर्मित करता है।

*

जब एक वार साधक अपने भीतर या अपनेपर होनेवाली प्रकृतिकी क्रियासे तटस्थ हो जाता है और उसमें हस्तक्षेप अथवा उसका सुधार या निपेध एवं चुनाव या निर्णय न करते हुए उसकी क्रीड़ाको होने देता है और जब वह उसकी कार्य-पद्धतिका विश्लेषण एवं निरीक्षण कर लेता है, तव वह शीघ्र ही जान जाता है कि प्रकृतिके गुण स्वाश्रित हैं और वे वैसे ही कार्य करते हैं जैसे एक वार चलाकर काममें लगायी हुई मशीन अपनी ही रचना तथा संचालक शक्तियोंके द्वारा कार्य करती रहती है। शक्ति और संचालनका स्रोत प्रकृति है, प्राणी नहीं। तव उसे अनुभव हो जाता है कि मेरा यह संस्कार कैसा अशुद्ध था कि मेरा मन मेरे कार्योंका कर्त्ता है; मेरा मन तो मेरा एक छोटा-सा अंश तथा प्रकृतिकी रचना एवं इंजनमात्र है। वास्तवमें प्रकृति ही अपने तीन सार्वभौम गुणोंको इस प्रकार घुमाती हुई जिस प्रकार कोई लड़की अपनी पुतलियोंसे खेलती हो, अपने गुणोंद्वारा वरावर कार्य कर रही है। उसका 'अहं' सदैव एक यंत्र तथा खिलौनामात्र होता है; उसका चरित्र और वुद्धि, उसके नैतिक गुण और मानसिक शक्तियाँ, उसकी कृतियाँ और कर्म एवं पराक्रम, उसका क्रोध और सहिष्णुता, उसकी क्रूरता और करुणा, उसका प्रेम और उसकी घृणा, उसका पाप और पुण्य, उसका प्रकाश और अंधकार तथा हर्षावेश एवं शोकोच्छ्वास प्रकृतिकी क्रीड़ामात्र हैं जिसे आत्मा आकृष्ट, विजित तथा वशीकृत होकर अपनी निष्क्रिय सहमति दे देती है। तथापि प्रकृति या शक्तिका नियंतृत्व ही सव कुछ नहीं है, इस विपयमें आत्माकी वात भी सुनी जाती है, उसकी भी चलती है, —किंतु चलती है गुप्त आत्माकी या पुरुषकी, न कि मन वा अहंकारकी, क्योंकि ये स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं, वरन् प्रकृतिके

ही भाग हैं। आत्माकी अनुमति क्रीड़ाके लिये अपेक्षित है और अनुमतिके ईश तथा प्रदाताके रूपमें वह आंतर मौन संकल्पके द्वारा क्रीड़ाका नियम निर्धारित कर सकती है तथा अपने त्रिगुण-संयोगोंमें हस्तक्षेप कर सकती है, यद्यपि विचार एवं संकल्प और कर्म एवं आवेगमें क्रियान्वित करना तब भी प्रकृतिका ही कार्य तथा अधिकार रहता है। पुरुष प्रकृतिको किसी सामंजस्यके साधित करनेके लिये आदेश दे सकता है, पर इसके लिये वह उसके व्यापारोंमें हस्तक्षेप नहीं करता, बल्कि उसपर एक सचेतन दृष्टि डालता है, जिसे वह तुरंत या बहुत कठिनाईके बाद एक प्रतिरूपक विचार और क्रियाशील प्रेरणा एवं अर्थपूर्ण प्रतिमामें रूपांतरित कर देती है।

यह सर्वथा प्रत्यक्ष ही है कि यदि हमें अपनी वर्तमान प्रकृतिका दिव्य चेतनाके मूर्त्त बलमें तथा उसकी शक्तियोंके यंत्रमें रूपांतर करना है तो दो निम्न गुणोंकी क्रियासे छुटकारा पाना अनिवार्य है। तम दिव्य ज्ञानके प्रकाशको धुंधला कर देता है तथा उसे हमारी प्रकृतिके अँधेरे और मलिन कोनोंमें प्रवेश नहीं करने देता। यह हमें निःशक्त कर देता है और दैवी आवेगका उत्तर देनेकी हमारी शक्ति, अपनेको परिवर्तित करनेका हमारा बल और प्रगति करने एवं अपनेको महत्तर शक्तिके प्रति नम्य बनानेका हमारा संकल्प हर लेता है। रज ज्ञानको विकृत कर डालता है, हमारी बुद्धिको असत्यकी सहायिका तथा प्रत्येक अशुभ चेष्टाकी उत्तेजिका बना देता है, हमारी प्राणशक्ति तथा इसके आवेगोंको भड़काता और उलझाता है तथा शरीरका संतुलन एवं स्वास्थ्य उलट देता है। यह सब अभिजात विचारों तथा उच्चस्थ गतियोंपर अधिकार कर लेता है और उनका मिथ्या तथा अहंकारमय उपयोग करता है। यहाँतक कि दिव्य सत्य और दिव्य प्रभाव भी जब वे पार्थिव स्तरपर अवतरित होते हैं, इस दुरुपयोग और आक्रमणसे नहीं बच सकते। जबतक तम आलोकित और रज रूपांतरित नहीं हो जाता, तबतक कोई दिव्य परिवर्तन या दिव्य जीवन संभव नहीं हो सकता।

अतएव, ऐसा प्रतीत होगा कि सत्त्वका ऐकांतिक अवलंबन ही उद्धारका उपाय है; किंतु इसमें कठिनाई यह है कि कोई भी गुण अपने दो संगियों एवं प्रतिस्पर्द्धियोंके विरोधमें अकेला विजयी नहीं हो सकता। यदि हम कामना एवं आवेशके गुणको कष्ट-क्लेश और पाप-ताप आदि विकारोंका कारण समझकर इसे शांत तथा वशीभूत करनेकी चेष्टा और प्रयास करें, तो रज दब जाता है, किंतु तम उमड़ आता है। सक्रियताका तत्त्व शिथिल पड़ जानेसे जड़ता उसका स्थान ले लेती है। प्रकाशका तत्त्व हमें सुस्थिर

शांति, सुख, ज्ञान, प्रेम और शुद्ध भाव प्रदान कर सकता है, परंतु यदि रज अनुपस्थित हो या नितांत दमित हो, तो आत्माकी शांति अकर्मण्यताकी निश्चलता बनती चली जाती है न कि सक्रिय रूपांतरकी दृढ़ भित्ति। निष्प्रभाव रूपमें यथार्थ चिंतन एवं यथार्थ कर्म करती हुई साधु, सौम्य और ऋजु प्रकृति अपने क्रियाशील अंगोंमें सत्त्व-तामसिक, उदासीन, निस्तेज, असर्जनक्षम या बलशून्य हो सकती है। मानसिक और नैतिक अंधकारका इसमें अभाव हो सकता है, परंतु साथ ही कर्मके सबल स्रोत भी सूख जा सकते हैं। इस प्रकार यह भी एक अवरोधक सीमा होती है और साथ ही एक और प्रकारकी अक्षमता भी। कारण, तमस् एक दुहरा तत्त्व है; जहाँ यह रजका निष्क्रियताके द्वारा विरोध करता है वहाँ यह सत्त्वका भी संकीर्णता, अंधकार और अज्ञानके द्वारा विरोध करता है और यदि इनमेंसे कोई अवसन्न हो जाता है तो यह उसका स्थान लेनेके लिये घुस आता है।

यदि हम यह भूल सुधारनेके लिये रजको पुनः आमंत्रित करते हैं तथा इसे सत्त्वसे गठबंधन करने देते हैं और इनके सम्मिलित प्रभावसे अंधकारमय तत्त्वसे छुटकारा पानेका पुरुषार्थ करते हैं, तो हम देखते हैं कि हमारे कर्मका स्तर तो ऊँचा हो जाता है, किंतु राजसिक उत्सुकता, लालसा, निराशा, तथा दुःख और रोषके प्रति वश्यता फिर भी बनी रहती है। हो सकता है कि ये गतियाँ अपने क्षेत्र एवं अपनी भावना तथा क्रिया में पहलेकी अपेक्षा अधिक उन्नत हो जायें, पर जो शांति, स्वतंत्रता, शक्ति और आत्म-प्रभुता हम प्राप्त करना चाहते हैं वे ये नहीं हैं। जहाँ-जहाँ कामना और अहंभाव रहते हैं, वहाँ-वहाँ आवेग और विक्षोभ भी उनके साथ रहते ही हैं और उनके जीवनमें भाग लेते हैं। यदि हम तीनों गुणोंमें इस प्रकारका समझौता कराना चाहें कि सत्त्व प्रधान बनकर रहे और अन्य दोनों इसके अधीन रहें तो भी हम प्रकृतिके खेलकी एक अधिक संयत क्रियापर ही पहुँचेंगे। एक नया संतुलन तो हमें प्राप्त हो जायगा, किंतु आध्यात्मिक स्वातंत्र्य और प्रभुत्व कहीं दिखायी नहीं देंगे अथवा ये अभी केवल एक सुदूर संभावना ही रहेंगे।

एक अन्य मूलतः भिन्न प्रकारकी गति हमें गुणोंसे पीछे हटाकर तथा पृथक् करके अंतरकी ओर ले जायगी और इनसे ऊपर उठावेगी। जो भ्रांति प्रकृतिके गुणोंके व्यापारको स्वीकृति देती है उसे समाप्त होना होगा; क्योंकि जबतक इसे स्वीकृति दी जाती है, तबतक आत्मा इनकी क्रियाओंमें आबद्ध और इनके नियमके अधीन ही होती है। रज और तमके समान

ही सत्त्वको भी पार करना होगा, सोनेकी जंजीर भी वैसे ही तोड़ फेंकनी होगी जैसे भारी-भरकम वेड़ियाँ तथा मिश्र धातुओंके वंधनभूत भूषण। गीता इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये आत्म-साधनाकी एक नयी विधि वतलाती है। वह है गुणोंकी क्रियासे पीछे हटकर अपने अंदर स्थित होना तथा प्रकृतिकी शक्तियोंकी तरंगके ऊपर विराजमान साक्षीकी भाँति इस अस्थिर प्रवाहका निरीक्षण करना। साक्षी वह है जो देखता है पर तटस्थ एवं उदासीन रहता है, गुणोंके निज स्तरपर उनसे पृथक् तथा अपनी स्वाभाविक स्थितिमें उनसे ऊपर उच्चासीन होता है। जव वे अपनी तरंगोंके रूपमें उठते-गिरते हैं, तव साक्षी उनकी गतिविधि देखता है, इसका निरीक्षण करता है, परंतु न तो वह इसे स्वीकार करता है न इसमें क्षण-भर भी हस्तक्षेप करता है। सवसे पहले निर्वैयक्तिक साक्षीकी स्वतंत्रता प्राप्त होना आवश्यक है; तदनंतर स्वामी या ईश्वरका प्रभुत्व स्थापित हो सकता है।

*

अनासक्तिकी इस प्रक्रियाका प्रारंभिक लाभ यह होता है कि व्यक्ति अपनी निज प्रकृति तथा सर्वजनीन विश्वप्रकृतिको समझने लगता है। अनासक्त साक्षी अहंकारसे लेशमात्र भी अंध हुए विना प्रकृतिकी अविद्यामय शैलियोंकी क्रीड़ाको पूर्ण रूपसे देख सकता है तथा उसकी सव शाखा-प्रशाखाएँ, आवरण एवं सूक्ष्मताएँ छान मारनेमें समर्थ होता है—क्योंकि यह नकली रूप तथा छद्मवेश और जालवंदी, धोखेवाजी तथा छल-चातुरीसे भरी हुई है। दीर्घ अनुभवसे सीखा हुआ, सभी कार्यों एवं अवस्थाओंको गुणोंकी परस्पर-क्रिया समझता हुआ, इनकी कार्यशैलियोंसे भिज्ञ होता हुआ वह आगेको इनके आक्रमणोंसे परास्त नहीं हो सकता, इनके फंदोंमें एकाएक फँस नहीं सकता अथवा इनके स्वांगोंके धोखेमें नहीं आ सकता। साथ ही वह देखता है कि अहं यथार्थमें इससे अधिक कुछ नहीं है कि वह एक युक्ति है तथा इनकी परस्पर-क्रियाकी धारक ग्रंथि है और, यह जानकर, वह निम्न अहंकारमय प्रकृतिकी मायासे मुक्त हो जाता है। वह परोपकारी और मुनि एवं मनीषीके सात्त्विक अहंकारसे छूट जाता है; वह स्वार्थसेवीके राजसिक अहंकारको भी उस अधिकारसे च्युत कर देता है जो इसने उसके प्राणावेगोंपर जमा रखा है। अव वह निज स्वार्थका परिश्रमी पोषक तथा आवेश एवं कामनाका पला हुआ कैदी या अतिश्रम करनेवाला दंडित दास नहीं रहता। अज्ञानमय या निष्क्रिय, जड़ एवं वुद्धिहीन, तथा मानव-

जीवनके साधारण चक्रमें फँसी हुई सत्ताके तामसिक अहंकारको वह अपनी ज्ञान-ज्योतिसे छिन्न-भिन्न कर देता है। इस प्रकार हमारे समस्त वैयक्तिक कर्ममें अहंभाव-रूपी मूल दोषका अस्तित्व निश्चित रूपसे स्वीकार कर तथा इससे सचेतन होकर वह आगेसे राजसिक या सात्त्विक अहंकारमें आत्म-सुधार या आत्म-उद्धारका उपाय ढूँढ़नेकी चेष्टा नहीं करता है, वल्कि इनसे ऊपर एवं प्रकृतिके करणों तथा कार्यप्रणालीसे परे केवल सर्वकर्म-महेश्वर तथा उसकी परम शक्ति वा परा प्रकृतिकी ओर ही उन्मुख होता है। केवल वहीं समस्त सत्ता शुद्ध और मुक्त है और वहीं दिव्य सत्यका शासन संभव है।

इस प्रगतिमें पहला कदम है प्रकृतिके तीन गुणोंसे एक विशेप प्रकारकी निर्लिप्त उत्कृष्टता। आत्मा निम्न प्रकृतिसे अंतरत: पृथक् तथा स्वतंत्र होती है, इसके घेरोंमें फँसी हुई नहीं होती, इसके ऊर्ध्वमें उदासीन और प्रसन्न भावमें स्थित रहती है। प्रकृति अपने पुराने अभ्यासोंके त्रिविधि चक्रमें कार्य करती रहती है,—कामना और हर्प-शोक हृदयको आ घेरते हैं, सब करणोपकरण अकर्मण्यता, जड़ता एवं खिन्नताके गर्तमें जा गिरते हैं, प्रकाश और शांति हृदय, मन तथा शरीरमें फिर लौट आते हैं। किंतु आत्मा इन परिवर्तनोंसे परिवर्तित और प्रभावित नहीं होती। निम्न अंगोंकी वेदना तथा कामनाका निरीक्षण करती हुई पर उनसे अचलायमान, उनके हर्षों और आयासोंपर मुस्कराती हुई, विचारकी भ्रांतियों तथा धूमिलताओंको और हृदय तथा स्नायुओंकी उच्छृंखलता एवं दुर्वलताओंको समझती हुई पर उनसे पराभूत न होती हुई, प्रकाश एवं प्रसन्नताके लौटनेपर मनके अंदर उत्पन्न ज्ञान-आलोक तथा सुख-आरामसे और उसके विश्राम एवं वल-सामर्थ्यके अनुभवसे मोहित तथा इसमें आसक्त न होती हुई आत्मा अपनेको इनमेंसे किसी भी चीजमें झोंकती नहीं, किंतु अविचलित रहकर उच्चतर इच्छाशक्तिके निर्देशों तथा महत्तर एवं प्रकाशपूर्ण ज्ञानकी स्फुरणाओंकी प्रतीक्षा करती है। सदा ऐसा ही करती हुई यह अपने सक्रिय अंगोंमें भी तीन गुणोंके संघर्ष तथा इनकी अपर्याप्त उपयोगिताओं एवं अवरोधक सीमाओंसे अंतिम रूपमें मुक्त हो जाती है। कारण, अव यह निम्नतर प्रकृति अपने-आपको उत्तरोत्तर एक उच्चतर शक्तिके द्वारा प्रवल रूपसे प्रेरित अनुभव करती है। पुराने अभ्यासोंको, जिनसे यह चिपटी हुई थी, अव और स्वीकृति नहीं मिलती और वे अपनी वहुलताको एवं पुनरावर्तनकी शक्तिको लगातार खोने लगते हैं। अंतमें यह इस वातको समझ जाती है कि इसे एक उच्चतर कार्य और श्रेष्ठतर अवस्थाके लिये आवाहन प्राप्त

हुआ है और चाहे कितनी भी धीमे क्यों न हो, चाहे कितनी भी अनिच्छाके साथ और किसी भी आरंभिक या लंबी दुर्भावना एवं स्खलनशील अज्ञानके साथ ही क्यों न हो, यह अपनेको परिवर्तनके लिये प्रस्तुत, अभिमुख और तैयार करने लगती है।

साक्षी और ज्ञाताकी भी अवस्थासे अतीत हमारी आत्माकी स्थितिशील स्वतंत्रताका परम उत्कर्ष होता है प्रकृतिका सक्रिय रूपांतर। हमारे तीन करणों अर्थात् मन, प्राण, शरीरमें एक-दूसरेपर प्रभाव डालते हुए तीन गुणोंका सतत मिश्रण एवं विषम व्यापार तब और अपनी साधारण, अव्यवस्थित, विक्षुब्ध तथा अशुद्ध क्रिया और गति नहीं करता। तब एक और प्रकारकी क्रिया करना संभव हो जाता है जो आरंभ होती, बढ़ती तथा पराकाष्ठाको पहुँचती है,—एक ऐसी क्रिया जो अधिक सच्चे रूपमें शुद्ध तथा अधिक प्रकाशयुक्त होती है और पुरुष और प्रकृतिकी गंभीरतम दिव्य परस्पर-लीलाके लिये तो सहज एवं स्वाभाविक, किंतु हमारी वर्तमान अपूर्ण प्रकृतिके लिये असाधारण एवं अलौकिक होती है। स्थूल मनको सीमाओंमें बाँधनेवाला शरीर तब और उस तामसिक जड़तापर आग्रह नहीं करता जो सदा एक ही अज्ञानमय चेष्टाको दुहराती रहती है। यह एक महत्तर शक्ति और ज्योतिका निष्प्रतिरोध क्षेत्र और यंत्र बन जाता है, यह आत्माकी शक्तिकी प्रत्येक माँगका उत्तर देता है और प्रत्येक प्रकारके नये दिव्य अनुभव और उसकी तीव्रताको आश्रय देता है। हमारी सत्ताके गतिशील और सक्रिय प्राणिक भाग, हमारे स्नायविक, भाविक, सांवेदनिक और संकल्पात्मक भाग अपनी शक्तिमें विस्तृत हो जाते हैं और अनुभवके आनंदपूर्ण उपभोग तथा अश्रांत कार्यके लिये अवकाश प्रदान करते हैं। पर साथ ही ये एक ऐसी विशाल, धीर-स्थिर और संतुलित शांतिकी आधारशिलापर स्थित और संतुलित होना भी सीख जाते हैं जो शक्तिमें अत्युच्च और विश्रांतिमें दिव्य है, जो न हर्षित होती है न उत्तेजित और न दुःख एवं वेदनासे पीड़ित, न कामना और हठीले आवेगोंसे व्याकुल होती है और न ही निर्बलता और अकर्मण्यतासे हतोत्साह। बुद्धि किंवा चिंतनात्मक, बोधग्राही और विचारशील मन अपनी सात्त्विक सीमाएँ त्यागकर सारभूत ज्योति और शांतिकी ओर खुल जाता है। एक अनंत ज्ञान हमारे सामने अपने उज्ज्वल क्षेत्र प्रस्तुत करता है। एक ज्ञान जो मानसिक रचनाओंसे गठित तथा सम्मति एवं धारणासे बद्ध नहीं होता, न स्खलनशील संदिग्ध तर्क एवं इंद्रियोंके तुच्छ अवलंबपर ही निर्भर करता है, बल्कि सुनिश्चित, यथार्थ, सर्वस्पर्शी और सर्वग्राही होता है, एक अपार शांति और आनंद

जो सर्जनशील शक्ति और वेगमय कर्मके कुंठित आयाससे मुक्तिकी प्राप्तिपर निर्भर नहीं करते और न कुछ-एक सीमित सुखोंसे ही निर्मित होते हैं, बल्कि स्वयंसत् और सर्वसंग्राहक होते हैं, —ये सब हमारी सत्ताको अधिकृत करनेके लिये उत्तरोत्तर-व्यापक क्षेत्रोंमें और नित्य-विस्तारशील एवं सदा अधिकाधिक मार्गोंके द्वारा प्रवाहित होते हैं। एक उच्चतर शक्ति, आनंद और ज्ञान मन, प्राण तथा शरीरसे परेके किसी स्रोतसे प्रकट होकर नये सिरेसे इनका दिव्यतर रूप गढ़नेके लिये इनपर अधिकार कर लेते हैं।

यहाँ हमारी निम्न सत्ताके त्रिविध गुणके विरोध-वैषम्य पार हो जाते हैं और दिव्य विश्व-प्रकृतिका महत्तर त्रिविध गुण प्रारंभ होता है। यहाँ तम या जड़ताकी अंधताका नाम-निशान नहीं। तमका स्थान ले लेता है दिव्य शम एवं प्रशांत शाश्वत विश्राम जिसमेंसे कर्म तथा ज्ञानकी लीला इस प्रकार आविर्भूत होती है मानो निश्चल एकाग्रताके परम गर्भसे आविर्भूत हो रही हो। यहाँ कोई राजसिक गति एवं कामना नहीं होती, न कम, सर्जन तथा धारणका कोई हर्ष-शोकमय प्रयास ही होता है और न विक्षुब्ध आवेगकी कोई सार्थक उथल-पुथल। रजका स्थान ग्रहण करती है धीर-स्थिर शक्ति एवं असीम बल-क्रिया जो अपनी अत्यंत प्रचंड तीव्रताओंमें भी आत्माकी अचल समस्थितिको उद्वेलित नहीं करती और न ही इसकी शांतिके विशाल गहन व्योमों तथा प्रकाशमान अथाह गह्वरोंको कलुषित करती है। सत्यको निगृहीत तथा आबद्ध करनेके लिये चतुर्दिक् खोजते फिरते हुए मनके निर्माणकारी प्रकाशका यहाँ अस्तित्व नहीं, चिंताकुल या निश्चेष्ट विश्रामका यहाँ नाम नहीं। सत्त्वके स्थानपर प्रतिष्ठित होता है प्रकाश तथा आध्यात्मिक आनंद जो आत्माकी गभीरता एवं अनंत सत्तासे एकीभूत है और सीधे गुह्य सर्वज्ञताके प्रच्छन्न तेज:पुंजसे नि:सृत होनेवाले प्रत्यक्ष एवं सत्य ज्ञानसे अनुप्राणित है। यह वह महत्तर चेतना है जिसमें हमें अपनी निम्न चेतनाको रूपांतरित करना है, त्रिगुणकी क्षुब्ध एवं असंतुलित क्रियासे युक्त इस अज्ञानमय प्रकृतिको हमें इस महत्तर ज्योतिर्मय परा प्रकृतिमें परिवर्तित करना है। सर्वप्रथम हम त्रिगुणसे मुक्त, निर्लिप्त और अक्षुब्ध 'निस्त्रैगुण्य'-स्थिति प्राप्त करते हैं। परंतु यह तो उस अंतरात्मा, आत्मा एवं आत्मतत्त्वकी सहज अवस्थाकी प्राप्ति है जो स्वतंत्र है और अज्ञान-शक्तिसे युक्त प्रकृतिकी चेष्टाका अपनी अचल शांतिमें निरीक्षण करती है। यदि इस भित्तिपर प्रकृति और इसकी गतिको भी स्वतंत्र बनाना हो तो इसके लिये कर्मको एक ऐसी ज्योतिर्मयी शांति एवं नीरवताके अंदर शांत और स्थिर करना होगा जिसमें सभी आवश्यक

क्रियाएँ इस प्रकार की जाती हैं कि मन या प्राण-सत्ता किसी प्रकारकी सचेतन प्रतिक्रिया या भागग्रहण या कार्यारंभ नहीं करती, न विचारकी कोई तरंग या प्राणिक भागोंकी कोई लहर ही उठती है; साथ ही, इसके लिये एक निर्वैयक्तिक वैश्व या परात्पर शक्तिकी प्रेरणा, प्रवर्तना और क्रियाकी सहायता भी प्राप्त करनी होगी। वैश्व मन, प्राण और सत्तत्त्वको अथवा हमारी अपनी वैयक्तिक सत्ता या इसकी प्रकृति-निर्मित देहपुरीसे भिन्न किसी शुद्ध परात्पर आत्म-शक्ति और आनंदको सक्रिय होना होगा। यह एक प्रकारकी मुक्त स्थिति है जो कर्मयोगमें अहंभाव, कामना और वैयक्तिक उपक्रमके त्यागद्वारा और विश्वात्मा या विश्व-शक्तिके प्रति हमारी सत्ताके समर्पणके द्वारा प्राप्त हो सकती है। ज्ञानयोगमें यह विचारके निरोध, मनकी नीरवता और विश्व-चेतना, विश्वात्मा, विश्व-शक्ति या परम सद्वस्तुके प्रति संपूर्ण सत्ताके उद्‌घाटनके द्वारा अधिगत हो सकती है। भक्तियोगमें यह अपनी सत्ताके आराध्य स्वामीके रूपमें उस आनंदघनके हाथोंमें अपने हृदय और समस्त प्रकृतिके समर्पणके द्वारा उपलब्ध हो सकती है। परंतु सर्वोच्च परिवर्तन तो एक अधिक निश्चयात्मक एवं क्रियाशील अतिक्रमणके द्वारा ही साधित हो सकता है; एक उच्च आध्यात्मिक स्थिति अर्थात् त्रिगुणातीत स्थितिमें हमारा स्थानांतरण या रूपांतर हो जाता है जिसमें हम एक महत्तर आध्यात्मिक गतिशीलतामें भाग लेने लगते हैं। क्योंकि तीन निम्नतर विषम गुण दैवी प्रकृतिकी शाश्वत शांति, ज्योति और शक्ति किंवा उसकी विश्रांति, गति और दीप्तिके सम त्रिविध गुणमें परिवर्तित हो जाते हैं।

यह परम समस्वरता तबतक नहीं प्राप्त हो सकती जबतक अहंकारमय संकल्प, चुनाव तथा कर्म बंद न हो जायँ और हमारी सीमित बुद्धि शांत न हो जाय। वैयक्तिक अहंभावको बल लगाना छोड़ देना होगा, मनको मौन हो जाना होगा, कामनामय संकल्पको सर्वारंभ परित्याग करना सीखना होगा। हमारे व्यक्तित्वको अपने उद्‌गममें मिल जाना होगा और समस्त विचार तथा आरंभको ऊर्ध्वलोकसे उद्‌भूत होना होगा। हमारे कर्मोंके गुप्त ईश्वर हमारे समक्ष शनैः-शनैः प्रकाशित होंगे और परम संकल्प एवं ज्ञानकी अभय छायामें दिव्य शक्तिको अनुमति देंगे और वह शक्ति ही विशुद्ध तथा उच्च प्रकृतिको अपना यंत्र बनाकर हममें सभी कर्म करेगी। व्यक्तित्वका व्यष्टि-रूप केंद्र इहलोकमें प्रकृतिके कर्मोंका भर्तामात्र होगा, यह उनका ग्रहीता तथा वाहन, उनकी शक्तिको प्रतिबिंबित करनेवाला तथा उसके प्रकाश, हर्ष तथा बलमें ज्ञानपूर्वक भाग लेनेवाला होगा। यह कर्म करता

हुआ भी अकर्ता रहेगा और निम्न प्रकृतिकी कोई भी प्रतिक्रिया इसे स्पर्श नहीं करेगी। प्रकृतिके तीन गुणोंका अतिक्रमण इस परिवर्तनकी पहली अवस्था है, इनका रूपांतर इसकी अंतिम सीढ़ी है। इससे कर्मोंका मार्ग हमारी तमसाच्छन्न मानवीय प्रकृतिकी संकीर्णताके गर्तमेंसे निकलकर ऊर्ध्व-स्थित सत्य तथा प्रकाशके अबाध विस्तार एवं बृहत् व्योममें आरोहण करता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

कर्मका स्वामी

हमारे कर्मोंका स्वामी और प्रेरक है वह 'एक' जो विराट् एवं परम है तथा सनातन एवं अनंत है। वह परात्पर, अविज्ञात या अज्ञेय परब्रह्म है, वह ऊर्ध्वस्थित, अप्रकट एवं अव्यक्त अनिर्वचनीय देव है, साथ ही वह सर्वभूतकी आत्मा, सब लोकोंका स्वामी, सब लोकोंसे अतीत, प्रकाशस्वरूप तथा पथप्रदर्शक, सर्वसुन्दर एवं आनंदघन, प्रेमी और प्रेमभाजन भी है। वह विश्वात्मा है तथा हमारे चारों ओरकी यह सब स्रष्ट्री शक्ति भी है; वह हमारे भीतर अन्तर्यामी देव है। जो कुछ भी है वह सब वही है, और जो कुछ है उस सबसे भी वह 'अधिक' है। हम स्वयं, चाहे हम इसे जानते नहीं, उसकी सत्ताकी सत्ता एवं उसकी शक्तिकी शक्ति हैं और उसकी चेतनासे निर्गत चेतनाके द्वारा ही चेतन हैं। हमारी मर्त्य सत्ता भी उसके सत्तत्त्वमेंसे बनी है और हमारे अंदर एक अमर सत्ता भी है जो सनातन प्रकाश और आनन्दका स्फुलिंग है। अपनी सत्ताके इस सत्यको चाहे ज्ञान, कर्म एवं भक्तिसे या अन्य किसी भी साधनसे जानना तथा उपलब्ध करना और यहाँ या और कहीं इसे कार्यक्षम बनाना ही योगमात्रका लक्ष्य है।

*

परंतु सुदीर्घ यात्रा तथा कठिन प्रयासके उपरांत ही हम सत्यका साक्षात् करनेवाली आँखोंसे भगवान्‌को देख पाते हैं, और यदि हम उसके सच्चे स्वरूपके अनुरूप अपनेको फिरसे गढ़ना चाहें तो हमें और भी दीर्घकालतक तथा अधिक विकट पुरुषार्थ करना होगा। कर्मका स्वामी अपने-आपको जिज्ञासुके समक्ष तुरंत ही प्रकाशित नहीं कर देता, चाहे बराबर ही उसीकी शक्ति पर्देके पीछेसे कार्य कर रही होती है, किंतु वह प्रकट तभी होती है जब हम कर्तृत्वका अहंकार त्याग देते हैं, और जितना ही यह त्याग अधिकाधिक मूर्त्त होता जाता है उस शक्तिकी प्रत्यक्ष क्रिया उतनी ही बढ़ती चली जाती है। किंतु उसकी पूर्ण उपस्थितिमें निवास करनेका अधिकार हमें तभी प्राप्त होगा जब उसकी दिव्य शक्तिके प्रति हमारा

समर्पण पूर्ण हो जायगा। तभी हम यह भी देख सकेंगे कि हमारा कर्म अपने-आपको एक सहज-स्वाभाविक तथा पूर्ण रूपसे भागवत संकल्पके सांचेमें ढाल रहा है।

अतएव, इस पूर्णताकी प्राप्तिमें कुछ क्रम और सोपान अवश्य होने चाहियें जैसे कि प्रकृतिके किसी भी स्तरपर अन्य समस्त पूर्णताकी ओर प्रगतिमें होते हैं। इसकी पूर्ण गरिमाका अन्तर्दर्शन हमें पहले भी, एकाएक या शनैः-शनैः, एक बार या अनेक बार, प्राप्त हो सकता है, परंतु जबतक आधारशिला पूर्ण रूपसे स्थापित नहीं हो जाती, तबतक यह एक अल्पकालिक और केंद्रित अनुभूति ही होती है, स्थायी और सर्वतोव्यापी अनुभूति एवं शाश्वत उपस्थिति नहीं। भागवत उन्मेषके विशाल और अनन्त वैभव तो बादमें ही प्राप्त होते हैं और अपना बल-माहात्म्य शनैः-शनैः अनावृत करते हैं। अथवा, एक स्थिर अन्तर्दर्शन भी हमारी प्रकृतिके शिखरोंपर विद्यमान हो सकता है, किंतु निम्नतर अंगोंका पूर्ण प्रत्युत्तर तो क्रमशः ही प्राप्त होता है। सभी योगोंमें सर्वप्रथम आवश्यक वस्तुएँ हैं—श्रद्धा और धैर्य। यदि हृदयकी उत्कण्ठाएँ और उत्सुक संकल्पकी उग्रताएँ,—जो स्वर्गके राज्यको बलपूर्वक अपने अधिकारमें कर लेना चाहती हैं,—इन अधिक विनीत और शांत सहायकोंको अपनी प्रचंडताका आधार बनानेसे घृणा करें, तो वे दुःखदायी प्रतिक्रियाएँ पैदा कर सकती हैं। इस दीर्घ और कठिन पूर्णयोगके लिये सर्वांगीण श्रद्धा एवं अविचल धैर्यका होना अत्यंत आवश्यक है।

परंतु हृदय तथा मनकी अधीरता और हमारी राजस प्रकृतिकी उत्सुक पर स्खलनशील इच्छाशक्तिके कारण योगके विषम एवं संकीर्ण पथपर इस श्रद्धा तथा धैर्यका उपार्जन वा अभ्यास करना कठिन होता है। प्राणिक प्रकृतिका मनुष्य सदा ही अपने परिश्रमके फलके लिये तरसता है और यदि उसे ऐसा लगता है कि फल देनेसे इन्कार किया जा रहा है या इसमें बहुत देर लगायी जा रही है तो वह आदर्श तथा पथप्रदर्शनमें विश्वास करना छोड़ देता है। कारण, उसका मन सदा पदार्थोंकी बाह्य प्रतीतिके द्वारा ही निर्णय करता है, क्योंकि यह उस बौद्धिक तर्कका प्रमुख और दृढ़ स्वभाव है जिसमें वह इतना अपरिमित विश्वास करता है। जब हम चिरकालतक कष्ट भोगते या अँधेरेमें ठोकरें खाते हैं तब अपने हृदयोंमें भगवान्‌को कोसनेसे अथवा जो आदर्श हमने अपने सामने रखा है उसे त्याग देनेसे अधिक आसान हमारे लिये और कुछ नहीं होता। कारण, हम कहते हैं, "मैंने सर्वोच्च सत्तापर विश्वास किया है और मेरे साथ विश्वासघात

करके मुझे दुःख, पाप और भ्रांतिके गर्तमें गिरा दिया गया है।" अथवा, "मैंने एक ऐसे विचारपर अपने सारे जीवनकी वाजी लगा दी है जिसे अनुभवके दृढ़ तथ्य खंडित तथा निरुत्साहित करते हैं। यह अधिक अच्छा होता कि मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे आदमी हैं जो अपनी सीमाएँ स्वीकार करते हैं और सामान्य अनुभवके स्थिर आधारपर विचरण करते हैं।" ऐसी घड़ियोंमें—और ये कभी-कभी वारम्वार आती हैं और देरतक रहती हैं—समस्त उच्चतर अनुभव विस्मृत हो जाता है और हृदय अपनी कटुतामें डूब जाता है। यहाँतक कि इन अँधेरे रास्तोंमें हम सदाके लिये पतित भी हो सकते हैं अथवा दिव्य संघर्षसे पराङ्मुख हो सकते हैं।

परंतु यदि कोई पथपर दूरतक तथा दृढ़तासे चल चुका हो तो हृदयकी श्रद्धा उग्र-से-उग्र विरोधी दबावमें भी स्थिर रहेगी; यह आच्छादित या प्रत्यक्षतः अभिभूत भले ही हो जाय तो भी, यह पहला अवसर पाते ही फिर उभर आयेगी। कारण, हृदय या बुद्धिसे ऊँची कोई वस्तु इसे अति-निकृष्ट पतनोंके होते हुए भी तथा अत्यंत दीर्घकालीन विफलतामें भी सहारा देगी। परंतु ऐसी दुर्वलताएँ या अंधकारकी अवस्थाएँ एक अनुभवी साधककी प्रगतिमें भी व्याघात पहुँचाती हैं और नौसिखुएके लिये तो ये अत्यंत ही भयानक होती हैं। अतएव, यह आरंभसे ही आवश्यक होता है कि हम इस पथकी विकट कठनाईको समझें और इसे अंगीकार करें तथा उस श्रद्धाकी आवश्यकता अनुभव करें जो बुद्धिको भले ही अंध प्रतीत होती हो फिर भी हमारी तर्कशील बुद्धिसे अधिक ज्ञानपूर्ण होती है। कारण, श्रद्धा ऊपरसे मिलनेवाला अवलंव है; यह उस गुप्त ज्योतिकी उज्ज्वल छाया है जो बुद्धि और इसके ज्ञात तथ्योंसे अतीत है। यह उस निगूढ़ ज्ञानका हृदय है जो प्रत्यक्ष प्रतीतियोंका दास नहीं है। हमारी श्रद्धा, अटल रहकर, अपने कर्मोंमें युक्तियुक्त सिद्ध होगी और अंतमें दिव्य ज्ञानकी स्वयं-प्रकाशतामें उन्नीत तथा रूपांतरित हो जायगी। हमें सदा ही गीताके इस आदेशका दृढ़तासे अनुसरण करना होगा कि "निराशा एवं अवसादसे रहित हृदयके द्वारा योगका निरंतर अभ्यास करना चाहिये।"* सदा ही हमें संदेहशील बुद्धिके सम्मुख ईश्वरकी यह प्रतिज्ञा दुहरानी होगी, "मैं तुझे समस्त पाप एवं अशुभसे निश्चितरूपेण मुक्त कर दूँगा; शोक मत कर।" अंतमें, श्रद्धाकी चंचलता दूर हो जायगी; क्योंकि हम भगवान्‌की

---

* स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा। गीता ६-२३

मुखछवि निहार लेंगे और भागवत उपस्थितिको अनवरत अनुभव करेंगे।

*

हमारे कर्मोंका स्वामी जब हमारी प्रकृतिका रूपांतर कर रहा होता है तब भी वह इसका मान करता है; वह सदा हमारी प्रकृतिके द्वारा ही अपनी क्रिया करता है, मनकी मौजके अनुसार नहीं। हमारी इस अपूर्ण प्रकृतिमें हमारी पूर्णताकी सामग्री भी निहित है, पर वह अविकसित, विकृत तथा स्थानभ्रष्ट है और अव्यवस्था या त्रुटिपूर्ण दुर्व्यवस्थाके साथ एक ही जगह पटकी हुई है। इस सब सामग्रीको धैर्यपूर्वक पूर्ण बनाना है, शुद्ध, पुनर्व्यवस्थित, नव-घटित तथा रूपांतरित करना है; इसे न तो छिन्न-भिन्न तथा नष्ट-भ्रष्ट वा क्षत-विक्षत करना है और न कोरे बलात्कार वा इन्कारके द्वारा मिटा ही देना है। यह संसार तथा इसमें रहनेवाले हम सब उसीकी रचना एवं अभिव्यक्ति हैं, और वह इसके साथ तथा हमारे साथ ऐसे ढंगसे बर्ताव करता है जिसे हमारा क्षुद्र एवं अज्ञ मन तबतक नहीं समझ सकता जबतक वह शांत होकर दिव्य ज्ञानके प्रति उन्मुक्त न हो जाय। हमारी भूलोंमें भी एक ऐसे सत्यका उपादान रहता है जो हमारी अन्धान्वेषक बुद्धिके प्रति अपना अर्थ प्रकाशित करनेका यत्न करता है। मानव-बुद्धि भूलको अपने अंदरसे निकालती है, पर साथ-ही-साथ सत्यको भी निकाल फेंकती है और उसके स्थानपर एक और अर्द्ध-सत्य, अर्द्ध-भ्रांतिको ला बिठाती है। परंतु भागवत प्रज्ञा हमारी भूलोंको तबतक बनी रहने देती है जबतक हम प्रत्येक मिथ्या आवरणके नीचे गुप्त और सुरक्षित रखे हुए सत्यको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो जाते। हमारे पाप उस अन्वेषक शक्तिके भ्रांत पग होते हैं जिसका लक्ष्य पाप नहीं, वरन् पूर्णत्व होता है अथवा एक ऐसा कर्म होता है जिसे हम दिव्य पुण्य कह सकते हैं। बहुधा वे एक ऐसे गुणको ढकनेवाले पर्दे होते हैं जिसे रूपांतरित करके इस भद्दे आवरणसे मुक्त करना होता है; अन्यथा, वस्तुओंके पूर्ण विधानमें, उन्हें पैदा होने या रहने ही न दिया जाता। हमारे कर्मोंका स्वामी न तो प्रमादी है न उदासीन साक्षी और न ही अनावश्यक बुराइयोंकी रंगरेलियोंसे मन बहलानेवाला, वह हमारी बुद्धिसे अधिक ज्ञानी है, वह हमारे पुण्यसे भी अधिक ज्ञानी है।

यही नहीं कि हमारी प्रकृति इच्छाशक्तिकी दृष्टिसे भ्रांत तथा ज्ञानकी दृष्टिसे अज्ञ है, बल्कि शक्तिकी दृष्टिसे दुर्बल भी है। किंतु भागवती शक्ति संसारमें विद्यमान है और यदि हम उसपर विश्वास रखें तो वह

हमें मार्ग दिखावेगी और हमारी दुर्बलताओं तथा हमारी क्षमताओंको दिव्य प्रयोजनके लिये प्रयुक्त करेगी। यदि हम अपने तात्कालिक लक्ष्यमें असफल होते हैं तो वह इसलिये कि असफलता ईश्वरको अभिमत होती है। प्राय: हमारी विफलता या दुष्परिणाम ही ठीक मार्ग होता है जिससे हमें तात्कालिक एवं पूर्ण सफलतासे प्राप्य फलकी अपेक्षा अधिक सच्चा फल प्राप्त होता है। यदि हम दु:ख भोगते हैं तो वह इसलिये कि हमारे अंदरके किसी भागको आनंदकी एक अधिक दुर्लभ संभावनाके लिये तैयार करना होता है। यदि हम ठोकर खाते हैं तो इसलिये कि अंतमें अधिक पूर्ण ढंगसे चलनेका रहस्य जान जायँ। शांति, पवित्रता और पूर्णता प्राप्त करनेके लिये भी हमें अति प्रचण्ड रूपमें उतावले नहीं हो जाना चाहिये। शांति हमारी संपदा अवश्य होनी चाहिये, परंतु एक रिक्त या लुण्ठित प्रकृतिकी अथवा उन घातित या अपंग शक्तियोंकी शांति नहीं जो चेष्टा करनेमें समर्थ ही नहीं रहती, क्योंकि हम उन्हें बल, ओज और तेजके अयोग्य वना डालते हैं। पवित्रता हमारा लक्ष्य अवश्य होनी चाहिये, किंतु एक शून्य या निरानन्द एवं कठोर उदासीनताकी पवित्रता नहीं। पूर्णताकी हमसे माँग की जाती है, पर उस पूर्णताकी नहीं जो अपने क्षेत्रको संकुचित सीमाओंमें घेरकर अथवा अनन्तके नित्य-विस्तारशील कुंडलको मनमाने ढंगसे छोटा करके ही अस्तित्व रख सकती है। हमारा लक्ष्य दिव्य प्रकृतिमें रूपांतरित होना है, परंतु दिव्य प्रकृति कोई मानसिक या नैतिक नहीं वरन् एक आध्यात्मिक अवस्था है जिसकी उपलब्धि करना यहाँतक कि कल्पना करना भी हमारी बुद्धिके लिये कठिन है। हमारे कर्म तथा हमारे योगका स्वामी यह जानता है कि उसे क्या करना है, और हमारा कर्तव्य है कि हम उसे उसीकी साधन-सामग्री तथा उसीकी प्रणालीसे अपने भीतर कार्य करनेका अवकाश दें।

अज्ञानकी गति मूलत: अहंकारमय होती है और जब हम अभी अपनी अनिष्पन्न प्रकृतिके अर्द्ध-प्रकाश एवं अर्द्ध-बलमें व्यक्तित्वको अंगीकार करते तथा कर्ममें आसक्त होते हैं तब अहंकारसे छुटकारा पाना हमारे लिये एक अत्यंत कठिन कार्य होता है। कर्म करनेकी प्रवृत्तिका त्यागकर अहंको भूखों मारना अथवा व्यक्तित्वकी समस्त क्रियासे संबंध-विच्छेद कर अहंका नाश कर डालना अपेक्षाकृत सुगम है। इसे शांतिमय समाधिमें या दिव्य प्रेमके परमानंदमें निमग्न आत्म-विस्मृतिके स्तरपर ऊँचा उठा ले जाना भी अपेक्षाकृत सरल है। परंतु सच्चे 'पुरुष'को विमुक्त करके एक ऐसी दिव्य मानवता प्राप्त करना जो दिव्य बलका शुद्ध आधार तथा दिव्य कर्मका

पूर्ण यंत्र हो, एक अधिक कठिन समस्या है। एकके बाद एक सभी सोपानोंको दृढ़तासे पार करना होगा; एकके बाद एक सभी कठिनाइयोंको पूरी तरहसे अनुभव करना और उन्हें पूरी तरहसे जीतना होगा। दिव्य प्रज्ञा और शक्ति ही हमारे लिये यह कार्य कर सकती है और वह ऐसा करेगी ही यदि हम पूर्ण श्रद्धासे उसके चरणोंमें नतमस्तक होकर दृढ़ साहस तथा धैर्यके साथ उसकी कार्यप्रणालियोंको हृदयंगम करें और उन्हें अपनी सहमति दें।

इस दीर्घ पथका प्रथम सोपान यह है कि हम अपने सभी कर्म अपनेमें तथा जगत्में विद्यमान भगवान्को यज्ञ-रूपमें अर्पित करें। यह अर्पण मन तथा हृदयका भाव है; इसमें प्रथम प्रवेश तो इतना कठिन नहीं, किंतु इसे पूर्ण रूपमें सच्चा एवं व्यापक बनाना अत्यंत कठिन है। द्वितीय सोपान है अपने कर्मोंके फलमें आसक्तिका परित्याग। कारण, यज्ञका एकमात्र सच्चा, अवश्यंभावी तथा परम स्पृहणीय फल—एकमात्र आवश्यक वस्तु—यही है कि हमारे भीतर भागवत उपस्थिति एवं भागवत चेतना तथा शक्ति प्रकट हो और यदि यह फल उपलब्ध हो जाय तो और सब कुछ स्वयमेव प्राप्त हो जायगा। तृतीय सोपान है केंद्रीय अहंभाव तथा कर्तृत्वके अहंकारसे भी छुटकारा प्राप्त करना। यह सबसे कठिन रूपांतर है और यदि पहले दो सोपान पार न कर लिये गये हों तो इसे पूर्णतया संपन्न किया ही नहीं जा सकता। पर वे प्रारंभिक सोपान भी तबतक पार नहीं हो सकते जबतक रूपांतरकी इस गतिको सफल बनानेके लिये तीसरा सोपान प्रारंभ नहीं हो जाता और यह अहंभावका विनाश कर कामनाके असली मूलका ही उन्मूलन नहीं कर देता। जब कोई जिज्ञासु अपने क्षुद्र अहंभावको अपनी प्रकृतिमेंसे निकाल फेंकता है तभी वह उस सच्चे पुरुषको जान सकता है जो भगवान्के अंश और शक्तिके रूपमें ऊपर अवस्थित है और तभी वह भागवत शक्तिके संकल्पसे भिन्न अन्य समस्त प्रेरक-शक्तिका परित्याग भी कर सकता है।

*

सर्वांगीण सिद्धि प्रदान करनेवाली इस अंतिम गतिके कई सोपान हैं; क्योंकि यह एकदम या उन लंबे प्रवेश-पथोंके बिना पूरी नहीं की जा सकती जो इसे उत्तरोत्तर निकट ले आते हैं तथा अंतमें इसे संभव बना देते हैं। सर्वप्रथम हमें यह भाव धारण करना होगा कि हम अपने-आपको कर्त्ता समझना छोड़ दें और दृढ़तापूर्वक यह अनुभव करें कि हम वैश्व शक्तिके

केवल एक यंत्र हैं। प्रारंभमें ऐसा दीख पड़ता है कि एक ही शक्ति नहीं, वरन् अनेक वैश्व शक्तियाँ हमें चला रही हैं। किंतु इन्हें अहंकी पोषक शक्तियोंके रूपमें भी परिणत किया जा सकता है और यह दृष्टि मनको तो मुक्त कर देती है, पर शेष प्रकृतिको मुक्त नहीं करती। जब हमें यह ज्ञान हो जाय कि सब कुछ एक ही वैश्व शक्तिका तथा उसके मूलमें विराजमान भगवान्का व्यापार है तब भी यह आवश्यक नहीं कि यह ज्ञान सारी प्रकृतिको मुक्त कर ही देगा। यदि कर्तृत्वका अहंकार लुप्त हो जाय तो यंत्रभावका अहंकार इसका स्थान ले सकता है या एक छद्मवेशमें इसीको जारी रख सकता है। जगत्का जीवन इस प्रकारके अहंभावके दृष्टांतोंसे भरा पड़ा है और यह अन्य किसी भी अहंभावकी अपेक्षा अधिक ग्रस्त करनेवाला तथा अधिक घोर हो सकता है। यही भय योगमें भी है। कोई मनुष्य मनुष्योंका नेता बन जाता है अथवा किसी बड़े या छोटे क्षेत्रमें सुप्रसिद्ध हो जाता है और अपनेको एक ऐसी शक्तिसे पूर्ण अनुभव करता है जो उसकी समझमें उसके अपने अहं-बलसे परतर होती है। वह अपने द्वारा काम करनेवाले एक दैवसे अथवा एक गुह्य एवं अगम संकल्पशक्ति या एक अतिभास्वर अंतर्ज्योतिसे सचेतन हो सकता है। ऐसे मनुष्यके विचारों और कार्यों अथवा उसकी सर्जनशील प्रतिभाके असाधारण परिणाम होते हैं। वह या तो एक बड़ा भारी विनाश करता है जो मानवताके लिये पथ प्रशस्त कर देता है अथवा वह एक महान् निर्माण करता है जो मानवजातिका एक क्षणिक पड़ाव होता है। वह या तो दण्ड देनेवाला होता है या प्रकाश एवं सुखका वाहक, या तो सौंदर्यका स्रष्टा होता है या ज्ञानका अग्रदूत। अथवा, यदि उसका कार्य तथा उस कार्यके परिणाम अपेक्षाकृत कम महान् हों और यदि उनका क्षेत्र भी सीमित हो तो भी उसके अंदर यह भाव प्रबल रूपमें रहता है कि वह एक यंत्र है और अपने भगवदीय कार्य या अपने प्रयासके लिये चुना हुआ है। जो लोग ऐसे भाग्य तथा इन शक्तियोंसे संपन्न होते हैं वे अपनेको सहजमें ही ईश्वर या नियतिके हाथोंके निमित्तमात्र मानने तथा घोषित करने लगते हैं। परंतु उस घोषणामें भी हम देख सकते हैं कि एक इतना अधिक तीव्र एवं बढ़ा-चढ़ा अहंकार भीतर घुस सकता या आश्रय पा सकता है जिसे घोषित करनेका साहस या अपने अंदर आश्रय देनेका सामर्थ्य साधारण मनुष्योंमें नहीं होता। बहुधा यदि इस प्रकारके लोग ईश्वरकी बात करते हैं तो ऐसा वह उसकी एक ऐसी प्रतिमूर्त्ति खड़ी करनेके लिये ही करते हैं जो वास्तवमें स्वयं उनके या उनकी अपनी प्रकृतिके

विशाल प्रतिबिंबके सिवाय और उनके अपने विशिष्ट प्रकारके संकल्प, विचार, गुण तथा बलके पोषक दैविक सारके सिवाय और कुछ नहीं होती। उनके अहंका यह परिवर्द्धित आकार ही वह स्वामी होता है जिसकी वे सेवा करते हैं। योगमें प्रबल, पर असंस्कृत प्राणिक प्रकृति या मनवाले उन लोगोंके साथ जो चटपट ऊँचे उठ जाते हैं ऐसा प्रायः ही होता है जब कि वे महत्त्वाकांक्षा, अभिमान या बड़े बननेकी कामनाको अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासामें घुसने देते हैं तथा उसके द्वारा इसके प्रेरकभावकी शुद्धताको कलुषित होने देते हैं। वास्तवमें उनके और उनकी सच्ची सत्ताके बीचमें एक परिवर्द्धित अहं स्थित होता है। यह अहं उस, दिव्य या अदिव्य, महत्तर अगोचर शक्तिसे, जो उनके द्वारा काम कर रही होती है और जिससे वे अस्पष्ट या तीव्र रूपमें सचेतन हो जाते हैं, अपने वैयक्तिक प्रयोजनके लिये बल आयत्त कर लेता है। अतः, इस प्रकारका बौद्धिक ज्ञान या प्राणगत बोध कि एक शक्ति है जो हमसे महत्तर है और हम उसीसे परिचालित होते हैं, हमें अहंसे मुक्त करनेके लिये पर्याप्त नहीं है।

यह ज्ञान अथवा यह बोध कि हममें या हमारे ऊपर एक महत्तर शक्ति विद्यमान है और वह हमें चला रही है कोई भ्रम या गर्वोन्माद नहीं होता। जिन्हें ऐसा अनुभव एवं साक्षात्कार होता है उनकी दृष्टि साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक विशाल होती है और वे सीमित स्थूल बुद्धिसे एक पग आगे बढ़े हुए होते हैं, परंतु उनकी दृष्टि पूर्ण दृष्टि या साक्षात् अनुभूति नहीं होती। क्योंकि उनके मनमें स्पष्टता वा ज्ञान-ज्योति तथा उनकी आत्मामें सचेतनता नहीं होती, और क्योंकि उनकी जागृति आत्माके आध्यात्मिक तत्त्वकी अपेक्षा कहीं अधिक प्राणमय भागोंमें ही होती है, वे भगवान्के सचेतन यंत्र नहीं बन सकते अथवा अपने स्वामीका साक्षात्कार नहीं कर सकते, बल्कि भगवान् ही उन्हें उनकी भ्रांतिशील तथा अपूर्ण प्रकृतिके द्वारा अपने उपयोगमें लाते हैं। देवत्वको वे अधिक-से-अधिक दैव या एक वैश्व शक्तिके रूपमें ही देखते हैं अथवा वे एक सीमित देवको या इससे भी निकृष्ट रूपमें, एक दानवीय या राक्षसी शक्तिको, जो उसे छिपाये होती है, देवका नाम दे देते हैं। यहांतक कि कई धर्म-संस्थापकोंने भी एक साम्प्रदायिक ईश्वर या राष्ट्रीय ईश्वरकी, अथवा आतंक एवं दण्डकी किसी शक्तिकी या सात्त्विक प्रेम, दया और पुण्यके देवताकी प्रतिमा खड़ी कर दी है और प्रतीत होता है कि एकमेव और सनातनका साक्षात्कार उन्होंने नहीं किया है। भगवान् उस प्रतिमाको स्वीकार कर लेते हैं जो वे उनकी बनाते हैं और उस माध्यमके द्वारा

उनमें अपना कार्य करते हैं। परंतु, क्योंकि वह एक शक्ति उन्हें अपने अंदर दूसरोंकी अपेक्षा अधिक तीव्र रूपमें अनुभूत होती है और उनकी अपूर्ण प्रकृतिमें वह अधिक प्रवलतासे कार्य करती है, अहंभावका प्रेरक तत्त्व भी उनके अंदर दूसरोंकी अपेक्षा अधिक उत्कट हो सकता है। एक उन्नत या सात्त्विक अहंभाव अभी भी उन्हें अपने अधिकारमें किये होता है और उनके तथा सर्वांगीण सत्यके बीचमें आड़े आता है। यह भी कुछ चीज अवश्य है, एक आरंभ अवश्य है, चाहे सत्य और पूर्ण अनुभवसे यह अभी दूर ही है। जो लोग मानवीय बंधनोंको थोड़ा बहुत तोड़ डालते हैं, किंतु पवित्रता और ज्ञानसे रहित होते हैं, उनकी तो और भी अधिक दुर्दशा हो सकती है, क्योंकि वे यंत्र तो बन सकते हैं, पर भगवान्के नहीं; बहुधा वे भगवान्के नामपर 'वृत्रों'की, अर्थात् उसके आवरणों तथा काले *विरोधियों एवं अंधकारकी शक्तियोंकी ही अनजानमें सेवा करते हैं।*

हमारी प्रकृतिको अपनेमें वैश्व शक्तिकी प्रतिष्ठा अवश्य करनी चाहिये, किंतु इसके निम्नतर रूपमें अथवा इसकी राजसिक वा सात्त्विक गतिवाले रूपमें नहीं; इसे वैश्व संकल्पकी सेवा अवश्य करनी चाहिये, पर एक महत्तर मोक्षकारी ज्ञानके प्रकाशमें। हमारे यंत्रत्वके भावमें किसी प्रकारका अहंकार कदापि नहीं होना चाहिये, तब भी नहीं जब हम अपनी अन्तःस्थ शक्तिकी महत्तासे पूर्णतः सचेतन हों। प्रत्येक मनुष्य, सचेतन रूपसे हो या अचेतन रूपसे, एक वैश्व शक्तिका यंत्र है और किसी एक तथा दूसरे कार्यमें एवं किसी एक तथा दूसरे प्रकारके यंत्रमें आभ्यंतर उपस्थितिके सिवाय और कोई ऐसा सारभूत भेद नहीं होता जो अहंमूलक अभिमानकी मूर्खताको उचित ठहरा सके। ज्ञान और अज्ञानमें अंतर केवल आत्माकी कृपाका ही होता है; भागवत शक्तिका श्वास जिसे वरण करता है उसीमें प्रवाहित होता है और आज एकको तथा कल किसी दूसरेको वाणी या बलसे पूरित कर देता है। यदि कुंभकार एक पात्र दूसरेकी अपेक्षा अधिक पूर्णतासे गढ़ता है तो उसका श्रेय पात्रको नहीं, बल्कि निर्माताको होता है। हमारे मनका भाव यह नहीं होना चाहिये कि "यह मेरा बल है" अथवा देखो "मुझमें ईश्वरकी शक्ति", वरन् यह कि "इस मन तथा शरीरमें भागवती शक्ति कार्य कर रही है और यह वही है जो सभी मनुष्यों तथा प्राणियोंमें, पौधे तथा धातुमें, सचेतन तथा सजीव वस्तुओंमें और अचेतन तथा निर्जीव प्रतीत होनेवाली वस्तुओंमें भी कार्य करती है।" एक ही देव सबमें कार्य कर रहा है और संपूर्ण संसार समान रूपसे एक दिव्य कर्म तथा क्रमिक आत्म-अभिव्यक्तिका यंत्र है—यह विशाल दृष्टि

यदि हमारी अखंड अनुभूति वन जाय तो यह हमें अपने अंदरसे समस्त राजसिक अहंकारको निकाल डालनेमें सहायक होगी और फिर सात्त्विक अहं-बुद्धि भी हमारी प्रकृतिसे क्रमशः दूर होने लगेगी। अहंके इस रूपका परित्याग हमें सीधा उस वास्तविक यंत्रीय कार्यकी ओर ले जाता है जो सर्वांगीण कर्मयोगका मूलतत्त्व है। कारण, जब हम यंत्रभावके अहंकारका पोषण कर रहे होते हैं, तव हम अपने निकट तो यह दावा कर सकते हैं कि हम- भगवान्‌के सचेतन यंत्र हैं, पर वास्तवमें हम भागवत शक्तिको अपनी कामनाओं या अपने अहंमूलक प्रयोजनका यंत्र वनानेका यत्न कर रहे होते हैं। यदि अहंको वशमें कर लिया जाय, पर इसका उन्मूलन न किया जाय तो हम दिव्य कर्मके इंजन तो अवश्य वन सकते हैं, पर हम अपूर्ण उपकरण ही रहेंगे और अपने मनकी भूलों, प्राणकी विकृतियों या भौतिक प्रकृतिकी हठीली दुर्वलताओंके द्वारा शक्तिकी क्रियाको पथच्युत या क्षत-विक्षत ही कर देंगे। यदि यह अहं नष्ट हो जाय तो हम सच्चे अर्थोंमें ऐसे शुद्ध यंत्र वन सकते हैं जो हमें चलानेवाले दिव्य हस्तकी प्रत्येक गतिको सचेतन रूपसे अंगीकार करेंगे, इतना ही नहीं, वल्कि हम अपनी सच्ची प्रकृतिसे सज्ञान भी हो सकते हैं, उस एकमेव सनातन तथा अनंतके ऐसे सचेतन अंश वन सकते हैं जिन्हें परम शक्तिने अपने अंदर अपने कार्योंके लिये प्रसारित किया है।

*

अपना यंत्र-स्वरूप अहं भागवती शक्तिको समर्पित करनेके वाद एक और महत्तर सोपान पार करना होता है। भागवती शक्तिके इस रूपका ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि यही वह एकमात्र वैश्व शक्ति है जो मन, प्राण तथा जड़के स्तरपर हमें तथा सव प्राणियोंको प्रचालित करती है। कारण, यह तो निम्नतर प्रकृति है और, यद्यपि भागवत ज्ञान, प्रकाश एवं वल अज्ञानमें भी निगूढ़ तथा क्रियाशील रूपमें विद्यमान हैं और इसके आवरणको कुछ भेद करके अपना सत्य-स्वरूप यत्किंचित् व्यक्त कर सकते हैं अथवा ऊपरसे अवतीर्ण होकर इन हीन क्रियाओंको ऊँचा उठा सकते हैं, तथापि अपने अध्यात्म-भावित मन, अध्यात्म-भावित प्राण-गति और अध्यात्म-भावित देह-चेतनाके अंदर हमें एकमेवका अनुभव हो जानेपर भी, हमारे क्रियाशील अंगोंमें अपूर्णता वनी ही रहती है। परम शक्तिके प्रति हमारा प्रत्युत्तर तव भी स्खलनशील होता है, भगवान्‌का मुखमंडल तव भी आवृत रहता है और अज्ञानका सतत मिश्रण भी वना ही रहता है।

भागवत शक्तिके बल एवं ज्ञानके पूर्ण यंत्र तो हम तभी बन सकते हैं यदि हम उसके प्रति—इस निम्न प्रकृतिका अतिक्रम करनेवाले उसके सत्य-स्वरूपके प्रति—उन्मीलित हो जायँ।

केवल मुक्ति ही नहीं अपितु परिपूर्णता कर्मयोगका लक्ष्य होनी चाहिये। भगवान् हमारी प्रकृतिद्वारा तथा हमारी प्रकृतिके अनुसार ही कर्म करता है; यदि हमारी प्रकृति अपूर्ण हो तो भगवान्का कर्म भी अपूर्ण, मिश्रित एवं अयुक्त होगा। यहाँतक कि वह स्थूल भ्रांतियों, असत्यों, नैतिक दुर्बलताओं और विक्षेपक प्रभावोंसे व्याहत भी हो सकता है। भगवान्का कर्म हमारे अंदर तब भी होता रहेगा, पर होगा हमारी दुर्बलताओंके अनुसार, अपने उद्गमकी शक्ति और पवित्रताके अनुसार नहीं। यदि हमारा योग सर्वांगीण योग न होता, यदि हमें अपनी अंतःस्थित आत्माकी मुक्ति, या प्रकृतिसे वियुक्त पुरुषकी निश्चल सत्ता ही अभीष्ट होती, तो इस व्यावहारिक अपूर्णताकी हमें कुछ भी परवा न होती। शांत, अक्षुब्ध, हर्ष और विषादसे रहित, पूर्णता और अपूर्णता, गुण और दोष तथा पाप और पुण्यको अपना न मानते हुए, और यह अनुभव करते हुए कि प्रकृतिके गुण ही अपने क्षेत्रमें कार्य करते हुए यह मिश्रण पैदा करते हैं, हम आत्माकी नीरवतामें प्रतिगमन कर सकते थे और शुद्ध एवं निर्लिप्त रहकर केवल साक्षीकी भाँति प्रकृतिके व्यापारोंको देख सकते थे। परंतु सर्वांगीण उपलब्धिमें यह निश्चलता हमारे मार्गका एक सोपानमात्र हो सकती है, अंतिम पड़ाव नहीं, क्योंकि हमारा लक्ष्य आत्मसत्ताकी स्थितिशीलतामें ही नहीं, वरन् प्रकृतिकी गतिमें भी दिव्य चरितार्थता उपलब्ध करना है। ऐसा पूरी तरहसे तबतक नहीं हो सकता, जबतक हम अपने कार्योंके प्रत्येक पगमें तथा इनकी प्रत्येक गतिविधि और रूप-रेखामें, अपने संकल्पके प्रत्येक झुकाव तथा प्रत्येक विचार, भाव एवं आवेगमें भगवान्की उपस्थिति और शक्तिको अनुभव नहीं कर लेते। इसमें संदेह नहीं कि एक दृष्टिसे हम अज्ञानकी प्रकृतिमें भी भगवान्की उपस्थिति एवं शक्तिका अनुभव कर सकते हैं, परंतु वह होगी एक प्रच्छन्न दिव्य शक्ति तथा उपस्थिति, एक वामनाकृति एवं क्षुद्र मूर्त्ति। हमारी माँग इससे बहुत बड़ी है, वह यह कि हमारी प्रकृति भगवान्के परम सत्य एवं परा ज्योतिमें, नित्य आत्म-सचेतन संकल्पकी शक्ति और सनातन ज्ञानकी वृहत्तामें भगवान्की ही एक विभूति बन जाय।

अहंका पर्दा हटानेके बाद प्रकृति और इसके उन निम्नतर गुणोंका पर्दा हटाना होता है जो हमारे तन-मन-जीवनपर शासन करते हैं। अहंकी सीमाएँ ज्योंही लुप्त होने लगती हैं त्योंही हमें पता चल जाता है कि वह

पर्दा किस चीजका बना हुआ है और हम अपनेमें विश्व-प्रकृतिकी क्रिया होती देखते हैं एवं विश्व-प्रकृतिके भीतर या इसके मूलमें विश्वात्माकी उपस्थिति तथा जगद्व्यापी ईश्वरकी विराट् गति अनुभव करते हैं। यंत्रका स्वामी इस अखिल क्रियाके पीछे अवस्थित है और इसके भीतर भी उसका स्पर्श किंवा उसके महान् पथप्रदर्शक या प्रवर्तक प्रभावकी प्रेरणा उपस्थित रहती है। तब हम अहं या अहं-शक्तिकी सेवा नहीं करते; हम जगत्के स्वामी और उसके विकाससंबंधी संवेगका अनुसरण करते हैं। पग-पगपर हम संस्कृतके एक पद्यकी भाषामें कहते हैं कि "मेरे हृदयमें बैठे हुए आप मुझे जैसे प्रेरित करते हैं वैसे ही, हे स्वामिन्, मैं कार्य करता हूँ।"* फिर भी वह कार्य दो अत्यंत भिन्न कोटियोंका हो सकता है, एक तो वह जो केवल प्रकाशयुक्त होता है और दूसरा वह जो महत्तर एवं परा प्रकृतिमें रूपांतरित तथा उन्नीत हुआ होता है। कारण, हम अपनी प्रकृतिद्वारा धारित तथा अनुसृत होकर कर्ममार्गपर चलते चले जा सकते हैं और जहाँ पहले हम *प्रकृति और इसके अहंता-रूपी भ्रमके द्वारा* "*यंत्रारूढ़की भाँति* चलाये जाते थे", वहाँ अब हम इस बातको पूर्ण रूपसे समझते हुए चल सकते हैं कि इस यंत्रकी क्रिया क्या है और सब कर्मोंके स्वामी, जिन्हें हम इस क्रियाके पीछे अनुभव करते हैं, अपने जागतिक प्रयोजनोंके लिये इसका क्या उपयोग करते हैं। निश्चय ही यह वह अवस्था है जिसे अनेक महान् योगी भी आध्यात्मीकृत मनके स्तरोंपर प्राप्त कर चुके हैं; परंतु यह आवश्यक नहीं कि हम सदा-सर्वदा ऐसी ही स्थितिमें रहें, क्योंकि एक इससे भी महान् एवं अतिमानसिक संभावना विद्यमान है। अध्यात्म-भावापन्न मनसे ऊँचे उठ जाना तथा परमोच्च माताकी आद्या भागवती *सत्य-शक्तिकी जीवंत उपस्थितिमें सहज स्फुरणापूर्वक कर्म करना भी संभव* है। हमारी गति उसकी गतिसे एकीभूत तथा उसमें निमज्जित हो जायगी, हमारा संकल्प उसके संकल्पसे एकीभूत, तथा हमारी शक्ति उसकी शक्तिमें दायित्वमुक्त हो जायगी और हम अनुभव करेंगे कि वह हमारे द्वारा इस प्रकार कर्म कर रही है *मानों परमा प्रज्ञा-शक्तिके रूपमें अभि-*व्यक्त साक्षात् भगवान् ही कर्म कर रहे हों। हमें अपने रूपांतरित मन, प्राण तथा शरीर ऐसे जान पड़ेंगे मानों वे अपनेसे अत्युच्च उस परा ज्योति एवं शक्तिकी प्रणालिकाएँमात्र हों जो, अपन ज्ञानमें परात्पर तथा परिपूर्ण होनेके कारण, अपनी क्रिया-पद्धतिमें निर्भ्रांत हैं। हम इस ज्योति एवं

* त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

शक्तिके वाहन, साधन तथा यंत्र ही नहीं, अपितु एक परम उदात्त शाश्वत अनुभूतिमें इसके अंग वन जायँगे।

इस चरम पूर्णतातक पहुँचनेसे पहले ही, हम भगवान्‌के साथ अपने कर्मोंमें,—उसके अत्यंत ज्योतिर्मय शिखरोंपर नहीं तो उसकी निरतिशय विशालतामें,—मिलन लाभ कर सकते हैं। कारण, अब हम केवल प्रकृति या इसके गुणोंको ही अनुभव नहीं करते, अपितु अपनी शारीरिक चेष्टाओं, स्नायविक एवं प्राणिक प्रतिक्रियाओं और मानसिक व्यापारोंमें एक ऐसी शक्तिको भी अनुभव कर लेते हैं जो शरीर, मन और प्राणसे अधिक महान् है और जो हमारे सीमित करणोंको अपने अधिकारमें कर लेती और इनकी सभी गतियोंका परिचालन करती है। अब हमें यह प्रतीति नहीं होती है कि हमीं गति कर रहे हैं और हमीं विचार या अनुभव कर रहे हैं, वरन् यह कि वही हमारे अंदर गति, विचार और अनुभव कर रही है। यह शक्ति जिसे हम अनुभव करते हैं भगवान्‌की वैश्व शक्ति है, जो या तो आवृत रहती है या अनावृत, या तो स्वयं साक्षात् रूपमें कार्य करती है या संसारके जीवोंको अपनी शक्तियोंका प्रयोग करने देती है। यही एकमात्र सत् शक्ति है और यही विश्वगत या व्यक्तिगत कार्यको संभव वनाती है। कारण, यह शक्ति तो स्वयं भगवान् ही है—अपनी शक्तिके विग्रहमें। सव कुछ यह शक्ति ही है, कार्यकी शक्ति, विचार एवं ज्ञानकी शक्ति, प्रभुत्व एवं उपभोगकी शक्ति, प्रेमकी शक्ति। प्रतिक्षण या प्रति वस्तुमें, अपनेमें तथा दूसरोंमें, सचेतन रूपसे यह अनुभव करते हुए कि सर्वकर्ममहेश्वर उनमें विद्यमान है तथा इस विराट् शक्तिसे, जो वह स्वयं ही है, वह सव वस्तुओं और सव घटनाओंको धारण करता है, इनमें निवास करता तथा इनका उपभोग करता है और इसी शक्तिद्वारा वह स्वयं इन सव वस्तुओं तथा सब घटनाओंके रूपमें संभूत वा प्रकट होता है,—हम कर्मोंद्वारा भागवत मिलन प्राप्त कर चुके होंगे और कर्मोंमें उपलब्ध इस कृतार्थतासे वह सव भी अधिगत कर चुके होंगे जो कुछ दूसरोंने परा-भक्ति या शुद्ध ज्ञानसे उपलब्ध किया है। परंतु अभी भी एक और शिखर है जो हमें आहूत करता है, वह है—इस विश्वमय एकत्वसे उठकर दिव्य परात्परताके एकत्वमें आरोहण करना। हमारे कर्मों तथा हमारी सत्ताका स्वामी इहलोकमें हमारा अंतर्यामी ईश्वर ही नहीं है, न ही वह विश्वात्मा या किसी प्रकारकी सर्वव्यापी शक्तिमात्र है। जगत् और भगवान् विलकुल एक ही चीज नहीं हैं, जैसा कि एक विशेष प्रकारके सर्वेश्वरवादी विचारकोंका अभिमत है। जगत् अंशविभूति है; यह किसी ऐसी वस्तुपर

अवलंबित है जो इसमें प्रकट तो होती है, पर इससे सीमित नहीं हो जाती। भगवान् केवल यहाँ ही हों ऐसी बात नहीं; एक परतत्त्वका भी अस्तित्व है, अनंत परात्परताकी भी अस्ति है। व्यष्टि-सत्ता भी, अपने आध्यात्मिक अंशमें, वैश्व सत्ताके अंदर बनी हुई कोई रचना नहीं है—हमारा अहं, हमारा मन, प्राण और शरीर अवश्य ही ऐसी रचनाएँ हैं; परंतु हमारे अंदरकी नित्य निर्विकार आत्मा किंवा हमारा अविनाशी जीव परात्परतामेंसे प्रादुर्भूत हुआ है।

*

वह परात्पर, जो सकल जगत् और संपूर्ण प्रकृतिसे परे है और फिर भी जगत् तथा इसकी प्रकृतिका स्वामी है, जो अपने एकांशसे इसमें अवतरित है और इसे एक अभूतपूर्व वस्तुमें रूपांतरित कर रहा है,—वह हमारी सत्ताका भी मूल है और वही हमारे कर्मोंका उद्गम एवं स्वामी भी है। परंतु परात्पर चेतनाका धाम है ऊर्ध्वमें, दिव्य सत्ताकी केवलतामें—और सनातन देवकी परा शक्ति, सत्य एवं आनंद भी वहीं है; हमारा मन उस केवलताकी तनिक भी कल्पना नहीं कर सकता और हमारा बड़े-से-बड़ा आध्यात्मिक अनुभव भी हमारे अध्यात्म-भावित मन तथा हृदयमें उस केवलताका एक क्षीण प्रतिबिंबमात्र होता है, उसकी एक मंद छाया एवं क्षुद्र शाखा ही होता है। तथापि इसीसे उद्भूत, ज्योति, शक्ति, आनंद और सत्यका एक प्रकारका सौवर्ण प्रभामंडल भी विद्यमान है जिसे प्राचीन गुह्यदर्शियोंकी भाषामें दिव्य ऋत-चेतना, अतिमानस वा विज्ञान कह सकते हैं। इस अविद्याजन्य, हीनतर-चेतनामय जगत्का उस विज्ञानसे गूढ़ संबंध है और वह विज्ञान ही इसे धारण करता तथा विघटित अस्तव्यस्त स्थितिमें गिरनेसे बचाता है। जिन शक्तियोंको हम आज प्रज्ञान, अंतर्ज्ञान या ज्ञानदीप्तिका नाम देकर संतोष कर लेते हैं वे तो केवल क्षीणतर प्रकाश हैं जिनका वह पूर्ण एवं जाज्वल्यमान उद्गम है। उच्चतम मानवीय बुद्धिके तथा उसके बीच आरोहणशील चेतनाके अनेक स्तर हैं; उच्चतम मानसिक या अधिमानसिक स्तर हैं जिन्हें अधिकृत करनेके बाद ही हम वहाँ पहुँच सकते हैं अथवा उसकी महिमा-गरिमा यहाँ उतार ला सकते हैं। यह आरोहण अथवा यह विजय कठिन भले ही हो, पर यह मानव-आत्माकी नियति है और दिव्य सत्यका ज्योतिर्मय अवरोहण या अवतरण पृथ्वी-प्रकृतिके कृच्छ्र विकासकी एक अवश्यंभावी अवस्था है। वह उद्दिष्ट पूर्णता ही मानव-आत्माके अस्तित्वका हेतु है, हमारी सर्वोच्च अवस्था तथा

हमारे पार्थिव जीवनका मर्म है। कारण, यद्यपि परात्पर भगवान् हमारी रहस्यमयताके गुह्य हृदयमें पुरुषोत्तमके रूपमें यहाँ पहलेसे ही विराजमान है, तथापि वह अपनी संमोहिनी विश्वव्यापी योगमायाके नाना आवरणों एवं छद्मवेषोंके द्वारा आवृत है। इहलोकमें इस देहके भीतर आत्माके आरोहण एवं विजयसे ही वे आवरण-पट खुल सकते हैं, और अर्द्ध-सत्यका यह उलझा हुआ वाना जो सर्जनकारी भ्रम वन जाता है तथा यह उदयन-शील ज्ञान जो जड़-तत्त्वकी निश्चेतनामें डुबकी लगाकर धीमे-धीमे और थोड़ा-थोड़ा अपनी ओर लौटता हुआ एक प्रवल अज्ञानमें परिणत हो जाता है—इन दोनोंके स्थानपर परम सत्यकी क्रियाशीलता प्रतिष्ठित हो सकती है।

कारण, यहाँ इस जगत्के अंदर विज्ञान सत्ताके मूलमें गुप्त रूपसे चाहे विद्यमान है, किंतु जो शक्ति यहाँ क्रिया कर रही है वह विज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान-अज्ञानका इन्द्रजाल है, एक अपरिमेय पर प्रत्यक्षतः-यांत्रिक अधि-मानस-माया है। भगवान् हमें यहाँ अखंड दृष्टिमें यों दिखायी देता है कि वह एक सम, निष्क्रिय एवं निर्व्यक्तिक साक्षी आत्मा है, गुण या देशकालके वंधनसे रहित एक अचल, अनुमंता पुरुष है। उसका आश्रय या अनुमति समस्त कर्म तथा उन सब शक्तियोंकी क्रीड़ाको निष्पक्ष रूपसे प्राप्त होती है जिन्हें परात्पर संकल्पने इस जगत्में अपने-आपको चरितार्थ करनेके लिये एक वार स्वीकृति और अधिकार दे दिया है। वस्तुओंमें निहित यह साक्षी आत्मा या यह अचल आत्मतत्त्व किसी प्रकारका भी संकल्प और निर्धारण नहीं करता प्रतीत होता। परंतु हमें यह अनुभव हो जाता है कि उसकी यह निष्क्रियता एवं मौन उपस्थिति ही सब वस्तुओंको उनके अज्ञानमें भी एक दिव्य लक्ष्यकी ओर यात्रा करनेके लिये वाध्य करती है और विभाजनकी अवस्थासे उन्हें एक अद्यावधि-अचरितार्थ एकत्वकी ओर आकृष्ट करती है। तथापि कोई परम निर्भ्रांत भागवत संकल्प यहाँ विद्यमान प्रतीत नहीं होता, केवल एक विपुलतया विस्तारित विश्व-शक्ति अथवा एक यांत्रिक कार्यवाहक 'प्र-क्रिया' ही, 'प्र-कृति' ही प्रतीत होती है। यह विश्वात्माका एक पार्श्व है। उसका एक दूसरा पार्श्व भी है जो अपनेको विश्वमय भगवान्के रूपमें प्रस्तुत करता है, वह सत्तामें एक है, व्यक्तित्व एवं शक्तिमें वहुविध। जव हम उसकी विराट् शक्तियोंकी चेतनामें प्रवेश करते हैं तो वह हमें अनंत गुण, संकल्प, कर्म, विश्वव्यापी विशाल ज्ञान तथा एक किंतु असंख्यविध आनंदकी अनुभूति प्रदान करता है। कारण, उसके द्वारा हम सर्वभूतोंके साथ सारतः ही नहीं, वल्कि उनकी कार्यलीलामें भी एक हो जाते हैं, अपनेको सवमें और सवको अपनेमें देखते हैं, समस्त

ज्ञान, विचार एवं भावको एक ही मन तथा हृदयकी चेष्टाएँ और समस्त बल एवं कर्मको एक ही सर्वसमर्थ संकल्पकी गति अनुभव करते हैं; समस्त जड़तत्त्व और आकारको एक ही देहके अंग-प्रत्यंग, सब व्यक्तियोंको एक ही व्यक्तिकी शाखा-प्रशाखाएँ एवं अहंभावोंको एकमेवाद्वितीय वास्तविक सत्स्वरूप "मैं"की विकृतियाँ अनुभव करते हैं। उसमें तब हमारी कोई पृथक् स्थिति नहीं रह जाती, वरन् हमारा सक्रिय अहंकार वैश्व गतिमें वैसे ही खो जाता है जैसे निर्गुण, नित्य-निर्लिप्त एवं अनासक्त साक्षीके द्वारा हमारा स्थितिशील अहंभाव सार्वभौम शांतिमें लीन हो जाता है।

परंतु अभी भी, दूरस्थ दिव्य निश्चल-नीरवता तथा सर्वव्यापी दिव्य कर्म, इन दोनों अवस्थाओंमें विरोध बना रहता है। इसका हम अपने अंदर एक ऐसे प्रकारसे एवं ऐसे बड़े परिमाणमें समाधान कर सकते हैं जो हमें पूर्ण प्रतीत होता है, पर वास्तवमें पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह रूपांतर एवं विजयको पूर्ण रूपसे संपन्न नहीं कर सकता। सार्वत्रिक शांति, ज्योति, शक्ति एवं आनंदकी संपदा हमें प्राप्त हो जाती हैं, पर इसकी वास्तविक अभिव्यक्ति वही नहीं होती जो ऋत-चेतना या दिव्य विज्ञानकी हो सकती है; यद्यपि यह अद्भुत रूपमें स्वतंत्र, उदात्त एवं आलोकित होती है फिर भी विश्वात्माकी वर्तमान अभिव्यक्तिका ही समर्थन करती है। यह अज्ञानमय जगत्के अस्पष्ट प्रतीकों एवं आवृत रहस्योंका वैसा रूपांतर नहीं करती जैसा कि परात्पर अवतरण करेगा। हम स्वयं स्वतंत्र हो जाते हैं, पर पृथ्वी-चेतना बंधनमें ही ग्रस्त रहती है। एक और भी आगेका परात्पर आरोहण एवं अवरोहण ही इस विरोधका पूर्ण रूपसे समाधान कर हमें रूपांतरित और बंधनमुक्त कर सकता है।

कर्मोंके स्वामीका एक तीसरा अत्यंत घनिष्ठ एवं वैयक्तिक रूप भी है जो उसके अनुत्तम गूढ़ रहस्य एवं आनंदातिरेककी कुंजी है। कारण, वह गुप्त परात्परताके रहस्यसे तथा वैश्व गतिके अस्पष्ट प्राकटचसे भगवान्की एक व्यष्टि-शक्तिको पृथक् करता है जो दोनोंके बीच मध्यस्थका काम कर सकती है तथा एकसे दूसरेतक पहुँचनेके लिये सेतु बांध सकती है। इस रूपमें भगवान्का विश्वातीत और विश्वमय व्यक्तित्व हमारे व्यष्टि-भावापन्न व्यक्तित्वके अनुरूप है और हमारे साथ वैयक्तिक संबंध स्थापित करना स्वीकार करता है। हमारी परम आत्माके रूपमें वह हमसे एकाकार रहता है और फिर भी हमारे स्वामी, सखा, प्रेमी, गुरु, पिता एवं माता तथा महान् विश्वलीलामें हमारे क्रीड़ा-सहचरके रूपमें हमारे निकट और भिन्न भी रहता है। इन सब रूपोंमें उसने हमारे मित्र एवं शत्रु

या सहायक एवं बाधक रहकर बराबर ही अपनेको छिपाये रखा है और, हमपर प्रभाव डालनेवाले सभी संबंधों तथा व्यापारोंमें उसने हमें हमारी पूर्णता तथा मुक्तताका मार्ग दिखाया है। इस अधिक वैयक्तिक अभि-व्यक्तिके द्वारा ही परात्परके पूर्ण अनुभवकी प्राप्तिके द्वार हमारे लिये खुल सकते हैं। कारण, वैयक्तिक भगवान्के अंदर हम एकमेवसे जो संपर्क प्राप्त करते हैं वह केवल मुक्त निश्चलता और शांतिमें अथवा कर्मगत निष्क्रिय या सक्रिय समर्पणके द्वारा या अपने अंदर व्याप्त तथा अपने मार्ग-निर्देशक वैश्व ज्ञान एवं बलके साथ एकत्वके रहस्यके द्वारा ही प्राप्त नहीं करते, बल्कि दिव्य प्रेम और दिव्य आनंदके उल्लासके द्वारा भी हम उससे संपर्क प्राप्त करते हैं—ऐसे उल्लासके द्वारा जो प्रशांत साक्षी और सक्रिय विश्व-शक्तिको तीव्र वेगसे अतिक्रांत करके एक महत्तर आनंदपूर्ण रहस्यका विशेष निश्चयात्मक पूर्वज्ञान प्राप्त करता है। वास्तवमें, हमारे साथ अत्यंत घनिष्ठ रूपसे संबद्ध पर अद्यावधि अत्यंत अस्पष्ट यह वैयक्तिक रूप अपने प्रगाढ़ आवरणमें हमारे लिये परात्पर परमेश्वरके गहन और मादक रहस्यको और उसकी पूर्ण सत्ता तथा उसके तन्मयकारी परम सुख एवं रहस्यमय आनंदकी एक चरम निश्चयताको जितना अधिक आवेष्टित रखता है उतना न तो वह ज्ञान ही आवेष्टित रखता है जो किसी अनिर्वचनीय परतत्त्वकी ओर ले जाता है और न वह कर्मकलाप जो हमें जगत्-प्रक्रियासे परे अपने आदि-कारण, परम ज्ञाता और परम प्रभुकी ओर ले जाता है।

परंतु भगवान्के साथका वैयक्तिक संबंध सर्वदा या प्रारंभसे ही एक वृहत्तम विस्तार या उच्चतम आत्म-अतिक्रमणको बलपूर्वक स्थापित नहीं कर देता। हमारी सत्ताके निकटवर्ती या हमारा अंतर्यामी यह देवाधिदेव पहले-पहल हमें अपनी वैयक्तिक प्रकृति तथा अनुभूतिके क्षेत्रमें ही, नायक एवं स्वामी, मार्गदर्शक एवं गुरु और मित्र एवं प्रेमीके रूपमें अथवा एक आत्मसत्ता, शक्ति या उपस्थितिके रूपमें भी पूर्णरूपेण अनुभूत हो सकता है। सुतरां, हमें यह अनुभव हो सकता है कि यह हमारे हृदयमें अवस्थित अपने अंतरंग सत्य-स्वरूपकी शक्तिके द्वारा हमारी ऊर्ध्वमुख और विस्तारशील गतिको निर्मित तथा उन्नीत करता है या हमारी उच्चतम बुद्धिके भी ऊपरसे हमारी प्रकृतिपर शासन करता है। हमारा वैयक्तिक विकास ही उसका मुख्य कार्य है, उसके साथ हमारा वैयक्तिक संबंध ही हमारा हर्ष और हमारी परिपूर्णता है, अपनी प्रकृतिको उसकी दिव्य प्रतिमामें गढ़ना ही हमारी आत्म-उपलब्धि और सिद्धि है। मालूम होता है यह बाह्य जगत् इसीलिये बनाया गया है कि यह इस विकासके क्षेत्रका काम करे और इसकी क्रमिक

अवस्थाओंके लिये साधन-सामग्री या सहायक एवं बाधक शक्तियाँ जुटाये। इस जगत्‌में हम जो भी काम करते हैं वे सब उसीके काम हैं, परंतु जब वे कोई अस्थायी सार्वभौम उद्देश्य पूरा करते हैं तब भी हमारे लिये उनका मुख्य प्रयोजन इस अंतर्यामी भगवान्‌से अपने संबंधोंको बाह्यतः सक्रिय बनाना या इन्हें आभ्यंतर शक्ति प्रदान करना ही होता है। अनेक जिज्ञासु इससे अधिक कुछ नहीं माँगते अथवा वे इस आध्यात्मिक प्रस्फुटनकी अविच्छिन्नता और परिपूर्णता केवल परतर लोकोंमें ही अनुभव करते हैं; भगवान्‌से मिलन पूर्ण रूपसे उपलब्ध हो जाता है और उसके पूर्णत्व, हर्ष एवं सौंदर्यके नित्य धाममें यह शाश्वत हो जाता है। परंतु सर्वांगीण उपलब्धिके अन्वेषकके लिये यह पर्याप्त नहीं है। दूसरोंसे अलग-थलग निजी वैयक्तिक उपलब्धि, वह चाहे कैसी भी महान् और भव्य क्यों न हो, उसका संपूर्ण लक्ष्य या समग्र अस्तित्व नहीं हो सकती। एक ऐसा समय अवश्य आता है जब व्यक्ति विराट्‌की ओर खुलता है; यहाँतक कि हमारा आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक व्यष्टिभाव ही नहीं, अपितु शारीरिक व्यष्टिभावतक विश्वमय हो जाता है। यह देवाधिदेवकी वैश्व शक्ति तथा विश्वात्माका शक्त्यंश दिखायी देता है अथवा यह जगत्‌को उस अनिर्वचनीय विशालतामें धारण करता है जो व्यष्टि-चेतनाको तब प्राप्त होती है जब यह अपने बंधन तोड़कर ऊपर परात्परकी ओर तथा सब तरफ अनंतमें प्रवाहित होती है।

*

जो योग केवल अध्यात्म-भावित मानसिक स्तरपर ही चरितार्थ किया जाता है उसमें भगवान्‌की वैयक्तिक या अंतर्यामी, विश्वमय और विश्वातीत—इन तीन मूल अवस्थाओंका पृथक्-पृथक् अनुभवोंके रूपमें प्रत्यक्ष होना संभव है और ऐसा प्रायः होता ही है। तब इन अनुभवोंमेंसे प्रत्येक अकेला ही जिज्ञासुकी उत्कंठाकी पूर्तिके लिये पर्याप्त प्रतीत होता है। निभृत ज्योतिर्मय हृदय-गुहामें वैयक्तिक भगवान्‌के साथ एकाकी विचरता हुआ वह अपनी सत्ताको प्रियतमके अनुरूप गढ़ सकता है और अवपतित प्रकृतिसे निस्तार पाकर आत्माके किसी उच्च लोकमें उसके साथ निवास करनेके लिये आरोहण कर सकता है। सार्वभौम विशालतामें स्वतंत्र, अहंसे मुक्त, निज व्यक्तित्वमें विश्व-शक्तिकी क्रियाका केंद्रमात्र, निज सत्तामें शांत-मुक्त, विश्वमयतामें अमर, असीम देश-कालमें अनंततः विस्तृत पर साक्षी आत्मामें निश्चल वह संसारमें सनातनके स्वातंत्र्यका उपभोग कर सकता है। किसी अनिर्वचनीय परात्परतामें एकाग्र होकर, अपने पृथक् व्यक्तित्वका विसर्जन कर, जागतिक

हलचलके आयास-प्रयासको तिलांजलि देकर वह अवर्णनीय निर्वाणकी शरणमें जा सकता है, अकथनीयकी ओर एक असहिष्णु ऊँची उड़ानमें वह सभी वस्तुओंको मिथ्या घोषित कर सकता है।

परंतु जो व्यक्ति सर्वांगीण योगकी विशाल पूर्णता चाहता है उसके लिये इनमेंसे कोई भी उपलब्धि पर्याप्त नहीं है। वैयक्तिक मोक्ष उसके लिये बस नहीं; क्योंकि वह अपनेको उस विश्व-चैतन्यकी ओर खुलता अनुभव करता है जो अपनी विशालता एवं वृहत्तासे हमारी सीमित वैयक्तिक पूर्णताकी संकीर्णतर तीव्रताको सर्वथा अतिक्रांत किये हुए है। इस चैतन्यकी पुकार अलंघ्य होती है; इसकी अतिमहत् प्रेरणासे प्रचालित होकर उसे सब विभाजक सीमाएँ तोड़ डालनी होंगी, अपनेको विश्व-प्रकृतिमें फैला देना तथा संसारको अपनेमें समा लेना होगा। ऊर्ध्वमें भी एक अनिर्वचनीय सक्रिय उपलब्धि उसके लिये प्रस्तुत है जो परम देवके धामसे इस प्राणि-जगत्पर दबाव डाल रही है। वह अद्यावधि अनवतरित ऐश्वर्य यहाँ तभी व्यक्त हो सकता है यदि हम पहले विश्व-चेतनाको किसी अंशमें परिव्याप्त करें और फिर इसे अतिक्रांत कर जायँ। परंतु विश्व-चैतन्य भी काफी नहीं है, क्योंकि यह अशेष भागवत सद्वस्तु नहीं है, यह संपूर्ण सत्ता नहीं है। व्यक्तित्वके मूलमें एक दिव्य रहस्य निहित है जिसे ढूंढ़ निकालना पूर्णयोगके साधकके लिये आवश्यक है; परात्परताके देह-धारणका रहस्य वहाँ उपस्थित है और कालके भीतर व्यक्त होनेके लिये प्रतीक्षा कर रहा है। इस विश्व-चेतनाके अंदर भी अंतमें एक छिद्र रह जाता है, वह यह कि एक उच्चतम ज्ञान, जो मुक्त तो कर सकता है, पर कुछ भी क्रियान्वित नहीं कर सकता, विश्व-शक्तिके साथ समान रूपसे संतुलित नहीं होता, क्योंकि यह शक्ति सीमित ज्ञानका प्रयोग करती प्रतीत होती है अथवा यह अपने-आपको एक ऐसे तलीय अज्ञानसे आवृत रखती है जो सर्जन तो कर सकता है, पर केवल अपूर्णताका या एक क्षणिक, सीमित और निगड़ित पूर्णताका। एक ओर तो स्वतंत्र निष्क्रिय साक्षी होता है और दूसरी ओर होती है एक बद्ध कार्यकर्त्री जिसे कार्यके सब साधन प्राप्त ही नहीं हैं। प्रतीत होता है कि इन दो सहचरों और प्रतिपक्षियोंका समन्वय एक 'अव्यक्त'में जो अभी हमसे परे है, रक्षित, स्थगित और निरुद्ध रखा हुआ है। दूसरी ओर, केवल किसी प्रकारकी कूटस्थ परात्परतामें पलायन कर जानेसे ही हमारा व्यक्तित्व कृतार्थ नहीं होता और इससे वैश्व कर्म भी निरर्थक ही हो जाता है। अतएव, पूर्ण सत्यके जिज्ञासुको इससे संतुष्टि नहीं हो सकती। वह अनुभव करता है कि नित्य सत्य एक ऐसी शक्ति

है जो सर्जन करती है और साथ ही वह एक अविनाशी सत्ता भी है; वह केवल मायिक या अज्ञानमय अभिव्यक्तिकी शक्ति नहीं है। सनातन सत्य अपने सत्योंको कालमें व्यक्त कर सकता है। वह निश्चेतना और अज्ञानमें ही नहीं, बल्कि ज्ञानमें भी सृष्टि कर सकता है। भगवान्‌की ओर आरोहण करनेके समान ही भगवान्‌का अवतरित होना भी संभव है; भावी पूर्णता और वर्तमान मुक्तिको अवतारित करनेकी संभावना भी विद्यमान है। जैसे-जैसे उसका ज्ञान विस्तृत होता है, उसके सामने यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि सर्वकर्ममहेश्वरने यहाँ उसके अंदर अंतरात्माको अंधकारके भीतर अपनी अग्निके स्फुलिंगके रूपमें इसीलिये निक्षिप्त किया था कि यह सनातन ज्योतिके एक केंद्रके रूपमें विकसित हो सके।

परात्पर, विश्वात्मा तथा व्यष्टि—ये तीन शक्तियाँ संपूर्ण अभिव्यक्तिके ऊपर वितानकी तरह छायी हुई हैं, ये इसके आधारमें निहित और इसके अंदर प्रविष्ट हैं; यह त्रैतोंमेंसे प्रथम त्रैत है। चेतनाके उन्मेषमें भी यही तीन मूल अवस्थाएँ प्रकट होती हैं और यदि हम सत्ताके संपूर्ण सत्यका अनुभव करना चाहें तो इनमेंसे किसीकी भी उपेक्षा नहीं कर सकते। व्यष्टि-चेतनामेंसे हम विशालतर एवं स्वतंत्रतर विश्व-चेतनामें जागरित होते हैं; किंतु आकृतियों एवं शक्तियोंकी जटिल ग्रंथिसे युक्त विश्व-चेतनामेंसे हम एक और भी महान् आत्म-अतिक्रमणके द्वारा एक ऐसी निःसीम चेतनामें उदित होते हैं जो परब्रह्मपर आधारित है। तथापि इस आरोहणमें जिस चीजको हम छोड़ते प्रतीत होते हैं उसे वास्तवमें हम नष्ट नहीं कर डालते, वरन् उन्नीत और रूपांतरित कर देते हैं। कारण, एक ऐसा शिखर भी है जहाँ ये तीनों शक्तियाँ नित्य रूपसे एक-दूसरीमें निवास करती हैं। उस शिखरपर ये अपने समस्वरित एकत्वकी नाभिमें सानंद संयुक्त हो जाती हैं। परंतु वह शिखर ऊँचे-से-ऊँचे तथा विस्तृत-से-विस्तृत अध्यात्ममय मनसे भी परे है, चाहे मनमें भी उसकी कुछ छाया अवश्य अनुभव की जा सकती है। उसे प्राप्त करने तथा उसमें निवास करनेके लिये मनको अपने-आपको पार करके अतिमानसिक विज्ञानमय ज्योति, शक्ति एवं सत्तत्त्वमें रूपांतरित होना होगा। इस निम्नतर क्षीण चेतनामें समस्वरताके लिये प्रयत्न अवश्य किया जा सकता है, पर वह समस्वरता सदा अपूर्ण ही रहेगी। एक प्रकारकी सुसंगति तो संभव है पर समकालिक एकीभूत परिपूर्णता नहीं। किसी भी महत्तर उपलब्धिके लिये मनको पार कर ऊपर आरोहण करना अपरिहार्य है। अथवा, आरोहणके साथ या इसके

परिणामस्वरूप उस स्वयंभू सत्यका क्रियाशील अवतरण होना भी आवश्यक है जो प्राण और जड़तत्त्वकी अभिव्यक्तिसे पूर्वतर एवं सनातन है और नित्य ही मनसे ऊपर अपने निज प्रकाशमें उन्नीत रहता है।

कारण, मन माया है, अर्थात् यह सत्-असत् है। सत्य और मिथ्या, सत् और असत्के आलिंगनका भी अपना एक क्षेत्र है और उस द्विधा-संकुल क्षेत्रमें ही मन शासन करता प्रतीत होता है। पर वास्तवमें यह अपने राज्यमें भी एक परिक्षीण चेतना है, यह सनातनकी आद्या परमोत्पादिका शक्तिका अंश नहीं है। मूल तात्त्विक सत्यकी किसी प्रतिमाको प्रतिक्षिप्त करनेमें यह समर्थ भले ही हो, किंतु इसमें सत्यकी गतिशील शक्ति और क्रिया सदा छिन्न-भिन्न ही दीख पड़ती है। मन तो केवल टुकड़ोंको जोड़ सकता है अथवा एकताका अनुमानमात्र कर सकता है; मनका सत्य या तो केवल एक अर्द्ध-सत्य होता है या पहेलीका एक अंश। मानसिक ज्ञान सदा आपेक्षिक, आंशिक और अनिर्णायक होता है। इसकी बहिर्मुखी क्रिया और रचना इसके व्यापारोंमें और भी अधिक भ्रांत रूप धारण कर लेती हैं अथवा ये केवल संकीर्ण सीमाओंमें ही यथार्थ होती हैं, किंवा खंड सत्योंको अपूर्ण ढंगसे मिलानेपर ही कोई यथार्थ वस्तु बनती हैं। इस क्षीण चेतनामें भी भगवान् मनोगत आत्माके रूपमें अभिव्यक्त होता है, ठीक वैसे ही जैसे वह प्राणके अंदर एक आत्माके रूपमें विचरण करता है अथवा और भी अधिक अस्पष्टतया जड़के अंदर एक आत्माके रूपमें वास करता है। परंतु उसका पूर्ण क्रियाशील प्राकट्य मनमें नहीं है, सनातनके पूर्ण तादात्म्य यहाँ नहीं हैं। हमारे अस्तित्वका स्वामी अपनी सत्ता और अपनी शक्तियों एवं क्रियाओंके अक्षय अखंड सत्यमें हमारे समक्ष तभी प्रकाशित होगा जब हम मनकी सीमा पार कर उस विशालतर ज्योतिर्मय चेतना तथा आत्म-सचेतन सत्तामें पहुँच जायँगे, जहाँ दिव्य सत्यका निजधाम है और जहाँ वह परदेशीकी तरह निवास नहीं करता। वहीं हमारे भीतर हमारी सत्ताके स्वामीके कार्य उसके अमोघ अतिमानसिक प्रयोजनकी अविकल गतिका रूप धारण कर लेंगे।

*

यह फल सुदीर्घ एवं कठिन यात्राके अंतमें ही प्राप्त होता है। परंतु कर्मोंका स्वामी योगमार्गके जिज्ञासु पथिकसे मिलने और उसपर तथा उसके अंतर्जीवन एवं कार्योंपर अपना अदृश्य या अर्द्ध-दृश्य दिव्य हस्त धरनेको तबतक प्रतीक्षा नहीं करता रहता। इस संसारमें वह विद्यमान तो पहलेसे

ही है,—अचित्‌के सघन आवरणोंके पीछे वह कर्मोंके प्रवर्त्तक और ग्रहीताके रूपमें विराजमान है, परा प्राण-शक्तिके भीतर वह प्रच्छन्न रूपमें अवस्थित है तथा प्रतीकात्मक देवताओं एवं प्रतिमाओंके द्वारा मनके लिये गोचर भी है। यह भी खूब संभव है कि वह पूर्णयोगके मार्गके लिये नियत भाग्यशाली आत्माको पहले-पहल इन छद्मवेशोंमें ही दर्शन दे। अथवा यह भी हो सकता है कि इनसे भी अधिक अस्पष्ट आवरणोंसे आवृत उस सर्वकर्ममहेश्वरको हम एक आदर्शके रूपमें परिकल्पित करें या उसे प्रेम, शुभ, सौंदर्य या ज्ञानकी एक अमूर्त्त शक्तिका मानसिक रूप दे दें। अथवा, जैसे ही हम पथकी ओर पग वढ़ायें वह मानवताकी एक ऐसी पुकार या एक ऐसे विश्वगत संकल्पके प्रच्छन्न वेषमें हमारे समक्ष प्रकट हो सकता है जो हमें अज्ञानके प्रधान चतुष्टय—अंधकार, असत्य, मृत्यु और दुःख—के पंजेसे जगत्‌का परित्राण करनेके लिये प्रेरित करता है। पीछे जव हम इस मार्गमें पदार्पण कर चुकते हैं, वह हमें अपनी विशाल एवं महान् स्वातंत्र्यप्रद निर्व्यक्तिकताके द्वारा सव ओरसे व्याप्त कर लेता है, या वह व्यक्तित्ववान् ईश्वरकी छवि और आकृतिके साथ हमारे समीप विचरता है। अपने भीतर तथा चारों ओर हम एक ऐसी शक्तिकी उपस्थिति अनुभव करते हैं जो धारण-भरण, रक्षण तथा पालन-पोषण करती है। हम एक मार्गदर्शिका वाणीका श्रवण करते हैं। हमसे महत्तर एक सचेतन संकल्प हमपर शासन करता है। एक अलंघ्य शक्ति हमारे विचार एवं कार्य-कलाप और हमारे शरीरतकका संचालन करती है। एक नित्य-विस्तारशील चेतना हमारी चेतनाको आत्मसात् कर लेती है, ज्ञानकी एक जीवंत ज्योति अंतरमें सर्वत्र प्रज्वलित हो जाती है, अथवा एक दिव्यानंद हमें अधिकृत कर लेता है। एक ठोस, वृहत् और अदम्य शक्तिमत्ता ऊपरसे दवाव डालती है, हमारी प्रकृतिके उपादानतकके भीतर पैठ जाती है और अपनेको इसके अंदर उँडेल देती है। शांति, ज्योति, आनंद, शक्ति और महिमा-गरिमा वहाँ अवस्थित हो जाती हैं। अथवा, वहाँ संवंध भी होते हैं,—वैयक्तिक, स्वयं जीवनकी ही भाँति घनिष्ठ, प्रेमके समान मधुर, गगनके समान व्यापक, अगाध सिंधुकी भाँति गभीर। एक सखा हमारे पास विचरता है; एक प्रेमी हमारे हृदयकी गुहामें हमारे संग होता है, कर्म और अग्नि-परीक्षाका स्वामी हमें मार्ग दिखाता है; वस्तुओंका स्रष्टा हमें अपने यंत्रके रूपमें प्रयुक्त करता है; हम अनाद्यनन्त जननीकी गोदमें होते हैं। ये सव अधिक ग्राह्य रूप, जिनमें वह अनिर्वचनीय हमसे मिलता है, सत्य हैं, ये केवल सहायक, प्रतीक या उपयोगी कल्पनाएँ ही

नहीं हैं। परंतु जैसे-जैसे हम विकसित होते हैं, हमारे अनुभवमें विद्यमान इनके आदिम अपूर्ण रूप अपने मूलवर्ती एकमेव सत्यकी विशालतर दृष्टिके अनुगत होते जाते हैं। पद-पदपर भगवान्के इन नाना रूपोंके निरे मानसिक आवरण हटते जाते हैं और ये अधिक विस्तृत, अधिक गंभीर एवं अधिक अंतरीय अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। अंतमें अतिमानसिक सीमाओंपर ये सब देवता अपने पवित्र रूपोंको मिला देते हैं और, अपना अस्तित्व जरा भी खोये बिना, परस्पर घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। इस पथपर भागवत रूप केवल त्याग दिये जानेके लिये ही प्रकट नहीं होते। ये अस्थायी आध्यात्मिक सुविधाएँ या मायामय चेतनाके साथ समझौते भी नहीं होते और न ही ये ऐसी स्वप्न-मूर्त्तियाँ होते हैं जो परब्रह्मकी अवर्णनीय अति-चेतनाके द्वारा गुह्य ढंगसे हमपर प्रतिक्षिप्त कर दी जाती हैं। इसके विपरीत, जैसे-जैसे ये अपने उद्गमभूत सत्यके निकट पहुँचते हैं वैसे-वैसे इनकी शक्ति बढ़ती जाती है और इनकी निरपेक्ष पूर्णता प्रकट होती जाती है।

वह अद्यावधि-अतिचेतन परात्परता एक शक्ति भी है और सत्ता भी। अतिमानसिक परात्परता कोई शून्य महाश्चर्य नहीं है, बल्कि एक अनिर्वचनीय तत्त्व है जो अपनेसे उत्पन्न सभी मौलिक वस्तुओंको सदा अपने अंदर समाये रखता है। उन्हें यह उनकी परम नित्य सत्यतामें तथा उनके अपने विशिष्ट चरम रूपोंमें धारण करता है। ह्रास, विभाजन तथा अवपतन, जो यहाँ एक असंतोषजनक पहेलीकी वा मायाके रहस्यकी भावना पैदा करते हैं, हमारे आरोहणमें स्वयं क्षीण हो जाते हैं, तथा हमसे झड़ जाते हैं, और भागवत शक्तियाँ अपने वास्तविक रूप धारण कर लेती हैं तथा उत्तरोत्तर ऐसी प्रतीत होती हैं कि ये यहाँ चरितार्थ होते हुए सत्यकी ही अवस्थाएँ हैं। भगवान्की आत्मा यहाँ विद्यमान है और जड़ निश्चेतनामें अपने निवर्तन तथा आवेष्टनमें शनैः-शनैः जाग रही है। हमारे कर्मोंका स्वामी भ्रमोंका स्वामी नहीं है, बल्कि एक परम सद्वस्तु है जो अविद्याके उन कोयोंसे क्रमशः प्रसूत होनेवाली अपनी आत्म-प्रकाशक सद्वस्तुओंका निर्माण कर रहा है जिनमें वे विकासात्मक अभिव्यक्तिके प्रयोजनोंके लिये कुछ देर सोयी पड़ी रहने दी गयी हैं। अतिमानसिक परात्परता कोई ऐसी चीज नहीं है जो हमारे वर्तमान अस्तित्वसे सर्वथा पृथक् एवं असंवद्ध हो। यह एक महत्तर ज्योति है जिसमेंसे यह सब कुछ इसलिये प्रादुर्भूत हुआ है कि आत्मा शनैः-शनैः निश्चेतनामें पतित होने और फिर उसमेंसे आविर्भूत होनेका अद्भुत कर्म कर सके। इस भगीरथ कर्मके चलते रहते यह हमारे मनके

ऊपर अतिचेतन रूपमें प्रतीक्षा करती रहती है जिससे यह अंतमें हमारे अंदर सचेतन रूप धारण कर सके। आगे चलकर यह अपने-आपको अनावृत करेगी और इस अनावरणके द्वारा हमारी सत्ता तथा हमारे कर्मोंका संपूर्ण मर्म हमारे समक्ष प्रकाशित कर देगी। यह उस भगवान्‌को आविर्भूत करेगी जिसकी इस जगत्‌में पूर्णतर अभिव्यक्ति सत्ताके गुप्त मर्मको उद्‌घाटित और चरितार्थ कर देगी।

उस आविर्भावमें परात्पर भगवान् हमारे सम्मुख उत्तरोत्तर इस रूपमें प्रकाशित होता जायगा कि वह परम सत् है तथा हम जो कुछ भी हैं उस सबका पूर्ण उद्‌गम है। पर साथ ही हम इस रूपमें भी उसके दर्शन करेंगे कि वह कर्मों तथा सृष्टिका स्वामी है जो अपनी अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें अपनेको अधिकाधिक प्रवाहित करनेको उद्यत रहता है। विश्वचेतना तथा उसका व्यापार तव पहलेकी तरह एक विशाल एवं नियमित आकस्मिक संयोग नहीं, वल्कि अभिव्यक्तिका क्षेत्र प्रतीत होंगे। वहाँ भगवान् इस रूपमें दिखायी देगा कि वह अधिष्ठातृ-स्वरूप सर्वव्यापी विश्वात्मा है जो सव कुछ परात्परतामेंसे ग्रहण करता है तथा जो कुछ इस प्रकार अवतरित होता है उसे वह ऐसे आकारोंमें विकसित करता है जो अभी अपारदर्शक छद्मरूप या प्रवंचक अर्द्ध-छद्मरूप हैं, पर जो आगे चलकर अवश्य ही एक पारदर्शक अभिव्यक्ति वन जायँगे। तव वैयक्तिक चेतना अपना सच्चा मर्म और व्यापार पुनः अधिगत कर लेगी, क्योंकि यह आत्माका एक ऐसा रूप है जो पुरुषोत्तमसे भेजा गया है और, समस्त प्रतीतियोंके रहते हुए भी, यह एक ऐसा बीज वा नीहारिका है जिसके भीतर भगवती मातृ-शक्ति कार्य कर रही है जिससे कि वह काल तथा जड़तत्त्वमें कालातीत एवं निराकार भगवान्‌की एक विजयशाली अभिव्यक्ति साधित कर सके। हमारी दृष्टि और अनुभूतिके सामने शनैः-शनैः यह तथ्य प्रकट होता जायगा कि यही कर्मोंके स्वामीकी इच्छा है तथा यही उसका अपना अंतिम मर्म है, और इस मर्मसे ही जगत्‌की उत्पत्तिको एवं जगत्‌में हमारे कर्मको सार्थकता एवं प्रकाश प्राप्त होते हैं। इस तथ्यको हृदयंगम करना तथा इसकी चरितार्थताके लिये यत्न करना पूर्णयोगमें दिव्य-कर्ममार्गका संपूर्ण सार-सर्वस्व है।

बारहवाँ अध्याय

दिव्य कर्म

जब कर्ममार्गके साधकको खोज अपने स्वाभाविक रूपमें पूरी हो जाती है या पूरी होने लगती है तब भी उसके सामने एक प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि मुक्तिके बाद आत्माके लिये कोई कर्म शेष रहता है या नहीं और यदि रहता है तो कौन-सा तथा किस प्रयोजनके लिये? समता उसकी प्रकृतिमें प्रतिष्ठित हो चुकी है और उसकी संपूर्ण प्रकृतिपर शासन करती है; अहं-बुद्धि तथा विस्तृत अहंभावसे और अहंकारकी समस्त भावनाओं एवं प्रेरणाओं तथा इसकी स्वेच्छा और कामनाओंसे उसे आमूल मुक्ति प्राप्त हो गयी है। उसके मन और हृदयमें ही नहीं, बल्कि उसकी सत्ताके सभी जटिल भागोंमें पूर्ण आत्म-निवेदन संपन्न हो चुका है। पूर्ण पवित्रता या त्रिगुणातीत अवस्था समस्वर ढंगसे प्रतिष्ठित हो गयी है। अंतरात्माने अपने कर्मोंके स्वामीके दर्शन कर लिये हैं और वह उसीके सान्निध्यमें निवास करती है या उसीकी सत्तामें सचेतन रूपसे निहित रहती है या उससे एकमय होकर रहती है अथवा उसे हृदयमें या ऊपर अनुभव करती तथा उसके आदेशोंका पालन करती है। उसने अपनी सच्ची सत्ताको जान लिया है और अज्ञानका आवरण उतार फेंका है। तब मनुष्यके अंदरके कर्मीके लिये क्या कर्म शेष रहता है और किस हेतुसे, किस उद्देश्यके लिये तथा किस भावनासे वह किया जायगा?

*

इसका एक उत्तर तो वह है जिससे हम भारतमें खूब परिचित हैं; कर्म बिलकुल रहता ही नहीं, क्योंकि शेष रह जाती है निश्चलता। जब आत्मा 'परम'की शाश्वत उपस्थितिमें निवास कर सकती है अथवा जब वह परब्रह्मके साथ एक हो जाती है, तब हमारे जागतिक जीवनका लक्ष्य,—यदि यह कहा जा सकता हो कि इसका कोई लक्ष्य है,—तुरंत परिसमाप्त हो जाता है। आत्म-विभाजन तथा अज्ञानके अभिशापसे मुक्त मनुष्य इस दूसरे प्रकारके क्लेश अर्थात् कर्मोंके अभिशापसे भी मुक्त हो जाता है। तब तो कर्म करनामात्र परम स्थितिकी मर्यादासे उतरना और अज्ञानमें लौटना होगा। जीवन-विषयक इस मनोवृत्तिके पक्षमें जो विचार प्रस्तुत

किया जाता है वह प्राणिक प्रकृतिकी एक भ्रांतिपर आधारित है। क्योंकि, प्राणिक प्रकृतिको अपने कर्मकी प्रेरणा तीन निम्न आशयों---आवश्यकता, राजसिक प्रवृत्ति और आवेग या कामना---मेंसे किसी एकसे या तीनोंसे प्राप्त होती है। प्रवृत्ति या आवेगके शांत हो जानेपर और कामनाके लुप्त हो जानेपर कर्मोंके लिये स्थान ही कहाँ रह जाता है? कोई यांत्रिक आवश्यकता तो रह सकती है, पर और किसी प्रकारकी आवश्यकता नहीं रह सकती, और वह भी शरीर छूटनेके साथ सदाके लिये समाप्त हो जायगी। परंतु यह सब होते हुए भी, जबतक जीवन है तबतक कर्म अनिवार्य है। केवल विचार करना भी या, विचारके अभावमें, केवल जीना भी अपने-आपमें एक कर्म है और अनेक कार्योंका कारण है। संसारमें विद्यमान सत्तामात्र---मिट्टीके ढेलेकी जड़ता भी और निर्वाणके किनारेपर पहुँचे हुए निश्चल बुद्धकी शांति भी---एक कर्म है, शक्ति है, सामर्थ्य है और वह अपनी उपस्थितिमात्रसे समष्टिपर सक्रिय प्रभाव डालती है। वास्तवमें प्रश्न तो है केवल कर्मके प्रकारका तथा उन करणोंका जो काममें लाये जाते हैं या जो अपने-आप ही कार्य करते हैं, और इसके साथ ही कर्म करनेवालेके भाव एवं ज्ञानका भी प्रश्न है। सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, बल्कि प्रकृति अपनी अंतःस्थ शक्तिकी अभिव्यक्तिके लिये उसके द्वारा कार्य करती है और वह शक्ति उद्‌भूत होती है अनंतसे। इस बातको जानना और कामनासे तथा अहंमूलक प्रेरणाके भ्रमसे मुक्त होकर प्रकृतिके स्वामीकी उपस्थितिमें तथा उसकी सत्तामें निवास करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है। यही सच्चा मोक्ष है न कि शरीरके द्वारा कर्मका त्याग; क्योंकि कर्मोंका बंधन तो तुरंत ही समाप्त हो जाता है। कोई मनुष्य सदाके लिये स्थिर और निश्चेष्ट बैठा रह सकता है और फिर भी वह अज्ञानसे उतना ही बँधा हो सकता है जितना एक पशु या कृमि। किंतु, यदि वह इस महत्तर चेतनाको अपने अंदर क्रियाशील बना सके तो सब लोकोंका सब कर्म उसके हाथोंसे संपन्न हो सकता है और फिर भी वह निश्चल, पूर्णतया स्थिर एवं शांत और समस्त बंधनसे मुक्त रह सकता है। जगत्‌में कर्म हमें प्रथम तो अपने विकास और परिपूर्णताके साधनके रूपमें प्रदान किया गया है; पर चाहे हम चरम संभवनीय दिव्य आत्म-पूर्णतातक पहुँच जायँ, तो भी जगत्‌में दिव्य प्रयोजन तथा उस बृहत्तर विश्वात्माकी, जिसका प्रत्येक जीव एक अंश है,---ऐसा अंश जो विश्वात्माके साथ ही परात्परतासे अवतीर्ण हुआ है,---चरितार्थताके साधनके रूपमें कर्म विद्यमान रहेगा ही।

एक विशेष अर्थमें, जब मनुष्यका योग एक निश्चित शिखरतक पहुँच जाता है, तब उसके लिये कोई कर्म शेष नहीं रह जाता। कारण, तब उसे निजके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं रहती, न उसके अंदर यह भाव होता है कि कर्म स्वयं मैं ही करता हूँ। परंतु उसे कर्मसे भागने या आनंदपूर्ण निष्क्रियताकी शरण लेनेकी भी आवश्यकता नहीं होती। अब तो वह उसी प्रकार कर्म करता है जिस प्रकार भगवान् कर्म करते हैं,—बिना किसी अलंघ्य आवश्यकता और बिना किसी दुर्धर्ष अज्ञानके। वह कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता; वह व्यक्तिगत रूपसे कोई कार्य आरंभ नहीं करता। भागवत शक्ति ही उसके अंदर उसकी प्रकृतिद्वारा कर्म करती है। उसका कर्म परा शक्तिके सहज प्रवाहके द्वारा विकसित होता है। उसके करण अब उसी शक्तिके अधिकारमें होते हैं, वह उसीका एक अंग होता है, उसका संकल्प उसीके संकल्पसे एकमय होता है, उसकी शक्ति उसीकी शक्ति होती है। उसके अंदरकी आत्मा इस कर्मको धारण करती है, इसे आश्रय देती और इसकी देख-रेख करती है। वह ज्ञानमें इसके ऊपर अधिष्ठातृत्व करती है, पर आसक्ति या आवश्यकताके कारण इससे चिपट नहीं जाती, न इसके साथ बँध ही जाती है; न इसके फलकी कामनासे आबद्ध होती है और न किसी प्रवृत्ति या आवेगकी दासी बनती है।

यह समझना कि कामनाके बिना कर्म असंभव है या कम-से-कम निरर्थक है एक आम भूल है। हमें बताया जाता है कि यदि कामनाका अंत हो जाय तो कर्मका भी अंत हो जायगा। परंतु यह सिद्धांत, अन्य अति-अज्ञानकल्पित सिद्धांतोंकी भाँति, विभेदक और परिच्छेदक मनके लिये जितना आकर्षक है उतना यह सच्चा नहीं है। संसारमें होनेवाले कामका बहुत बड़ा भाग कामनाके किसी भी तरहके हस्तक्षेपके बिना संपन्न होता है; यह प्रकृतिकी शांत आवश्यकता तथा स्वाभाविक नियमके कारण चलता रहता है। मनुष्य भी सहज आवेग, अंतर्ज्ञान तथा प्रेरणाके वश निरंतर नाना प्रकारके कार्य करता है अथवा वह मानसिक आयोजना या सचेतन प्राणिक इच्छा या भावमय कामनाकी प्रेरणाके बिना शक्तियोंकी स्वाभाविक आवश्यकता और नियमके अनुसार ही काम करता है। कितनी ही बार उसका कार्य उसके संकल्प या उसकी कामनाके विपरीत होता है; यह किसी आवश्यकता या दबावके अधीन, किसी आवेगके वश, उसके अंदरकी जो शक्ति आत्माभिव्यक्तिके लिये प्रेरणा देती है उसकी आज्ञाके अनुकूल अथवा सचेतन रूपसे एक उच्चतर नियमके अनुसार उसके अंदरसे निःसृत होता है। कामना एक और प्रलोभन है जिसे प्रकृतिने अपने अवांतर

उद्देश्योंके लिये अपेक्षित एक विशेष प्रकारका राजसिक कर्म संपन्न करनेके लिये चेतन प्राणियोंके जीवनमें महान् स्थान दिया है। परंतु यह उसका एकमात्र इंजन नहीं है, यहाँतक कि यह प्रधान इंजन भी नहीं है। जबतक कामना रहती है तबतक इसका एक बड़ा लाभ भी होता है : यह हमें जड़तासे उठनेमें सहायता पहुँचाती है और अनेक तामसिक शक्तियोंका विरोध करती है, अन्यथा वे शक्तियाँ कर्मको रोक ही देतीं। परंतु जो जिज्ञासु कर्ममार्गपर बहुत आगे बढ़ गया है वह इस मध्यवर्ती अवस्थाको पार कर चुका है जिसमें कामना सहायक इंजन होती है। इसका वेग अब उसके कामके लिये अनिवार्य नहीं रहता, बल्कि यह अत्यंत भयानक रूपमें बाधक होता है और स्खलन, अयोग्यता तथा विफलताको जन्म देता है। दूसरे लोग वैयक्तिक रुचि या वैयक्तिक हेतुके अनुसार कार्य करनेको बाध्य होते हैं, परंतु उसे निर्वैयक्तिक या वैश्व मनके द्वारा अथवा अनंत पुरुषके अंग या यंत्रके रूपमें कार्य करना सीखना होगा। शांत उदासीनता, प्रसन्न तटस्थता या दिव्य शक्तिको आनंदपूर्ण प्रत्युत्तर---भले ही उस शक्तिका आदेश कुछ भी क्यों न हो---यह एक आवश्यक अवस्था है जिसमें वह कोई प्रभावपूर्ण कर्म कर सकता है या किसी सार्थक कार्यका बीड़ा उठा सकता है। उसे कामना एवं आसक्तिके द्वारा परिचालित नहीं होना चाहिये, बल्कि उस संकल्पके द्वारा परिचालित होना चाहिये जो दिव्य शांतिमें गतिमान् होता है, उस ज्ञानके द्वारा जो परात्पर प्रकाशसे आता है, उस प्रसन्न संवेगके द्वारा जो परम आनंदसे प्राप्त बल होता है।

*

योगकी एक ऊँची अवस्थामें जिज्ञासु, किसी वैयक्तिक अभिरुचिके अर्थमें, इस ओरसे उदासीन होता है कि वह क्या काम करेगा और क्या नहीं। यहाँतक कि यह बात भी कि वह काम करेगा भी या नहीं उसकी निजी पसंद या प्रसन्नताके द्वारा निश्चित नहीं होती। वह सदैव वही कुछ करनेको प्रेरित होता है जो सत्यके साथ समस्वर होता है अथवा जिसकी माँग भगवान् उसकी प्रकृतिके द्वारा करता है। इससे कभी-कभी एक मिथ्या परिणाम निकाला जाता है कि आध्यात्मिक पुरुष उस स्थितिको, जिसमें दैव या ईश्वर या अतीत कर्मने उसे रखा है, शिरोधार्य करके उस कुटुंब, वंश, जाति, राष्ट्र और व्यवसायके, जो जन्म और परिस्थितिसे उसके अपने हैं, क्षेत्र एवं ढाँचेके भीतर कर्म करनेमें संतुष्ट रहकर उनका अति-क्रमण करने या किसी महान् लौकिक उद्देश्यका अनुसरण करनेकी चेष्टा

नहीं करेगा और शायद उसे ऐसा करना भी नहीं चाहिये। क्योंकि वास्तवमें उसके लिये कर्त्तव्य कर्म कोई नहीं होता और क्योंकि, जबतक वह इस शरीरमें है, उसे कर्मोंका, वे चाहे कोई भी क्यों न हों, उपयोग केवल मुक्ति प्राप्त करनेके लिये ही करना पड़ता है अथवा, मुक्ति प्राप्त कर लेनेके वाद, परम संकल्पका अनुसरण और उसके आदेशोंका पालन करनेके लिये ही उसे कर्म करने होते हैं, अतएव जो क्षेत्र उसे वास्तवमें दिया गया होता है वह इस प्रयोजनके लिये पर्याप्त होता है। एक बार स्वातंत्र्य लाभ हो जानेपर, उसे केवल अदृष्ट तथा परिस्थितियोंके द्वारा नियत क्षेत्रमें कर्म करते रहना होता है जबतक कि वह महान् मुहूर्त्त नहीं आ जाता जिसमें वह अंततः अनंतमें लय प्राप्त कर सके। किसी विशेष लक्ष्यपर आग्रह करना अथवा किसी महान् लौकिक उद्देश्यके लिये कर्म करना कर्मोंकी मायामें फँसना है। यह इस भ्रमको प्रश्रय देना है कि पार्थिव जीवनका एक वुद्धिगम्य आशय भी है और इसके अंदर कुछ प्राप्तव्य वस्तुएँ भी हैं। मायाका वह महान् सिद्धांत, जो परमार्थतः भगवान्‌की उपस्थितिको अंगीकार करनेपर भी व्यवहारतः इस जगत्‌में उसकी सत्ताका निषेध करता है, एक वार फिर हमारे सामने आता है। परंतु भगवान् यहाँ जगत्‌में उपस्थित है,—स्थितिशील रूपमें ही नहीं, वरन् गतिशील रूपमें भी, आध्यात्मिक सत्ता और उपस्थितिके रूपमें ही नहीं, वल्कि शक्ति, वल और ऊर्जाके रूपमें भी, अतएव संसारमें दिव्य कर्म करना संभव है।

ऐसा कोई संकीर्ण सिद्धांत नहीं, वँधे-वँधाये कर्मका कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो कर्मयोगीपर उसके नियम या क्षेत्रके रूपमें थोपा जा सके। इतनी वात सत्य है कि प्रत्येक प्रकारका काम, चाहे वह मनुष्यकी समझमें छोटा हो या वड़ा, क्षेत्रकी दृष्टिसे क्षुद्र हो या विशाल, मोक्षकी ओर प्रगति या आत्म-साधनाके लिये समान रूपसे उपयोगमें लाया जा सकता है। यह भी सच है कि मुक्तिके वाद मनुष्य जीवनके चाहे किसी भी क्षेत्रमें रहे और चाहे किसी भी प्रकारका काम करे उसीमें वह भगवान्‌के अंदर अपने अस्तित्वको चरितार्थ कर सकता है। वह आत्मासे जिस प्रकार भी प्रेरित हो उसके अनुसार वह अपने लिये जन्म और परिस्थितिद्वारा नियत क्षेत्रमें रह सकता है अथवा उस चौखटको तोड़कर एक ऐसे वंधनमुक्त कर्मकी ओर बढ़ सकता है जो उसकी महिमान्वित चेतना तथा उच्चतर ज्ञानका उपयुक्त शरीर हो। मनुष्योंके चर्मचक्षुओंको ऐसा दीख सकता है कि उसकी आभ्यंतरिक मुक्तिके कारण उसके वाह्य कर्मोंमें कोई स्पष्ट अंतर नहीं आया है। अथवा, इसके विपरीत, अंतःस्थ स्वतंत्रता एवं अनंतता

अपने-आपको एक ऐसी विशाल और नवीन बाह्य शक्तिशाली क्रियामें परिणत कर सकती है कि सभीकी दृष्टि इस असाधारण शक्तिकी ओर आप-से-आप आकृष्ट हो। यदि उसके अंतर्यामी परमदेवका ऐसा ही संकल्प हो तो मुक्त आत्मा उन्हीं पुरानी मानवी परिस्थितियोंमें सूक्ष्म और सीमित कर्मसे संतुष्ट रह सकती है; तब वे परिस्थितियाँ अपना बाह्य रूप किसी प्रकार भी बदलना नहीं चाहेंगी। परंतु उसे एक ऐसा कर्म करनेके लिये भी आह्वान प्राप्त हो सकता है जो उसके अपने बहिर्जीवनके रूपों तथा क्षेत्रको ही नहीं बदल डालेगा, अपितु उसके चारों ओरकी किसी भी चीजको परिवर्तित या प्रभावित किये बिना नहीं छोड़ेगा और नये जगत् एवं नयी व्यवस्थाको जन्म देगा।

*

एक प्रचलित विचार हमें यह विश्वास बँधायेगा कि संसारके नश्वर जीवनमें व्यष्टि-आत्माके लिये शारीरिक पुनर्जन्मसे छुटकारा प्राप्त करना ही मुक्तिका एकमात्र प्रयोजन है। यदि ऐसा छुटकारा एक बार निश्चित रूपसे प्राप्त हो जाय तो आत्माके लिये इहलोक या परलोकके जीवनमें कोई और कर्म शेष नहीं रहता अथवा केवल वही कर्म शेष रहता है जिसकी जरूरत शरीरकी सत्ता बनाये रखनेके लिये होती है या जो गत जन्मोंके अभुक्त कर्मफलोंके कारण आवश्यक होता है। यह थोड़ा-सा कर्म भी, योगकी अग्निसे शीघ्र ही निःशेष या दग्ध होकर, मुक्त आत्माके शरीरसे प्रयाण करनेपर समाप्त हो जायगा। पुनर्जन्मसे छुटकारेका लक्ष्य भारतीय मनके अंदर चिरकालसे इस रूपमें घर किये हुए है कि यही आत्माका परम पुरुषार्थ है। इसने पारलौकिक स्वर्गके उस सुख-भोगका स्थान ले लिया है जिसे अनेक धर्मोंने अपने दैवी प्रलोभनके रूपमें भक्तोंके मनमें प्रतिष्ठित किया था। जब वैदिक सूक्तोंके स्थूल बाह्य अर्थका मत अत्यंत प्रबल था तब भारतीय धर्मने भी इस अधिक पुरातन और निम्नतर पुकारका ही समर्थन किया। परवर्ती भारतमें द्वैतवादियोंने भी इसे अपने परमोच्च आध्यात्मिक लक्ष्यका अंग बनाये रखा। इसमें संदेह नहीं कि मन और शरीरकी सीमाओंसे परे आत्माकी शाश्वत शांति, स्थिरता और नीरवतामें मुक्ति प्राप्त करना मानसिक हर्षों या चिरस्थायी शारीरिक सुखोंके स्वर्गके प्रस्तावकी अपेक्षा अत्यधिक आकर्षक है, पर यह भी अंततः एक प्रलोभन ही है। ऐसी मुक्तिका यह आग्रह कि मनको जगत्से विरक्त और प्राण-सत्ताको जन्म लेनेके साहसिक कर्मसे पराङ्मुख हो जाना चाहिये एक प्रकारकी दुर्बलताको ही ध्वनित करता है और इसलिये ऐसी मुक्ति हमारा परम लक्ष्य नहीं हो सकती। वैयक्तिक मोक्षकी कामना अहंकारकी ही उपज

है, भले ही इस कामनाका स्वरूप कैसा भी ऊँचा क्यों न हो। इसका मूल आधार है हमारे निजी व्यक्तित्वका तथा इसकी कामना और भलाईका विचार, दुःखसे छूटनेकी लालसा या जन्मग्रहणके कष्टके अवसानके लिये इसकी चीख-पुकार। इन चीजोंको ही यह हमारे जीवनका परम लक्ष्य निश्चित करती है। अहंकारके इस आधारके पूर्ण निराकरणके लिये वैयक्तिक मोक्षकी कामनासे ऊपर उठना आवश्यक है। यदि हम भगवान्‌को खोजते हैं तो यह खोज भगवान्‌के लिये ही होनी चाहिये और किसी चीजके लिये नहीं, क्योंकि यही हमारी सत्ताकी परम पुकार है और यही हमारी आत्माका गभीरतम सत्य है। मोक्षकी प्राप्ति एवं आत्माके स्वातंत्र्यके लिये तथा अपनी सच्ची एवं सर्वोच्च आत्माकी उपलब्धि और भगवान्‌के साथ मिलनके लिये प्रयत्न करनेका समर्थन केवल इस कारण किया जाता है कि यह हमारी प्रकृतिका उच्चतम विधान है एवं हमारे अंदरके निम्नतर तत्त्वका परमोच्च तत्त्वकी ओर आकर्षण है और यही हमारे अंदर भगवान्‌की इच्छा है। यह कारण इसे पर्याप्त रूपसे सार्थक सिद्ध करता है और यह इसका सच्चे-से-सच्चा कारण है। अन्य सब कारण तो प्रपंचमात्र हैं, गौण या आनुषंगिक सत्य अथवा उपयोगी प्रलोभन हैं और ज्योंही उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय और परमदेव तथा भूतमात्रके साथ एकत्वकी स्थिति हमारी सामान्य चेतना और इस स्थितिका आनंद हमारा आध्यात्मिक वातावरण बन जाय, त्योंही आत्माको उन सबका त्याग कर देना होगा।

प्रायः हम देखते हैं कि एक और आकर्षण, जो हमारी प्रकृतिकी एक उच्चतर प्रवृत्तिसे संबंध रखता है और मुक्त आत्माको जो कर्म करना चाहिये उसके मूल स्वरूपका दिग्दर्शन कराता है, वैयक्तिक मोक्षकी कामनाको अभिभूत कर देता है। अमिताभ बुद्धका महान् आख्यान इसी आकर्षणकी ओर इंगित करता है। जब उनकी आत्मा निर्वाणकी ड्योढ़ीपर पहुँची तो वे वापिस मुड़े और प्रतिज्ञा की कि जबतक एक भी जीव दुःख और अज्ञानमें रहेगा तबतक वे इसे कभी नहीं लांघेंगे। भागवत पुराणके उस उत्कृष्ट पद्यके मूलमें भी यही अर्थ अंतर्निहित है, "मुझे न तो आठों सिद्धियोंसे युक्त परम पदकी कामना है और न पुनर्जन्मसे छुटकारेकी। मैं चाहता हूँ कि सभी संतप्त प्राणियोंका दुःख अपने ऊपर ले लूं और उनके अंदर प्रविष्ट हो जाऊँ जिससे वे कष्टसे मुक्त हो जायें।" यही स्वामी विवेकानंदके एक पत्रके एक अद्भुत संदर्भका प्रेरक है। उस महान् वेदांतीने लिखा था, "मुझे अपनी मुक्तिकी कोई इच्छा नहीं रही है। मैं चाहता

हूँ कि मैं फिर-फिर पैदा होऊँ और हजारों कष्ट भोगूँ जिससे मैं उस एकमात्र ईश्वरकी पूजा कर सकूँ जो वस्तुतः सत् है; उस एकमात्र ईश्वरकी जिसे मैं मानता हूँ, जो सब आत्माओंका कुल योग है,—और इससे भी बढ़कर अपने उस ईश्वरकी जो सब जातियों और उपजातियोंके दुष्ट जनोंमें है, अपने उस ईश्वरकी जो सब दीन-दु:खियोंमें है, उस दरिद्रनारायणकी जो मेरा विशेष पूजापात्र है। जो उच्च और नीच, संत और पापी, देवता और कृमि है, उसकी पूजा करो, दृश्य, ज्ञेय, वास्तविक और सर्वव्यापककी पूजा करो; और सब मूर्त्तियाँ तोड़ फेंको। जिसमें न अतीत जीवन है न भावी जन्म, न मृत्यु न आवागमन, जिसमें हम सदा एक रहे हैं और सदा ही एक रहेंगे, उसकी पूजा करो; और सब मूर्त्तियाँ तोड़ फेंको।"

अंतिम दो वाक्योंमें सचमुच ही विषयका संपूर्ण सार आ जाता है। सच्चा मोक्ष प्राप्त करना या पुनर्जन्मके बंधनसे सच्चा छुटकारा पाना यह नहीं है कि पार्थिव जीवनका त्याग कर दिया जाय या व्यक्ति एक आध्यात्मिक स्व-विलोपके द्वारा जीवनसे भाग जाय, जैसे कि सच्चा संन्यास यह नहीं है कि परिवार या समाजका केवल स्थूल रूपसे त्याग कर दिया जाय। सच्चा मोक्ष उस भगवान्के साथ आंतर तादात्म्य है जिसमें अतीत जीवन और भावी जन्मका कोई बंधन नहीं है, बल्कि इनके स्थानपर अज आत्माकी शाश्वत सत्ता है। गीता कहती है कि जो अंदरसे स्वतंत्र है वह सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता; प्रकृति ही उसके अंदर अपने स्वामीकी अधीनतामें कार्य करती है। इसी प्रकार, चाहे वह सैकड़ों बार शरीर धारण करे तो भी वह जन्मके हर प्रकारके बंधनसे या सत्ताके यंत्रवत् घूमनेवाले चक्रसे मुक्त रहता है, क्योंकि वह अज एवं अविनाशी आत्मामें निवास करता है, शरीरके जीवनमें नहीं। अतएव, आवागमनसे छुटकारेमें आसक्ति एक ऐसी प्रतिमा है जिसे और कोई भले ही सुरक्षित रखे, पर जिसे पूर्णयोगके साधकको तोड़कर अपनेसे दूर फेंक देना होगा। कारण, उसका योग समस्त जगत्से परे विद्यमान परात्परकी व्यष्टि-आत्माद्वारा उपलब्धितक ही सीमित नहीं है; यह विराट्, अर्थात् "सकल आत्माओंके कुल योग"की उपलब्धिको भी समाविष्ट करता है, अतएव यह वैयक्तिक मोक्ष तथा पलायनकी गतिके भीतर ही आबद्ध नहीं किया जा सकता। वैश्व सीमाओंके अतिक्रमणकी अवस्थामें भी वह भगवान्में सर्वके साथ एक होता है; संसारमें दिव्य कर्म उसके लिये तब भी शेष रहता है।

*

वह कर्म किसी मनोनिर्मित नियम या मानवीय प्रतिमानसे निश्चित

नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसकी चेतना मानवीय नियमों और मर्यादाओंको पार कर दिव्य स्वातंत्र्यमें पहुँच जाती है, बाह्य और क्षण-भंगुरके राज्यसे निकलकर आंतर और नित्यके आत्म-शासनमें तथा सांतके वंधनकारी रूपोंसे परे हटकर अनंतके स्वतंत्र आत्म-निर्धारणमें प्रविष्ट हो जाती है। "वह चाहे जैसे भी रहता और काम करता हो", गीता कहती है, "वह मुझमें ही रहता और काम करता है।"* मनुष्योंकी बुद्धि जिन नियमोंको प्रस्थापित करती है वे मुक्त आत्मापर लागू नहीं हो सकते। उनके मानसिक संस्कार और पूर्वनिर्णय जिन बाह्य कसौटियों और परीक्षाओंको निश्चित करते हैं उनके द्वारा ऐसे व्यक्तिके विषयमें निर्णय नहीं किया जा सकता। वह इन भ्रांतिपूर्ण न्यायालयोंके संकीर्ण अधिकार-क्षेत्रसे बाहर होता है। इसका कुछ महत्त्व नहीं कि वह संन्यासीका वेष धारण करता है अथवा गृहस्थीका भरापूरा जीवन बिताता है; वह उन कार्योंमें, जिन्हें लोग पवित्र कहते हैं, अथवा संसारके वहुमुख कार्य-व्यवहारमें अपने दिन बिताता है; वह अपना जीवन बुद्ध, ईसा या शंकरके समान प्रत्यक्ष रूपसे मनुष्योंको प्रकाशकी ओर ले जानेमें लगाता है अथवा जनककी भाँति राज्योंका संचालन करता है अथवा श्रीकृष्णकी भाँति एक राजनीतिज्ञ या सेनानायकके रूपमें लोगोंके सामने उपस्थित होता है; वह क्या खाता-पीता है; उसकी आदतें या प्रवृत्तियाँ क्या हैं; वह सफल होता है या असफल; उसका कार्य निर्माणका है या विनाशका; क्या वह पुरातन व्यवस्थाका समर्थन या उसकी पुनः प्रतिष्ठा करता है अथवा उसके स्थानपर नयी व्यवस्थाकी स्थापना करनेकी चेष्टा करता है; क्या उसके संगी-साथी वे लोग हैं जिनका मान करनेमें मनुष्य हर्ष अनुभव करते हैं अथवा वे लोग जिन्हें उनकी उत्कृष्ट पवित्रताकी भावना वहिष्कृत और तिरस्कृत करती है; क्या उसके समकालीन लोग उसके जीवन और कार्य-कलापका अनुमोदन करते हैं अथवा उसे मनुष्योंको कुमार्गपर चलानेवाला और धार्मिक, नैतिक या सामाजिक पाखंडोंको उत्तेजित करनेवाला कहकर उसकी निंदा करते हैं—इस सवका भी कुछ महत्त्व नहीं। वह मनुष्योंके निर्णयों या अज्ञानियोंके निश्चित किये हुए नियमोंके अनुसार नहीं चलता, वह अंतरकी वाणीका अनुसरण करता है और अदृश्य शक्तिसे चालित होता है। उसका वास्तविक जीवन भीतर होता है जिसका वर्णन यूं किया जा सकता है कि वह ईश्वरमें और भगवान् तथा अनंतमें रहता-सहता, चलता-फिरता और काम-काज करता है।

---

*सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। गीता ६-३१

पर, यद्यपि उसका कर्म किसी बाह्य नियमसे अनुशासित नहीं होता, तो भी वह एक नियमका अनुसरण करता है जो बाह्य नहीं होता; वह किसी वैयक्तिक कामना या लक्ष्यसे प्रेरित नहीं होता, बल्कि वह संसारमें एक सचेतन तथा आत्मशासित और परिणामतः सुशासित दिव्य क्रियाका भाग होता है। गीता स्पष्ट कहती है कि मुक्त मनुष्यका कर्म कामनासे परिचालित नहीं होना चाहिये, बल्कि उसका लक्ष्य होना चाहिये लोक-संग्रह, संसारको एकत्र रखना और इसका शासन, मार्गदर्शन तथा प्रचालन करना तथा इसे इसके नियत पथपर स्थिर रखना। इस उपदेशका यह अर्थ किया गया है कि क्योंकि संसार एक ऐसा भ्रम है जिसमें अधिकतर मनुष्योंको रखना ही होता है—कारण, वे मोक्षके अयोग्य होते हैं,—उसे बाहरसे इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि वह सामाजिक नियमद्वारा उनके लिये निर्दिष्ट किये हुए आचारिक कर्मोंमें उनकी आसक्तिको दृढ़ बनाये रखे। यदि ऐसा ही हो तो यह एक हीन और तुच्छ नियम होगा और प्रत्येक भद्रहृदय व्यक्ति इसका त्यागकर अमिताभ बुद्धके दिव्य व्रत, भागवतकी उदात्त प्रार्थना और विवेकानंदकी उत्कट अभीप्साका ही अनुसरण करना चाहेगा। विशेषकर, यदि हम इस विचारको स्वीकार करें कि संसार प्रकृतिकी एक ऐसी गति है जो दैवी ढंगसे परिचालित हो रही है, जो मनुष्यके अंदर ईश्वरकी ओर उच्छलित हो रही है और इसी कार्यमें, गीताके ईश्वर कहते हैं कि वे निरंतर लगे हुए हैं, चाहे स्वयं उनके लिये ऐसी कोई अप्राप्त वस्तु नहीं है जो उन्हें अभी प्राप्त करनी हो,—तो इस महान् उपदेशका गंभीर और सत्य आशय हमारे सामने प्रकट हो जायगा। उस दिव्य कर्ममें भाग लेना और संसारमें ईश्वरके लिये जीना कर्मयोगीके कर्मका नियम होगा—संसारमें ईश्वरके लिये जीना और अतएव इस प्रकार कर्म करना कि भगवान् अपने-आपको अधिकाधिक प्रकट कर सकें और संसार अपनी अज्ञात यात्राके चाहे जिस भी मार्गसे आगे बढ़ता हुआ दिव्य आदर्शके अधिक निकट पहुँच सके।

यह कार्य वह कैसे करेगा, किस विशेष ढंगसे करेगा, यह किसी सामान्य नियमके द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता। यह तो अंदरसे ही विकसित या निर्धारित होगा। इसका निश्चय ईश्वर और हमारी आत्मा, परम आत्मा और व्यक्तिगत आत्माके—जो कर्मका यंत्र होती है—बीचकी बात है। मुक्तिसे पहले भी, अंतरात्मा, ज्योंही हम इससे सचेतन होते हैं, हमारी अनुमति या हमारे अध्यात्मतः निर्धारित चुनावका उद्गम बन जाती है। करणीय कर्मका ज्ञान पूर्णरूपेण अंदरसे ही प्राप्त होना चाहिये।

ऐसा कोई विशिष्ट कर्म नहीं है, न ही कर्मोंका ऐसा कोई विधि-विधान या बाह्यतः स्थिर या नियत ढंग है जिसे मुक्त जीवका कर्म या उसके कर्मका विधि-विधान या ढंग कहा जा सके। करणीय कर्मको सूचित करनेके लिये गीतामें जो शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ, निश्चय ही, यह लगाया गया है कि हमें फलका विचार किये विना अपना कर्तव्य कर्म करना चाहिये। किंतु यह एक ऐसा विचार है जो यूरोपीय संस्कृतिकी उपज है और आध्यात्मिककी अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक है और अपने वोधनों (conceptions) में अंतर्गभीर होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक वाह्य है। कर्तव्य नामकी किसी सामान्य वाह्य वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है। हमारे सामने तो केवल अनेक कर्तव्य होते हैं जो प्रायः परस्पर-विरोधी होते हैं। ये हमारी परिस्थिति, हमारे सामाजिक संवंधों और हमारी वाह्य जीवन-स्थितिसे निर्धारित होते हैं। इनका एक वड़ा लाभ यह होता है कि ये अपरिपक्व नैतिक प्रकृतिको सधाते हैं तथा स्वार्थपूर्ण कामनाके कर्मको निरुत्साहित करनेवाले प्रतिमानकी स्थापना करते हैं। यह कहा ही जा चुका है कि जवतक अभीप्सुको आंतरिक ज्योति प्राप्त नहीं हो जाती तवतक उसे स्वलव्ध सर्वोत्तम प्रकाशके अनुसार ही चलना होगा; कर्तव्य, सिद्धांत और ध्येय उन प्रतिमानोंमेंसे हैं जिनका वह कुछ कालके लिये निर्माण तथा अनुसरण कर सकता है। परंतु यह सव होते हुए भी, कर्तव्य कर्म वाह्य चीजें हैं, आत्माकी वस्तु नहीं। ये इस पथमें कर्मके चरम आदर्श नहीं हो सकते। सैनिकका कर्तव्य यह है कि जव उसे आह्वान प्राप्त हो वह युद्ध करे, यहाँतक कि अपने वंधु-वांधवोंपर भी गोली चलावे। परंतु ऐसा या इससे मिलता-जुलता और कोई मानदंड मुक्त पुरुषपर लागू नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, प्रेम या करुणा करना, अपनी सत्ताके उच्चतम सत्यका अनुसरण करना और भगवान्के आदेशका पालन करना कोई कर्तव्य नहीं हैं। ये तो प्रकृतिका धर्म वनते जाते हैं जैसे-जैसे कि यह भगवान्की ओर ऊपर उठती है, ये आत्म-स्थितिसे निःसृत कर्मका प्रवाह तथा आत्म-सत्ताका उच्च सत्य हैं। कर्मोंके मुक्त कर्ताका कर्म आत्मासे निःसृत इस प्रकारका प्रवाह ही होना चाहिये। यह भगवान्के साथ उसके आध्यात्मिक मिलनके स्वाभाविक परिणामके रूपमें उसे प्राप्त होना चाहिये अथवा उसके अंदर प्रकट होना चाहिये, न कि मानसिक विचार एवं संकल्प और व्यावहारिक वुद्धि या सामाजिक भावनाकी किसी उन्नायक रचनासे निर्मित होना चाहिये। साधारण जीवनमें वैयक्तिक, सामाजिक या परंपरागत निर्मित नियम, प्रतिमान या आदर्श ही मार्गदर्शक

होता है। परंतु जब एक बार आध्यात्मिक यात्रा शुरू हो जाय, तो इसके स्थानपर आंतरिक जीवन-यापनका एक ऐसा वाह्य एवं आभ्यंतर नियम या प्रणाली प्रतिष्ठित करनी चाहिये जो हमारी आत्म-साधनाके लिये तथा हमें स्वतंत्र एवं पूर्ण वनानेके लिये आवश्यक हो, एक ऐसी जीवनप्रणाली जो हमारे अवलंवित पथके उपयुक्त या आध्यात्मिक मार्गदर्शक और शिक्षक—'गुरु'—से आदिष्ट हो अथवा हमारे अंतःस्थ पथप्रदर्शकसे निर्दिष्ट हो। परंतु आत्माकी अनंतता और स्वतंत्रताकी चरम अवस्थामें सभी वाह्य प्रतिमान पदच्युत या वहिष्कृत कर दिये जाते हैं और तव केवल यही प्रतिमान रह जाता है कि जिस भगवान्‌के साथ हम योगयुक्त हो चुके हैं उसके आदेशका पालन हम सहज और पूर्ण रूपसे करें तथा ऐसा कर्म करें जो हमारी सत्ता और प्रकृतिके सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक सत्यको सहज-स्वाभाविक रूपसे चरितार्थ करता हो।

*

गीताके इस वचनको कि स्वभावके द्वारा निर्धारित और परिचालित कार्य ही हमारे कर्मोंका नियम होना चाहिये, हमें इस गभीरतर अर्थमें ही ग्रहण करना चाहिये। निश्चय ही, यहाँ 'स्वभाव' शब्दसे स्थूल स्वभाव या चरित्र या अभ्यासगत आवेग अभिप्रेत नहीं है, वल्कि संस्कृत शब्दके मूल अर्थके अनुसार हमारी "अपनी सत्ता", हमारी मूल प्रकृति, हमारी आत्माओंका दिव्य सत्त्व ही अभिप्रेत है। इस मूलसे उद्‌भूत या इन स्रोतोंसे प्रवाहित होनेवाली प्रत्येक वस्तु गभीर, सारभूत और यथार्थ होती है। शेष सव वस्तुएँ—सम्मतियाँ, कामनाएँ, आवेग और अभ्यास—सत्ताकी केवल तलीय रचनाएँ या आकस्मिक विभ्रम या वाह्य अध्यारोप ही हो सकती हैं। इनमें हेर-फेर और परिवर्तन होता रहता है, पर वह स्थिर रहती है। प्रकृति हमारे अंदर जो-जो कार्यवाहक रूप ग्रहण करती है वे हमारा अपना आप या हमारा नित्यतः स्थिर और व्यंजक आकार नहीं होते, हमारे अंदरकी आध्यात्मिक सत्ता ही—इसके अंदर इसकी आत्मिक अभिव्यक्ति भी आ जाती है—विश्वमें कालके भीतर अचल और अटल रहती है।

तथापि अपनी सत्ताके इस सत्य आंतरिक नियमको हम सुगमतासे नहीं जान सकते। जवतक हमारी वुद्धि और हृदय अहंभावके कारण अशुद्ध रहते हैं, यह हमसे छिपा ही रहता है। तवतक हम अपने परिपार्श्वसे प्राप्त सव प्रकारके स्थूल और अस्थायी विचारों, आवेगों, कामनाओं,

सुझावों और अध्यारोपोंका अनुसरण करते रहते हैं अथवा अपने अल्प-कालिक मन-प्राण-शरीररूप व्यक्तित्वकी रचनाओंको ही कार्यान्वित करते रहते हैं। यह व्यक्तित्व एक नश्वर, परीक्षणात्मक और सांस्थानिक स्व है जो हमारी सत्ता, और अपरा प्रकृतिके दबावकी परस्पर-क्रियाके द्वारा हमारे लिये बनाया गया है। जितना ही हम शुद्ध होते हैं उतना ही हमारे अंदरकी सच्ची सत्ता अपनेको अधिक स्पष्ट रूपमें प्रकट करती है, हमारी इच्छाशक्ति बाहरसे आनेवाले सुझावोंमें उतना ही कम फँसती है अथवा हमारी निजी उथली मानसिक रचनाओंमें उतना ही कम आबद्ध होती है। अहंकारके छूट जानेपर, प्रकृतिके शुद्ध हो जानेपर, कर्म अंतरात्माके आदेशसे एवं आत्माकी गहराइयों या ऊँचाइयोंसे प्रेरित होगा, अथवा यह स्पष्टतया उस ईश्वरके द्वारा परिचालित होगा जो हमारे हृदयोंके भीतर गुप्त रूपमें सदासे ही आसीन है। योगीके लिये गीताका चरम और परम वचन यह है कि उसे धर्म-कर्मके सब रूढ़ सूत्रों, आचार-व्यवहारके सब बँधे-बँधाये बाह्य नियमों, स्थूल गोचर प्रकृतिकी सभी रचनाओं—सर्व 'धर्मों'को—त्याग करके एकमात्र भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये। जब वह कामना और आसक्तिसे मुक्त और प्राणिमात्रके साथ एकीभूत हो जायगा, अनंत सत्य और पवित्रतामें निवास करेगा, अपनी अंतश्चेतनाकी गहनतम गहराइयोंसे कार्य करेगा और अपनी अमर, दिव्य एवं सर्वोच्च आत्मासे परिचालित होगा, तब अंतरस्थ शक्ति ही ईश्वरको जगत्‌में चरितार्थ करने और सनातनको कालमें व्यक्त करनेके लिये हमारे अंदरकी उस सारभूत आत्मा और प्रकृतिके द्वारा, जो ज्ञानोपार्जन, युद्ध-पराक्रम, कार्य-व्यवसाय और सेवा-परिचर्या करती हुई भी सदा दिव्य रहती है, उसके सभी कर्मोंका संचालन करेगी।

भगवान्‌के साथ योगयुक्त हमारी आध्यात्मिक सत्ताकी ज्योति एवं शक्तिसे सहज, स्वतंत्र और निर्भ्रांत रूपमें उद्‌भत होनेवाला दिव्य कर्म ही इस सर्वांगीण कर्मयोगकी चरम अवस्था है। हमें मोक्षकी खोज क्यों करनी चाहिये इसका सबसे अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि हम व्यक्तिगत रूपमें जगत्‌के दुःखसे मुक्त हो जायँ,—यद्यपि दुःखसे मुक्ति भी हमें प्राप्त होगी ही,—वरन् यह है कि हम भगवान्, पुरुषोत्तम और सनातनके साथ एक हो जायँ। पूर्णताकी खोज—परम स्थिति, पवित्रता, ज्ञान, बल, प्रेम और सामर्थ्यकी खोज—हमें क्यों करनी चाहिये इसका सबसे अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूपमें हम दिव्य प्रकृतिका उपभोग करें, यह भी नहीं कि हम देवताओंके समान बन जायँ,—

यद्यपि ऐसा दिव्य उपभोग भी हमें अवश्य प्राप्त होगा,—वरन् यह है कि इस मुक्ति और पूर्णताको प्राप्त करना ही हमारे अंदर भगवान्‌की इच्छा है, यही प्रकृतिमें हमारी आत्माका सर्वोच्च सत्य है, यही विश्वमें वर्द्धनशील अभिव्यक्तिका सदा-अभिमत लक्ष्य है। दिव्य प्रकृति—स्वतंत्र, परिपूर्ण और आनंदमय प्रकृति—व्यक्तिमें अवश्य प्रकट होनी चाहिये जिससे कि यह संसारमें भी अभिव्यक्त हो सके। अविद्यामें भी व्यक्ति वस्तुतः विराट्‌के अंदर और विराट्‌के प्रयोजनके लिये ही निवास करता है। अपने अहंके प्रयोजनों और कामनाओंका अनुसरण करता हुआ भी वह विश्वप्रकृतिके द्वारा बाध्य होकर अपने अहंमूलक कार्यसे इन लोकोंके अंदर उसी (प्रकृति)के कार्य और प्रयोजनमें ही सहयोग देता है। परंतु यह सहयोग वह बिना सचेतन संकल्पके एवं अपूर्ण ढंगसे और उसकी अर्ध-विकसित एवं अर्द्ध-चेतन तथा अपूर्ण एवं स्थूल क्रियाको ही देता है। अहंसे मुक्त होकर भगवान्‌से एकत्व प्राप्त करना उसके व्यक्तिभावकी मुक्ति है और यही उसकी परिपूर्णता भी है। इस प्रकार मुक्त, शुद्ध और पूर्णता-प्राप्त व्यक्ति—दिव्य आत्मा—जैसा प्रारंभसे ही अभिमत था, सचेतन तथा समग्र रूपमें, विराट् और परात्पर भगवान्‌में और उसके लिये तथा उसके विश्वगत संकल्पके लिये जीवन यापन करने लगता है।

ज्ञानमार्गमें हम एक ऐसी स्थितिमें पहुँच सकते हैं जहाँ हम व्यक्तित्व तथा विश्वका अतिक्रमण करके, समस्त विचार, संकल्प एवं कर्मकलाप तथा प्रकृतिकी समस्त गतिविधिको पार करके और अनंततामें लीन तथा उन्नीत होकर परात्परतामें निमग्न हो सकते हैं। यह अवस्था ईश्वर-ज्ञानीके लिये अपरिहार्य तो नहीं है, पर यह अंतरात्माका एक स्व-निर्णीत लक्ष्य हो सकती है। यह हमारे अंदरकी आत्माद्वारा अनुसृत एक भूमिका-विशेष हो सकती है। भक्तिमार्गमें हम भक्ति और प्रीतिकी प्रगाढ़ताके द्वारा उस परमोच्च सर्व-प्रियतमसे मिलन लाभ कर नित्य निरंतर उसके सान्निध्यके हर्षावेशमें रह सकते हैं,—उसीमें निमग्न, एक ही आनंदमय लोकमें उसके घनिष्ठ सहचर बनकर। यही तब हमारी सत्ताका संवेग तथा इसका आध्यात्मिक चुनाव हो सकता है। परंतु कर्मोंके मार्गमें हमारे सामने एक और ही प्रकारका भविष्य खुलता है। इस पथपर यात्रा करते हुए हम सनातन देवके साथ प्रकृतिका साधर्म्य और सादृश्य लाभ कर मुक्ति और सिद्धिमें प्रवेश कर सकते हैं। हम अपनी इच्छाशक्ति और सक्रिय व्यक्तित्वमें भी उसके साथ उतने ही तदाकार हो जाते हैं जितने कि अपनी आध्यात्मिक स्थितिमें। कर्म करनेका दिव्य ढंग इस मिलनका स्वाभाविक

परिणाम होता है और आध्यात्मिक स्वातंत्र्यमें दिव्य जीवनका यापन इसकी अभिव्यक्तिका मूर्त्तिमंत रूप। पूर्णयोगमें ये तीनों मार्ग अपने निषेधोंका त्याग कर देते हैं और परस्पर घुल-मिलकर एक हो जाते हैं अथवा स्वभावतः ही एक-दूसरेमेंसे उद्भूत होते हैं। हमारी आत्मापर जो मनका पर्दा पड़ा हुआ था उससे मुक्त होकर हम परात्परतामें निवास करने लगते हैं, हृदयकी उपासनाके द्वारा हम परम प्रेम और आनंदके एकत्वमें प्रवेश करते हैं और परा शक्तिमें हमारी सत्ताकी सब शक्तियोंके उन्नीत हो जाने तथा एक ही परम संकल्प और शक्तिमें हमारे संकल्पों और कर्मोंके समर्पित हो जाने-पर हम दिव्य प्रकृतिकी क्रियाशील पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं।

तेरहवाँ अध्याय*

अतिमानस और कर्मयोग

पूर्णयोग संपूर्ण सत्ताके एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना एवं विशालतर दिव्य अस्तित्वमें रूपांतरको अपने समग्र और चरम लक्ष्यके अंदर एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अंगके रूपमें समाविष्ट करता है। हमारे संकल्प और कर्म करनेवाले अंगोंको, हमारे ज्ञान-प्राप्तिके करणोंको, हमारे मनोमय, भावमय और प्राणमय पुरुषको, किंबहुना हमारी समस्त सत्ता और प्रकृतिको भगवान्‌की खोज करनी होगी, अनंतमें प्रवेश करना तथा सनातनके साथ एकमय होना होगा। परंतु मनुष्यकी वर्तमान प्रकृति सीमित, विभक्त तथा विषम है,—उसके लिये सबसे सुगम यह है कि वह अपनी सत्ताके सबसे प्रबल भागमें अपने-आपको केंद्रित करके विकासकी एक ऐसी सुनिश्चित धाराका अनुसरण करे जो उसकी प्रकृतिके लिये उपयुक्त हो। भगवान्‌की अनंतताके सागरमें सीधे ही और एकदम एक विशाल डुबकी लगानेकी सामर्थ्य तो केवल विरले ही लोगोंमें होती है। अतएव, कुछ लोगोंको अपने अंदर परम आत्माके सनातन सत्यस्वरूपको पानेके लिये चिंतन या मननकी एकाग्रता या मनकी एकनिष्ठताको आरंभबिंदुके रूपमें चुनना पड़ता है; कुछ दूसरे लोग भगवान् किंवा सनातनसे मिलनेके लिये अंतर्मुख होकर हृदयके भीतर अपेक्षाकृत अधिक सुगमतासे प्रवेश कर सकते हैं; फिर कुछ अन्य लोग प्रधान रूपसे गतिशक्तिमय एवं क्रियाशील होते हैं; इनके लिये अपने-आपको संकल्पशक्तिमें केंद्रित करके कर्मोंके द्वारा अपनी सत्ताको विस्तारित करना सर्वोत्तम होता है। सबके परम आत्मा एवं उद्‌गमकी अनंतताके प्रति अपनी संकल्पशक्ति समर्पित करके और उस समर्पणके द्वारा उसके साथ एकत्व लाभ करके, अपने कर्मोंमें अपने अंतःस्थ गुप्त भगवान्‌के द्वारा परिचालित होते हुए अथवा विश्व-व्यापारके स्वामीको अपने विचार, वेदन और कर्मकी समस्त शक्तियोंके प्रभु और प्रेरक समझते हुए उनके

---

*लेखकका विचार इस ग्रन्थको कुछ परिवर्द्धित करनेका था। पर यह कार्य पूरा नहीं हो सका। प्रस्तुत अध्याय उस परिवर्द्धनका ही एक अंश है। यह यहाँ पहली बार ही प्रकाशित हो रहा है।

प्रति समर्पित होकर, अपनी सत्ताके इस विस्तारके द्वारा अहंरहित तथा विश्वमय बनकर, वे कर्मोंके मार्गसे आध्यात्मिक अवस्थाकी किसी प्रकारकी प्राथमिक पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। परंतु मार्गका आरंभबिंदु कोई भी क्यों न हो, वह आगे अपनी संकीर्ण परिधिसे निकलकर वृहत्तर प्रदेशमें पहुँच ही जायगा; अंतमें उसे सुसमन्वित ज्ञान और भावावेगकी, शक्तिमय कर्मके संकल्पकी तथा हमारी सत्ता और समस्त प्रकृतिके पूर्णत्वकी समग्रताके द्वारा ही आगे बढ़ना होगा। अतिमानसिक चेतनामें, अतिमानसिक सत्ताके स्तरपर यह समन्वय या समग्रीकरण अपनी पूर्णताके शिखरपर पहुँच जाता है; वहाँ ज्ञान, संकल्प, भावावेग, आत्मा और सक्रिय प्रकृतिकी पूर्णता—इनमेंसे प्रत्येक अपने पूर्ण एवं निरपेक्ष स्वरूपतक ऊँचे उठ जाता है और ये सभी एक-दूसरेके साथ पूर्ण सामंजस्य, परस्पर-विलय एवं ऐक्य, दिव्य समग्रता और दैवी पूर्णतातक उन्नीत हो जाते हैं। कारण, अतिमानस एक सत्य-चेतना है जिसमें भागवत सत्ता पूर्णतया अभिव्यक्त होकर, आगेसे अज्ञानके करणोंके द्वारा कार्य नहीं करती; सत्ताकी स्थितिशीलताका सत्य, जो पूर्ण और निरपेक्ष है, उसी सत्ताकी शक्ति और क्रियाके सत्यमें, जो स्वयंसत् और सर्वांगपूर्ण है, क्रियाशील बन जाता है। वहाँ प्रत्येक गति भागवत सत्ताके आत्म-सचेतन सत्यकी गति है और प्रत्येक खण्ड समग्रके साथ पूर्णतया सुसंगत है। सत्य-चेतनामें अत्यंत सीमित एवं सांत क्रिया भी सनातन एवं अनंतकी एक गति होती है और सनातन एवं अनंतकी स्वभावसिद्ध निरपेक्षता और पूर्णतामेंसे अपना भाग ग्रहण करती है। अति-मानसिक सत्यकी ओर आरोहण न केवल हमारी आध्यात्मिक और मूलभूत चेतनाको उस ऊँची चोटीतक उठा ले जाता है, बल्कि हमारी संपूर्ण सत्तामें तथा हमारी प्रकृतिके सभी भागोंमें भी इस ज्योति और सत्यका अवतरण साधित कर देता है। तब सभी कुछ भागवत सत्यका एक अंग तथा परमोच्च मिलन एवं एकत्वका एक तत्त्व एवं साधन बन जाता है; अतएव यह आरोहण एवं अवरोहण ही इस योगका अंतिम लक्ष्य होना चाहिये।

अपनी सत्ता एवं समस्त सत्ताके भागवत सत्स्वरूपके साथ मिलन ही योगका एकमात्र वास्तविक लक्ष्य है। इस बातको ध्यानमें रखना आवश्यक है; हमें स्मरण रखना होगा कि हमारे योगका अनुसरण स्वयं अतिमानसकी प्राप्तिके लिये नहीं, बल्कि भगवान्‌के लिये किया जाता है; हम अति-मानसकी खोज उससे प्राप्त होनेवाले आनंद एवं महानताके लिये नहीं, बल्कि मिलनको पूर्ण, निरपेक्ष और सर्वांगीण बनानेके लिये करते हैं, अपनी सत्ताके प्रत्येक संभवनीय रूपमें, उसकी उच्च-से-उच्च गभीरताओं और

विस्तृत-से-विस्तृत विशालताओंमें तथा अपनी प्रकृतिके प्रत्येक क्षेत्रमें, उसके एक-एक मोड़ और कोनेमें एवं प्रत्येक गुप्त प्रदेशमें मिलनको अनुभव और अधिकृत करके क्रियाशील बनानेके लिये ही हम अतिमानसको प्राप्त करना चाहते हैं। यह सोचना भूल है—और ऐसा सोचनेकी भूल बहुतेरे कर सकते हैं,—कि अतिमानसिक योगका लक्ष्य अतिमानवताका शक्तिशाली वैभव, दिव्य शक्ति और महानता, तथा एक पृथक् व्यक्तिके विस्तारित व्यक्तित्वकी आत्म-परिपूर्णता प्राप्त करना है। यह एक मिथ्या और संकटपूर्ण धारणा है,—संकटपूर्ण इसलिये कि यह हमारे अंदरके राजसिक प्राणमय मनके अहंकार, आत्म-गौरव एवं महत्त्वाकांक्षाको बढ़ा सकती है और यदि उस अहंकारको अतिक्रम करके उसपर विजय न प्राप्त की गयी तो वह निश्चय ही आध्यात्मिक पतनकी ओर ले जायगा। इसी प्रकार यह धारणा मिथ्या इसलिये है कि यह अहंकारमय है जब कि अतिमानसिक रूपांतरकी पहली शर्त अहंकारसे मुक्त होना है। संकल्पशील और कर्म-प्रधान मनुष्यकी सक्रिय और गतिशक्तिमय प्रकृतिके लिये तो यह अत्यंत ही भयावह है, क्योंकि वह शक्तिका पीछा करके सहज ही पथभ्रष्ट हो सकती है। अतिमानसिक रूपांतरके द्वारा शक्ति अनिवार्यत: ही प्राप्त होती है, सर्वांगपूर्ण कर्मके लिये यह एक आवश्यक शर्त है : पर जो शक्ति इस प्रकार आकर प्रकृति और जीवनको अपने हाथमें ले लेती है वह भागवत शक्ति ही होती है, वह एकमेवकी शक्ति होती है जो आध्यात्मिक व्यक्तिके द्वारा कार्य करती है; वह व्यक्तिगत शक्तिका परिवर्द्धित रूप नहीं होती, न भेदजनक मानसिक और प्राणिक अहंकी अंतिम एवं उच्चतम पूर्णता ही होती है। आत्म-परिपूर्णता योगके एक परिणामके रूपमें प्राप्त होती है, पर योगका लक्ष्य व्यक्तिकी महानता प्राप्त करना नहीं है। लक्ष्य तो केवल आध्यात्मिक सिद्धि एवं सच्चे आत्मस्वरूपको प्राप्त करना तथा दिव्य चेतना और प्रकृतिको धारण करके भगवान्‌के साथ एकत्व लाभ करना है।* शेष सब वस्तुएँ इसका गठन करनेवाली ब्योरेकी चीजें एवं सहचारी अवस्थाएँ हैं। अहं-कैन्द्रिक आवेग, महत्त्वाकांक्षा, शक्ति और महानताकी लालसा, आत्मख्यापन-रूपी लक्ष्य इस महत्तर चेतनाके लिये विजातीय वस्तुएँ हैं और सुदूर भविष्यमें भी अतिमानसिक रूपांतरके निकट पहुँचनेकी जो कोई भी संभावना है उसके विरुद्ध ये वस्तुएँ एक अलंघ्य बाधा उपस्थित करेंगी। महत्तर आत्माको पानेके लिये व्यक्तिको अपने क्षुद्र निम्नतर

---

*साधर्म्य-मुक्ति

स्वको खोना ही होगा। भगवान्के साथ एकत्व ही प्रधान प्रेरक-भाव होना चाहिये; यहाँतक कि अपनी सत्ताके तथा सत्तामात्रके सत्यकी खोज, उस सत्यमें एवं उसकी महत्तर चेतनामें जीवन-यापन तथा प्रकृतिकी पूर्णता— ये सब भी एकत्व लाभके प्रयत्नके स्वाभाविक परिणाममात्र होते हैं। उसकी समग्र पूर्णताकी अनिवार्य शर्तें होते हुए ये केंद्रीय लक्ष्यके अंग इसलिये होते हैं कि ये विकासकी एक आवश्यक अवस्था तथा एक मुख्य परिणाम हैं।

यह भी ध्यानमें रखना होगा कि अतिमानसिक परिवर्तन एक विषम तथा दूरवर्ती लक्ष्य है, अंतिम अवस्था है; उसे एक सुदूरव्यापी दृश्यका परला छोर समझना होगा; वह प्रथम लक्ष्य, एक निरंतर दृष्टिगत आदर्श या एक अव्यवहित उद्देश्य नहीं हो सकता और न उसे कभी ऐसे लक्ष्य, आदर्श या उद्देश्यमें परिणत ही करना चाहिये। क्योंकि, वह दुष्कर आत्म-विजय और आत्म-अतिक्रमणके वहुत कुछ सिद्ध होनेके वाद, प्रकृतिके कठिन आत्म-विकासकी वहुत-सी लंवी और कष्टकारी अवस्थाओंके पार होनेपर ही संभावनाके दृश्य क्षेत्रके भीतर आ सकता है। सवसे पहले मनुष्यको एक आंतरिक योग-चेतना प्राप्त करनी होगी और उसे वस्तुओं-संवंधी अपने साधारण दृष्टिकोण, अपनी प्राकृत चेष्टाओं, तथा अपने जीवनके प्रेरक-भावोंके स्थानपर प्रतिष्ठित करना होगा; हमें अपनी सत्ताकी संपूर्ण वर्तमान गठनमें आमूल परिवर्तन लाना होगा। उसके वाद, हमें और भी गहराईमें जाकर अपनी आवृत चैत्य सत्ताको उपलव्ध करना होगा और उसके प्रकाशमें तथा उसके शासनके तले अपने आंतर और वाह्य अंगोंको चैत्यमय वनाना होगा, मानस-प्रकृति, प्राण-प्रकृति एवं देह-प्रकृतिको और अपनी समस्त मानसिक, प्राणिक, शारीरिक क्रियाओं, अवस्थाओं एवं गतियोंको अंतरात्माके सचेतन करणोंके रूपमें परिणत करना होगा। उसके वाद अथवा उसके साथ-साथ हमें दिव्य ज्योति, शक्ति, पवित्रता, ज्ञान, स्वतंत्रता और विशालताके अवतरणके द्वारा अपनी संपूर्ण सत्ताको आध्यात्मिक वनाना होगा। व्यक्ति-गत मन, प्राण और देहकी सीमाओंको तोड़ डालना, अहंको नष्ट करना, विश्वचेतनामें प्रवेश करना, आत्माका साक्षात्कार करना, और आध्यात्मीकृत एवं विश्वभावापन्न मन, हृदय, प्राणशक्ति एवं भौतिक चेतना प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा हो जानेपर ही अतिमानसिक चेतनाकी ओर प्रयाण करना संभव होने लगता है, पर तव भी एक कठिन आरोहण संपन्न करना होता है जिसकी हरएक अवस्था एक पृथक् दुःसाध्य उपलव्धि होती है। योग सत्ताका एक द्रुत एवं घनीभूत सचेतन विकास है, पर वह कितना ही द्रुत क्यों न हो, करणात्मक प्रकृतिमें जिस विकासको संपन्न करनेमें

सैकड़ों और हजारों वर्ष या सैकड़ों जीवन लग सकते हैं उसे वह चाहे एक ही जीवनमें क्यों न साधित कर दे, फिर भी निःसंदेह विकासमात्र क्रमिक अवस्थाओंके द्वारा ही अग्रसर होता है; साधन-प्रक्रियाकी अधिक-से-अधिक तीव्रता एवं एकाग्रता भी सब क्रमिक अवस्थाओंको अपने अंदर लील नहीं सकती, न वह प्राकृतिक पद्धतिको उलटकर अन्तको आरंभके निकट ही ला सकती है। अज्ञ और उतावला मन तथा अति उत्सुक शक्ति दोनों ही इस आवश्यक विधानको सहजमें भूल जाते हैं; वे अतिमानसको तात्क्षणिक लक्ष्य बनानेके लिये दौड़ पड़ते हैं और अनंत भगवान्में उसके जो उच्चतम शिखर हैं उनसे उसे एक लंबे नोकीले डंडेके द्वारा नीचे खींच ले आनेकी आशा करते हैं। यह आशा केवल मूर्खताभरी ही नहीं, बल्कि संकटपूर्ण भी है। क्योंकि, प्राणिक कामना सहज ही अंधकारमय या उग्र प्राणिक शक्तियोंकी क्रियाको इस क्षेत्रमें ला सकती है। ये शक्तियाँ उसके सामने उसकी असाध्य लालसाकी तात्क्षणिक पूर्तिकी आशाका चित्र प्रस्तुत करती हैं। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अनेक प्रकारके आत्म-प्रवंचनोंमें फँस सकता है, अंधकारकी शक्तियोंके असत्यों तथा प्रलोभनोंके आगे झुक सकता है, लोकोत्तर शक्तियोंकी खोजमें भटक सकता है, भागवत प्रकृतिसे विमुख होकर आसुरिककी ओर मुड़ सकता है, परिवर्द्धित अहंकी अस्वाभाविक, अमानवीय और अदिव्य वृहत्तामें घातक रूपसे फूलकर कुप्पा हो सकता है। यदि व्यक्तिकी सत्ता क्षुद्र हो, प्रकृति दुर्बल और अशक्त हो तो विपत्ति इतने बड़े परिमाणमें नहीं आती; परंतु संतुलनका नाश, मनकी केंद्रभ्रष्टता और उसका बुद्धिहीनतामें पतन अथवा प्राणकी केंद्र-भ्रष्टता और उसके परिणामस्वरूप नैतिक भूल या फिर प्रकृतिकी किसी प्रकारकी अस्वस्थ विकृतावस्थामें ले जानेवाली विच्युति—ये प्रतिकूल परिणाम तो उत्पन्न हो ही सकते हैं। यह कोई ऐसा योग नहीं है जिसमें किसी प्रकारकी विकृतिको, चाहे वह ऊँचे प्रकारकी ही क्यों न हो, आत्म-परिपूर्णता या आध्यात्मिक उपलब्धिके साधनके रूपमें स्वीकार किया जा सके। जब कोई लोकोत्तर एवं अतिबौद्धिक अनुभवमें प्रवेश करे तब भी संतुलन-भंग बिलकुल नहीं होना चाहिये, संतुलनको तो चेतनाके शिखरसे लेकर आधारतक स्थिर रखना होगा; अनुभव करनेवाली चेतनाको अपने निरीक्षणमें एक शांत समतोलता, सुनिश्चित स्पष्टता और व्यवस्था सुरक्षित रखनी होगी, इसके साथ ही उसके अपने अंदर एक प्रकारकी उदात्तीकृत साधारण बुद्धि, आत्म-समालोचनाकी अचूक शक्ति और वस्तुओंके संबंधमें यथार्थ विवेक तथा उनका समन्वय एवं स्थिर अंतर्दर्शन भी सुरक्षित रखना

होगा; उसके अंदर तथ्योंकी बुद्धिमत्तापूर्ण पकड़ और एक उच्च आध्यात्मी-कृत प्रत्यक्षवाद सदा ही होना चाहिये। साधारण प्रकृतिके परे परा प्रकृतिमें पहुँचनेका कार्य मनुष्य अबौद्धिक या अवबौद्धिक स्तरपर उतरकर नहीं कर सकता; यह तो बुद्धिमेंसे होकर परा बुद्धिके महत्तर प्रकाशमें पहुँचनेकी क्रियाके द्वारा ही करना चाहिये। यह परा बुद्धि, बुद्धिके अंदर अवतरित होती है और उसकी सीमाओंको तोड़ती हुई भी उसे ऊपर उठाकर उच्चतर स्तरोंमें ले जाती है; बुद्धि लुप्त नहीं हो जाती, बल्कि परिवर्तित होकर अपने ही सच्चे सीमारहित स्वरूपमें, परा प्रकृतिकी समन्वयकारिणी शक्तिमें परिणत हो जाती है।

एक और भूलसे भी बचनेकी जरूरत है। वह भूल भी ऐसी है जिसकी ओर हमारा मन आसानीसे झुक जाता है; वह है—किसी उच्चतर मध्यवर्ती चेतना, यहाँतक कि किसी भी प्रकारकी लोकोत्तर चेतनाको अतिमानस समझ बैठना। अतिमानसतक पहुँचनेके लिये मानव-मनकी साधारण गतियोंके ऊपर चले जाना ही पर्याप्त नहीं है; एक महत्तर ज्योति, महत्तर शक्ति एवं महत्तर आनंदको ग्रहण करना अथवा ज्ञान, दृष्टि एवं प्रभावशाली संकल्पकी शक्तियोंको, जो मनुष्यके सामान्य क्षेत्रको अतिक्रम करती हों, विकसित करना भी पर्याप्त नहीं। समस्त प्रकाश आत्माका ही प्रकाश नहीं होता, अतिमानसका प्रकाश होना तो दूरकी बात रही; मन, प्राण और यहाँतक कि शरीरका भी अपना-अपना प्रकाश होता है जो अभी छुपा हुआ है। पर वह अत्यंत अनुप्रेरक, उन्नायक, वोधप्रद तथा प्रवलतया कार्यसाधक हो सकता है। सीमाओंको तोड़कर विश्व-चेतनाके भीतर प्रवेश करनेसे भी चेतना और शक्तिका अपरिमित विस्तार साधित हो सकता है। आंतर मन, आंतर प्राण एवं आंतर देहके प्रति, अंतःप्रच्छन्न चेतनाके किसी भी क्षेत्रके प्रति उद्घाटन और उनमें प्रवेश ज्ञान, कर्म या अनुभवकी ऐसी अव-सामान्य या सामान्य-अतीत शक्तियोंकी क्रियाको उन्मुक्त कर सकता है जिन्हें अशिक्षित मन सहज ही आध्यात्मिक साक्षात्कार, अंतःस्फुरण एवं अंतर्ज्ञान समझनेकी भूल कर सकता है। उच्चतर मनोमय पुरुषके महत्तर स्तरोंकी ओर ऊर्ध्वमुख उद्घाटन अत्यधिक ज्योति और शक्ति उतार ले आ सकता है और वे ज्योति तथा शक्ति अंतर्ज्ञान-भावित मन और प्राणशक्तिकी तीव्र क्रिया उत्पन्न कर सकती हैं, या फिर इन स्तरोंमें किया गया आरोहण एक ऐसी वास्तविक किंतु फिर भी अपूर्ण ज्योति ला सकता है जो मिश्रणकी ओर सहज ही खुली होती है; यह ज्योति अपने मूलस्रोतमें तो आध्यात्मिक होती है, पर निम्न प्रकृतिमें उतरनेपर

अपने क्रियाशील स्वरूपमें सदा आध्यात्मिक नहीं रहती। किंतु इनमेंसे कोई भी चीज अतिमानसिक ज्योति या अतिमानसिक शक्ति नहीं है; उसका साक्षात्कार एवं ज्ञान तो तभी प्राप्त हो सकता है जब हम मानसिक सत्ताके शिखरोंपर पहुँच जाते हैं, अधिमानसमें प्रवेश कर लेते हैं और आध्यात्मिक सत्ताके ऊर्ध्वतर एवं महत्तर गोलार्धके किनारोंपर स्थित हो जाते हैं। वहाँ अज्ञान, निश्चेतना, अर्द्ध-ज्ञानके प्रति शनैः-शनैः जागरित होता हुआ आदि घनघोर निर्ज्ञान—ये तीनों ही, जो स्थूल-भौतिक प्रकृतिका आधार हैं और हमारे मन और प्राणकी समस्त शक्तियोंको चारों ओरसे घेरे हुए हैं तथा उनमें प्रविष्ट होकर उन्हें प्रबल रूपसे सीमित करते हैं, पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं; क्योंकि अमिश्रित और अपरिवर्तित सत्य-चेतना ही वहाँ समस्त सत्ताका उपादान है, उसका शुद्ध आध्यात्मिक ताना-बाना है। जब हम अभी अज्ञानके, चाहे वह आलोकित या संबुद्ध अज्ञान ही क्यों न हो, गतिचक्रमें घूम रहे हों, तब यह मानना कि हम उक्त अवस्थातक पहुँच चुके हैं अपने-आपको संकटपूर्ण कुमार्गदर्शनके प्रति या सत्ताके विकासके अवरोधके प्रति खोलनेके समान होता है। कारण, यदि किसी निम्नतर अवस्थाको ही हम इस प्रकार अतिमानस समझनेकी भूल कर बैठें तो वह हमारे लिये उन सब संकटोंका द्वार खोल देगी जो, हम देख ही चुके हैं कि, सिद्धि प्राप्त करनेकी हमारी माँगकी धृष्टतापूर्ण एवं अहंकारमय उतावलीके परिणामके रूपमें उत्पन्न होते हैं। अथवा, यदि उच्चतर अवस्थाओंमेंसे किसीको हम उच्चतम मान बैठें तो हम, बहुत-कुछ उपलब्ध करनेपर भी, अपनी सत्ताके महत्तर एवं पूर्णतर लक्ष्यसे नीचे रह सकते हैं; क्योंकि हम अंतिम लक्ष्यके निकटवर्ती किसी लक्ष्यसे ही संतुष्ट रहेंगे और परमोच्च रूपांतर हमसे छूट ही जायगा। पूर्ण आंतरिक मुक्ति और उच्च आध्यात्मिक चेतनाकी उपलब्धि भी वह परम रूपांतर नहीं है; क्योंकि हमें सारतत्त्वमें वह उपलब्धि, वह स्वतः-पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सकती है, किंतु फिर भी हमारे क्रियाशील अंग अपने यंत्रात्मक रूपमें एक आलोकित अध्यात्मभावापन्न मनसे संबंध रख सकते हैं और, परिणामतः, जैसे मनमात्र अपनी महत्तर शक्ति और ज्ञानमें भी दोषपूर्ण होता है, वैसे वे भी अभी विवशतापूर्वक मूल परिसीमक निर्ज्ञानके द्वारा आंशिक या स्थानीय रूपसे तमसाच्छन्न या सीमित हो सकते हैं।

दूसरा भाग

पूर्ण ज्ञानका योग

पहला अध्याय

ज्ञानका लक्ष्य

समस्त अध्यात्म-जिज्ञासा 'ज्ञान'के एक ऐसे लक्ष्यकी ओर अग्रसर होती है जिसकी तरफ साधारणतः मनुष्य अपने मनकी आँख नहीं फेरते, यह एक ऐसे सनातन, असीम एवं निरपेक्ष पुरुष या वस्तुकी ओर अग्रसर होती है जो हमारी इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य पार्थिव वस्तुओं या शक्तियोंसे भिन्न है, भले वह इनके अंदर या इनके पीछे विद्यमान हो अथवा इनका उद्गम या स्रष्टा ही क्यों न हो। इसका लक्ष्य ज्ञानकी एक ऐसी भूमिका है जिसके द्वारा हम इन सनातन, असीम एवं निरपेक्षको स्पर्श कर सकें, इनमें प्रवेश कर सकें या तादात्म्यद्वारा इन्हें जान सकें; इसका लक्ष्य एक ऐसी चेतना है जो विचारों, रूपों और पदार्थों-विषयक हमारी साधारण चेतनासे भिन्न है, एक ऐसा ज्ञान जो वह चीज नहीं है जिसे हम ज्ञान कहते हैं, बल्कि एक स्वयंस्थित, नित्य एवं अनंत वस्तु है। और, यद्यपि मनुष्यके मनोमय प्राणी होनेके कारण, यह ज्ञानके हमारे साधारण करणोंसे अपनी खोज आरंभ कर सकती है अथवा यहाँतक कि इसे आवश्यक रूपसे ऐसा करना ही होता है फिर भी इसे उतने ही आवश्यक रूपमें उन करणोंके परे जाकर अतीन्द्रिय तथा अतिमानसिक साधनों और शक्तियोंका प्रयोग करना होगा, क्योंकि यह किसी ऐसी चीजकी खोज कर रही है जो स्वयं अतीन्द्रिय एवं अतिमानसिक है तथा मन और इंद्रियोंकी पकड़से परे है, यद्यपि मन और इंद्रियके द्वारा उसकी प्रथम झलक अवश्य प्राप्त हो सकती है या उसकी प्रतिबिंबित आकृति दिखायी दे सकती है।

ज्ञान-योगकी सभी परंपरागत प्रणालियाँ, उनके अन्य भेद चाहे जो हों, इस विश्वास या बोधके आधारपर आगे बढ़ती हैं कि सनातन एवं निरपेक्ष सत्ता विश्वरहित सत्ताकी शुद्ध परात्पर अवस्था ही हो सकती है या कम-से-कम इसी अवस्थामें निवास कर सकती है या फिर वह असत्ता ही हो सकती है। समस्त वैश्व सत्ता या वह सब कुछ जिसे हम सत्ता कहते हैं अज्ञानकी ही एक अवस्था है। यहाँतक कि उच्चतम वैयक्तिक पूर्णता एवं आनंदपूर्ण जागतिक स्थिति भी परम अज्ञानकी अवस्थासे कोई अच्छी चीज नहीं है। पूर्ण सत्यके अन्वेषकको वैयक्तिक और जागतिक—

सभी वस्तुओं एवं अवस्थाओंका कठोरतापूर्वक त्याग कर देना होगा। परम निश्चल आत्मा या चरम शून्य ही एकमात्र सत्य है, आध्यात्मिक ज्ञानका एकमात्र विषय है। ज्ञानकी जो भूमिका किंवा इस लौकिक चेतनासे भिन्न जो चेतना हमें प्राप्त करनी होगी वह निर्वाण है, अर्थात् अहंका लय है, समस्त मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्रियाओंका, बल्कि सभी क्रियाओंका निरोध है, चाहे वे कोई भी क्यों न हों, वह परम प्रकाशयुक्त निश्चलता है, आत्म-लीन और अनिर्वचनीय निर्व्यक्तिक प्रशांतताका विशुद्ध आनंद है। इसकी प्राप्तिके साधन हैं ऐसा ध्यान और एकाग्रता जो अन्य सभी वस्तुओंको बहिष्कृत कर दें और मनकी अपने विषयमें पूर्ण तल्लीनता। कर्म करनेकी स्वीकृति खोजकी प्रारंभिक अवस्थाओंमें ही दी जा सकती है जिससे वह जिज्ञासुके चित्तको शुद्ध करके उसे सदाचार और स्वभावकी दृष्टिसे ज्ञानका उपयुक्त आधार बना दे। इस कर्मको भी या तो हिन्दू-शास्त्रके द्वारा कठोरतापूर्वक विहित पूजासंबंधी क्रिया-कलाप तथा जीवन-संबंधी नियत कर्तव्योंके अनुष्ठानतक ही सीमित रखना होगा या फिर इसे बौद्ध साधनाके अनुसार, अष्टांग मार्गके द्वारा भूतदयाके उन कार्योंके परमोच्च अनुष्ठानकी ओर प्रेरित करना होगा जो परहितके लिये 'स्व'के क्रियात्मक उच्छेदकी ओर ले जाते हैं। पर अंतमें, किसी भी तात्त्विक एवं विशुद्ध ज्ञानयोगमें पूर्ण निश्चलताकी प्राप्तिके लिये समस्त कर्मोंको त्याग देना होगा। कर्म मोक्षके लिये तैयार तो कर सकता है, पर उसकी प्राप्ति नहीं करा सकता। कर्मके प्रति किसी भी प्रकारकी अनवरत आसक्ति सर्वोच्च उन्नतिके साथ असंगत है और आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्तिमें एक अलंघ्य बाधा खड़ी कर सकती है। निश्चलताकी परमोच्च अवस्था कर्मसे सर्वथा विपरीत है, अतएव, यह उन लोगोंको नहीं प्राप्त हो सकती जो आग्रह-पूर्वक कर्मोंमें लगे रहते हैं, यहाँतक कि भक्ति, पूजा एवं प्रेम भी ऐसी साधनाएँ हैं जो अपरिपक्व आत्माके ही योग्य हैं। अधिक-से-अधिक ये अज्ञानकी ही सर्वोत्तम विधियाँ हैं। कारण, ये—भक्ति, प्रेम आदि—हमसे भिन्न किसी अन्य, उच्चतर एवं महत्तर वस्तुको अर्पित किये जाते हैं; किंतु परम ज्ञानमें ऐसी किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि या तो केवल एक ही सत्ता होती है या फिर कोई भी सत्ता नहीं और इसलिये या तो वहाँ पूजा करने और प्रेम एवं भक्तिकी भेंट कोई नहीं होता या फिर इसे ग्रहण करनेवाला ही कोई नहीं। निश्चय ही, वहाँ चिंतन-क्रिया भी तदात्मता या शून्यताकी अनन्य विलुप्त हो जाती है और अपनी निश्चलताके द्वारा संपूर्ण प्रकृतिको

भी निश्चल बना देती है। तब या तो केवल निरपेक्ष एकमेव रह जाता है या फिर सनातन शून्य।

यह शुद्ध ज्ञानयोग बुद्धिके द्वारा साधित होता है, यद्यपि इसकी परिणति बुद्धि और उसकी क्रियाओंके अतिक्रमणमें ही होती है। हमारे अंदरका विचारक हमारी गोचर सत्ताके अन्य सभी भागोंसे अपने-आपको पृथक् कर लेता है, हृदयका बहिष्कार कर देता है, प्राण और इंद्रियोंसे पीछे हट जाता है, शरीरसे संबंध-विच्छेद कर लेता है, ताकि वह उस वस्तुमें अपनी एकांतिक परिपूर्णता प्राप्त कर सके जो उससे तथा उसके कार्य-व्यापारसे भी परे है। इस मनोवृत्तिके मूलमें एक सत्य निहित है, इसी प्रकार एक ऐसा अनुभव भी है जो इसे उचित सिद्ध करता प्रतीत होता है। सत्ताका एक 'परम सार' है जो अपनी प्रकृतिसे ही निश्चल है, मूल सत्ताके अंदर एक परम नीरवता है जो अपने विकास और परिवर्तनोंसे परे है, जो निर्विकार है और अतएव उन सब क्रिया-प्रवृत्तियोंसे उच्चतर है जिनका वह, अधिक-से-अधिक, एक 'साक्षी' है। और, हमारे आभ्यंतरिक व्यापारोंकी क्रमपरंपरामें विचार एक प्रकारसे इस आत्माके निकटतम है, कम-से-कम इसके उस सर्व-सचेतन ज्ञाता-रूपके निकटतम है जो सब क्रियाओंपर अपनी दृष्टि डालता है, पर उन सबसे पीछे हटकर स्थित हो सकता है। हमारा हृदय और संकल्प तथा हमारी अन्य शक्तियाँ मूलतः क्रियाशील हैं, वे स्वभाव-वश ही कार्य करनेमें प्रवृत्त होती हैं तथा उसके द्वारा अपनी पूर्ण चरितार्थता प्राप्त करती हैं,—यद्यपि वे भी अपने कार्योंमें पूर्ण तृप्ति लाभ करके या फिर इससे उलटी प्रक्रियाके द्वारा निश्चलताको प्राप्त करनेमें अधिक समर्थ हैं। विचार इस नीरव साक्षी आत्माको जो हमारी सभी क्रियाओंसे उच्चतर है, एक अलोकित बौद्धिक अनुभवके द्वारा जानकर अधिक आसानीसे संतुष्ट हो जाता है और, एक बार उस अचल आत्माके दर्शन कर लेनेपर, सत्यान्वेषणके अपने ध्येयको पूरा हुआ समझकर, शांत हो जाने तथा स्वयं भी अचल बन जानेके लिये उद्यत रहता है। कारण, अपनी अत्यंत विशिष्ट गतिविधिमें, यह स्वयं कर्ममें उत्सुकतापूर्वक भाग लेनेवाले तथा रागपूर्वक श्रम करनेवालेकी अपेक्षा कहीं अधिक वस्तुओंका एक निष्पक्ष साक्षी, निर्णायक एवं निरीक्षक बननेकी प्रवृत्ति रखता है, और आध्यात्मिक या दार्शनिक स्थिरता एवं निर्लिप्त पृथक्ता, अत्यंत सहज रूपसे, प्राप्त कर सकता है। और, क्योंकि मनुष्य मनोमय प्राणी है, उसके अज्ञानको आलोकित करनेके लिये विचार उसका सच्चे रूपमें सर्वोत्तम एवं उच्चतम साधन न सही, पर कम-से-कम एक अत्यंत स्थिर, सामान्य और प्रभावपूर्ण साधन अवश्य

है। ज्ञान-संग्रह और विचार-विमर्श, ध्यान, स्थिर चिंतन, मनकी अपने विषयपर तन्मयतापूर्ण एकाग्रता-रूपी अपने व्यापारोंसे, अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे संपन्न विचार हमारे अन्वेषणीय तत्त्वकी उपलब्धिके एक अनिवार्य साधनके रूपमें हमारी सत्तामें उच्च पदपर आसीन है, और यदि यह हमारी यात्राका अग्रणी तथा मंदिरका एकमात्र उपलभ्य मार्गदर्शक या कम-से-कम उसका सीधा एवं अंतरतम द्वार होनेका दावा करे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

वास्तवमें विचार केवल एक गुप्तचर और अग्रणी है; वह मार्ग दिखा सकता है, पर आदेश नहीं दे सकता और न अपने-आपको क्रियान्वित ही कर सकता है। हमारी यात्राका नायक, हमारे अभियानका अग्रणी, हमारे यज्ञका प्रथम और प्राचीनतम पुरोहित संकल्प है। यह संकल्प न तो हृदयकी वह इच्छा है और न मनकी वह माँग या अभिरुचि है जिसे हम बहुधा ही यह नाम दिया करते हैं। यह तो हमारी सत्ताकी और सत्तामात्रकी वह अंतरतम, प्रबल तथा प्रायः ही आवृत चेतन-शक्ति है, तपस्, शक्ति, श्रद्धा है जो प्रभुत्वशाली रूपमें हमारी दिशाका निर्धारण करती है और बुद्धि तथा हृदय जिसके न्यूनाधिक अंध एवं स्वयंचालित सेवक और यंत्र हैं। परम आत्मा, जो निश्चल एवं शांत है तथा वस्तुओं एवं घटनाओंसे शून्य है, सत्ताका आश्रय तथा पृष्ठाधार है, एक परम तत्त्वकी नीरव प्रणालिका या उसका मूल द्रव्य है : वह स्वयं एकमात्र पूर्ण-वास्तविक सत्ता नहीं है, स्वयं परम तत्त्व नहीं है। सनातन एवं परम तत्त्व तो परमेश्वर एवं सर्व-मूल पुरुष है। सब कार्य-व्यापारोंके ऊपर अवस्थित रहता हुआ तथा उनमेंसे किसीसे भी बद्ध न होता हुआ वह उन सबका उद्गम, अनुमन्ता, उपादान, निमित्त कारण तथा स्वामी है। सभी कार्य-व्यापार इस परम आत्मासे ही उद्भूत होते हैं तथा इसीके द्वारा निर्धारित भी होते हैं; सभी इसकी क्रियाएँ हैं, इसकी अपनी ही चिन्मय शक्तिकी प्रक्रियाएँ हैं, आत्मासे विजातीय किसी वस्तुकी या इस आत्मासे भिन्न किसी अन्य शक्तिकी नहीं। इन क्रियाओंमें आत्माका, जो अपनी सत्ताको अनंत प्रकारसे व्यक्त करनेके लिये प्रेरित होती है, चेतन संकल्प या शक्ति प्रकट होती है; वह संकल्प या शक्ति अज्ञ नहीं है, बल्कि अपने स्वरूपके तथा उस सबके ज्ञानके साथ, जिसे प्रकट करनेके लिये वह प्रयोगमें लायी जाती है, एकीभूत है। हमारे अंदरका गुह्य आध्यात्मिक संकल्प एवं आंतरात्मिक श्रद्धा, हमारी प्रकृतिका प्रमुख गुप्त बल, इस शक्तिका ही एक वैयक्तिक यंत्र है जो 'परम'के साथ अधिक निकट संपर्क रखता है; यदि एक बार

हम उसे उपलब्ध और अधिकृत कर सकें तो हमें पता चलेगा कि वह हमारा एक अधिक सुनिश्चित मार्गदर्शक और प्रकाशप्रदाता है, क्योंकि वह हमारी विचार-शक्तियोंकी ऊपरी क्रियाओंकी अपेक्षा अधिक गंभीर है तथा 'एकं सत्' एवं 'निरपेक्ष'के अधिक घनिष्ठतया निकट है। अपनेमें तथा विश्वमें उस संकल्पको जानना और उसके दिव्य चरम परिणामोंतक, ये चाहे जो भी हों, उसका अनुसरण करना ही, निःसंदेह, कर्मोंकी भाँति ज्ञानके लिये भी तथा जीवनके साधक और योगके साधकके लिये भी उच्चतम मार्ग तथा सत्यतम शिखर है।

विचार प्रकृतिका सबसे उच्च या सबसे सबल भाग नहीं है, न ही यह सत्यका एकमात्र या गभीरतम निर्देशक है। अतएव, इसे अपनी ही ऐकांतिक तृप्तिका अनुसरण नहीं करना चाहिये, न उस तृप्तिको परम ज्ञानकी उपलब्धिका चिह्न ही समझ लेना चाहिये। यह यहाँ कुछ हदतक हृदय, प्राण तथा अन्य अंगोंके मार्गदर्शकके रूपमें ही अस्तित्व रखता है, पर यह उनका स्थान नहीं ले सकता; इसे केवल यह नहीं देखना होगा कि इसकी अपनी चरम तृप्ति क्या है, वरन् यह भी कि क्या कोई ऐसी चरम तृप्ति नहीं है जो इन अन्य अंगोंके लिये भी अभिप्रेत हो। अमूर्त विचारका एकांगी मार्ग तभी उचित सिद्ध होगा यदि विश्वमें परम संकल्पका उद्देश्य केवल अज्ञानकी क्रियामें एक ऐसा अवरोहण करना ही हो जिसे मन एक अंधताजनक यंत्र एवं जेलरके रूपमें मिथ्या विचार और संवेदनके द्वारा साधित करता है, साथ ही यदि उसका उद्देश्य ज्ञानकी निश्चलतामें एक ऐसा आरोहण करना भी हो जिसे मन उसी प्रकार यथार्थ विचारके द्वारा, पर उसे एक आलोकप्रद यंत्र एवं उद्धारक बनाकर, संपन्न करता है। परंतु संभावनाएँ ये हैं कि जगत्‌में एक ऐसा उद्देश्य भी है जो इससे कम निरर्थक एवं कम निरुद्देश्य है, निरपेक्षकी प्राप्तिके लिये एक ऐसा आवेग भी है जो इससे कम नीरस एवं कम अमूर्त है, जगत्‌का एक ऐसा सत्य भी है जो अधिक विशाल एवं जटिल है, अनंतकी एक ऐसी ऊँचाई भी है जो अधिक समृद्ध रूपसे अनंत है। निःसंदेह अमूर्त तर्क, पुराने दर्शनोंकी भाँति, सदैव एक अनंत शून्य 'नास्ति' या एक उतनी ही रिक्त अनंत 'अस्ति'पर पहुँचता है; क्योंकि अमूर्त होता हुआ यह एक पूर्ण अमूर्तताकी ओर अग्रसर होता है और यही दो ऐसे एकमात्र अमूर्त प्रत्यय हैं जो पूर्णतया निरपेक्ष हैं। परंतु एक मूर्त, सदा गहरी होती जानेवाली प्रज्ञा जो संकीर्ण और अक्षम मानव-मनके धृष्ट अमूर्त तर्ककी नहीं, बल्कि निःसीम अनुभवके अधिकाधिक ऐश्वर्यकी सेवा करे, दिव्य अतिमानवीय ज्ञानकी कुंजी हो सकती

है। हृदय, संकल्प-शक्ति, प्राण, यहाँतक कि शरीर भी, विचारके समान ही, दिव्य चिन्मय-सत्ताके रूप हैं तथा अत्यंत अर्थपूर्ण संकेत हैं। इनमें भी ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा अंतरात्मा अपनी पूर्ण आत्मचेतनताकी ओर लौट सकती है अथवा इनके पास भी ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा वह इसका रसास्वादन कर सकती है। सुतरां, परम संकल्पका उद्देश्य एक ऐसी परिणतिको साधित करना हो सकता है जिसमें संपूर्ण सत्ताका अपनी दिव्य तृप्तिको उपलब्ध करना अभिमत हो तथा जिसमें ऊँचाइयाँ गहराइयोंको आलोकित करें और जड़ निश्चेतन भी परम अतिचेतनाके स्पर्शसे अपने-आपको भगवान्‌के रूपमें अनुभव करे।

परंपरागत ज्ञानमार्ग विवर्जनकी प्रक्रियाके द्वारा आगे बढ़ता है और निश्चल आत्मा या परम शून्य या अव्यक्त निरपेक्षमें निमज्जित होनेके लिये शरीर, प्राण, इंद्रियों, हृदय तथा विचारतकका क्रमशः परित्याग कर देता है। पूर्णज्ञानका मार्ग यह मानता है कि सर्वांगीण आत्म-परिपूर्णता उपलब्ध करना ही हमारे लिये नियत उद्देश्य है और एकमात्र वर्जनीय वस्तु हमारी अपनी अचेतनता, हमारा अज्ञान और उसके परिणाम हैं। जो सत्ता अहंका रूप धारण किये है उसके मिथ्यात्वका त्याग कर दो; तब हमारी सच्ची सत्ता हमारे अंदर प्रकट हो सकती है। जो प्राण निरी प्राणिक लालसाका तथा हमारे दैहिक जीवनके यांत्रिक चक्रका रूप धारण किये हुए है उसके मिथ्यात्वको त्याग दो; और तब परमेश्वरकी शक्तिमें और अनंतके हर्षमें अवस्थित हमारा सच्चा प्राण प्रकट हो उठेगा। स्थूल दृश्य-प्रपंच और द्वंद्वात्मक संवेदनोंके वशीभूत इंद्रियोंके मिथ्यात्वका त्याग कर दो; हमारे अंदर एक महत्तर इंद्रिय है जो इनके द्वारा पदार्थोंमें विद्यमान भगवान्‌की ओर खुल सकती है तथा दिव्य रूपमें उसे प्रत्युत्तर दे सकती है। अपनी कलुषित वासनाओं और कामनाओं तथा द्वंद्वात्मक भावोंसे युक्त हृदयके मिथ्यात्वको त्याग दो; हमारे अंदर एक गभीरतर हृदय खुल सकता है जो प्राणिमात्रके लिये दिव्य प्रेमसे तथा अनंतके प्रत्युत्तरोंके लिये असीम अभिलाषा और उत्कंठासे युक्त है। उस विचारके मिथ्यात्वका परित्याग कर दो जो अपनी अपूर्ण मानसिक रचना, अपनी अहंकारपूर्ण स्थापनाओं और निषेधों तथा अपनी सीमित और ऐकांतिक एकाग्रताओंसे युक्त है; ज्ञानकी एक महत्तर शक्ति इसके पीछे अवस्थित है जो ईश्वर, आत्मा, प्रकृति और जगत्‌के वास्तविक सत्यकी ओर खुल सकती है। लक्ष्य है सर्वांगीण आत्म-चरितार्थता,—अर्थात् हृदयके अनुभवोंके लिये, इसकी प्रेम, हर्ष, भक्ति और पूजासंबंधी सहज-प्रवृत्तिके लिये एक चरम लक्ष्य एवं

परिणति; इंद्रियोंके लिये, वस्तुओंके रूपोंमें इनकी दिव्य सौंदर्य, शिव और आनंदकी खोजके लिये एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; प्राणके लिये, इसकी कर्म करने तथा दिव्य शक्ति, प्रभुत्व और पूर्णता प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिके लिये एक चरम लक्ष्य एवं परिणति; विचारके लिये, इसकी सत्य, प्रकाश, दिव्य प्रज्ञा और ज्ञानकी भूखके लिये इसकी सीमाओंसे परे एक चरम लक्ष्य एवं परिणति। हमारी प्रकृतिके इन अंगोंका लक्ष्य कोई ऐसी चीज नहीं है जो इनसे सर्वथा भिन्न हो तथा जिससे इन सबको बहिष्कृत कर दिया जाता हो, बल्कि एक ऐसी परम सद्वस्तु है जिसमें ये अपने-आपको अतिक्रम कर जाते हैं और साथ ही अपने चरम एवं अनंत रूपोंको तथा मानातीत सामंजस्योंको भी प्राप्त कर लेते हैं।

परंपरागत ज्ञानमार्गके पीछे एक प्रभुत्वपूर्ण आध्यात्मिक अनुभव अवस्थित है जो इसकी परित्याग और प्रत्याहाररूपी विचार-प्रक्रियाको उचित सिद्ध करता है। यह अनुभव गभीर, तीव्र और निश्चयोत्पादक है और जिन लोगोंने मनके सक्रिय घेरेको कुछ हदतक पार करके क्षितिजरहित आंतरिक आकाशमें प्रवेश कर लिया है उन सबको यह समान रूपसे प्राप्त होता है, यह मुक्तिका एक महान् अनुभव है, यह हमारे अंदर विद्यमान किसी ऐसी वस्तुके बारेमें हमारी चेतनता है जो जगत् तथा इसके समस्त रूपों, आकर्षणों, लक्ष्यों, प्रसंगों और घटनाओंके पीछे तथा बाहर अवस्थित है, शांत, निर्लिप्त, उदासीन, असीम, निश्चल तथा मुक्त है, यह हमारे ऊपर अवस्थित किसी ऐसी, अवर्णनीय एवं अगम वस्तुकी ओर हमारी ऊर्ध्वदृष्टि है जिसमें हम अपने व्यक्तित्वके विलोपके द्वारा प्रवेश कर सकते हैं, यह सर्वव्यापक सनातन साक्षी पुरुषकी उपस्थिति है, उस अनंत या कालातीत सत्ताका बोध है जो हमारी संपूर्ण सत्ताके महामहिम निषेधके स्तरसे हमें उपेक्षापूर्ण दृष्टिसे देखती है और जो अकेली ही एकमात्र सद्वस्तु है। यह अनुभव अपनी सत्ताके परे स्थिरतापूर्वक दृष्टिपात करनेवाले आध्यात्मीकृत मनकी उच्चतम ऊर्ध्वगति है। जो इस मुक्तिमेंसे नहीं गुजरा वह मन और इसके पाशोंसे पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता, परंतु कोई भी सदाके लिये इस अनुभवपर रुके रहनेके लिये बाध्य नहीं। यद्यपि यह महान् है, फिर भी यह मनका अपनेसे तथा अपनी कल्पनामें आ सकनेवाली सभी चीजोंसे परेकी किसी वस्तुका एक अत्यंत प्रबल अनुभवमात्र है। यह परमोच्च निषेधात्मक अनुभव है, परंतु इसके परे एक अनंत चेतनाका समस्त विपुल प्रकाश है, एक असीम ज्ञान, एक भावात्मक चरम-परम उपस्थिति है।

आध्यात्मिक ज्ञानका विषय है परब्रह्म, भगवान्, अनंत एवं निरपेक्ष सत्ता। यह परब्रह्म हमारी वैयक्तिक सत्ता तथा इस विश्वके साथ संबंध रखता है और यह जीव तथा जगत् दोनोंसे परे भी है। विश्व और व्यक्ति वही चीज नहीं हैं जो कि वे हमें प्रतीत होते हैं, क्योंकि हमारा मन और इंद्रियाँ हमें इनका जो विवरण देती हैं वह एक मिथ्या विवरण होता है, एक अपूर्ण रचना तथा एक क्षीण एवं भ्रांतिपूर्ण प्रतिमूर्त्ति होता है, जबतक कि वे उच्चतर अतिमानसिक एवं अतीन्द्रिय ज्ञानकी शक्तिसे प्रकाशित नहीं हो जातीं। किंतु फिर भी विश्व और व्यक्ति हमें जो कुछ प्रतीत होते हैं वह उनके वास्तविक स्वरूपकी ही एक प्रतिमूर्त्ति है,—एक ऐसी प्रतिमूर्त्ति जो अपनेसे परे, अपने पीछे अवस्थित वास्तविक सत्यकी ओर संकेत करती है। हमारा मन और हमारी इंद्रियाँ हमारे संमुख वस्तुओंके जो मूल्य प्रस्तुत करती हैं उनके संशोधनके द्वारा ही सत्य ज्ञान उदित होता है, और सर्वप्रथम तो यह उस उच्चतर बुद्धिकी क्रियाके द्वारा प्राप्त होता है जो अज्ञानयुक्त इंद्रिय-मानस तथा सीमित स्थूल बुद्धिके निर्णयोंको यथासंभव आलोकित तथा संशोधित करती है; समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञानकी पद्धति यही है। परंतु इसके परे एक ऐसा ज्ञान एवं सत्य-चेतना है जो हमारी बुद्धिको अतिक्रम कर जाती है और हमें उस सत्य प्रकाशके भीतर ले आती है जिसकी यह एक विचलित रश्मि है। वहाँ शुद्ध तर्कबुद्धिकी अमूर्त परिभाषाएँ और मनकी रचनाएँ विलुप्त हो जाती हैं अथवा अंतरात्माकी प्रत्यक्ष दृष्टिमें एवं आध्यात्मिक अनुभवके अति महत् सत्यमें परिणत हो जाती हैं। यह ज्ञान निरपेक्ष सनातनकी ओर मुड़कर जीव और जगत्को दृष्टिसे ओझल कर सकता है; परंतु यह उस सनातनसे इह-सत्तापर दृष्टिपात भी कर सकता है। जब हम ऐसा करते हैं तो हमें पता चलता है कि मन और इंद्रियोंका अज्ञान तथा मानवजीवनके सब वृथा प्रतीत होनेवाले व्यापार चेतन सत्ताके निरर्थक विक्षेप नहीं थे, न ही कोई क्षुद्र भ्रांति थे। यहाँ वे इस रूपमें आयोजित किये गये थे कि वे अनंतसे उद्भूत होनेवाले आत्माकी स्व-अभिव्यक्तिके लिये एक स्थूल क्षेत्रका काम करें, इस विश्वकी परिभाषाओंमें उसके आत्म-विकास एवं आत्मोपलब्धिके लिये भौतिक आधार बन सकें। यह सच है कि अपने-आपमें उनका तथा यहाँकी सभी चीजोंका कुछ भी अर्थ नहीं, और उनके लिये पृथक् अर्थोंकी परिकल्पना करना मायामें निवास करना है; परंतु परम सत्में उनका एक परम अर्थ है, निरपेक्ष ब्रह्ममें उनकी एक निरपेक्ष शक्ति है और वही उनके लिये उनके वर्तमान सापेक्ष मूल्य नियत करती है तथा उस सत्यके साथ उनका संबंध

निर्दिष्ट करती है। यह एक ऐसा अनुभव है जो सब अनुभवोंको एक कर देता है और जो गंभीर-से-गंभीर सर्वांगीण तथा अत्यंत अंतरंग आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञानका आधार है।

व्यक्तिके साथ संबंधकी दृष्टिसे परम सत् हमारी अपनी ही सच्ची और सर्वोच्च आत्मा है, यह वह सत्ता है जो कि अंततः हम अपने सार-रूपमें हैं तथा अपनी अभिव्यक्त प्रकृतिमें जिसके हम अंग हैं। हमारे अंदर अवस्थित सच्चे परम आत्माको प्राप्त करनेमें प्रवृत्त आध्यात्मिक ज्ञानको परंपरागत ज्ञानमार्गकी भाँति समस्त भ्रामक प्रतीतियोंका परित्याग करना होगा। इसे यह जान लेना होगा कि शरीर हमारी आत्मा नहीं है, हमारी सत्ताका आधार नहीं है; यह अनंतका एक इंद्रियग्राह्य रूप है। यह अनुभव कि जड़-प्रकृति जगत्का एकमात्र आधार है और भौतिक मस्तिष्क, स्नायु, कोष्ठक और अणु हमारे अंदरकी सभी चीजोंका एकमात्र सत्य हैं, जड़वादका एक भारी-भरकम एवं अक्षम आधार है, पर वास्तवमें यह अनुभव एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है, वस्तुओंकी अंधकारमय भित्ति या छाया है जिसे भ्रांतिवश प्रकाशमान सारतत्त्व मान लिया गया है, शून्यकी प्रभावशाली आकृति है जिसे पूर्ण इकाई समझ लिया गया है। जड़वादीय विचार एक रचनाको रचनाकारी शक्ति समझनेकी भूल करता है तथा अभिव्यक्तिके साधनको वह सत्ता समझ लेता है जो व्यक्त की जाती तथा व्यक्त करती है। जड़तत्त्व और हमारा भौतिक मस्तिष्क, स्नायुजाल तथा शरीर उस प्राणिक शक्तिकी एक क्रियाका क्षेत्र और आधार हैं जो आत्माको उसकी कृतियोंके रूपके साथ संबद्ध करनेमें सहायक होती है और उन्हें उसकी सीधी क्रियाशक्तिके द्वारा धारण करती है। जड़तत्त्वकी गतियाँ एक बाह्य संकेत हैं जिसके द्वारा आत्मा अनंतके कुछ सत्योंके विषयमें अपने बोधोंको निरूपित करती है और उन्हें उपादान-तत्त्वकी अवस्थाओंमें प्रभावकारी बनाती है। ये चीजें एक भाषा एवं संकेतमाला हैं, एक चित्रलिपि एवं प्रतीक-पद्धति हैं, अपने-आपमें ये उन चीजोंका जिन्हें ये सूचित करती हैं, गभीरतम एवं सत्यतम आशय नहीं हैं।

इसी प्रकार प्राणतत्त्व भी, अर्थात् वह प्राणशक्ति एवं ऊर्जा भी जो मस्तिष्क, स्नायुपुंज और शरीरमें क्रीड़ा करती है, हमारी आत्मा नहीं है; वह अनंतकी एक शक्ति तो है, पर समग्र शक्ति नहीं। यह अनुभव कि 'एक प्राणशक्ति है जो जड़तत्त्वको सब वस्तुओंके आधार, उद्गम एवं सच्चे कुलयोगके रूपमें अपना करण बनाती है', प्राणात्मवादका एक दोलायमान

अस्थिर आधार है। पर यह अनुभव एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है, पासके किनारेपर उठनेवाली एक ज्वार है जिसे गलतीसे संपूर्ण समुद्र और उसकी जलराशि समझ लिया गया है। प्राणात्मवादी विचार एक शक्तिशाली पर बाह्य वस्तुको सारतत्त्व समझ लेता है। प्राणशक्ति तो अपनेसे परेकी एक चेतनाका क्रियाशील रूप है। वह चेतना अनुभूत होती तथा कार्य करती है, पर वह बुद्धिमें हमारे लिये प्रामाणिक रूप तबतक नहीं प्राप्त करती जबतक हम 'मन'-रूपी उच्चतर स्तरतक, अपनी वर्तमान सर्वोच्च अवस्थातक नहीं पहुँच जाते। 'मन' यहाँ प्रत्यक्षतः प्राणकी ही एक रचना प्रतीत होता है, पर वास्तवमें यह स्वयं प्राणका तथा उसके पीछे अवस्थित वस्तुका एक दूरतर—पर अंतिम नहीं—आशय है और उसके रहस्यका एक अधिक सचेतन रूपायण है; 'मन' प्राणकी नहीं, वरन् उस वस्तुकी अभिव्यक्ति है जिसकी स्वयं प्राण भी एक कम प्रकाशमय अभिव्यक्ति है।

परंतु 'मन' भी, अर्थात् हमारी मानसिक सत्ता, हमारा चिंतनशील एवं बोधग्राही भाग भी हमारा आत्मा नहीं है, 'तत्' नहीं है, अंत या आदि नहीं है; यह अनंतसे फेंका गया एक अर्द्ध प्रकाश है। यह अनुभव कि मन रूपों और पदार्थोंका स्रष्टा है और ये रूप तथा पदार्थ केवल मनमें ही अस्तित्व रखते हैं, बाह्यशून्यवाद (Idealism) का विरल एवं सूक्ष्म आधार है, पर यह भी एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है, एक मंद और विचलित प्रकाश है जिसकी सूर्यके जाज्वल्यमान शरीर एवं उसके तेजके रूपमें एक आदर्श कल्पना कर ली गयी है। यह आदर्शीकृत दृष्टि भी सत्ताके सारतत्त्वतक नहीं पहुँचती, उसका स्पर्शतक नहीं करती, यह तो केवल प्रकृतिकी एक निम्न अवस्थाको ही छूती है। 'मन' एक चिन्मय सत्ताकी अस्पष्ट बाह्य उपच्छाया है; वह चिन्मय सत्ता मनके द्वारा सीमित नहीं, बल्कि इससे अतीत है। परंपरागत ज्ञानमार्गकी पद्धति इन सभी चीजोंका परित्याग करके उस शुद्ध चिन्मय सत्ताकी परिकल्पना एवं उपलब्धिपर पहुँचती है जो स्वतः-सचेतन, स्वतः-आनंदपूर्ण है और मन, प्राण तथा शरीरके द्वारा सीमित नहीं है; और इसके चरम भावात्मक अनुभवके लिये वह आत्मा है, अर्थात् हमारी सत्ताका मूल और तात्त्विक स्वरूप है। यहाँ, अंतमें कोई ऐसी वस्तु प्राप्त होती है जो केंद्रीय रूपसे सत्य है, परंतु इसतक पहुँचनेकी उतावलीमें यह ज्ञान कल्पना करता है कि चिन्तनात्मक मन तथा 'परम', 'बुद्धेः परतस्तु सः'के बीच किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं है और समाधिमें अपनी आँखें मूंदकर,

आत्माके इन महान् तेजोमय साम्राज्योंको देखे विना ही, उन सब स्तरोंमेंसे जो सचमुच ही रास्तेमें पड़ते हैं, भाग जानेका यत्न करता है। शायद यह अपने लक्ष्यपर पहुँच जाता है, पर पहुँचता है केवल अनंतमें सुषुप्ति लाभ करनेके लिये ही। अथवा, यदि यह जागरित रहता भी है, तो उस परमके सर्वोच्च अनुभवमें ही जिसमें आत्मोच्छेदक 'मन' प्रवेश कर सकता है न कि परात्परमें। 'मन' मानसभावापन्न आध्यात्मिक सूक्ष्मतामें केवल आत्माका, मनमें प्रतिविंबित सच्चिदानंदका ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परंतु सर्वोच्च सत्य एवं पूर्ण आत्म-ज्ञान निरपेक्ष ब्रह्ममें इस प्रकारकी अंधी छलांग लगाकर नहीं, वरन् मनके परे धैर्यपूर्वक उस सत्य-चेतनामें पहुँचकर प्राप्त किया जा सकता है जहाँ अनंतको उसके संपूर्ण, अंतहीन ऐश्वर्योसहित जाना और अनुभव किया जा सकता है, देखा तथा उपलब्ध किया जा सकता है। और, वहाँ हमें पता चलता है कि यह आत्मा, जो हमारी अपनी सत्ता है केवल स्थितिशील सूक्ष्म एवं शून्य आत्मा नहीं है, वल्कि व्यक्ति और विश्वमें तथा विश्वके परे विद्यमान महान् गतिशील आत्मा है। उस आत्मा एवं आत्मतत्त्वको मनकी वनायी अमूर्त व्याप्तियोंके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता; ऋषियों और रहस्यदर्शियोंके समस्त अंतःप्रेरित वर्णन उसके अंदर निहित अर्थों और ऐश्वर्योंको शेष नहीं कर सकते।

विश्वके साथ संवंधकी दृष्टिसे यह परम सत् ब्रह्म है, वह एकमेव सद्वस्तु है जो विश्वके सभी विचारों, शक्तियों और आकारोंका आध्यात्मिक, भौतिक एवं सचेतन उपादान ही नहीं है, बल्कि उनका उद्‌गम, आश्रय और स्वामी भी है, अर्थात् विश्वगत और विश्वातीत आत्मा है। वे सव अंतिम परिभाषाएँ भी जिनमें हम इस विश्वका विश्लेषण कर सकते हैं, अर्थात् शक्ति और जड़तत्त्व, नाम और रूप, पुरुष और प्रकृति, बिलकुल वही नहीं हैं जो कुछ कि विश्व अपने-आपमें या अपनी प्रकृतिमें वस्तुतः है। जिस प्रकार, हम जो कुछ हैं वह सव मन-प्राण-शरीरसे अपरिच्छिन्न परम आत्माकी क्रीड़ा है, उसका एक रूप है, उसकी मानसिक, आंतरात्मिक, प्राणिक और भौतिक अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार विश्व भी उस परम सत्ताकी लीला एवं रूप है; उसकी विराट् जीवगत और प्रकृतिगत अभिव्यक्ति है जो सत्ताकी शक्ति और जड़तत्त्वसे परिच्छिन्न नहीं है, विचार, नाम और रूपसे सीमित नहीं है तथा पुरुष और प्रकृतिके मौलिक भेदसे भी आवद्ध नहीं है। हमारी परम आत्मा और वह परम सत्ता जिसने इस विश्वका रूप धारण किया है, एक ही आत्मतत्त्व हैं, एक ही आत्मा और

एक ही सत्ता हैं। व्यक्ति तो अपनी प्रकृतिमें वैश्व पुरुषकी एक अभिव्यक्ति है और अपनी आत्मामें परात्पर सत्ताकी एक अंशविभूति है। क्योंकि, यदि वह अपनी आत्माको उपलब्ध कर ले तो वह यह भी जान जाता है कि उसकी अपनी सच्ची आत्मा यह प्राकृत व्यक्तित्व एवं यह निर्मित व्यष्टिभाव नहीं है, बल्कि दूसरोंके साथ तथा प्रकृतिके साथ अपने संबंधोंमें यह एक वैश्व सत्ता है तथा अपने ऊर्ध्वमुख स्वरूपमें परम विश्वातीत आत्माका एक अंश या जीवंत अग्रभाग है।

यह परम सत्ता व्यक्ति या विश्वसे परिच्छिन्न नहीं है। अतएव, आध्यात्मिक ज्ञान परम आत्माकी इन दो शक्तियोंको अतिक्रम करके, यहाँतक कि इन्हें त्यागकर एक ऐसी वस्तुकी परिकल्पनापर पहुँच सकता है जो पूर्णतया परात्पर है, जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, न जिसे मनद्वारा जाना ही जा सकता है, जो शुद्ध निरपेक्ष ब्रह्म है। परंपरागत ज्ञानमार्ग व्यक्ति और विश्वका परित्याग कर देता है। जिस 'निरपेक्ष'की वह खोज करता है वह निराकार, अनिर्देश्य, असंग है, वह न यह है न वह, नेति-नेति। और, फिर भी हम उसके बारेमें कह सकते हैं कि वह एकमेव है, वह अनंत है, वह अनिर्वचनीय आनंद-चित-सत् है। यद्यपि वह मनके द्वारा ज्ञेय नहीं है तथापि अपनी वैयक्तिक सत्ताके द्वारा तथा विश्वके नाम-रूपोंके द्वारा हम परम आत्मा, अर्थात् ब्रह्मकी उपलब्धिके निकट पहुँच सकते हैं, और उस परमात्माकी उपलब्धिके द्वारा हम इस पूर्ण-निरपेक्षकी किसी प्रकारकी उपलब्धितक भी पहुँच जाते हैं, इस निरपेक्षकी जिसका कि हमारा सच्चा आत्मा ही हमारी चेतनामें विद्यमान वास्तविक स्वरूप है। यदि मानव-मनको अपने संमुख परात्पर और अपरिच्छिन्न निरपेक्षकी कोई परिकल्पना निर्मित करनी ही हो तो इसे विवश होकर इन्हीं उपायोंका प्रयोग करना पड़ेगा। अपनी निजी परिभाषाओं और अपने सीमित अनुभवसे छुटकारा पानेके लिये निषेधकी प्रणाली इसके लिये अपरिहार्य ही है; इसे बाध्य होकर अनिश्चित 'अपरिच्छिन्न'मेंसे 'अनंत'की ओर चले जाना पड़ता है। क्योंकि यह उन धारणाओं और प्रतिरूपोंके बंद कारागृहमें निवास करता है जो इसकी क्रियाके लिये तो आवश्यक हैं, पर जड़तत्त्व या प्राणका अथवा मन या आत्माका स्वयंस्थित सत्य नहीं हैं। परंतु यदि हम एक वार मनके सीमांतके क्षीण आलोकको पार कर अतिमानसिक ज्ञानके वृहत् स्तरमें पहुँच पायें तो ये उपाय अनिवार्य नहीं रह जाते। अतिमानसको परम अनंत सत्ताका एक विलकुल ही और प्रकारका, भावात्मक, प्रत्यक्ष और जीवंत अनुभव प्राप्त है। निरपेक्ष

ब्रह्म व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्वसे परे है और फिर भी वह निर्व्यक्तिक तथा परम व्यक्ति और सभी व्यक्ति—दोनों है। निरपेक्ष ब्रह्म एकत्व और वहुत्वके भेदसे परे है, और फिर भी वह 'एक' है तथा समस्त जगतोंमें असंख्य 'वहु' भी है। वह सभी गुणकृत सीमाओंसे परे है और फिर भी निर्गुण शून्यके द्वारा सीमित नहीं है, वल्कि अशेष, अनंत गुण-गणसे संपन्न भी है। वह व्यष्टिगत जीव और सभी जीव है और उनसे अधिक भी है; वह निराकार ब्रह्म भी है और विश्व भी। वह विश्वगत और विश्वातीत आत्मा है, परम प्रभु, परम आत्मा है, परम पुरुष और पराशक्ति है, नित्य अजन्मा है जो अनंत रूपसे जन्म लेता है, अनंत है जो असंख्य रूपसे सांत है, वहुमय 'एक' है, जटिलतामय 'सरल' है, अनेकपक्षीय 'एकमेव सत्ता' है, अनिर्वचनीय नीरवताका शव्द है, निर्व्यक्तिक सर्वव्यापी व्यक्ति है, परम रहस्य है जो उच्चतम चेतनामें अपनी आत्माके प्रति प्रकाशमान है, पर अपने निरतिशय प्रकाशमें हीनतर चेतनाके प्रति आवृत है तथा उसके द्वारा सदाके लिये अभेद्य है। परिमाणात्मक मनके लिये ये चीजें ऐसे परस्पर-विरोधी तत्त्व हैं जिनमें समन्वय नहीं किया जा सकता, पर अतिमानसिक सत्य-चेतनाकी अटल दृष्टि और अनुभूतिके लिये ये इतने सरल और अनिवार्य रूपमें एक-दूसरेकी आभ्यंतरिक प्रकृतिसे युक्त हैं कि इन्हें विरोधी वस्तुएँ समझना भी एक अकल्पनीय अन्याय है। परिमापक और पृथक्कारक वुद्धिकी रची हुई दीवारें उस चेतनाके सामने विलुप्त हो जाती हैं और सत्य अपने सरल-सुन्दर रूपमें प्रकट होकर सव वस्तुओंको अपने सामंजस्य, एकत्व और प्रकाशकी परिभापाओंमें परिणत कर देता है। परिमाण और विभेद रहते तो हैं, पर स्व-विस्मृतिपूर्ण आत्माके लिये एक पृथक्कारक कारागृहके रूपमें नहीं, वल्कि उपयोगयोग्य आकृतियोंके रूपमें रहते हैं।

परात्पर निरपेक्ष ब्रह्मसे सचेतन होना और साथ ही वैयक्तिक तथा वैश्व सत्तापर पड़नेवाले उसके प्रभावसे सचेतन होना ही चरम एवं सनातन ज्ञान है। हमारे मन नाना पद्धतियोंसे इस ज्ञानका विवेचन कर सकते हैं, इसके आधारपर विरोधी दर्शनोंकी रचना कर सकते हैं, इसे सीमित एवं संशोधित कर सकते हैं, इसके किन्हीं पहलुओंपर वहुत ही अधिक वल दे सकते हैं और दूसरोंपर वहुत कम, इससे शुद्ध या अशुद्ध निष्कर्प निकाल सकते हैं; परंतु हमारे वौद्धिक विभेदों और अपूर्ण निरूपणोंसे इस अंतिम तथ्यमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि यदि हम विचार और अनुभवको इनके अंतिम छोरतक ले जायँ तो जिस ज्ञानमें ये परिसमाप्त होंगे वह यही है।

अध्यात्म-ज्ञानके योगका लक्ष्य इस सनातन सद्वस्तु, इस आत्मा, इस ब्रह्म किंवा इस परात्परके सिवा और कोई नहीं हो सकता जो सबके ऊपर और अंदर अवस्थित है तथा जो व्यक्तिमें अभिव्यक्त होता हुआ भी छुपा हुआ है, विश्वमें प्रकट होकर भी प्रच्छन्न है।

ज्ञानमार्गकी सर्वोच्च परिणतिका आवश्यक रूपमें यह अर्थ नहीं कि अस्तित्व समाप्त हो जायगा। कारण, जिस परम सत्के सदृश हम अपने-आपको ढालते हैं, जिस निरपेक्ष और परात्पर ब्रह्ममें हम प्रवेश करते हैं वह सदा ही उस पूर्ण और चरम-परम चेतनासे युक्त रहता है जिसकी हम खोज कर रहे हैं और फिर भी उसके द्वारा वह जगत्में अपनी लीलाको आश्रय देता है। हम यह माननेके लिये भी बाध्य नहीं हैं कि हमारा जागतिक अस्तित्व इसलिये समाप्त हो जाता है कि ज्ञानकी प्राप्तिसे इसका उद्देश्य या परिणति पूर्णतया चरितार्थ हो जाती है और इसलिये उसके बाद हमारे लिये यहाँ और कुछ (पानेको) नहीं रह जाता। क्योंकि, आरंभमें हमारी प्राप्ति केवल यही होती है कि व्यक्ति अपनी चेतन सत्ताके सारतत्त्वमें आत्माको सनातन रूपसे उपलब्ध कर लेता है और इसके संग मुक्ति, अपरिमेय नीरवता और शांति भी अधिगत हो जाती हैं; उस आधारपर ब्रह्मकी अनंतमुखी आत्म-चरितार्थता साधित करने, व्यक्तिमें तथा उसकी परिस्थितिके द्वारा एवं उसके दृष्टांत और कार्य-व्यवहारके द्वारा दूसरोंमें एवं समूचे विश्वमें ब्रह्मकी क्रियाशील दिव्य अभिव्यक्तिको साधित करनेका कार्य फिर भी शेष रहेगा, नीरवता इस कार्यको निराकृत नहीं कर देती और यह मोक्ष एवं स्वातंत्र्यके साथ भी एकीभूत है,—यह वह कार्य है जिसे करनेके लिये महान् व्यक्ति इस जगत्में जीवन धारण किया करते हैं। जबतक हम अहंमय चेतनामें, मनके मद्धिम प्रकाशमें, बंधनमें निवास करते हैं तबतक हमारी क्रियाशील आत्म-चरितार्थता साधित नहीं हो सकती। हमारी वर्तमान सीमित चेतना तो केवल तैयारीका क्षेत्र हो सकती है, यह पूर्ण रूपमें कुछ भी साधित नहीं कर सकती; क्योंकि यह जो कुछ भी प्रकट करती है वह सब अहं-अधिष्ठित अज्ञान और भ्रांतिसे पूर्णतया दूषित होता है। अभिव्यक्त जगत्में ब्रह्मकी सच्ची और दिव्य आत्म-चरितार्थता ब्राह्मी चेतनाके आधारपर ही साधित हो सकती है और अतएव यह तभी संभव हो सकती है यदि मुक्त जीव, अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष जीवनको अपनाये।

यह है पूर्ण ज्ञान, क्योंकि हम जानते हैं कि सब जगह और सभी अवस्थाओंमें देखनेवाली आँखके लिये सब कुछ वह 'एक' ही है, दिव्य

अनुभवके प्रति सब कुछ भगवान्‌की एक ही समष्टि है। केवल हमारा मन ही अपने विचार और अभीप्साकी क्षणिक सुविधाके लिये एकत्वके एक तथा दूसरे पक्षके बीच कठोर विभाजनकी कृत्रिम रेखा खींचने एवं उनमें सतत असंगतिकी कल्पना करनेका यत्न करता है। मुक्त ज्ञानी इस जगत्‌में बद्ध जीव और अज्ञानी मनकी अपेक्षा अधिक ही निवास करता तथा कर्म करता है, कम नहीं। वह सभी कर्म करता है, **सर्वकृत्**, पर हाँ, करता है सच्चे ज्ञान और महत्तर चेतन शक्तिके साथ। और, ऐसा करनेसे वह परम एकत्वको गँवा नहीं देता, न परम चेतना और सर्वोच्च ज्ञानसे नीचे ही गिरता है। क्योंकि, परम सत्, चाहे इस समय वह हमसे कितना ही छुपा हुआ क्यों न हो, यहाँ इस जगत्‌में भी उससे कम विद्यमान नहीं है जितना कि वह अत्यंत पूर्ण और अनिर्वचनीय आत्म-लयमें एवं अत्यंत असहिष्णु निर्वाणमें हो सकता है।

दूसरा अध्याय

ज्ञानकी भूमिका

सुतरां आत्मा, भगवान्, परम सद्वस्तु, सर्व, परात्पर,—इन सब पक्षोंसे युक्त 'एकं सत्' ही यौगिक ज्ञानका लक्ष्य है। साधारण पदार्थ, प्राण और जड़तत्त्वके बाह्य रूप, हमारे विचारों और कर्मोंका मनोविज्ञान, दृश्यमान जगत्की शक्तियोंका बोध—ये सब ज्ञानके अंग बन सकते हैं, पर केवल वहींतक जहाँतक ये एकमेवकी अभिव्यक्तिके अंग हैं। इससे यह तुरंत स्पष्ट हो जाता है कि जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग पुरुषार्थ करता है वह उससे भिन्न है जो कुछ कि मनुष्य साधारणतया 'ज्ञान' शब्दसे समझते हैं। क्योंकि, सामान्यतया ज्ञानसे हमारा मतलब प्राण, मन और जड़तत्त्वके तथ्यों एवं उन्हें नियंत्रित करनेवाले नियमोंके बौद्धिक विवेचनसे होता है। यह एक ऐसा ज्ञान है जो हमारे इंद्रियबोधपर तथा इंद्रियबोधोंके आधारपर किये गये तर्कपर आधारित होता है और इसका अनुसरण कुछ तो निरी बौद्धिक तृप्तिके लिये किया जाता है और कुछ व्यावहारिक कुशलता तथा उस आंतरिक क्षमताके लिये जिसे ज्ञान हमें अपने तथा दूसरोंके जीवनोंकी व्यवस्था करने तथा प्रकृतिकी प्रकट या गुप्त शक्तियोंको मानवीय उद्देश्योंके हित उपयोगमें लानेके लिये किंवा अपने साथी मनुष्योंको सहायता या हानि पहुँचाने अथवा उनकी रक्षा एवं उन्नति करने या उन्हें सताने और नष्ट करनेके लिये प्रदान करता है। निःसंदेह योग समस्त जीवनके समान ही व्यापक है और इन सब विषयों तथा पदार्थोंको अपने अंदर समाविष्ट कर सकता है। यहाँतक कि एक ऐसा योग* भी है जो स्व-तुष्टिके लिये प्रयोगमें लाया जा सकता है और साथ ही आत्म-विजयके लिये भी, दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिये भी तथा उनका उद्धार करनेके लिये भी। परंतु 'समस्त जीवन'के अंतर्गत केवल यह जीवन ही, जैसा कि मानवजाति आज

*योग शक्तिका विकास करता है, यह तब भी इसका विकास करता है जब कि हम इसे नहीं चाहते या जब हम सचेत रूपसे इसे अपना लक्ष्य नहीं बनाते ; और शक्ति सदा ही एक दुधारा शस्त्र होती है जो हानि पहुंचाने या विनाश करनेके लिये भी काममें लाया जा सकता है और सहायता एवं रक्षा करनेके लिये भी। यह भी ध्यानमें रहे कि समस्त विनाश अशुभ ही नहीं होता।

इसे बिताती है, नहीं आता; यह भी नहीं कि इसके अंतर्गत मुख्य रूपसे यही आता हो। बल्कि "समस्त जीवन" एक उच्चतर, एवं वस्तुतः सचेतन जीवनको अपनी दृष्टिमें रखता है और उसे अपना एकमात्र सच्चा उद्देश्य मानता है। हमारी अर्द्ध-चेतन मानवताने अभीतक उस जीवनको अधिकृत नहीं किया है और वह 'स्व'को अतिक्रम करनेवाले आध्यात्मिक आरोहणके द्वारा ही उसतक पहुँच सकती है। यह महत्तर चेतना एवं उच्चतर जीवन ही योग-साधनाका विशिष्ट एवं उपयुक्त लक्ष्य है।

यह महत्तर चेतना एवं यह उच्चतर जीवन कोई ऐसा प्रबुद्ध या ज्ञान-दीप्त मन नहीं है जिसे महत्तर क्रियाशील शक्तिका पोषण प्राप्त हो या जो शुद्धतर नैतिक जीवन एवं चरित्रको प्रश्रय देता हो। साधारण मानव-चेतनासे इनकी उत्कृष्टता मात्रामें नहीं, बल्कि गुण-धर्म और सारतत्त्वमें है। इनमें हमारी सत्ताके बाह्य ढंग या यंत्रात्मक प्रणालीका ही नहीं, बल्कि इसके असली आधार तथा क्रियाशील तत्त्वतकका भी परिवर्तन हो जाता है। यौगिक ज्ञान मनसे परेकी उस गुप्त चेतनामें प्रविष्ट होनेका यत्न करता है जो यहाँ केवल गुह्य रूपमें ही विद्यमान है तथा सत्तामात्रके आधारमें छुपी हुई है। कारण, एकमात्र वही चेतना यथार्थ ज्ञानसे युक्त है और उसे प्राप्त करके ही हम ईश्वरको प्राप्त कर सकते हैं और जगत्‌का तथा उसकी वास्तविक प्रकृति एवं गुप्त शक्तियोंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह सब जगत् जो हमारे लिये दृश्य या इंद्रियगोचर है तथा इसके अंदरका वह सब भी जो दृश्य नहीं है किसी ऐसी वस्तुकी नाम-रूपात्मक अभिव्यक्तिमात्र है जो मन और इंद्रियोंसे परे है। इंद्रियाँ तथा उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्रीके आधारपर की जानेवाली बौद्धिक तर्कणा हमें जो ज्ञान प्रदान कर सकती हैं वह यथार्थ ज्ञान नहीं होता; वह तो प्रतीतियोंकी विद्या होती है। और, प्रतीतियोंका भी सम्यक् ज्ञान तबतक प्राप्त नहीं हो सकता जबतक हम पहले उस सद्वस्तुको नहीं जान लेते जिसकी वे प्रतिमाएँ हैं। यह सद्वस्तु ही उनकी आत्मा है और सबकी आत्मा एक ही है; जब उसे अधिकृत कर लिया जाता है तब अन्य सब वस्तुओंको आजकी भाँति उनके प्रतीयमान रूपमें ही नहीं, बल्कि सत्य रूपमें जाना जा सकता है।

यह प्रत्यक्ष है कि भौतिक और इंद्रियगोचर पदार्थोंका हम चाहे कितना ही अधिक विश्लेषण क्यों न कर लें, उसके द्वारा हम आत्म-तत्त्वका या अपने-आपका या जिसे हम ईश्वर कहते हैं उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। दूरवीक्षण, अणुवीक्षण, नश्तर, शुण्डायंत्र तथा भवका-यंत्र भौतिक तत्त्वसे परे नहीं जा सकते, यद्यपि भौतिक पदार्थके विषयमें ये अधिकाधिक

सूक्ष्म सत्योंपर पहुँच सकते हैं। अतएव, यदि हम अपनेको उसीतक सीमित रखें जो कुछ कि इंद्रियों और उनके भौतिक साधनोपकरण हमारे सामने प्रकाशित करते हैं और यदि हम किसी अन्य सद्वस्तुको या ज्ञानके किसी अन्य साधनको आरंभसे ही अस्वीकार कर दें तो हम इस निष्कर्षपर पहुँचनेके लिये वाध्य होंगे कि 'भौतिक'के सिवाय और कुछ भी वास्तविक नहीं है और हममें या विश्वमें कोई आत्मा नहीं है, अंदर और वाहर कहीं भी कोई ईश्वर नहीं है, यहाँतक कि स्वयं हम भी मस्तिष्क, स्नायुपुंज और देहके इस संघातके सिवाय और कुछ नहीं हैं। परंतु ऐसा परिणाम निकालनेके लिये हम केवल इस कारण वाध्य हुए हैं कि हमने इसे आरंभसे ही पक्का मान लिया है और इसलिये अपनी मूल धारणाके चारों ओर चक्कर काटे विना हम नहीं रह सकते।

सुतरां, यदि कोई ऐसा आत्मा किंवा सद्वस्तु है जो इंद्रियोंके लिये प्रत्यक्ष नहीं है तो उसे भौतिक विज्ञानके साधनोंसे भिन्न किसी अन्य साधनके द्वारा ही खोजना और जानना होगा, और वुद्धि वह साधन नहीं है। निःसंदेह ऐसे अनेक अतीन्द्रिय सत्य हैं जिनपर वुद्धि अपने तरीकेसे पहुँच सकती है और जिन्हें यह वौद्धिक परिकल्पनाओंके रूपमें देख तथा निरूपित कर सकती है। उदाहरणार्थ, स्वयं शक्तिका विचार भी जिसपर विज्ञान इतना आग्रह करता है एक ऐसी परिकल्पना एवं सत्य है जिसपर केवल वुद्धि ही अपनी ज्ञात सामग्रीसे परे जाकर पहुँच सकती है, क्योंकि हम इस वैश्व शक्तिको नहीं, वल्कि इसके परिणामोंको ही अनुभव करते हैं, और स्वयं इस शक्तिको हम इन परिणामोंके एक आवश्यक कारणके रूपमें ही अनुमित करते हैं। इसी तरह, वुद्धि एक प्रकारकी कठोर विश्लेपण-पद्धतिका अनुसरण करके आत्मविपयक एक वौद्धिक परिकल्पना एवं वौद्धिक विश्वासपर पहुँच सकती है और यह विश्वास अन्य एवं महत्तर वस्तुओंके आरंभके रूपमें अत्यंत वास्तविक, अत्यंत प्रकाशमय एवं अत्यंत शक्तिशाली हो सकता है। तथापि वौद्धिक विश्लेपण अपने-आपमें, स्पष्ट परिकल्पनाओंकी व्यवस्था और शायद यथार्थ परिकल्पनाओंकी ठीक व्यवस्थाकी ओर ही ले जा सकता है; परंतु यह वह ज्ञान नहीं है जो योगका लक्ष्य है। कारण, यह अपने-आपमें कोई फलप्रद ज्ञान नहीं है। मनुष्य इसमें पूर्ण हो सकता है और फिर भी वह ठीक वैसा ही रह सकता है जैसा वह पहले था। हाँ, इतनी वात अवश्य है कि इससे वह एक महत्तर वौद्धिक प्रकाश प्राप्त कर सकता है। परंतु संभव है कि हमारी सत्ताके जिस परिवर्तनको योग अपना लक्ष्य वनाता है वह विलकुल ही संपन्न न हो।

यह सच है कि बौद्धिक विचार-विमर्श और यथार्थ विवेक ज्ञानयोगका महत्त्वपूर्ण अंग है; पर इनका लक्ष्य इस पथके अंतिम एवं निश्चयात्मक परिणामपर पहुँचनेकी अपेक्षा कहीं अधिक पथकी कठिनाईको दूर करना ही है। हमारी साधारण बौद्धिक धारणाएँ ज्ञानके मार्गमें बाधक हैं; क्योंकि वे इंद्रियोंकी भ्रांतिके वशीभूत हैं और इस विचारको अपना आधार बनाती हैं कि जड़तत्त्व एवं देह वास्तविक सत्ता हैं और प्राण एवं शक्ति, हृदयावेग एवं भावावेश तथा विचार एवं इंद्रियानुभव वास्तविक सत्ताएँ हैं; इन वस्तुओंके साथ हम अपने-आपको तदाकार कर लेते हैं, हम इनसे पीछे हटकर वास्तविक आत्मातक नहीं पहुँच सकते। अतएव, ज्ञानके अन्वेषकके लिये यह आवश्यक है कि वह इस बाधाको दूर करे और अपने तथा जगत्के संबंधमें यथार्थ धारणाओंको प्राप्त करे, क्योंकि ज्ञानके द्वारा वास्तविक आत्माका अनुसरण हम भला करेंगे ही कैसे यदि हमें उसके स्वरूपकी कुछ भी धारणा न हो और, इसके विपरीत, यदि हम ऐसे विचारोंके बोझसे दबे हुए हों जो सत्यके सर्वथा विरोधी हैं? अतएव, यथार्थ विचार एक आवश्यक पूर्वसाधन है और एक बार जब यथार्थ विचारका अभ्यास स्थिर रूपसे डाल लिया जाता है, ऐसे विचारका जो इंद्रिय-भ्रम, कामना, पूर्व-संस्कार और बौद्धिक पूर्व-निर्णयसे मुक्त हो, तो बुद्धि शुद्ध हो जाती है और ज्ञानकी अगली क्रियामें कोई गंभीर बाधा नहीं उपस्थित करती। तथापि यथार्थ विचार तभी कार्यकर होता है जब शुद्ध बुद्धिमें इसके अनंतर अन्य क्रियाएँ अर्थात् अंतर्दृष्टि, अनुभूति तथा उपलब्धि भी सक्रिय हो उठती हैं।

ये क्रियाएँ क्या हैं? ये निरा मनोवैज्ञानिक स्व-विश्लेषण और स्व-निरीक्षण नहीं हैं। ऐसा विश्लेषण और ऐसा निरीक्षण भी यथार्थ विचारकी प्रक्रियाकी भाँति अत्यंत उपयोगी हैं और क्रियात्मक दृष्टिसे अनिवार्य भी हैं। यहाँतक कि यदि इनका ठीक प्रकारसे अनुसरण किया जाय तो ये एक ऐसे यथार्थ विचारकी ओर ले जा सकते हैं जो पर्याप्त शक्ति और प्रभावसे युक्त हो। ध्यानात्मक चिंतनकी प्रक्रियाके द्वारा किये जानेवाले बौद्धिक विवेककी भाँति ये शुद्धि-रूपी परिणाम भी उत्पन्न करेंगे। ये एक प्रकारके आत्मज्ञानकी ओर ले जायँगे तथा हृदय और अंतरात्माकी अव्यवस्थाओं, यहाँतक कि बुद्धिकी अव्यवस्थाओंको भी ठीक कर देंगे। सभी प्रकारका स्व-ज्ञान वास्तविक आत्माके ज्ञानकी ओर ले जानेके लिये एक सीधा मार्ग होता है। उपनिषद् हमें बताती है कि स्वयंभूने अंतरात्माके द्वार इस प्रकार बनाये हैं कि वे बाहरकी ओर खुलते हैं और

अधिकतर लोग बाहरकी ओर, पदार्थोंके बाह्य रूपोंपर ही दृष्टि डालते हैं; कोई विरली ही आत्मा जो शांत विचार एवं धीर-स्थिर ज्ञानके लिये परिपक्व होती है, अपनी दृष्टि अंदरकी ओर फेरती है, परम आत्माके दर्शन करती और अमृत-पद लाभ करती है। दृष्टिको इस प्रकार अंतरकी ओर फेरनेके लिये मनोवैज्ञानिक स्व-निरीक्षण एवं विश्लेषण महान् और कार्यकारी उपक्रम हैं। अपने भीतर हम उसकी अपेक्षा अधिक सुगमतासे दृष्टि डाल सकते हैं जितनी सुगमतासे कि अपनेसे बाहर स्थित वस्तुओंके भीतर डाल सकते हैं, क्योंकि वहाँ, अपनेसे बाहरकी वस्तुओंमें हम प्रथम तो बाह्य रूपसे संमूढ़ हुए रहते हैं और दूसरे, उनके अंदरकी उस वस्तुका, जो उनके भौतिक उपादानसे भिन्न है, हमें कोई स्वाभाविक पूर्व-अनुभव नहीं होता। इसके भी पूर्व कि ईश्वर या आत्मा हमें अपने अंदर अनुभूत हो, शुद्ध या शांत मन विश्वगत ईश्वर या प्रकृतिगत आत्माको प्रतिभासित कर सकता है अथवा शक्तिशाली एकाग्रतासे युक्त मन उसे जगत् एवं प्रकृतिमें उपलब्ध भी कर सकता है, पर ऐसा होना दुर्लभ और कठिन है।* परंतु केवल अपने अंदर ही हम आत्माकी स्व-अभिव्यक्तिकी प्रक्रियाको देख और जान सकते हैं और साथ ही वहीं हम उस प्रक्रियाका अनुसरण भी कर सकते हैं जिसके द्वारा यह अपनी आत्म-सत्तामें वापिस लौटती है। अतएव, 'अपने-आपको जानो (आत्मानं विद्धि)' का प्राचीन उपदेश सदा ही एक ऐसा आदि मंत्र रहेगा जो हमें 'उस' ज्ञानकी ओर प्रेरित करता है। फिर भी, मनोवैज्ञानिक स्व-ज्ञान केवल आत्माकी अवस्थाओंका अनुभव होता है, वह शुद्ध सत्स्वरूप आत्माका साक्षात्कार नहीं होता।

सुतरां, ज्ञानकी जिस भूमिकापर योगने अपनी दृष्टि जमायी है वह सत्यकी केवल बौद्धिक परिकल्पना या विशद विवेचना ही नहीं है, न वह हमारी सत्ताकी अवस्थाओंका आलोकित मनोवैज्ञानिक अनुभव ही है। वह एक 'उपलब्धि' है, इस शब्दके पूरे अर्थमें; वह आत्मा किंवा परात्पर एवं विश्वगत भगवान्का अपने लिये और अपने अंदर साक्षात्कार कर लेना है, और तदनंतर यह असंभव हो जाता है कि हम सत्ताकी अवस्थाओंको उस आत्माके प्रकाशमें न देखकर किसी अन्य प्रकाशमें देखें तथा उन्हें इस यथार्थ रूपमें न देखकर कि वे हमारी जागतिक सत्ताकी मानसिक और भौतिक अवस्थाओंके बीच आत्माकी संभूतिका प्रवाह हैं, किसी अन्य रूपमें

*किन्तु एक अंशमें यह अधिक सुगम भी है, क्योंकि बाह्य वस्तुओंमें हम सीमित अहंकी भावनासे इतने अधिक प्रतिबद्ध नहीं होते जितने कि अपने-आपमें होते हैं, इसलिये ईश्वरानुभूतिकी एक बाधा दूर हो जाती है।

देखें। इस उपलब्धिमें तीन क्रमिक क्रियाएँ निहित हैं, आभ्यंतरिक दृष्टि, पूर्ण आभ्यंतरिक अनुभव और तादात्म्य।

यह आभ्यंतरिक दृष्टि, अर्थात्, वह शक्ति जिसे प्राचीन ऋषि इतना अधिक मूल्यवान् मानते थे और जिसके कारण मनुष्य पहलेकी तरह निरा विचारक न रहकर ऋषि या कवि बन जाता था, अंतरात्माके अंदर एक ऐसा प्रकाश है जिसके द्वारा अदृष्ट वस्तुएँ इसके लिये—केवल बुद्धिके लिये ही नहीं, बल्कि आत्माके लिये भी—ऐसी प्रत्यक्ष और वास्तविक हो जाती हैं जैसी कि दृष्ट वस्तुएँ स्थूल आँखके लिये होती हैं। भौतिक जगत्में ज्ञान सदा ही दो प्रकारका होता है, प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रत्यक्ष ज्ञानका मतलब है उस वस्तुका ज्ञान जो आँखोंके सामने हो और परोक्ष ज्ञानका अभिप्राय है उस वस्तुका ज्ञान जो हमारी दृष्टिसे दूर और परे हो। जब पदार्थ हमारी दृष्टिसे परे होता है तो हम आवश्यक रूपसे उसके विषयमें अनुमान, कल्पना एवं उपमानके द्वारा अथवा दूसरे लोगोंके, जो उसे देख चुके हैं, वर्णन सुनकर किंवा उसके चित्रात्मक या अन्यविध निरूपणोंका, यदि ये लभ्य हों, अनुशीलन करके ही किसी धारणापर पहुँचनेके लिये बाध्य होते हैं। निःसंदेह इन सब साधनोंका एक साथ उपयोग करके हम उस वस्तुके विषयमें एक न्यूनाधिक उपयुक्त धारणापर या उसकी किसी सांकेतिक प्रतिमापर पहुँच सकते हैं, परंतु स्वयं उस वस्तुका हमें अनुभव नहीं होता; वह अभीतक हमारे लिये एक गृहीत सद्वस्तु नहीं होती, बल्कि एक सद्वस्तुसंबंधी हमारा प्रत्ययात्मक निरूपणमात्र होती है। परंतु एक बार जब हम उसे अपनी आँखोंसे देख लेते हैं—क्योंकि और कोई भी इंद्रिय सक्षम नहीं है,—तो हम उसे अधिकृत और उपलब्ध कर लेते हैं; वह वहाँ हमारी तृप्त सत्तामें सुरक्षित होती है, हमारा ज्ञानगत अंग होती है। चैत्य वस्तुओं तथा आत्माके संबंधमें भी ठीक यही नियम लागू होता है। दार्शनिकों या गुरुओंसे अथवा प्राचीन ग्रंथोंसे हम आत्माके विषयमें स्पष्ट और प्रकाशपूर्ण उपदेश भले ही श्रवण कर लें, विचार, अनुमान, कल्पना, उपमान या अन्य किसी प्राप्य साधनसे हम इसकी मानसिक आकृति बनाने या मानसिक परिकल्पना करनेका यत्न भी कर लें, उस परिकल्पनाको हम अपने मनमें भले ही दृढ़तापूर्वक जमा लें और एक पूर्ण एवं ऐकांतिक एकाग्रताके द्वारा अपने अंदर स्थिर भी कर लें*, किंतु हमने अभी आत्माको

---

*यह ज्ञानयोगकी त्रिविध क्रिया अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासनका विचार है जिनका मतलब है सुनना, विचारना या मनन करना और एकाग्रताके द्वारा स्थिर कर लेना।

उपलब्ध नहीं किया है, ईश्वरके दर्शन नहीं किये हैं। जब सुदीर्घ और सुस्थिर एकाग्रताके बाद या किसी अन्य साधनके द्वारा मनका आवरण विदीर्ण या दूर हो जाता है, जब जागरित मनके ऊपर ज्योतिका प्रवाह, ज्योतिर्मय ब्रह्म, फूट पड़ता है और परिकल्पना एक ऐसी ज्ञान-दृष्टिको स्थान दे देती है जिसमें आत्मा वैसा ही प्रत्यक्ष, वास्तव और मूर्त होता है जैसी कि स्थूल वस्तु नेत्रके लिये होती है, केवल तभी हम ज्ञानमें उसे उपलब्ध करते हैं; क्योंकि तब हमने दर्शन कर लिये हैं। उस दिव्य दर्शनके अनंतर प्रकाशके चाहे कितने ही तिरोभाव एवं अंधकारके चाहे कितने ही अंतराय आत्माको पीड़ित क्यों न करें, यह जिस वस्तुको एक बार अधिकृत कर चुकी है उसे इस प्रकारसे कभी नहीं खो सकती कि पुनः प्राप्त ही न कर सके। अनुभव अनिवार्य रूपसे पुनः-पुनः नवीन होता रहता है और निश्चय ही और भी अधिक बार प्राप्त होने लगता है जबतक कि वह स्थायी ही नहीं हो जाता। ऐसा कब और कितनी शीघ्रतासे होता है यह उस भक्ति एवं निष्ठापर निर्भर करता है जिसके साथ हम मार्गपर डटे रहते हैं और गुप्त भगवान्‌को अपने संकल्प या प्रेमके द्वारा परिवेष्टित कर लेते हैं।

यह अंतर्दृष्टि एक प्रकारका आंतरिक अनुभव है; किंतु आंतरिक अनुभव इस दृष्टितक ही सीमित नहीं है; दृष्टि हमें आत्माकी ओर खोल देती है, उसका आलिंगन नहीं करती। जिस प्रकार आँखको, यद्यपि अकेली वही उपलब्धिका प्रथम आभास देनेमें सक्षम है, सर्वग्राही ज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व त्वचा तथा अन्य ज्ञानेंद्रियोंके अनुभवकी सहायताका आह्वान करना पड़ता है, इसी प्रकार आत्माके अंतर्दर्शनको भी हमें अपने सभी अंगोंमें इसके अनुभवके द्वारा पूर्ण बनाना चाहिये। हमारी संपूर्ण सत्ताको भगवान्‌की कामना करनी चाहिये न कि केवल हमारी आलोकित ज्ञान-दृष्टिको ही ऐसा करना चाहिये। कारण हममें प्रत्येक तत्त्व आत्माकी अभिव्यक्तिमात्र है और इसीलिये प्रत्येक पुनः अपनी वास्तविक सत्तातक पहुँच सकता तथा उसका अनुभव कर सकता है। हम आत्माका मानसिक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं और उन सब आपाततः अमूर्त वस्तुओंको— चेतना, शक्ति, आनंद और इनके नानाविध रूपों एवं व्यापारोंको—जो मनके लिये सत्ताका स्वरूप हैं, मूर्त सद्वस्तुओंके रूपमें हृदयंगम कर सकते हैं; इस प्रकार मन ईश्वरके विषयमें तृप्त हो जाता है। 'प्रेम' और हृद्‌गत आनंदके द्वारा,—अपनी अंतःस्थित आत्मा एवं विश्वगत आत्माके, और जिनके भी साथ हमारे संबंध हैं उन सबके आत्माके प्रेम एवं आनंदके

द्वारा हम आत्माकी भागवत अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं; इस प्रकार हृदय ईश्वरके विषयमें तृप्त हो जाता है। सौंदर्यमें हम आत्माकी रसात्मक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं तथा उस निरपेक्ष सद्वस्तुकी, जो हमारे किंवा प्रकृतिके द्वारा सृष्ट प्रत्येक वस्तुके भीतर रसग्राही मन तथा इंद्रियोंके प्रति अपने आकर्षणमें सर्व-सुन्दर है, आनंदानुभूति एवं रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं; इस प्रकार इंद्रिय ईश्वरके विषयमें तृप्त हो जाती है। यहाँतक कि समस्त जीवन एवं रचनामें तथा उन शक्तियों, बलों एवं सामर्थ्योंके, जो हमारे या दूसरोंके द्वारा या जगत्‌में क्रिया करते हैं, सकल व्यापारोंमे भी हम आत्माका प्राणिक एवं स्नायविक अनुभव और कार्यतः भौतिक संवेदन भी प्राप्त कर सकते हैं : इस प्रकार प्राण और शरीर भी ईश्वरके विषयमें तृप्त हो जाते हैं।

यह सब ज्ञान और अनुभव तादात्म्यपर पहुँचने तथा उसे अधिकृत करनेके प्रधान साधन हैं। वह हमारी अपनी ही आत्मा है जिसका हम साक्षात्कार और अनुभव करते हैं और इसलिये वह साक्षात्कार और अनुभव तबतक अपूर्ण ही रहते हैं जबतक कि वे तादात्म्यमें परिसमाप्त नहीं हो जाते और जबतक हम अपनी समस्त सत्तामें परम वैदांतिक ज्ञान 'वही मैं हूँ (**सोऽहमस्मि**)'को चरितार्थ करनेमें समर्थ नहीं हो जाते। हमें ईश्वरका केवल साक्षात्कार और आलिंगन ही नहीं करना होगा, बल्कि वही सद्वस्तु बन जाना होगा। अहं और उसकी सभी वस्तुओंको 'उस'में, जिससे ये सब निःसृत हुए हैं, परिणत, उदात्तीकृत तथा स्व-निर्मुक्त करके हमें आत्माके साथ उसकी रूपातीत और अभिव्यक्ति-अतीत अवस्थामें एक होना होगा; इसके साथ ही उसकी समस्त व्यक्त सत्ताओं और संभूतियोंमें भी हमें वही आत्मा बनना होगा; उन अनंत सत्ता, चेतना, शांति एवं आनंदमें जिनके द्वारा वह अपने-आपको हममें प्रकाशित करता है, तथा उस कर्म एवं रचनामें और आत्म-परिकल्पनाकी उस लीलामें जिनके द्वारा वह इस जगत्‌में अपने-आपको आच्छादित करता है, उसके साथ एक होना होगा।

आधुनिक मनके लिये यह समझना कठिन है कि कैसे हम आत्मा या ईश्वरपर बौद्धिक रूपसे विचार करनेसे अधिक भी कुछ कर सकते हैं; परंतु वह इस दृष्टि, अनुभूति और संभूतिकी कुछ झलक प्रकृतिके प्रति उस आंतरिक जागरणसे ले सकता है जिसे एक महान् अंग्रेज कविने यूरोपीय कल्पनाके प्रति वास्तविक सत्य बना दिया है। यदि हम उन कविताओंका, जिनमें वर्ड्‌स्वर्थने अपनी प्रकृति-विषयक अनुभूतिको व्यक्त किया है, अध्ययन करें तो अनुभूति क्या वस्तु है इसकी एक दूरवर्ती कल्पना हम उससे

ग्रहण कर सकते हैं। कारण, सर्वप्रथम, हम देखते हैं कि उसे जगत्‌में किसी ऐसी वस्तुका अंतर्दर्शन हुआ था जो इसमें समाविष्ट सभी वस्तुओंका वास्तविक आत्मा है और साथ ही एक ऐसी चिन्मय शक्ति एवं उपस्थिति है जो इसके रूपोंसे भिन्न है और फिर भी इसके रूपोंका मूल कारण है तथा उनमें प्रकटीभूत है। हम देखते हैं कि उसे इस आत्माका केवल अंतर्दर्शन तथा वह शांति और आनंद ही प्राप्त नहीं हुए थे जिन्हें इसकी उपस्थिति लाती है, अपितु इसका मानसिक, सौंदर्यात्मक, प्राणिक और शारीरिक संवेदनतक हुआ था; इसका यह संवेदन एवं अंतर्दर्शन उसे केवल इसकी अपनी सत्तामें ही नहीं, बल्कि अत्यंत निकटस्थ पुरुष, सरलतम मनुष्य तथा जड़ चट्टानमें भी हुआ था; और, अंतमें, वह कभी-कभी ऐसी एकात्मता प्राप्त भी कर लेता था, जो उसके समर्पणका विषय बन जाती थी। अपने इस समर्पणकी एक अवस्थाका वर्णन उसने 'एक निद्राने मेरी आत्माको मुहरबंद कर दिया है' अपनी इस कवितामें गंभीर और ओजस्वी शब्दोंमें किया है। उसमें वह कहता है कि मैं अपनी सत्तामें पृथ्वीके साथ एक हो गया हूँ, "इसके दैनिक परिभ्रमणमें मैं तनों, पेड़-पौधों और पत्थरोंके साथ चक्कर काट रहा हूँ।" इस अनुभूतिको भौतिक प्रकृतिसे अधिक गभीर आत्मातक ऊँचा उठा ले जाओ तो तुम यौगिक ज्ञानके मूल तत्त्वोंपर जा पहुँचोगे। परंतु यह सब अनुभव परात्परकी, जो अपने सब रूपोंसे परे हैं, अतीन्द्रिय एवं अतिमानसिक उपलब्धिका बहिर्द्वारमात्र है, और ज्ञानके अंतिम शिखरपर तो हम तभी आरूढ़ हो सकते हैं यदि हम अतिचेतनमें प्रविष्ट होकर वहाँ अनिर्वचनीयके साथ स्वर्गीय एकत्वमें अन्य समस्त अनुभवको निमज्जित कर दें। यह समस्त दिव्य ज्ञान-प्राप्तिकी पराकाष्ठा है; यही समस्त दिव्य आनंद और दिव्य जीवनका उद्गम है।

इस प्रकार ज्ञानकी यह भूमिका इस पथ और वस्तुतः सभी पथोंका लक्ष्य होती है जब कि अंततक उनका अनुसरण किया जाता है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये बौद्धिक विवेचना एवं विभावना, समस्त एकाग्रता एवं मनोवैज्ञानिक स्व-ज्ञान, प्रेमद्वारा हृदयकी समस्त गवेषणा, सौन्दर्यद्वारा इन्द्रियोंका, शक्ति एवं कर्मकलापद्वारा संकल्पका तथा शांति एवं हर्षद्वारा अंतरात्माका समस्त अन्वेषण हमारे आरोहणकी कुंजियांमात्र हैं, उनके राजपथ, प्राथमिक मार्ग एवं आरंभमात्र हैं जिनका हमें उपयोग और अनुसरण करना होगा, जबतक कि हम विस्तीर्ण एवं अनंत स्तर उपलब्ध न कर लें और दैवी द्वार अनंत ज्योतिकी ओर उद्घाटित न हो जायें।

तीसरा अध्याय

विशुद्ध बुद्धि

ज्ञानकी जिस भूमिकाकी हम अभीप्सा करते हैं उसका वर्णन ज्ञानके उन साधनोंको निर्धारित कर देता है जिनका कि हम प्रयोग करेंगे। संक्षेपमें यूं कहा जा सकता है कि ज्ञानकी वह भूमिका एक अतिमानसिक उपलब्धि है जो मानसिक प्रतिरूपोंके द्वारा हमारे अंदरके नाना मानसिक तत्त्वोंकी सहायतासे तैयार की जाती है और जो एक बार प्राप्त हो जानेपर फिर अपने-आपको हमारी सत्ताके सभी अंगोंमें अधिक पूर्णताके साथ प्रतिफलित करती है। यह उस भगवान्, एकमेव तथा सनातनके प्रकाशमें, जो वस्तुओंकी प्रतीतियोंके एवं हमारी स्थूल सत्ताकी बाह्य अवस्थाओंके प्रति अधीनतासे मुक्त है, हमारी संपूर्ण सत्ताका पुनरवलोकन और अतएव पुनर्निर्माण है।

'मानवीय'से 'दैवी'की ओर, 'विभक्त' और 'विसंवादी'से 'एकमेव' तथा 'दृग्विषय'से सनातन सत्यकी ओर इस प्रकारके प्रयाणमें एवं आत्माके ऐसे पूर्ण पुनर्जन्म या नव-जन्ममें दो अवस्थाएँ अवश्यमेव आती हैं: एक अवस्था तैयारीकी होती है जिसमें आत्मा तथा इसके करण योग्य बनते हैं, और, दूसरी, तैयार आत्मामें इसके योग्य करणोंके द्वारा वास्तविक प्रकाश और उपलब्धिके उदयकी। निःसंदेह इन दो अवस्थाओंके बीच काल-क्रमकी कोई कठोर सीमारेखा नहीं है; बल्कि ये एक-दूसरीके लिये आवश्यक हैं और एक साथ चलती रहती हैं। कारण, जितनी-जितनी आत्मा योग्य बनती है उतनी-उतनी यह अधिक प्रकाशमय होती जाती है और ऊँची-से-ऊँची एवं पूर्ण-से-पूर्ण उपलब्धियोंकी ओर ऊपर उठती है, और जितना-जितना ये प्रकाश और ये उपलब्धियाँ बढ़ती हैं, उतनी-उतनी यह योग्य बनती है और उतना-उतना इसके करण अपने कार्यमें अधिक समर्थ होते जाते हैं। आत्माके प्रकाशरहित तैयारीके काल भी होते हैं और प्रकाशयुक्त प्रगतिके काल भी, और अंतमें प्रकाशपूर्ण उपलब्धिकी कम या अधिक लंबी आत्मिक घड़ियाँ भी आती हैं, ऐसी घड़ियाँ जो बिजलीकी चमककी न्याईं क्षणिक होती हैं और फिर भी हमारा संपूर्ण आध्यात्मिक भविष्य पलट देती हैं; साथ ही, ऐसी घड़ियाँ भी आती हैं जो सत्यके सूर्यके अविच्छिन्न प्रकाश या रश्मि-

जालमें अनेक मानवीय घण्टों, दिनों एवं सप्ताहोंतक चलती रहती है। इन सबमेंसे होती हुई आत्मा, जो एक बार ईश्वरकी ओर मुड़ चुकी है, अपने नये जन्म तथा वास्तविक अस्तित्वकी नित्यता एवं पूर्णताकी ओर विकसित होती जाती है।

तैयारीका सबसे पहला आवश्यक तत्त्व अपनी सत्ताके सभी अंगोंको शुद्ध करना है; विशेषकर, ज्ञान-मार्गके लिये, बुद्धिको शुद्ध करना आवश्यक है, यह शुद्धि एक ऐसी कुंजी है जो निश्चय ही सत्यका द्वार खोल देती है; पर अन्य अंगोंको शुद्ध किये बिना बुद्धिको शुद्ध कर लेना शायद ही संभव हो। अशुद्ध हृदय, अशुद्ध इन्द्रिय, अशुद्ध प्राण बुद्धिको विभ्रांत कर देते हैं, इसकी सामग्रीको अस्त-व्यस्त, इसके निष्कर्षोंको विकृत एवं इसकी दृष्टिको तमसावृत कर देते हैं और इसके ज्ञानका अशुद्ध प्रयोग करते हैं; अशुद्ध देह-संस्थान इसकी क्रियाको अवरुद्ध या प्रतिबद्ध कर देता है। अतएव, सर्वांगीण शुद्धि आवश्यक है। यहाँ भी अन्योन्य-निर्भरता देखनेमें आती है, क्योंकि हमारी सत्ताके प्रत्येक अंगका शोधन अन्य प्रत्येक अंगकी शुद्धतासे लाभान्वित होता है। उदाहरणार्थ, जैसे-जैसे भाविक हृदय अधिकाधिक शांत होता जाता है वैसे-वैसे वह बुद्धिके शुद्ध करनेमें सहायक होता है; उधर शुद्ध बुद्धि, उसी प्रकार, अद्यावधि अपवित्र हृद्भावोंके मलिन एवं तमसाच्छन्न व्यापारोंमें शांति एवं प्रकाशकी स्थापना करती है। यहांतक भी कहा जा सकता है कि यद्यपि हमारी सत्ताके प्रत्येक अंगके शोधनके अपने विशिष्ट नियम हैं तथापि शुद्ध बुद्धि ही मनुष्यमें उसकी मलिन एवं अव्यवस्थित सत्ताका अत्यधिक शक्तिशाली शोधक है और जो उसके अन्य अंगोंको समुचित क्रिया करनेके लिये अत्यंत प्रभुत्वशाली ढंगसे विवश करता है। गीता कहती है कि ज्ञान परम पवित्र वस्तु है; प्रकाश समस्त निर्मलता एवं समस्वरताका स्रोत है जैसे कि अज्ञानान्धकार हमारे समस्त स्खलनोंका मूल है। उदाहरणार्थ, प्रेम हृदयका शोधक है और हमारे सब भावोंको दिव्य प्रेमके प्रतिरूपोंमें परिणत करनेसे हमारा हृदय पूर्णता एवं कृतार्थता लाभ करता है, फिर भी स्वयं प्रेमको दिव्य ज्ञानके द्वारा पवित्र करनेकी आवश्यकता होती है। हृदयका ईश्वर-संबंधी प्रेम अंध, संकीर्ण एवं अज्ञान-युक्त हो सकता है और वह धर्मांधता और अंधकारप्रियताकी ओर ले जा सकता है; यहांतक कि, अन्य प्रकारसे शुद्ध होनेपर भी, वह ईश्वरको सीमित व्यक्तित्वके सिवाय अन्यत्र कहीं देखना अस्वीकार करके तथा सच्चे एवं अनंत दिव्य दर्शनसे पीछे हटकर हमारी पूर्णताको सीमित कर सकता है। इसी प्रकार हृदयका मानव-संबंधी प्रेम भी भाव, कर्म एवं ज्ञानकी

विकृतियों एवं अतिरंजनाओंकी ओर ले जा सकता है। अतएव, इन्हें बुद्धिके परिशोधनके द्वारा सुधारना और रोकना होगा।

तथापि हमें इस विषयपर गहराईके साथ और स्पष्ट रूपसे विचार करना होगा कि अंडरस्टैण्डिंग (understanding–बुद्धि) तथा इसके शोधनसे हमारा क्या अभिप्राय है। 'अंडरस्टैण्डिंग' शब्दका प्रयोग हम संस्कृतके दार्शनिक शब्द 'बुद्धि'के अंग्रेजी भाषामें प्राप्य निकटतम पर्यायके रूपमें करते हैं; अतएव, हम इससे इन्द्रिय-मानसके उस व्यापारको बहिष्कृत कर देते हैं जो सब प्रकारके बोधोंको, बिना किसी भेदके, चाहे वे ठीक हों या गलत, सच्चे दृग्विषय हों या निरे मिथ्या, सूक्ष्म हों या स्थूल, केवल अपने अंदर अंकित कर लेता है। विशृंखल परिकल्पनाओंके उस समूहको भी हम इससे बहिष्कृत कर देते हैं जो इन बोधोंका उत्थामात्र है और जो इन्हींकी भाँति निर्णय एवं विवेकके उच्चतर तत्त्वसे शून्य है। अभ्यासगत विचारोंकी उस उछल-कूद मचानेवाली अविच्छिन्न धाराको भी हम इसके अंतर्गत नहीं कर सकते जो औसत अविचारशील मनुष्यके मनमें बुद्धिका काम करती है, पर जो केवल अभ्यस्त संस्कारों, कामनाओं, पक्षपातों, पूर्वनिर्णयों, अन्यलब्ध या परंपराप्राप्त अभिरुचियोंकी अनवरत आवृत्तिमात्र होती है, भले वह उन प्रत्ययोंकी, जो परिपार्श्वसे हमारे भीतर प्रवाहित होते हैं और प्रभुत्वपूर्ण विवेककारी बुद्धिकी चुनौतीके बिना प्रविष्ट होने दिये जाते हैं, अभिनव निधिसे अपनेको निरंतर समृद्ध ही क्यों न करती रहे। इसमें संदेह नहीं कि यह एक ऐसी बुद्धि है जो पशुसे मनुष्यके विकसित होनेमें अत्यंत उपयोगी रही है; परंतु यह पशुके मनसे केवल एक कदम ही ऊपर है; यह अर्द्ध-पाशविक बुद्धि है जो अभ्यास, कामना एवं इन्द्रियोंकी दासी है और वैज्ञानिक या दार्शनिक या आध्यात्मिक कैसे भी ज्ञानकी खोजके लिये किसी कामकी नहीं है। हमें इसके परे जाना होगा; इसका शोधन केवल इस प्रकार किया जा सकता है कि इसे पूर्ण रूपसे पदच्युत या शांत कर दिया जाय अथवा इसे वास्तविक बुद्धिमें रूपांतरित कर दिया जाय।

बुद्धिसे हमारा अभिप्राय उस बुद्धिसे है जो एक ही साथ अवलोकन, निर्णय और विवेक करती है, अर्थात् मानव प्राणीकी उस सच्ची बुद्धिसे है जो इन्द्रियगण एवं कामनाके या अभ्यासकी अंध शक्तिके वशमें नहीं है, बल्कि जो प्रभुत्व और ज्ञानके लिये अपने निज अधिकारसे ही कार्य करती है। निःसंदेह, मनुष्य जैसा आज है उसकी बुद्धि अपनी सर्वोत्तम अवस्थामें भी पूर्णरूपेण इस स्वतंत्र और प्रभुत्वशाली ढंगसे कार्य नहीं करती; पर जहाँतक

यह असफल होती है उसका कारण यह होता है कि यह अभीतक भी निम्नतर अर्द्ध-पाशविक क्रियासे मिश्रित है तथा अशुद्ध है और अपनी विशिष्ट क्रियासे निरंतर रोकी जाती एवं नीचेकी ओर खींची जाती है। अपनी शुद्धावस्थामें इसे इन निम्नतर गतियोंमें उलझे नहीं रहना चाहिये, वल्कि अपने विषयसे पीछे हटकर स्थित होना चाहिये, और निष्पक्ष भावसे उसका निरीक्षण करके अन्योंके साथ साम्य और भेदमूलक तुलना एवं उपमानके वलपर समष्टिमें उसे उसके समुचित स्थानपर रखना चाहिये, अपनी सुनिरीक्षित सामग्रीके आधारपर निगमन, व्याप्ति एवं अनुमानके द्वारा तर्क-वितर्क करना चाहिये और अपनी सव प्राप्तियोंको स्मृतिमें धारण करके तथा एक परिशोधन एवं सुनिर्देशित कल्पनाके द्वारा उन्हें परिपूर्ण वनाकर सव कुछको एक प्रशिक्षित एवं अनुशासित निर्णयके प्रकाशमें देखना चाहिये। यही है वौद्धिक प्रज्ञा जिसके नियम एवं विशेषतासूचक व्यापार निष्पक्ष निरीक्षण, निर्णय और तर्कणा होते हैं।

परंतु 'वुद्धि' शव्द एक अन्य अधिक गंभीर अर्थमें भी प्रयुक्त किया जाता है। वौद्धिक प्रज्ञा केवल निम्नतर वुद्धि है; एक अन्य उच्चतर वुद्धि भी है जो प्रज्ञा नहीं वल्कि दृष्टि है, नीचे स्थित होना नहीं, वरन् ज्ञानमें ऊपर स्थित होना* है, और जो ज्ञानकी खोज एवं प्राप्ति निरीक्षित सामग्रीके अधीन रहकर नहीं करती, वल्कि सत्यको पहलेसे ही अपने अंदर रखती है और सत्यदर्शक एवं अंतर्ज्ञानात्मक विचारके रूपोंमें उसे प्रकट करती है। साधारणतया मानव मन इस सत्य-सचेतन ज्ञानके अधिक-से-अधिक निकट जिस ज्ञान-क्रियातक पहुँचता है वह प्रकाशयुक्त खोजकी वह अपूर्ण क्रिया ही होती है जो तव घटित होती है जव विचारका अत्यधिक दवाव पड़ता है, और जव वुद्धि पर्देके पीछेसे निकलनेवाले अविच्छिन्न विद्युत्-कणोंसे आविष्ट हो जाती है तथा उच्चतर उत्साहके वशीभूत होकर ज्ञानकी वोधिमूलक एवं अंतःप्रेरित शक्तिसे एक प्रचुर अंतःप्रवाहको प्रवेश करने देती है। कारण, मनुष्यमें एक वोधिमय मन है जो अतिमानसिक शक्तिसे आनेवाले इन अंतःप्रवाहोंके ग्रहीता एवं इनकी प्रणालिकाका काम करता है। परंतु हमारे अंदर वोधि और अंतःप्रेरणाकी क्रिया अपूर्ण ढंगकी और रुक-रुककर होती है; साधारणतया, यह श्रमरत एवं संघर्षशील हृदय या

*भागवत पुरुषको 'अध्यक्ष' कहा गया है, अध्यक्ष अर्थात् वह पुरुष जो सबके ऊपर परम व्योममें विराजमान रहकर वस्तुओंका अधीक्षण करता है, 'ऊर्ध्व' ऊपरसे देखता और नियंत्रित करता है।

बुद्धिकी माँगके प्रत्युत्तरके रूपमें आरंभ होती है और इसके परिणाम सचेतन मनमें प्रवेश करनेसे भी पहले उस विचार या अभीप्साके द्वारा, जो उनसे मिलनेके लिये ऊपर उठी थी, प्रभावित हो जाते हैं, वे शुद्ध नहीं रहते, वल्कि हृदयकी आवश्यकताओंके अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं; और जव वे सचेतन मनमें प्रविष्ट होते हैं तो हमारी वौद्धिक प्रज्ञा उन्हें तुरन्त ही अपने अधिकारमें कर लेती है और विकीर्ण या छिन्न-भिन्न कर डालती है जिससे कि वे हमारे अपूर्ण वौद्धिक ज्ञानके साथ ठीक बैठ जायँ, अथवा हमारा हृदय उन्हें अपने अधिकारमें कर लेता है और उन्हें नये सिरेसे इस प्रकार ढालता है कि हमारी अंध या अर्द्ध-अंध हृद्गत लालसाओं एवं अभिरुचियोंके अनुकूल वन जायँ, अथवा यहाँतक कि निम्नतर तृष्णाएँ भी उनपर अपना अधिकार जमा लेती हैं और उन्हें हमारी क्षुधाओं एवं आवेगोंके उग्र प्रयोजनोंके लिये विकृत कर डालती हैं।

यदि यह उच्चतर वुद्धि इन निम्नतर अंगोंके हस्तक्षेपसे निर्मुक्त रहकर कार्य कर सके तो यह सत्यके शुद्ध रूपोंको प्रकट करेगी; तव निरीक्षण एक ऐसी अंतर्दृष्टिके अधीन हो जायगा या उसे अपना स्थान दे देगा जो इंद्रिय-मानस तथा इंद्रियोंकी साक्षीपर दासवत् आश्रित रहे विना देख सकेगी; कल्पना सत्यकी स्वयं-निश्चित अनुप्रेरणाको स्थान दे देगी, तर्क संवंधोंके स्वयंस्फूर्त्त विवेकको और तर्कका परिणाम एक ऐसे अंतर्ज्ञानको स्थान दे देगा जो उन संवंधोंको अपने अंदर निहित रखेगा न कि उनके आधारपर श्रमपूर्वक परिणाम निकालेगा, निर्णय एक ऐसी विचार-दृष्टिको स्थान दे देगा जिसके प्रकाशमें सत्य उस पर्देको जिसे यह आज ओढ़े हुए है और जिसका भेदन हमारे वौद्धिक निर्णयको करना पड़ता है हटाकर प्रकाशित हो जायगा। उधर 'स्मृति' भी वह अधिक व्यापक अर्थ ग्रहण कर लेगी जो ग्रीक चिंतनमें उसे दिया गया है, वह अव पहलेकी तरह उस भंडारमेंसे जो व्यक्तिने अपने वर्तमान जीवनमें उपलब्ध किया है, एक तुच्छ चुनाव नहीं रहेगी, प्रत्युत वह एक ऐसा ज्ञान वन जायगी जिसके अंदर सव कुछ निहित है, जो उन सव चीजोंको जिन्हें आज हम कष्टपूर्वक अर्जित करते प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः इस अर्थमें जिन्हें हम स्मरणमात्र करते हैं, अपने अंदर गुप्त रूपसे धारण करता है तथा अपने अंदरसे निरंतर देता रहता है, वह एक ऐसा ज्ञान वन जायगी जो भूतके समान ही भविष्य*को भी अपने अंदर समाविष्ट रखता है। निःसंदेह यह अभिमत ही है कि हम

---

*इस अर्थमें भविष्यवाणीकी शक्तिको ठीक ही भविष्यकी स्मृति कहा गया है।

सत्य-सचेतन ज्ञानकी इस उच्चतर शक्तिके प्रति अपनी ग्रहणशीलतामें विकसित होवें, परंतु इसके पूर्ण एवं अपरोक्ष प्रयोगका सौभाग्य अभीतक देवताओंको ही प्राप्त है और यह हमारी वर्तमान मानवीय अवस्थासे परेकी वस्तु है।

इस प्रकार हमने देखा कि बुद्धि और उस उच्चतर शक्तिसे,—जिसे हम सुविधाके लिये आदर्श शक्ति कह सकते हैं और जिसका विकसित बुद्धिके साथ बहुत कुछ वैसा ही संबंध है जैसा इस बुद्धिका अविकसित मनुष्यकी अर्द्ध-पाशविक बुद्धिसे है,—हमारा ठीक अभिप्राय क्या है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिके लिये यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें अपना भाग यथावत् पूर्ण कर सकनेके पूर्व उसके जिस शोधनकी आवश्यकता है उसका स्वरूप क्या है। अशुद्धतामात्रका अर्थ है क्रियाकी गड़बड़ी, वस्तुओंके धर्मसे अर्थात् उनके युक्त एवं स्वभावतः उचित व्यापारसे विच्युति, ऐसी वस्तुओंके जो अपने उस उचित व्यापारमें विशुद्ध तथा हमारी पूर्णतामें सहायक होती हैं। इस प्रकारकी विच्युति प्रायः धर्मोंके उस अज्ञानयुक्त संकर (confusion)का परिणाम होती है जिसमें कोई कार्यकारी शक्ति अपनी विशिष्टतया निजी प्रवृत्तियोंसे भिन्न अन्य प्रवृत्तियोंकी माँगका अनुसरण करने लगती है।

बुद्धिकी अशुद्धताका प्रथम कारण विचारकी क्रियाओंमें कामनाका मिश्रण है, और स्वयं कामना भी हमारी सत्ताके प्राणिक एवं भाविक अंगोंमें अंतर्निहित इच्छा-शक्तिकी एक अशुद्धि है। जब प्राण और हृदयकी कामनाएँ शुद्ध ज्ञानेच्छामें हस्तक्षेप करती हैं, तब विचार-क्रिया उनके अधीन हो जाती है, अपने विशिष्ट लक्ष्योंसे भिन्न लक्ष्योंका अनुसरण करती है और इसके बोध प्रतिहत और अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। बुद्धिको कामना और हृद्भावके घेरेसे ऊपर उठना होगा और इनके आक्रमणसे पूर्णतया मुक्त होनेके लिये इसे स्वयं प्राणिक भागों एवं भावावेगोंको भी शुद्ध कर लेना होगा। उपभोगकी इच्छा प्राणिक सत्ताका निज धर्म है, पर उपभोगका चुनाव या पीछा करना इसका काम नहीं है, उसका निर्धारण तथा उपार्जन तो उच्चतर कार्य-शक्तियोंको ही करना होगा; अतएव, प्राणसत्ताको यह सिखाना होगा कि भागवत संकल्पकी क्रियाके अनुसार प्राणके यथावत् कार्य करनेमें जो कुछ भी लाभ या उपभोग इसे प्राप्त हो उसीको यह ग्रहण करे और लालसा एवं आसक्तिसे अपने-आपको मुक्त कर ले। ऐसे ही, हृदयको प्राण-तत्त्व एवं इंद्रियोंकी कामनाओंके प्रति अधीनतासे मुक्त करना होगा और इस प्रकार उसे काम, क्रोध, भय, घृणा आदिके मिथ्या भावोंसे

जो हृदयकी मुख्य अशुद्धियाँ हैं, मुक्त होना होगा। प्रेम करनेकी इच्छा हृदयका निज स्वभाव है, परंतु यहाँ भी प्रेमका चुनाव और अनुसरण त्यागना होगा अथवा इन्हें शांत करना होगा और निश्चय ही हृदयको गहराई एवं तीव्रताके साथ प्रेम करना सिखाना होगा, पर ऐसी गहराईके साथ जो शांत हो तथा ऐसी तीव्रताके साथ जो क्षुब्ध और विश्रृंखलित नहीं, बल्कि सुस्थिर एवं समान हो। बुद्धिको भ्रांति, अज्ञान और विपर्ययसे मुक्त करनेके लिये इन अंगोंको शांत करना तथा इनपर प्रभुत्व स्थापित करना* सबसे पहली शर्त है।

इस शोधनमें स्नायविक सत्ता और हृदयकी पूर्ण समताकी प्राप्ति भी समाविष्ट है; अतएव, जिस प्रकार समता कर्ममार्गका आदिमंत्र थी उसी प्रकार यह ज्ञानमार्गका भी आदिमंत्र है।

बुद्धिकी अशुद्धताका दूसरा कारण इंद्रियजन्य भ्रांति और विचारकी क्रियाओंमें इंद्रिय-मानसका मिश्रण है। जो कोई भी ज्ञान अपने-आपको इंद्रियके अधीन रखता है अथवा उन्हें ऐसे प्रथम दिग्दर्शकोंके रूपमें प्रयुक्त न करके जिनकी तथ्य-सामग्रीका निरंतर संशोधन एवं अतिक्रमण करना होता है, किसी अन्य रूपमें प्रयुक्त करता है वह सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। विज्ञान (Science) का आरंभ तभी होता है जब हम विश्वशक्तिके प्रतीयमान व्यापारोंके, जैसा कि हमारी इंद्रियाँ हमें इनका स्वरूप दिखाती हैं, आधारभूत सत्योंकी परीक्षा करने लगते हैं; दर्शन-शास्त्रका आरंभ तभी होता है जब हम वस्तुओंके मूलतत्त्वोंकी, जिन्हें हमारी इंद्रियाँ अशुद्ध रूपमें हमारे सामने उपस्थित करती हैं, परीक्षा करने लगते हैं; आध्यात्मिक ज्ञानका आरंभ तभी होता है जब हम इंद्रियाश्रित जीवनकी सीमाओंको अंगीकार करने अथवा दृश्य एवं इंद्रियग्राह्य पदार्थोंको सद्वस्तुके नाम-रूपसे अधिक कुछ माननेसे इन्कार करने लगते हैं।

इसी प्रकार इंद्रिय-मानसको भी शांत करना होगा और उसे यह सिखाना होगा कि वह विचार करनेका कार्य उस मनपर छोड़ दे जो निर्णय करता और बोध प्राप्त करता है। जब हमारी बुद्धि इंद्रिय-मानसके कार्यसे पीछे हटकर स्थित हो जाती है और इसके मिश्रणका निराकरण करती है, तो इंद्रिय-मानस अपनेको बुद्धिसे पृथक् कर लेता है और इसकी पृथक् क्रियाका निरीक्षण किया जा सकता है। तब इसका यह स्वरूप प्रकट हो जाता है कि यह उन अभ्यस्त प्रत्ययों, संस्कारों, बोधों एवं कामनाओंकी

---

*शम और दम।

निरंतर चक्राकार घूमनेवाली निम्न धारा है जिनमें कोई वास्तविक क्रम, पौर्वापर्य या प्रकाशका नियम नहीं है। यह निरंतर पुनः-पुनः ज्ञानहीन और निरर्थक रूपमें चक्कर काटता रहता है। साधारणतया मानव-बुद्धि उस निम्नधाराको अपना लेती है और इसे आंशिक क्रम एवं पौर्वापर्यमें बाँधनेका यत्न करती है; किंतु ऐसा करनेसे वह स्वयं इसके अधीन हो जाती है और उस अव्यवस्था, चंचलता, अभ्यासके प्रति मूढ़ दासता और अंध निष्प्रयोजन पुनरावृत्तिमें भागीदार बनती है जो साधारण मानवीय तर्कबुद्धिको एक मूक, सीमित और यहाँतक कि तुच्छ एवं निरर्थक यंत्र बना डालती है। इस अस्थिर, चंचल, उग्र और विघ्नकारी तत्त्वसे हमें किसी प्रकारका भी संबंध नहीं रखना है; हाँ, इसे पृथक् करके और फिर निस्तब्ध करके अथवा विचारमें ऐसी एकाग्रता एवं अनन्यता लाकर जिसके द्वारा वह इस विजातीय एवं विमूढ़कारी तत्त्वका स्वयमेव त्याग कर दे, इससे हमें मुक्त भर होना है।

अशुद्धताका तीसरा कारण स्वयं बुद्धिसे ही उद्भूत होता है और वह है ज्ञानेच्छाकी अनुपयुक्त क्रिया। ज्ञानेच्छा बुद्धिका निज स्वभाव है, परंतु यहाँ भी चुनाव और ज्ञानका समतारहित अनुसंधान इसे अवरुद्ध तथा विकृत कर देते हैं। ये पक्षपात एवं आसक्ति पैदा करते हैं जिसके कारण बुद्धि कम या अधिक आग्रहपूर्ण इच्छाके साथ कुछ विचारों और सम्मतियोंसे चिपट जाती है और अन्य विचारों एवं सम्मतियोंके सत्यकी उपेक्षा कर देती है। किसी सत्यके कुछ खण्डोंके साथ चिपक जाती है और अन्य खंडोंको, जो उसकी पूर्णताके लिये आवश्यक होते हैं, अंगीकार करनेसे सकुचाती है, वह ज्ञानके कुछ पूर्वाग्रहोंसे चिपक जाती है और जो भी ज्ञान विचारकके अतीतद्वारा उपार्जित की हुई वैयक्तिक विचार-प्रकृतिसे मेल नहीं खाता उसे अस्वीकार कर देती है। इस अशुद्धताको दूर करनेका उपाय है मनकी पूर्ण समता प्राप्त करना, पूर्ण बौद्धिक शुद्धताका विकास करना और मनको पूर्ण रूपसे निष्पक्ष बनाना। शुद्ध बुद्धि जैसे किसी कामना या लालसाका साथ नहीं देगी वैसे ही यह किसी विशेष विचार या सत्यके लिये किसी पूर्वराग किंवा विरागको भी प्रश्रय नहीं देगी, और जिन विचारोंके संबंधमें यह अत्यंत निश्चयवान् है उनमें भी आसक्त होनेसे इन्कार कर देगी, न यह उनपर ऐसा अनुचित बल देगी जो सत्यका संतुलन बिगाड़ दे और पूर्ण एवं सर्वांगीण ज्ञानके अन्य तत्त्वोंके मूल्य कम कर दे।

इस प्रकार शुद्ध की हुई बुद्धि बौद्धिक विचारका एक पूर्णतः नमनीय, सच्चा और निर्दोष यंत्र होगी और बाधा तथा विकृतिके निम्नतर स्रोतोंसे

मुक्त होनेके कारण आत्मा और जगत्के सत्योंका इतना पूर्ण और यथार्थ अनुभव प्राप्त करनेमें समर्थ होगी जितना कि बुद्धिके द्वारा प्राप्त हो सकता है। परंतु वास्तविक ज्ञानके लिये किसी और वस्तुकी भी आवश्यकता है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान, हमारी की हुई इसकी परिभाषाके ही कारण, अतिबौद्धिक है। बुद्धिको वास्तविक ज्ञानकी प्राप्तिमें हस्तक्षेप न करने देनेके लिये हमें उस "और वस्तु"तक पहुँचना होगा और एक ऐसी शक्तिका विकास करना होगा जो सक्रिय बौद्धिक विचारकके लिये अतीव दुर्लभ है और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके लिये अरुचिकर भी है, अर्थात् बौद्धिक निष्क्रियताकी शक्ति। इससे दो प्रकारका उद्देश्य सिद्ध होता है और अतएव, दो विभिन्न प्रकारकी निष्क्रियताओंको प्राप्त करना होगा।

सर्वप्रथम, हम देख ही चुके हैं कि बौद्धिक विचार अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है और न ही वह सर्वोच्च चिंतन है; सर्वोच्च चिंतन तो वह है जो संबोधि-मानसके द्वारा तथा अतिमानसिक शक्तिसे प्राप्त होता है। जबतक हम बौद्धिक अभ्यास और निम्नतर व्यापारोंके द्वारा शासित होते हैं, संबोधि-मानस हमें केवल अचेतन रूपसे अपने संदेश ही भेज सकता है जो सचेतन मनतक पहुँचनेसे पूर्व कम या अधिक पूर्ण रूपसे विकृत हो जाते हैं; अथवा यदि यह सचेतन रूपसे कार्य करता भी है तो इसके कार्यमें पर्याप्त सूक्ष्मता नहीं होती और त्रुटि भी बहुत अधिक रहती है। अपने अंदर इस उच्चतर ज्ञान-शक्तिको सुदृढ़ करनेके लिये हमें अपने विचारके वोधिमय और वौद्धिक तत्त्वोंको उसी प्रकार पृथक्-पृथक् करना होगा जिस प्रकार हम बुद्धि और इन्द्रियमानसको कर चुके हैं; और यह कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि केवल इतना ही नहीं कि हमारे बोधि-ज्ञान बौद्धिक व्यापारमें लिपटकर हमारे पास आते हैं, अपितु बहुतसे ऐसे मानसिक व्यापार भी हैं जो इस उच्चतर शक्तिका स्वांग भरते और इसके रूपोंका अनुकरण करते हैं। इसका उपाय यह है कि सवसे पहले वुद्धिको सिखाया जाय कि वह सत्य संवोधिको पहचाने, असत्य संवोधिसे इसका भेद करे और फिर उसके अंदर यह अभ्यास डाला जाय कि जव वह बोध या वौद्धिक निष्कर्षपर पहुँचे तो उसे कोई चरम महत्त्वकी वस्तु न मान ले, वल्कि ऊर्ध्वकी ओर देखे, सब वोधों या निष्कर्षोंको निर्णयार्थ दिव्य तत्त्वके सामने उपस्थित करे और ऊर्ध्वके प्रकाशके लिये यथाशक्य पूर्ण नीरवतामें प्रतीक्षा करे। इस प्रकार अपने वौद्धिक चिंतनके एक बड़े भागको ज्योतिर्मय सत्य-चेतन दृष्टिमें रूपांतरित किया जा सकता है,—आदर्श अवस्था तो पूर्ण संक्रमणकी ही होगी—अथवा कम-से-कम, बुद्धिके पीछे कार्य करनेवाले आदर्श ज्ञानकी

वहुलता, शुद्धता और सचेतन शक्तिको तो अत्यधिक वढ़ाया ही जा सकता है। बुद्धिको आदर्श शक्तिके अधीन एवं उसके प्रति निष्क्रिय होना सीखना होगा।

परंतु आत्म-ज्ञानके लिये यह आवश्यक है कि हम पूर्ण बौद्धिक निष्क्रियताकी शक्ति अधिगत करें, अर्थात् समस्त विचारको बहिष्कृत करने तथा विलकुल ही चिंतन न करनेकी वह मानसिक शक्ति प्राप्त करें जिसका गीताने एक प्रकरणमें आदेश दिया है। पाश्चात्य मनके लिये, जिसकी दृष्टिमें चिंतन सर्वोच्च वस्तु है और जो मनकी विचार न करनेकी शक्ति एवं इसकी पूर्ण नीरवताको चिंतन करनेकी अक्षमता समझनेकी भूल कर सकता है, यह एक दुर्बोध उक्ति है। परंतु नीरवताकी यह शक्ति एक क्षमता है, अक्षमता नहीं, एक शक्ति है, निर्वलता नहीं। यह एक गभीर और फलपूर्ण नीरवता है। जव मन इस प्रकार स्वच्छ, शांत, निस्तरंग सागरके समान पूर्ण रूपसे निश्चल हो जाता है, जव वह समस्त सत्ताकी पूर्ण शुद्धि और शांतिमें अवस्थित हो जाता है और जव अंतरात्मा विचारको अतिक्रान्त कर जाती है केवल तभी वह आत्मा जो सभी क्रियाओं और संभूतियोंसे परे है और उन सवका उद्गम भी है, वह नीरवता जिससे सव शव्द उत्पन्न होते हैं, वह निरपेक्ष जिसके कि सव सापेक्ष वस्तुएँ आंशिक प्रतिविम्व हैं, हमारी सत्ताके शुद्ध सारतत्त्वमें अपनेको अभिव्यक्त कर सकता है। पूर्ण नीरवतामें ही 'नीरव'की वाणी सुनायी देती है, विशुद्ध शांतिमें ही उसकी सत्ता प्रकाशित होती है। अतएव, हमारे लिये 'उस'का नाम है 'नीरवता' और 'शांति'।

चौथा अध्याय

एकाग्रता

शुद्धताके साथ-साथ और इसे लानेवाले एक सहायक साधनके रूपमें एकाग्रताका भी होना आवश्यक है। वास्तवमें, शुद्धता और एकाग्रता सत्ताकी एक ही अवस्थाके दो पक्ष हैं, एक स्त्री-प्रकृति और दूसरा पुरुष-प्रकृति, एक निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय; शुद्धता वह अवस्था है जिसमें एकाग्रता पूर्ण रूपसे साधित हो जाती है और ठीक प्रकारसे फलप्रद एवं सर्वसमर्थ वन जाती है; एकाग्रताके बलपर ही शुद्धता अपने कार्य करती है और उसके बिना यह शांतिपूर्ण निश्चलता और नित्य विश्रांतिकी अवस्थाकी ओर ही ले जायगी। इनके विरोधी गुण भी एक-दूसरेसे निकटतया संबद्ध हैं; क्योंकि हम देख ही चुके हैं कि अशुद्धताका अर्थ है धर्मोंका संकर, सत्ताके विभिन्न भागोंकी शिथिल, मिश्रित और परस्पर-संश्लिष्ट क्रिया; और यह संकर इस कारण उत्पन्न होता है कि देहधारी आत्मामें सत्ता अपनी शक्तियोंपर अपने ज्ञानको ठीक प्रकारसे केंद्रित नहीं करती। हमारी प्रकृतिका दोष यह है कि पहले तो वह वस्तुओंके स्पर्शों*के प्रति, जैसे कि वे बिना किसी व्यवस्था या नियंत्रणके, अस्त-व्यस्त रूपसे मनमें प्रवेश करते हैं, जड़वत् अधीन हो जाती है और फिर उनपर आकस्मिक तथा अपूर्ण रूपमें अपने-आपको एकाग्र करती है, वह एकाग्रता उत्तेजित एवं अनियमित रूपमें की जाती है तथा उसमें कभी एक तो कभी दूसरे विषयपर कम या अधिक वल दे दिया जाता है, उस हदतक जहाँतक कि वे विषय उच्चतर आत्मा या निर्णायक एवं विवेचक बुद्धिको नहीं, वल्कि चंचल, उछल-कूद मचानेवाले, अस्थिर, जल्दीसे थक जाने एवं सहज ही विक्षिप्त हो जानेवाले निम्नतर मनको, जो हमारी उन्नतिका मुख्य शत्रु है, आकर्षित कर लेते हैं। ऐसी स्थितिमें शुद्धता, कार्यकारी अंगोंकी यथायथ क्रिया तथा सत्ताकी विशद, अकलुष और प्रकाशपूर्ण व्यवस्था संभव नहीं; विविध क्रियाएँ, परिस्थिति और वाह्य प्रभावोंके संयोगोंके ऊपर छोड़ दी जानेपर, निश्चय ही एक-दूसरीके साथ उलझ जायँगी तथा एक-दूसरीको वाधा पहुँचायेंगी,

---

*वाह्यस्पर्श।

विचलित, पथभ्रष्ट और विकृत करेंगी। इसी प्रकार, शुद्धताके विना यथार्थ विचार, यथार्थ संकल्प और यथार्थ वेदनमें सत्ताकी पूर्ण, सम एवं नमनशील एकाग्रता या आध्यात्मिक अनुभूतिकी सुरक्षित अवस्था प्राप्त करना संभव नहीं। अतएव, इन दोनोंको एक-दूसरीकी विजयमें सहायता पहुँचाते हुए एक साथ आगे वढ़ना होगा जवतक कि हम उस सनातन स्थिरतातक न पहुँच जायँ जहाँसे सनातन, सर्वसमर्थ और सर्वज्ञानमयी क्रियाशीलताकी कोई आंशिक प्रतिमूर्ति मनुष्यमें उद्‌भूत हो सके।

परंतु भारतवर्षमें ज्ञानमार्गका जिस रूपमें अनुसरण किया जाता है उसमें एकाग्रताका प्रयोग एक विशेष और संकीर्णतर अर्थमें ही किया जाता है। इसका अभिप्राय होता है विचारको मनकी सभी विक्षेपकारी क्रियाओंसे हटाना तथा एकमेवकी परिकल्पनापर एकाग्र करना जिसके द्वारा जीव दृश्यप्रपंचसे वाहर निकलकर एकमेव सद्वस्तुकी ओर उठता है। विचारके द्वारा ही हम अपने-आपको दृश्य-प्रपंचमें विकीर्ण करते हैं; विचारको पुनः उसके अंदर समेट करके ही हमें वास्तविक सत्तामें वापस लौटना होगा। एकाग्रतामें तीन ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा यह लक्ष्य सिद्ध किया जा सकता है। किसी भी वस्तुपर अपने-आपको एकाग्र करके हम उस वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उसे अपने गुप्त रहस्योंका उद्‌घाटन करनेके लिये विवश कर सकते हैं; इस शक्तिका प्रयोग हमें वस्तुओंको नहीं, वल्कि एकमात्र निरपेक्ष सद्वस्तुको जाननेके लिये करना होगा। और फिर, एकाग्रताके द्वारा संपूर्ण संकल्पशक्तिको उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये एकत्र जुटाया जा सकता है जो अभीतक हमारे अधिकारमें नहीं आयी है, अभीतक हमारी पहुँचसे परे है; यदि यह शक्ति पर्याप्त सधी हुई हो, पर्याप्त एकनिष्ठ एवं पर्याप्त सत्यतापूर्ण हो, अपने वारेमें निश्चयवान्, केवल अपने ही प्रति दृढ़निष्ठ तथा पूर्ण श्रद्धामय हो तो इसे हम चाहे किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयोगमें ला सकते हैं; परंतु इसका प्रयोग हमें उन अनेक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये नहीं करना चाहिये जिन्हें संसार हमारे सामने प्रस्तुत करता है, वल्कि आध्यात्मिक रूपमें उस एक वस्तुको अधिकृत करनेके लिये करना चाहिये जो खोजने योग्य है और साथ ही जो एकमात्र जानने योग्य विषय है। अपनी संपूर्ण सत्ताको उसकी किसी एक ही अवस्थापर एकाग्र करके हम जो कुछ वनना चाहें वन सकते हैं; उदाहरणार्थ, भले हम पहले दुर्वलताओं और भयोंका पुंज रहे हों, पर अव हम उसके स्थानपर वल और साहसका पुंज वन सकते हैं, अथवा हम पूर्ण रूपसे एक महान् शुद्धता, पवित्रता एवं शांतिकी मूर्ति या फिर एक ही विराट् प्रेममय आत्मा वन

सकते हैं; परंतु यह कहा जाता है कि इस शक्तिका प्रयोग हमें ये चीजें वननेके लिये भी नहीं करना चाहिये, भले ये, जो कुछ हम आज हैं उसकी तुलनामें ऊँची ही क्यों न हों, वल्कि हमें इसका प्रयोग वह सत्ता, शुद्ध और निरपेक्ष सत्ता, वननेके लिये करना चाहिये जो सव वस्तुओंसे ऊपर है तथा समस्त कार्य-व्यापार और गुणोंसे मुक्त है। अन्य सव कुछ, अन्य सव प्रकारकी एकाग्रता उच्छृंखल एवं विक्षेपशील विचार, संकल्प और सत्ताको उनके महान् और अनन्य लक्ष्यकी प्राप्तिके निमित्त तैयार करनेके लिये, उनके प्रारंभिक पगों एवं क्रमिक शिक्षणके लिये ही मूल्यवान् हो सकती है।

एकाग्रताके अन्य प्रत्येक प्रयोगकी भाँति इस प्रयोगका भी अर्थ है पहले सत्ताको शुद्ध करना; इसका अर्थ अंतमें त्याग, निवृत्ति और अंततः समाधिकी निरपेक्ष और परात्पर अवस्थामें आरोहण भी है। समाधिकी यह अवस्था यदि अपने सर्वोच्च शिखरपर पहुँच जाय, स्थायी हो जाय तो इससे शायद हजारों आत्माओंमेंसे एकाधको छोड़कर और कोई नहीं वापिस आती। क्योंकि इससे हम "सनातनकी उस सर्वोच्च अवस्थामें" पहुँच जाते हैं "जहाँसे आत्माएँ" प्रकृतिके कर्मचक्रमें "नहीं लौटतीं"*; और जिस योगीका लक्ष्य इस संसारसे छुटकारा पाना होता है वह अपना शरीर छोड़नेके समय इसी समाधिमें चले जाना चाहता है। राजयोगकी साधनामें हम यही क्रम देखते हैं। क्योंकि, सर्वप्रथम राजयोगीके लिये एक प्रकारकी नैतिक एवं आध्यात्मिक पवित्रता प्राप्त करना आवश्यक है; उसे अपने मनकी निम्नतर या अधोमुखी क्रियाओंसे छुटकारा पाना होगा, पर वादमें उसे इसकी समस्त क्रियाओंको वंद कर अपने-आपको उस एक ही विचारपर एकाग्र करना होगा जो क्रियासे स्थितिकी निश्चलताकी ओर ले जाता है। राजयोगमें एकाग्रताकी कई अवस्थाएँ होती हैं, एक वह जिसमें विषयको अधिकृत किया जाता है (ध्यान), दूसरी वह जिसमें उसे धारण किया जाता है (धारणा), तीसरी वह जिसमें मन उस अवस्थामें लीन हो जाता है जिसे वह विषय सूचित करता है या जिसकी ओर एकाग्रता ले जाती है (समाधि)। इनमेंसे अंतिम अवस्थाको ही राजयोगमें समाधि कहा जाता है यद्यपि 'समाधि' शव्द इससे अत्यधिक व्यापक अर्थका वाचक हो सकता है जैसा कि गीतामें देखनेमें आता है। परंतु राजयोगकी समाधिमें भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हैं,—एक वह जिसमें मन वाह्य विषयोंसे वेसुध होकर

---

*यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। —गीता

भी विचारके जगत्‌में सोचता-विचारता और अनुभव करता है, दूसरी वह जिसमें मन अभी विचारकी प्रारंभिक रचनाएँ करनेमें समर्थ होता है और अंतिम वह जिसमें मनकी अपने अंदर भी सब प्रकारकी उछल-कूद बन्द हो जाती है और अतएव अंतरात्मा विचारके परे अकथ्य और अनिर्वचनीय ब्रह्मकी नीरवतामें उठ जाती है। निःसंदेह, समस्त योगमार्गोंमें विचारको एकाग्र करनेके बहुतसे ऐसे विषय होते हैं जो एकाग्रताकी तैयारीमें सहायता पहुँचाते हैं, जैसे, (ध्येय वस्तुके) रूप-स्वरूप, चिंतन-मननके शाब्दिक सूत्र, (जपने योग्य) अर्थपूर्ण नाम। ये सब इस एकाग्रताकी क्रियामें मनके अवलंबन होते हैं, इन सबका प्रयोग करना होता है और फिर इनके परे चले जाना होता है; उपनिषदोंके अनुसार सर्वोच्च अवलंबन है गुह्य पद 'ओ३म्', जिसके तीन अक्षर (अ, उ, म्) ब्रह्म या परम आत्माकी तीन क्रमावस्थाओं, जागरित आत्मा, स्वाप्न आत्मा और सुषुप्तिगत आत्माको सूचित करते हैं। इन अक्षरोंका संपूर्ण शक्तिशाली नाद उस सत्ताकी ओर उठ जाता है जो क्रियाकी भाँति स्थितिसे भी परे है।* क्योंकि, सभी ज्ञानयोगोंका अंतिम लक्ष्य परात्पर ब्रह्म ही है।

परंतु हमने पूर्णयोगके लक्ष्यकी एक ऐसी वस्तुके रूपमें परिकल्पना की है जो अधिक जटिल तथा कम एकांगी है—आत्माकी सर्वोच्च अवस्थाके विषयमें वह कम एकांगी रूपसे भावात्मक है, उसके दिव्य आविर्भावोंके विषयमें वह कम एकांगी रूपसे अभावात्मक है। निश्चय ही हमें अपना लक्ष्य परमोच्च ब्रह्म, सबके आदिमूल एवं परात्परको बनाना होगा, पर परात्पर जिसे अतिक्रम कर जाता है उसे भी त्यागना नहीं होगा, बल्कि उस परात्परको यह मानते हुए लक्ष्य बनाना होगा कि वह आत्माकी उस सुस्थिर अनुभूति एवं परमोच्च अवस्थाका मूल है जो अन्य सब अवस्थाओंको रूपांतरित कर देगी तथा हमारी जगत्-विषयक चेतनाको फिरसे अपने गुप्त सत्यके रूपमें ढाल देगी। हम जगत्-विषयक समस्त चेतनाको अपनी सत्तासे बाहर नहीं निकाल देना चाहते, बल्कि विश्वमें तथा इसके परे परमेश्वर, सत्य और आत्माको प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव, हम केवल अनिर्वचनीय ब्रह्मकी ही नहीं, बल्कि उसके अनंत सत्-चित्-आनंदरूपी व्यक्त स्वरूपकी भी खोज करेंगे जो विश्वको अपने अंदर समाविष्ट किये हुए इसमें अपनी लीला कर रहा है। क्योंकि, यह त्रिविध अनंतता उसका सर्वोच्च व्यक्त रूप है और इसे जानने, इसमें भाग लेने तथा यही बन

---

*माण्डूक्य उपनिषद्।

जानेकी हम अभीप्सा करेंगे, और क्योंकि हम इस तत्तको केवल इसके स्वरूपमें ही नहीं, वल्कि इसकी वैश्व लीलामें भी अनुभव करना चाहते हैं, हम उन विश्वव्यापी दिव्य सत्य, ज्ञान, संकल्प और प्रेमको भी जानने तथा उनमें भाग लेनेकी अभीप्सा करेंगे जो उसकी गौण अभिव्यक्ति एवं दिव्य संभूति हैं। इस अभिव्यक्तिके साथ भी हम एकाकार होनेकी अभीप्सा करेंगे, इसकी ओर भी हम उठनेका यत्न करेंगे और जव प्रयत्नका काल गुजर जायगा तो, अपने समस्त अहंभावके त्यागके द्वारा हम इसे अनुमति देंगे कि यह हमारी सत्ताको अपने अंदर उठा ले जाय तथा हमारे समस्त व्यक्त रूपमें हमारे अंदर अवतरित हो और हमारा आलिंगन करे। यह सब यत्न हम केवल इसलिये नहीं करेंगे कि यह उसकी सर्वोच्च परात्परताके निकट पहुँचने तथा इसे प्राप्त करनेका एक साधन है, वरन् इसलिये भी कि, जव हम परात्परको प्राप्त कर लें तथा वह हमें अधिकृत कर ले तव भी, जगत्की अभिव्यक्तिमें दिव्य जीवनको चरितार्थ करनेके लिये यह एक अनिवार्य शर्त है।

इसलिये कि हम इस कार्यको संपन्न कर सकें, 'एकाग्रता' और 'समाधि' शब्द हमारे लिये अधिक समृद्ध एवं गभीर अर्थसे पूर्ण होने चाहियें। हमारी समस्त एकाग्रता उस दिव्य 'तप'की प्रतिमामात्र है जिसके द्वारा आत्मा अपने-आपमें ही एकाग्र रहता है, अपने अंदर अपने-आपको प्रकट करता है और अपनी अभिव्यक्तिको धारण करता तथा अपने अधिकारमें रखता है, साथ ही जिसके द्वारा वह समस्त अभिव्यक्तिसे पीछे हटकर अपने परम एकत्वमें लौट जाता है। सत् जव आनंद-प्राप्तिके लिये अपनी चेतनामें अपने-आपको अपने ऊपर एकाग्र करता है तो उसीको दिव्य 'तप' कहते हैं; और ज्ञानयुक्त संकल्प जव अपनी चेतनाकी शक्तिमें अपने-आपको अपने ऊपर तथा अपनी अभिव्यक्तियोंके ऊपर एकाग्र करता है तो उसीका नाम है दिव्य एकाग्रताका सार, योगेश्वरका योग। भगवान्के जिस रूपमें हम निवास करते हैं उसकी प्रभेदात्मकता (अनेकात्मकता) स्वयंसिद्ध ही है, तव एकाग्रता ही वह साधन है, जिसके द्वारा व्यक्तिकी अंतरात्मा परमात्माके किसी रूपके साथ, उसकी किसी अवस्था या आध्यात्मिक अभि-व्यक्ति (भाव)के साथ अपनेको एकाकार करती है तथा उसमें प्रविष्ट होती है। इस साधनको भगवान्के साथ ऐक्य-लाभके लिये प्रयुक्त करना ही दिव्य ज्ञानकी प्राप्तिकी शर्त है और यही सभी ज्ञानयोगोंका मूलसूत्र है।

यह एकाग्रता 'विचार' (Idea) के द्वारा अग्रसर होती है, किसी विशेष विचार, रूप और नामको ऐसी चावियोंके रूपमें प्रयुक्त करती है

जो समस्त विचार, रूप और नामके पीछे छुपे हुए सत्यको एकाग्रता करनेवाले मनके सम्मुख प्रकट कर देती है; क्योंकि विचारके द्वारा ही मनोमय प्राणी, मानव, समस्त अभिव्यक्तिसे परे उस तत्त्वकी ओर उठता है जो यहाँ अभिव्यक्त होता है और स्वयं विचार भी जिसका एक यंत्रमात्र है। विचारपर एकाग्रताके द्वारा ही मनोमय सत्ता, जो हमारा वर्तमान स्वरूप है, हमारे मनके घेरेको तोड़ डालती है और चेतना तथा सत्ताकी उस अवस्थापर, चिन्मय शक्ति और आनंदमय चेतनाकी उस अवस्थापर जा पहुँचती है जो उस विचारके अनुरूप होती है और वह विचार जिसका एक प्रतीक, क्रिया-व्यापार एवं लयताल होता है। इस प्रकार, विचारके द्वारा मनको एकाग्र करना हमारे लिये हमारी सत्ताके अतिचेतन स्तरोंको खोलनेका एक साधन एवं कुंजीमात्र है; आत्म-सचेतन एवं आनंदमय सत्ताके इस अतिचेतन सत्य, उसकी एकता तथा अनंततामें उठी हुई हमारी संपूर्ण सत्ताकी एक विशेष प्रकारकी आत्म-समाहित अवस्था ही एकाग्रताका लक्ष्य और परिणति है; और 'समाधि' शब्दको हम जो अर्थ देंगे वह यही है। समाधिका अर्थ केवल वह अवस्था नहीं जो वाह्य जगत्की समस्त चेतनासे यहाँतक कि अंतर्जगत्की समस्त चेतनासे भी पीछे हटकर उस तत्त्वमें लीन हो जो इन दोनोंसे परे इनके वीजके रूपमें या इनकी वीजावस्थासे भी अतीत रूपमें विद्यमान है; वल्कि समाधिका मतलव है एकमेव एवं अनंतके साथ संयुक्त एवं एकीभूत होकर उसमें सुस्थिर रूपसे प्रतिष्ठित होना, और यह अवस्था नित्य-निरंतर स्थिर रहनी चाहिये चाहे हम जाग्रत् अवस्थामें स्थित हों जिसमें हम पदार्थोंके रूपोंसे अभिज्ञ होते हैं या हम पीछे हटकर उस आंतरिक क्रियामें चले जायँ जो वस्तुओंके मूलतत्त्वोंकी, उनके नामों और प्रतिरूपात्मक आकारोंकी लीलामें मग्न रहती है, अथवा हम ऊँची उड़ान भरकर उस स्थितिशील आंतर चैतन्यकी अवस्थामें पहुँच जायँ जहाँ हम साक्षात् मूलतत्त्वोंपर एवं सभी तत्त्वोंके तत्त्वपर, नाम और रूपके वीजपर पहुँच जाते हैं।* क्योंकि जो आत्मा वास्तविक समाधिमें पहुँच गयी है और इस शब्दके गीतोक्त अर्थके अनुसार उसमें प्रतिष्ठित (समाधिस्थ) हो चुकी है, उसे वह अवस्था प्राप्त हो गयी है जो अनुभवमात्रका आधार है और वह किसी भी अनुभवके कारण जो अभीतक शिखरपर न पहुँचे हुए व्यक्तिके लिये कितना ही विक्षेपकारी क्यों न हो, उस अवस्थासे पतित नहीं हो सकती। वह किसी भी अनुभवसे आवद्ध अथवा विमूढ़ या

---

*आत्माकी जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं।

मर्यादित हुए विना सभी अनुभवोंको अपनी सत्ताके क्षेत्रमें समाविष्ट कर सकती है।

जब हम यह अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तब, हमारी संपूर्ण सत्ता और चेतनाके एकाग्र हो जानेके कारण, 'विचार'पर एकाग्रता करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वहाँ उस अतिमानसिक अवस्थामें सारी वस्तुस्थिति ही पलट जाती है। मन एक ऐसा तत्त्व है जो विकीर्ण अवस्था और काल-क्रममें निवास करता है; यह एक समयमें एक ही वस्तुपर एकाग्र हो सकता है और जब एकाग्र नहीं हुआ होता तो एक चीजसे दूसरी चीजपर बहुत कुछ अनियमित ढंगसे ही दौड़ता रहता है। अतएव, इसे एक ही विचार-पर, ध्यान, चिंतन किंवा संकल्पके किसी एक ही विषयपर एकाग्रता करनी होती है, ताकि यह उसे प्राप्त या अधिकृत कर सके, और यह इसे कम-से-कम कुछ समयके लिये अन्य सब विचारों एवं विषयोंको वाहर निकालकर ही करना पड़ता है। परंतु जो तत्त्व मनसे परे है और जिसमें हम आरोहण करना चाहते हैं वह विचारकी अति चंचल क्रियासे तथा भावोंके भेद-विभेदसे उच्चतर है। भगवान् अपने ही अंदर केंद्रित रहते हैं और जब वे विचारों और क्रिया-प्रवृत्तियोंको अपनेमेंसे प्रकट करते हैं तो वे उनमें अपने-आपको विभक्त नहीं करते, न बंदी ही वना डालते हैं, वल्कि उन्हें तथा उनकी गतिविधिको अपनी अनंततामें धारण किये रहते हैं; उनकी संपूर्ण सत्ता अविभक्त रहती हुई प्रत्येक विचार और प्रत्येक क्रियाके पीछे विद्यमान है और साथ ही वह उन सबकी समष्टिके पीछे भी विद्यमान है। उनमेंसे प्रत्येक उसके द्वारा धारण किया हुआ है तथा सहज रूपसे, किसी पृथक् संकल्प-क्रियाके द्वारा नहीं, वल्कि अपने पीछे विद्यमान सर्व-सामान्य चेतना-शक्तिके द्वारा अपने-आपको व्यक्त करता है; यदि हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येकमें ही भगवान् अपने संकल्प और ज्ञानको एकाग्र कर रहे हैं तो उनकी वह एकाग्रता अनेकविध और एकसमान होती है, एकांगी नहीं, और आत्म-समाहित एकता एवं अनंततामें स्वतंत्र और सहज-स्वाभाविक रूपसे क्रिया करना ही इस विषयका वास्तविक सत्य है। जो आत्मा दिव्य-समाधिकी अवस्थामें पहुँच गयी है वह अपनी उपलब्धिके अनुपातमें इस उलटी हुई वस्तुस्थितिमें,—इस सच्ची वस्तुस्थितिमें,—भाग लेती है, क्योंकि जो स्थिति हमारी मानसिकतासे उलटी है वही सत्य है। इसी कारण, जैसा कि प्राचीन ग्रंथोंमें कहा गया है, जिस मनुष्यको आत्माकी उपलब्धि हो गयी है वह विचार एवं प्रयत्नकी एकाग्रता करनेकी आवश्यकताके विना, सहज रूपसे ही उस ज्ञान या परिणामको उपलब्ध

कर लेता है जिसे सर्वात्मना ग्रहण करनेके लिये उसका अंतःस्थ विचार या संकल्प प्रयत्न करता है।

अतएव, इस सुस्थिर दिव्य अवस्थाको प्राप्त करना ही हमारी एकाग्रताका लक्ष्य होना चाहिये। एकाग्रताका पहला कदम सदा यह होना चाहिये कि चंचल मनमें यह अभ्यास डाला जाय कि वह एक ही विषयपर संवद्ध विचारकी एक ही शृंखलाका स्थिरतापूर्वक, अडोल भावसे अनुसरण करे और यह उसे उसके ध्यानसे विचलित करनेवाले सभी प्रलोभनों एवं प्रतिकूल पुकारोंसे विक्षिप्त हुए बिना करना होगा। ऐसी एकाग्रता हमारे साधारण जीवनमें काफी सामान्य रूपसे देखनेमें आती है, परंतु जब यह हमें मनको लगाये रखनेवाले किसी बाह्य विषय या कार्यके बिना, अपने ही अंदर करनी होती है तब यह अधिक कठिन हो जाती है; तथापि ज्ञानके अन्वेषकको जो एकाग्रता साधित करनी होगी वह ऐसी आंतरिक एकाग्रता ही है।* यह एक बौद्धिक विचारककी जिसका एकमात्र उद्देश्य विचार करना तथा अपने विचारोंको बौद्धिक रूपमें सुसंबद्ध करना होता है, क्रमवद्ध चिंतन-क्रिया ही नहीं होनी चाहिये। शायद आरंभिक अवस्थाओंको छोड़कर अन्य अवस्थाओंमें तर्क-वितर्ककी प्रक्रियाकी उतनी जरूरत नहीं है जितनी विचारके फलपूर्ण सारतत्त्वपर अपने-आपको यथासंभव एकाग्र करनेकी है। ऐसा करनेसे वह विचार अंतरात्माके संकल्पकी आग्रहपूर्ण माँगके कारण अपने सत्यके सभी पार्श्वोंको प्रकाशित कर देगा। इस प्रकार यदि भागवत प्रेम हमारी एकाग्रताका विषय हो तो मनको प्रेमस्वरूप ईश्वरके विचारके सारतत्त्वपर इस प्रकार एकाग्रता करनी चाहिये कि भागवत प्रेमकी नानाविध अभिव्यक्ति साधकके मनके सम्मुख ही नहीं, बल्कि उसके हृदय, उसकी सत्ता और अंतर्दृष्टिमें भी ज्योतिर्मय रूपमें प्रकाशित हो उठे। यह हो सकता है कि पहले विचार उत्पन्न हो और अनुभव बादमें हो, पर ठीक इसी प्रकार यह भी संभव है कि पहले अनुभव हो और ज्ञान पीछे उस अनुभवमेंसे उदित हो। बादमें उस उपलब्ध अनुभवमें मनको तल्लीन करना तथा उसे अधिकाधिक अपने अंदर धारण करना होता है जिससे वह स्थायी बनकर अंतमें हमारी सत्ताका धर्म या विधान बन जाय।

यह एकाग्रतायुक्त ध्यानकी प्रक्रिया है; परंतु इससे अधिक आयासपूर्ण विधि है—संपूर्ण मनको केवल विचारके सारतत्त्वपर ही एकाग्रतापूर्वक

---

*आंतरिक वादविवाद और निर्णय, अर्थात् 'वितर्क' और 'विचार'की आरंभिक अवस्थाओंमें मिथ्या विचारोंको ठीक करने और बौद्धिक सत्यपर पहुंचनेके लिये।

स्थिर करना जिससे हम विषयके विचारमय ज्ञान या मनोवैज्ञानिक अनुभवपर नहीं, बल्कि विचारके पीछे विद्यमान वस्तुके सत्य स्वरूपपर पहुँच जायें। इस प्रक्रियामें विचार बंद होकर अपने विषयके तन्मय या आनंदपूर्ण ध्यानमें परिणत हो जाता है या फिर उस विषयमें डूबकर आंतर समाधिकी अवस्थामें पहुँच जाता है। यदि इस प्रक्रियाका अनुसरण किया जाय तो इसके फल-स्वरूप हम जिस अवस्थामें आरोहण करेंगे उसे फिर नीचे पुकार लाना होगा, ताकि वह निम्नतर सत्तापर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले तथा हमारी साधारण चेतनाको अपने प्रकाश, शक्ति और आनंदसे परिप्लुत कर दे। क्योंकि, अन्यथा अनेक साधकोंकी भांति हम इसे एक उच्च भूमिका या आंतरिक समाधिमें तो प्राप्त कर सकते हैं, पर जब हम जागरित अवस्थामें पहुँचेंगे या नीचे उतरकर जगत्के संपर्कोंमें आयेंगे तो हम उस भूमिकापर अपना अधिकार खो बैठेंगे; और यह पंगु उपलब्धि पूर्णयोगका लक्ष्य नहीं है।

तीसरी प्रक्रिया यह है कि आरंभमें न तो किसी एक ही आंतरिक विषयपर एकाग्रतापूर्वक आयासपूर्ण ध्यान किया जाय और न विचारमय अंतर्दृष्टिके किसी एक ही विषयका आयासपूर्ण चिंतन किया जाय, बल्कि सर्वप्रथम मनको पूर्णरूपेण शांत किया जाय। यह कई विधियोंसे किया जा सकता है; एक विधि है—मानसिक क्रियासे बिलकुल अलग हटकर उसके पीछेकी ओर स्थित हो जाना, उसमें भाग न लेते हुए केवल उसका निरीक्षण करते रहना जबतक कि वह अपनी उछल-कूद और भाग-दौड़को स्वीकृति न मिलनेके कारण थककर उत्तरोत्तर अचंचल होती हुई अंतमें पूर्ण रूपसे शांत नहीं हो जाती। दूसरी विधि है—विचाररूपी सुझावोंका परित्याग करना, जब कभी वे मनमें आयें उन्हें वहांसे दूर निकाल फेंकना और अपनी सत्ताकी शांतिमें जो मनके विक्षोभ और उपद्रवके पीछे सचमुच ही सदा विद्यमान रहती है, दृढ़तापूर्वक स्थिर रहना। जब यह गुप्त शांति प्रकट होती है तब एक महत् स्थिरता हमारी सत्तामें प्रतिष्ठित हो जाती है और प्रायः ही इसके साथ सर्वव्यापी शांत ब्रह्मका बोध एवं अनुभव भी प्राप्त होता है और उस समय अन्य प्रत्येक वस्तु शुरू-शुरूमें एक बाह्य रूप एवं प्रतिच्छायामात्र प्रतीत होती है। इस स्थिरताके आधारपर वस्तुओंके बाह्य प्रपंचके नहीं, बल्कि भागवत अभिव्यक्तिके गंभीरतर सत्यके ज्ञान एवं अनुभवमें अन्य प्रत्येक वस्तुका निर्माण किया जा सकता है।

साधारणतः, जब एक बार यह अवस्था प्राप्त हो जायगी तो फिर आयासपूर्ण एकाग्रताकी आवश्यकता अनुभव नहीं होगी। इसका स्थान

संकल्प*की एक उन्मुक्त एकाग्रता ले लेगी जो विचारका प्रयोग निम्नतर अंगोंको सुझाव देने तथा आलोक प्रदान करनेके लिये ही करेगी। यह संकल्प तब भौतिक एवं प्राणिक सत्ता तथा हृदय और मनपर दबाव डालेगा कि वे अपने-आपको फिरसे भगवान्के उन रूपोंमें ढाल लें जो शांत ब्रह्ममेंसे स्वतः ही प्रकट होते हैं। अपनी पूर्व तैयारी और विशुद्धिके अनुसार अपेक्षाकृत द्रुत या मंद वेगसे वे अंग न्यूनाधिक संघर्षके वाद संकल्प और उसके सुझावके नियमका पालन करनेको बाध्य होंगे। फलस्वरूप, अंतमें भगवान्का ज्ञान हमारी चेतनाके सभी स्तरोंको अपने अधिकारमें कर लेगा और हमारी मानवीय सत्तामें भगवान्की प्रतिमूर्ति निर्मित हो जायगी जैसे कि प्राचीन वैदिक साधकोंने अपनी सत्तामें निर्मित की थी। पूर्णयोगके लिये यह सबसे सीधी और शक्तिशाली साधना है।

---

*इस विषयपर हम आत्म-सिद्धि-योगके प्रकरणमें अधिक विस्तारके साथ विचार करेंगे।

पाँचवाँ अध्याय

त्याग

यदि शुद्धता और एकाग्रताके द्वारा हमारी सत्ताके सभी अंगोंके नियमनको योगके शरीरकी दायीं भुजा कहा जाय तो त्याग उसकी बायीं भुजा है। नियमन या भावात्मक साधनाके द्वारा हम अपने अंदर वस्तुओं और सत्ताके सत्यको तथा ज्ञान, प्रेम और कर्मोंके सत्यको परिपुष्ट करते हैं और इन्हें उन असत्योंके स्थानपर प्रतिष्ठित कर देते हैं जिन्होंने हमारी प्रकृतिको आच्छादित और विकृत कर रखा है; त्यागके द्वारा हम उन असत्योंपर टूट पड़ते हैं, उन्हें जड़-मूलसे उखाड़ फेंकते हैं और अपने रास्तेसे निकाल बाहर करते हैं जिससे कि वे हमारे दिव्य जीवनके सुखद और समस्वर विकासको अपने दुराग्रह, प्रतिरोध या पुनरावर्तनसे अब और न रोक सकें। त्याग हमारी पूर्णताका अनिवार्य साधन है।

यह त्याग कहाँतक जायगा? इसका स्वरूप क्या होगा? और इसका प्रयोग किस प्रकार किया जायगा? एक प्रचलित प्रथा, जिसका समर्थन महान् धार्मिक शिक्षक और गंभीर आध्यात्मिक अनुभवसे संपन्न व्यक्ति चिरकालसे करते आये हैं, यह है कि त्याग केवल एक साधनाके रूपमें ही पूर्ण नहीं होना चाहिये, बल्कि एक साध्यके रूपमें भी सुनिश्चित और चरम होना चाहिये और साथ ही इसे स्वयं जीवन और हमारी पार्थिव सत्ताके त्यागसे जरा भी नीचा नहीं रहना चाहिये। इस विशुद्ध, उच्च और अति महान् प्रथाके विकासमें अनेक कारणोंने अपना योगदान किया है। सबसे पहला और गभीरतर कारण यह है कि हमारे मानव-विकासकी वर्तमान अवस्थामें जागतिक जीवन जैसा आज है उसके मलिन और अपूर्ण स्वरूप तथा आध्यात्मिक जीवनके स्वरूपमें आमूल विरोध है; और इस विरोधका परिणाम यह हुआ है कि जगत्-जीवनको एक मिथ्या वस्तु, आत्माका उन्माद तथा विक्षोभपूर्ण एवं दुःखदायी स्वप्न मानकर या, इसके सर्वोत्तम रूपमें, इसे एक दोषयुक्त, सत्याभासी और निरर्थक-सी वस्तु मानकर पूर्णतया त्याग दिया गया है, अथवा इसे मायामय जगत्, शारीरिक भोग और शैतानका राज्य कहकर वर्णित किया गया है और अतएव, भगवान्के द्वारा परिचालित और आकृष्ट आत्माके लिये इसे केवल अग्नि-परीक्षा एवं तैयारीका

स्थान माना गया है, अथवा, सर्वोत्तम दृष्टिसे देखनेपर भी, इसे 'सर्व'-सत्तास्वरूप प्रभुकी एक ऐसी लीला एवं परस्पर-विरोधी उद्देश्योंकी एक ऐसी क्रीड़ा माना गया है जिसे वे उससे ऊबकर छोड़ देते हैं। इस प्रथाका दूसरा कारण है—वैयक्तिक मोक्षके लिये तथा उस अमिश्रित आनंद और शांतिके किसी दूरतर या दूरतम शिखरपर भाग जानेके लिये आत्माकी लालसा जो श्रम और संघर्षसे विक्षुब्ध न हों; या फिर इसका कारण है—भगवान्के आलिंगनके परमानंदसे कर्म और सेवाके निम्नतर क्षेत्रमें लौटनेकी उसकी अनिच्छा। परंतु कुछ अन्य अपेक्षाकृत हलके कारण भी हैं जो आध्यात्मिक अनुभवके साथ प्रासंगिक रूपसे संबद्ध हैं, जैसे, आध्यात्मिक शांति तथा अध्यात्म-साक्षात्कारमय जीवनके साथ कर्ममय जीवनका मेल साधनेकी भारी कठिनाईका प्रवल भान एवं क्रियात्मक प्रमाण—इस कठिनाईको हम स्वेच्छापूर्वक बढ़ा-चढ़ाकर एक असाध्य कठिनाईका रूप दे देते हैं; या फिर इसका कारण होता है वह आनंद जिसे मन त्यागकी क्रिया एवं अवस्थामात्रमें अनुभव करने लगता है,—जैसे कि वह ऐसी किसी भी चीजमें जिसे वह प्राप्त कर लेता है या जिसका अभ्यस्त हो जाता है, सचमुच ही आनंद लेने लगता है,—और इसी प्रकार जगत्के प्रति तथा मनुष्यके काम्य पदार्थोंके प्रति उदासीनतासे शांति और मुक्तिकी जो अनुभूति प्राप्त होती है वह भी इसका कारण वनती है। सवसे निम्न कारण हैं—वह दुर्वलता जो संघर्षसे कतराती है, अंतरात्माकी वह विरक्ति एवं निराशा जो महान् जागतिक श्रमसे पराजित होनेपर उसके अंदर उत्पन्न होती है, वह स्वार्थपरता जो इस वातकी चिन्ता नहीं करती कि हमारे पीछे वच रहे लोगोंका क्या वनेगा जवतक कि हम स्वयं मृत्यु और पुनर्जन्मके सदा घूमते रहनेवाले राक्षसी चक्रसे मुक्त हो सकते हैं, श्रमरत मानवताके अंदरसे उठनेवाले आर्तनादके प्रति उदासीनता।

पूर्णयोगके साधकके लिये इनमेंसे कोई भी कारण (त्यागका औचित्य सिद्ध करनेके लिये) युक्तियुक्त नहीं है। दुर्वलता और स्वार्थपरतासे उसका कोई संवंध नहीं हो सकता, भले वे अपने वेष या अपनी प्रवृत्तिमें कितनी ही आध्यात्मिक क्यों न हों, वह जो कुछ वनना चाहता है उसका असली उपादान ही हैं—दिव्य वल और साहस, दिव्य करुणा और साहाय्य-कारिता, ये गुण भगवान्की वह निज प्रकृति हैं जिसे वह आध्यात्मिक प्रकाश और सौंदर्यके वाह्य वेषके रूपमें धारण करना चाहता है। यह जो विराट् चक्र निरन्तर घूम रहा है इसके चक्करोंसे उसे भय नहीं लगता और न इनसे उसके सिरमें चक्कर ही आते हैं; अपनी आत्मामें वह इस चक्रसे

ऊपर उठ जाता है और वहाँसे इसके चक्करोंके दैवी विधान और दैवी प्रयोजनको जान लेता है। दिव्य जीवन और मानव-जीवनमें मेल साधने, भगवान्में रहने और फिर भी मानव-सत्तामें जीवन यापन करनेकी कठिनाई ही वह कठिनाई है जो यहाँ समाधान करनेके लिये उसके सामने उपस्थित की जाती है और उसे इससे भागना नहीं होगा। वह जान गया है कि आनंद, शांति और मोक्ष तबतक एक अपूर्ण विजय एवं एक अवास्तविक प्राप्ति ही रहते हैं जबतक कि वे एक ऐसी अवस्थाका निर्माण नहीं करते जो अपने-आपमें सुरक्षित हो तथा उसकी आत्माका एक अविच्छेद्य अंग हो, जो एकान्तवास और निष्क्रियतापर आश्रित न हो, बल्कि तूफान, प्रतिस्पर्धा और युद्धमें भी सुस्थिर रहे और जो सांसारिक हर्ष या शोक किसीसे भी कलुषित न हो। भगवान्के आलिंगनका दिव्यानंद उसे छोड़ नहीं देगा, क्योंकि वह मानवजातिमें रहनेवाले भगवान्के प्रति दिव्य प्रेमसे प्रेरित होकर कार्य करता है; अथवा यदि यह कुछ समयके लिये उससे हटता प्रतीत होता है तो भी अनुभवद्वारा वह जानता ही होता है कि यह अभी उसकी और अधिक परीक्षा लेने एवं उसे और कसौटीपर कसनेके लिये है ताकि इससे मिलनेके उसके अपने ढंगमें जो कोई अपूर्णता रह गयी है वह उससे झड़कर दूर हो जाय। अपनी निजी मुक्तिकी उसे कोई कामना नहीं होती और यदि होती भी है तो केवल इसलिये कि मानवकी परिपूर्णताके लिये इसकी आवश्यकता है और इसलिये भी कि जो स्वयं बंधनमें है वह दूसरोंको सहजमें मुक्त नहीं कर सकता,—यद्यपि भगवान्के लिये कुछ भी असंभव नहीं; जिस प्रकार वैयक्तिक सुखोंवाले स्वर्गकी उसे कोई लालसा नहीं उसी प्रकार व्यक्तिगत दुःखोंवाले नरकसे उसे कोई भय भी नहीं लगता। यदि आध्यात्मिक जीवन और सांसारिक जीवनमें विरोध है तो यही वह खाई है जिसपर सेतु बाँधनेके लिये वह यहाँ आया है, यही वह विरोध है जिसे सामंजस्यमें बदलनेके लिये उसका यहाँ जन्म हुआ है। यदि आज संसारपर देहपरायणता और आसुरिकताका शासन है तो यह इस बातका और भी प्रबल कारण है कि अमरताके पुत्र (अमृतस्य पुत्राः) इसे ईश्वर और आत्माके निमित्त जीतनेके लिये यहाँ उपस्थित रहें। यदि जीवन एक प्रकारका उन्माद है तब तो करोड़ों आत्माएँ ऐसी हैं जिन्हें दैवी बुद्धिका प्रकाश प्रदान करना होगा; यदि यह एक स्वप्न है तो भी यह कितने ही स्वप्न लेनेवालोंके लिये अपने-आपमें वास्तविक है जिन्हें प्रेरित करना होगा कि वे या तो अधिक श्रेष्ठ स्वप्न लें या फिर जाग उठें; अथवा यदि यह एक मिथ्या-माया है तो भ्रममें पड़े लोगोंको सत्यकी प्राप्ति

करानी होगी। यदि यह कहा जाय कि जगत्से दूर भागनेके उज्ज्वल दृष्टांतसे ही हम जगत्की सहायता कर सकते हैं तो हम इस सिद्धांतको भी स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि महान् अवतारोंका उलटा दृष्टांत इस बातको सिद्ध करनेके लिये विद्यमान है कि जगत्की सहायता हम केवल इसके वर्तमान जीवनके त्यागसे ही नहीं कर सकते, बल्कि इसे स्वीकार तथा उन्नत करके भी कर सकते हैं तथा अधिक मात्रामें कर सकते हैं। और यदि यह विराट् सत्स्वरूप प्रभुकी लीला है तो हम इसमें सुन्दर ढंगसे तथा साहसके साथ अपना भाग लेनेके लिये सहज ही सहमत हो सकते हैं, इस खेलमें अपने दिव्य लीला-सहचरके साथ सम्यक्तया आनंद ले सकते हैं।

परंतु, सबसे बढ़कर, संसारके विषयमें जो दृष्टिकोण हमने अपनाया है वह हमें विश्व-जीवनका त्याग करनेसे मना करता है जबतक कि हम इसके उद्देश्योंके कार्यान्वित करनेमें ईश्वर और मनुष्यकी कुछ भी सहायता कर सकते हैं। हम इस जगत्को शैतानका आविष्कार या आत्माकी भ्रांति नहीं, बल्कि भगवान्की अभिव्यक्ति समझते हैं, यद्यपि अभीतक यह अभिव्यक्ति आंशिक ही है, क्योंकि यह एक क्रमिक और विकसनशील वस्तु है। अतएव, हमारे लिये जीवनका त्याग जीवनका लक्ष्य नहीं हो सकता और न ही जगत्का त्याग जगत्की रचनाका उद्देश्य हो सकता है। हम भगवान्के साथ अपने एकत्वका साक्षात्कार करना चाहते हैं, परंतु हमारे लिये उस साक्षात्कारके अंदर मनुष्यके साथ अपनी एकताका पूर्ण और चरम-परम अनुभव भी आ जाता है और हम इन दोनोंको एक-दूसरेसे अलग नहीं कर सकते। ईसाइयोंके शब्दोंमें कहें तो, ईश्वरका पुत्र ईसा 'मानव'का पुत्र भी है और पूर्ण ईसा-पन प्राप्त करनेके लिये ईश्वरत्व और मानवत्व ये दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं; अथवा भारतीय विचारशैलीके अनुसार कहें तो दिव्य नारायण, यह विश्व जिसकी केवल एक ही किरण है, नरमें प्रकट होता है तथा अपनी पूर्ण चरितार्थता लाभ करता है; पूर्ण नर है नर-नारायण और उस पूर्णतामें वह सत्ताके परम रहस्यका प्रतीक है।

अतएव, निश्चय ही, त्याग हमारे लिये साध्य नहीं, वरन् एक साधन-मात्र है; न ही यह हमारा एकमात्र या मुख्य साधन हो सकता है, क्योंकि हमारा लक्ष्य है मानव-सत्तामें भगवान्को चरितार्थ करना, यह एक भावात्मक लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति निषेधात्मक साधनोंसे नहीं हो सकती। निषेधात्मक साधनका प्रयोजन तो उस वस्तुको दूर करना मात्र हो सकता

है जो भावात्मक चरितार्थताके मार्गमें बाधा डालती है। इस साधनका मतलब होना चाहिये उन सब वस्तुओंका त्याग, पूर्ण त्याग, जो दिव्य आत्म-परिपूर्णतासे भिन्न तथा उसके विरुद्ध हैं और साथ ही इसका मतलब होना चाहिये उस सबका उत्तरोत्तर त्याग जो एक हीनतर या फिर केवल आंशिक उपलब्धि है। अपने सांसारिक जीवनके प्रति हममें किसी प्रकारकी आसक्ति नहीं होनी चाहिये; यदि आसक्ति हो तो हमें उसका त्याग करना होगा और पूर्ण रूपसे करना होगा; पर हमें जगत्से पलायनके प्रति, मोक्ष एवं महान् आत्म-विलोपके प्रति भी किसी प्रकारकी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये; यदि इनके प्रति आसक्ति हो तो उसका भी हमें त्याग करना होगा और निःशेष रूपसे करना होगा।

और फिर हमारा त्याग, स्पष्ट ही, एक आंतरिक त्याग होना चाहिये; विशेषतया और सबसे बढ़कर, वह इन तीन चीजोंका त्याग होना चाहिये— इंद्रियों और हृदयमेंसे आसक्ति तथा कामना-लालसाका, विचार और कर्ममेंसे अहंतापूर्ण स्वेच्छाका और चेतनाके केंद्रमेंसे अहंभावका। क्योंकि यही चीजें वे तीन गाँठें हैं जिनसे हम अपनी निम्नतर प्रकृतिके साथ बँधे हुए हैं और यदि हम इनका पूर्ण रूपसे त्याग कर सकें तो और कोई ऐसी चीज नहीं जो हमें बाँध सके। इसलिये आसक्ति और कामनाको पूर्ण रूपसे निकाल फेंकना होगा; इस संसारमें ऐसा कुछ भी नहीं जिसके प्रति हमें आसक्त होना चाहिये, न धन-दौलत, न गरीबी, न हर्ष न शोक, न जीवन न मरण, न महानता न क्षुद्रता, न पाप न पुण्य, न मित्र, न स्त्री, न संतान, न स्वदेश, न अपना कार्य और ध्येय, न स्वर्ग, न भूतल और न वह सब जो इनके अंदर या इनसे परे है।

इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ ऐसी कोई भी चीज नहीं है जिससे हमें प्रेम करना चाहिये, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें हमें आनंद लेना चाहिये; क्योंकि आसक्तिका मतलब है प्रेममें रहनेवाला अहंकार न कि स्वयं प्रेम, कामनाका अर्थ है सुख और संतोषकी भूखमें निहित सीमितता और सुरक्षितता, न कि वस्तुओंमें विद्यमान दिव्य आनंदकी खोज। पर सार्वभौम प्रेम तो हममें अवश्य होना चाहिये, ऐसा प्रेम जो शांत एवं स्थिर हो और फिर भी उत्कट-से-उत्कट अनुरागके क्षणिक आवेशके परे नित्य रूपसे प्रगाढ़ रहनेवाला हो; इस विश्वकी वस्तुओंमें आनंद हमें अवश्य लेना चाहिये, पर ऐसा आनंद जो भगवान्में मिलनेवाले आनंदपर आधारित होता है और जो वस्तुओंके बाह्य रूपोंके साथ नहीं चिपटता, बल्कि उनके

अंदर छुपे हुए तत्त्वको मजबूतीसे पकड़े रखता है तथा जगत्‌के पाशोंमें फँसे विना* इसका आलिंगन करता है।

हम देख ही चुके हैं कि यदि हम दिव्य कर्मोंके मार्गमें पूर्ण बनना चाहें तो हमें अपने विचार और कर्ममें रहनेवाली अहंतापूर्ण स्वेच्छाको सर्वथा त्याग देना होगा; उसी प्रकार यदि हमें दिव्य ज्ञानमें पूर्णता प्राप्त करनी हो तब भी हमें इसका पूर्णतया त्याग करना होगा। इस स्वेच्छाका मतलब है मनका अहंभाव जो अपनी पसंदगियों तथा आदतोंके प्रति और विचार, दृष्टिकोण एवं संकल्पकी अपनी अतीत या वर्तमान रचनाओंके प्रति आसक्त हो जाता है, क्योंकि यह उन्हें 'अपना-आप' या अपनी समझता है, उनके चारों ओर "मैं-पन" और "मेरे-पन"के सूक्ष्म तन्तुओंका जाल बुन डालता है और जालेमें मकड़ेकी तरह उनमें निवास करता है। जैसे मकड़ा अपने जालेपर आक्रमण विलकुल पसंद नहीं करता, वैसे ही यह भी अपने साथ छेड़छाड़ बिलकुल पसंद नहीं करता और यदि इसे नये दृष्टि-विन्दुओं एवं नयी धारणाओंके क्षेत्रमें ले जाया जाय तो वहाँ यह अपने-आपको परदेसी और दुःखी अनुभव करता है जैसे मकड़ेको अपने जालेके सिवाय किसी और जालेमें सब कुछ विदेशी एवं विजातीय लगता है। इस आसक्तिको अपने मनसे पूर्णरूपेण निकाल फेंकना होगा। इतना ही नहीं कि हमें जगत् और जीवनके प्रति उस साधारण मनोवृत्तिका त्याग करना होगा जिसे अजागरित मन अपना एक स्वाभाविक अंग समझता हुआ उसके साथ चिपटा रहता है; बल्कि हमें अपनी गढ़ी हुई किसी मानसिक धारणामें या किसी बौद्धिक विचार-पद्धतिमें अथवा धार्मिक सिद्धांतों या तार्किक परिणामोंकी किसी क्रमशृंखलामें भी नहीं बँधे रहना चाहिये; हमें केवल मन और इंद्रियोंके पाशको नहीं काटना होगा, वरन् विचारक, धर्मगुरु और संप्रदाय-प्रवर्तकके पाशसे भी, अर्थात् 'शब्द'के जाल तथा 'विचार'के वंधनसे भी मुक्त होकर इनसे वहुत परे चले जाना होगा। ये सब बंधन आत्माको बाह्य रूपोंके घेरेमें बंद करनेके लिये हमारे अंदर तैयार बैठे हैं; परंतु हमें सदा इन्हें पार करते जाना होगा, सदा ही महत्तरके लिये लघुतरको तथा अनंतके लिये सांतको त्यागते जाना होगा; हमें एक प्रकाशसे दूसरे प्रकाशकी ओर, एक अनुभवसे दूसरे अनुभव तथा आत्माकी एक अवस्थासे उसकी दूसरी अवस्थाकी ओर बढ़नेके लिये तैयार

*निर्लिप्त। वस्तुओंमें विद्यमान दिव्य आनंद निष्काम और निर्लिप्त है, कामनासे मुक्त और अतएव अनासक्त है।

रहना होगा जिससे कि हम भगवान्की चरम परात्परता तथा चरम विश्वमयतातक पहुँच सकें। इसी प्रकार, जिन सत्योंको हम अत्यंत सुरक्षित मानते हुए उनमें विश्वास करते हैं उनमें भी हमें आसक्त नहीं होना होगा, क्योंकि वे उस अनिर्वचनीय ब्रह्मके रूप और अभिव्यक्तियाँमात्र हैं जो किसी भी रूप या अभिव्यक्तितक अपनेको सीमित रखनेसे इन्कार करता है; हमें, सदा ही, ऊपरसे आनेवाले उस उच्चतर शब्दकी ओर खुले रहना चाहिये जो अपने-आपको अपने अभिप्रायतक ही सीमित नहीं रखता; साथ ही हमें उस 'विचार'के प्रकाशकी ओर भी खुले रहना चाहिये जो अपने अंदर अपनेसे उलटे विचारोंको भी धारण किये रहता है।

परंतु समस्त प्रतिरोधका केंद्र है अहंभाव और इसलिये इसके प्रत्येक गुप्त स्थान एवं छद्मवेशमें हमें इसका पीछा करना होगा और इसे बाहर घसीटकर इसका वध कर डालना होगा; क्योंकि इसके छद्मवेशोंका कोई अंत नहीं और यह अपने छुपा सकनेवाले एक-एक चिथड़ेके साथ यथाशक्ति चिपटा रहेगा। परोपकार और उदासीनता प्रायः ही इसके अत्यंत शक्तिशाली छद्मवेश होते हैं; इन वेशोंको पहने हुए तो यह इसका पीछा करनेके लिये नियुक्त दैवी दूतोंके सामने आनेपर भी उनके विरुद्ध धृष्टतापूर्वक विद्रोह करेगा। यहाँ परम ज्ञानका सूत्र हमारी सहायताके लिये उपस्थित होता है; अपने मूल दृष्टिबिंदुमें हमें इन विभेदोंसे कुछ मतलब नहीं, क्योंकि यहाँ न तो कोई मैं है न तू, वरन् है केवल एक दिव्य आत्मा जो अपने सभी मूर्त्त रूपोंमें समान रूपसे विद्यमान है, व्यक्ति और समूहमें एकसमान व्याप्त है, और उसे उपलब्ध करना, उसे व्यक्त करना, उसकी सेवा करना तथा उसे चरितार्थ करना ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु है। स्वतुष्टि किंवा परोपकार, उपभोग किंवा उदासीनता मुख्य वस्तु नहीं हैं। यदि इस एकमेव आत्माकी उपलब्धि, चरितार्थता और सेवा हमसे एक ऐसे कार्यकी माँग करती हैं जो दूसरोंको, अहंकारपूर्ण अर्थमें, अपनी सेवा या अपना ही ख्यापन प्रतीत होता है या फिर अहंपूर्ण भोग एवं अहं-तुष्टि प्रतीत होता है तो भी वह कार्य हमें करना ही होगा, हमें अपने अंदरके मार्गदर्शकके निर्देशानुसार चलना होगा न कि लोगोंकी सम्मतियोंके अनुसार। परिस्थितिका प्रभाव प्रायः बहुत सूक्ष्म रूपमें कार्य करता है; हम अचेतन-प्राय रूपमें उस वेशको अधिक पसंद करते हैं तथा उसीको पहन भी लेते हैं जो हमें बाहरसे देखनेवाली आँखको सर्वोत्तम दीख पड़ेगा और इस प्रकार हम अपने अंदरकी आँखपर पर्दा पड़ जाने देते हैं; हम दरिद्रताके व्रतका या सेवाका बाना पहनने या फिर उदासीनता, त्याग एवं निष्कलंक साधुताके बाह्य

प्रमाणोंका जामा पहननेको प्रेरित होते हैं, क्योंकि परंपरा एवं लोकमत हमसे इसी चीजकी माँग करता है और साथ ही इसी प्रकार हम अपनी परिस्थितिपर सर्वोत्तम प्रभाव डाल सकते हैं। परंतु यह सब मिथ्याभिमान और भ्रममात्र है। इन चीजोंका वेश भी हमें धारण करना पड़ सकता है, क्योंकि वह हमारी सेवाकी वर्दी हो सकता है; पर वह ऐसा नहीं भी हो सकता। बाह्य मानवकी दृष्टिका कुछ भी महत्त्व नहीं; अंदरकी आँख ही सब कुछ है।

गीताकी शिक्षामें हम देखते हैं कि अहंभावसे मुक्तिकी जो माँग की जाती है वह कितनी सूक्ष्म वस्तु है। शक्तिका मद एवं क्षत्रियका अहंकार अर्जुनको लड़नेके लिये प्रेरित करते हैं; इससे उलटा दुर्बलताका अहंकार उसे युद्धसे पराङ्मुख करता है; दुर्बलताका मतलब है उसकी जुगुप्सा, वैराग्यकी भावना, मन, स्नायविक सत्ता और इन्द्रियोंको अभिभूत करनेवाली मिथ्या 'कृपा',—वह दिव्य दया नहीं जो बाहुओंको बल देती है तथा ज्ञानमें स्पष्टता लाती है। परंतु उसकी यह दुर्बलता त्याग एवं पुण्यका बाना पहनकर आती है: "इन रुधिरलिप्त भोगोंको भोगनेसे तो भीख माँगकर जीवन बिताना कहीं अच्छा; मुझे समस्त भूतलका राज्य नहीं चाहिये, देवताओंका राज्य भी नहीं," हम कह सकते हैं कि गुरुने कितनी बड़ी मूर्खता की कि उसकी इस वृत्तिका समर्थन नहीं किया, संन्यासियोंकी सेनामें एक और महान् आत्माकी वृद्धि करने तथा संसारके सामने पावन त्यागका एक और उज्ज्वल दृष्टांत उपस्थित करनेका यह भव्य अवसर खो दिया। परंतु गुरु—ऐसे गुरु जो शब्दोंके जालमें नहीं आ सकते, इसे किसी और ही रूपमें देखते हैं, "ये दुर्बलता, भ्रम और अहंकार हैं जो तेरे अंदर बोल रहे हैं। आत्माको देख, ज्ञानकी ओर आँखें खोल, अपनी आत्माको अहंकारसे मुक्त कर।" और, उसके बाद? "युद्ध कर, विजय प्राप्त कर, समृद्ध राज्यका उपभोग कर।" अथवा प्राचीन भारतीय ऐतिह्यसे एक और दृष्टांत लें। हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह एक प्रकारका अहंकार ही था जिसने अवतार रामको लंकाके राजासे अपनी पत्नीको पुनः प्राप्त करनेके लिये एक सेना खड़ी करने तथा एक राष्ट्रका विनाश करनेको प्रेरित किया। परंतु क्या यह उससे छोटा अहंकार होता यदि वे उदासीनताका भेस धारण कर ज्ञानके प्रचलित शब्दोंका दुरुपयोग करते हुए कहते, "मेरी कोई पत्नी नहीं, कोई शत्रु नहीं, कोई कामना नहीं; ये तो इन्द्रियोंके भ्रम हैं, मुझे ब्रह्म-ज्ञानका अनुशीलन करना चाहिये और जनककी दुहिताके साथ रावण जो चाहे करे।"

जैसा कि गीताने बल देकर कहा है, इसकी कसौटी हमारे अंदर है। वह यह कि अंतरात्माको लालसा और आसक्तिसे मुक्त रखा जाय, पर साथ ही इसे अकर्मके प्रति आसक्तिसे तथा कर्म करनेके अहंपूर्ण आवेगसे भी मुक्त रखा जाय, पुण्यके बाह्य रूपोंके प्रति आसक्ति तथा पापके प्रति आकर्षण—दोनोंसे एकसमान मुक्त रखा जाय। इसका मतलब है एकमेव आत्मामें निवास करने तथा उसीमें कर्म करनेके लिये "अहंता" और ममतासे मुक्त होना; विराट् पुरुषके व्यक्तिगत केंद्रके द्वारा कर्म करनेसे इन्कार करनेके अहंकारका त्याग करना और साथ ही अन्य सबकी सेवाको छोड़कर केवल अपने वैयक्तिक मन, प्राण और शरीरकी सेवा करनेके अहंकारका भी त्याग करना। आत्मामें निवास करनेका अर्थ यह नहीं कि हम केवल अपने लिये अनंतमें इस प्रकार रहने लगें कि निर्व्यक्तिक आत्मानंदके उस महासागरमें निमग्न होकर सब वस्तुओंकी सुध ही बिसार दें; बल्कि इसका मतलब है उस परम आत्माकी तरह तथा उसीमें निवास करना जो इस देहमें तथा सब देहोंमें और साथ ही सब देहोंसे परे भी समान रूपसे विद्यमान है। यही है पूर्णज्ञान।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि त्यागके विचारको हम जो स्थान देते हैं वह इसके प्रचलित अर्थसे भिन्न है। प्रचलित रूपमें इसका अर्थ है स्वार्थ-त्याग, सुखका वर्जन, सुखभोगके विषयोंका त्याग। स्वार्थ-त्याग मनुष्यकी अंतरात्माके लिये एक आवश्यक साधन है, क्योंकि उसका हृदय अज्ञानमय आसक्तिसे भरा हुआ है; सुखका वर्जन आवश्यक है, क्योंकि उसकी इंद्रियाँ ऐन्द्रिय तुष्टियोंके पंकिल मधुमें फँस जाती हैं और उसमें लथपथ होकर उसीसे चिपकी रहती हैं; सुखभोगके विषयोंका त्याग उसपर बलात् थोपा जाता है, क्योंकि उसका मन विषयके साथ चिपट जाता है और उससे परे तथा अपने अंदर जानेके लिये उसे छोड़ना नहीं चाहता। यदि मनुष्यका मन इस प्रकार अज्ञ, आसक्त, अपनी अशांत अस्थिरतामें भी आबद्ध तथा वस्तुओंके बाह्य रूपोंके द्वारा विभ्रांत न होता तो त्यागकी आवश्यकता ही न पड़ती; आत्मा आनंदके पथपर, अल्प आनंदसे महान् आनंदकी ओर, हर्षसे दिव्यतर हर्षकी ओर अग्रसर हो सकती, पर वर्तमान अवस्थामें यह संभव नहीं। जिन भी चीजोंके प्रति मानव-मन आसक्त है उन सबको इसे अंदरसे त्याग देना होगा, ताकि यह उस तत्त्वको प्राप्त कर सके जो कि वे अपने सत्य स्वरूपमें हैं। बाह्य त्याग मुख्य वस्तु नहीं है, पर वह भी कुछ समयके लिये आवश्यक होता है, अनेक विषयोंमें तो अनिवार्य भी होता है और कभी-कभी तो सभी विषयोंमें उपयोगी होता

है; हम यहाँतक कह सकते हैं कि पूर्ण बाह्य त्याग एक ऐसी अवस्था है जिसमेंसे आत्माको अपनी उन्नतिके किसी कालमें अवश्य गुजरना पड़ता है,—यद्यपि यह त्याग सदा ही उन स्वच्छंद जोर-जबर्दस्तियों तथा भीषण आत्म-यंत्रणाओंके बिना ही करना चाहिये जो हमारे अंदर विराजमान भगवान्के प्रति अपराधरूप होती हैं। परंतु अंततः यह त्याग या स्वार्थ-त्याग सदा एक साधन ही होता है और इसकी उपयोगिताका काल आकर चला जाता है। किसी पदार्थका परित्याग करना उस समय आवश्यक ही नहीं रह जाता जब कि वह हमें अपने जालमें अब और नहीं फँसा सकता, क्योंकि आत्मा जिसका आनंद लेती है वह पदार्थके रूपमें पदार्थ नहीं होता, बल्कि उसके द्वारा व्यक्त होनेवाला भगवान् ही होता है; सुख-भोगके वर्जनकी तब और आवश्यकता नहीं रहती जब कि आत्मा पहलेकी तरह सुखकी खोज नहीं करती, बल्कि स्वयं पदार्थपर व्यक्तिगत या भौतिक स्वत्व प्राप्त करनेकी आवश्यकताके बिना सभी पदार्थोंमें भगवान्का आनंद समान रूपसे प्राप्त कर लेती है; आत्म-त्यागका कोई क्षेत्र ही नहीं रह जाता जब कि आत्मा पहलेकी तरह किसी चीजकी माँग नहीं करती, बल्कि भूतमात्रमें विद्यमान एक ही आत्माके संकल्पका सचेतन रूपसे अनुसरण करती है। तभी हम नियमके बंधनसे मुक्त होकर आत्माका स्वातंत्र्य प्राप्त करते हैं।

हमें केवल उस चीजको ही मार्गपर अपने पीछे छोड़ देनेके लिये तैयार नहीं रहना होगा जिसे हम अशुभ मानकर उसकी निन्दा करते हैं, बल्कि उस चीजको भी, जो हमें शुभ प्रतीत होती है, किंतु फिर भी जो एकमात्र शुभ वस्तु नहीं है, छोड़ देनेके लिये तैयार रहना होगा। इस मार्गमें ऐसी कई चीजें हैं जो लाभदायक तथा सहायक होती हैं, जो शायद किसी समय एकमात्र काम्य वस्तु प्रतीत होती हैं, और फिर भी एक बार उनका कार्य पूरा हो जानेपर, एक बार उनके प्राप्त हो जानेपर जब हमें उनसे आगे बढ़नेके लिये पुकार आती है तो वे बाधक वस्तुएँ और यहाँतक कि विरोधी शक्तियाँ बन जाती हैं। आत्माकी कुछ ऐसी स्पृहणीय भूमिकाएँ हैं जिनमें, उनपर प्रभुत्व पा लेनेके बाद, टिके रहना खतरनाक होता है, क्योंकि तब हम इनसे परे स्थित परमेश्वरके विशालतर साम्राज्योंकी ओर प्रगति नहीं करते। किन्हीं भी दैवी साक्षात्कारोंके साथ हमें चिपटे नहीं रहना होगा यदि वे वह भागवत साक्षात्कार न हों जो चरम रूपसे तात्त्विक एवं समग्र होता है। 'सर्व'मय भगवान्से कम तथा चरम परात्परसे नीचेकी किसी भी वस्तुपर हमें नहीं रुकना होगा और यदि हमारी आत्मा इस प्रकार

मुक्त हो सके तो भगवान्‌की कार्यलीलाका समस्त चमत्कार हमें ज्ञात हो जायगा; हमें पता लग जायगा कि अंदरसे हरएक चीजका त्याग करनेमें हमने कुछ भी खोया नहीं। "इस सबका त्याग करके तू 'सर्व'का उपभोग कर।"* कारण, वहाँ प्रत्येक वस्तु हमारे लिये सुरक्षित रखी हुई है और हमें पुनः प्रदान भी की जाती है, पर तब उसमें अद्‌भुत परिवर्तन एवं रूपांतर आ जाता है,—वह उस सर्वमंगलमय तथा सर्व-सुन्दरमें, भगवान्‌की पूर्ण-ज्योति एवं पूर्ण-आनंदमें रूपांतरित हो जाती है जो नित्य शुद्ध और अनंत है, उस रहस्य एवं चमत्कारमें परिणत हो जाती है जो युग-युगांतरोंसे अविरत चला आ रहा है।

---

*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। —ईशोपनिषद् १।

छठा अध्याय

ज्ञानयोगकी साधन-पद्धतियोंका समन्वय

पिछले अध्यायमें हमने त्यागका निरूपण अत्यंत व्यापक दृष्टिसे किया है, जैसे कि उससे पहले हमने एकाग्रताके सभी संभव रूपोंकी चर्चा की थी; अतएव, जो कुछ कहा गया है वह ज्ञानमार्गकी भाँति कर्ममार्ग और भक्तिमार्गपर भी समान रूपसे लागू होता है, क्योंकि तीनों ही मार्गोंमें एकाग्रता और त्यागकी आवश्यकता होती है, हाँ, जिस रीति और भावनासे वहाँ उनका प्रयोग किया जाता है वे भले ही भिन्न-भिन्न हों। परंतु अब हमें, अधिक विशिष्ट रूपमें, ज्ञानमार्गके असली सोपानोंका वर्णन करना होगा, इस मार्गपर बढ़नेके लिये हमें एकाग्रता और त्यागकी दोहरी शक्तिकी सहायता लेनी होगी। क्रियात्मक रूपमें, इस मार्गका मतलब है—सत्ताकी उस महान् सीढ़ीपर फिरसे ऊपरकी ओर चढ़ना जिसपरसे अंतरात्मा स्थूल-भौतिक जीवनमें उतरी है।

ज्ञानका प्रधान लक्ष्य है आत्माको, अपनी सच्ची आत्म-सत्ताको फिरसे प्राप्त करना, और यह लक्ष्य इस सिद्धांतको मानकर चलता है कि हमारी सत्ताकी वर्तमान अवस्था हमारी सच्ची सत्ता नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि हमने उन तीखे समाधानोंको त्याग दिया है जो विश्वकी पहेलीकी गाँठ ही काट डालते हैं; हम ऐसा नहीं मानते कि यह विश्व भौतिक प्रतीतियोंकी एक काल्पनिक सत्ता है जिसे शक्ति (Force)ने उत्पन्न किया है, या कि यह एक ऐसी मिथ्या माया है जिसे 'मन'ने निर्मित किया है, या कि यह संवेदनों एवं विचारों तथा इनके परिणामोंका एक ऐसा गट्ठर है जिसके पीछे एक महत् रिक्तता या महान् आनंदपूर्ण शून्य है और उस रिक्तता या शून्यको अपनी सनातन असत्ताका सच्चा सत्य मानते हुए हमें उसकी प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये। हम तो यह मानते हैं कि आत्मा एक वास्तविक सत्ता है और विश्व उस आत्माका एक सत्य, केवल जड़ शक्ति और जड़ रचनाका नहीं, बल्कि उस आत्माकी चेतनाका सत्य है, किंतु इसी कारण यह उससे कम नहीं वरञ्च उससे भी अधिक सत्य है। पर यद्यपि विश्व एक वास्तविक तथ्य है, कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, भागवत और वैश्व सत्ताका एक सत्य है, वैयक्तिक सत्ताकी कल्पना नहीं, फिर भी

हमारे ऐहिक जीवनकी अवस्था अज्ञानकी अवस्था है, हमारी सत्ताका वास्तविक सत्य नहीं। अपनी सत्ताके विषयमें हम एक मिथ्या परिकल्पना करते हैं, हम अपनेको एक ऐसे रूपमें देखते हैं जैसे हम असलमें नहीं हैं; अपने चारों ओरकी वस्तुओंके साथ हमारा जो संबंध है वह मिथ्या ढंगका है, क्योंकि हम विश्वका और अपना वह स्वरूप नहीं जानते जो कि वास्तवमें इनका है, वल्कि हम इन्हें एक अपूर्ण दृष्टिबिंदुके द्वारा ही देखते हैं। वह दृष्टिबिंदु एक क्षणिक मिथ्या-कल्पनापर आधारित है जिसे आत्मा और प्रकृतिने विकासोन्मुख अहंकी सुविधाके लिये अपने बीचमें प्रतिष्ठित किया है। और, यह मिथ्यापन ही उस व्यापक विकृति, अव्यवस्था और दुःख-कष्टका मूल है जो हमारे आभ्यंतरिक जीवनको और अपनी परिस्थितिके साथ हमारे संबंधको पग-पगपर घेरे रहते हैं। हमारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन, अपने साथ और अपने साथियोंके साथ हमारा व्यवहार मिथ्यात्वपर आधारित है, इसलिये इनके स्वीकृत सिद्धांत और पद्धतियाँ भी मिथ्या हैं, यद्यपि इस सब भ्रांतिमेंसे एक विकसनशील सत्य अपनेको प्रकट करनेके लिये अनवरत यत्न करता रहता है। अतएव, मनुष्यके लिये 'ज्ञान' परम महत्त्वपूर्ण वस्तु है, वह ज्ञान नहीं जिसे जीवनका व्यावहारिक ज्ञान कहते हैं, बल्कि आत्मा और प्रकृतिका गहरे-से-गहरा ज्ञान*। इस ज्ञानके ऊपर ही जीवनके सच्चे व्यवहारकी नींव रखी जा सकती है।

उक्त भ्रांतिका कारण यह है कि हम अपने शरीर आदिके साथ मिथ्या तदात्मता स्थापित कर लेते हैं। प्रकृतिने अपनी स्थूल-भौतिक एकताके अंतर्गत पृथक्-पृथक् दीखनेवाले शरीरोंको उत्पन्न किया है। जड़ प्रकृतिमें व्यक्त हुआ आत्मा उन शरीरोंको आवेष्टित करता है तथा उनमें निवास करता है, उन्हें धारण तथा प्रयुक्त करता है; वह अपने-आपको भूलकर जड़तत्त्वकी इस एक गाँठको ही अनुभव करता है और कहता है, "यह शरीर ही मैं हूँ।" वह अपने-आपको शरीर समझता है, शरीरके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी होता है, शरीरके साथ ही जन्म लेता और उसके साथ ही नष्ट हो जाता है; अथवा कम-से-कम वह अपनी सत्ताको इसी रूपमें देखता है। और, फिर प्रकृतिने अपनी विराट्-प्राणसंबंधी एकताके अंतर्गत प्राणकी पृथक्-पृथक् दीखनेवाली धाराओंका सृजन किया है जो प्रत्येक शरीरके अंदर तथा उसके चारों ओर जीवन-शक्तिके एक आवर्तके रूपमें प्रवाहित होती रहती है, और प्राणिक प्रकृतिमें प्रकट हुआ आत्मा उस

---

*आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान।

धाराको पकड़ लेता है और उसकी पकड़में आ जाता है, प्राणके उस घूमते हुए छोटेसे भँवरमें कुछ समयके लिये कैद हो जाता है। आत्मा, अपने-आपको और भी अधिक भूलकर, कहता है, "मैं यह प्राण हूँ"; वह अपने-आपको प्राण समझता है, उसकी लालसाओं या कामनाओंको अपनी लालसाएँ या कामनाएँ समझता है, उसीके सुखोंमें लोट लगाता है, उसके घावोंसे घायल हो जाता है, उसकी गतियोंके साथ-साथ बेतहाशा दौड़ता है या फिर ठोकर खाकर गिर पड़ता है। यदि वह अभीतक मुख्य रूपसे देह-बुद्धिके द्वारा ही शासित हो तो वह उस आवर्तकी सत्ताके साथ अपनी सत्ताको एकाकार कर लेता है और सोचता है कि "जिस शरीरके चारों ओर इस आवर्तने अपनी रचना कर रखी है उसके विनाशसे जब यह छिन्न-भिन्न हो जायगा तब 'मैं' भी नहीं रहूँगा।" यदि वह प्राणकी उस धाराको अनुभव करनेमें समर्थ हो जिसने इस आवर्तका निर्माण किया है तो वह अपने-आपको वही धारा समझने लगता है और कहता है, "मैं जीवनका यही प्रवाह हूँ; मैंने यह शरीर धारण किया है, मैं इसे छोड़कर दूसरे शरीर धारण करूँगा; मैं अमर प्राण हूँ जो सतत पुनर्जन्मके चक्रमें घूमता रहता है।"

और फिर, प्रकृतिने अपनी मानसिक एकताके अंतर्गत, विराट् मनमें, मानो मनः-शक्तिके पृथक्-पृथक् दीखनेवाले विद्युज्जनक यंत्र (dynamos) निर्मित किये हैं। ये यंत्र मानसिक शक्ति और मानसिक क्रियाओंके उत्पादन, वितरण और पुनः-संचयके लिये स्थिर केंद्रोंकी तरह काम करते हैं, मानो ये मानसिक तार-प्रेषण (telegraphy) की व्यवस्थामें स्टेशनोंका काम करते हैं जहाँ संदेश सोचे एवं लिखे जाते हैं तथा भेजे, पाये और बाँचे जाते हैं, और ये संदेश तथा ये क्रियाएँ अनेक प्रकारकी होती हैं,—संवेदनात्मक, भावमय, बोधात्मक, प्रत्ययात्मक तथा बोधिमय। मनोमय प्रकृतिमें प्रकट हुआ आत्मा इन सबको स्वीकार करता है, जगत्‌के संबंधमें अपने दृष्टिकोणको निश्चित करनेके लिये इनका प्रयोग करता है और उसे लगता है कि वह इनके आघातोंको बाहर भेजता है और स्वयं ग्रहण भी करता है, इनके परिणामोंको भोगता है या फिर उनपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। प्रकृति इन मनरूपी विद्युत्-यंत्रोंका आधार अपने बनाये जड़ शरीरोंमें स्थापित करती है, इन शरीरोंको अपने स्टेशनोंकी आधार-भूमि बनाती है और प्राण-धाराओंकी गतिसे परिपूर्ण नाड़ी-संस्थानके द्वारा मन और शरीरके बीच संबंध स्थापित करती है। इस प्राणमय नाड़ी-संस्थानके द्वारा मन प्रकृतिके स्थूल-भौतिक जगत्‌का ज्ञान प्राप्त करता है और साथ ही, जहाँतक वह चाहे वहाँतक, प्राणिक जगत्‌का भी ज्ञान लाभ

कर सकता है। अन्यथा मन सर्वप्रथम और प्रधान रूपमें मनोमय जगत्से ही सचेतन होगा और भौतिक जगत्की झांकी केवल परोक्ष रूपमें ही प्राप्त करेगा। वर्तमान वस्तुस्थितिमें इसका ध्यान शरीर और भौतिक जगत्पर ही जमा हुआ है जिनके अंदर यह प्रतिष्ठित है; शेष सारी सत्ताको यह केवल धुंधले, परोक्ष या अवचेतन रूपमें, अपनी चेतनाके उस विशाल अवशेषके अंदर ही जानता है जिसे इसकी ऊपरी चेतना प्रत्युत्तर नहीं देती और जिसे वह भूल चुकी है।

आत्मा इस मनरूपी डायनेमो (dynamo) या स्टेशनके साथ अपने-आपको एकाकार कर लेता है और कहता है, "मैं यह मन ही हूं।" और, क्योंकि मन शारीरिक जीवनमें डूबा रहता है, वह (आत्मा) सोचता है, "मैं एक सजीव शरीरमें रहनेवाला मन हूं" अथवा, और भी अधिक प्रचलित रूपमें वह यों सोचता है कि "मैं एक शरीर हूं जो जीवन धारण करता और सोचता है।" वह देहबद्ध मनके विचारों, भावों और संवेदनोंके साथ अपने-आपको तदाकार कर लेता है और सोचता है कि जब शरीरका नाश होगा तब इस सबका भी नाश हो जायगा, इसलिये तब स्वयं मेरा अस्तित्व भी समाप्त हो जायगा। अथवा, यदि वह अपने मनोमय व्यक्तित्वके सतत प्रवाहको अनुभव कर लेता है तो वह समझता है कि मैं एक मनोमय पुरुष हूं जो एक बार या बारंबार शरीर धारण करता है और पार्थिव जीवनके समाप्त होनेपर इससे परेके मनोमय लोकोंमें लौट जाता है; इस प्रकार कभी तो शरीरमें और कभी प्रकृतिके मानसिक या प्राणिक स्तरपर मानसिक रूपसे सुख-दुःखका भोग करनेवाले इस मनोमय पुरुषके सतत स्थायित्वको ही वह अपनी अमर सत्ता कहता है या फिर, क्योंकि मन, वह चाहे कितना ही अपूर्ण क्यों न हो, प्रकाश और ज्ञानका ही करण है और अपनेसे परेकी सत्ताकी कुछ कल्पना कर सकता है, वह उस परेकी सत्तामें, किसी शून्य या किसी सनातन सत्तामें, मनोमय पुरुषके लयकी संभावना देखता है और कहता है, "वहां मेरा, मनोमय पुरुषका, अस्तित्व समाप्त हो जाता है।" देहबद्ध मन और प्राणकी इस वर्तमान क्रीड़ाके प्रति अपनी आसक्ति या घृणाकी मात्राके अनुसार वह ऐसे लयसे डरता है या उसकी कामना करता है, इसे अस्वीकार कर देता है या स्वीकार कर लेता है।

सुतरां, यह सब सत्य और असत्यका मिश्रण है। यह सत्य है कि 'मन', 'प्राण' और 'जड़तत्त्व' प्रकृतिमें अस्तित्व रखते हैं और यह भी सत्य है कि मन, प्राण और शरीर उनमें व्यक्तिभाव धारण करते हैं, परंतु आत्मा इन चीजोंके साथ जो तादात्म्य स्थापित कर लेता है वह मिथ्या

है। मन, प्राण और जड़तत्त्व भी हमारी सत्ताका स्वरूप हैं तो सही, पर केवल इस अर्थमें कि वे सत्ताके ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें हमारी सच्ची आत्माने अपनी एकमेव सत्ताको सृष्टिके रूपमें प्रकट करनेके लिये पुरुष और प्रकृतिके मिलन तथा इनकी परस्पर-क्रियाके द्वारा विकसित किया है। व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर इन तत्त्वोंकी एक लीलामात्र हैं। यह लीला यहाँ आत्मा और प्रकृतिके पारस्परिक आदान-प्रदानमें 'एकं सत्'के बहुत्वको प्रकट करनेके साधनके रूपमें प्रस्थापित की गयी है; वह 'एकं सत्' अपने बहुत्वको नित्य ही प्रकट कर सकता है तथा अपनी एकताके अंदर वह इसे नित्य ही प्रच्छन्न रूपमें धारण किये रहता है। व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर उस हदतक हमारी अपनी सत्ताके ही रूप हैं जहाँतक हम उस 'एक'के बहुत्वके केंद्र हैं; विराट् मन, प्राण और शरीर भी हमारी अपनी आत्माके रूप हैं, क्योंकि अपनी मूल सत्तामें हम वही 'एक' हैं। परंतु आत्मा विराट् या व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीरसे अधिक कुछ है और जब हम इन चीजोंके साथ तादात्म्य स्थापित करके अपने-आपको सीमामें बाँध लेते हैं तो हम अपने ज्ञानको एक असत्यपर आधारित करते हैं, हम अपनी निज सत्ताके ही नहीं, बल्कि वैश्व सत्ता तथा व्यक्तिगत कार्य-प्रवृत्तियोंके निर्धारक विचार एवं व्यावहारिक अनुभवको भी एक मिथ्या रूप दे देते हैं।

आत्मा चरम सनातन पुरुष एवं विशुद्ध सत्ता है और ये सब चीजें उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। हमें इसी ज्ञानको लेकर आगे बढ़ना होगा; इस ज्ञानका साक्षात्कार करके इसे व्यक्तिके आंतर और बाह्य जीवनका आधार बनाना होगा। ज्ञानयोगने इस प्राथमिक सत्यसे आरंभ करके साधनाकी दो प्रकारकी—भावात्मक और अभावात्मक—विधियोंकी परिकल्पना की है। उन विधियोंके द्वारा हम इन मिथ्या तादात्म्योंसे छुटकारा पा सकते हैं और इनसे पीछे हटकर सच्चा आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अभावात्मक विधि यह है कि "मैं शरीर हूँ" इस मिथ्या विचारका विरोध करने तथा इसे जड़मूलसे निकाल फेंकनेके लिये हम सदैव यह कहें कि "मैं शरीर नहीं हूँ", और फिर इस ज्ञानपर अपने-आपको एकाग्र करें तथा भौतिक सत्ताके प्रति आत्माकी आसक्तिको त्यागकर देहबुद्धिसे मुक्त हो जायँ। इसके आगे हम यह कहते हैं कि "मैं प्राण नहीं हूँ" और इस ज्ञानपर अपने-आपको एकाग्र करके तथा प्राणकी चेष्टाओं और कामनाओंके प्रति आसक्तिका त्याग करके हम प्राण-बुद्धिसे छुटकारा पा लेते हैं। अन्तमें हम यह कहते हैं कि "मैं मन नहीं हूँ, गति, इन्द्रिय और विचार नहीं हूँ" और इस ज्ञानपर अपने-आपको एकाग्र करके तथा मानसिक क्रियाओंका

त्याग करके हम मनको आत्मा समझनेके भ्रमसे मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार जिन चीजोंके साथ हमने तादात्म्य स्थापित कर रखा था उनके तथा अपने बीच जब हम निरंतर एक खाई पैदा करते जाते हैं तो उनके आवरण हमारे आगेसे उत्तरोत्तर हटते जाते हैं और आत्मा हमारे अनुभवके प्रति प्रत्यक्ष होने लगता है। उस आत्माके बारेमें तब हम कहते हैं, "मैं 'वह' हूँ, शुद्ध, सनातन, आनंदस्वरूप" और अपने विचार तथा अपनी सत्ताको इस ज्ञानपर एकाग्र करके हम 'वही' बन जाते हैं और अंतमें व्यक्तिगत सत्ता तथा विश्वका त्याग करनेमें समर्थ हो जाते हैं। दूसरी विधि भावात्मक है और वह वस्तुतः राजयोगसे संबंध रखती है। वह यह है कि हम अन्य सब विचारोंका निरोध करके केवल ब्रह्मके विचारपर एकाग्रता करें, जिससे कि यह मनरूपी डायनेमो हमारी बाह्य या वैविध्यपूर्ण आंतर सत्तापर क्रिया करना बिलकुल बंद कर दे; मनके निश्चल हो जानेसे प्राण और शरीरकी लीला भी एक नित्य समाधिमें, सत्ताकी किसी अवर्णनीय गभीरतम समाधिकी अवस्थामें, शांत हो जायगी और वहाँ हम निरपेक्ष सत्में प्रविष्ट हो जायँगे।

स्पष्ट ही, यह साधना एक स्व-केंद्रित तथा अन्य-वर्जक आंतर क्रिया है जो विचारमें जगत्‌से इन्कार करके तथा अंतर्दर्शनमें इसके प्रति आत्माके नेत्र बंद करके इससे छुटकारा पा लेती है। परंतु यह विश्व तो परमेश्वरमें एक सत्यके रूपमें विद्यमान है ही, भले किसी व्यष्टि आत्माने इसके प्रति अपनी आँखें बंद कर रखी हों, और परम आत्मा इस विश्वमें मिथ्या रूपमें नहीं, बल्कि वास्तविक रूपमें विद्यमान है, वह उन चीजोंको धारण कर रहा है जिन्हें हम त्याग चुके हैं, सभी चीजोंमें सचमुच ही अंतर्यामीकी तरह व्याप्त है, वैश्व सत्तामें व्यक्तिको वस्तुतः ही समाये हुए है और विश्वको उस सत्तामें समाये हुए है जो इससे अतीत और परात्पर है। अपने आंतर ध्यानकी समाधिसे बाहर आनेपर हमें हर बार ही जो यह अटल विश्व चारों ओरसे घेरे हुए दिखायी देता है, इसमें व्याप्त इस सनातन आत्माका हमें क्या करना होगा? जो आत्मा बहिर्मुख भावसे [illegible] दृष्टिपात करती है उसके लिये निवृत्तिप्रधान ज्ञानमार्गने एक [illegible] साधनमार्ग प्रतिपादित किया है। वह यह है कि [illegible] और सर्वनिर्मायक आत्माको एक ऐसे आकाशके रूपमें देखना [illegible] सब रूप विद्यमान हैं, जो सब रूपोंमें व्याप्त है और [illegible] कारण है। उस आकाशमें विचरते प्राण और मन [illegible] रूपमें, आकाशगत वायवीय समुद्रके [illegible]

इन सब दृश्य पदार्थोंका निर्माण करते हैं; परंतु जिन चीजोंका वे निर्माण करते हैं वे नाम और रूपमात्र हैं वास्तविक वस्तुएँ नहीं; उदाहरणार्थ, एक घड़ेका जो रूप हम देखते हैं वह केवल मिट्टी (पृथ्वी)का ही एक रूप है और वह पीछे मिट्टी (पृथ्वी)में ही मिल जाता है, इसी प्रकार पृथ्वी भी एक रूप है जो विराट् प्राणमें लयको प्राप्त हो सकता है, विराट् प्राण एक ऐसी गति है जो उस शांत निर्विकार आकाशमें लयको प्राप्त होकर शांत हो जाती है। इस ज्ञानपर एकाग्रता करनेसे, समस्त दृग्विषयों एवं बाह्य रूपोंका त्याग करनेसे हमें यह दिखायी देने लगता है कि यह सारा जगत् उस आकाश-ब्रह्ममें नामरूपात्मक भ्रममात्र है; यह हमारे निकट एक अवास्तविक वस्तु बन जाता है; और जगत्के अवास्तविक बन जानेपर उसके अंदर आत्माकी अंतर्यामिता भी अवास्तविक बन जाती है और तब रह जाता है केवल आत्मा जिसपर हमारे मनने जगत्के नाम-रूपका मिथ्या ही आरोप कर रखा है। इस प्रकार हमारा निरपेक्ष ब्रह्ममें व्यक्तिगत सत्ताका लय करना उचित ठहरता है।

फिर भी, आत्मा तो अपनी अंतर्यामिताके अविनाशी स्वरूपमें, अपनी दैवी सर्वतोव्यापकताके अक्षर स्वरूपमें, प्रत्येक वस्तु और सभी वस्तुएं बननेकी अपनी अपरंपार मायाके रूपमें अपनी लीला निरंतर किये ही जा रहा है; ऐसा लगता है कि हमारे उस वंचकका पता लगा लेनेसे तथा इस जगत्का त्याग कर देनेसे आत्मा या जगत्पर तिलभर भी असर नहीं पड़ता। तब क्या हमें इस बातका भी ज्ञान नहीं प्राप्त करना होगा कि वह कौन-सी वस्तु है जो इस प्रकार हमारे अंगीकार एवं परित्यागसे ऊपर रहती हुई अटल बनी रहती है और जो इतनी महान्, इतनी अनाद्यन्त है कि उसपर इसका कुछ असर ही नहीं पड़ता? अवश्य ही, यहाँ भी कोई अजेय सद्वस्तु कार्य कर रही है और समग्र 'ज्ञान'की यह माँग है कि हम उसका साक्षात्कार एवं अनुभव करें; नहीं तो यह सिद्ध हो सकता है कि हमारा अपना ज्ञान ही माया एवं मायावी था न कि विश्वगत परमेश्वर। अतएव, हमें अभी और एकाग्रता करनी होगी और इस वस्तुको भी देखना तथा अनुभव करना होगा जो इतने प्रभुत्वपूर्ण रूपमें अटल बनी रहती है और यह जानना होगा कि आत्मा उस परम पुरुषसे भिन्न कुछ नहीं जो प्रकृतिका स्वामी है, विश्वका धर्ता है जिसकी अनुमतिसे यह विश्व आगे बढ़ रहा है, जिसका संकल्प इसके अनंतविध कार्योंको प्रबल रूपसे प्रेरित करता है तथा इसके शाश्वत गतिचक्रोंका निर्धारण करता है। और, अभी एक बार फिर हमें एकाग्रता करनी होगी तथा साक्षात्कार और अनुभव प्राप्त करना होगा

और यह ज्ञानना होगा कि आत्मा 'एकं सत्' है जो सबका आत्मा और सबकी प्रकृति दोनों है, एक ही साथ पुरुष और प्रकृति दोनों है और अतएव वस्तुओंके इन सब रूपोंमें अपने-आपको प्रकट कर सकता है तथा ये सब रूप-रचनाएँ बन भी सकता है। नहीं तो यह समझना चाहिये कि जिस वस्तुको आत्मा बहिष्कृत नहीं करता उसे हमने अपने ज्ञानसे बहिष्कृत कर दिया है और अपने ज्ञानमें एक मनमाना चुनाव किया है।

प्राचीन निवृत्तिप्रधान ज्ञानमार्ग वस्तुओंकी एकताको और 'एकं सत्'के इन सब रूपोंपर एकाग्रता करनेके सिद्धांतको स्वीकार करता था, परंतु वह इनमें एक प्रकारका विभेद करता था तथा एक क्रमपरंपराकी स्थापना करता था। जो आत्मा वस्तुओंके ये सभी रूप धारण करता है वह विराट् या वैश्व पुरुष कहलाता है; जो आत्मा इन सब रूपोंका निर्माण करता है वह हिरण्यगर्भ अर्थात् ज्योतिर्मय या ज्ञानपूर्वक सर्जन करनेवाला पुरुष कहलाता है; जो आत्मा इन सब पदार्थोंको अपने अंदर आवृत रूपमें धारण करता है वह प्राज्ञ अर्थात् सचेतन कारण या मूल निर्धारक पुरुष कहलाता है; इन सबके परे है निरपेक्ष ब्रह्म जो इस सब अवास्तविक प्रपंचको अनुमति देता है, पर इससे किसी प्रकारका संबंध नहीं रखता। हमें इस जगत्से पीछे हटकर उस निरपेक्ष ब्रह्ममें अपनी चेतनाका लय कर देना होगा और फिर इसके साथ किसी प्रकारका संबंध नहीं रखना होगा, क्योंकि 'ज्ञान'का मतलब है अंतिम 'ज्ञान', और अतएव लघुतर उपलब्धियाँ हमसे दूर हो जानी चाहियें। पर स्पष्ट ही, हमारे दृष्टिकोणसे, ये मनके किये हुए व्यावहारिक भेद हैं। ये कुछ उद्देश्योंके लिये तो उपयोगी हैं, पर इनका अंतिम मूल्य कुछ भी नहीं है। जगद्विषयक हमारा दृष्टिकोण एकतापर आग्रह करता है; विराट् आत्मा ज्ञानपूर्वक सर्जन करनेवाले आत्मा (हिरण्यगर्भ)से भिन्न नहीं है, न ज्ञानपूर्वक सर्जन करनेवाला कारण-रूप आत्मा (प्राज्ञ)से भिन्न है, और न ही कारण-रूप आत्मा (प्राज्ञ) निरपेक्ष ब्रह्मसे, बल्कि यह एक ही "सत् आत्मा है जो सर्वभूतोंके रूपमें विलसित हो रहा है"* और यह आत्मा उस परमेश्वरसे भिन्न नहीं है जो इन सब व्यष्टि-सत्ताओंके रूपमें अपने-आपको प्रकट करता है और न वह परमेश्वर ही उस 'एकं सत्'-रूप ब्रह्मसे भिन्न है जो सचमुच ही यह सब कुछ है जिसे हम देख सकते हैं, इन्द्रिय, प्राण या मनके द्वारा अनुभव कर सकते हैं। उस आत्मा, परमेश्वर, ब्रह्मको हमें जानना चाहिये जिससे कि हम

---

*सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत।

उसके साथ तथा उसके द्वारा प्रकट की जानेवाली सभी वस्तुओंके साथ अपनी एकता अनुभव कर सकें और फिर उस एकतामें हमें निवास भी करना चाहिये। क्योंकि ज्ञानसे हमारी माँग यह है कि उसे एकता साधित करनी चाहिये; जो ज्ञान विभाजित करता है वह सदा ही अधूरा ज्ञान होता है जो कुछ व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये ही हितकर होता है; पर 'असली' ज्ञान तो वह है जो एकता लाता है।

अतएव, हमारा पूर्णयोग इन विविध साधनाओं और एकाग्रताके प्रकारोंको अपनायेगा तो सही, पर वह इन्हें एक-दूसरेके साथ समस्वर करेगा और यदि हो सके तो इन्हें एक ऐसे समन्वयके द्वारा घुला-मिलाकर एक कर देगा जो इनकी एक-दूसरेका वर्जन करनेकी वृत्तिको दूर कर देगा। पूर्ण ज्ञानका अन्वेषक परमेश्वर और सर्वमय विराट्का साक्षात्कार केवल इसलिये नहीं करेगा कि नीरव आत्मा या अज्ञेय ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये इनका परित्याग कर दे जैसा कि एकमात्र परात्परकी खोज करनेवाला योग करता है, न ही वह केवल परमेश्वरके लिये या केवल विराट्-रूप सर्वमें जीवन धारण करेगा, जैसा कि अनन्य रूपसे ईश्वरवादी या अनन्य-रूप-से-सर्वेश्वरवादी योग करता है। पूर्णज्ञानका साधक अपने विचार और व्यवहारमें किंवा अपने अनुभव एवं साक्षात्कारमें किसी भी धार्मिक मत या दार्शनिक सिद्धांतसे नहीं बँधा रहेगा। वह तो सत्ताके सर्वांगपूर्ण सत्यकी खोज करेगा। प्राचीन साधनाओंका वह परित्याग नहीं करेगा, क्योंकि वे सनातन सत्योंपर प्रतिष्ठित हैं, पर अवश्य ही, वह उन्हें अपने लक्ष्यके अनुरूप नयी दिशामें मोड़ देगा।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञानमार्गमें हमारा प्रधान लक्ष्य दूसरोंमें विद्यमान परम आत्माका अथवा प्रकृतिके स्वामी या सर्वमय विराट्के रूपमें विद्यमान उसी आत्माका साक्षात्कार करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अपने ही अंदर अपने उसी परम आत्माका साक्षात्कार करना होना चाहिये। क्योंकि व्यक्तिको जिस चीजकी सर्वाधिक अनिवार्य आवश्यकता है वह यही है,—अपनी सत्ताके उच्चतम सत्यको प्राप्त करना, इसकी अव्यवस्थाओं एवं अस्तव्यस्तताओंको तथा इसके मिथ्या तादात्म्योंको ठीक करना, इसकी यथायथ एकाग्रता एवं पवित्रताकी अवस्थातक पहुँचना और इसके मूल उद्गमको जानना तथा उस ओर आरोहण करना। परंतु यह कार्य हम इसके उद्गममें लय प्राप्त करनेके लिये नहीं करते, वरन् इसलिये करते हैं कि हमारी संपूर्ण सत्ता और इस आंतर राज्यके सभी अंग अपना यथार्थ आधार प्राप्त कर लें, हमारे उच्चतम आत्मामें निवास करें, केवल हमारे

उच्चतम आत्माके लिये ही जीवन धारण करें और उस विधानके सिवाय अन्य किसी विधानका पालन न करें जो हमारे उच्चतम आत्मासे उद्भूत होता है तथा संचारक मनमें किसी प्रकारका मिथ्या रूप धारण किये बिना ही हमारी विशुद्ध सत्ताको प्राप्त होता है। और, यदि हम यह कार्य ठीक प्रकारसे करें तो हमें पता चलेगा कि इस परम आत्माको ढूँढ़कर हमने सबमें विद्यमान एक आत्माको भी ढूँढ़ लिया है, अपनी प्रकृतिके तथा समस्त प्रकृतिके एकमेव प्रभुको, अपने सर्वमय आत्मा एवं विश्वके सर्वमय आत्माको भी प्राप्त कर लिया है। कारण, इस आत्माको जिसे हम अपने अंदर देखते हैं, अवश्य ही सभी जगह देखेंगे, क्योंकि यही उसकी एकताका सत्य है। अपनी सत्ताके सत्यको खोजकर उसका ठीक प्रकार प्रयोग करनेसे अवश्य ही हमारी व्यक्तिगत सत्ता और विश्वके बीचका पर्दा बलात् फट जायगा और फिर बिलकुल ही हट जायगा और जिस सत्यको हम अपनी सत्ताके अंदर अनुभव करते हैं वह विश्व-सत्तामें भी जो तब हमारी ही सत्ता होगी, हमें अपना अनुभव कराके ही रहेगा। अपने अंदर वेदांतके **"सोऽहम्"** (मैं वह हूँ)का साक्षात्कार करके हम अपने चारों ओर दृष्टि डालनेपर सभीमें इसी ज्ञानके दूसरे पक्ष, **"तत्त्वमसि"** (तू वह है)को अनुभव किये बिना नहीं रह सकते। हमें देखना केवल यह है कि क्रियात्मक रूपमें इस साधनाका अनुशीलन किस प्रकार करना चाहिये जिससे कि हम यह महान् एकात्मता सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकें।

सातवाँ अध्याय

देहकी दासतासे मुक्ति

अपनी बुद्धिमें जब हम एक बार निर्णय कर लेते हैं कि जो कुछ दिखायी देता है वह सत्य नहीं है, आत्मा शरीर या प्राण या मन नहीं है, क्योंकि ये उसके रूपमात्र हैं, तब इस ज्ञानमार्गमें हमारा पहला कदम यह होना चाहिये कि हम प्राण और देहके साथ अपने मनके व्यावहारिक संबंधको ठीक करें, ताकि मन आत्माके साथ अपने यथार्थ संबंधको प्राप्त कर सके। यह कार्य एक उपायके द्वारा सर्वाधिक सुगमताके साथ किया जा सकता है और उससे हम पहलेसे ही परिचित हैं, क्योंकि कर्मयोग-विषयक हमारे दृष्टिकोणमें उसने बड़ा भाग लिया था, वह है प्रकृति और पुरुषको एक-दूसरेसे पृथक् कर लेना। ज्ञाता और ईश्वर-रूप पुरुष अपनी कार्यवाहक सचेतन शक्तिकी क्रियाओंमें आच्छादित हो गया है। परिणामतः शक्तिकी इस स्थूल क्रियाको ही जिसे हम शरीर कहते हैं, वह भूलसे अपनी सत्ता समझता है; वह भूल जाता है कि ज्ञाता और ईश्वर-रूप आत्मा ही मेरा निज स्वरूप है। वह समझता है कि मेरा मन और आत्मा शरीरके नियम और क्रिया-कलापके अधीन हैं। वह भूल जाता है कि इनके अतिरिक्त वह और भी वह बहुत कुछ है जो कि भौतिक रूपकी अपेक्षा अधिक महान् है। वह भूल जाता है कि मन, वस्तुतः ही, जड़ तत्त्वसे अधिक महान् है और इसे उसकी तामस-वृत्तियों एवं प्रतिक्रियाओंका तथा उसके जड़ता एवं अक्षमताके अभ्यासका दास नहीं बनना चाहिये। वह भूल जाता है कि वह मनसे भी अधिक कुछ है, वह एक ऐसी शक्ति है जो कि मानसिक सत्ताको उसके अपने स्तरसे ऊपर उठा ले जा सकती है। वह भूल जाता है कि वह स्वामी और परात्पर है और यह उचित नहीं कि स्वामी अपनी ही क्रियाओंका दास बन जाय तथा परात्पर एक ऐसे रूपमें कैद हो जाय जो उसकी अपनी सत्तामें एक क्षुद्र वस्तुके रूपमें ही अस्तित्व रखता है। इस सब विस्मृतिका प्रतिकार पुरुषको अपने सच्चे स्वरूपका स्मरण करके ही करना होगा और इसके लिये सबसे पहले तो उसे यही स्मरण करना होगा कि शरीर प्रकृतिकी एक क्रियामात्र है और सो भी अनेक क्रियाओंमेंसे केवल एक क्रिया है।

तब हम मनसे कहते हैं "यह प्रकृतिकी एक क्रिया है, यह न तुम्हारी निज सत्ता है न मेरी, इससे पीछे हटकर स्थित होओ।" यदि हम यत्न करें तो हमें पता चलेगा कि मनमें अनासक्तिकी यह शक्ति विद्यमान है और वह केवल विचारमें ही नहीं, बल्कि कार्यरूपमें और मानो भौतिक वरंच प्राणिक रूपमें भी शरीरसे पीछे हटकर स्थित हो सकता है। मनकी इस अनासक्तिको शरीरकी चीजोंके प्रति उदासीनताकी एक विशेष वृत्तिके द्वारा दृढ़ करना होगा; इसकी निद्रा या जागरण, गति या विश्राम, दुःख या सुख, स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य, शक्ति या क्लान्ति, आराम या कष्ट अथवा खान-पानकी हमें कोई खास परवाह नहीं करनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि जहाँतक संभव हो वहाँतक भी, हमें शरीरको ठीक हालतमें नहीं रखना चाहिये; हमें उग्र तपस्याओंमें यास थूल देहकी निश्चयात्मक उपेक्षामें भी ग्रस्त नहीं होना होगा। पर साथ ही हमें भूख-प्यास अथवा कष्ट या रोगका अपने मनपर प्रभाव भी नहीं पड़ने देना होगा, न हमें शरीरकी चीजोंको वैसा महत्त्व ही देना होगा जैसा कि देहप्रधान एवं प्राण-प्रधान मनुष्य उन्हें देता है, 'या फिर, निश्चय ही, इसे एक निरे करणके रूपमें बिलकुल, गौण प्रकारका महत्त्व ही देना होगा; इससे अधिक नहीं। इस करणात्मक महत्त्वको भी इतना नहीं बढ़ने देना होगा कि वह एक आवश्यकताका रूप धारण कर ले; उदाहरणार्थ, हमें यह नहीं सोचना होगा कि मनकी पवित्रता हमारे खाने-पीनेकी चीजोंपर निर्भर करती है, यद्यपि एक विशेष अवस्थामें खान-पानसंबंधी नियम एवं प्रतिबंध हमारी आंतरिक उन्नतिके लिये उपयोगी होते हैं। दूसरी ओर हमें यह भी नहीं समझते रहना चाहिये कि मन या यहाँतक कि प्राणका भी खाने-पीनेके ऊपर ही जो आधार है वह एक अभ्याससे किंवा इन तत्त्वों (शरीर, प्राण और मन)के बीच प्रकृतिके द्वारा स्थापित एक रूढ़ संबंधसे अधिक कुछ है। सच पूछो तो जो भोजन हम ग्रहण करते हैं उसे एक उलटे अभ्यास एवं नये संबंधके द्वारा घटाकर कम-से-कम कर सकते हैं और फिर भी मन या प्राणकी शक्तिको, बिना किसी प्रकारकी कमीके, सुरक्षित रख सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण विकासके द्वारा उन्हें इस प्रकार सधाया जा सकता है कि जिस मानसिक और प्राणिक शक्तिके साथ उनका संबंध है उनके गुप्त स्रोतोंपर भौतिक खाद्य पदार्थोंकी गौण सहायताकी अपेक्षा अधिक निर्भर रहना सीखकर वे एक महत्तर संभाव्य-शक्तिका विकास कर लें। तथापि साधनाका यह पक्ष ज्ञानयोगकी अपेक्षा आत्मसिद्धि-योगका एक अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है; हमारे वर्तमान उद्देश्यके लिये मुख्य वात

यह है कि मनको शरीरकी चीजोंके प्रति आसक्ति या अधीनताका त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार साधनाद्वारा अनुशासित होकर मन क्रमशः शरीरके प्रति पुरुषकी वास्तविक वृत्ति धारण करना सीख जायगा। सर्वप्रथम, वह यह जान जायगा कि मनोमय पुरुष स्वयं शरीर बिलकुल ही नहीं है, बल्कि शरीरका धारण करनेवाला है; क्योंकि वह उस भौतिक सत्तासे सर्वथा भिन्न है जिसे वह मनके द्वारा प्राण-शक्तिकी सहायतासे धारण करता है। यह स्थूल शरीरके प्रति हमारी सारी सत्ताकी एक सामान्य वृत्ति बन जायगी, यहाँतक कि शरीर हमें इस रूपमें अनुभूत होगा कि मानो वह कोई बाहरी चीज है जिसे पहननेकी पोशाककी तरह उतारकर अलग किया जा सकता है अथवा मानो वह एक यंत्र है जिसे हम अपने हाथमें उठाये हुए हैं। हमें यहाँतक अनुभव हो सकता है कि हमारी प्राण-शक्ति एवं हमारे मनकी एक प्रकारकी आंशिक अभिव्यक्ति होनेके सिवाय शरीर, एक विशेष अर्थमें, और कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता। ये अनुभव इस बातके चिह्न होते हैं कि मन शरीरके संबंधमें एक ठीक संतुलित अवस्था प्राप्त कर रहा है, भौतिक संवेदनके द्वारा अभिभूत और अधिकृत मनके मिथ्या दृष्टिकोणके स्थानपर वस्तुओंके वास्तविक सत्यका दृष्टिकोण अपना रहा है।

दूसरे, शरीरकी क्रियाओं और अनुभूतियोंके संबंधमें, मन यह जान जायगा कि उसके अंदर एक पुरुष विराजमान है जो, प्रथम तो, इन क्रियाओं-का साक्षी या द्रष्टा है और दूसरे, इन अनुभूतियोंका ज्ञाता या अनुभवकर्ता है। वह अपने चिंतनमें इस प्रकार सोचना या संवेदनमें इस प्रकार अनुभव करना छोड़ देगा कि ये क्रियाएँ और अनुभव मेरे हैं, वरन् यों सोचेगा एवं अनुभव करेगा कि ये मेरे नहीं हैं, ये प्रकृतिके कार्य-व्यापार हैं जो प्रकृतिके गुणों एवं उनकी पारस्परिक क्रियाके द्वारा नियंत्रित होते हैं। इस अनासक्तिको इतना सामान्य बनाया जा सकता है कि मन और शरीरके बीच एक प्रकारका विभाजन उत्पन्न हो जाय और मन शरीरकी भूख, प्यास, दर्द, थकान, उदासी आदिका इस प्रकार अवलोकन एवं अनुभव करे मानो ये किसी और व्यक्तिके अनुभव हों, ऐसे व्यक्तिके जिसके साथ इसका इतना निकट संबंध (rapport) है कि उसके अंदर जो कुछ भी हो रहा हो उस सबका उसे पता लग जाता है। यह विभाजन आत्म-प्रभुत्वकी प्राप्तिका एक महान् साधन एवं महान् पग है; क्योंकि, मन इन चीजोंको पहले तो इनसे अभिभूत हुए बिना और अंतमें जरा भी प्रभावित हुए बिना, निष्पक्ष भावसे, स्पष्ट समझ पर पूर्ण अनासक्तिके साथ देखने लगता

है। यह मनोमय पुरुषकी देहकी दासतासे प्रारंभिक मुक्ति है, क्योंकि यथार्थ ज्ञानको स्थिरतापूर्वक क्रियान्वित करनेसे मुक्ति अवश्यमेव प्राप्त होती है।

अंतमें मन यह जान जायगा कि मनोमय पुरुष प्रकृतिका स्वामी है और उसकी क्रियाओंके लिये उसकी अनुमति आवश्यक है। इसे पता लग जायगा कि अनुमन्ताके रूपमें वह प्रकृतिके पुराने अभ्यासोंसे अपने मूल आदेशको वापिस ले सकता है और इस प्रकार अंतमें वह अभ्यास छूट जायगा अथवा वह पुरुषके संकल्पके द्वारा निर्दिष्ट दिशामें परिवर्तित हो जायगा; एकदम तो नहीं, क्योंकि जबतक प्रकृतिका अतीत कर्म निर्बीज नहीं हो जाता तबतक उसके आग्रहपूर्ण परिणामके रूपमें पुरानी अनुमति अटल रूपसे बनी रहती है। और, बहुत कुछ उस अभ्यासकी शक्तिपर तथा मनने पहले उसके साथ मूलभूत आवश्यकताका जो विचार जोड़ रखा था उसपर भी निर्भर करता है। परंतु, यदि वह उन मूल अभ्यासोंमेंसे न हो जिन्हें प्रकृतिने मन, प्राण और शरीरके पारस्परिक संबंधके लिये स्थापित कर रखा है और यदि मन पुरानी अनुमतिको नये सिरेसे संपुष्ट न करे या वह स्वेच्छापूर्वक उस अभ्यासमें आसक्त न रहे, तो अंतमें परिवर्तन होने लगेगा। यहांतक कि भूख-प्यासकी आदतको भी कम किया जा सकता है, रोका एवं त्यागा जा सकता है; इसी प्रकार बीमार पड़नेकी आदतको भी कम किया जा सकता है तथा क्रमशः दूर किया जा सकता है और इस बीच प्राण-शक्तिके सचेतन प्रयोग या केवल मनके आदेशके द्वारा शरीरकी गड़बड़ियोंको ठीक करनेकी मनकी शक्ति अत्यधिक बढ़ जायगी। एक ऐसी ही प्रक्रियाके द्वारा उस आदतको भी, जिसके द्वारा शारीरिक प्रकृतिमें कुछ विशेष प्रकारके तथा बड़े प्रमाणवाले कार्योंके बारेमें आयास, थकान, तथा असमर्थताका विचार पैदा होता है, सुधारा जा सकता है और इस शरीररूपी यंत्रके द्वारा हो सकनेवाले भौतिक या मानसिक कार्योंकी शक्ति, स्वतंत्रता, तीव्रता और प्रभावशालिताको अद्भुत रूपमें बढ़ाया जा सकता है, दुगुना, तिगुना, दसगुना किया जा सकता है।

साधन-प्रणालीका यह पक्ष वास्तवमें आत्मसिद्धि-योगका भाग है; परन्तु इन चीजोंके बारेमें यहाँ भी संक्षेपमें वर्णन करना अच्छा होगा, एक तो इसलिये कि इनसे इस पूर्णयोगके एक अंग—आत्मसिद्धि—की आगे आनेवाली व्याख्याका आधार बनते हैं और, दूसरे, इसलिये कि ये उस व्यापकतर विज्ञानके द्वारा प्रकाशित किया सम्भावनाओंको संकेतित करता है। उस विज्ञानके अनुसार सामान्य मानसिक और भौतिक अवस्थाएं मात्र हमारे

अतीतके विकासके द्वारा स्थापित किये हुए मन और शरीरके वर्तमान यथार्थ संबंध ही ठीक, स्वाभाविक और स्वस्थ अवस्थाएँ हैं और अन्य कोई भी चीज, इनकी विरोधी कोई भी चीज या तो विकृत एवं असत्य है या फिर भ्रम, आत्म-प्रतारण एवं उन्माद। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि स्वयं विज्ञान भी इस अनुदार सिद्धांतकी पूर्णतया अवहेलना करता है जब कि वह प्रकृतिपर मनुष्यके महत्तर प्रभुत्वकी प्राप्तिके लिये भौतिक प्रकृतिकी सामान्य क्रियाओंमें इतने परिश्रमके साथ तथा सफलतापूर्वक सुधार करता है। यहाँ एकबारगी ही यह कह देना काफी होगा कि मानसिक और भौतिक अवस्थाके तथा मन और शरीरके पारस्परिक संबंधोंके जिस परिवर्तनसे हमारी सत्ताकी पवित्रता एवं स्वतंत्रतामें वृद्धि होती है, प्रसार एवं शांति प्राप्त होती है और मनकी अपनेपर तथा भौतिक व्यापारोंपर प्रभुत्व रखनेकी शक्ति बढ़ती है, संक्षेपमें, जिससे मनुष्यको अपनी प्रकृतिपर महत्तर प्रभुत्व प्राप्त होता है वह, स्पष्ट ही, कोई विकृत वस्तु नहीं है और न उसे भ्रांति या आत्म-वंचना ही समझा जा सकता है, क्योंकि उसके परिणाम प्रत्यक्ष और सुनिश्चित हैं। वास्तवमें, वह व्यक्तिको विकसित करनेकी प्रक्रियामें एक स्वेच्छाकृत प्रगतिमात्र है; वह विकास तो प्रकृति हर हालतमें साधित करेगी, पर उसमें वह मनुष्यके संकल्पको अपने मुख्य करणके रूपमें प्रयुक्त करना पसंद करती है, क्योंकि उसका मूल लक्ष्य है—पुरुषको उसके ऊपर सचेतन प्रभुत्व प्राप्त करनेकी ओर ले जाना।

यह सब कह चुकनेके बाद हमें इतना और कहना होगा कि ज्ञानमार्गकी प्रक्रियामें मन और शरीरकी पूर्णताका महत्त्व बिलकुल ही नहीं है या केवल गौण ही है। एकमात्र आवश्यक वस्तु है—जो भी सबसे तीव्र या फिर सबसे समग्र एवं प्रभावशाली विधि संभव हो उसके द्वारा प्रकृतिसे ऊपर उठकर आत्मातक पहुँचना; और जिस विधिका हम वर्णन कर रहे हैं वह चाहे सबसे तीव्र तो नहीं है फिर भी अपनी प्रभावशालितामें सबसे अधिक समग्र अवश्य है। और, यहाँ भौतिक कर्म करने या न करनेका प्रश्न उठ खड़ा होता है। साधारणतया यह माना जाता है कि योगीको यथासंभव कर्मसे पराङ्मुख हो जाना चाहिये और विशेषकर यह कि अत्यधिक कर्म योगमें बाधक होता है, क्योंकि यह शक्तियोंको बाहरकी ओर खींचता है। कुछ अंशमें यह बात ठीक भी है; और हमें यह भी ध्यानमें रखना होगा कि जब मनोमय पुरुष केवल साक्षी और द्रष्टाकी वृत्ति धारण कर लेता है तब नीरवता, एकांतवास, भौतिक निश्चलता और शारीरिक निष्क्रियताकी प्रवृत्ति हमारी सत्तापर अधिकार कर लेती है। जबतक यह जड़तासे, काम करनेकी

अक्षमता या अनिच्छासे, संक्षेपमें, तमोगुणकी वृद्धिसे संबद्ध नहीं है तबतक यह सब लाभकारक ही है। कुछ भी न करनेकी शक्ति जो आलस्य, अक्षमता या कर्म करनेके प्रति घृणा और अकर्मके प्रति आसक्तिसे सर्वथा भिन्न वस्तु है, एक महान् शक्ति एवं महान् प्रभुत्व है; कर्मसे पूर्णतया विरत होकर रहनेकी शक्ति ज्ञानयोगीके लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचारका पूर्णतया निरोध करनेकी शक्ति, अनिश्चित कालके लिये केवल एकान्त और नीरवतामें रहनेकी शक्ति और अचल रूपमें शांत रहनेकी शक्ति। जो कोई इन अवस्थाओंका आलिंगन करनेके लिये इच्छुक नहीं है वह अभी उच्चतम ज्ञानकी ओर ले जानेवाले मार्गके योग्य नहीं है; जो व्यक्ति इनके समीप पहुँचनेमें असमर्थ है वह अभी उस ज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं है।

इसके साथ-साथ यह भी कह देना आवश्यक है कि कर्मसे विरत होनेकी शक्ति ही काफी है; समस्त भौतिक कर्मसे विरत हो जाना आवश्यक नहीं है, मानसिक किंवा शारीरिक कर्मके प्रति घृणा वांछनीय नहीं है, ज्ञानकी समग्रताके अभीप्सुको जहाँ कर्मके प्रति आसक्तिसे मुक्त होना चाहिये वहाँ अकर्मके प्रति आसक्तिसे भी उसी प्रकार मुक्त होना चाहिये। विशेषकर मन या प्राण या शरीरकी निरी जड़ताकी हरएक प्रवृत्तिपर विजय पानी होगी, और यदि ऐसी आदत प्रकृतिपर अपना प्रभुत्व जमाती प्रतीत हो तो पुरुषके संकल्पका प्रयोग करके उसे त्याग देना होगा। अंतमें एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब प्राण और शरीर केवल यंत्र बनकर मनोमय पुरुषके संकल्पको पूरा करते हैं पर वैसा करनेमें न तो उनपर कोई जोर पड़ता है और न वे उसमें आसक्त होते हैं, न ही वे एक हीनतर, आतुर और प्रायः ही उत्तेजनात्मक शक्तिके साथ अपने-आपको कर्ममें झोंकते हैं जो कि उनका काम करनेका साधारण ढंग है। तब वे प्रकृतिकी शक्तियोंकी ही तरह कार्य करने लगते हैं—विना उद्वेगके, विना किसी श्रम और प्रति-क्रियाके जो सब कि भौतिक सत्तापर प्रभुत्व न रखनेवाले देहबद्ध प्राणके विशेष लक्षण हैं। जब हम पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं, तब कर्म करने और न करनेका कोई महत्त्व नहीं रहता, क्योंकि उनमेंसे कोई भी अंतरात्माकी स्वतंत्रतामें हस्तक्षेप नहीं करता, न वह परम आत्माको प्राप्त करनेके इसके आवेगसे या परम आत्मामें इसकी समस्थितिसे इसे विचलित ही कर सकता है। परंतु पूर्णताकी यह अवस्था योगमें बहुत आगे जाकर ही प्राप्त होती है और तबतक गीताद्वारा प्रतिपादित युक्ताहार-विहारका सिद्धांत ही हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ है; अतएव, मानसिक या शारीरिक कर्मकी अति अच्छी

नहीं है, क्योंकि अति हमारी बहुत अधिक शक्तिको बाहर खींच ले जाती है और हमारी आध्यात्मिक अवस्थापर प्रतिकूल प्रभाव डालती है; उधर, कर्ममें बहुत अधिक कमी कर देना भी अच्छा नहीं, क्योंकि कमी करनेसे अकर्मण्यताकी आदत पड़ जाती है और यहाँतक कि अक्षमता भी पैदा हो जाती है जिन्हें जीतनेमें पीछे काफी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। फिर भी, पूर्ण स्थिरता, एकांतवास और निष्कर्मताके अवसर परम वांछनीय हैं और उन्हें जितनी भी बार संभव हो प्राप्त करना चाहिये, ताकि अंतरात्मा अपने अंदर गहराईमें जा सके जो कि ज्ञान-प्राप्तिकी अनिवार्य शर्त है।

देह (की दासता)की इस प्रकार चर्चा करते हुए प्राण या जीवन-शक्तिकी चर्चा करना भी हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। कारण, व्यावहारिक उद्देश्योंके लिये हमें शरीरमें कार्य करनेवाली प्राण-शक्ति, स्थूल प्राण, और मानसिक क्रियाओंकी सहायताके लिये कार्य करनेवाली प्राण-शक्ति, चैत्य प्राण, में भेद करना होगा। क्योंकि, हम सदा ही द्विविध जीवन बिताते हैं, मानसिक और शारीरिक, और एक ही प्राणशक्ति इनमेंसे जिस एक या दूसरेकी सहायता करती है उसके अनुसार भिन्न प्रकारसे कार्य करती है तथा भिन्न रूप धारण कर लेती है। शरीरमें यह भूख, प्यास, थकान, स्वास्थ्य, रोग और भौतिक वल-उत्साह आदिकी वे प्रतिक्रियाएँ पैदा करती है जो स्थूल देहकी प्राणिक अनुभूतियाँ हैं। क्योंकि, मनुष्यका स्थूल शरीर पत्थर या मृत्पिड जैसा नहीं है; यह दो कोषों, "प्राणमय" और "अन्नमय" कोषों, के संयोगसे वना है और इसका जीवन दोनोंकी सतत परस्पर-क्रिया है। फिर भी प्राण-शक्ति और स्थूल देह दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं और जैसे-जैसे मन ग्रस्तकारी देहात्मवुद्धिसे पीछे हटता जाता है वैसे-वैसे हम प्राणसे तथा शरीररूपी यंत्रमें इसकी क्रियासे अधिकाधिक सज्ञान होते जाते हैं और इसकी क्रियाओंका निरीक्षण तथा अधिकाधिक नियंत्रण कर सकते हैं। व्यवहारतः शरीरसे पीछे हटनेमें हम स्थूल प्राण-शक्तिसे भी पीछे हटते हैं, यद्यपि हम इन दोनोंमें भेद करते हैं और प्राणको निरे स्थूल यंत्रकी अपेक्षा अपनी सच्ची सत्ताके अधिक निकट अनुभव करते हैं। वास्तवमें, शरीरके ऊपर पूर्ण विजय स्थूल प्राण-शक्तिके ऊपर विजयसे ही प्राप्त होती है।

शरीर और उसके कार्योंके प्रति आसक्तिके ऊपर विजय प्राप्त करनेके साथ ही देहवद्ध प्राणके प्रति आसक्तिपर भी विजय प्राप्त हो जाती है। क्योंकि, जव हम यह अनुभव करते हैं कि स्थूल देह हमारा अपना स्वरूप

नहीं है, वल्कि केवल हमारा वस्त्र या यंत्र है तव शरीरकी जुगुप्साकी वृत्ति जो प्राणप्रधान मनुष्यमें इतनी तीव्र एवं प्रवल होती है अनिवार्यत: ही दुर्वल पड़ जाती है तथा वाहर निकाल फेंकी जा सकती है। इसे निकाल ही फेंकना होगा तथा पूर्ण रूपसे निकाल फेंकना होगा। मृत्युका भय और देह-नाशसे तीव्र घृणा एक ऐसा कलंक है जो मनुष्यपर, पशुजातिमेंसे उसका विकास होनेके कारण, लगा रह गया है। इस कलंकके टीकेको पूर्ण रूपसे मिटा देना होगा।

आठवाँ अध्याय

हृदय और मनके बंधनसे मुक्ति

परंतु आरोहण करती हुई अंतरात्माको देहबद्ध प्राणसे ही नहीं, बल्कि प्राणशक्तिकी मनोगत क्रियासे भी अपने-आपको पृथक् करना होगा; उसे मनको पुरुषका प्रतिनिधि बनाकर उससे यह कहलाना होगा कि "मैं प्राण नहीं हूँ; प्राण पुरुषका निज स्वरूप नहीं है, यह प्रकृतिकी महज एक क्रिया और वह भी (कई क्रियाओंमेंसे) केवल एक क्रिया है।" प्राणके विशेष लक्षण हैं— गति और क्रिया, व्यक्तिकी सत्ताके बाहर जो भी चीजें हैं उन्हें ग्रहण और आत्मसात् करनेके लिये प्रयत्न और यह जिस चीजको अपने अधिकारमें ले आता है या जो चीज इसे प्राप्त हो जाती है उसमें संतुष्ट या असंतुष्ट होनेका सिद्धांत जो आकर्षण और विकर्षणके सार्वभौम तथ्यसे संबद्ध है। प्राणके ये तीन धर्म प्रकृतिमें सभी जगह देखनेमें आते हैं, क्योंकि प्राण प्रकृतिमें सभी जगह है। परंतु हम मनोमय प्राणियोंमें इन सबको इन्हें देखने और ग्रहण करनेवाले भिन्न-भिन्न मनके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारका मानसिक मूल्य दे दिया जाता है। ये क्रियाका, कामना और राग-द्वेषका, सुख और दुःखका रूप धारण कर लेते हैं। प्राण हमारे अंदर सर्वत्र ओतप्रोत है और हमारे शरीरकी ही नहीं, बल्कि हमारे इन्द्रियाश्रित मन, भावमय मन तथा चिंतनात्मक मनकी भी क्रियाको धारण कर रहा है। और, इन सबके अंदर अपना नियम या धर्म लाकर, वह इनके यथार्थ कर्मको अव्यवस्थित, सीमित एवं अस्तव्यस्त कर देता है और उस धर्मच्युति-रूप अपवित्रता एवं उस विषम गड़बड़झालेको पैदा कर देता है जो हमारी आंतरिक सत्ताकी सारी बुराईकी जड़ है। उस गड़बड़झालेमें एक नियम, कामनाका नियम, शासन करता प्रतीत होता है। जिस प्रकार सबको अपने अंदर समानेवाले और सबके स्वामी विराट् परमेश्वर केवल दिव्य आनंदके रसास्वादनार्थ कर्म, गति और उपभोग करते हैं, उसी प्रकार व्यक्तिका प्राण प्रधान रूपसे कामनाकी तृप्तिके लिये ही गति और कर्म करता तथा सुख-दुःख भोगता है। अतएव, चैत्य (सूक्ष्म) प्राणशक्ति हमें एक प्रकारके कामनामय मनके रूपमें ही अनुभूत होती है। यदि हम अपनी सच्ची आत्मामें पुनः प्रवेश करना चाहते हैं तो इस कामनामय मनपर हमें विजय पानी होगी।

कामना, एक साथ ही, हमारे कार्योंका मूल हेतु, हमारी सब कार्य-सिद्धियोंका मुख्य करण और हमारे जीवनके सब दुःखोंका मूल है। यदि हमारा इन्द्रियाश्रित मन, भावमय मन तथा चिंतनात्मक मन प्राणशक्तिके हस्तक्षेपों तथा उसकी लायी हुई चीजोंसे स्वतंत्र रहकर कार्य कर सकें, यदि उस प्राणशक्तिको इस बातके लिये बाध्य किया जा सके कि वह हमारे जीवनपर अपना जूआ लादनेके बदले इन (उच्चतर) करणोंके यथार्थ कार्यके अधीन होकर रहे तो सभी मानवीय समस्याएँ अपने यथायथ समाधानकी ओर सुसमंजस रूपमें अग्रसर होंगी। प्राणशक्तिका अपना यथार्थ धर्म यह है कि वह हमारे अंदरके दिव्य तत्त्वके आदेशका पालन करे, वे अंतर्वासी भगवान् उसे जो कुछ दें उसीको ग्रहण करे तथा उसीमें आनंद ले और किसी भी प्रकारकी कामना न करे। इन्द्रियाश्रित मनका अपना यथार्थ धर्म यह है कि वह प्राणके बाह्य स्पर्शोंके प्रति निष्क्रिय और आलोकित रूपमें खुला रहे तथा उनके संवेदनोंको और उनके अंदर विद्यमान रस (यथार्थ आस्वाद), एवं आनंदके तत्त्वको अपनेसे उच्च करणतक पहुँचा दे। परंतु देहगत प्राणशक्तिके आकर्षणों और विकर्षणों, स्वीकृतियों और निषेधों, संतुष्टियों और असंतुष्टियों, सामर्थ्यों और असामर्थ्योंके हस्तक्षेपके कारण, प्रथम तो, उसका क्षेत्र सीमिति हो जाता है और, दूसरे, वह इन सीमाओंके भीतर जड़गत प्राणके इन सब असामंजस्योंके साथ संबंध रखनेके लिये बाध्य हो जाता है। वह सत्ताके आनंदका यंत्र बननेकी जगह सुख-दुःखका यंत्र बन जाता है।

इसी प्रकार भावमय मन इन सब असामंजस्योंका ध्यान रखने तथा इनके प्रति भावावेशमय प्रतिक्रियाएँ करनेके लिये विवश होनेके कारण एक संघर्षमय क्षेत्र बन जाता है जिसमें हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा, क्रोध, भय, संघर्ष, अभीप्सा, विरक्ति, राग, द्वेष, उदासीनता, संतोष, असंतोष, आशा, निराशा, प्रत्युपकार तथा प्रत्यपकारका एवं अन्यान्य भावावेशोंका कितना विपुल खेल चलता रहता है जो इस जगत्में होनेवाले जीवनरूपी नाटकका स्वरूप है। इस गड़बड़झालेको हम अपनी आत्मा कहते हैं। परंतु वास्तविक आत्मा, वास्तविक चैत्य सत्ता जिसका बहुधा हम बहुत ही कम भाग देख पाते हैं और जिसका विकास मनुष्यजातिका एक छोटा-सा भाग ही कर पाया है, शुद्ध प्रेम और आनंदका तथा ईश्वर और अपने साथी-प्राणियोंके साथ घुल-मिलकर एक हो जानेके लिये उज्ज्वल प्रयत्न करनेका एक यंत्र है। यह चैत्य सत्ता मानसभावापन्न प्राण या कामनामय मनकी, जिसे हम भूलसे अपनी आत्मा समझते हैं, क्रीड़ाके कारण ढकी

हुई है; भावमय मन हमारे अंदरकी वास्तविक आत्माको, हमारे हृदयोंमें विराजमान भगवान्को, प्रतिबिंबित करनेमें असमर्थ है और इसके स्थानपर वह कामनामय मनको प्रतिबिंबित करनेको बाध्य होता है।

इसी प्रकार चिंतनात्मक मनका यथार्थ कार्य यह है कि वह ज्ञान-प्राप्तिमें निष्पक्ष भावसे आनंद लेते हुए निरीक्षण करे, समझे और निर्णय करे और अपने-आपको उन संदेशों तथा ज्ञानरश्मियोंकी ओर खोले जो उन सब वस्तुओंमें अपनी क्रिया करती हैं जिन्हें वह देखता है तथा उनमें भी जो अभी उससे छुपी हुई हैं, पर जो उत्तरोत्तर प्रकट होंगी। ये संदेश और ज्ञानरश्मियाँ हमारे मनसे ऊपरकी ज्योतिमें छुपी हुई दिव्य वाणीसे हमारे अंदर एक चमकके रूपमें गुप्ततया उतर आती हैं भले ही ये अंतर्ज्ञानमय मनके द्वारा उतरती हुई प्रतीत हों या दृष्टिसंपन्न हृदयमेंसे उद्भूत होती हुई। परंतु यह कार्य वह ठीक ढंगसे नहीं कर सकता, क्योंकि यह इन्द्रियोंमें अवस्थित प्राणशक्तिके बंधनोंसे, संवेदन और भावावेशके विरोधोंसे और बौद्धिक अभिरुचि, जड़ता, आयास, अहम्मय इच्छाके अपने निजी बंधनोंसे जकड़ा हुआ है। इन बौद्धिक अभिरुचि आदि रूपोंको यह इस कामनामय मन, इस चैत्य प्राणके हस्तक्षेपके कारण ही ग्रहण करता है। जैसा कि उपनिषदोंमें कहा गया है, हमारी संपूर्ण मनश्चेतना इस प्राणके सूत्रों और धाराओंसे ओतप्रोत है,—इस प्राणशक्तिके जो प्रयत्न करती है और सीमामें बाँधती है, ग्रहण करती और चूक जाती है, कामना करती और कष्ट भोगती है, और इसे शुद्ध करके ही हम अपनी वास्तविक एवं सनातन आत्माको जान सकते तथा प्राप्त कर सकते हैं।

यह सत्य है कि इस सब बुराईकी जड़ है अहं-बुद्धि और चेतन अहं-बुद्धिका स्थान है स्वयं मन। पर वास्तवमें चेतन मन अहंको केवल प्रति-बिंबित ही करता है, अहंकी रचना तो वस्तुओंके अवचेतन मनमें, पत्थर और पौधेके अंदर विद्यमान मूक आत्मामें हो चुकी होती है। यह मूक आत्मा समस्त देह-प्राणधारियोंमें उपस्थित है, चेतन मन इसे मूलतः जन्म नहीं देता, बल्कि इसे अंतिम रूपसे उन्मुक्त करके केवल जाग्रत् और वाक्शक्तिसंपन्न बना देता है। और, इस ऊर्ध्वमुख क्रमविकासमें यह हमारी प्राणशक्ति ही है जो अहंकी आग्रहपूर्ण ग्रंथि बन गयी है, यह हमारा कामनामय मन ही है जो उस गाँठको ढीली करनेसे इन्कार करता है तब भी जब कि बुद्धि और हृदय अपने दुःखोंका कारण खोज चुके होते हैं और उसे दूर करनेके लिये सहर्ष उद्यत होते हैं; क्योंकि उनके अंदर विद्यमान प्राण 'पशु' है जो विद्रोह करता है और अपने इन्कारसे उनके

ज्ञानको आच्छन्न तथा प्रतारित करता है तथा उनके संकल्पको जबर्दस्ती दवा देता है।

अतएव, मनोमय पुरुषको इस कामनात्मक मनसे अपने संबंध तथा तादात्म्यका विच्छेद करना होगा। उसे कहना होगा "मैं यह सत्ता नहीं हूँ जो संघर्ष करती और कष्ट भोगती है, सुख-दुःख, प्रेम और घृणा, आशा और निराशा, क्रोध और भय, हर्ष और विषादके वशीभूत होती है, जो प्राणिक वृत्तियों और भावावेशोंसे बनी हुई सत्ता है। ये सब चीजें तो संवेदनात्मक और भावप्रधान मनमें प्रकृतिके कार्यव्यापार और अभ्यासमात्र हैं।" तब मन अपने भावावेगोंसे पीछे हट जाता है और शरीरकी क्रियाओं एवं अनुभूतियोंकी भाँति इनका भी द्रष्टा या साक्षी बन जाता है। एक बार फिर अंतःसत्तामें विभाजन पैदा हो जाता है। एक ओर तो होता है यह भावप्रधान मन जिसमें प्रकृतिके गुणोंके अभ्यासके अनुसार ये भाव और आवेग उठते रहते हैं और दूसरी ओर होता है द्रष्टा मन जो उन्हें देखता है, उनका अध्ययन करता तथा उन्हें समझता है, पर उनसे विलग रहता है। वह उन्हें इस प्रकार देखता है मानो मनके रंगमंचपर उससे भिन्न अन्य व्यक्तियोंका एक प्रकारका खेल एवं अभिनय हो रहा हो, पहले तो वह उनमें रस लेता है और अभ्यासके कारण बारंबार उनके साथ तदात्मता स्थापित करता रहता है, बादमें वह उन्हें पूर्णतया स्थिर और निर्लिप्त भावसे देखता है, और अंतमें, अपनी नीरव सत्ताकी शांति ही नहीं, वल्कि उसका शुद्ध आनंद भी प्राप्त करके, उनकी अवास्तविकतापर इस प्रकार मुस्कराता है जिस प्रकार कोई आदमी एक वच्चेके, जो खेल रहा है और उस खेलमें अपने-आपको बिलकुल भूल जाता है, काल्पनिक सुख-दुःखोंपर मुस्कराया करता है। दूसरे, वह जान जाता है कि 'मैं अनुमतिका स्वामी हूँ जो अपनी अनुमतिको वापिस लेकर यह खेल बंद कर सकता हूँ।' जब वह अनुमतिको वापिस ले लेता है तव एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटित होती है; भावमय मन सामान्यतया शांत और पवित्र हो जाता है तथा इन प्रतिक्रियाओंसे मुक्त भी, और जब ये आती भी हैं तव भी ये पहलेकी तरह भीतरसे नहीं उठतीं, वल्कि वाहरसे आनेवाले ऐसे संस्कारोंकी तरह उसपर प्रतिबिंवित होती दिखायी देती हैं जिन्हें उसकी स्नायुएँ अभी भी प्रत्युत्तर दे सकती हैं; परंतु आगे चलकर प्रत्युत्तर देनेकी यह आदत भी समाप्त हो जाती है और समय आनेपर भावमय मन अपने त्यागे हुए आवेशोंसे पूर्णतया मुक्त हो जाता है। आशा और भय, हर्ष और शोक, राग और द्वेष, आकर्षण और विकर्षण, संतोष और असंतोष, हर्ष और

विषाद, त्रास, क्रोध, भय, जुगुप्सा और लज्जा, तथा प्रेम और घृणाके आवेश हमारी मुक्त अंतरात्मासे झड़कर अलग हो जाते हैं।

तब इनके स्थानपर क्या चीज आती है? हम चाहें तो इनके स्थानपर पूर्ण स्थिरता, नीरवता और उदासीनता आ सकती हैं। पर, यद्यपि यह एक ऐसी अवस्था है जिसमेंसे अंतरात्माको साधारणतया गुजरना ही पड़ता है, तथापि हमने अपने सामने जो चरम लक्ष्य रखा है वह यह नहीं है। अतएव, हमारे योगमें पुरुष संकल्पका स्वामी भी बन जाता है और उसका संकल्प अयुक्त उपभोगके स्थानपर चैत्य सत्ताके युक्त उपभोगकी स्थापना करनेका होता है। वह जो संकल्प करता है, प्रकृति उसे पूरा करती है। जो कामना और वासनाका उपादान था वह शुद्ध, सम और शांत-प्रगाढ़ प्रेम, आनंद और एकत्वरूपी सत्य वस्तुमें परिणत हो जाता है। वास्तविक आत्मा प्रकट हो उठती है और कामनामय मनके द्वारा खाली किये हुए स्थानपर प्रतिष्ठित हो जाती है। शुद्ध और रिक्त पात्र अब आवेशके कटुमिश्रित मधुर विषके बदले दिव्य प्रेम और आनंदके सोमरससे पूरित हो जाता है। आवेश, यहाँतक कि शुभ कार्यके लिये उठनेवाले आवेश भी, दैवी प्रकृतिको मिथ्या रूपमें प्रकट करते हैं। हमारे अंदर 'कृपा'का जो आवेश उठता है उसमें स्थूल घृणाकी अशुद्धि मिली होती है और दूसरोंका कष्ट सहनेमें हमारे हृदयकी असमर्थताकी भी मिलावट रहती है। ऐसी कृपाके आवेशको त्याग देना होगा और इसके स्थानपर उस उच्चतर दिव्य करुणाको प्रतिष्ठित करना होगा जो सब कुछ देखती और समझती है, दूसरोंका भार अपने ऊपर लेती है और उनकी सहायता करने तथा उनका दुःख दूर करनेकी सामर्थ्य भी रखती है, पर उनकी सहायता आदिका कार्य वह अहंपूर्ण इच्छाके साथ नहीं करती, न वह इसमें जगत्के दुःख-कष्टके विरुद्ध विद्रोह करती है और न वस्तुओंके विधान एवं उद्गमपर अज्ञानपूर्ण दोषारोपण ही करती है, बल्कि प्रकाश और ज्ञानके साथ तथा प्रकट होते हुए भगवान्के यंत्रके रूपमें ही उनका दुःख निवारण करती है। इसी प्रकार जो प्रेम वस्तुओंकी कामना करता तथा उनपर झपटता है, हर्षसे विक्षुब्ध और दुःखसे चलायमान हो उठता है, उसका त्याग करना होगा और उसका स्थान उस सम, सबका आलिंगन करनेवाले प्रेमको देना होगा जो इन चीजोंसे मुक्त होता है तथा परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करता और प्रत्युत्तर मिलने या न मिलनेसे जिसमें कोई अंतर नहीं पड़ता। अंतरात्माकी सभी क्रियाओंके साथ हमें ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये; परंतु इनके विषयमें हम आगे चलकर आत्मसिद्धि-योगके विवेचनके समय चर्चा करेंगे।

जो बात कर्म और निष्कर्मताके बारेमें कहीं गयी है वह एक और द्वन्द्वपर भी लागू होती है। वह द्वन्द्व यह है कि हमारे भावप्रधान मनमें एक ओर तो उदासीनता एवं स्थिरताका भाव हो सकता है और दूसरी ओर सक्रिय प्रेम और आनंदका। परंतु हमारा आधार होनी चाहिये समता न कि उदासीनता। समतापूर्ण तितिक्षा, निष्पक्ष उदासीनता, हर्ष या शोकके कारण उपस्थित होनेपर उनके प्रति हर्ष या शोकके रूपमें किसी प्रकारकी प्रतिक्रिया किये बिना शांत समर्पण—ये सब समताका आरंभिक सोपान एवं अभावात्मक आधार हैं; परंतु समता तबतक पूर्ण नहीं हो पाती जबतक यह प्रेम और आनंदका भावात्मक रूप धारण नहीं कर लेती। इन्द्रियाश्रित मनको सबमें सर्व-सुन्दरका सम रस प्राप्त करना होगा, हृदयको सबके लिये सम प्रेम तथा सबमें सम आनंद अनुभव करना होगा और सूक्ष्म प्राणको सर्वत्र इस रस, प्रेम और आनंदका आस्वादन करना होगा। परंतु, यह एक भावात्मक पूर्णता है जो मुक्तिके द्वारा ही प्राप्त होती है; ज्ञानमार्गमें हमारा प्रथम लक्ष्य, वस्तुतः, मुक्ति प्राप्त करना है जो कामनात्मक मनसे अपने-आपको जुदा करने तथा उसकी वासनाओंका त्याग करनेसे ही प्राप्त होती है।

कामनामय मनको विचारके करणसे भी बाहर निकाल देना होगा और इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि पुरुष अपने-आपको स्वयं विचार और सम्मतिसे भी पृथक् कर ले। इसकी चर्चा हम एक प्रसंगमें पहले ही कर चुके हैं जहाँ हमने इस विषयपर विचार किया था कि सत्ताकी सर्वांगीण शुद्धिका क्या अभिप्राय है। क्योंकि, ज्ञान-प्राप्तिकी यह सब क्रिया जिसका हम वर्णन कर रहे हैं, अपनेको शुद्ध करके मुक्ति लाभ करनेकी पद्धति है जिसके द्वारा पूर्ण और अंतिम आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है; उधर, क्रमशः बढ़ता हुआ आत्मज्ञान स्वयं ही शुद्धि और मुक्तिका साधन होता है। चिंतनात्मक मनसे पृथक् होनेकी विधि भी वही होगी जो सत्ताके शेष सब भागोंसे पृथक् होनेके लिये बतायी गयी है। शरीर और प्राणके साथ तथा कामनाओं, संवेदनों और आवेशोंवाले मनके साथ तादात्म्यसे मुक्ति पानेके लिये चिंतनात्मक मनका प्रयोग कर चुकनेके बाद पुरुष स्वयं इस मनकी ओर अभिमुख होकर कहेगा "यह भी मैं नहीं हूँ; मैं न विचार हूँ न विचारक; ये सब विचार, सम्मतियाँ, कल्पनाएँ, बुद्धिके प्रयास, उसके पक्षपात, पूर्वानुराग, मत-सिद्धांत, संशय और स्व-संशोधन मेरा निज स्वरूप नहीं हैं; यह सब तो प्रकृतिका व्यापारमात्र है जो विचारात्मक मनमें घटित होता है।" इस प्रकार, विचार और संकल्प

करनेवाले मन तथा निरीक्षण करनेवाले मनमें विभाजन पैदा हो जाता है और पुरुष केवल द्रष्टा बन जाता है; वह अपने विचारकी प्रक्रिया तथा उसके नियमोंको देखता है, समझता है, पर अपने-आपको उससे अलग कर लेता है। फिर, अनुमतिके स्वामीके रूपमें वह मनकी अवचेतन धारा तथा तर्कबुद्धिकी जटिल क्रियासे अपनी पुरानी अनुमति वापिस ले लेता है और इस प्रकार दोनोंकी आग्रहपूर्ण क्रियाओंको बंद कर देता है। वह चिंतनात्मक मनकी दासतासे मुक्त होकर पूर्ण नीरवता प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।

पूर्णताकी प्राप्तिके लिये यह भी आवश्यक है कि पुरुष अपनी प्रकृतिके स्वामीके रूपमें अपना कार्य फिरसे अपने हाथमें ले ले और निरी मनकी अवचेतन धारा तथा बुद्धिके स्थानपर ऊपरसे एक चमकके रूपमें आनेवाले सत्य-सचेतन विचारको प्रतिष्ठित करनेके लिये संकल्पका प्रयोग करे। परंतु नीरवताको प्राप्त करना भी आवश्यक है, क्योंकि विचारमें नहीं, वल्कि नीरवतामें ही हम आत्माको प्राप्त कर पायेंगे, उसकी निरी कल्पना ही नहीं, बल्कि उसका साक्षात् अनुभव कर सकेंगे और मनोमय पुरुषसे पीछे हटकर हम उस तत्त्वमें पहुँच जायँगे जो मनका भी मूल है। परंतु इस मूलतक पहुँचनेके लिये एक अंतिम मुक्ति, अर्थात् मनमें रहनेवाली अहं-भावनासे मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है।

नवाँ अध्याय

अहंसे मुक्ति

देह-भावनाके साथ बँधे हुए मानसिक और प्राणिक अहंकी रचना विराट् प्राणका, अपने क्रमिक विकासमें, सर्वप्रथम और महान् प्रयास था; क्योंकि जड़तत्त्वमेंसे चेतन व्यक्तिको उत्पन्न करनेका जो साधन उसने ढूँढ़ निकाला वह यही था। इस सीमाकारी अहंका विलय कर देना ही वह एकमात्र शर्त्त एवं आवश्यक साधन है जिसके द्वारा स्वयं यह विराट् प्राण अपनी दिव्य परिणति प्राप्त कर सकता है; क्योंकि केवल इसी तरीकेसे चेतन व्यक्ति अपने परात्पर आत्म-स्वरूप या सच्चे पुरुषको उपलब्ध कर सकता है। इस दोहरी क्रियाको साधारणतया पतन और उद्धार या निर्माण और विनाश कहकर वर्णित किया जाता है,—इसे प्रकाशका प्रज्ज्वलित होना और बुझना या पहले तो एक अपेक्षाकृत क्षुद्र, अस्थायी और अवास्तविक आत्म-सत्ताकी रचना करना और फिर उससे मुक्त होकर अपनी सच्ची आत्माकी नित्य विशालतामें पहुँचना भी कहा जाता है। क्योंकि इस विषयमें मानवकी विचारधारा विभक्त होकर दो नितांत विरोधी दिशाओंमें प्रवाहित होती है : उनमेंसे एक है लौकिक एवं उपयोगितावादीय जो व्यक्ति या समाजकी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अहं-भावनाकी परिपूर्त्ति एवं तृप्तिको ही जीवनका लक्ष्य समझती है और इससे परे दृष्टि नहीं डालती, जब कि दूसरी है आध्यात्मिक, दार्शनिक या धार्मिक जो अंतरात्मा या आत्माके अथवा अंतिम सत्ता जो कोई भी हो उसके हित अहंकी विजयको ही एकमात्र परम कर्तव्य मानती है। अहंके शिविरमें भी दो विभिन्न मनोवृत्तियाँ देखनेमें आती हैं जो जगद्विषयक ऐहिक या जड़वादी विचारको दो धाराओंमें विभक्त कर देती हैं। उनमेंसे एक विचारधारा मानसिक अहंको हमारे मनकी एक ऐसी रचना मानती है जो देहकी मृत्यु होनेपर मनके विनाशके साथ ही विनष्ट हो जायगी; एकमात्र स्थायी सत्य है सनातन प्रकृति जो मानवजातिमें—इस मानवजातिमें या किसी अन्यमें—कार्य करती है और हमारा नहीं, उसका उद्देश्य पूरा होना चाहिये, व्यक्तिकी नहीं, वरन् जाति अर्थात् सामूहिक अहंकी चरितार्थता ही जीवनकी नियामक होनी चाहिये। दूसरी विचारधारा, जो अपनी

प्रवृत्तियोंमें अधिक प्राणात्मवादी है, चेतन अहंको प्रकृतिकी परमोच्च उपलब्धि मानकर—भले यह कितनी ही अस्थायी क्यों न हो—इसीपर अपना ध्यान एकाग्र करती है, इसे अस्तित्वेच्छा (Will-to-be) के मानवीय प्रतिनिधिके रूपमें उच्च पद प्रदान करती है और इसकी महत्ता एवं तृप्तिको ही हमारी सत्ताका सर्वोच्च लक्ष्य उद्‌घोषित करती है। जो अनेकानेक दर्शन किसी प्रकारके धार्मिक विचार या आध्यात्मिक साधनाको अपना आधार बनाते हैं उनमें भी इसी प्रकारका मतभेद पाया जाता है। बौद्धमतवादी वास्तविक आत्मा या अहंकी सत्तासे इन्कार करता है, किसी विराट् या परात्पर पुरुषको नहीं मानता। अद्वैतवादी घोषणा करता है कि वैयक्तिक सत्ताके रूपमें प्रतीत होनेवाला जीवात्मा परम आत्मा एवं ब्रह्मसे भिन्न और कुछ नहीं है, इसकी वैयक्तिक सत्ता मायामय है; वैयक्तिक सत्ताका परित्याग कर देना ही एकमात्र सच्ची मुक्ति है। कुछ अन्य दर्शन इस विचारका पूर्ण रूपसे विरोध करते हुए जीवकी नित्यताकी स्थापना करते हैं; एकमेवमें अनेकात्मक चेतनाका आधार होनेके कारण या फिर एकमेवपर आश्रित, किंतु फिर भी एक पृथक् सत्ता होनेके कारण जीव नित्य, वास्तविक और अविनाशी है।

इन नानाविध और परस्पर-विरोधी मतोंके बीच सत्यके अन्वेषकको अपने लिये निर्णय करना होगा कि वह 'ज्ञान'के किस रूपको स्वीकार करेगा। परंतु यदि हमारा लक्ष्य आध्यात्मिक मुक्ति या आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना हो तो अहंके इस क्षुद्र घेरेको पार करना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। मानवीय अहंभाव और इसकी तुष्टिमें कोई दिव्य परिणति एवं मुक्ति निहित नहीं हो सकती। यहाँतक कि नैतिक विकास और उत्कर्षके लिये तथा समाजकी भलाई और पूर्णताके लिये भी अहंभावसे यत्किंचित् मुक्त होना नितांत आवश्यक है; आंतरिक शांति, शुद्धि और आनंदके लिये तो यह और भी अधिक आवश्यक है। किंतु हमारा लक्ष्य मानव-प्रकृतिको दैवी प्रकृतिमें उठा ले जाना हो तो केवल अहंतासे ही नहीं, बल्कि अहं-भावना और अहंबुद्धिसे भी एक कहीं अधिक आमूल मुक्तिकी आवश्यकता होगी। अनुभवसे पता चलता है कि जैसे-जैसे हम संकीर्णकारी मानसिक और प्राणिक अहंसे मुक्त होते जाते हैं वैसे-वैसे हमें एक विशालतर जीवन, वृहत्तर सत्ता, उच्चतर चेतना, मंगलतर आत्म-स्थिति, यहाँतक कि महत्तर ज्ञान एवं शक्ति और महत्तर जीवन-क्षेत्रपर अधिकार प्राप्त होता जाता है। अपिच, एक अत्यंत ऐहलौकिक दर्शन व्यक्तिकी चरितार्थता, पूर्णता और तृप्तिके जिस लक्ष्यका अनुसरण करता है वह इसी अहंको तृप्त

करनेसे नहीं, वल्कि उच्चतर एवं विशालतर आत्मामें स्वातंत्र्य लाभ करनेसे ही सर्वोत्तम तथा सुनिश्चित रूपमें प्राप्त हो सकता है। उपनिषद् कहती है, 'सत्ताकी क्षुद्रतामें कोई सुख नहीं, सत्ताके विशाल होनेपर ही सुख प्राप्त होता है'।* अहं अपने स्वभावसे ही सत्ताकी एक क्षुद्रावस्था है; यह चेतनामें संकीर्णता लाता है और उस संकीर्णताके साथ लाता है ज्ञानकी सीमितता, असमर्थकारी अज्ञान,—सीमाबंधन और शक्तिका ह्रास और उस ह्रासके द्वारा अक्षमता तथा दुर्बलता,—इसी प्रकार यह एकतामें विभाजन उत्पन्न कर देता है और उस विभाजनके द्वारा असामंजस्यकी सृष्टि करता है तथा सहानुभूति, प्रेम और सद्भावनाको नष्ट कर देता है,—सत्ताके आनंदका निरोध कर देता है या उसे खंड-खंड कर डालता है और खंड-खंड करनेके कारण दुःख-दर्द पैदा करता है। जो कुछ हम इस प्रकार खो वैठे हैं उसे फिरसे प्राप्त करनेके लिये हमें अहंके लोकोंके घेरेको तोड़कर उनसे वाहर निकल आना होगा। अहंको या तो निर्व्यक्तिकतामें विलीन हो जाना होगा या फिर इसे एक वृहत्तर 'मैं'में घुलमिल जाना होगा; इसे या तो उस विराट् पुरुषकी उस विशालतर 'मैं'में घुलमिल जाना होगा जो इन सव क्षुद्रतर अहं-सत्ताओंको अपने अंदर समाये हुए है या फिर उस परात्पर 'मैं'में जिसकी यह वैश्व आत्मा भी एक क्षीण प्रतिमा है।

परंतु यह वैश्व आत्मा अपने सारतत्त्वमें और अनुभवगम्य स्वरूपमें आध्यात्मिक है; इसे भ्रांतिवश सामष्टिक सत्ता या कोई सामूहिक आत्मा अथवा किसी मानव-समाज या यहाँतक कि सारी मानवजातिका भी प्राण और शरीर नहीं समझ लेना चाहिये। आजकल जगत्‌की विचारधारा और आचारनीतिकी नियामक भावना यह है कि अहंको मानवजातिकी प्रगति और सुख-संपदाकी अपेक्षा गौण स्थान देना चाहिये; किंतु यह एक मानसिक एवं नैतिक आदर्श है, आध्यात्मिक नहीं। क्योंकि, यह प्रगति लगातार होनेवाले मानसिक, प्राणिक और शारीरिक परिवर्तनोंकी एक शृंखला है, इसमें स्थिर आध्यात्मिक तत्त्व कोई भी नहीं है और मानवकी आत्माको यह कोई निश्चित आधार नहीं प्रदान करती। समग्र मानव-जातिकी चेतना वैयक्तिक अहंभावोंका एक वहुत वड़ा और व्यापक संस्करण या कुल-योगमात्र है। उसी उपादानसे तथा प्रकृतिके उसी साँचेमें ढले होनेके कारण इसमें कोई महत्तर प्रकाश नहीं है, अपनी अधिक नित्य

*यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति। छान्दोग्य

स्थायिताकी कोई अनुभूति नहीं है, शांति, आनंद और मुक्तिका कोई अधिक शुद्ध स्रोत नहीं है। वल्कि सच पूछो तो यह व्यक्तिकी चेतनाकी अपेक्षा कहीं अधिक पीड़ित, विक्षुब्ध और तमसाच्छन्न है, निःसंदेह यह उससे अधिक अस्पष्ट, भ्रांत और अप्रगतिशील तो है ही। व्यक्ति इस अंशमें समूहसे महान् है और अपनी अधिक प्रकाशमय संभावनाओंको इस अधिक अंधकार-पूर्ण सत्ताके अधीन कर देनेके लिये उससे अनुरोध नहीं किया जा सकता। यदि प्रकाश, शांति, मुक्ति, जीवनकी एक अधिक उत्तम अवस्था प्राप्त होनी ही हैं तो ये हमारी आत्मामें किसी ऐसी सत्तासे ही अवतरित होंगी जो व्यक्तिसे अधिक विशाल हो, पर साथ ही जो सामूहिक अहंसे अधिक उच्च भी हो। परोपकार, लोकहित, मानवजातिकी सेवा अपने-आपमें मानसिक या नैतिक आदर्श हैं, आध्यात्मिक जीवनके नियम नहीं। यदि आध्यात्मिक लक्ष्यके अंतर्गत वैयक्तिक 'स्व'का परित्याग करने अथवा मानवजाति या समूचे विश्वकी सेवा करनेका आवेग उठता है तो यह अहंसे या मानव-जातिकी समष्टि-भावनासे नहीं, वल्कि इन दोनोंसे परेके किसी अधिक गुह्य एवं गभीर तत्त्वसे ही उठता है। क्योंकि, यह इस अनुभूतिपर आधारित होता है कि भगवान् सवमें हैं और यह अहं या मानवजातिके लिये नहीं, वल्कि भगवान्के लिये तथा व्यक्ति या समूह या समष्टि-मानवमें निहित उनके प्रयोजनके लिये ही कार्य करता है। सवके आदिमूल इन परात्पर भगवान्की ही हमें खोज और सेवा करनी होगी, उस वृहत्तर सत् और चित्की जिसके निकट मानवजाति और व्यक्ति उसकी सत्ताके गौण रूप हैं।

इसमें संदेह नहीं कि व्यवहारवादीकी प्रेरणाके पीछे भी एक सत्य है जिसकी अन्य-वर्जक एकांगी अध्यात्मवाद उपेक्षा कर सकता है या जिसे वह अस्वीकार कर सकता या तुच्छताकी दृष्टिसे देख सकता है। वह सत्य यह है—क्योंकि व्यक्ति और विश्व उस उच्चतर और वृहत्तर सत्के रूप हैं, उस परम सत्में इनकी चरितार्थताका कोई वास्तविक स्थान अवश्य होना चाहिये। इनके पीछे परम प्रज्ञा और ज्ञानका कोई महान् प्रयोजन, परम आनंदका कोई शाश्वत स्वर अवश्य होना चाहिये: इनकी रचना व्यर्थमें की गयी नहीं हो सकती, यह व्यर्थमें की ही नहीं गयी। परंतु व्यक्तिकी पूर्णता और संतुष्टिकी भाँति मानवजातिकी पूर्णता और संतुष्टिका आधार भी वस्तुओंके एक अधिक शाश्वत पर अभीतक अनधिगत सत्य और यथार्थ रूपपर ही सुरक्षित रूपसे रखा जा सकता है और उसी आधारपर इन्हें सुरक्षित रूपसे साधित भी किया जा सकता है। किसी महत्तर 'सत्'के गौण रूप होनेके कारण ये अपने-आपको तभी चरितार्थ कर सकते

हैं जब कि, जिसके ये रूप हैं वह ज्ञात और प्राप्त हो जाय। मानवजातिकी सबसे महान् सेवा, इसकी सच्ची उन्नति, सुख-संपदा और पूर्णताका सबसे अधिक सुनिश्चित आधार उस मार्गको तैयार करना या ढूंढ़ना है जिसके द्वारा व्यष्टि और समष्टि-मानव अज्ञान, अक्षमता, असामंजस्य और दुःखके साथ न बंधे रहकर अपने अहंके परे जा सकें तथा अपनी सच्ची आत्मामें निवास कर सकें। हमारे आधुनिक चिंतन और आदर्शवादने हमारे सामने जो विकासमूलक, सामूहिक एवं परार्थवादी लक्ष्य रखा है उसे भी हम सर्वोत्तम एवं सुनिश्चित रूपसे तभी प्राप्त कर सकते हैं यदि हम प्रकृतिके मंद सामूहिक विकासमें न बँधे रहकर सनातन तत्त्वका अनुसंधान करें। परंतु वह भी अपने-आपमें एक गौण लक्ष्य है; भागवत सत्ता, चेतना एवं प्रकृतिको ढूंढ़ना, जानना और प्राप्त करना और उसीमें भगवान्के लिये निवास करना ही हमारा सच्चा लक्ष्य एवं एकमात्र पूर्णता है जिसे प्राप्त करनेके लिये हमें अभीप्सा करनी होगी।

अतएव, उच्चतम ज्ञानके अन्वेषकको किसी संसारबद्ध जड़वादी सिद्धांतके नहीं, वरन् आध्यात्मिक दर्शनों और धर्मोंके मार्गपर ही चलना होगा, यद्यपि उसे समृद्ध लक्ष्यों तथा अधिक व्यापक आध्यात्मिक प्रयोजनको लेकर ही अग्रसर होना होगा। परंतु अहंके उन्मूलनके मार्गपर उसे कितनी दूरतक आगे जाना होगा? प्राचीन ज्ञानमार्गमें हम उस अहं-बुद्धिके उन्मूलन-तक पहुँचते हैं जो शरीर, प्राण या मनके साथ अपने-आपको आसक्त कर लेती है और उन सबके या उनमेंसे किसी एकके बारेमें कहती है "यह मैं हूँ।" इस मार्गमें हम कर्ममार्गकी भाँति कर्ता होनेके "अहंभाव"से मुक्त हो जाते हैं और यह देखने लगते हैं कि केवल ईश्वर ही सब कर्मोंका तथा उनकी अनुमतिका सच्चा स्रोत है और उसकी कार्यवाहिका प्रकृति-शक्ति अथवा उसकी पराशक्ति ही एकमात्र करण और कर्त्री है,—इतना ही नहीं, बल्कि हम उस अहंबुद्धिसे भी मुक्त हो जाते हैं जो भूलसे हमारी सत्ताके करणों या अभिव्यक्त रूपोंको हमारी सच्ची सत्ता एवं आत्मा समझती है। पर यद्यपि यह सब अहं समाप्त हो जाता है, फिर भी अहंका कोई रूप शेष रह जाता है; इन सबका एक आधार, पृथक् अहंका एक सामान्य भाव, बचा रह जाता है। यह आधारभूत अहं एक अनिश्चित, अनिर्देश्य एवं प्रतारक वस्तु है; यह किसी विशेष वस्तुको आत्मा मानकर उसके साथ अपनेको आसक्त नहीं करता अथवा इसे ऐसा करनेकी जरूरत नहीं; यह किसी समष्टिभूत वस्तुके साथ भी तादात्म्य स्थापित नहीं करता; यह मनका एक प्रकारका आधारभूत रूप या शक्ति

है जो मनोमय पुरुषको यह अनुभव करनेके लिये वाध्य करती है कि मैं शायद एक अनिर्देश्य, पर फिर भी सीमित सत्ता हूँ जो मन, प्राण या शरीर नहीं है, पर जिसके अधीन प्रकृतिमे इनकी क्रियाएँ प्रकट होती हैं। अन्य अहंताएँ तो परिमित अहं-भावना और अहं-बुद्धि थीं जो प्रकृतिकी क्रीड़ापर ही अपना आधार रखती थीं; पर यह अहंता शुद्ध मूलभूत अहं-शक्ति है जो मनोमय पुरुषकी चेतनापर अपना आधार रखती है। और, क्योंकि यह खेलके अंदर नहीं, बल्कि इसके ऊपर या पीछे अवस्थित प्रतीत होती है, क्योंकि यह ऐसा नहीं कहती कि "मैं मन, प्राण या शरीर हूँ", बल्कि ऐसा कहती है कि "मैं एक ऐसी सत्ता हूँ जिसपर मन, प्राण और शरीरकी क्रिया निर्भर करती है", बहुतसे साधक अपनेको मुक्त समझ बैठते हैं और इस प्रतारक अहंको अपने अंदर विद्यमान 'एकं सत्', भगवान्, सच्चा पुरुष या कम-से-कम सच्चा 'व्यक्ति' समझनेकी भूल करते हैं,— भ्रांतिवश 'अनिर्देश्य'को 'अनंत' समझ लेते हैं। परंतु जबतक यह मूलभूत अहंभाव शेष रहता है तबतक पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अहंमय जीवन इस अहंभावका सहारा लेकर भी अपना काम काफी अच्छी तरहसे चला सकता है, उसका बल और वेग भले ही कुछ कम हो जायँ। पर यदि हम भ्रांतिवश इस अहंको ही अपनी आत्मा समझ लें तो इसकी आड़में अहंमय जीवन और भी अधिक बल-वेग प्राप्त कर सकता है। यदि हम ऐसी किसी भ्रांतिमें न पड़ें तो अहंमय जीवन अधिक शुद्ध और विशाल तथा अधिक नमनीय बन सकता है और तब मुक्ति प्राप्त करना कहीं अधिक आसान हो सकता है और उसकी पूर्णता अधिक निकट आ सकती है, किंतु फिर भी निश्चयात्मक मुक्ति अभी प्राप्त नहीं हुई है। हमें तो, अनिवार्यत:, इस अवस्थासे भी आगे वढ़ना होगा, इस अनिर्देश्यपर आधारभूत अहंभावनासे भी मुक्त होकर इसके पीछे अवस्थित उस पुरुषको प्राप्त करना होगा जो इसका आधार है और जिसकी यह एक छाया है; छायाको विलुप्त हो जाना होगा और अपने विलोपके द्वारा आत्माके अनावृत मूलतत्त्वको प्रकट करना होगा।

वह तत्त्व मनुष्यकी आत्मा है जिसे यूरोपीय विचारधारामें शक्त्यणु (Monad) और भारतीय दर्शनमें जीव या जीवात्मा, अर्थात् जीवात्मक सत्ता या प्राणीकी आत्मा कहते हैं। यह जीव वह मानसिक अहंभाव नहीं है जिसे प्रकृतिने अपनी क्रियाओंके द्वारा अपने अल्पकालीन प्रयोजनके लिये निर्मित किया है। यह कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सत्ताकी भाँति उसके अभ्यासों और नियमोंसे या उसकी प्रक्रियाओंसे बँधी हुई हो। जीव तो अध्यात्मसत्ता एवं आत्मा है जो

प्रकृतिसे उच्चतर है। यह सच है कि यह उसके कार्योंको अनुमति देता है, उसकी अवस्थाओंको अपनेमें प्रतिबिंबित करता है तथा मन, प्राण और शरीरके उस त्रिविध माध्यमको धारण करता है जिसके द्वारा वह उन अवस्थाओंको अंतरात्माकी चेतनापर प्रक्षिप्त करती है। पर जीव अपने-आपमें विराट् और परात्पर आत्माका सजीव प्रतिबिंब अथवा आंतरात्मिक रूप या आत्म-सृष्टि है। एकमेव आत्मा जिसने अपनी सत्ताके कुछ एक गुणोंको विश्वमें और आत्मामें प्रतिबिंबित किया है, जीवमें अनेकविध रूप धारण किये हुए है। वह आत्मतत्त्व हमारे आत्माका भी आत्मा है, एकमेव और उच्चतम सत्ता है, परात्पर है जिसका हमें साक्षात्कार करना होगा, अनंत सत्ता है जिसमें हमें प्रवेश करना होगा। यहाँतक तो सभी तत्त्वोपदेशक संग-संग चलते हैं, सब इस बातसे सहमत हैं कि ज्ञान, कर्म और भक्तिका परम लक्ष्य यही है, इस बातपर सब एकमत हैं कि यदि जीवको यह लक्ष्य प्राप्त करना हो तो उसे निम्न प्रकृति या मायासे संबंध रखनेवाली अहंबुद्धिसे अपने-आपको मुक्त करना ही होगा। परंतु यहाँ पहुँचकर वे एक-दूसरेका साथ छोड़ देते हैं और हरएक अपनी अलग राह पकड़ लेता है। अद्वैतवादी ऐकांतिक ज्ञानके पथपर ही दृढ़तापूर्वक अपने पग धरता है और परात्परमें जीवके पूर्ण रूपसे लौट जाने, विलुप्त, निमज्जित या लीन हो जानेको ही हमारे लिये एकमात्र आदर्शके रूपमें प्रस्तुत करता है। द्वैतवादी या विशिष्टाद्वैतवादी भक्तिमार्गकी ओर मुड़ता है और निःसंदेह हमें निम्नतर अहं तथा भौतिक जीवनका त्याग करनेके लिये तो कहता ही है, पर साथ ही यह अनुभव करनेके लिये भी प्रेरित करता है कि मानव-आत्माकी सर्वोच्च नियति न तो बौद्धका आत्म-निर्वाण या अद्वैतवादीका आत्म-निमज्जन है और न ही एकमेवका अनेकको कवलित कर लेना, बल्कि यह परात्पर, एकमेव तथा सर्वप्रेमीके विचार, प्रेम और रसास्वादनमें निमग्न शाश्वत जीवनको प्राप्त करना है।

इस विषयमें पूर्णयोगके साधकके लिये संदेह-द्विविधाका कोई स्थान नहीं हो सकता; ज्ञानके अन्वेषकके रूपमें उसे किसी अधवीचकी और आकर्षक या अत्युच्च एवं अनन्य वस्तुकी नहीं, बल्कि सर्वांगीण ज्ञानकी ही खोज करनी होगी। उसे उच्चतम शिखरतक उड़ान भरनी होगी, पर साथ ही अपने-आपको अधिकतम विशाल और व्यापक भी बनाना होगा, दार्शनिक विचारोंकी किसी कट्टरतापूर्ण रचनाके साथ अपने-आपको नहीं बाँधना होगा, बल्कि अंतरात्माके समस्त उच्चतम, महत्तम और पूर्णतम अगणित अनुभवोंको स्वीकार तथा धारण करनेके लिये स्वतंत्र रहना होगा।

यदि आध्यात्मिक अनुभवकी सबसे ऊँची चोटी, समस्त उपलब्धिका अनन्य शिखर व्यक्ति और विश्वके परे अवस्थित परात्परके साथ अंतरात्माका पूर्ण एकत्व है तो उस एकत्वका विस्तृततम क्षेत्र यह उपलब्धि है कि स्वयं वह परात्पर ही भागवत मूलतत्त्व और भागवत प्रकृतिकी इन दोनों प्राकटचकारी शक्तियोंका उद्गम, आश्रय एवं आधार है तथा अंदरसे गठन करनेवाला और उपादानभूत आत्मा एवं सारतत्त्व भी है। पूर्णयोगके साधकका मार्ग कोई भी क्यों न हो, उसका ध्येय यही होना चाहिये। कर्मयोग भी तबतक सार्थक, परिपूर्ण तथा सफलतापूर्वक सिद्ध नहीं होता जबतक साधक परात्परके साथ अपनी तात्त्विक और समग्र एकता अनुभव नहीं कर लेता तथा उस एकतामें निवास नहीं करने लगता। उसे भागवत संकल्पके साथ एक होना ही होगा—अपनी उच्चतम, अंतरतम तथा विशालतम सत्ता और चेतनामें, अपने कर्म और संकल्पमें, अपनी कार्यशक्तिमें, अपने मन, प्राण और शरीरमें। नहीं तो वह केवल व्यक्तिगत कर्मोंके भ्रमसे ही मुक्त होगा, पर पृथक् सत्ता और पृथक् करणोंके भ्रमसे मुक्त नहीं होगा। भगवान्के सेवक और यंत्रके रूपमें वह कर्म करता है, पर उसके श्रमका मुकुट तथा इसका पूर्ण आधार या हेतु तो, जिनकी वह सेवा करता तथा जिन्हें चरितार्थ करता है उनके साथ एकत्व प्राप्त करना ही है। भक्तियोग भी तभी पूर्ण होता है जब प्रेमी और प्रियतम एक हो जाते हैं और दिव्य एकत्वके परमोल्लासमें समस्त भेद मिट जाता है, परंतु इस एकीभावका रहस्य यह है कि इसमें एकमात्र सत्ता तो प्रियतमकी ही रह जाती है, पर प्रेमीका भी निर्वाण या लय नहीं होता। उधर, ज्ञानमार्गका स्पष्ट लक्ष्य है केवल उच्चतम एकत्व, उसका आवेग है पूर्ण एकत्वकी पुकार, उसका आकर्षण है इस एकत्वका अनुभव: परंतु यह उच्चतम एकता ही उसके अंदर अपनी अभिव्यक्तिके क्षेत्रके रूपमें यथासंभव-विस्तृततम वैश्व विशालताका रूप ग्रहण कर लेती है। अपनी त्रिविध प्रकृतिकी व्यावहारिक अहंतासे तथा उसकी आधारभूत अहं-बुद्धिसे क्रमशः पीछे हटनेकी आवश्यक शर्तका पालन करते हुए हम अध्यात्मसत्ता एवं आत्माका, इस अभिव्यक्त मानव-व्यक्तित्वके प्रभुका, साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं, परंतु हमारा ज्ञान तबतक समग्र नहीं हो सकता जबतक हम व्यक्तिमें अवस्थित इस जीवको विश्वके आत्माके साथ एक नहीं कर देते और इन दोनोंके ऊर्ध्वस्थित महत्तर सत्स्वरूपको अवर्णनीय—पर अज्ञेय नहीं—परात्परतामें प्राप्त नहीं कर लेते। उस जीवको अपने-आपको उपलब्ध करके भगवान्की सत्तामें उत्सर्ग कर देना होगा। मनुष्यकी अंतरात्माको सर्वके आत्माके साथ एक करना

होगा; सांत व्यक्तिकी आत्माको असीम सांतमें अपने-आपको उँडेल देना होगा और फिर परात्पर अनंतमें उस विश्वात्माको भी अतिक्रम कर जाना होगा।

यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक अहंबुद्धिको दृढ़तापूर्वक जड़मूलसे न उखाड़ फेंका जाय। ज्ञानमार्गमें मनुष्य अहंके विनाशके लिये दो प्रकारसे प्रयत्न करता है, एक तो निषेधात्मक रूपमें अर्थात् अहंकी सत्यतासे ही इन्कार करके, दूसरे, भावात्मक रूपमें, स्वयं एकमेव और अनंतके या सर्वत्र व्याप्त एकमेव और अनंतके विचारपर मनको सतत एकाग्र रखकर। यह साधना यदि दृढ़तापूर्वक की जाय तो अन्तमें यह हमारे अपने ऊपर तथा संपूर्ण जगत्के ऊपर हमारी मानसिक दृष्टिको परिवर्तित कर देती है और हमें एक प्रकारका मानसिक साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है; पर बादमें क्रमशः या शायद तीव्र वेगसे और अनिवार्य रूपसे तथा लगभग आरंभमें ही वह मानसिक साक्षात्कार गहरा होकर आध्यात्मिक अनुभवमें—हमारी सत्ताके असली सारतत्त्वमें उत्पन्न होनेवाले साक्षात्कारमें परिणत हो जाता है। किसी अनिर्देश्य और असीम वस्तुकी, एक अवर्णनीय शान्ति, नीरवता, हर्ष एवं आनन्दकी, पूर्ण निर्व्यक्तिक शक्तिके भानकी, शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना एवं सर्वव्यापक उपस्थितिकी अवस्थाएँ अधिकाधिक वहुल रूपमें आती हैं। अहं अपने-आपमें या अपनी अभ्यासगत चेष्टाओंमें अड़ा रहता है, परन्तु उसकी शांति एक अधिकाधिक अभ्यस्त अवस्था बनती जाती है, उधर उसकी चेष्टाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, कुचली जाती या उत्तरोत्तर त्याग दी जाती हैं, उनकी तीव्रता मन्द पड़ जाती है तथा उनकी क्रिया पंगु या यांत्रिक बन जाती है। अंतमें हम अपनी संपूर्ण चेतना परम पुरुषकी सत्तामें सतत अर्पित करने लगते हैं। आरंभमें जब हमारी वाह्य प्रकृतिकी अशांत अस्तव्यस्तता एवं अंधकारजनक अपवित्रता अपनी हलचल मचाये होती है, जब मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अहंभाव अभी शक्तिशाली होते हैं, यह नया मानसिक दृष्टिकोण, ये अनुभव अतीव कठिन प्रतीत हो सकते हैं: पर एक बार जब वह त्रिविध अहंभाव निरुत्साहित या मृतप्राय हो जाता है और आत्माके करण संशोधित एवं पवित्र हो जाते हैं, तब एक सर्वथा शुद्ध, प्रशान्त, निर्मल, विस्तृत चेतनामें एकमेवकी पवित्रता, अनन्तता और शांति स्वच्छ सरोवरमें आकाशकी भाँति विशदतया प्रतिविंवित होती हैं। प्रतिबिंवित करनेवाली चेतनाका प्रतिबिंबित चेतनाके साथ मिलना या इसे अपने अन्दर ग्रहण करना उत्तरोत्तर अनिवार्य एवं संभव होता जाता है, वह निर्विकार निर्व्यक्तिक विशाल चिदाकाश तथा वैयक्तिक

सत्ताका यह किसी-समय-चंचल आवर्त या संकुचित प्रवाह—इन दोनोंके बीच जो अंतर था उसे लाँघना या मिटाना अब कोई दु:साध्य एवं असंभवनीय कार्य नहीं रह जाता और यहाँतक कि इस अवस्थाका अनुभव बारंबार भी हो सकता है, भले यह अभी पूर्ण रूपसे स्थायी न भी हो। क्योंकि यदि अहंपूर्ण हृदय और मनके बन्धन पहले ही काफी क्षीण एवं शिथिल पड़ चुके हों तो शुद्धिके पूर्ण होनेसे पहले भी जीव मुख्य रज्जुओंको एकाएक तोड़कर गगनमें मुक्त किये गये पक्षीकी तरह ऊपरकी ओर उड़ता हुआ या एक मुक्त प्रवाहकी तरह विशाल रूपसे फैलता हुआ एकमेव और अनन्तकी ओर प्रयाण कर सकता है। सबसे पहले सहसा ही विराट् चेतनाकी अनुभूति होती है, मनुष्य अपनी सत्ताको विश्वमय सत्तामें होम देता है; उस विश्वमयतासे वह अधिक सुगमताके साथ परात्परकी प्राप्तिके लिये अभीप्सा कर सकता है। जिन दीवारोंने हमारी चेतन सत्ताको कैद कर रखा था वे परे हट जाती हैं और फट जाती हैं या ध्वस्त होकर ढह जाती हैं; पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्वका, देश या कालमें अथवा प्रकृतिकी क्रिया एवं उसके नियमके अंतर्गत स्थित होनेका समस्त भान लुप्त हो जाता है। अब किसी अहं या किसी निश्चित एवं निर्देश्य व्यक्तिका अस्तित्व नहीं रह जाता, रह जाती है केवल चेतना, केवल सत्ता, केवल शान्ति और आनन्द; व्यक्ति एक अमर, सनातन एवं अनन्त सत्ता बन जाता है। तब उसके जीवात्माका अस्तित्व सनातनमें किसी एक स्थलपर शांति, स्वातंत्र्य और आनन्दके संगीतके स्वरके रूपमें ही शेष रह जाता है।

जब मानसिक सत्ता अभी पर्याप्त रूपसे शुद्ध नहीं हुई होती तो मुक्ति प्रारम्भमें आंशिक एवं अस्थायी प्रतीत होती है; ऐसा लगता है कि जीव पुन: अहंमय जीवनमें उतर आता है और उच्चतर चेतना उससे पीछे हट जाती है। वास्तवमें होता यह है कि निम्नतर प्रकृति और उच्चतर चेतनाके बीच बादल छा जाता या पर्दा पड़ जाता है और प्रकृति कुछ समयके लिये फिर अपनी कार्य करनेकी पुरानी आदतका अनुसरण करने लगती है; तब इसपर उस उच्च अनुभवका दबाव तो अवश्य पड़ता रहता है, पर न तो इसे सदा उसका ज्ञान रहता है और न उसकी स्मृति ही उपस्थित रहती है। तब इसके अंदर जो कार्य करता है वह पुराने अहंका एक प्रेत होता है जो हमारी सत्तामें अभीतक बची हुई अव्यवस्था और अपवित्रताके अवशेषोंके आधारपर पुरानी आदतोंकी यांत्रिक पुनरावृत्तिको आश्रय देता रहता है। बादल आ-आकर चला जाता है, आरोहण और अवरोहणका लयताल फिर-फिर चालू होता रहता है जबतक कि अपवित्रताको

निकालकर बाहर नहीं कर दिया जाता। बदल-बदलकर आनेवाली ये अवस्थाएँ पूर्णयोगमें, सहज ही, दीर्घ कालतक चल सकती हैं; क्योंकि, यहाँ आधारकी समग्र पूर्णताकी अपेक्षा की जाती है; उसे सब समयोंमें, सभी अवस्थाओं और परिस्थितियोंमें, वे चाहें कर्मकी हों या निष्कर्मताकी, परम सत्यकी चेतनाको अंगीकार करनेमें और फिर उसके अन्दर निवास करनेमें भी समर्थ बनना होगा। केवल समाधिकी मग्नतामें या निश्चल शांतिमें चरम साक्षात्कार प्राप्त करना भी साधकके लिये काफी नहीं है, बल्कि उसे क्या समाधिमें और क्या जागरितमें, क्या निष्क्रिय चिंतनमें और क्या क्रियाशील शक्तिकी अवस्थामें, सुप्रतिष्ठित ब्राह्मी चेतनाकी* सतत समाधिमें रह सकना चाहिये। पर यद्यपि हमारी चेतन सत्ता पर्याप्त शुद्ध और निर्मल हो जाय या जब भी यह ऐसी हो जाय तो हमें उच्चतर चेतनामें दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जायगी। निर्व्यक्तिक बना हुआ जीव, विश्वात्माके साथ एकमय या परात्परसे अधिकृत होकर, ऊपर उच्च स्तरपर आसीन† रहता है और प्रकृतिकी पुरानी क्रियाके जो भी अवशेष आधारमें पुनः प्रकट हों उनपर अविचलित भावसे दृष्टिपात करता है। वह अपनी निम्नतर सत्तामें विद्यमान प्रकृतिके तीन गुणोंके कार्य-व्यापारके कारण विचलित नहीं हो सकता, यहाँतक कि दुःख-शोकके आक्रमणोंके कारण भी वह अपनी स्थितिसे चलायमान नहीं हो सकता। और अंतमें, बीचका पर्दा हट जानेके कारण, उच्चतर शान्ति निम्नतर विक्षोभ और विकारको अभिभूत कर देती है। एक सुस्थिर नीरवता प्रतिष्ठित हो जाती है जिसमें जीव ऊपर, नीचे तथा सब ओर पूर्ण रूपसे अपनी सत्तापर सर्वोच्च प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है।

निश्चय ही, परम्परागत ज्ञानयोगका लक्ष्य ऐसा प्रभुत्व प्राप्त करना नहीं है। उसका लक्ष्य तो वस्तुतः ऊर्ध्व और निम्न सत्तासे तथा सर्वसे परे हटकर अवर्णनीय परब्रह्मको प्राप्त करना है। परंतु ज्ञानमार्गका लक्ष्य चाहे जो हो, उसके एक प्रथम परिणामके रूपमें पूर्ण शान्ति अवश्य प्राप्त होनी चाहिये; क्योंकि जबतक हमारे अंदर होनेवाली प्रकृतिकी पुरानी क्रिया पूर्ण रूपसे शांत नहीं हो जाती तबतक किसी सच्ची आत्मिक अवस्था

---

*एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। —गीता

†उदासीन (उत्=ऊँचाईपर, आसीन=विराजमान), इस शब्दका अर्थ है आध्यात्मिक "उदासीनता", अर्थात् परम ज्ञानका स्पर्श पाये हुई आत्माकी अनासक्त स्वतन्त्रता।

या किसी दिव्य कर्मकी नींव रखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हमारी प्रकृति सत्तागत अव्यवस्थाके आधारपर तथा कर्मके प्रति अशांतिपूर्ण प्रेरणाके कारण कार्य करती है, भगवान् अथाह शांतिमेंसे मुक्त रूपसे कार्य करते हैं। यदि हमें अपनी आत्मापरसे इस निम्नतर प्रकृतिका प्रभुत्व मिटाना हो तो हमें शांतिके उस अतल सागरमें डुबकी लगानी होगी और वही बन जाना होगा। अतएव, विश्वात्मभावको प्राप्त हुआ जीव सर्वप्रथम नीरवतामें आरोहण करता है; वह विशाल, शांत, निष्क्रिय बन जाता है। तब जो भी क्रिया घटित होती है, वह शरीरकी या इन अंगोंकी हो या और कोई, उसे जीव देखता है, पर उसमें भाग नहीं लेता, न उसे अनुमति देता और न उससे किसी प्रकारका संबंध जोड़ता है। तब कर्म तो होता है, पर कोई व्यक्ति-रूप कर्ता नहीं, होता, न कोई बंधन या दायित्व ही होता है। यदि वैयक्तिक कर्म करनेकी जरूरत हो तो जीवको एक प्रकारके अहंको सुरक्षित रखना या पुनः प्राप्त करना होता है जिसे अहंका एक विशेष रूप किंवा ज्ञाता, भक्त, सेवक या यन्त्ररूप "मैं"की एक प्रकारकी मानसिक प्रतिमा कहा गया है, पर वह केवल प्रतिमा ही होती है, वास्तविक वस्तु नहीं। यदि अहंकी यह प्रतिमा भी न हो तो भी कर्म प्रकृतिके अभीतक चले आ रहे पुराने वेगमात्रसे जारी रह सकता है, पर उसका व्यक्ति-रूप कर्ता कोई भी नहीं होता, वस्तुतः तब कर्ताका किसी प्रकारका भान भी बिलकुल नहीं होता; क्योंकि जिस परम आत्मामें जीवने अपनी सत्ताका लय किया है वह निष्क्रिय एवं अगाध शक्तिमय है। उधर कर्म-मार्ग हमें ईश्वरका साक्षात्कार तो प्राप्त कराता है, पर यहाँ उस ईश्वरका भी ज्ञान प्राप्त होना शेष रह जाता है; यहाँ तो होता है केवल निश्चल-नीरव आत्मा और क्रियाशील प्रकृति जो अपने कार्य कर रही है; प्रारंभमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी अपने कार्य सचमुचकी सजीव सत्ताओंके द्वारा नहीं, बल्कि ऐसे नाम-रूपोंके द्वारा कर रही है जो आत्मामें अस्तित्व तो रखते हैं, पर जिन्हें आत्मा वास्तविक नहीं मानता। जीव इस साक्षात्कारसे भी परे जा सकता है; आत्माके विचारमात्रसे विपरीत दिशामें यह शून्य ब्रह्मकी ओर उठ सकता है, जिसमें यहाँकी सभी वस्तुओंका अभाव है एवं एक अनिर्वचनीय शांति है और जिसमें सब वस्तुओंका, सत्का भी, यहाँतक कि उस सत्का भी लय हो जाता है जो व्यक्ति या विराट्के व्यक्तित्वका निर्व्यक्तिक आधार है। या फिर यह उसके साथ एक ऐसे अनिर्वचनीय "तत्"के रूपमें ऐक्य लाभ कर सकता है जिसके संबंधमें कुछ भी वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह विश्व और इसमें जो कुछ

भी है वह सब 'तत्'में भी अस्तित्व नहीं रखता, बल्कि वह मनको एक स्वप्न जान पड़ता है, स्वप्न भी ऐसा कि हमने आजतक जो भी स्वप्न देखे हैं या जो भी हमारी कल्पनामें आये हैं उन सबसे अधिक अवास्तविक, यहाँतक कि 'स्वप्न' शब्द भी इतना अधिक भावात्मक प्रतीत होता है कि यह उसकी पूर्ण अवास्तविकताको प्रकट नहीं कर सकता। ये अनुभव ही उदात्त मायावादकी आधारशिला हैं; जब मानव-मन अपने-आपको अतिक्रम कर ऊँचे-से-ऊँचा जानेके लिये उड़ान भरता है तो इन अनुभवोंके द्वारा मायावाद उसपर अत्यन्त दृढ़ताके साथ अधिकार जमा लेता है।

स्वप्न और मायाके ये विचार तो ऐसे परिणाममात्र हैं जो हमारी अबतक विद्यमान मानसिकतामें जीवकी नयी स्थितिके कारण उत्पन्न होते हैं। इनके उत्पन्न होनेका एक और कारण यह है कि जीवके पुराने मानसिक संस्कार, और जीवन एवं सत्ता-संबंधी इसका दृष्टिकोण इससे जो माँग करते हैं उससे यह इन्कार कर देता है। वास्तवमें, प्रकृति अपने लिये या अपनी ही गतिके द्वारा कार्य नहीं करती, बल्कि आत्माको प्रभु मानकर उसके लिये तथा उसके द्वारा कार्य करती है; क्योंकि उस नीरवतामेंसे ही इस सब विराट् कर्मका प्रवाह फूटता है, वह प्रतीयमान शून्य अनुभवोंके इन सब असीम ऐश्वर्योंको मानो गतिशील रूपमें निर्मुक्त कर देता है। यह अनुभव पूर्णयोगके साधकको अवश्य प्राप्त करना होगा, किस विधिसे प्राप्त करना होगा यह हम आगे चलकर बतायेंगे। जब वह इस प्रकार विश्वपर अपना प्रभुत्व पुनः प्राप्त कर लेगा और पहलेकी तरह अपने-आपको जगत्में नहीं देखेगा, बल्कि जगत्को अपने-आपमें देखने लगेगा, तब जीवकी स्थिति क्या होगी अथवा उसकी नयी चेतनामें अहं-भावनाका स्थान कौन चीज ले लेगी? अहं-भावना रहेगी ही नहीं, यद्यपि व्यक्तिगत मन और देहमें वैश्व चेतनाकी लीलाके प्रयोजनोंके लिये एक प्रकारका व्यष्टिकरण अवश्य रहेगा; कारण यह कि उसके लिये सब वस्तुएँ अविस्मरणीय रूपमें एकमेव ही होंगी और प्रत्येक व्यक्ति या पुरुष भी उसके लिये एकमेव होगा अपने अनेक रूपोंमें या यों कहें कि अपने अनेक पक्षों एवं स्थितियोंमें, ब्रह्म ही ब्रह्मपर क्रिया कर रहा होगा, सर्वत्र एक ही नर-नारायण* व्याप रहा होगा। भगवान्की इस वृहत्तर लीलामें दिव्य प्रेमके सम्बन्धोंका आनन्द भी, अहंभावनामें पतित हुए बिना, प्राप्त किया जा सकता है,—

---

*भगवान् किंवा नारायण मानवताके साथ, उसके मानव-रूपमें भी, अपनेको एक कर देते हैं। तब नर भगवान्के साथ एक हो जाता है।

ठीक वैसे ही जैसे मानव-प्रेमकी परमोच्च अवस्थाको भी 'दो शरीरोंमें एक ही आत्मा'की एकता कहा जाता है। यह अहं-भावना जो विश्वलीलामें इतनी सक्रिय है और वस्तुओंके सत्यको इतना मिथ्या रूप दे डालती है, लीलाके लिये अनिवार्य ही हो ऐसी बात नहीं। कारण, सत्य तो सदा यह है कि एक **'एकं सत्'** है जो आप ही अपनेपर क्रिया कर रहा है, आप ही अपने साथ लीला कर रहा है, अपने एकत्वमें असीम है और अपने बहुत्वमें भी असीम है। जब व्यष्टिभूत चेतना विश्वलीलाके इस सत्यतक उठ जाती है और इसमें निवास करने लग जाती है, तब कर्मके पूर्ण प्रवाहमें रहते हुए भी, निम्नतर सत्ताको धारण करते हुए भी जीव ईश्वरके साथ एकमय रहता है, और तब न कोई बन्धन रहता है न कोई भ्रम। वह आत्माको प्राप्त करके अहंसे मुक्त हो जाता है।

दसवाँ अध्याय

विश्वात्माका साक्षात्कार

जब हम मन, प्राण और शरीरसे तथा उन और सब वस्तुओंसे जो हमारी नित्य सत्ता नहीं हैं, पीछे हटते हैं तो हमारा पहला अनिवार्य लक्ष्य यह होता है कि हम आत्म-विषयक मिथ्या विचारसे मुक्त हो जायँ। कारण, ऐसे विचारके द्वारा हम निम्नतर सत्ताके साथ अपने-आपको एक कर देते हैं और नश्वर या सदा-परिवर्तनशील जगत्में नश्वर या क्षर प्राणियोंके रूपमें अपनी प्रतीयमान सत्ताको ही हृदयंगम कर सकते हैं। हमें अपने-आपको पुरुष, आत्मा एवं सनातन सत्ताके रूपमें जानना होगा; हमें सचेतन रूपसे अपनी सच्ची सत्तामें निवास करना होगा। अतएव, ज्ञानमार्गमें यह हमारा सर्वप्रथम, एकमात्र और अनन्य न सही, पर मुख्य विचार एवं प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। किंतु जब हम सनातन आत्माको जो हमारा निज स्वरूप है अनुभव कर लेते हैं, जब हम अवियोज्य रूपसे वही बन जाते हैं, तब भी एक अवांतर लक्ष्य प्राप्त करना हमारे लिये शेष रह जाता है। वह लक्ष्य है—यह सनातन आत्मा जो हमारा निज स्वरूप है तथा यह क्षर सत्ता एवं क्षर जगत् जिसे हमने आजतक मिथ्या रूपसे अपनी वास्तविक सत्ता और अपनी एकमात्र संभवनीय स्थिति समझ रखा था—इन दोनोंके बीच सच्चा संबंध स्थापित करना।

किसी भी संबंधके वास्तविक होनेके लिये यह आवश्यक है कि वह दो वास्तविक सत्ताओंके बीचमें हो। पहले हमने यह समझ रखा था कि सनातन आत्मा यदि मिथ्या-माया नहीं तो एक ऐसा परोक्ष प्रत्यय अवश्य है जो हमारी पार्थिव सत्तासे बहुत दूर है। क्योंकि, तब वस्तुओंकी प्रकृतिको देखते हुए हम यह सोच ही नहीं सकते थे कि हम कालके प्रवाहमें बदलने और गति करनेवाले इस मन, प्राण और शरीरके सिवाय कोई और चीज हैं। जब एक बार हम इस निम्नतर स्थितिके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं तो हम स्वभाववश आत्मा और जगत्के बीचके उसी गलत संबंधके दूसरे पक्षको पकड़कर बैठ सकते हैं, हम इस सनातन सत्ताको जो हम उत्तरोत्तर बनते जाते हैं या जिसमें हम निवास करते हैं, एकमात्र वास्तविक सत्ता समझने लगते हैं और इसपरसे संसार तथा मनुष्यको अपने-आपसे सुदूर

एक माया एवं मिथ्या वस्तुके रूपमें तुच्छताकी दृष्टिसे देखने लगते हैं, क्योंकि यह एक ऐसी स्थिति है जो हमारे नये आधारके सर्वथा विपरीत है, जिसमें हम अब और अधिक अपनी चेतनाकी जड़ें नहीं जमाते, जिससे हम ऊपर उठकर रूपांतरित हो चुके हैं और जिसके साथ हम अब आगेके लिये कोई अनिवार्य संबंध रखते नहीं प्रतीत होते। यदि निम्नतर त्रिविध सत्तासे पराङ्मुख होते समय हमने सनातन आत्माकी प्राप्तिको अपना मुख्य ही नहीं, बल्कि एकमात्र एवं अनन्य लक्ष्य बनाया हो तो उपर्युक्त ढंगसे संसार और मनुष्यको मिथ्या-माया समझना और भी अधिक संभव है। क्योंकि, तब हम इस मध्यवर्ती स्तर और उस शिखरके बीचके सोपानोंको पार किये बिना एकदम, वेगपूर्वक शुद्ध मनसे शुद्ध आत्माकी ओर चले जा सकते हैं और अपनी चेतनापर यह गहरी अनुभूति अंकित करते जा सकते हैं कि इन दोनोंके बीच एक खाई है जिसपर हम, दुःखदायी पतनके बिना, पुल नहीं बाँध सकते और जिसे हम अब पुनः पार भी नहीं कर सकते।

परंतु, आत्मा और जगत्‌में एक नित्य और घनिष्ठ संबंध है तथा इन दोनोंको जोड़नेवाला एक सूत्र भी है, इनके बीच कोई ऐसी खाई नहीं है जिसे छलांग लगाकर पार करनेकी जरूरत हो। आत्मा और जड़ जगत् एक क्रमबद्ध और विकसनशील सत्ताकी सीढ़ीका सबसे उपरला और सबसे निचला डंडा हैं। अतएव, इन दोके बीच कोई वास्तविक संबंध एवं संयोजक सूत्र अवश्य होना चाहिये जिसके द्वारा सनातन ब्रह्म शुद्ध आत्मा और पुरुष रहनेके साथ-साथ अपने रचे विश्वको अपने अंदर धारण करनेमें भी समर्थ है; और जो जीव सनातनके साथ एकीभूत या योगयुक्त है उसके लिये भी आजकी भाँति जगत्‌में अज्ञानपूर्वक डूबे रहनेके बजाय दिव्य संबंधकी इसी स्थितिको अपनाना अवश्य संभव होना चाहिये। संबंध जोड़नेवाला यह सूत्र है आत्मा और भूतमात्रकी सनातन एकता; मुक्त जीवको यह सनातन एकता धारण करनेमें समर्थ होना चाहिये; ठीक वैसे ही जैसे नित्यमुक्त और बंधातीत भगवान् इसे धारण करनेमें समर्थ हैं, और शुद्ध आत्मस्वरूपके साक्षात्कारके साथ, जिसे कि हमें अपना प्रथम लक्ष्य बनाना होगा, समान रूपसे हमें इस एकताका भी साक्षात्कार करना होगा। पूर्ण आत्म-उपलब्धिके लिये हमें आत्मा एवं ईश्वरके साथ ही नहीं, बल्कि सब भूतोंके साथ भी एकता प्राप्त करनी होगी। अपनी व्यक्त सत्ताके इस जगत्‌को हमें यथार्थ संबंधके साथ तथा सनातन सत्यकी स्थितिमें फिरसे अपनाना होगा यह जानते हुए कि यह हमारे मनुष्य-भाइयोंसे

भरा हुआ है जिनसे हम इसलिये विमुख हो गये थे कि उनके साथ हम अशुद्ध संबंधके द्वारा और मिथ्यात्वकी एक ऐसी स्थितिमें बँधे हुए थे जिसे अपने समस्त विरोधों, विसंवादों और द्वंद्वोंसे युक्त विभक्त चेतनाके सिद्धांतने कालमें उत्पन्न किया था। हमें सभी पदार्थों और प्राणियोंको अपनी नयी चेतनामें फिरसे अपनाना होगा, पर सबके साथ एक होकर, न कि अहंमय व्यष्टिभावके द्वारा उनसे विभक्त रहकर।

दूसरे शब्दोंमें, शुद्ध स्वयंभू और देशकालातीत परात्पर आत्माकी चेतनाके अतिरिक्त हमें वैश्व चेतनाको भी स्वीकार करना तथा उसके साथ एक होना होगा, हमें उस अनंतके साथ अपनी सत्ताकी एकताका साक्षात्कार करना होगा जो अपने-आपको सब लोकोंका आदिमूल और आधार बनाता है और सर्वभूतोंमें निवास करता है। यह वह साक्षात्कार है जिसे प्राचीन वेदांतियोंने 'आत्मामें सब भूतोंका दर्शन और सब भूतोंमें आत्माका दर्शन' कहा है; और इसके साथ ही वे एक ऐसे मनुष्यके सर्वोच्च साक्षात्कारका भी वर्णन करते हैं जिसमें सत्ताका आदि चमत्कार फिरसे घटित हुआ है, अर्थात् जिसे इस साक्षात्कारकी प्राप्ति हुई है कि 'उसकी अपनी सत्ता, आत्मा, ने ही व्यक्त सत्ताके लोकोंके इन सब भूतोंका रूप धारण कर रखा है।'* इन तीन सूत्रोंमें मूल रूपसे, आत्मा और जगत्के उस समस्त वास्तविक संबंधका वर्णन आ गया है जो हमें संकीर्णकारी अहंके पैदा किये हुए मिथ्या संबंधके स्थानपर स्थापित करना होगा। अनंत सत्ताके संबंधमें यही वह नयी दृष्टि और अनुभूति है जो हमें प्राप्त करनी होगी, सबके साथ उक्त प्रकारकी एकताका यही वह आधार है जिसकी हमें स्थापना करनी होगी।

कारण, हमारी वास्तविक आत्मा व्यक्तिगत मानसिक सत्ता नहीं है, यह केवल एक रूप है, एक प्रतीति है; हमारी वास्तविक आत्मा तो विश्व-व्यापी और अनंत है, वह समस्त सत्ताके साथ एकीभूत तथा सर्वभूतोंके अंदर विराजमान है। हमारे मन, प्राण और शरीरके पीछे जो आत्मा विद्यमान है वह वही है जो हमारे सब मानव-बंधुओंके मन, प्राण और शरीरके पीछे है, और यदि हम उसे प्राप्त कर लें, तो जब हम पुनः

---

*यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ —उपनिषद् ईश

उनपर दृष्टिपात करनेके लिये मुड़ेंगे, हम अपनी चेतनाके सामान्य आधारमें उनके साथ स्वभावत: ही एक होते चले जायंगे। यह सच है कि मन ऐसे किसी भी तादात्म्यका विरोध करता है और यदि हम उसे उसकी पुरानी आदतों और चेष्टाओंपर अड़े रहने दें तो वह वस्तुओं-संबंधी इस वास्तविक और सनातन अंतर्दृष्टिके अनुरूप अपने-आपको ढालने तथा इसके अनुसार बरतनेकी अपेक्षा कहीं अधिक हमारे नये आत्म-साक्षात्कार एवं आत्मोपलब्धिपर फिरसे अपनी विरोध-विषमताओंका पर्दा डालनेका ही यत्न करेगा। परंतु, सर्वप्रथम, यदि हम अपने योगके मार्गपर ठीक विधिसे आगे बढ़ें हों तो मन और हृदयके शुद्ध हो जानेसे हम आत्माको प्राप्त कर चुके होंगे, और शुद्ध मनका मतलब है एक ऐसा मन जो ज्ञानके प्रति अनिवार्य रूपसे निष्क्रिय और उन्मुक्त रहता है। दूसरे, मनको उसकी सीमित और विभाजित करनेकी प्रवृत्तिके होते हुए भी यह सिखाया जा सकता है कि वह संकीर्णताजनक प्रतीतिके खंडित रूपोंके अनुसार विचार करनेके स्थानपर एकीकारक सत्यके सामंजस्यपूर्ण स्वरके अनुसार विचार करे। अतएव, ध्यान और एकाग्रताके द्वारा हमें उसमें यह अभ्यास डालना चाहिये कि वह पदार्थों और प्राणियोंके विषयमें इस रूपमें सोचना छोड़ दे कि ये अपने-आपमें पृथक् रूपसे अस्तित्व रखते हैं, और इसके स्थानपर सदैव यों सोचे कि 'एकं सत्' ही सब जगह ओतप्रोत है और सब वस्तुओंके विषयमें इस रूपमें विचार करे कि ये 'एकं सत्' ही हैं। यद्यपि इससे पहले हम कह आये हैं कि जीवकी मन, प्राण और शरीरसे अलग होनेकी क्रिया ज्ञान-प्राप्तिकी सबसे पहली आवश्यक विधि है और मानो अपने-आपमें केवल इसीका अनुसरण करना चाहिये, पर वास्तवमें पूर्णयोगके साधकके लिये इन दोनों क्रियाओंका एक साथ अभ्यास करना अधिक अच्छा है। इनमेंसे एकके द्वारा वह अपने अंदर आत्माको प्राप्त करेगा, दूसरीके द्वारा वह उन सब चीजोंमें भी जो इस समय हमें अपनेसे बाहर प्रतीत होती हैं, इसी आत्माको प्राप्त करेगा। निःसंदेह, कोई साधक इस दूसरी क्रियासे साधना आरंभ कर सकता है, अर्थात् पहले वह इस दृश्य एवं इंद्रियगोचर जगत्में सभी वस्तुओंको ईश्वर, ब्रह्म या विराट् पुरुषके रूपमें अनुभव कर सकता है और फिर इसके परे, जो कुछ भी विराट्के पीछे अवस्थित है उस सबकी ओर अग्रसर हो सकता है। परंतु इस विधिमें कुछ कठिनाइयाँ हैं और अतएव, यदि यह संभव जान पड़े तो, इन दोनों क्रियाओंको एक साथ चलाना अधिक अच्छा होगा।

हम देख ही चुके हैं कि सब वस्तुओंमें इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्मका

साक्षात्कार करनेके तीन रूप हैं। इन्हें हम सुविधाके लिये अनुभवकी तीन क्रमिक भूमिकाओंका रूप दे सकते हैं। सर्वप्रथम हमें उस विराट् आत्माका अनुभव होता है जिसमें सब प्राणी जीवन धारण करते हैं। आत्मा एवं भगवान्‌ने एक ऐसी स्वयंभू, शुद्ध, अनंत और व्यापक सत्ताके रूपमें अपने-आपको व्यक्त किया है जो देश और कालके अधीन नहीं है, बल्कि इन्हें अपनी चेतनाके आकारोंके रूपमें धारण करती है। वह विश्वकी सब वस्तुओंसे अधिक कुछ है और इन सबको अपनी स्वतःव्याप्त सत्ता और चेतनामें समाये हुए है। जिन भी चीजोंको वह उत्पन्न और धारण करती है या जिन भी चीजोंका रूप ग्रहण करती है उनमेंसे किसीसे भी वह बँधी हुई नहीं है, बल्कि मुक्त, अनंत और आनंदमय है। एक प्राचीन रूपकके शब्दोंमें, वह उन्हें उसी प्रकार धारण करती है जिस प्रकार अनंत आकाश अपने अंदर सब पदार्थोंको धारण करता है। किसी-किसी साधकको एक ऐसी वस्तुपर जो उसे आरंभमें एक अमूर्त एवं अग्राह्य विचार-सी प्रतीत होती है ध्यान एकाग्र करनेमें कठिनाई प्रतीत होती है। उसके लिये आकाश-ब्रह्मका यह रूपक क्रियात्मक दृष्टिसे, निश्चय ही, अत्यधिक सहायक हो सकता है। भौतिक आकाशके नहीं, बल्कि विशाल सत्, चित्, आनंदके सर्वतोव्यापी आकाशके इस रूपकमें वह इस परमोच्च सत्ताका मनके द्वारा दर्शन करने तथा अपनी मनोमय सत्तामें इसका अनुभव करने और इसके साथ अपनी अंतःस्थ आत्माकी एकताका ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न कर सकता है। ऐसे ध्यानके द्वारा मनको उन्मुखताकी एक ऐसी अनुकूल अवस्थामें लाया जा सकता है जिसमें पर्देके फट जाने या हट जानेसे अतिमानसिक अंतर्दृष्टिका प्रवाह हमारे मनको परिप्लुत कर सकता है और हमारी समस्त दृष्टिको पूर्ण रूपसे पलट सकता है। और, जैसे-जैसे दृष्टिका यह परिवर्तन अधिकाधिक सबल एवं सुदृढ़ होता जायगा तथा हमारी सारी चेतनाको अपने अधिकारमें करता जायगा, वैसे-वैसे अंततः हमारे बाह्य जीवनमें भी परिवर्तन आता जायगा और, फलतः, जो कुछ हम देखते हैं, वही हम स्वयं बन भी जायँगे। हमारी चेतना उतनी विराट् नहीं जितनी कि वह विराट्से भी परतर एवं अनंत बन जायगी। तब मन, प्राण और शरीर उस अनंत चेतनामें जो कि हम बन गये हैं, केवल विशेष प्रकारकी गतियोंके रूपमें प्रतीत होंगे, और हम देखेंगे कि जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व है वह जगत् बिलकुल नहीं है, बल्कि आत्माकी यह अनंत सत्ता ही है जिसमें उसकी अपनी आत्म-सचेतन अभिव्यक्तिके रूपोंके शक्तिशाली वैश्व सामंजस्य विचरण करते हैं।

तो फिर इस सामंजस्यका गठन करनेवाले इन सब रूपों और सत्ताओंका क्या होगा? क्या ये सब हमारे लिये केवल प्रतिमाएँ होंगे, अंदरसे गठन करनेवाली किसी भी सद्वस्तुसे रहित कोरे नाम-रूप तथा अपने-आपमें क्षुद्र एवं निरर्थक वस्तुएँ होंगे और चाहे किसी समय ये हमारी मानसिक दृष्टिको कैसे ही भव्य, शक्तिशाली या सुन्दर क्यों न लगते रहे हों, पर अब क्या इन्हें त्याग देना होगा तथा कौड़ी कीमतका भी नहीं समझना होगा? नहीं, ऐसा नहीं; यद्यपि, सर्वाधारस्वरूप आत्मामें समाविष्ट अनंत सत्ताओंका त्याग कर केवल उस आत्माकी अनंततामें ही अत्यंत प्रगाढ़ रूपसे लीन रहनेका पहला स्वाभाविक परिणाम ऐसा ही होगा। परंतु ये चीजें वास्तविकतासे शून्य नहीं हैं, विराट् मनके द्वारा कल्पित मिथ्या नाम-रूपमात्र नहीं हैं; जैसा कि हम कह चुके हैं, ये अपने वास्तविक रूपमें आत्माकी सचेतन अभिव्यक्तियाँ हैं, अर्थात् आत्मा हमारी ही तरह इन सबके अंदर भी उपस्थित है, इनसे सचेतन है तथा इनकी गतिको नियंत्रित करता है, जिन चीजोंका रूप वह ग्रहण करता है, उनके अंदर आनंदपूर्वक निवास करता है तथा आनंदपूर्वक ही उन्हें अपने अंदर समाये रहता है। जैसे आकाश घटको अपने अंदर धारण करता है और साथ ही मानो उसमें समाया भी रहता है वैसे ही यह आत्मा सब भूतोंको धारण करता है और साथ ही उनमें व्याप्त भी रहता है,—भौतिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक अर्थमें; और यही उनकी वास्तविक सत्ता है। आत्माके इस अंतर्व्यापी स्वरूपका हमें साक्षात्कार करना होगा; सब भूतोंमें अवस्थित इस आत्माके हमें दर्शन करने होंगे और अपनी चेतनामें हमें यही बन जाना होगा। अपनी बुद्धि और मानसिक संस्कारोंके समस्त निरर्थक प्रतिरोधको एक ओर रखकर हमें यह जानना होगा कि भगवान् इन सब व्यक्त पदार्थोंमें निवास कर रहे हैं और इनका सच्चा आत्म-स्वरूप तथा चेतन आत्म-तत्त्व हैं और यह ज्ञान हमें केवल बुद्धिसे नहीं, बल्कि एक ऐसे आत्मानुभवसे भी प्राप्त करना होगा जो हमारी मानसिक चेतनाके सभी अभ्यासोंको बलपूर्वक अपने दिव्यतर साँचेमें ढाल देगा।

इस आत्माको जो हमारा निज स्वरूप है, अंततः, हमारी आत्म-चेतनाके प्रति इस रूपमें प्रकट होना होगा कि यह इन सब भूतोंको अतिक्रम करता हुआ भी इन सबके साथ पूर्णतया एक है। हमें इसे केवल एक ऐसे आत्माके रूपमें नहीं देखना होगा जो सबको धारण करता है तथा सबमें व्याप्त है, वरन् ऐसे आत्माके रूपमें भी जो सब कुछ है, जो घट-घटवासी आत्मा ही नहीं है, बल्कि नाम और रूप भी है, गति और गतिका स्वामी

है तथा मन, प्राण और शरीर भी है। इस अंतिम साक्षात्कारके द्वारा ही हम उन सब चीजोंको जिनसे हम निवृत्ति और पराङ्मुखताकी पहली क्रियामें पीछे हट गये थे, यथार्थ संतुलनकी तथा सत्यके अंतर्दर्शनकी अवस्थामें फिरसे पूर्णतया ग्रहण कर लेंगे। अपने व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीरको जिनसे हम, उन्हें अपनी सच्ची सत्ता न समझते हुए, विमुख हो गये थे, आत्माकी सच्ची अभिव्यक्तिके रूपमें फिरसे अंगीकार कर लेंगे, पर हां, अब हम उन्हें निरी वैयक्तिक संकीर्णताके साथ ग्रहण नहीं करेंगे। मनको हम एक क्षुद्र गतिमें आबद्ध पृथक् मनके रूपमें नहीं, बल्कि वैश्व मनकी विशाल गतिके रूपमें ग्रहण करेंगे, प्राणको जीवन-शक्ति, संवेदन और कामनाकी अहंभावमय चेष्टाके रूपमें नहीं, बल्कि वैश्व प्राणकी मुक्त क्रियाके रूपमें, शरीरको आत्माके भौतिक कारागारके रूपमें नहीं, बल्कि एक गौण यंत्र तथा इच्छानुसार अलग कर सकने योग्य वस्त्रके रूपमें ग्रहण करेंगे,—इसे भी हम वैश्व जड़तत्त्वकी एक गति तथा विश्व-शरीरका एक कोषाणु अनुभव करेंगे। भौतिक जगत्की समस्त चेतनाको हम अपनी भौतिक चेतनाके साथ एकमय अनुभव करने लगेंगे, अपने चारों ओर व्याप्त विश्व-प्राणकी समस्त शक्तियोंको अपनी ही शक्तियां अनुभव करेंगे, दिव्य आनंदके साथ तालमेल साधे हुए अपने हृदयके स्पंदनोंमें हम महान् वैश्व आवेग और कामनाके सभी हृत्स्पंदनोंको अनुभव करेंगे, वैश्व मनकी समस्त क्रियाको अपने मनके अंदर प्रवाहित होते हुए अनुभव करेंगे और अपनी विचार-क्रियाको बाहर उस वैश्व मनकी ओर, विशाल सागरमें लहरकी भांति, प्रवाहित होते अनुभव करेंगे। अतिमानसिक सत्यकी ज्योतिमें और आध्यात्मिक आनंदके स्पंदनमें समस्त मन, प्राण और जड़तत्त्वका आलिंगन करनेवाली यह एकता ही हमारे लिये पूर्ण वैश्व चेतनामें भगवान्‌की हमारे अपने अंदर चरितार्थता होगी।

पर, क्योंकि हमें इस सबका आलिंगन सत्ता और अभिव्यक्तिके दोहरे रूपमें करना होगा, जो ज्ञान हम प्राप्त करें वह पूर्ण और समग्र होना चाहिये। हमें शुद्ध पुरुष और आत्माके साक्षात्कार ही नहीं कर जाना होगा, बल्कि आत्माके उन सब रूपोंको भी अपने अंदर समाविष्ट करना होगा जिनके द्वारा वह अपनी विराट् अभिव्यक्तिका धारण, भरण और विकास करता है तथा उसमें अपने-आपको व्यक्त करता है। [illegible] [illegible] कि [illegible] रूपोंको एवं [illegible] क्षेत्रमें [illegible] और [illegible]-शक्तिको [illegible] कर देना होगा।

आत्माकी अभिव्यक्तिके प्रकार

ज्ञानमार्गके द्वारा हम जिस आत्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं वह केवल हमारी मानसिक एवं आभ्यंतरिक सत्ताकी अवस्थाओं और क्रियाओंके पीछे रहकर उन्हें धारण करनेवाली सद्वस्तु नहीं है, वल्कि एक ऐसी परात्पर एवं विराट् सत्ता भी है जिसने विश्वकी समस्त गतियोंमें अपनेको व्यक्त कर रखा है। अतएव, आत्माके ज्ञानमें सत्ताके मूलतत्त्वों एवं उसके आधारभूत प्रकारोंका तथा गोचर जगत्के मूलतत्त्वोंके साथ उसके संवंधोंका ज्ञान भी समाविष्ट हो जाता है। उपनिषद्ने एक स्थलपर ब्रह्मका वर्णन इस रूपमें किया है कि वह एक ऐसा तत्त्व है जिसका ज्ञान होनेपर सव वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है। वहाँ उसका मतलव ब्रह्मके उक्त प्रकारके ज्ञानसे ही है।* सवसे पहले उसे सत्ताके शुद्ध तत्त्वके रूपमें अनुभव करना होगा; तदनंतर, उपनिषद् कहती है, उसे अनुभव करनेवाले आत्माके प्रति उसकी अभिव्यक्तिके मूल प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं। निःसंदेह, इस अनुभवसे पहले भी हम दार्शनिक तर्कके द्वारा इस विषयका विश्लेषण करने और यहाँतक कि वुद्धिके द्वारा इसे समझनेका भी यत्न कर सकते हैं कि सत्ता और जगत्का स्वरूप क्या है, किंतु ऐसे दार्शनिक वोधको ज्ञान नहीं कह सकते। अपि च, चाहे ज्ञान और अंतर्दर्शनके रूपमें हमें उसका साक्षात्कार प्राप्त हो भी जाय तो भी यह तवतक अपूर्ण ही रहेगा जवतक हम एक समग्र आत्मानुभवके रूपमें उसका साक्षात्कार न कर लें और जिस वस्तुका साक्षात्कार हमने किया है उसके साथ अपनी संपूर्ण सत्ताको एक न कर दें।† योगकी विद्या यह है कि हम इस परमोच्च सत्ताका ज्ञान प्राप्त करें और योगकी कला यह है कि हम इसके साथ एकमय हो जायँ, ताकि हम आत्मामें निवास करते हुए अपनी इस सर्वोच्च स्थितिसे कर्म कर सकें। इसके लिये हमें उस परात्पर भगवान्के साथ जिसे सव पदार्थ और प्राणी

---

*यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्। —प्रश्न उपनिषद्

†गीताने सांख्य और योगमें जो भेद किया है वह यही है; पूर्ण ज्ञानके लिये दोनों ही आवश्यक हैं।

अज्ञानपूर्वक या अधूरे ज्ञान एवं अनुभवसे, अपने अंगोंके निम्नतर नियमके द्वारा प्रकट करनेका यत्न करते हैं, अपनी सत्ताके चेतन सारतत्त्वमें ही नहीं, वल्कि सचेतन विधानमें भी एकत्व प्राप्त करना होगा। सर्वोच्च सत्यको जानना तथा उसके साथ समस्वर होना सच्चा अस्तित्व धारण करनेकी शर्त है, जो कुछ भी हम हैं, जो भी अनुभव और कर्म हम करते हैं उस सवमें इस सत्यको प्रकट करना सच्चा जीवन यापित करनेकी शर्त है।

परंतु सर्वोच्च सत्ताको ठीक प्रकारसे जानना और व्यक्त करना मनोमय प्राणी मनुष्यके लिये आसान नहीं है, क्योंकि सत्ताका सर्वोच्च सत्य और फलतः उसकी अभिव्यक्तिके सर्वोच्च प्रकार मनसे परेकी वस्तुएँ हैं। ये उन तत्त्वोंकी मूल एकतापर आधारित हैं जो मन एवं वुद्धिको सत्ता और विचारके विरोधी ध्रुव और अतएव समन्वय-अयोग्य परस्पर-विपरीत एवं विरोधी तत्त्व प्रतीत होते हैं और जो जगद्विषयक हमारे मानसिक अनुभवके लिये तो निश्चितरूपेण ऐसे ही हैं, पर अतिमानसिक अनुभवके लिये एक ही सत्यके पूरक पक्ष हैं। यह वात हम पहले भी देख चुके हैं जव हमने कहा था कि आत्माको एक ही साथ एक और वहुके रूपमें अनुभव करना आवश्यक है; क्योंकि हमें प्रत्येक पदार्थ और प्राणीको 'वही' अनुभव करना होगा; सव 'वही' हैं। इस रूपमें सवकी एकता अनुभव करनी होगी—वस्तुओंके कुलयोगकी एकता तथा उनके सारतत्त्वकी एकता इन दोनों रूपोंमें सवको 'उस'में एकमय अनुभव करना होगा; और 'उसे' एक ऐसे परात्परके रूपमें अनुभव करना होगा जो इस सव एकता और अनेकताके जिसे हम सत्तामात्रके दो विरोधी, पर सहचारी ध्रुवोंके रूपमें सर्वत्र देखते हैं, परे विद्यमान है। कारण, प्रत्येक व्यक्ति वास्तवमें आत्मा एवं भगवान् ही है, भले ही वह अपने मानसिक और शारीरिक रूपके उन वाह्य वंधनोंसे जकड़ा हुआ हो जिनके द्वारा वह काल-विशेप एवं देश-विशेपमें, व्यक्तिको जाननेके लिये उपयोगी आंतरिक अवस्था एवं वाह्य क्रिया और घटनाके जालका निर्माण करनेवाली परिस्थितियोंकी किसी विशेप शृंखलामें अपने-आपको प्रकट करता है। विलकुल इसी प्रकार प्रत्येक समष्टि भी, वह छोटी हो या वड़ी, आत्मा एवं भगवान् ही है जो इस अभिव्यक्तिकी अवस्थाओंमें अपने-आपको उक्त ढंगसे प्रकट कर रहे हैं। यदि हम किसी व्यक्ति या समष्टिका ज्ञान केवल उसी रूपमें प्राप्त करें जिसमें कि वह भीतरसे अपने-आपको या वाहरसे हमें दिखायी देती है तो हम उसे वास्तविक रूपमें विलकुल नहीं जान सकते, उसका ज्ञान तो हम असलमें तभी प्राप्त कर सकते हैं यदि हम उसे भगवान् तथा एकमेवके रूपमें, अपने उस परम

आत्माके रूपमें जान लें जो आत्म-अभिव्यक्तिके नानाविध मूल प्रकारों तथा नैमित्तिक परिस्थितियोंका प्रयोग करता है। जबतक हम अपने मनके अभ्यासोंको इस प्रकार रूपांतरित नहीं कर डालते कि वह एकमेवमें सब भेदोंका सामंजस्य कर देनेवाले इस ज्ञानमें पूर्ण रूपसे निवास करने लगे तबतक हम वास्तविक सत्यमें जीवन यापन नहीं करते, क्योंकि हमारा निवास वास्तविक एकतामें नहीं होता। एकताकी पूर्ण भावना वह नहीं है जिसमें सबको एक ही अखंड समष्टिके अंग, एक ही समुद्रकी लहरें समझा जाता है, बल्कि वह है जिसमें प्रत्येक तथा 'सब'को परम तादात्म्यमें पूर्ण रूपसे भगवान्, पूर्ण रूपसे हमारा अपना आत्मा माना जाता है।

तथापि, अनंतकी मायाके अति जटिल होनेके कारण, एक ऐसी भावना भी है जिसमें सबको अखंड समष्टिके अंगों एवं समुद्रकी लहरोंके रूपमें अथवा यहाँतक कि, एक अर्थमें, पृथक् सत्ताओंके रूपमें देखना भी पूर्ण सत्य और पूर्ण ज्ञानका आवश्यक अंग बन जाता है। क्योंकि, यद्यपि आत्मा सदा सबमें एक ही है, तथापि हम देखते हैं कि कम-से-कम सृष्टि-चक्रके प्रयोजनोंके लिये वह अपने-आपको ऐसे नित्य जीवोंके रूपमें प्रकट करता है जो लोक-लोकांतरों और युग-युगांतरोंमें हमारे व्यक्तित्वकी गतियोंपर शासन करते हैं। यह नित्य जीव-सत्ता ही हमारी वास्तविक व्यष्टि-सत्ता है जो उस वस्तुके जिसे हम अपना व्यक्तित्व कहते हैं सतत परिवर्तनोंके पीछे अवस्थित है। यह कोई सीमित अहंभाव नहीं है, बल्कि एक ऐसी वस्तु है जो अपने-आपमें अनंत है; वास्तवमें यह जीव स्वयं 'अनंत' ब्रह्म ही है जो अपनी सत्ताके एक स्तरसे जीवात्माके नित्य अनुभवके रूपमें अपने-आपको स्वेच्छापूर्वक प्रतिबिंबित कर रहे हैं। सांख्योंके अनेक 'पुरुषों'के सिद्धांतके मूलमें भी यही सत्य काम कर रहा है; इस सिद्धांतके अनुसार अनेक, बीजरूप, अनंत, मुक्त और निर्व्यक्तिक जीव एक ही विश्व-शक्तिकी गतियोंको प्रतिबिंबित कर रहे हैं। विशिष्टाद्वैतवादके दर्शनने भी जो सांख्य मतसे अत्यंत भिन्न है तथा जो बौद्धोंके शून्यवाद एवं वेदांतियोंके मायावादी अद्वैतकी दार्शनिक अतियोंके विरुद्ध एक विद्रोहके रूपमें उदित हुआ था, इसी सत्यको एक भिन्न ढंगसे अपना आधार बनाया है। बौद्ध और सांख्य सिद्धांतोंका मिश्रण-रूप एक प्राचीन सिद्धांत यह मानता था कि विश्वमें केवल एक शांत निष्क्रिय पुरुष सर्वत्र व्याप्त है और उसके अतिरिक्त यहाँ पंचभूतों तथा निश्चेतन शक्तिके तीन गुणोंके सतत संयोगको छोड़कर और कुछ भी नहीं है, पंचभूतों और तीन गुणोंकी मिथ्या क्रियाको यह निश्चेतन शक्ति निष्क्रिय पुरुषकी उस चेतनाके द्वारा जिसमें कि इस

क्रियाका प्रतिविंव पड़ता है, चेतन और सजीव कर देती है। पर यह सिद्धांत ब्रह्मका पूर्ण सत्य नहीं है। हम केवल उन परिवर्तनशील मानसिक, प्राणिक और शारीरिक उपादानोंका पुंजमात्र नहीं हैं जो एक जन्मसे दूसरे जन्ममें मन, प्राण तथा शरीरके विभिन्न रूप धारण करते रहते हैं और परिणामतः इस सव प्रवाहके पीछे कोई वास्तविक आत्मा या अस्तित्वका कोई चेतन हेतु कभी भी नहीं होता अथवा कम-से-कम उस निष्क्रिय पुरुषके सिवाय और कोई नहीं होता जो इनमेंसे किसी भी चीजकी परवा नहीं करता। हमारे मानसिक, प्राणिक और शारीरिक व्यक्तित्वके सतत परिवर्तनके पीछे हमारी सत्ताकी एक वास्तविक और स्थिर शक्ति विद्यमान है और हमें इसे जानना तथा सुरक्षित रखना होगा, ताकि अनंत ब्रह्म अपने सनातन वैश्व व्यापारके किसी भी क्षेत्रमें तथा उसके किसी भी प्रयोजनके लिये अपने संकल्पके अनुसार अपने-आपको इस जीवात्म-शक्तिके द्वारा प्रकट कर सकें।

अपिच, यह एकमेव जिससे सब वस्तुएँ उद्‌भूत होती हैं, ये वहु जिनका कि यह एकमेव सारतत्त्व और आदिमूल है, और यह ऊर्जा, शक्ति या प्रकृति जिसके द्वारा एक और वहुके संवंधोंको स्थिर रखा जाता है—इन सवके संभवनीय, शाश्वत और अनंत संबंधोंके दृष्टिकोणसे यदि हम सत्ताका अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि द्वैतवादी दर्शन और धर्म भी जो सव सत्ताओंकी एकताका अत्यंत जोरदार शब्दोंमें खंडन करते और परमेश्वर तथा उसके जीवोंके बीच एक दुर्लंघ्य भेद पैदा करते प्रतीत होते हैं, कुछ हदतक युक्तियुक्त हैं। यद्यपि अपने स्थूलतम रूपोंमें इन धर्मोंका लक्ष्य निम्नतर स्वर्गोंके अज्ञानपूर्ण सुख प्राप्त करना ही हो तथापि इनका एक अत्यधिक ऊँचा और गहरा अर्थ भी है। उस अर्थमें हम एक भक्त कविके उस उद्‌गारका सही मूल्य आँक सकते हैं जिसके द्वारा उसने एक सुपरिचित, पर वलपूर्ण रूपककी भाषामें यह दावा किया था कि परमात्माके आलिंगनके दिव्यानंदका सदा-सर्वदा उपभोग करना आत्माका निज अधिकार है। उसने लिखा था कि "मैं शक्कर वनना नहीं चाहता, मैं शक्कर खाना चाहता हूँ।" सवमें व्याप्त एकमेव आत्माकी तात्त्विक एकतापर हम अपना आधार कितनी ही दृढ़तासे क्यों न रखें, फिर भी भक्त कविके उक्त उद्‌गारको एक प्रकारकी आध्यात्मिक विलासिताकी अभिलाषामात्र या परम सत्यकी शुद्ध एवं उच्च कठोरताका एक आसक्त एवं अज्ञ आत्माके द्वारा परित्यागमात्र समझना हमारे लिये उचित नहीं। इसके विपरीत, अपने भावात्मक भागमें इस उद्‌गारका लक्ष्य परम पुरुषके एक ऐसे गहरे

और रहस्यमय सत्यको प्राप्त करना है जिसे कोई भी मानवी भाषा व्यक्त नहीं कर सकती, मानवी तर्कबुद्धि जिसका उपयुक्त विवरण नहीं दे सकती, पर जिसकी कुंजी हृदयके पास है और जिसे अपनी शुद्ध तपस्यापर आग्रह करनेवाले आत्मज्ञानीका अहंकार मिटा नहीं सकता। परंतु यह सत्य विशेष रूपसे भक्तिमार्गके शिखरसे संबंध रखता है और वहाँ हमें इसकी पुनः चर्चा करनी होगी।

पूर्णयोगका साधक अपने लक्ष्यके सर्वांगीण रूपको ही अपनी दृष्टिमें लायगा और उसकी सर्वांगीण चरितार्थताके लिये यत्न करेगा। भगवान् अपनी अभिव्यक्तिके अनेक मूल प्रकारोंके द्वारा अपने-आपको नित्य ही प्रकट करते रहते हैं, अपनी सत्ताके अनेक स्तरोंपर तथा उसके अनेक ध्रुवोंके द्वारा वह अपना अस्तित्व धारण करते हैं तथा अपने-आपको प्राप्त भी करते हैं। अभिव्यक्तिके इन प्रकारोंमेंसे प्रत्येकका अपना उद्देश्य है, प्रत्येक स्तर या ध्रुवकी अपनी चरितार्थता है——सनातन एकताके सर्वोच्च शिखर तथा महान् क्षेत्र दोनोंमें। एकमेवकी प्राप्ति हमें, अनिवार्य रूपसे, व्यष्टिगत आत्माके द्वारा ही करनी होगी, क्योंकि यही हमारे समस्त अनुभवका आधार है। ज्ञानके द्वारा हम एकमेवके साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं; क्योंकि, द्वैतवादीकी मान्यताके रहते भी, एक तात्त्विक अद्वैतभाव है जिसके द्वारा हम अपने आदि स्रोतमें निमज्जित होकर व्यक्तिभावके समस्त बंधनसे और यहाँतक कि विश्वात्मभावके समस्त बंधनसे भी मुक्त हो सकते हैं। यह बात नहीं कि इस अद्वैतभावका अनुभव केवल ज्ञानके लिये या अमूर्त्त सत्ताकी शुद्ध अवस्थाके लिये ही लाभदायक होता है। अपितु हम देख ही चुके हैं कि हमारे समस्त कर्मका शिखर भी कर्ममार्गके द्वारा भागवत इच्छाशक्ति या चिच्छक्तिके साथ एकत्व प्राप्त करके अपने-आपको सर्वकर्ममहेश्वरमें निमज्जित कर देना है; प्रेमकी पराकाष्ठा अपने प्रेम और आराधनाके पात्रके साथ आनंदोद्रेकमय एकत्वमें अपने-आपको परमोल्लासके साथ निमग्न कर देना है। परंतु फिर जगत्में दिव्य कर्म करनेके लिये व्यष्टिगत आत्मा अपने-आपको चेतनाके एक केंद्रके रूपमें परिणत कर देता है। उस केंद्रके द्वारा भागवत इच्छाशक्ति जो भागवत प्रेम और प्रकाशके साथ एकीभूत होती है, विश्वके बहुत्वमें अपने-आपको उँडेल देती है। इसी प्रकार हम परमात्माके साथ तथा अन्य सबकी आत्माके साथ अपनी इस आत्माकी एकताके द्वारा अपने सब मनुष्य-भाइयोंके साथ अपनी एकता उपलब्ध कर लेते हैं। साथ ही, प्रकृतिके कर्ममें हम इसके द्वारा एकमेवके अंशभूत जीवके रूपमें एक भेदस्थितिको भी सुरक्षित रखते हैं जो हमें अन्य प्राणियोंके

साथ तथा स्वयं परमात्माके साथ 'अभेदमें भी भेद'के संबंधोंको सुरक्षित रखनेकी सामर्थ्य प्रदान करती है। अवश्य ही ये संबंध अपने सारतत्त्व और अपनी भावनामें उनसे अत्यंत भिन्न होंगे जो हम ईश्वर और जीवोंके साथ उस समय रखते थे जब हम पूर्ण रूपसे अज्ञानमें ही निवास करते थे तथा जब एकत्व हमारे लिये एक निरा नाम था या फिर अपूर्ण प्रेम, सहानुभूति या उत्कंठाकी संघर्षमयी अभीप्साके रूपमें ही अस्तित्व रखता था। तब एकत्व ही हमारे जीवनका नियम होगा, भेदका अस्तित्व तो केवल इस एकत्वके नानाविध उपभोगके लिये रह जायगा। विभाजनका जो स्तर अहंभावकी पृथक्तासे चिमटा रहता है उसमें फिरसे न उतरते हुए और शुद्ध अद्वैतकी जिस अनन्य स्पृहाको भेदकी किसी भी क्रीड़ासे कुछ भी मतलब नहीं हो सकता, उसमें आसक्त न होते हुए हम सत्ताके दो ध्रुवोंका उस बिंदुपर जहाँ वे परमोच्च पुरुषकी अनंततामें एक-दूसरेसे मिल जाते हैं, आलिंगन तथा समन्वय करेंगे।

परम आत्मा, यहाँतक कि व्यक्तिकी आत्मा भी, जैसे हमारे मानसिक अहंभावसे भिन्न है वैसे ही हमारे व्यक्तित्वसे भी भिन्न है। हमारा व्यक्तित्व सदा एक-सा नहीं रहता; यह तो एक प्रकारके अनवरत परि-वर्तन तथा नानाविध संयोगका नाम है। यह मूलभूत चेतना नहीं है, बल्कि चेतनाके रूपोंका एक प्रकारका विकास है,—सत्ताकी कोई शक्ति नहीं है, बल्कि उसकी अपूर्ण शक्तियोंकी नानाविध लीला है,—हमारी सत्ताके आनंदका भोक्ता नहीं है, वरन् अनुभवके उन विविध स्वरों और तानोंकी खोज है जो इस आनंदको, कम या अधिक, क्षर संबंधोंके रूपमें परिणत कर दें। यह व्यक्तित्व भी 'पुरुष' और ब्रह्म है, पर है क्षर .पुरुष, सनातनका दृश्य रूप न कि उसका स्थिर सत्स्वरूप। गीता पुरुषके तीन भेद प्रतिपादित करती है, ये तीन पुरुष भागवत सत्ताकी सब भूमिकाओं और उसके संपूर्ण कार्य-व्यापारका गठन करते हैं; ये हैं क्षर, अक्षर और परात्पर जो अन्य दोसे परे है तथा उन्हें अपने अंदर समाविष्ट किये हुए है। यह परात्पर पुरुष ही परमेश्वर है जिसमें हमें निवास करना होगा, यही हमारे और सबके अंदर अवस्थित परम आत्मा है। अक्षर पुरुष शांत, निष्क्रिय, सम और निर्विकार आत्मा है। इसे हम तब प्राप्त करते हैं जब हम कर्मसे पीछे हटकर निष्क्रियताकी ओर, चेतना और शक्तिकी लीला तथा आनंदकी खोजसे भी पीछे हटकर चेतना, शक्ति और आनंदके उस शुद्ध और नित्य आधारकी ओर मुड़ते हैं जिसके द्वारा परात्पर पुरुष मुक्त, सुरक्षित और अनासक्त रहते हुए लीलाका धारण तथा उपभोग करता

है। क्षर पुरुष व्यक्तित्वके उस परिवर्तनशील प्रवाहका, जिसके द्वारा हमारे विश्वगत जीवनके संबंध संभव बनते हैं, उपादान और प्रत्यक्ष प्रेरक है। क्षर पुरुषमें प्रतिष्ठित मनोमय प्राणी उसके प्रवाहमें ही गति करता रहता है और इसे शाश्वत शांति, शक्ति एवं आत्मानंद प्राप्त नहीं हैं; अक्षर पुरुषमें प्रतिष्ठित आत्माके अंदर ये सब विद्यमान होते हैं पर वह जगत्में कर्म नहीं कर सकती; किंतु जो आत्मा परात्पर पुरुषमें निवास कर सकती है वह सत्ताकी शाश्वत शांति, शक्ति, आनंद और विशालताका उपभोग करती है, अपने आत्मज्ञान और आत्मशक्तिमें चरित्र एवं व्यक्तित्वसे या अपनी शक्तिके रूपों तथा अपनी चेतनाके अभ्यासोंसे नहीं बंधी होती और फिर भी जगत्में भगवान्को प्रकट करनेके लिये इन सबको विशाल स्वतंत्रता और शक्तिके साथ प्रयुक्त करती है। यहां भी इस परिवर्तनका अभिप्राय आत्माके मूल प्रकारोंमें किसी प्रकारका हेरफेर नहीं वरन् यह है कि हम परात्पर पुरुषके स्वातंत्र्यमें उदित होकर अपनी सत्ताके दिव्य विधानका यथावत् प्रयोग करते हैं।

पुरुषका यह त्रिविध रूप उस भेदसे संबंध रखता है जो भारतीय दर्शनने सगुण और निर्गुण ब्रह्ममें और यूरोपीय विचारने सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक ईश्वरमें किया है। उपनिषद् जब परात्पर ब्रह्मका वर्णन "निर्गुण गुणी"* इन शब्दोंमें करती है तो वह उक्त विरोधके सापेक्ष स्वरूपकी ओर काफी स्पष्ट रूपमें संकेत कर देती है। यहां फिर सनातन सत्ताके दो तात्त्विक प्रकार, दो मूल रूप, दो ध्रुव हमारे सामने हैं, ये दोनों परात्पर भागवत सद्वस्तुमें अतिक्रांत हो जाते हैं। वास्तवमें ये दोनों (वेदांतके) शांत-निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्मसे मिलते-जुलते हैं। क्योंकि, एक विशेष दृष्टिकोणसे विश्वके सम्पूर्ण कार्य-व्यापारको ब्रह्मके अगणित और अनंत गुणोंका नानाविध प्रकाश और रूपायण समझा जा सकता है। उनकी सत्ता सचेतन संकल्पके द्वारा सब प्रकारके गुणों तथा चेतन सत्ताके उपादानके रूपायणोंका, मानों क्रियाशील आत्म-चेतनाके वैश्व स्वभाव और सामर्थ्यके अभ्यासोंका, गुणोंका, रूप ग्रहण करती हैं जिनमें कि जगत्के समस्त कार्य-व्यापारको विश्लेषणके द्वारा परिणत किया जा सकता है। परंतु वे इन गुणोंमेंसे किसी एकसे या इन सबसे अथवा इनकी चरम एवं अनंत संभाव्य शक्तिसे बंधे हुए नहीं हैं; अपने सब गुणोंसे ऊपर हैं और सत्ताके एक विशेष स्तरपर उनसे मुक्त रूपमें अवस्थित हैं। निर्गुण ब्रह्म गुणोंको धारण

*निर्गुणो गुणी।

करनेमें असमर्थ नहीं हैं, वरन् ठीक ये निर्गुण या गुणाभाव-रूप ब्रह्म ही अपने-आपको सगुण एवं अनंतगुण ब्रह्मके रूपमें तथा अनंत गुणोंके रूपमें प्रकट करते हैं, क्योंकि वे अपनी असीमतया विविध आत्मा-अभिव्यक्तिकी पूर्ण क्षमतामें सब वस्तुओंको धारण किये हुए हैं। वे इनसे मुक्त हैं इसका यही अर्थ है कि वे इनसे परे हैं, और वास्तवमें यदि वे इनसे मुक्त न होते तो ये अनंत नहीं हो सकते थे; तब ईश्वर अपने गुणोंके अधीन होते, अपनी प्रकृतिसे बंधे होते, प्रकृति सर्वोपरि सत्ता होती और पुरुष होता उसकी रचना और उसका खिलौना। सनातन न तो गुणसे बँधे हैं और न गुणके अभावसे, न व्यक्तित्वसे न निर्व्यक्तित्वसे। वे तो स्वयं वे ही हैं, हमारी सब भावात्मक और अभावात्मक परिभाषाओंसे परे।

पर यद्यपि हम सनातनकी परिभाषा नहीं कर सकते तथापि उसके साथ अपने-आपको एक कर सकते हैं। यह कहा गया है कि हम निर्व्यक्तिक ईश्वर तो बन सकते हैं पर सव्यक्तिक ईश्वर नहीं, किंतु यह केवल इस अर्थमें सत्य है कि कोई भी व्यक्तिगत रूपमें सब लोकोंका प्रभु नहीं बन सकता; हम सक्रिय ब्रह्मकी तथा निश्चल-नीरवताकी सत्तामें मुक्त होकर प्रवेश कर सकते हैं; हम दोनोंमें निवास कर सकते हैं, दोनोंमें अपने सत्-स्वरूपकी ओर लौट सकते हैं, पर इनमेंसे प्रत्येकमें उसके अपने विशिष्ट ढंगसे, अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके साथ तो अपने सारतत्त्वमें एक होकर तथा सगुणके साथ अपनी सक्रिय सत्ताकी स्वाधीनतामें, अपनी प्रकृतिमें, एक होकर।* परम पुरुष सनातन शांति, समता और नीरवतामेंसे अपने-आपको एक ऐसी सनातन क्रियाके रूपमें बाहर उंडेल देते हैं जो मुक्त और अनंत होती है, अपने लिये अपने आत्म-निर्धारणोंको स्वतंत्रतापूर्वक नियत करती है, गुणोंके नानाविध संयोगका गठन करनेके लिये अनंत गुणोंका प्रयोग करती है। हमें इस शांति, समता एवं नीरवताको प्राप्त करना होगा और इसमेंसे कर्म करना होगा—गुणोंके बंधनसे भगवान्की तरह मुक्त रहकर पर फिर भी जगत्में भगवत्कर्मके लिये गुणोंका, यहांतक कि अत्यंत विरोधी गुणोंका भी विशाल और नमनीय रूपमें प्रयोग करते हुए कर्म करना होगा। अंतर इतना ही होगा कि जहाँ परमेश्वर सब वस्तुओंके केंद्रमें काम करते हैं वहाँ हमें व्यक्तिरूपी केंद्रमेंसे, उनके अंशभूत जीवके रूपमें हमारी जो सत्ता है उसमेंसे होनेवाले उनके संकल्प, बल और ज्ञानके संचारके द्वारा कर्ममें प्रवृत्त होना होगा। परमेश्वर किसी भी वस्तुके अधीन नहीं हैं;

---

*साधर्म्य-मुक्ति।

परंतु प्रत्येक व्यक्तिका जीवात्मा अपने परमोच्च आत्माके अधीन है और उसकी यह अधीनता जितनी ही अधिक और पूर्ण होती है, उसके अंदर निरपेक्ष शक्ति और स्वतंत्रताकी अनुभूति उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।

Personal (सव्यक्तिक) और Impersonal (निर्व्यक्तिक) में भेद सारत: सगुण और निर्गुणमें किये गये भारतीय भेदके ही समान है, किंतु अंगरेजीके इन शब्दोंके साथ जो संस्कार जुड़े हुए हैं उनके अंदर एक प्रकारकी संकीर्णता है जो भारतीय विचारके प्रतिकूल है। यूरोपके धर्मोंका सव्यक्तिक ईश्वर 'सव्यक्तिक' शब्दके मानवीय अर्थमें एक 'व्यक्ति' है जो अपने गुणोंसे सीमित है यद्यपि वैसे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है; यह विचार शिव, विष्णु या ब्रह्मा अथवा सबकी भगवती माता, दुर्गा या काली, की विशिष्ट भारतीय कल्पनाओंसे मिलता-जुलता है। वस्तुत: प्रत्येक धर्म ईश्वरकी आराधना और सेवाके लिये अपने अंत:सार और विचारके अनुसार भिन्न-भिन्न सव्यक्तिक इष्टदेवकी स्थापना करता है। कल्विन (Calvin)* का उग्र और निष्ठुर ईश्वर सेंट फ्रांसिस† के मधुर और प्रेममय ईश्वरसे भिन्न प्रकारकी सत्ता है, जैसे कि दयामय विष्णु रौद्र पर सदा ही प्रेममयी और कल्याणकारिणी कालीसे भिन्न हैं जो अपने संहार-कार्यमें भी करुणासे युक्त होती हैं और अपने विनाश-कार्योंके द्वारा भी रक्षा करती हैं। तपोमय त्यागके देवता तथा सब वस्तुओंका संहार करनेवाले शिव विष्णु और ब्रह्मासे भिन्न प्रकारकी सत्ता प्रतीत होते हैं। क्योंकि, विष्णु और ब्रह्मा प्रेम तथा प्राणिमात्रके प्रतिपालनकी भावनासे अथवा जीवन तथा सृजनके लिये कार्य करते हैं। यह स्पष्ट ही है कि ऐसी परिकल्पनाएं एक अत्यंत अपूर्ण एवं सापेक्ष अर्थमें ही विश्वके अनंत एवं सर्वव्यापक स्रष्टा तथा शासककी सच्ची व्याख्याएँ हो सकती हैं। न ही भारतीय धार्मिक विचार इन्हें उपयुक्त व्याख्याओंके रूपमें प्रतिपादित करता है। सगुण ईश्वर अपने गुणोंसे मर्यादित नहीं हैं, वे अनंतगुण हैं, अनंत गुणोंको धारण कर सकते हैं और उनसे परे तथा उनके स्वामी भी हैं और अपनी इच्छानुसार उनका उपयोग करते हैं। व्यक्तिकी आत्माकी कामना और आवश्यकताको उसके स्वभाव और व्यक्तित्वके अनुसार पूरा करनेके लिये वे अपने अनंत देवत्वके नानाविध नामों और रूपोंमें अपने-आपको प्रकट करते हैं। यही कारण है कि यूरोपीय

---

*जेनेवाके एक महान् धार्मिक सुधारक। †रोमन कैथोलिक धर्मके संस्थापक संतोंके एक संत।

मनको वेदांत या सांख्य दर्शनसे भिन्न प्रकारके ऐसे हिंदुधर्मको समझनेमें इतनी अधिक कठिनाई मालूम होती है, क्योंकि वह अनंत गुणोंसे युक्त सव्यक्तिक ईश्वरको सहज ही कल्पनामें नहीं ला सकता, ऐसे सव्यक्तिक ईश्वरको जो 'कोई एक' व्यक्ति नहीं, बल्कि एकमात्र वास्तविक व्यक्ति है तथा व्यक्तित्वमात्रका मूल स्रोत है। तथापि दिव्य व्यक्तित्वका एकमात्र यथार्थ और पूर्ण सत्य यही है।

हमारे समन्वयमें दिव्य व्यक्तित्वका क्या स्थान है इसपर सम्यक् रूपसे विचार तो तभी हो सकेगा जब हम भक्तियोगका वर्णन आरंभ करेंगे, यहाँ इतना संकेत करना ही यथेष्ट होगा कि पूर्णयोगमें इसका स्थान है और वह तब भी सुरक्षित रहता है जब कि मोक्ष प्राप्त हो जाता है। क्रियात्मक दृष्टिसे, वैयक्तिक इष्ट देवताके पास पहुंचनेके लिये तीन सोपान हैं; प्रथम वह जिसमें हम उनकी कल्पना एक विशेष आकार या विशेष गुणोंके रूपमें करते हैं; वह आकार या वे गुण भगवान्‌का एक ऐसा नाम-रूप होते हैं जिन्हें हमारी प्रकृति एवं हमारा व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अधिक पसंद करते हैं।* दूसरा वह जिसमें वे एकमात्र वास्तविक व्यक्ति होते हैं, सर्वव्यक्ति-स्वरूप और अनंत-गुणमय होते हैं; तीसरा वह जिसमें हम व्यक्तित्वके समस्त विचार और तथ्यके चरम मूलमें जा पहुंचते हैं, यह मूल उस तत्त्वमें निहित है जिसका निर्देश उपनिषद्‌में बिना कोई विशेषण लगाये केवल एक शब्द 'सः'के द्वारा किया गया है। इस तत्त्वमें ही सगुण और निर्गुण भगवान्‌संबंधी हमारे अनुभव एक बिंदुपर मिल जाते हैं और विशुद्ध देवत्वमें एक हो जाते हैं। क्योंकि, निर्गुण भगवान्, अपने चरम रूपमें, सत्ताका कोई अमूर्त भाव या निरा मूलतत्त्व अथवा उसकी केवल एक अवस्था या शक्ति एवं भूमिका नहीं हैं वैसे ही जैसे कि हम स्वयं वास्तवमें ऐसी अमूर्त वस्तुएं नहीं हैं। बुद्धि आरंभमें ऐसी परिकल्पनाओंके द्वारा ही उनके निकट पहुंचती है, परंतु साक्षात्कारकी परिणति इनके परे जानेसे ही होती है। सत्ताके अधिकाधिक ऊंचे मूलतत्त्वों और सचेतन सत्ताकी अवस्थाओंके साक्षात्कारके द्वारा हम किसी ऐसी अवस्थामें नहीं पहुंचते जिसमें एक प्रकारके भावात्मक शून्यमें अथवा यहाँतक कि सत्ताकी किसी अवर्णनीय स्थितिमें सब वस्तुओंका लय हो जाता हो, बल्कि उस साक्षात् परात्पर सत्ताको जा पहुँचते हैं जो सत् भी है, वह सत् सभी व्यक्तित्वमूलक परिभाषाओंसे परे है और फिर भी सदा एक ऐसी सत्ता है जो व्यक्तित्वका मूल तत्त्व है।

---

*इष्ट देवता।

जब हम 'उस'में निवास करते तथा अपना अस्तित्व धारण करते हैं, तो हम उसे उसके दोनों रूपोंमें प्राप्त कर सकते हैं; सत्ता और चेतनाकी परमोच्च अवस्थामें, आत्मनिष्ठ शक्ति और आनंदकी अनंत निर्गुणतामें तो हम निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त कर सकते हैं, व्यक्तिकी जीवात्माके माध्यमसे कार्य करनेवाली दिव्य प्रकृतिके द्वारा और इस जीवात्मा तथा इसके परात्पर एवं विश्वमय आत्माके पारस्परिक संबंधके द्वारा हम सगुण ब्रह्मको भी प्राप्त कर सकते हैं। हम व्यक्ति-स्वरूप इष्टदेवताके साथ भी, उसके नामों और रूपोंके द्वारा, संबंध स्थापित कर सकते हैं; उदाहरणार्थ, यदि हमारा कर्म प्रधानतया प्रेमका कर्म हो तो हम प्रेममय परमेश्वरके रूपमें उनकी सेवा और अभिव्यक्ति करनेका यत्न कर सकते हैं, पर साथ ही हमें उनके सब नामों, रूपों और गुणोंमें भी उनका पूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करना चाहिये और जगत्‌के प्रति हमारी मनोवृत्तिमें उनका जो संमुखवर्ती रूप प्रमुख रूपसे विद्यमान है उसीको अनंत देवाधिदेवका संपूर्ण स्वरूप मान लेनेकी भूल नहीं करनी चाहिये।

बारहवाँ अध्याय

सच्चिदानन्दका साक्षात्कार

पिछले अध्यायमें हमने आत्माके जिन प्रकारोंका वर्णन किया है वे प्रथम दृष्टिमें अत्यंत तत्त्वज्ञानात्मक ढंगके प्रतीत हो सकते हैं, ऐसे बौद्धिक विचार प्रतीत हो सकते हैं जो क्रियात्मक उपलब्धिकी अपेक्षा कहीं अधिक दार्शनिक विश्लेषणके लिये ही उपयुक्त हैं। पर यह एक मिथ्या विभेद है जो हमारी बौद्धिक शक्तियोंके विभाजनसे उत्पन्न हुआ है। जिस प्राचीन ज्ञानको, प्राचीके ज्ञानको, आधार बनाकर हम चल रहे हैं उसका यह, कम-से-कम, एक मूल सिद्धांत है कि दर्शनको केवल एक उच्च कोटिका बौद्धिक आमोद-प्रमोद या तर्कशास्त्रीय सूक्ष्मताकी क्रीड़ा अथवा यहांतक कि दार्शनिक सत्यकी उसके अपने निजके लिये खोज नहीं होना चाहिये, बल्कि उसे संपूर्ण सत्ताके मूल सत्योंकी सभी समुचित साधनोंसे खोज करनी चाहिये और फिर उन सत्योंको हमारी अपनी सत्ताके मार्ग-निर्देशक सूत्र बन जाना चाहिये। सांख्य, अर्थात् सत्यका एक अमूर्त एवं विश्लेषणात्मक साक्षात्कार, ज्ञानका एक पक्ष है; योग, अर्थात् अपनी अनुभूति एवं आंतरिक अवस्थामें तथा अपने बाह्य जीवनमें उसका मूर्त और समन्वयात्मक साक्षात्कार, एक और पक्ष है। ये दोनों ही ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य असत्य और अज्ञानमेंसे निकलकर सत्यमें और उसके द्वारा जीवन यापन कर सकता है। और, क्योंकि विचारशील मानव-प्राणीका लक्ष्य सदैव वह ऊंची-से-ऊंची सत्ता ही होनी चाहिये जिसे वह जान सकता या धारण कर सकता है, हमारी आत्माको चिंतनके द्वारा उच्चतम सत्यकी ही खोज करनी चाहिये और फिर जीवनके द्वारा उसे पूर्णरूपेण चरितार्थ भी करना चाहिये।

ज्ञानयोगके जिस अंगपर—निरपेक्ष भगवान्‌की आत्म-अभिव्यक्तिके आधारमें काम करनेवाले सत्ताके मूलतत्त्वों एवं स्वयंभू-सत्ताके मूल प्रकारोंके जिस ज्ञान*पर,—हम इस समय विचार कर रहे हैं उसका सारा महत्त्व इस उपर्युक्त उच्चतम सत्यकी प्राप्तिमें ही निहित है। यदि हमारी सत्ताका सत्य एक ऐसा अनंत एकत्व है जिसमें ही पूर्ण विशालता, प्रकाश, ज्ञान,

---

*तत्त्वज्ञान।

शक्ति और आनंद विद्यमान हैं, और यदि अंधकार, अज्ञान, दुर्बलता, दुःख और न्यूनताके प्रति हमारी समस्त अधीनताका कारण यह है कि हम जगत्को अनंततया बहुल, पृथक्-पृथक् जीवोंके संघर्षके रूपमें देखते हैं, तो स्पष्ट ही यह अत्यंत व्यावहारिक, ठोस एवं उपयोगितावादी और अत्यंत उच्च एवं दार्शनिक ज्ञानकी बात है कि हम एक ऐसा साधन ढूंढ़ निकालें जिसके द्वारा हम भ्रांतिसे निकलकर सत्यमें जीवन यापन करना सीख सकें। इसी प्रकार, यदि वह एकमेव, स्वभावसे ही, हमारे मनस्तत्त्वका गठन करनेवाले गुणोंकी इस क्रीड़ाके बंधनसे मुक्त है और यदि इस क्रीड़ाके वशमें रहनेसे ही वह संघर्ष और विरोध-वैषम्य उत्पन्न होते हैं जिनमें हम निवास करते हैं और परिणामतः शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, सफलता-विफलता, हर्ष-शोक और सुख-दुःखके दो ध्रुवोंके बीच सदाके लिये तड़फड़ाते रहते हैं, तो इन गुणोंको पार करना और इनसे सदैव परे रहनेवाले परात्पर तत्त्वकी स्थिर शांतिके आधारपर प्रतिष्ठित होना ही एकमात्र व्यावहारिक ज्ञान है। यदि अपने विकारी व्यक्तित्वके प्रति आसक्ति ही हमारे आत्म-विषयक अज्ञानका तथा अपने साथ और जीवनकी परिस्थितिके साथ एवं दूसरोंके साथ हमारे असामंजस्य और कलहका मूल है और यदि कोई ऐसा निर्व्यक्तिक एकमेव है जिसमें इस प्रकारके प्रत्येक असामंजस्य, अज्ञान और निरर्थक तथा कोलाहलपूर्ण प्रयत्नका अभाव है, क्योंकि वह अपने स्वरूपके साथ सनातन तादात्म्य और सामंजस्यमें रहता है, तब अपनी अंतरात्मामें सत्ताकी उस निर्व्यक्तिकता तथा अक्षुब्ध एकताको प्राप्त करना ही मानव-प्रयत्नकी एकमात्र दिशा एवं उसका लक्ष्य है जिसे हमारी बुद्धि व्यावहारिकता-का नाम देनेको सहमत हो सकती है।

एकता और निर्व्यक्तिकतासे युक्त तथा गुणोंकी क्रीड़ासे मुक्त एक सत्ता यहाँ अवश्य ही विद्यमान है। मन और शरीरके द्वारा अपने सब संबंधोंकी सच्ची कुंजी एवं इनका सच्चा रहस्य ढूंढ़नेके लिये सनातन कालसे यत्न करती हुई प्रकृतिके संघर्ष और विक्षोभसे यह निर्व्यक्तिक सत्ता हमें ऊपर उठा ले जाती है। और, मनुष्यजातिका यह ऊँचे-से-ऊँचा प्राचीन अनुभव है कि इस सत्तातक पहुँचकर ही, जो परतत्त्व हमारी मानसिक और प्राणिक सत्तासे नित्य ही उच्चतर है उसमें अपने-आपको निर्व्यक्तिक, एकत्वमय, शांत, आत्म-समाहित तथा मन और प्राणसे उच्च बनाकर ही स्वयं-स्थित और अतएव, सुस्थिर शांति तथा आंतरिक स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। इसलिये यह ज्ञानयोगका प्रथम लक्ष्य है और एक अर्थमें तो यह उसका विशिष्ट तथा प्रधान लक्ष्य भी है। पर, जैसा कि

हम बलपूर्वक कहते आये हैं, प्रथम लक्ष्य होनेपर भी यही सब कुछ नहीं है; प्रधान होनेपर भी यह सर्वांगीण लक्ष्य नहीं है। ज्ञान यदि हमें केवल यही बताये कि संबंधोंसे विमुख होकर संबंधातीतमें कैसे पहुँचना चाहिये, व्यक्तित्व और बहुत्वको त्यागकर निर्व्यक्तिकता और निर्विशेष एकतामें कैसे प्रवेश करना चाहिये तो उसे हम पूर्ण ज्ञान नहीं कह सकते। उसे संबंधोंकी समस्त क्रीड़ाकी, बहुत्वके संपूर्ण वैविध्यकी, व्यक्तित्वोंके संपूर्ण संघर्ष एवं पारस्परिक कार्य-प्रतिकार्यकी वह कुंजी, इनका वह रहस्य भी हमें प्रदान करना होगा जिसे खोजनेके लिये विश्व-सत्ता यत्न कर रही है। और, यदि ज्ञान हमें केवल एक विचार प्रदान करे तथा उसे अनुभवके द्वारा प्रमाणित न कर सके तब भी वह अपूर्ण ही कहलायेगा। हम तो कुंजी तथा रहस्यको पाना चाहते हैं, ताकि इस प्रपंचको उस सत्यके द्वारा नियंत्रित कर सकें जिसे वह प्रकट करता है, उसके असामंजस्योंको उनके पीछे अवस्थित सामंजस्य और एकीकरणके गुप्त तत्त्वके द्वारा दूर कर सकें तथा जगत्‌के केन्द्राभिमुख और केन्द्रविमुख प्रयत्नसे उसके उद्देश्यकी सामंजस्य-पूर्ण चरितार्थतातक पहुँच सकें। जगत्‌का अंतस्तल केवल शक्तिकी ही नहीं, बल्कि चरितार्थताकी भी खोज कर रहा है और पूर्ण तथा कार्यक्षम आत्मज्ञानको उसे यह चीज प्रदान करनी ही होगी। शांति तो आत्म-चरितार्थताका एक सनातन आधार, असीम नियम-विधान तथा स्वाभाविक वातावरणमात्र हो सकती है।

और फिर बहुत्व, व्यक्तित्व, गुण, संबंधोंकी क्रीड़ा—इन सबका सच्चा रहस्य ढूँढ़ निकालनेवाले ज्ञानको हमारे सम्मुख यह प्रकट करना ही होगा कि निर्व्यक्तिक तथा व्यक्तित्वके स्रोतके बीच, निर्गुण तथा गुणोंके रूपम अपने-आपको प्रकट करनेवाले सगुणके बीच, सत्ताकी एकता तथा उसकी नानाकार अनेकताके बीच सत्ताके मूलतत्त्वकी एक प्रकारकी वास्तविक एकता तथा सत्ताकी शक्तिकी घनिष्ठ एकता है। जो ज्ञान इन द्वंद्वोंके बीच खूब चौड़ा अंतराल रहने देता है वह अंतिम ज्ञान नहीं हो सकता, भले वह विश्लेषणात्मक बुद्धिको कितना ही युक्तियुक्त या आत्म-विभाजक अनुभवको कितना ही संतोषजनक क्यों न प्रतीत हो। सच्चे ज्ञानको ऐसा एकत्व प्राप्त करना होगा जो सबकी सब वस्तुओंसे परे होता हुआ भी उन्हें अपने अंदर समाये रखता है, उसे कोई ऐसा एकत्व नहीं प्राप्त करना होगा जो सब वस्तुओंको अपने अंदर समा नहीं सकता और उनका परित्याग कर देता है। क्योंकि, सर्वस्वरूप विराट् सत्ताके अपने अंदर या किसी परात्पर एकत्व तथा सर्वस्वरूप विराट् सत्ताके बीच द्वैतकी ऐसी कोई मूलवर्ती दुस्तर

खाई हो ही नहीं सकती। जो वात यहाँ ज्ञानके वारेमें कही गयी है वही अनुभव और आत्म-चरितार्थताके वारेमें भी समझनी चाहिये। जो अनुभव वस्तुओंके सर्वोच्च उद्गममें दो विरोधी तत्त्वोंके वीच ऐसी मूलवर्ती दुस्तर खाई देखता है और इन दोनोंमेंसे किसी एक या दूसरेमें रहनेके लिये वाध्य होकर, अधिक-से-अधिक, इस खाईको कूदकर पार करनेमें ही सफल हो सकता है, पर इन्हें एक-दूसरेमें अंतर्भूत एवं एकीभूत नहीं कर सकता, वह चरम अनुभव नहीं है। चाहे हम विचारके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहें या विचारको पार कर जानेवाली ज्ञान-दृष्टिके द्वारा या फिर अपनी सत्ताके अंदर होनेवाले उस पूर्ण आत्मानुभवके द्वारा जो ज्ञानलब्ध साक्षात्कारकी पराकाष्ठा एवं परिपूर्णता है, हमें पूर्णरूपेण तृप्त करनेवाली एकताका विचार, साक्षात्कार तथा अनुभव करनेमें और उसे जीवनके अंदर चरितार्थ करनेमें समर्थ होना चाहिये। एकमेव-विषयक परिकल्पना, दृष्टि तथा अनुभूतिमें हम इस प्रकारकी एकताको ही प्राप्त करते हैं, उस एकमेवकी एकता वहुके रूपमें प्रकट होनेसे नष्ट नहीं होती न दृष्टिसे ओझल ही हो जाती है, वह गुणोंके वंधनसे मुक्त है और फिर भी अनंत-गुण है, वह सव संवंधोंको अपने अंदर धारण तथा संयुक्त किये हुए है और फिर भी सदासे 'केवल' है, वह अमुक एक व्यक्ति नहीं है और फिर भी सव-के-सव व्यक्ति वह ही है, क्योंकि वह समस्त 'पुरुष' है और वही एकमात्र सचेतन 'पुरुष' भी है। जिस व्यक्ति-रूपी केंद्रको हम अपनी सत्ता कहते हैं उसके लिये तो अपनी चेतनाके द्वारा इन भगवान्में प्रवेश करना तथा अपने अंदर इनकी प्रकृतिको प्रतिमूर्त्त करना ही एक ऐसा आदर्श है जो हमारे सामने रखा गया है। यह 'आदर्श उच्च और अद्भुत तो है ही, पर साथ ही पूर्णतया युक्तियुक्त तथा सवसे अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी भी है। यह हमारी अपनी सत्ताकी और साथ-ही-साथ हमारी विराट् सत्ताकी, अपने-आपमें व्यक्तिकी तथा विश्वकी अनेक सत्ताओंके साथ संवंध रखनेवाले व्यक्तिकी पूर्ण सार्थकता है। सत्ताकी इन दो अवस्थाओं, व्यक्ति और विराट्, में कोई ऐसा विरोध नहीं है जिसका परिहार ही न हो सकता हो; वरंच, हमारा अपना आत्मा और विश्वका आत्मा एक ही हैं यह उपलब्धि हो जानेके वाद व्यक्ति और विराट्में भी घनिष्ठ एकता प्रकट हो जाती है।

वास्तवमें, ये सव विरोधी द्वंद्व परात्पर पुरुषमें चेतन सत्ताकी अभिव्यक्तिके लिये सर्वसामान्य, अनिवार्य अवस्थाएँमात्र हैं, वे परात्पर तो कैसी ही विरोधी दिखायी देनेवाली इन सव अवस्थाओंके केवल पीछे ही नहीं,

बल्कि इनके भीतर भी सदा एक ही रहते हैं। और, इन सब द्वंद्वोंका मूल एकीकारक आत्म-तत्त्व एवं एकमात्र तात्त्विक रूप वह है जिसे हमारे विचारकी सुविधाके लिये सच्चिदानंद (सत्-चित्-आनंद)का त्रैत कहा गया है, ये तीन अविच्छेद्य दिव्य तत्त्व सर्वत्र व्याप्त हैं। इनमेंसे कोई भी वास्तवमें पृथक् नहीं है, यद्यपि हमारा मन और मानसिक अनुभव इनमें केवल भेद ही नहीं, पार्थक्य भी पैदा कर सकते हैं। मन यह कह और सोच सकता है कि "मैं था तो सही, पर अचेतन था"—क्योंकि यह तो कोई व्यक्ति नहीं कह सकता "मैं हूँ तो सही, पर अचेतन हूँ",—और मन यह भी सोच सकता तथा अनुभव कर सकता है "मैं हूँ, पर दुःखी हूँ तथा मेरे जीवनमें किसी प्रकारका भी आनंद नहीं है।" किंतु असलमें यह बात असंभव है। जो सत्ता हमारा वास्तविक स्वरूप है, जो सनातन "अहमस्मि (मैं हूँ)" रूपमें अनुभूत सत्ता है, जिसके विषयमें यह कहना कभी सच नहीं हो सकता कि "यह थी", वह कहीं भी और कभी भी अचेतन नहीं होती। जिसे हम अचेतनता कहते हैं वह केवल अन्यविध चेतनता है; वह बाह्य-वस्तु-विषयक हमारी मानसिक चेतनताकी इस ऊपरी लहरका हमारी प्रच्छन्न आत्म-चेतनताके भीतर एवं सत्ताके अन्य स्तरों-संबंधी हमारी चेतनताके भीतर भी प्रविष्ट होना है। जब हम सुप्त, अचेत, मूर्च्छित, "मृत" या अन्य किसी अवस्थामें होते हैं तब हम असलमें उससे अधिक अचेतन नहीं होते जितने कि हम अपनी भौतिक सत्ता और परिस्थितिसे बेसुध होकर आंतरिक विचारमें डूबे होनेपर होते हैं। जो कोई योगमें थोड़ी दूर भी आगे बढ़ चुका है उसके लिये यह एक अत्यंत आरंभिक स्थापना है, एक ऐसी स्थापना है जो विचारके सम्मुख कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं करती, क्योंकि यह पग-पगपर अनुभवके द्वारा प्रमाणित होती है। पर यह अनुभव करना अधिक कठिन है कि सत्ता और सत्ताका निरानंद साथ-साथ नहीं रह सकते। जिसे हम दुःख, शोक, पीड़ा एवं आनंदका अभाव कहते हैं वह भी सत्ताके आनंदकी एक उपरितलीय लहर-मात्र है जो हमारे मानसिक अनुभवके निकट ये आपात-विरोधी रंग-रूप धारण कर लेती है और इसका कारण यह है कि एक प्रकारकी मायाके वश हमारी विभाजित सत्ता इस लहरको अपने अंदर एक मिथ्या रूपमें ही ग्रहण करती है। यह विभाजित सत्ता हमारी सत्ता बिलकुल ही नहीं है, बल्कि चिच्छक्तिकी एक खण्डात्मक रूप-रचना या विकृत फुहारमात्र है जिसे हमारी आत्म-सत्ताके अनंत सागरने ऊपरकी ओर उछाल फेंका है। इस सत्यको अनुभव करनेके लिये हमें अपनी मनोमय सत्ताकी इन उथली

और नैतिक बोधोंके अर्थमें अपनी इन्द्रियानुभूति और पाशविक प्रकृतिका उपयोग और नियंत्रण करनेके लिये इनपर अपने मानसिक तर्क और संकल्पका प्रयोग करते हैं। सत्यके इस स्तरमें ज्ञानकी खोजका काम नहीं है, यहाँ तो है उसपर सहज-स्वाभाविक प्रभुत्व; यहाँ संकल्प और तर्कबुद्धि, सहज-प्रेरणा और आवेग, कामना और उपलब्धि, विचार और सद्वस्तु—इनमें कोई विरोध या भेद नहीं होता, बल्कि ये सब एकस्वर, सहचारी तथा परस्पर-फलोत्पादक होनेके साथ-साथ अपने उद्गम एवं विकास और अपनी चरितार्थतामें भी एकीभूत होते हैं। परंतु इस स्तरके परे और इसके द्वारा प्राप्त हो सकनेवाले अन्य स्तर भी हैं जिनमें साक्षात् चित् ही हमारे सामने प्रकाशित हो उठती है, वह चित् जो यहाँ नानाविध रूप-रचना और अनुभूतिके लिये प्रयुक्त की जानेवाली इस समस्त विविध चेतनाका मूल उद्गम एवं आद्य पूर्णत्व है। उन स्तरोंमें संकल्प, ज्ञान, संवेदन तथा हमारी अन्य सब वृत्तियाँ, शक्तियाँ, सब प्रकारके अनुभव केवल समस्वर, सहचारी और एकीभूत ही नहीं होते, बल्कि चेतनाकी एक ही सत्ता और शक्तिके रूपमें उपस्थित होते हैं। यह चित् ही अपने-आपको इस प्रकार परिवर्तित करती है कि सत्यके स्तरपर अतिमानसका रूप धारण कर लेती है और मनके स्तरपर मानसिक बुद्धि, संकल्प, भावावेग और संवेदनका तथा इससे नीचेके स्तरोंपर एक ऐसी अंधकारमय शक्तिकी प्राणिक या भौतिक अंधप्रेरणाओं, आवेगों और अभ्यासोंका रूप धारण कर लेती है जो उपरितलपर अपने ऊपर कोई सचेतन अधिकार नहीं रखती। सब कुछ चित् है, क्योंकि सब कुछ सत् है; सब कुछ मूल चेतनाकी नानाविध गति है, क्योंकि सब कुछ मूल सत्ताकी नानाविध गति है।

जब हम चित्को प्राप्त कर लेते, देख या जान लेते हैं, तो हमें यह भी पता लग जाता है कि इसका सारतत्त्व है अपनी सत्ताका आनंद। आत्माको प्राप्त करनेका अर्थ है आत्मानंद प्राप्त करना; आत्माको प्राप्त न किये होनेका अर्थ है सत्ताके आनंदकी कम या अधिक अस्पष्ट खोजमें लगे होना। चित् सनातन कालसे अपने आनंदसे युक्त है; और क्योंकि चित् सत्ताका विश्वव्यापी चित्तत्त्व है, चिन्मय विराट् पुरुष भी सचेतन आत्मानंदसे युक्त है, सत्ताके विश्वव्यापी आनंदका स्वामी है। भगवान् चाहे अपने-आपको सर्वगुणमयके रूपमें प्रकट करें या निर्गुणके रूपमें, व्यक्तित्वके रूपमें या निर्व्यक्तित्वके रूपमें, बहुको अपने अंदर विलीन किये हुए एकमेवके रूपमें अथवा अपने तात्त्विक बहुत्वको प्रकट करते हुए एकमेवके रूपमें, पर व सदा ही आत्मानंद और विराट् आनंदको अधिकृत किये रहते हैं,

क्योंकि वे नित्य ही सच्चिदानंद हैं। हमारे लिये भी अपने सच्चे आत्माको उसके मूल और विराट् स्वरूपमें जानने और प्राप्त करनेका अर्थ है सत्ताका मूल और विश्वव्यापी आनंद, आत्मानंद और विराट् आनंद उपलब्ध करना। क्योंकि, विराट् आत्मा मूल सत्ता, चेतना और आनंदका बाहरकी ओर प्रवाहमात्र है; और जहाँ कहीं तथा जिस भी रूपमें यह अपनेको किसी सत्ताके आकारमें प्रकट करता है वहाँ मूल चेतनाका अस्तित्व अवश्य है और अतएव वहाँ मूल आनंद भी अवश्य विद्यमान है।

व्यक्तिकी आत्मा अपनी सत्ताका यह सत्य स्वरूप प्राप्त नहीं कर पाती अथवा अपने अनुभवके इस सत्य स्वरूपको उपलब्ध नहीं कर पाती, क्योंकि यह अपने-आपको मूल सत्ता और विराट् आत्मा दोनोंसे पृथक् कर लेती है और अपनी सत्ताके पृथक् आकस्मिक संयोगोंके साथ, अतात्त्विक स्वरूप और प्रकृति तथा पृथक् अंग एवं करण-विशेषके साथ अपने-आपको एकाकार कर लेती है। इस प्रकार यह अपने मन, शरीर तथा प्राणधाराको अपनी वास्तविक सत्ता मान बैठती है। यह इन्हें इनकी अपनी खातिर विराट् सत्ता तथा उस परात्परके विरुद्ध, जिससे विराट् सत्ता प्रकट हुई है, प्रबल रूपमें प्रतिष्ठित करनेका यत्न करती है। किसी अधिक महान् और परेकी वस्तुके लिये विराट्के अंदर अपने-आपको प्रस्थापित तथा चरितार्थ करनेका यत्न करना इसके लिये उचित है, किंतु विराट्के विरोधमें तथा उसके एक खण्डात्मक रूपके अधीन होकर ऐसा करनेका यत्न करना उचित नहीं। इस खण्डात्मक रूपको या यूँ कहें कि खण्डात्मक अनुभवोंके इस समुदायको यह मानसिक अनुभवके एक कृत्रिम केंद्र, मानसिक अहंभाव, के चारों ओर इकट्ठा कर लेती है और इसे अपनी सत्ता कहकर पुकारती है तथा इस अहंकी सेवा करती है। अपि च, ये सभी रूप, यहाँतक कि विशालतम एवं व्यापकतम रूप भी, जिस महत्तर और परतर वस्तुकी आंशिक अभि-व्यक्तियाँ हैं उसके लिये जीनेके बजाय यह इस अहंके लिये ही जीती है। किंतु यह मिथ्या आत्मामें जीवन धारण करना है, सच्ची आत्मामें नहीं; यह अहंके लिये तथा उसके आदेशानुसार जीवन बिताना है, भगवान्के लिये तथा उनके आदेशानुसार नहीं। किंतु यह पतन हुआ कैसे और किस प्रयोजनके लिये हुआ? यह प्रश्न योगकी अपेक्षा कहीं अधिक सांख्यके क्षेत्रसे संबंध रखता है। हमें तो बस इस क्रियात्मक तथ्यको हृदयंगम कर लेना होगा कि ऐसा आत्मविभाजन ही हमारी चेतनाकी सीमितताका कारण है और इस सीमितताके कारण हम अपने अस्तित्व और अनुभवका सच्चा स्वरूप उपलब्ध करनेमें असमर्थ बन बैठे हैं और अतएव अपने

मन, प्राण और शरीरमें अज्ञान, असमर्थता और दुःख-कष्टके अधीन हो गये हैं। एकत्वकी अप्राप्ति ही मूल कारण है; एकत्वको फिरसे प्राप्त करना ही सर्वोपरि साधन है—यह एकत्व हमें विराट्के साथ ही नहीं, उस सत्ताके साथ भी प्राप्त करना होगा जिसे प्रकट करनेके लिये यहां विराट् आत्मा उपस्थित है। हमें अपने तथा सबके सच्चे आत्माका साक्षात्कार करना होगा; और सच्चे आत्माके साक्षात्कारका मतलब है सच्चिदानंदका साक्षात्कार।

तेरहवाँ अध्याय

मनोमय सत्ताकी कठिनाइयाँ

ज्ञानमार्गका निरूपण करते-करते हम यहाँतक आ पहुँचे हैं। इस निरूपणका आरंभ हमने इस स्थापनासे किया था कि मन, प्राण और शरीरके स्तरोंसे ऊपर अपनी शुद्ध आत्मा एवं शुद्ध सत्ताका साक्षात्कार इस योगका प्रथम लक्ष्य है, परंतु अब हम यह स्थापना करते हैं कि केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है बल्कि हमें आत्मा या ब्रह्मकी मूल अवस्थाओं और मुख्यतः उसके सच्चिदानंद-रूपी त्रिविध सत्स्वरूपका भी साक्षात्कार करना होगा। केवल शुद्ध सत्ता ही नहीं, बल्कि शुद्ध चेतना भी और उस सत्ता एवं चेतनाका शुद्ध आनंद भी आत्माका सत्स्वरूप एवं ब्रह्मका सारतत्त्व हैं।

अथ च, आत्मा या सच्चिदानंदका साक्षात्कार दो प्रकारका होता है। एक तो होता है शांत-नीरव, निष्क्रिय, निश्चल, आत्मलीन, स्वयंपूर्ण सत्-चित्-आनंदका जो एक एवं निर्व्यक्तिक हैं, और गुणोंकी क्रीड़ासे रहित एवं विश्वके अनंत दृश्य-प्रपंचसे पराङ्मुख हैं या इसके उदासीन और निष्क्रिय द्रष्टा हैं। दूसरा साक्षात्कार भी इन्हीं सत्-चित्-आनंदका होता है, पर उसमें हमें अनुभव होता है कि ये परमोच्च और मुक्त हैं, जगत्के प्रभु हैं, अविचल शांतिमेंसे कार्य करते हैं, सनातन आत्म-लीनतामेंसे अपने-आपको अनंत कर्मों और गुणोंके रूपमें बाहर उँडेलते हैं, एकमेव परमोच्च व्यक्ति हैं जो एक विशाल सम निर्व्यक्तित्वमें व्यक्तित्वकी इस समस्त क्रीड़ाको अपने अंदर धारण किये हुए हैं, जगत्के अनंत प्रपंचको बिना आसक्तिके, पर किसी प्रकारके अभेद्य पार्थक्यके भी बिना, दिव्य प्रभुत्वके साथ तथा अपने सनातन ज्योतिर्मय आत्मानंदकी अगणित रश्मियोंके द्वारा धारण कर रहे हैं—एक ऐसी अभिव्यक्तिके रूपमें धारण कर रहे हैं जिसे वे अपने अंदर समाये हुए हैं, पर जो उन्हें अपने अंदर समा नहीं सकती, जिसपर वे मुक्त रूपमें शासन करते हैं और इसलिये जिससे वे बद्ध नहीं होते। पर यह धार्मिक लोगोंका व्यक्तिस्वरूप ईश्वर नहीं है न यह दार्शनिकोंका सगुण ब्रह्म ही है, बल्कि यह वह सत्ता है जिसमें सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक तथा सगुण और निर्गुण परस्पर सुसमन्वित हो जाते हैं। यह परात्पर है जो इन दोनोंको अपनी सत्तामें धारण करता है और अपनी अभिव्यक्तिके लिये

मूल अवस्थाओंके रूपमें इन दोनोंका प्रयोग भी करता है। अतएव, पूर्ण-योगके साधकके लिये यह परात्पर ही साक्षात्कारका ध्येय है।

इससे हमें यह बात तुरंत स्पष्ट हो जाती है कि मन, प्राण और शरीरसे पीछे हटनेकी विधिसे हमें शुद्ध और निश्चल आत्माका जो साक्षात्कार प्राप्त होता है वह इस उपर्युक्त दृष्टिकोणसे हमारे लिये इस महत्तर साक्षात्कारके आवश्यक आधारको प्राप्त करनामात्र है। इसलिये वह विधि हमारे योगके लिये पर्याप्त नहीं; किसी और साधनकी भी आवश्यकता है जो अधिक सर्वग्राही रूपमें भावात्मक हो। जिस प्रकार हम अपनी प्रतीयमान सत्ताका गठन करनेवाले सभी तत्त्वोंसे तथा जिस विश्वमें यह निवास करती है उसके दृग्विषयोंसे पीछे हटकर स्वयंभू और चिन्मय ब्रह्ममें प्रविष्ट हुए थे, उसी प्रकार अब हमें ब्रह्मकी सर्वव्यापक स्वयंभू सत्ता, चेतना एवं आनंदके द्वारा अपने मन, प्राण और शरीरको फिरसे अपने अधिकारमें लाना होगा। हमें केवल विश्वलीलासे स्वतंत्र, विशुद्ध स्वयंभू सत्ताको ही अधिकृत नहीं करना होगा, बल्कि संपूर्ण सत्ताको अपनी सत्ता समझते हुए अधिकृत करना होगा। हमें अपने-आपको देश-कालगत समस्त परिवर्तनसे परे एक अनंत अहंशून्य चेतनाके रूपमें ही नहीं जानना होगा, बल्कि चेतना और उसकी सर्जनक्षम शक्तिकी देश-कालगत अभिव्यक्तिके समस्त प्रवाहके साथ भी अपने-आपको एक करना होगा; केवल अथाह शांति और निश्चलताको ही नहीं, बल्कि जगत्की वस्तुओंमें मुक्त और असीम आनंदको भी प्राप्त करनेमें समर्थ बनना होगा। क्योंकि, यही सच्चिदानंद है, यही ब्रह्म है, केवल शुद्ध शांति नहीं।

यदि अतिमानसिक स्तरतक ऊँचे उठना और वहाँ सुरक्षित रूपमें स्थित होकर, दिव्य अतिमानसिक करणोंकी शक्ति और पद्धतिसे जगत् और सत्ताका, चेतना और कर्मका, सचेतन अनुभवकी बहिर्मुख और अंतर्मुख गतिविधिका सत्य स्वरूप जानना सहजसाध्य होता तो सच्चिदानंद या ब्रह्मके उक्त साक्षात्कारमें कोई वास्तविक कठिनाइयाँ उपस्थित न होतीं। परंतु मनुष्य एक मानसिक प्राणी है और अभीतक वह अतिमानसिक नहीं बना है। अतएव, मनके द्वारा ही उसे ज्ञान-रूपी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना तथा अपनी सत्ताका साक्षात्कार करना होगा; हाँ, इसके लिये उसे अति-मानसिक स्तरोंसे जो भी सहायता प्राप्त हो सके उसे भी अवश्य ग्रहण करना होगा। अपनी सत्ताका जो स्तर हमने आज वस्तुतः चरितार्थ कर लिया है उसका यह मनोमय स्वरूप और परिणामतः हमारे योगका यह स्वरूप हमपर कुछ विशेष सीमाओं एवं प्रधान कठिनाइयोंको लाद

देते हैं जिन्हें केवल भागवत सहायता या कृच्छ्र साधनाके द्वारा और वस्तुतः इन दोनों साधनोंके संयोगसे ही दूर किया जा सकता है। अब आगे बढ़नेसे पहले पूर्ण ज्ञान, पूर्ण साक्षात्कार एवं पूर्ण अभिव्यक्तिके मार्गकी इन कठिनाइयोंका संक्षेपमें वर्णन कर देना आवश्यक है।

वस्तुतः चरितार्थ मानसिक सत्ता और चरितार्थ आध्यात्मिक सत्ता हमारे अस्तित्वकी व्यवस्थामें दो विभिन्न स्तर हैं, इनमेंसे एक तो उत्कृष्ट एवं दिव्य है और दूसरा उत्कृष्ट एवं मानवीय। पहलेकी संपदा हैं अनंत सत्ता, अनंत चित्तपस्, अनंत आनंद, और अतिमानसका अनंत, सर्वग्राही और अमोघ ज्ञान,—ये चार दिव्य तत्त्व; दूसरेकी संपदा हैं मानसिक सत्ता, प्राणिक सत्ता, भौतिक सत्ता—ये तीन मानवीय तत्त्व। अपनी दृश्यमान प्रकृतिमें ये दोनों स्तर एक-दूसरेके विपरीत हैं; प्रत्येक दूसरेका उलटा है। दिव्य स्तरपर है अनंत और अमर सत्ता; मानवीय स्तरपर है एक ऐसा जीवन जो काल, क्षेत्र और स्वरूपकी दृष्टिसे सीमित है, यह एक ऐसा जीवन है जो मृत्यु ही है, ऐसी मृत्यु जो जीवन अर्थात् अमर अस्तित्व बननेका यत्न कर रही है। दिव्य स्तरपर है एक अनंत चेतना जो अपने अंदर जो कुछ भी व्यक्त करती है उससे परे है तथा उसे अपने अंदर समाये भी रहती है; उधर मानवीय स्तरपर है एक ऐसी चेतना जो निश्चेतनाकी निद्रासे मुक्त हुई है, और जिन साधनोंका वह प्रयोग करती है उनके अधीन है, शरीर और अहंभावकी सीमाओंमें आवद्ध है तथा अन्य चेतनाओं, शरीरों और अहंभावोंके साथ अपना संबंध ढूँढ़नेकी चेष्टा कर रही है—इसके लिये वह भावात्मक रूपमें तो एकताजनक संपर्क और सहानुभूतिके विविध साधनोंका प्रयोग करती है और निषेधात्मक रूपमें द्वेषपूर्ण संबंध और विरोधके नाना साधनोंको उपयोगमें लाती है। दिव्य स्तरपर है अविच्छेद्य आत्मानंद और अखंड विराट्-आनंद; उधर मानवीय स्तरपर है ऐसे मन और शरीरका संवेदन जो आनंदकी खोज कर रहे हैं, पर पा रहे हैं केवल सुख, उदासीनता और दुःख। दिव्य स्तरपर हैं सर्वग्राही अतिमानसिक ज्ञान और सर्वसाधक अतिमानसिक संकल्प; मानवीय स्तरपर है अज्ञान जो वस्तुओंको अंशों और खंडोंमें जान करके ज्ञान पानेका यत्न कर रहा है, ज्ञान-प्राप्तिके लिये इसे उन खंडोंको एक-दूसरेके साथ भद्दे रूपमें जोड़ना पड़ता है; मानवीय स्तरपर है अक्षमता जो मानवीय ज्ञानके क्रमिक विस्तारके अनुपातमें बढ़ते हुए शक्तिके क्रमिक विस्तारके द्वारा, सामर्थ्य और संकल्प-वलके उपार्जनके लिये यत्न कर रही है; और इस विस्तारको मानवता अपने ज्ञानकी अपूर्ण एवं खंडित प्रणालीके

अनुरूप अपने संकल्पका अपूर्ण एवं खंडित प्रयोग करके ही संपन्न कर सकती है। दिव्य स्तर एकताके ऊपर आधारित है और परात्पर तत्त्वों तथा समग्र विश्वका स्वामी है; मानवीय स्तर विभक्त वहुत्वके ऊपर आधारित है और 'वहु' पदार्थोंके भाग-विभाग और खंडों तथा उनके कठिन संयोजनों एवं एकीकरणोंका स्वामी होते हुए भी उनके अधीन है। इन दोनों स्तरोंके वीच मनुष्यके लिये एक परदा और आवरण पड़े हुए हैं जो मानव-सत्ताको दिव्य सत्ताके प्राप्त करनेमें ही नहीं, वल्कि उसके जाननेमें भी वाधा पहुँचाते हैं।

अतएव जव मनोमय प्राणी, मनुष्य, दिव्य सत्ताको जानना तथा उपलव्ध करना चाहता है, जव वह वही वन जाना चाहता है तो पहले उसे इस आवरणको उठाना होता है, इस पर्देको एक तरफ करना पड़ता है। पर जव वह इस कठिन प्रयासमें सफल हो जाता है, तो वह देखता है कि दिव्य सत्ता एक ऐसी सत्ता है जो उससे उत्कृष्ट है, दूरस्थ तथा उच्च है, मानसिक, प्राणिक, यहाँतक कि भौतिक रूपमें भी उससे ऊपर है, जिसकी ओर वह अपने तुच्छ स्तरसे दृष्टि उठाकर देखता है और जिसकी ओर उसे, यदि संभव हो तो, उठना होता है, अथवा यदि यह सम्भव न हो तो इसे नीचे अपनी ओर पुकार लाना होता है, इसके अधीन होकर इसकी आराधना करनी होती है। वह इसे सत्ताके एक उच्चतर स्तरके रूपमें देखता है, और तव अपनी परिकल्पना या अनुभूतिके स्वरूपके अनुसार वह इसे सत्ताकी एक परमोच्च अवस्था, एक स्वर्ग या सत् या निर्वाण समझता है। अथवा वह इसे अपनेसे या कम-से-कम अपनी वर्तमान सत्तासे भिन्न एक परमोच्च पुरुषके रूपमें देखता है और तव वह इसे ईश्वर मानकर इसके किसी एक या दूसरे नामसे पुकारता है; इस अवस्थामें भी, इस परम सत्ताके किसी एक पक्ष या रूपके सम्वन्धमें उसकी जो परिकल्पना या उपलव्धि होती है, उसका जो अन्तर्दर्शन या वोध होता है उसीके अनुसार वह इसे सव्यक्तिक या निर्व्यक्तिक तथा सगुण या निर्गुण सत्ताके रूपमें, निश्चल-नीरव और उदासीन शक्ति या कर्मशील स्वामी एवं सहायकके रूपमें देखता है। या फिर वह इसे एक ऐसी सर्वोच्च सद्वस्तुके रूपमें देखता है, उसकी अपनी अपूर्ण सत्ता जिसकी एक प्रतिच्छाया है अथवा जिससे उसका सम्वन्धविच्छेद हो गया है, और तव वह इसे आत्मा या व्रह्म कहकर पुकारता है और सत्, असत्, ताओ, शून्य, शक्ति, अज्ञेय—इन नानाविध विशिष्ट नामोंसे वर्णित करता है, पर करता है सदा अपने विचार या साक्षात्कारके अनुसार।

अतएव यदि हम मानसिक रूपमें सच्चिदानन्दका साक्षात्कार करना

चाहते हैं तो उसमें यह पहली कठिनाई आ सकती है कि हम उसे एक ऐसी वस्तुके रूपमें देखेंगे जो हमसे ऊपर और परे है, यहाँतक कि एक अर्थमें हमारे चारों ओर भी विद्यमान है, किन्तु फिर भी हमें ऐसा अनुभव होगा कि उस सत्ता और हमारी सत्ताके बीच एक खाई है, खाई भी ऐसी जिसपर सेतु नहीं है अथवा यहाँतक कि जिसपर सेतु बाँधा ही नहीं जा सकता। यह अनंत सत्ता विद्यमान है; पर जो मानसिक सत्ता इसका ज्ञान प्राप्त करती है उससे यह बिलकुल भिन्न है, और न तो हम अपने-आपको उसतक ऊँचे उठाकर वही बन सकते हैं और न ही उसे नीचे अपनेतक उतार ला सकते हैं जिससे कि अपनी सत्ता और विश्व-सत्ताके सम्बन्धमें हमारा अपना अनुभव उसकी आनंदमय असीमताका अनुभव बन जाय। यह महान्, असीम, अपरिच्छिन्न चेतना एवं शक्ति विद्यमान है; पर हमारी चेतना एवं शक्ति इसके अंतर्गत होती हुई भी इससे पृथक् अवस्थित है, सीमित, क्षुद्र, निरुत्साहित, अपने-आपसे तथा जगत्से विरक्त है, पर जिस उच्चतर चित्-शक्तिका उसने साक्षात्कार किया है उसमें भाग लेनेमें असमर्थ है। यह अपरिमेय एवं निष्कलुष आनंद विद्यमान है; पर हमारी सत्ता इसका दिव्य हर्ष धारण करनेमें असमर्थ सुख, दुःख और जड़ निष्क्रिय संवेदनसे युक्त निम्नतर प्रकृतिका क्रीड़ा-स्थल बनी रहती है। यह पूर्ण ज्ञान एवं संकल्प विद्यमान है; पर हमारा अपना ज्ञान एवं संकल्प सदैव एक विकृत प्रकारका मानसिक ज्ञान एवं पंगु संकल्प ही बना रहता है जो भगवान्की उक्त प्रकारकी दिव्य प्रकृतिमें भाग नहीं ले सकता, यहाँतक कि इसके साथ एकस्वर भी नहीं हो सकता। या फिर, जबतक हम केवल भगवत्साक्षात्कारके भाव-विभोर चिन्तनमें ही निवास करते हैं, हम अपने 'स्व'से मुक्त रहते हैं; पर ज्योंही हम अपनी चेतनाको पुनः अपनी सत्ताकी ओर मोड़ते हैं, हम उस भागवत साक्षात्कारसे दूर जा पड़ते हैं और वह तिरोहित हो जाता है या हमसे बहुत परे चला जाता है और हमारे लिये गोचर नहीं रहता। भगवान् हमें छोड़कर चले जाते हैं; साक्षात्कार विलुप्त हो जाता है; हम फिरसे अपनी मर्त्य सत्ताकी क्षुद्रतामें आ गिरते हैं।

जैसे भी हो, इस खाईको पाटना होगा। यहाँ मनोमय मानवके लिये दो संभावनाएँ हैं। उसके लिये एक संभावना तो यह है कि वह एक महान्, सुदीर्घ, एकाग्र, अनन्य प्रयत्नके द्वारा अपनी सत्तामेंसे उठकर परम सत्तामें पहुँच जाय। परन्तु इस प्रयत्नमें मनको अपनी चेतनाका त्याग कर एक अन्य चेतनामें विलीन हो जाना पड़ता है और यदि अपना पूर्ण विनाश नहीं तो अस्थायी विलय अवश्य कर देना होता है। उसे समाधिकी लयावस्थामें

चले जाना होता है। इसी कारण राजयोग तथा कुछ अंन्य योगप्रणालियाँ योग-समाधिकी अवस्थाको परम महत्त्व प्रदान करती हैं जिसमें मन अपने साधारण प्रिय विषयों और कार्योंसे ही पीछे नहीं हट जाता, वल्कि पहले तो वाह्य कर्म और वोध एवं अस्तित्वका भान करनेवाली समस्त चेतनासे और फिर आभ्यंतर मानसिक क्रियाओंविषयक समस्त चेतनासे भी पीछे हट जाता है। अपनी इस अंतः-समाहित अवस्थामें मनोमय सत्ताको स्वयं परमोच्च तत्त्वके अथवा उसके विविध पक्षों या नाना स्तरोंके विभिन्न प्रकारके साक्षात्कार प्राप्त हो जाते हैं, पर आदर्श यह है कि मनसे सर्वथा मुक्त होकर और मानसिक साक्षात्कारसे परे जाकर उस पूर्ण समाधिमें प्रवेश किया जाय जिसमें मन या निम्नतर सत्ताका कोई भी चिह्न वाकी नहीं रहता। परन्तु यह चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है जिसे विरले व्यक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं और जिससे वापिस आना सवके लिये सम्भव नहीं।

मनोमय सत्ताको जो जाग्रत् अवस्था उपलब्ध है वह, एकमात्र, मानसिक चेतनाकी अवस्था ही है; अतएव यह स्पष्ट है कि वह हमारी संपूर्ण जाग्रत् सत्ता और हमारी समस्त आंतरिक मनश्चेतना—दोनोंको पूरी तरहसे पीछे छोड़े विना साधारणतया किसी अन्य चेतनामें पूर्ण रूपसे प्रवेश नहीं कर सकती। यह तो योग-समाधिकी आवश्यक शर्त्त है। परन्तु मनुष्य इस समाधिमें निरन्तर नहीं रह सकता; अथवा, यदि कोई इसमें अनिश्चित रूपसे दीर्घ कालतक स्थिर रह भी सके तो भी शारीरिक जीवनके प्रति की गयी कोई प्रवल या अटल पुकार इसे सदा ही भंग कर सकती है। और जब वह मानसिक चेतनामें लौटता है, वह फिर निम्नतर सत्तामें पहुँच जाता है। अतएव यह कहा गया है कि मानव-जन्मसे पूर्ण मुक्ति, मनोमय प्राणीके जीवनसे ऊर्ध्वकी ओर पूर्ण आरोहण तवतक साधित नहीं हो सकता जवतक शरीर और शारीरिक जीवनका भी अन्तिम रूपसे त्याग न कर दिया जाय। जो योगी इस विधिका अनुसरण करता है उसके सामने यह आदर्श रखा जाता है कि वह समस्त कामनाको तथा मानवजीवन किंवा मानसिक सत्ताकी प्रत्येक छोटीसे छोटी इच्छाको भी त्याग दे, अपने-आपको जगत्से पूर्णतया पृथक् कर ले और समाधिकी एकाग्रतम अवस्थामें अधिकाधिक वार तथा उत्तरोत्तर गहरे रूपमें प्रवेश करके अन्तमें सत्ताकी उस पूर्ण अन्तः-समाहित अवस्थामें ही शरीरका त्याग कर दे जिससे कि यह परमोच्च सत्तामें प्रयाण कर सके। अपि च, मन और आत्माकी इस प्रत्यक्ष असंगतिके कारण ही वहुतसे धर्म और दर्शन जगत्की निंदा करनेमें प्रवृत्त होते हैं और केवल संसारसे परे स्थित किसी स्वर्ग या फिर निर्वाणकी शून्यावस्था या परमोच्च पुरुषमें

परम, निराकार, स्वयं-स्थित अस्तित्वको प्राप्त करनेकी आशा रखते हैं।

परंतु ऐसी परिस्थितिमें, भगवत्प्राप्तिके अभिलाषी मानव-मनको अपनी जागरित अवस्थाके क्षणोंका क्या करना होगा? क्योंकि ये मर्त्य मनकी समस्त दुर्बलताओंके अधीन हैं, यदि ये शोक, भय, क्रोध, आवेश, तृष्णा, लोभ, वासनाके आक्रमणोंके प्रति खुले हुए हैं तो यह मानना युक्तिसंगत है कि शरीर त्यागनेके समय मानसिक सत्ताको योग-समाधिमें एकाग्र करने-भरसे मानव-आत्मा परम सत्तामें प्रयाण कर सकती है और वहांसे उसे फिर वापिस नहीं आना पड़ता। कारण, मनुष्यकी सामान्य चेतना अभी-तक भी बौद्धोंद्वारा प्रतिपादित कर्मश्रृंखला या कर्म-प्रवाहके अधीन है, यह अभी भी कुछ ऐसी शक्तियां उत्पन्न कर रही है जो, निश्चय ही, अपनेको पैदा करनेवाले मनोमय मानवके सतत-प्रवहमान जीवनमें निरंतर कार्य करती रहेंगी तथा अपना फल उत्पन्न करेंगी। अथवा, एक और दृष्टिकोणसे देखें तो, क्योंकि चेतना ही निर्द्धारक तत्त्व है, शारीरिक जीवन नहीं—यह तो एक परिणाममात्र है, मनुष्य अभी भी साधारणतया मानवीय या कम-से-कम मानसिक क्रियाके स्तरसे ही संबंध रखता है और यह मान-सिक क्रिया स्थूल शरीरमेंसे प्रयाण कर जानेकी घटनामात्रके कारण नष्ट नहीं हो सकती; क्योंकि, मर्त्य शरीरसे छूटनेका अर्थ यह नहीं कि मर्त्य मनसे भी छुटकारा हो गया। इसी प्रकार, जगत्से प्रबल विरक्ति अथवा प्राणमय जीवनके प्रति उदासीनता या स्थूल जीवनके प्रति घृणा भी काफी नहीं है; क्योंकि यह भी निम्नतर मानसिक स्थिति और क्रियाका धर्म है। सबसे ऊंची शिक्षा यह है कि आत्माके पूर्णतया मुक्त हो सकनेके पूर्व हमें मुक्तिकी कामनाको भी इसके सब मानसिक सहचारी भावों समेत पार कर जाना होगा: अतएव, न केवल मनको असामान्य अवस्थाओंमें अपने घेरेसे बाहर निकलकर उच्चतर चेतनामें उठ जानेमें समर्थ बनना होगा, अपितु इसकी जाग्रत् अवस्थाको भी पूर्ण रूपसे अध्यात्ममय बन जाना होगा।

यह तथ्य एक दूसरी संभावनाको जिसका द्वार मनोमय मानवके लिये खुला हुआ है, साधनाके क्षेत्रमें उतार लाता है; क्योंकि यदि उसके लिये पहली संभावना यह है कि वह अपनी सत्तामेंसे उठकर सत्ताके दिव्य अति-मानसिक स्तरमें पहुंच सकता है तो, दूसरी यह है कि वह दिव्य सत्ताको पुकारकर अपने अंदर उतार ला सकता है ताकि उसका मन दिव्य सत्ताकी प्रतिमूर्त्तिमें बदल जाय, दिव्य या आध्यात्मिक बन जाय। यह कार्य मनकी प्रतिबिंबित करनेकी शक्तिके द्वारा किया जा सकता है और मुख्यतः इसीके

द्वारा किया जाना चाहिये, मनके अंदर यह शक्ति है कि वह जिस वस्तुका ज्ञान प्राप्त करता है, जिसका अपनी चेतनासे संबंध जोड़ता है तथा जिसका चिंतन करता है उसे प्रतिबिंबित कर सकता है। क्योंकि, वह वास्तवमें एक दर्पण एवं माध्यम है और उसकी कोई भी क्रिया अपने अंदरसे उद्भूत नहीं होती, कोई भी अपने सहारे अस्तित्व नहीं रखती। साधारणतया, मन मर्त्य प्रकृतिकी अवस्थाको और जड़ जगत्के नियमोंके अधीन कार्य करनेवाली शक्तिकी क्रियाओंको ही प्रतिबिंबित करता है। परंतु यदि वह इन क्रियाओंको तथा मानसिक प्रकृतिके अपने विशिष्ट विचारोंको एवं इसके दृष्टिकोणको त्याग करके निर्मल, निष्क्रिय और शुद्ध हो जाय तो एक स्वच्छ दर्पणकी भांति उसमें दिव्य सत्ताका प्रतिबिंब पड़ता है अथवा तरंगोंसे रहित तथा वायुसे अनुद्वेलित स्वच्छ जलमें आकाशकी भांति उसके अंदर भगवान् प्रतिभासित होते हैं। तब भी मन भगवान्‌को पूर्ण रूपसे अधिकृत नहीं कर लेता न वह भगवान् बन ही जाता है, बल्कि जबतक वह इस शुद्ध निष्क्रियताकी अवस्थामें रहता है तबतक भगवान्‌के या फिर उसके किसी ज्योतिर्मय प्रतिबिंबके अधिकारमें रहता है। यदि वह क्रिया करने लग पड़े तो वह फिरसे मर्त्य प्रकृतिकी उथल-पुथलमें जा गिरता है और उसीको प्रतिबिंबित करता है, भगवान्‌को नहीं। इसी कारण साधारणतया जो आदर्श हमारे सामने रखा जाता है वह यह है कि हमें पूर्ण निवृत्तिका अवलंबन करना चाहिये तथा पहले तो समस्त बाह्य कर्म और फिर समस्त आंतरिक क्रियाका त्याग कर देना चाहिये; यहां भी, ज्ञानमार्गके अनुयायीके लिये एक प्रकारकी जाग्रत् समाधि प्राप्त करना आवश्यक है। जो कोई कर्म अपरिहार्य है उसे ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियोंकी निरी स्थूल क्रियाके रूपमें ही चलते रहना होगा जिसमें अंततोगत्वा निश्चल मन कोई भाग नहीं लेता और जिससे वह किसी फल यां लाभकी भी कामना नहीं करता।

परंतु पूर्णयोगके लिये यह पर्याप्त नहीं है। जाग्रत् मनकी अभावात्मक निश्चलता ही नहीं, बल्कि उसका भावात्मक रूपांतर भी साधित करना होगा। उसका रूपांतर किया भी जा सकता है; कारण, यद्यपि दिव्य स्तर मानसिक चेतनासे ऊपर हैं और उनमें वस्तुतः प्रवेश करनेके लिये हमें साधारणतया मनका समाधिमें लय करना पड़ता है, तथापि मनोमय सत्तामें हमारे सामान्य मनसे ऊंचे दिव्य स्तर भी विद्यमान हैं जो वास्तविक दिव्य स्तरकी अवस्थाओंको ही प्रदर्शित करते हैं, यद्यपि वे मनकी अवस्थाओंसे, जो यहां प्रभुत्वपूर्ण हैं, कुछ परिवर्तित हो जाती हैं। जो भी चीजें दिव्य स्तरके अनुभवसे संबंध रखती हैं वे सबकी सब इन स्तरोंमें अधिगत की जा सकती हैं, मानसिक

ढंगसे और मानसिक रूपमें। विकसित मनुष्य जाग्रत् अवस्थामें भी दिव्य मनके इन स्तरोंतक ऊंचे उठ सकता है; अथवा वह इनसे ऐसे प्रभावों और अनुभवोंकी धारा भी प्राप्त कर सकता है जो अंतमें उसकी संपूर्ण जाग्रत् सत्ताको इनकी ओर खोल देंगे तथा इनकी प्रकृतिके स्वरूपमें रूपांतरित कर देंगे। ये उच्चतर मनोमय भूमिकाएं उसकी पूर्णताके प्रत्यक्ष उद्गम, महान् वास्तविक यंत्र एवं आंतरिक धाम* हैं।

परंतु इन स्तरोंतक पहुंचने या इनसे कोई प्रभाव ग्रहण करनेमें हमारे मनकी संकीर्णताएं हमारा पीछा करती हैं। सर्वप्रथम, मन अविभाज्य वस्तुका एक प्रबल विभाजक है और इसका तो बस स्वभाव ही यही है कि यह अन्य सब वस्तुओंको छोड़कर एक समयमें एक ही वस्तुपर अपने-आपको एकाग्र करता है अथवा दूसरी चीजोंको गौण स्थान देकर केवल उसीपर बल देता है। इस प्रकार, सच्चिदानंदकी प्राप्तिमें यह उसकी शुद्ध सत्ता अर्थात् सत्के पक्षपर ही ध्यान एकाग्र करेगा और तब चेतना तथा आनंद शुद्ध एवं अनंत सत्ताके अनुभवमें खो जाने या निश्चल रहनेके लिये बाध्य होंगे; यह अनुभव उसे निवृत्तिपरायण अद्वैतवादीके साक्षात्कारकी ओर ले जायगा। अथवा, वह चेतना अर्थात् चित्के पक्षपर अपने-आपको एकाग्र करेगा और तब सत्ता और आनंद अनंत परात्पर शक्ति एवं चित्तपस्के अनुभवपर आधारित हो जायंगे; यह अनुभव उसे शक्तिके पुजारी तांत्रिकके साक्षात्कारकी ओर ले जायगा अथवा यह आनंदके पक्षपर ध्यान एकाग्र करेगा और तब सत् और चित् दोनों स्वराट् चेतनता या उपादानभूत सत्ताके आधारसे रहित आनंदमें विलीन होते प्रतीत होंगे; यह अनुभव उसे निर्वाणके अभिलाषी बौद्ध साधकके साक्षात्कारकी ओर ले जायगा। अथवा, वह सच्चिदानंदके किसी ऐसे रूपपर अपने-आपको एकाग्र करेगा जो अति-मानसिक ज्ञान, संकल्प या प्रेमके स्वरूपसे उसके अंदर स्फुरित होगा और तब सच्चिदानंदका अनंत, निर्गुण स्वरूप इष्टदेवताके इस रूपके अनुभवमें प्रायः या पूर्णतया खो जायगा; यह अनुभव उसे नाना धर्मोंके आधारभूत साक्षात्कारोंकी ओर ले जायगा और मानव-आत्माके किसी ऊर्ध्वलोक या दिव्य धामको प्राप्त करायगा जिसमें आत्माका परमात्माके साथ संबंध जुड़ा रहता है। जिनका लक्ष्य जगत्के जीवनसे हटकर कहीं और प्रयाण कर जाना है उनके लिये इस प्रकारका अनुभव पर्याप्त है, क्योंकि उनका मन

*वेदमें इन्हें सदस्, गृह या क्षय, धाम, पद, भूमि, क्षिति इन नानाविध नामोंसे पुकारा गया है।

इन तत्त्वों, पक्षों या रूपोंमेंसे किसी एकमें निमज्जित हो जाता है या उसपर अधिकार जमा लेता है और इस प्रकार वे इन दिव्य लोकोंमें अपने मनकी अवस्थिति या अपनी जागरित अवस्थापर इन लोकोंके अधिकारके द्वारा इस अभीष्ट प्रयाणको साधित कर सकते हैं।

परंतु पूर्णयोगके साधकको इन सबमें सुसंगति स्थापित करनी होगी जिससे ये सच्चिदानंदके पूर्ण साक्षात्कारकी समग्र एवं सम एकता बन जायं। यहां मनकी अंतिम कठिनाई उसके सामने आती है, वह है एकता और अनेकताको एक साथ धारण कर सकनेमें उसकी असमर्थता। शुद्ध अनंत सत्ताको प्राप्त करना तथा उसमें निवास करना अथवा इसके साथ ही चैतन्य-स्वरूप सत्का, जो आनंद-स्वरूप भी है, पूर्ण मंडलाकार अनुभव प्राप्त करना तथा इसमें निवास करना भी नितांत कठिन नहीं है। यहाँतक कि मन इस एकताके अनुभवको वस्तुओंकी अनेकतातक भी इस प्रकार विस्तारित कर सकता है कि वह इसे विश्वमें तथा इसकी प्रत्येक वस्तु, शक्ति एवं गति-विधिमें व्याप्त देखे अथवा इसके साथ ही यह भी अनुभव करे कि यह सत्-चित्-आनंद इस विश्वको अपने अंदर समाये हुए है तथा इसके सब पदार्थोंके चारों ओर व्याप रहा है और इसकी सब गतिविधियोंका मूल है। पर, निश्चय ही, इन सब अनुभवोंको यथावत् एकीभूत तथा समस्वर करना उसके लिये एक कठिन कार्य है; तथापि वह सच्चिदानंदको अपने अंदर प्राप्त करनेके साथ-साथ सबके अंदर विराजमान और सर्वाधार प्रभुके रूपमें भी प्राप्त कर सकता है। परंतु इसके साथ इस अंतिम अनुभवको भी एकीभूत करना कि यह सब कुछ ही सच्चिदानंद है, तथा सब पदार्थों, गतियों, शक्तियों और रूपोंको इस रूपमें अधिकृत करना कि ये उससे भिन्न और कुछ नहीं हैं—यह मनके लिये एक महाकठिन कार्य है। अलग-अलग इनमेंसे कोई भी चीज प्राप्त की जा सकती है; मन एकसे दूसरीतक पहुंच सकता है, दूसरीतक पहुंचते ही पहलीको त्याग दे सकता है तथा एकको निम्नतर या दूसरीको उच्चतर सत्ताके नामसे पुकार सकता है। परंतु कुछ भी खोये विना सबको एक करना, कुछ भी त्यागे विना सबको समग्र बनाना उसके लिये सबसे कठिन कार्य है।

चौदहवाँ अध्याय

निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म

अपनी सच्ची सत्ता और विश्व-सत्ताका पूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करनेमें मनोमय मानवको जो कठिनाई अनुभव होती है उसका सामना वह अपने आत्म-विकासकी दो विभिन्न दिशाओंमेंसे किसी एकका अनुसरण करके कर सकता है। वह अपनी सत्ताके एक स्तरसे दूसरे स्तरकी ओर अपने-आपको विकसित कर सकता है और क्रमशः प्रत्येक स्तरपर जगत्के साथ तथा सच्चिदानंदके साथ अपने एकत्वका आस्वादन कर सकता है। सच्चिादानंद उसे उस स्तरके पुरुष और प्रकृति अर्थात् चिन्मय आत्मा और प्रकृति-स्वरूप आत्माके रूपमें अनुभूत होते हैं। जैसे-जैसे वह आरोहण करता है वैसे-वैसे वह सत्ताके निम्नतर स्तरोंकी क्रियाको भी अपने अंदर समाविष्ट किये चलता है। अर्थात् वह आत्म-विस्तार और रूपांतरकी एक प्रकारकी समावेशकारी प्रक्रियाके द्वारा भौतिक मनुष्यका दिव्य या आध्यात्मिक मनुष्यमें विकास साधित कर सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम ऋषियोंकी साधन-पद्धति यही थी जिसकी कुछ झाँकी हमें ऋग्वेदमें तथा कुछ एक उपनिषदों*में मिलती है। इसके विपरीत वह सीधे मानसिक सत्ताके उच्चतम स्तरपर शुद्ध स्वयंभू-सत्ताके साक्षात्कारको अपना लक्ष्य बना सकता है और उस सुरक्षित आधारपर स्थित होकर, अपने मनकी परिस्थितिमें, उस प्रणालीको आध्यात्मिक रूपमें अनुभव कर सकता है जिसके द्वारा स्वयंभू भगवान् सब भूतोंका रूप धारण करते हैं; पर ऐसा अनुभव प्राप्त करते हुए वह विभक्त अहंमयी चेतनामें अवतरित नहीं होता जो कि अज्ञानमें होनेवाले क्रम-विकासकी परिस्थिति है। इस प्रकार अध्यात्मभावित मनोमय मानवके रूपमें स्वयंभू विराट् सत्तामें सच्चिदानंदके साथ एक होकर वह फिर इसके परे शुद्ध आध्यात्मिक सत्ताके अतिमानसिक स्तरकी ओर आरोहण कर सकता है। अब हम इस पिछली विधिके क्रमोंको ज्ञानमार्गके साधकके लिये निर्धारित करनेका यत्न करेंगे।

---

*विशेष रूपसे, तैत्तिरीय उपनिषद्में।

जब साधक अहंभाव, मन, प्राण और शरीरके साथ अपनी आत्माके अनेकविध तादात्म्योंसे पीछे हटनेकी साधनाका अनुष्ठान कर चुकता है तो वह ज्ञानके द्वारा उस शुद्ध, निश्चल, आत्म-सचेतन, सत्स्वरूप आत्माका साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है जो एक, अविभक्त, शांतिमय एवं निष्क्रिय है तथा जगत्के कार्य-व्यापारसे चलायमान नहीं होता। इस आत्माका जगत्के साथ केवल इतना ही संबंध प्रतीत होता है कि यह इसका एक निष्काम साक्षी है जो इसके किसी भी व्यापारमें तनिक भी लिप्त नहीं होता, उससे प्रभावित या स्पृष्टतक नहीं होता। यदि चेतनाकी इस अवस्थाको और आगे बढ़ाया जाय तो साधकको एक ऐसे आत्माका ज्ञान प्राप्त होता है जो जगत्-सत्तासे और भी अधिक दूर है; इस जगत्में जो कुछ भी है वह एक अर्थमें उस आत्मामें विद्यमान है और फिर भी उसकी चेतनाके बाहर स्थित है, उसकी सत्तामें अस्तित्व नहीं रखता, एक प्रकारके अवास्तविक मनमें ही अस्तित्व रखता है,—अतएव एक स्वप्न है, भ्रम है। इस दूरस्थ एवं परात्पर वास्तविक सत्ताको वह अपनी सत्ताके विशुद्ध आत्माके रूपमें अनुभव कर सकता है; अथवा आत्माका एवं उसकी अपनी सत्ताका विचारतक इस परात्परमें सर्वथा विलीन हो जा सकता है; परिणामतः मनको यह केवल ऐसा अज्ञेय 'तत्' ही लगता है जो मानसिक चेतनाके लिये अग्राह्य होता है और जिसका जगत्-सत्ताके साथ किसी प्रकारका वास्तविक संबंध या व्यवहार संभव नहीं हो सकता। मनोमय पुरुष इसे नास्ति, असत् या शून्यके रूपमें भी अनुभव कर सकता है, पर ऐसे शून्यके रूपमें जो, जगत्में जो कुछ भी है उस सबसे शून्य है, एक ऐसे असत्के रूपमें जिसमें जगत्की सभी वस्तुओंका अभाव है और फिर भी जो एकमात्र सद्वस्तु है। इस परात्पर सत्तापर अपनी सत्ताको एकाग्र करके इसकी ओर और आगे बढ़नेका अर्थ है मानसिक सत्ता तथा जगत्-सत्ताका पूर्ण विलय करके अपने-आपको अज्ञेयमें निमज्जित कर देना।

परंतु सर्वांगीण ज्ञानयोग इसके स्थानपर यह माँग करता है कि हम दिव्यता प्राप्त करके जगत्को फिरसे अपना लें और इसके लिये पहला पग यह है कि हम सर्व-रूप आत्माका 'सर्व'के रूपमें साक्षात्कार करें, **सर्वं ब्रह्म**। सर्वप्रथम, स्वयंभू आत्मापर अपने-आपको एकाग्र करके हमें अनुभव करना होगा कि मन और इंद्रियोंके द्वारा गोचर सभी वस्तुएँ इस शुद्ध आत्मामें विद्यमान वस्तुओंके आकार हैं, इस आत्मामें जो कि अब हमारी चेतनाके निकट हमारा अपना ही स्वरूप है। शुद्ध आत्माका यह साक्षात्कार मनकी सूक्ष्मेन्द्रिय और अनुभवशक्तिके प्रति एक ऐसी अनंत सद्वस्तुके रूपमें परिणत

हो जाता है जिसमें सभी वस्तुएँ केवल नाम-रूपात्मक अस्तित्व रखती हैं, वे ठीक अर्थमें अवास्तविक, भ्रमात्मक या स्वप्नरूप तो नहीं हैं, पर फिर भी चेतनाकी एक ऐसी कृतिमात्र हैं जो ठोस-पदार्थ-रूप होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म अनुभवशक्ति तथा सूक्ष्मेन्द्रियोंसे ही ग्राह्य है। चेतनाकी इस भूमिकामें यह सब विश्व यदि स्वप्न नहीं तो बहुत कुछ एक ऐसे प्रदर्शन या कठपुतलियोंके खेल जैसा दिखायी देता है जो स्थिर, निश्चल, शांतिमय एवं उदासीन आत्मामें हो रहा है। हमारी अपनी दृश्य सत्ता इस सूक्ष्म कल्पनात्मक क्रियाका एक अंग है, अन्य रूपोंके बीच यह भी मन और शरीरसे युक्त एक यांत्रिक रूप है, स्वयं हम सत्ताके अन्य नामोंके बीच उसका एक नाम हैं, सर्वतोव्यापी एवं प्रशांत आत्म-चैतन्यसे युक्त इस आत्मामें यंत्रवत् गतिशील हैं। इस भूमिकामें जगत्की सक्रिय चेतना हमारी अनुभूतिमें उपस्थित नहीं होती, क्योंकि विचार हमारे अंदर शांत हो चुका है और अतएव हमारी अपनी चेतना पूर्णतया शांत और निष्क्रिय बन गयी है,—जो भी कार्य हम करते हैं वह हमें निरा यांत्रिक प्रतीत होता है। हमारा सक्रिय संकल्प और ज्ञान उसे किसी प्रकार भी सचेतन रूपसे आरंभ नहीं करते। अथवा, यदि विचारकी क्रिया उत्पन्न होती भी है तो वह भी अन्य क्रियाओंकी तरह, हमारे शरीरकी क्रियाकी तरह, यांत्रिक ढंगसे ही पैदा होती है, पौधे और धातुमें होनेवाली क्रियाकी भाँति प्रकृतिके अदृष्ट करणोंके द्वारा चालित होती है, हमारी सत्ताके किसी सक्रिय संकल्पके द्वारा नहीं। क्योंकि, यह आत्मा निश्चल है और जिस कार्यके लिये यह अनुमति देता है उसे न तो आरंभ करता है न उसमें भाग ही लेता है। यह आत्मा 'सर्व' है, पर केवल इस अर्थमें कि यह अनंत एकमेव है जो सब नामों और रूपोंके मूलमें निर्विकार रूपसे विद्यमान है तथा उन्हें अपने अंदर धारण किये हुए है।

चेतनाकी इस भूमिकाका मूल मनके एक एकांगी साक्षात्कारमें निहित है जिसके द्वारा यह उस शुद्ध स्वयंभू सत्ताको उपलब्ध करता है जिसमें चेतना शांत और निष्क्रिय रहती है, सत्ताके शुद्ध आत्म-चैतन्यमें व्यापक रूपसे एकाग्र होती है, न कोई क्रिया करती है और न किसी प्रकारकी व्यक्त सत्ता उत्पन्न करती है। उस चेतनाका ज्ञान-संबंधी रूप भेद-प्रभेद-रहित तादात्म्यके भानमें शांत हुआ रहता है; उसका शक्ति और संकल्प-संबंधी रूप अविकार्य अक्षर-भावके बोधमें शांत हो रहता है। फिर भी उसे नामों और रूपोंका भान होता है, क्रियाका बोध रहता है; पर यह क्रिया आत्मासे उत्पन्न होती नहीं प्रतीत होती, बल्कि ऐसा लगता है कि

यह अपनी ही किसी अंतर्निहित शक्तिसे चल रही है और आत्मामें तो इसका केवल प्रतिबिंव पड़ता है। दूसरे शब्दोंमें, मनोमय सत्ताने एकपक्षीय एकाग्रताके द्वारा चेतनाके सक्रिय रूपको अपनेसे दूर हटा दिया है, उसके निष्क्रिय रूपकी शरण ले ली है और इन दोनों रूपोंके बीच एक दीवार खड़ी करके दोनोंका संवंध-विच्छेद कर दिया है; निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्मके बीच उसने एक खाई खोद डाली है और वे इसके किनारोंपर एक-दूसरेके आमने-सामने स्थित हैं, दोनों एक-दूसरेके लिये गोचर हैं, पर उनमें किसी प्रकारका भी संवंध नहीं है, न तो सहानुभूतिका लेशमात्र संवेदन है और न एकत्वका कोई भान। अतएव, निष्क्रिय आत्माको समस्त चेतन सत्ता अपने स्वरूपमें निष्क्रिय प्रतीत होती है, समस्त क्रिया अपने स्वरूपमें अचेतन और अपनी गतिमें जड़ प्रतीत होती है। इस भूमिकाका साक्षात्कार प्राचीन सांख्यदर्शनका आधार है। इस दर्शनकी शिक्षा यह थी कि पुरुष या चिन्मय आत्मा एक शांत, निष्क्रिय एवं अक्षर सत्ता है, प्रकृति या प्रकृति-स्वरूप आत्मा जिसमें मन और बुद्धि भी सम्मिलित हैं, सक्रिय, क्षर और जड़ है, पर पुरुषमें इस प्रकृतिका प्रतिविंव पड़ता है। जो भी चीज पुरुषके अंदर प्रतिविंवित होती है उसके साथ वह अपने-आपको तदाकार कर लेता है और उसे अपनी चैतन्य-ज्योति प्रदान कर देता है। जव पुरुष उसके साथ अपने-आपको तदाकार न करनेका अभ्यास डाल लेता है तो प्रकृति अपने क्रियावेगको त्यागने लगती है और साम्यावस्था तथा निष्क्रियताकी ओर लौट जाती है। इसी भूमिकाके वैदांतिक विचारने इस दर्शनको जन्म दिया कि निष्क्रिय आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र है और शेष सव चीजें तो केवल नाम और रूप हैं जो मानसिक भ्रमकी एक मिथ्या क्रियाने ब्रह्मपर आरोपित कर दिये हैं; इस भ्रमको निर्विकार आत्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके तथा 'अध्यारोप'का निषेध करके दूर करना होगा। वास्तवमें सांख्य और वेदांतके विचार केवल अपनी भाषा और अपने दृष्टिकोणमें ही भिन्न हैं; सारतः ये एक ही आध्यात्मिक अनुभवके आधारपर वनाया गया एक ही वौद्धिक सिद्धांत हैं।

यदि हम यहीं रुक जायँ तो जगत्‌के प्रति हम केवल दो प्रकारकी ही मनोवृत्ति धारण कर सकते हैं। या तो हमें जगत्‌की लीलाके निष्क्रिय साक्षिमात्र रहना होगा या फिर इसमें अपनी चेतन सत्ताका किसी प्रकार सहयोग दिये विना केवल यांत्रिक ढंगसे और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों*की

*केवलैरिन्द्रियैः—गीता

क्रिया-प्रवृत्तिके द्वारा ही कार्य करना होगा। इनमेंसे पहली वृत्तिका चुनाव करनेपर हम निष्क्रिय एवं शांत ब्रह्मकी निष्क्रियताको यथा-संभव अधिक-से-अधिक पूर्ण रूपमें प्राप्त करनेका यत्न करते हैं। हम अपने मनको निःस्पंद करके और विचारकी क्रिया तथा हृदयके विक्षोभोंको शांत करके पूर्ण आंतरिक शांति तथा उदासीनता प्राप्त कर चुके हैं। अब हम प्राण और शरीरकी यांत्रिक क्रियाको शांत करने और यथासंभव अतीव अल्प एवं कम-से-कम कर देनेका यत्न करते हैं, ताकि यह अंतमें पूर्ण रूपसे तथा सदाके लिये समाप्त हो जाय। यह जीवनका परित्याग करनेवाले संन्यासप्रधान योगका अंतिम लक्ष्य है, पर स्पष्टतः ही, यह हमारा लक्ष्य नहीं है। इसके विकल्पस्वरूप यदि हम दूसरी वृत्तिका चुनाव करें तो हम पूर्ण आंतरिक निष्क्रियता, शांति, मानसिक नीरवता, उदासीनता, आवेशोंका विलोप, संकल्पशक्तिमें वैयक्तिक पसंदगीका अभाव—इन सब गुणोंसे युक्त रहते हुए एक ऐसा कर्म भी करते रह सकते हैं जो अपने बाह्य रूपमें काफी पूर्ण हो।

साधारण मनको ऐसा कर्म संभव नहीं प्रतीत होता। जैसे भाविक दृष्टिसे यह किसी ऐसे कर्मकी कल्पना नहीं कर सकता जो कामना और आवेशमूलक अभिरुचिसे रहित हो, वैसे ही बौद्धिक दृष्टिसे यह किसी ऐसे कर्मकी कल्पना भी नहीं कर सकता जो विचारात्मक परिकल्पना, सचेतन हेतु तथा संकल्पकी प्रेरणासे रहित हो। परंतु वास्तवमें हम देखते हैं कि हमारा अपना अधिकांश कर्म तथा जड़ और निरी सप्राण सत्ताकी संपूर्ण क्रिया एक यांत्रिक आवेग एवं गतिके द्वारा संपन्न होती है जिसमें ये कामना आदि तत्त्व, कम-से-कम प्रकट रूपमें, कार्य नहीं कर रहे होते यह कहा जा सकता है कि यह बात निरी भौतिक एवं प्राणिक क्रियाके बारेमें ही संभव है, उन क्रियाओंके बारेमें नहीं जो साधारणतः विचारात्मक और संकल्पमय मनके व्यापारपर निर्भर करती हैं, जैसे बोलना, लिखना तथा मानवजीवनका समस्त बुद्धिप्रधान कार्य। परंतु यह कथन भी सत्य नहीं है, जब हम अपनी मानसिक प्रकृतिकी अभ्यासगत एवं सामान्य क्रिया-प्रक्रियाके पीछे जानेमें समर्थ हो जाते हैं तो हमें इसकी असत्यताका पता चल जाता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षणके द्वारा यह ज्ञात हो गया है कि ये सब क्रियाएँ प्रत्यक्ष कर्ताके विचार और संकल्पमें किसी प्रकार भी सचेतन रूपसे उत्पन्न हुए बिना संपन्न की जा सकती हैं; उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, वागिन्द्रिय समेत, उसके अपने विचार और संकल्पसे भिन्न किसी अन्य विचार और संकल्पके निष्क्रिय यंत्र बन जाती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि समस्त बुद्धिप्रधान कार्यके पीछे किसी बुद्धिका संकल्प होना चाहिये, पर वह बुद्धि या संकल्प कर्ताके सचेतन मनका ही हो यह आवश्यक नहीं। जिन मनोवैज्ञानिक परीक्षणोंका मैंने उल्लेख किया है उनमेंसे कुछ एकमें, स्पष्ट रूपसे, अन्य मनुष्योंकी संकल्पशक्ति एवं बुद्धि ही कर्ताकी इन्द्रियों एवं करणोंका प्रयोग करती है, कुछ दूसरे परीक्षणोंमें यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनमें इन्द्रियोंका संचालन अन्य सत्ताओंके प्रभाव या प्रेरणाद्वारा होता है अथवा वहाँ अवचेतन या प्रच्छन्न मन उपरितलपर आकर कार्य करता है या फिर ये दोनों साधन मिल-जुलकर कार्य करते हैं। परंतु उपरिवर्णित यौगिक भूमिकामें जिसमें कर्म केवल इन्द्रियोंद्वारा ही चलता रहता है, **केवलैरिन्द्रियैः**, स्वयं प्रकृतिकी विराट् प्रज्ञा एवं संकल्पशक्ति ही अतिचेतन और अवचेतन केंद्रोंसे कार्य करती है जैसे वह वनस्पति-जीवन या निष्प्राण जड़पदार्थकी यांत्रिक पर उद्देश्यपूर्ण शक्तियोंमें कार्य करती है; अंतर इतना ही है कि यौगिक भूमिकामें वह एक ऐसे सजीव यंत्रके द्वारा कार्य करती है जो कार्य और करणका सचेतन साक्षी होता है। यह एक विलक्षण तथ्य है कि इस प्रकारकी भूमिकासे उद्भूत वाणी, लेख तथा बुद्धिप्रधान कार्य एक ऐसे पूर्णतः शक्तिशाली विचारको व्यक्त कर सकते हैं जो ज्योतिर्मय, स्खलनरहित, शृंखलाबद्ध एवं अंतःप्रेरित होता है तथा अपने साधनोंको साध्योंके पूर्णतः अनुकूल बना लेता है, इस प्रकार जो चीज व्यक्त होती है वह उससे बहुत परेकी होती है जिसे मनुष्य अपने मन, संकल्प और सामर्थ्यकी पुरानी सामान्य अवस्थामें स्वयं व्यक्त कर सकता, तथापि इस भूमिकामें जो विचार उसके पास आता है उसे वह स्वयं बराबर देखता रहता है, उसकी कल्पना नहीं करता, जो संकल्प उसके द्वारा कार्य करता है उसके कार्योंका निरीक्षण करता है, पर उसपर अपना अधिकार नहीं जमा लेता, न उसका प्रयोग ही करता है, एक निष्क्रिय यंत्र-जैसे उसके आधारके द्वारा जो शक्तियाँ जगत्पर अपनी क्रिया करती हैं उन्हें साक्षिवत् देखता है, किंतु उनपर अपना स्वत्व होनेका दावा नहीं करता। परंतु यह दृग्विषय वस्तुतः कोई असामान्य वस्तु नहीं है, न यह विश्वके सामान्य नियमके विरुद्ध ही है। कारण, क्या हम भौतिक प्रकृतिके जड़ दिखायी देनेवाले कार्यमें गुप्त विराट् संकल्प-शक्ति और प्रज्ञाकी पूर्ण क्रिया नहीं देखते? ठीक यही विराट् संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञा शांत, उदासीन तथा अंतर्नीरव योगीके द्वारा, जो इसकी क्रियाओंमें सीमित एवं अज्ञ वैयक्तिक संकल्प और बुद्धिकी कोई बाधा उपस्थित नहीं करता, उक्त प्रकारसे अपना

कार्य करती है। वह नीरव आत्मामें निवास करता है; वह सक्रिय ब्रह्मको अपने प्राकृतिक करणोंके द्वारा कार्य करने देता है और उसकी विराट् शक्ति और ज्ञानकी रूप-रचनाओंको निष्पक्ष भावसे तथा उनमें किसी प्रकारका भाग लिये बिना स्वीकार करता है।

आंतरिक निष्क्रियता और बाह्य कर्मकी यह स्थिति, जिसमें दोनों एक-दूसरेसे स्वतंत्र होते हैं, पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्यकी अवस्था है। जैसा कि गीतामें कहा गया है, योगी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता, क्योंकि वह नहीं, बल्कि विराट् प्रकृति ही अपने प्रभुसे परिचालित होकर उसके अंदर कार्य करती है। वह अपने कर्मोंसे बँधता नहीं, न तो वे अपने पीछे उसके मनमें कोई प्रभाव या परिणाम छोड़ जाते हैं और न उसकी आत्मापर उनका कोई लेप या दाग ही लगता है*; वे करनेके साथ ही विलुप्त एवं विलीन हो जाते हैं† और अक्षर सत्तापर कोई भी प्रभाव छोड़े बिना तथा अंतरात्माको विकृत किये बिना चले जाते हैं। अतएव, ऐसा लगता है कि यदि ऊपर उठी हुई आत्माको इस भूमिकामें पहुँचनेपर भी जगत्में मानवीय कर्मसे किसी प्रकारका संबंध बनाये रखना हो तो उसे इस स्थितिको अपनाना होगा—अंतरमें तो अटल निश्चल-नीरवता, शांति एवं निष्क्रियता और बाहर ऐसी विराट् संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञाके द्वारा नियंत्रित कर्म जो, गीताके अनुसार, अपने कर्मोंमें लिप्त हुए बिना, उनसे बद्ध या उनमें अज्ञानपूर्वक आसक्त हुए बिना कार्य करती है। और, निःसंदेह, जैसा कि हम कर्मयोगमें देख चुके हैं, पूर्ण आंतरिक निष्क्रियतापर प्रतिष्ठित पूर्ण कर्मकी यह अवस्था ही योगीको प्राप्त करनी होगी। परंतु यहाँ, आत्मज्ञानकी जिस भूमिकामें हम पहुँचे हैं उसमें, स्पष्ट ही समग्रताका अभाव है; निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्मके बीच अभीतक एक खाई है, उनमें एकत्व साधित नहीं हुआ है अथवा उनकी चेतनामें हमें भेद दिखायी देता है। नीरव आत्माकी उपलब्धिको खोये बिना सचेतन रूपसे सक्रिय ब्रह्मको प्राप्त करना हमारे लिये अभी भी बाकी है। आंतरिक नीरवता, प्रशांति तथा निष्क्रियताको हमें आधारके रूपमें सुरक्षित रखना होगा; पर सक्रिय ब्रह्मके कार्योंके प्रति उपेक्षापूर्ण उदासीनताके स्थानपर हमें उनमें सम और पक्षपातशून्य आनंद प्राप्त करना होगा; इस भयसे कि कहीं हमारी शांति और स्वतंत्रता खो न जाय जगत्के कर्ममें

---

*न कर्म लिप्यते नरे। —ईशोपनिषद्

†प्रविलीयन्ते कर्माणि। —गीता

भाग लेनेसे इन्कार करनेके स्थानपर हमें उस सक्रिय ब्रह्मको सचेतन रूपसे प्राप्त करना होगा जिसका जागतिक सत्ताका आनंद उसकी शांतिको भंग नहीं करता, न समस्त जगद्व्यापारका स्वामी होनेसे अपने कर्मोंके बीचमें जिसकी शांत स्वतंत्रताको कोई क्षति ही पहुँचती है।

किंतु, कठिनाई इसलिये पैदा होती है कि मनोमय मानव एकांगी रूपसे अपने उस शुद्ध सत्ताके स्तरपर ही एकाग्रता करता है जिसमें चेतना निष्क्रियतामें शांत हुई रहती है और सत्ताका आनंद सत्ताकी शांतिमें स्थिर हुआ रहता है। उसे अपनी सत्ताके उस चिच्छक्तिमय स्तरका भी आलिंगन करना होगा जिसमें चेतना बल और संकल्पके रूपमें क्रियाशील है और आनंद सत्ताके हर्षके रूपमें क्रियाशील है। यहाँ कठिनाई यह है कि मन शक्तिमय चेतनाको अधिकृत करनेके स्थानपर अपने-आपको उसमें अविवेक-पूर्वक झोंक सकता है। यह अवस्था जिसमें मन अपने-आपको प्रकृतिमें झोंक देता है, साधारण मनुष्यमें पराकाष्ठाको पहुँच जाती है। वह अपने शरीर तथा प्राणकी क्रियाओंको तथा उनपर आश्रित मानसिक क्रियाओंको ही अपनी संपूर्ण वास्तविक सत्ता मानता है और आत्माकी समस्त निष्क्रियताको जीवनसे विमुक्त होना तथा शून्यताकी ओर जाना समझता है। वह सक्रिय ब्रह्मके ऊपरी भागमें निवास करता है और जहाँ निष्क्रिय आत्मापर अनन्य भावसे एकाग्र हुए नीरव 'पुरुष'के लिये सभी कर्म नाम और रूपमात्र हैं, वहाँ उक्त साधारण मनुष्यके लिये वे एकमात्र वास्तविक सत्ता हैं तथा आत्मा ही महज एक नाम है। इनमेंसे एक अवस्थामें निष्क्रिय ब्रह्म सक्रियसे अलग-थलग रहता है तथा उसकी चेतनामें भाग नहीं लेता; दूसरीमें सक्रिय ब्रह्म निष्क्रियसे अलग रहता है तथा उसकी चेतनामें भाग नहीं लेता और न अपनी चेतनापर ही पूर्ण अधिकार रखता है। इन परस्पर-वर्जक पक्षोंमें उक्त प्रत्येक अवस्था दूसरीको यदि पूर्णतः मिथ्या न भी प्रतीत हो तो भी वह कम-से-कम स्थिति-रूपी जड़ता या आत्मप्राप्तिका अभाव-रूपी एक ऐसी जड़ता अवश्य प्रतीत होती है जिसमें सब क्रियाएँ यंत्रवत् होती रहती हैं। परंतु जिस साधकने वस्तुओंके सारतत्त्वका एक बार दृढ़तापूर्वक साक्षात्कार कर लिया है और नीरव आत्माकी शांतिका पूर्णतया रसास्वादन कर लिया है वह ऐसी किसी भी अवस्थासे संतुष्ट नहीं हो सकता जिसमें आत्मज्ञानको गँवाना या आंतरात्मिक शांतिका बलिदान करना पड़े। वह मन, प्राण और शरीरकी समस्त अज्ञान, आयास और विक्षोभ-वाली निरी वैयक्तिक क्रियामें अपने-आपको पुनः नहीं झोंकेगा। वह चाहे कोई भी नयी अवस्था क्यों न प्राप्त कर ले उससे उसे संतुष्टि तभी होगी

यदि वह उस अवस्थापर आधारित हो तथा उसे अपने अंतर्गत रखती हो जिसे वह पहलेसे ही वास्तविक आत्मज्ञान, आत्मानंद और आत्मप्रभुत्वके लिये अनिवार्य अनुभव कर चुका है।

फिर भी, जब वह जगत्के कर्मके साथ अपना संबंध स्थापित करनेके लिये फिरसे यत्न करेगा तो वह पुरानी मानसिक क्रियामें आंशिक, बाह्य और अस्थायी रूपसे पुनः पतित हो सकता है। इस पतनको रोकनेके लिये या जब यह हो जाय तो इसका प्रतिकार करनेके लिये उसे सच्चिदानन्दके सत्यको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखना होगा। और, अनंत एकमेवके अपने साक्षात्कारको अनंत बहुत्वकी क्रियाके क्षेत्रमें विस्तारित करना होगा। उसे सभी वस्तुओंमें विद्यमान एकमेव ब्रह्मपर एकाग्रता करके यह साक्षात्कार करना होगा कि ब्रह्म सत्ताकी चेतन शक्ति है तथा चेतन सत्ताका शुद्ध चैतन्य है। सत्ताकी सच्ची उपलब्धिकी ओर एक कदम और आगे बढ़कर उसे यह साक्षात्कार भी प्राप्त करना होगा कि आत्मा 'सर्व' है जो यहाँ वस्तुओंके अद्वितीय सारतत्त्वके रूपमें ही नहीं, बल्कि उनके अनेकविध आकारोंके रूपमें भी उपस्थित है, जो सबको अपनी परात्पर चेतनामें समाये ही नहीं रहता, बल्कि उपादानभूत चेतनाके द्वारा सब वस्तुओंके रूपमें प्रकट भी होता है। जैसे-जैसे यह साक्षात्कार पूर्ण होता जायगा वैसे-वैसे चेतनाकी अवस्था एवं उसके उपयुक्त मानसिक दृष्टि बदलती चली जायगी। एक ऐसे अक्षर आत्माके स्थानपर जो नामों और रूपोंको अपने अंदर समाये हुए है तथा जो प्रकृतिके क्षर भावोंको अपने अंदर धारण करता है, पर उनमें भाग नहीं लेता, वह एक ऐसे आत्मासे सचेतन हो जायगा जो अपने सारतत्त्वमें अक्षर है तथा अपनी मूल स्थितिमें निर्विकार है, पर जो इन सब सत्ताओंको जिन्हें मन नाम और रूप कहकर वर्णित करता है, अपने अनुभवमें गठित करता है और स्वयं ही इन सब सत्ताओंके रूपमें प्रकट होता है। मन और शरीरके समस्त रूप उसके लिये केवल ऐसे आकार नहीं होंगे जिनका पुरुषमें प्रतिबिंब पड़ता है, वरन् ऐसे वास्तविक रूप होंगे जिनका सारतत्त्व और मानो जिनकी रचनाका उपादान ब्रह्म ही है, आत्मा एवं चिन्मय पुरुष ही है। रूपके साथ संबद्ध नाम मनका एक ऐसा कोरा विचार नहीं होगा जो उस नामवाली किसी भी वास्तविक सत्तासे संबंध न रखता हो, बल्कि उसके पीछे चेतन सत्ताकी एक सच्ची शक्ति होगी, ब्रह्मका एक वास्तविक आत्मानुभव होगा जो किसी ऐसी वस्तुके अनुरूप होगा जिसे वह अपनी नीरवतामें संभाव्य पर अव्यक्त रूपमें धारण किये हुए था। फिर भी अपने सब क्षर भावोंमें वह एक, मुक्त तथा उनसे ऊपर अनुभूत

होगा। यह साक्षात्कार कि एक एकमेवाद्वितीय, वास्तविक सत्ता है जो नामों और रूपोंके अध्यारोपके वश सुख-दुःखका अनुभव कर रही है, एक ऐसी सनातन सत्ताके साक्षात्कारको स्थान दे देगा जो अपने-आपको अनंत भूतभावोंके रूपमें प्रकट कर रही है। योगीकी चेतनाके लिये सभी भूत आत्माके, उसकी अपनी सत्ताके, विचारात्मक रूप ही नहीं, बल्कि आत्मिक रूप होंगे, जो उसके साथ एकीभूत तथा उसकी विराट् सत्तामें समाये हुए होंगे। भूतमात्रका समस्त आंतरात्मिक तथा मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक जीवन उसे नित्य एकरस रहनेवाले 'पुरुष'की एक और अविभाज्य गति एवं क्रियाके रूपमें प्रतीत होगा। उसे अक्षर स्थिति और क्षर क्रियाके दोहरे स्वरूपसे युक्त विराट्के रूपमें आत्माका साक्षात्कार होगा और यही हमारी सत्ताका व्यापक सत्य प्रतीत होगा।

पन्द्रहवाँ अध्याय

विराट् चेतना

सक्रिय ब्रह्मका साक्षात्कार करके उसके साथ एकत्व प्राप्त करनेका अर्थ है वैयक्तिक चेतनाको, इस एकत्वकी आंशिक या समग्र पूर्णताके अनुसार पूर्ण या अपूर्ण रूपसे, विराट् चेतनामें परिवर्तित करना। मनुष्यकी साधारण सत्ता एवं चेतना वैयक्तिक ही नहीं अहंमय भी है; अर्थात् इस चेतनामें जीवात्मा या व्यक्तिगत आत्मा वैश्व प्रकृतिकी गतिके अंदर अपने मानसिक, प्राणिक, शारीरिक अनुभवोंकी केंद्रीय ग्रंथिके साथ, अपने मनोनिर्मित अहंभावके साथ और, अपेक्षाकृत कम घनिष्ठ रूपमें, अनुभवोंको ग्रहण करनेवाले मन, प्राण और शरीरके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कारण, इनके बारेमें तो वह "यह मेरा मन, मेरा प्राण या मेरा शरीर है" ऐसा कह सकता है, इन्हें अपना आप समझ सकता है, पर कुछ अंशमें इन्हें अपना स्वरूप न समझकर एक ऐसी चीज भी समझ सकता है जिसका वह स्वामी है तथा जिसे वह प्रयोगमें लाता है, किंतु अहंके बारेमें तो वह कहता है, "यह स्वयं मैं हूँ।" मन, प्राण और शरीरके साथ समस्त तादात्म्यसे अपनेको अलग करके वह अपने अहंसे पीछे हट उस सच्चे व्यष्टि अर्थात् जीवात्माकी चेतनाको प्राप्त कर सकता है जो मन, प्राण और शरीरका वास्तविक स्वामी है। इस 'व्यष्टि'के पीछे अवस्थित उस सत्ताकी ओर जिसका यह प्रतिनिधि एवं चेतन रूप है दृष्टि डालनेपर वह शुद्ध आत्मा, निरपेक्ष सत् या निरपेक्ष असत्की परात्पर चेतनाको प्राप्त कर सकता है; ये आत्मा, सत् और असत् एक ही सनातन परमार्थ-सत्ताकी तीन स्थितियाँ हैं। परंतु विश्व-प्रकृतिकी क्रिया और इस परात्पर सत्ताके बीच वैश्व चैतन्य किंवा विराट् पुरुष अवस्थित है जो प्रकृतिकी क्रियाका स्वामी तथा परात्परका वैश्व आत्मा है; समस्त विश्व-शक्ति (Nature) इस विराट् पुरुषकी प्रकृति या सक्रिय सचेतन शक्ति है। इस विराट् पुरुषको हम प्राप्त कर सकते हैं तथा यही बन भी सकते हैं, पर इसके लिये हमें या तो अहंकी दीवारोंको अपने चारों ओरसे तोड़कर मानो एकमेवमें सर्वभूतोंके साथ तदात्मता स्थापित करनी होगी अथवा इन्हें ऊपरकी ओरसे तोड़कर शुद्ध आत्मा या निरपेक्ष सत्ताका उसके आविर्भावशील, अंतर्यामी, सर्वग्राही

तथा सर्व-निर्मायक ज्ञानसे एवं आत्म-सर्जनकी शक्तिसे संपन्न रूपमें साक्षात्कार करना होगा।

सबमें विद्यमान अंतर्यामी एवं नीरव आत्माका साक्षात्कार करके ही मनोमय मानव इस विराट् चेतनाका आधार सर्वाधिक सहज रूपसे स्थापित कर सकता है। उसे यह अनुभव करना होगा कि यह आत्मा शुद्ध और सर्वव्यापक साक्षी है जो सृष्टिके चिन्मय आत्माके रूपमें समस्त जगद्व्यापारका अवलोकन करता है, साथ ही यह आत्मा सच्चिदानन्द भी है जिसके आनन्दके लिये विश्व-प्रकृति अपनी सनातन क्रिया-परंपराको चला रही है। हमें अखण्डित आनंद तथा शुद्ध और परिपूर्ण उपस्थितिका साक्षात्कार प्राप्त होता है, उस अनंत और स्वयंपूर्ण शक्तिका अनुभव होता है, जो हममें तथा सब वस्तुओंमें विद्यमान है, जो उनके भेदोंसे विभक्त नहीं होती, वैश्व अभिव्यक्तिके दबाव और संघर्षसे प्रभावित नहीं होती, इन सबके अंदर है और फिर भी इन सबके ऊपर है। उसीके कारण इस सबका अस्तित्व है, परंतु उसका अस्तित्व इस सबके कारण नहीं है; वह इतनी महान् है कि जिस देश-काल-गत क्रियाके अंदर वह अवस्थित है तथा जिसे धारण करती है उससे सीमित नहीं होती। विराट् चेतनाका यह आधार हमें दिव्य अस्तित्वकी सुरक्षित स्थितिमें संपूर्ण विश्वको अपनी सत्ताके अंदर धारण करनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। जिसके अंदर हम निवास करते हैं उससे हम तब और सीमित नहीं होते, न उसमें बंद ही हो जाते हैं, बल्कि प्रकृतिकी जिस क्रियामें निवास करना हम स्वयमेव स्वीकार करते हैं उसके निमित्त हम इस सबको भगवान्‌की भाँति अपने अंदर धारण करते हैं। हम मन या प्राण या शरीर नहीं हैं, बल्कि इन्हें अंदरसे गढ़नेवाला तथा धारण करनेवाला, निश्चल-नीरव, शांतिमय, सनातन पुरुष हैं जो इनका स्वामी है। और, हम देखते हैं कि यह आत्मा सर्वत्र विद्यमान है तथा सबके प्राण, मन और शरीरको धारण कर रहा एवं अंदरसे गढ़ रहा है और उनका स्वामी है। और, तब हम इसे अपने मन, प्राण और शरीरमें उपस्थित एक पृथक् एवं व्यक्तिगत सत्ताके रूपमें देखना छोड़ देते हैं। इसीमें यह सब गति और क्रिया कर रहा है; इस सबके अंदर वह स्वयं स्थिर और अक्षर है। इसे प्राप्त कर लेनेपर हम अपनी सनातन स्वयंभू सत्ताको उसके नित्य चैतन्य और आनंदके अंदर स्थिर रूपमें प्रतिष्ठित अनुभव कर लेते हैं।

इसके बाद हमें अनुभव करना होगा कि यह नीरव आत्मा विश्व-प्रकृतिके समस्त व्यापारका स्वामी है, एक ही स्वयंभू ईश्वर है जो अपनी

सनातन चेतनाकी सर्जनशील शक्तिके रूपमें विलसित हो रहा है। जगत्का यह समस्त व्यापार केवल उसका बल, ज्ञान और आनंद ही है जो उसकी सनातन प्रज्ञा और संकल्प-शक्तिके कार्योंको करनेके लिये उसकी अनंत सत्तामें यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रकट हो रहे हैं। भगवान्का, सबके सनातन आत्माका साक्षात्कार हमें सर्वप्रथम इस रूपमें होता है कि वह समस्त कर्म और अकर्म, ज्ञान और अज्ञान, हर्ष और शोक, शुभ और अशुभ, पूर्णता और अपूर्णता, शक्ति और आकार, शाश्वत दिव्य तत्त्वसे बाहरकी ओर प्रकृतिका समस्त विच्छुरण तथा भगवान्की ओर उसका समस्त प्रतिनिवर्तन——इन सबका मूल स्रोत है। इसके बाद हमें उसका साक्षात्कार इस रूपमें होता है कि वह अपनी शक्ति और ज्ञानके रूपमें स्वयं ही चारों ओर आविर्भूत हो रहा है——क्योंकि शक्ति और ज्ञान स्वयं उसीका स्वरूप हैं,——वह इनके कार्योंका उद्गम ही नहीं, बल्कि स्रष्टा और कर्ता है, सब भूतोंमें एक ही है, क्योंकि विश्व-अभिव्यक्तिमें जो अनेक आत्माएँ हैं वे एक ही भगवान्की आकृतियाँमात्र हैं, अनेक मन, प्राण और शरीर उसके अवगुण्ठन और छद्म-रूप ही हैं। प्रत्येक सत्ताको हम विराट् नारायणके रूपमें देखते हैं जो हमारे सामने अपने अनेक चेहरोंको प्रकट कर रहा है; हम अपनेको उसमें खो देते हैं और अपने मन, प्राण तथा शरीरको आत्माका केवल एक रूप अनुभव करते हैं, और पहले हम जिन्हें पराया समझते थे वे सभी अब हमारी चेतनाको अन्य मनों, प्राणों और शरीरोंमें अवस्थित अपनी ही आत्मा प्रतीत होते हैं। इस विश्वमें विद्यमान समस्त शक्तियाँ, विचार तथा घटनाएँ और पदार्थोंके सभी आकार इस आत्माके व्यक्त क्रमिक रूपमात्र हैं, भगवान्की विभिन्न मूल्योंवाली अभिव्यक्तियाँ हैं जो उसके सनातन आत्म-रूपायनमें प्रकट होती हैं। पदार्थों और प्राणियोंपर इस प्रकार दृष्टिपात करनेसे हम पहले उन्हें इस रूपमें देख सकते हैं मानो वे उसकी विभक्त सत्ताके अंग एवं खण्ड हों, परंतु हमारा साक्षात्कार और ज्ञान तबतक पूर्ण नहीं हो सकते जबतक हम गुण, देश-काल और भेद-विभागके इस विचारसे परे जाकर सर्वत्र अनंत भगवान्को नहीं देखने लगते, विश्वको और विश्वकी प्रत्येक वस्तुको उसकी सत्ता और गुप्त चेतनामें तथा शक्ति एवं आनंदमें पूरे-का-पूरा अखण्ड भगवान् नहीं अनुभव करते, भले ही, इस विश्वका या इसकी प्रत्येक वस्तुका हमारे मनोंके संमुख प्रस्तुत रूप कितना ही अधिक एक आंशिक अभिव्यक्तिमात्र क्यों न प्रतीत हो। जब हम इस प्रकार भगवान्को शांत एवं सर्वातीत साक्षी और क्रियाशील ईश्वर एवं उपादानभूत सत्तत्त्वके रूपमें प्राप्त कर लेते हैं तथा इन दोनों रूपोंमें किसी प्रकारका

भेद नहीं करते तब हम संपूर्ण विराट् परमेश्वरको उपलब्ध कर लेते हैं, समग्र वैश्व आत्मा एवं सद्वस्तुको सर्वात्मना ग्रहण कर लेते हैं, विराट् चैतन्यके प्रति जागरित हो जाते हैं।

यह जो विराट् चेतना हमने उपलब्ध की है उसके साथ हमारी व्यक्तिगत सत्ताका क्या संबंध होगा? क्योंकि हमारा मन, शरीर एवं मानवीय जीवन अभीतक विद्यमान है, हमारी व्यक्तिगत सत्ता बनी रहती है यद्यपि हम अपनी पृथक् व्यक्तिगत चेतनाको पार कर चुके हैं। यह सर्वथा संभव है कि हम विराट्-चैतन्य-स्वरूप बने बिना विराट् चेतनाको उपलब्ध कर लें, अर्थात् आत्माके द्वारा इसका साक्षात्कार प्राप्त कर लें, इसे अनुभव करके इसमें निवास करने लगें, इसके साथ पूर्णतया एक हुए बिना योगयुक्त हो जायँ, संक्षेपमें, विश्वात्माकी विराट् चेतनामें जीवात्माकी व्यक्तिगत चेतनाको सुरक्षित रखें। दूसरी ओर, यह भी संभव है कि हम इन दोनोंके बीच एक विशेष प्रकारका भेद बनाये रखकर इनके पारस्परिक संबंधोंका रसास्वादन करें, विराट् आत्माके आनंद और आनंत्यमें भाग लेते हुए हम व्यक्तिगत आत्मा भी बने रहें; या फिर हम महत्तर और लघुतर आत्माके रूपमें इन दोनोंको ही अधिकृत कर सकते हैं, इनमेंसे एक तो दिव्य चेतना और शक्तिकी विराट् लीलामें अपने-आपको बाहर उँडेल रहा है, दूसरा जो उसी विराट् पुरुषकी एक क्रिया है मन, प्राण और शरीरकी व्यक्तिगत क्रीड़ाके निमित्त हमारे व्यक्तिगत आत्मा-रूपी केंद्र या आत्मिक स्वरूपके द्वारा अपने-आपको बाहर उँडेल रहा है। परंतु ज्ञानयोगके साक्षात्कारकी सर्वोच्च भूमिकामें हमें सदा ही एक ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिससे हम व्यक्तित्वका विराट् सत्तामें तथा व्यक्तिगत चेतनाका विराट् चेतनामें लय कर सकते हैं, यहाँतक कि अपने आत्मस्वरूपको भी परमात्माकी एकता और विश्वमयतामें विलीन कर मुक्त कर सकते हैं। यह लय या मोक्ष ही ज्ञानयोगका लक्ष्य है। परंपरागत योगकी भाँति यहाँ भी यह अपने-आपको इतना विस्तारित कर सकता है कि स्वयं मन, प्राण और शरीरका भी नीरव आत्मा या निरपेक्ष सत्तामें लय हो जाय; पर मुक्तिका सार तो व्यक्तिगत सत्ताका अनंतमें लय ही है। जब योगी अपने-आपको पहलेकी तरह शरीरमें अवस्थित या मनके द्वारा सीमित चेतनाके रूपमें अनुभव नहीं करता, बल्कि अनंत चेतनाकी निःसीमतामें द्वैतभावको खो देता है, तो वह जो कुछ करने चला था वह सिद्ध हो जाता है। उसके बाद मानवजीवनको धारण करना या न करना कोई वास्तविक महत्त्वकी बात नहीं रहती, क्योंकि सदैव निराकार 'एक सत्' ही मन, प्राण

और शरीरके अपने अनेक रूपोंके द्वारा कार्य करते हैं और प्रत्येक जीव तो उनका एक अन्यतम धाममात्र है जिसमें अवस्थित होकर वे निरीक्षण तथा ग्रहण करना और अपनी लीलाको परिचालित करना पसंद करते हैं।

विराट् चेतनामें हम जिसके अंदर अपने-आपको निमज्जित करते हैं वह सच्चिदानंद ही है, वह एकमेव सनातन सत्ता है जो तब हमारी निजी सत्ता होती है, एकमेव सनातन चेतना है जो हममें तथा दूसरोंमें अपने कार्योंका अवलोकन करती है, इस चेतनाका एकमेव सनातन संकल्प या बल है जो अनंत क्रियाओंमें अपने-आपको प्रकट करता है, एकमेव सनातन-आनंद-स्वरूप है जिसे अपनी सत्ता तथा अपने समस्त कार्योंका आनंद सहज प्राप्त है,——अपने-आप स्थिर, अक्षर, देशकालातीत एवं परमोच्च है और अपने कार्य-व्यापारोंकी अनंततामें भी अपने-आप निश्चल है, उनके विभेदोंसे परिवर्तित नहीं होता, उनके बहुत्वसे खंड-खंड नहीं हो जाता, देश और कालके समुद्रोंमें उनके ज्वार-भाटोंसे बढ़ता-घटता नहीं, उनके दीखनेवाले विरोधोंसे विभ्रांत नहीं होता, न उनकी ईश्वराभिमत सीमाओंसे सीमित ही होता है। सच्चिदानंद व्यक्त वस्तुओंकी बहुविधतामें रहनेवाली एकता है, उनके सब विभेदों और विरोधोंकी सनातन समस्वरता है, एक ऐसी अनंत पूर्णता है जो उनकी सीमाओंका औचित्य सिद्ध करती है तथा उनकी अपूर्णताओंका लक्ष्य है।

यह प्रत्यक्ष ही है कि इस विराट् चेतनामें निवास करनेसे हमारे समस्त अनुभवमें तथा जगत्की प्रत्येक वस्तुका हम जो मूल्यांकन करते हैं उसमें एक आमूल परिवर्तन आ जायगा। अहंमय व्यक्तियोंके रूपमें हम अज्ञानमें निवास करते हैं और प्रत्येक वस्तुकी परख ज्ञानके एक खंडित, आंशिक तथा व्यक्तिगत मापदण्डसे ही करते हैं; हम प्रत्येक वस्तुका अनुभव सीमित चेतना और शक्तिकी क्षमताके अनुसार ही करते हैं और अतएव विश्वके अनुभवके किसी भी भागके प्रति हम दैवी प्रतिक्रिया नहीं कर पाते और न उसका सच्चा मूल्य ही आँक सकते हैं। हम तो सीमा, दुर्बलता, अक्षमता, दु:ख, वेदना, संघर्ष और इसके विरोधी भावोंको ही अनुभव करते हैं अथवा यदि इनकी विरोधी चीजोंका अनुभव हमें होता भी है तो सापेक्ष सुख-दु:ख आदिके सनातन द्वंद्वोंके रूपमें ही होता है, निरपेक्ष शिव और सुखके सनातन रूपमें नहीं। हम अनुभवके खंडोंके सहारे ही जीवन धारण करते हैं और अपने खंडात्मक मूल्योंके द्वारा ही प्रत्येक वस्तु और समग्र विश्वके संबंधमें निर्णय करते हैं। जब हम पूर्ण मूल्योंका ज्ञान प्राप्त

करनेका यत्न करते हैं तो हम वस्तुओं-विषयक किसी आंशिक दृष्टिकोणको ही दिव्य कार्य-व्यापारोंमें निहित समग्र दृष्टिके स्थानपर कार्य करनेके लिये ऊँचा दर्जा भर प्रदान कर देते हैं। हम दम भरते हैं कि हमारे भिन्न भी पूर्णांक हैं और भगवान्‌की विराट् दृष्टिकी व्यापकतामें एकांगी दृष्टिकोणोंको घुसेड़ देते हैं।

वैश्व चेतनामें प्रवेश करनेपर हम इस विराट् दृष्टिमें भाग लेने लगते हैं और प्रत्येक वस्तुको अनंत तथा एकमेवके मूल्योंके दृष्टिकोणसे देखते हैं। हमारे लिये स्वयं सीमा और अज्ञानका अर्थ भी बदल जाता है। अज्ञान दिव्य ज्ञानकी एक विशिष्ट क्रियामें परिवर्तित हो जाता है, शक्ति, दुर्वलता और अक्षमता हमें इस रूपमें जान पड़ती हैं कि दिव्य शक्ति अपनी विविध मात्राओंको स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट कर रही, किंवा पीछेकी ओर अपने अंदर धारण कर रही है, हर्ष-शोक और सुख-दुःख दिव्य आनंदके स्वामी किंवा उसके अधीन होनेके सूचक बन जाते हैं, संघर्ष दिव्य सामंजस्यमें शक्तियों और मूल्योंके संतुलनका रूप ग्रहण कर लेता है। तब हम अपने मन, प्राण और शरीरकी सीमाओंके कारण दुःख नहीं भोगते; क्योंकि हम पहलेकी तरह इनमें नहीं, बल्कि आत्माकी अनंततामें निवास करते हैं, और अभिव्यक्तिमें इनके यथार्थ मूल्य, स्थान और प्रयोजनको समझते हुए हम इन्हें सृष्टिमें अपने-आपको आवृत और व्यक्त करनेवाले सच्चिदानंदकी परम सत्ता, चिच्छक्ति और आनंदके स्तरोंके रूपमें देखते हैं। मनुष्यों और पदार्थोंके विषयमें हम उनकी वाह्य आकृतियोंके आधारपर निर्णय करना छोड़ देते हैं और द्वेषपूर्ण तथा परस्पर-विरोधी विचारों एवं भावावेशोंसे मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि तब हम प्रत्येक पदार्थ और प्राणीमें अंतरात्माको ही देखते हैं, भगवान्‌को ही ढूँढ़ते और पाते हैं, और शेष सब कुछ तो हमारे लिये (जागतिक) संबंधोंकी योजनामें केवल गौण महत्त्व ही रखता है; ये संबंध अब हमारे लिये भगवान्‌की आत्म-अभिव्यक्तियोंके रूपमें ही अस्तित्व रखते हैं, पर वैसे अपने-आपमें इनका कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं होता। इसी प्रकार, कोई भी घटना हमें क्षुब्ध नहीं कर सकती, क्योंकि सुखद और दुःखद, कल्याणकारी और अकल्याणकारी घटनाओंके भेदमें कोई बल नहीं रह जाता, सभी घटनाओंको हम उनके दिव्य मूल्य और दिव्य प्रयोजनकी दृष्टिसे ही देखते हैं। इस प्रकार हम पूर्ण मुक्ति और अनंत क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। उपनिषद्में जहाँ यह कहा गया है कि "जिस मनुष्यका आत्मा सर्वभूतरूप हो गया है उसे भला मोह क्योंकर

होगा, जिसे पूर्ण ज्ञान* प्राप्त हो गया है और जो सब वस्तुओंमें एकत्वका ही दर्शन करता है उसे भला शोक कहाँसे होगा?" वहाँ उक्त प्रकारकी पूर्णताका ही उल्लेख किया गया है।

परंतु यह स्थिति तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य विराट् चेतनाको पूर्णतया उपलब्ध कर लेता है, पर इसे उपलब्ध करना मनोमय प्राणीके लिये कठिन है। मन जब आत्मा एवं भगवान्के विचार या साक्षात्कारतक पहुँच जाता है तो वह सत्ताको दो विरोधी भागों, निम्नतर और उच्चतर सत्तामें विभक्त करनेकी ओर प्रवृत्त होता है। एक ओर तो उसे दीखता है अनंत, निराकार एवं एकमेव, शांति एवं आनंद, स्थिरता एवं नीरवता, निरपेक्ष, वृहत् एवं विशुद्ध सत्ता; दूसरी ओर उसे दीखता है सांत, रूपोंका जगत्, असामंजस्यपूर्ण बहुत्व, कलह, क्लेश और अपूर्ण तथा अवास्तविक हित, आतुर प्रवृत्ति और निरर्थक सफलता, सापेक्ष, सीमित, मिथ्या और जघन्य वस्तुएँ। जो लोग इस प्रकारके भेद और विरोधकी सृष्टि करते हैं उन्हें पूर्ण मुक्ति एकमेवकी शांतिमें, अनंतकी निराकारता तथा निरपेक्षकी अव्यक्त अवस्थामें ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उनके लिये निरपेक्ष सत्ता ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है; उनके मतमें, मुक्त होनेके लिये सभी मूल्य-मर्यादाओंका विनाश करना होगा, सभी सीमाओंको केवल पार ही नहीं करना होगा, अपितु मिटा देना होगा। उन्हें दिव्य विश्रामकी मुक्ति तो प्राप्त होती है, पर दिव्य कर्मकी स्वतंत्रता नहीं; वे परात्परकी शांतिका रसास्वादन तो करते हैं, पर उसके विराट् आनंदका नहीं। उनकी स्वतंत्रता जगद्व्यापारसे विरत रहनेपर ही निर्भर करती है, वह स्वयं जागतिक सत्ताको अपने अधिकारमें लाकर उसपर अपना शासन नहीं स्थापित कर सकती। परंतु वे विश्वव्यापी तथा विश्वातीत दोनों प्रकारकी शांतिको उपलब्ध करके उनमें भाग भी ले सकते हैं। फिर भी इससे उक्त प्रकारकी भेद-वृत्ति दूर नहीं हो जाती। जिस स्वतंत्रताका वे उपभोग करते हैं वह नीरव निष्क्रिय साक्षीकी स्वतंत्रता होती है, उस दिव्य प्रभु-चेतनाकी नहीं जो सब वस्तुओंकी स्वामिनी है, सबमें आनंद लेती है तथा पतित या विलुप्त या बद्ध या कलुषित होनेके भयके बिना सत्ताके सभी रूपोंमें अपने-आपको

---

*विजानतः। विज्ञानका अर्थ है 'एक' और 'बहु' का ज्ञान जिसके द्वारा 'बहु' को 'एक' की अवस्थाओंके रूपमें तथा दिव्य सत्ताके अनंत, एकीकारक 'सत्य-ऋत-बृहत्' स्वरूपके अन्तर्गत देखा जाता है।

ढालती है। पर अभी उन्हें आत्माके सारे अधिकार प्राप्त नहीं हुए हैं; अभी भी उनमें एक प्रकारके निषेधका भाव है, एक प्रकारकी सीमितता है, समस्त सत्ताके पूर्ण एकत्वसे जुगुप्सा है। तव मन, प्राण और शरीरके व्यापारोंको मानसिक सत्ताके आध्यात्मिक स्तरोंकी स्थिरता एवं शांतिमेंसे देखा जाता है और वे इस स्थिरता एवं शांतिसे परिपूरित भी हो जाते हैं; परंतु अभी वे सर्व-सम्राट् आत्माके नियमके द्वारा अधिकृत एवं नियन्त्रित नहीं होते।

यह स्थिति तव प्राप्त होती है जब मनोमय मानव अपने आध्यात्मिक स्तरोंमें अर्थात् सत्, चित्, आनंदके मानसिक स्तरोंमें स्थित होकर उनके प्रकाश तथा आनंदको निम्नतर सत्तापर उँडेलता है। परंतु स्वयं निम्नतर स्तरोंपर निवास करते हुए भी एक प्रकारकी विराट् चेतनाको प्राप्त करनेका यत्न किया जा सकता है। इसके लिये, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उनकी सीमाओंको चारों ओरसे तोड़कर उनमें उच्चतर सत्ताकी ज्योति और विशालताको पुकार लाना होगा। कारण, केवल आत्मा ही एक नहीं है, वल्कि मन, प्राण और जड़तत्त्व भी एक ही हैं। इस विश्वमें एक ही विराट् मन, एक ही विराट् प्राण एवं एक ही विराट् शरीर है। सार्वभौम सहानुभूति एवं सार्वभौम प्रेमकी भावनातक पहुँचने तथा अन्य सव प्राणियोंकी अंतरात्माका वोध एवं ज्ञान प्राप्त करनेके समस्त मानवीय प्रयासका अर्थ है विस्तृत होते हुए मन और हृदयकी शक्तिके द्वारा अहंकी दीवारोंपर प्रहार करके उन्हें पतला कर देने तथा उनमें दरार करके अंतमें उन्हें तोड़ गिराने और सार्वभौम एकत्वके अधिक निकट पहुँचनेका प्रयत्न करना। यदि हम मन और हृदयके द्वारा परमात्माका स्पर्श प्राप्त कर सकें, इस निम्नतर मानव-सत्तामें भगवान्‌का शक्तिशाली अंतःप्रवाह ग्रहण कर सकें और प्रेम एवं सार्वभौम हर्षके द्वारा तथा समस्त प्रकृति एवं समस्त भूतोंके साथ मानसिक एकत्वके द्वारा अपनी प्रकृतिको दिव्य प्रकृतिकी प्रतिच्छायामें परिणत कर सकें तो हम इन दीवारोंको ढाह सकते हैं। यहाँतक कि हमारे शरीर भी वस्तुतः पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं और अतएव हमारी ठेठ भौतिक चेतना भी दूसरोंकी तथा विश्वकी भौतिक चेतनासे एकत्व प्राप्त कर सकती है। योगी अपने शरीरको सभी शरीरोंके साथ एकमय अनुभव कर सकता है, उनके विकारोंसे सचेतन हो सकता है, यहाँतक कि इनमें भाग भी ले सकता है; वह समस्त जड़तत्त्वकी एकताको निरंतर अनुभव कर सकता है और अपनी भौतिक सत्ताको उसकी गतिके अंतर्गत

केवल एक गति* अनुभव कर सकता है। यह अनुभूति तो वह और भी सहज रूपसे तथा सतत एवं सामान्य रूपसे प्राप्त कर सकता है कि अनंत प्राणका अगाध समुद्र ही उसकी सच्ची प्राणिक सत्ता है और उसका अपना प्राण इस असीम प्राण-समुद्रकी एक तरंगमात्र है। और, इससे भी अधिक सहज रूपसे वह अपने मन और हृदयमें अपने-आपको सब भूतोंके साथ एक कर सकता है, उनकी कामनाओं तथा उनके संघर्षों, हर्षों, शोकों, विचारों और आवेगोंको इस रूपमें जान सकता है मानो वे एक अर्थमें उसके अपने ही हों, या कम-से-कम, उसकी वृहत्तर आत्माके अंदर उसके अपने हृदय और मनकी क्रियाओंकी अपेक्षा कदाचित् कुछ कम अंतरंग रूपमें या बिलकुल उन्हींके समान अंतरंग रूपमें घटित हो रहे हों। यह भी एक प्रकारका विराट् चेतनाका साक्षात्कार है।

हमें ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि मानों यह विराट् एकत्व ही महान्-से-महान् एकत्व है, क्योंकि मनोनिर्मित जगत्में जो भी चीजें हमें इन्द्रियगोचर हो सकती हैं उन सबको यह हमारी अपनी स्वीकार करता है। कई बार तो हम इसे सर्वोच्च उपलब्धिके रूपमें वर्णित भी पाते हैं। निःसंदेह, यह एक महान् साक्षात्कार है तथा एक महत्तर साक्षात्कारकी प्राप्तिका मार्ग है। इसीको गीता हर्ष किंवा शोकमें सब भूतोंको आत्मवत् देखना कहती है; यह सहानुभूतिमय एकत्व तथा अनंत करुणाका मार्ग है जिसके द्वारा बौद्धमतावलम्बी अपने निर्वाणके लक्ष्यपर पहुँचता है। फिर भी विराट् चेतनाकी प्राप्तिमें कुछ क्रमिक सोपान एवं अवस्थाएँ आती हैं। पहली अवस्थामें हमारी अंतरात्मा अभी द्वंद्वोंकी प्रतिक्रियाओंके और अतएव निम्नतर प्रकृतिके वशमें होती है; वह विश्वकी वेदनासे विषण्ण या व्यथित होती है तथा उसके हर्षसे प्रफुल्लित। हम दूसरोंके हर्षको अनुभव करते हैं, उनके दुःखमें दुःखी होते हैं, और इस एकताको देहतक भी विस्तारित किया जा सकता है जैसा कि एक भारतीय संतकी कहानीसे हमें विदित होता है। कहते हैं कि उन्होंने एक बार किसी खेतमें एक बैलको उसके निर्दय स्वामीके द्वारा बुरी तरह पीटे जाते देखा। उस दृश्यको देखते ही वे उस प्राणीकी पीड़ाके मारे चिल्ला पड़े और पीछे देखनेपर कोड़ेकी मारका निशान उनकी देहके ऊपर भी पड़ा पाया गया। परंतु हमें ऐसा एकत्व प्राप्त करना होगा जिसमें हम सच्चिदानंदकी मुक्त स्थितिमें रह सकें और हमारी निम्नतर सत्ता भी प्रकृतिकी प्रतिक्रियाओंके अधीन न रहे। यह एकत्व

*जगत्यां जगत्।—ईश उपनिषद्

तव प्राप्त होता है जब हमारी आत्मा मुक्त होकर जागतिक प्रतिक्रियाओंसे ऊपर उठ जाती है, ये प्रतिक्रियाएँ तब प्राण, मन और शरीरमें एक हीनतर गतिके रूपमें अनुभूत होती हैं, इन सब प्रतिक्रियाओंको हमारी आत्मा समझती तथा स्वीकार करती है और इनके प्रति सहानुभूति भी दर्शाती है, पर इनसे अभिभूत या प्रभावित नहीं होती, परिणामतः मन और शरीर भी अपने ऊपरी तलको छोड़कर अन्य, सूक्ष्म एवं गहरे तलोंमें इनसे अभिभूत या प्रभाविततक हुए बिना इन्हें स्वीकार करना सीख जाते हैं। और, साधनाकी इस क्रियाकी चरम परिणति तब होती है जब सत्ताके दोनों गोलार्द्ध पहलेकी तरह विभक्त नहीं रहते और मन, प्राण तथा शरीर जागतिक स्पर्शोंके प्रति निम्नतर या अज्ञानपूर्ण प्रतिक्रियासे मुक्त रहनेवाले आत्माकी स्थितिमें विकसित हो जाते हैं और आगेको द्वंद्वोंके दास नहीं रहते। इस उच्च स्थितिका अर्थ दूसरेके संघर्षों और कष्टोंके प्रति अचेतन होना नहीं, वरन् निश्चय ही एक ऐसी आध्यात्मिक प्रभुता एवं मुक्ति है जो हमें वस्तुओं-को पूरी तरहसे समझने, उनका यथार्थ मूल्य आँकने तथा नीचेसे संघर्ष करनेके स्थानपर ऊपरसे दुःख-तापका निवारण करनेकी सामर्थ्य प्रदान करती है। यह स्थिति दैवी करुणा और सहायताका निषेध नहीं करती, पर यह मानवीय तथा पाशव दुःख-कष्टका निवारण अवश्य करती है।

मनोमय सत्ताके आध्यात्मिक और निम्नतर स्तरोंके बीचमें जो शृङ्खला है उसे प्राचीन वैदांतिक परिभाषामें विज्ञान कहा जाता है और हम उसे सत्य भूमिका या विज्ञानमय मन या अतिमानसका नाम दे सकते हैं। इस भूमिकामें 'एक' और 'बहु' परस्पर मिलकर एकीभूत हो जाते हैं और हमारी सत्ता भागवत सत्यके ज्ञानोद्भासक प्रकाश तथा भागवत संकल्प और ज्ञानकी अंतःप्रेरणाकी ओर मुक्त रूपसे खुल जाती है। हमारी साधारण सत्ताने हमारे और भगवान्‌के बीच बौद्धिक, भावप्रधान एवं संवेदनात्मक मनका जो आवरण रच रखा है उसे यदि हम छिन्न-भिन्न कर सकें तो हम सत्य-मानसके द्वारा अपने समस्त मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक अनुभवको अपने हाथमें लेकर उसे सच्चिदानंदके अनंत सत्यके रूपोंमें परिणत करनेके लिये आध्यात्मिक अनुभवके प्रति समर्पित कर सकते हैं—प्राचीन वैदिक "यज्ञ"का गुप्त या रहस्यमय आशय यही था—और हम अनंत सत्ताकी शक्तियों एवं ज्योतियोंको दिव्य ज्ञान, संकल्प एवं आनंदके रूपोंमें ग्रहण कर सकते हैं; इस ज्ञान, संकल्प एवं आनंदको हमें अपने मन, प्राण और शरीरमें प्रबल रूपसे स्थापित करना होगा जिससे कि अंतमें निम्नतर सत्ता उच्चतर सत्ताके सर्वांगपूर्ण आधारमें रूपांतरित हो जाय। यह वेदमें वर्णित

दोहरी क्रिया थी जिसके द्वारा मानव-प्राणीमें देवताओंका अवतरण एवं जन्म होता था और दिव्य ज्ञान, शक्ति एवं आनंदकी प्राप्तिके लिये संघर्ष करने तथा देवताओंकी ओर ऊपर उठनेवाली मानवीय शक्तियोंका आरोहण संपन्न होता था। इस क्रियाके परिणामस्वरूप एकमेव तथा अनंत ब्रह्मकी, आनंदमय जीवन, भगवन्मिलन तथा अमरत्वकी प्राप्ति होती थी। इस विज्ञानमय भूमिकाको प्राप्त करके हम निम्नतर तथा उच्चतर सत्ताके विरोधका पूर्ण रूपसे उन्मूलन कर डालते हैं, सांत और अनंत, ईश्वर और प्रकृति, एक और वहुके बीच अज्ञानके द्वारा रचित मिथ्या खाईको दूर कर देते हैं, भगवान्के द्वार खोल डालते हैं, विराट् चेतनाकी पूर्ण समस्वरतामें अपनी व्यक्तिगत सत्ताको कृतकृत्य कर लेते हैं तथा विराट् सत्तामें परात्पर सच्चिदानंदके दिव्य आविर्भावको अनुभव कर लेते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

एकत्व

अतएव, जब साधक अपनी चेतनाके केंद्रको मन, प्राण और शरीरके साथ उसके (चेतनाके) तादात्म्यसे पीछे खींचकर अपनी सच्ची आत्माको खोज लेता है, इस आत्माकी शुद्ध, शांत एवं अक्षर ब्रह्मके साथ एकता उपलब्ध कर लेता है, अक्षर ब्रह्ममें उस तत्त्वको खोज लेता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्वसे युक्त होकर निर्व्यक्तिक सत्ताको प्राप्त कर लेता है, तो ज्ञानमार्गकी प्रथम प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। यही वह एकमात्र प्रक्रिया है जो ज्ञानयोगके परंपरागत लक्ष्यके लिये, लयके लिये, जागतिक सत्तासे पलायनके लिये, समस्त जगत्सत्ताके परे अवस्थित पूर्ण और अनिर्वचनीय परब्रह्ममें मुक्त होनेके लिये नितांत अनिवार्य है। इस चरम मुक्तिका अभिलाषी साधक अपने मार्गमें अन्य साक्षात्कारोंको भी प्राप्त कर सकता है, जगत्के प्रभुका, सब प्राणियोंमें अपने-आपको प्रकट करनेवाले 'पुरुष'का साक्षात्कार कर सकता है, विराट् चेतना प्राप्त कर सकता है, सब भूतोंके साथ अपनी एकताका ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर सकता है; परंतु ये उसकी यात्राकी क्रमिक अवस्थाएँ या परिस्थितियाँमात्र हैं, जैसे-जैसे उसकी आत्मा अपने अवर्णनीय लक्ष्यके अधिकाधिक निकट पहुँचती है वैसे-वैसे ये साक्षात्कार इसके विकासके परिणामोंके रूपमें प्रकट होते हैं। इन सबको अतिक्रम कर जाना ही उसका सर्वोच्च लक्ष्य है। दूसरी ओर, जब हम मुक्ति, नीरवता और शांतिको प्राप्त करके विराट् चेतनाके द्वारा सक्रिय तथा निश्चल-नीरव ब्रह्मको पुन: उपलब्ध कर लें और दिव्य मुक्तिमें सुरक्षित रूपसे निवास तथा विश्राम कर सकें तो समझना चाहिये कि हम इस मार्गकी दूसरी प्रक्रिया पूरी कर चुके हैं जिसके द्वारा मुक्त आत्मा आत्मज्ञानकी पूर्णतामें स्थिर रूपसे प्रतिष्ठित हो जाती है।

इस प्रकार हमारी आत्मा अपनी सत्ताके सभी व्यक्त स्तरोंपर सच्चिदानंदके एकत्वमें अपने-आपको प्राप्त कर लेती है। पूर्ण ज्ञानका विशेष लक्षण यह है कि वह सब वस्तुओंको सच्चिदानंदमें एकीभूत कर देता है, क्योंकि 'सत्' केवल अपने-आपमें ही एक नहीं है, बल्कि वह सभी जगह अपनी सब स्थितियोंमें तथा अपने प्रत्येक रूपमें भी एक है, जैसे अपने

एकत्वके अधिकतम आविर्भावमें वैसे ही बहुत्वके अधिकतम प्राकटचमें भी वह एक ही रहता है। परंपरागत ज्ञान जहाँ इस सत्यको सिद्धांत-रूपमें स्वीकार करता है वहाँ क्रियात्मक रूपमें वह फिर भी यों तर्क करता है मानों एकत्व सब जगह एकसमान न हो या सबमें समान रूपसे अनुभव न किया जा सकता हो। वह उसे अव्यक्त ब्रह्ममें तो पाता है, पर अभि-व्यक्तिमें उतना नहीं, सव्यक्तिककी अपेक्षा निर्व्यक्तिक ब्रह्ममें इसे अधिक शुद्ध रूपमें पाता है, निर्गुणमें इसे पूर्ण रूपमें पाता है, सगुणमें उतने पूर्ण रूपमें नहीं, शांत एवं निष्क्रिय ब्रह्ममें तो उसे संतोषजनक रूपमें उपस्थित पाता है, पर सक्रिय ब्रह्ममें उतने संतोषजनक रूपमें नहीं। अतएव, वह निरपेक्ष ब्रह्मके इन सब अन्य रूपोंको आरोहणकी क्रमशृंखलामें इनके विरोधी रूपोंके नीचे स्थान देता है और उन्हें अंतिम रूपसे त्याग देनेके लिये ऐसा आग्रह करता है मानों यह पूर्ण साक्षात्कारके लिये अनिवार्य ही हो। पूर्ण ज्ञान ऐसा कोई भेद नहीं करता; यह एकत्वके साक्षात्कारमें एक भिन्न प्रकारकी निरपेक्ष 'केवल' सत्ताको प्राप्त करता है। यह अव्यक्त और व्यक्तमें, निर्व्यक्तिक और सव्यक्तिकमें, निर्गुण और सगुणमें, विराट् नीरवताकी अनंत गहराई और विराट् कर्मकी अनंत विशालतामें एक-सी एकताको देखता है। यह पुरुष और प्रकृतिमें, दिव्य उपस्थितिमें तथा दिव्य शक्ति और ज्ञानके कार्योंमें, एकमेव पुरुषकी सनातन व्यक्ततामें तथा अनेक पुरुषोंकी सतत अभिव्यक्तिमें इसी निरपेक्ष एकताको देखता है। जो अपनी बहुविध एकताको अपने प्रति निरंतर जीवंत रखते हैं ऐसे सच्चिदानंदकी अविच्छेद्य एकतामें तथा जिनमें एकता गुप्त रूपमें ही सही, पर सतत जीवंत है तथा सतत ही प्राप्त करने योग्य है, ऐसे मन, प्राण और शरीरके दृश्यमान भेदोंमें यह इसी एकताका साक्षात्कार करता है। इसके लिये समस्त एकता एक ही दिव्य और सनातन सत्ताका गहन, शुद्ध एवं अनंत साक्षात्कार है और समस्त भेद उसी सत्ताका प्रचुर, समृद्ध एवं असीम साक्षात्कार।

अतएव, एकताका पूर्ण साक्षात्कार समग्र ज्ञान और पूर्णयोगका सार है। सच्चिदानंदको अपने-आपमें तथा अपनी समस्त अभिव्यक्तिमें एकरूप जानना ही ज्ञानका आधार है; एकताके इस साक्षात्कारको चेतनाकी स्थिति-शील और क्रियाशील दोनों अवस्थाओंके लिये वास्तविक बनाना और पृथक् व्यक्तित्वकी भावनाको मूल सत्ता तथा सब सत्ताओंके साथ एकताकी भावनामें डुबाकर एकत्वमय बन जाना ही ज्ञानयोगमें इस साक्षात्कारका क्रियान्वित रूप है; एकताकी इस भावनामें जीना, इसका चिंतन और अनुभव करना, इसके अनुसार संकल्प और कार्य करना ही व्यक्तिगत

सत्ता और व्यक्तिगत जीवनमें इसकी क्रियात्मक सिद्धि है। एकताका यह साक्षात्कार तथा भिन्नतामें एकताका यह अभ्यास ही योगका सर्वस्व है।

सत्ताकी किसी भी स्थिति या भूमिकामें क्यों न हो सच्चिदानंद अपने-आपमें एक हैं। अतएव, इसीको हमें चेतना या शक्ति या सत्ताकी किंवा ज्ञान या संकल्प या आनंदकी समस्त क्रियान्वितिका आधार बनाना होगा। हम देख ही चुके हैं कि हमें उन निरपेक्ष ब्रह्मकी चेतनामें निवास करना होगा जो विश्वातीत हैं और साथ ही विश्वके सब संबंधोंमें अभिव्यक्त भी हैं, निर्व्यक्तिक हैं और सब व्यक्तित्वोंके रूपमें प्रकट भी हैं, सब गुणोंसे परे हैं तथा अनंत गुणोंसे समृद्ध भी हैं, वे एक ऐसी नीरवता हैं जिसमेंसे सनातन शब्द सृजन करता है, एक ऐसी दिव्य स्थिरता एवं शांति हैं जो असीम हर्ष और असीम क्रियामें अपने-आपको धारण किये रहती है। हमें उनकी उपलब्धि इस रूपमें करनी होगी कि वे पुरुषके रूपमें सबके ज्ञाता और अनुमंता हैं, शासक और धारक हैं, भर्ता और अंतर्विधाता हैं और साथ ही प्रकृतिके रूपमें समस्त ज्ञान, संकल्प और रूप-रचनाको कार्यान्वित भी करते हैं। हमें उनका साक्षात्कार इस रूपमें करना होगा कि वे एकमेव सत्ता हैं, ऐसे सत् हैं जो अपनी सत्तामें समाहित हैं और साथ ही सब सत्ताओंमें प्रकट भी हो रहे हैं; वे एक ऐसी एकमेव चेतना हैं जो अपनी सत्ताकी एकतामें एकाग्र है, विश्व-प्रकृतिमें फैली हुई है तथा अगणित जीवोंमें अनेक केंद्रोंके रूपमें विद्यमान है; वे एक ऐसी एकमेव शक्ति हैं जो अपनी आत्म-समाहित चेतनाकी विश्रांतिमें स्थितिशील है और अपनी विस्तृत चेतनाकी सक्रियतामें गतिशील; वे एक ऐसा एकमेव आनंद हैं जो अपनी अलक्षण अनंततासे आनंदमय रूपमें सचेतन है तथा समस्त लक्षणों, शक्तियों और रूपोंको अपनी सत्ता जानता हुआ उनसे भी आनंदमय रूपमें सचेतन है; वे एक ही सर्जनशील ज्ञान एवं शासक संकल्प हैं जो अतिमानसिक है, तथा सब मनों, प्राणों और शरीरोंको उत्पन्न एवं निर्धारित करता है; वे एक ही विराट् मन हैं जो सब मनोमय सत्ताओंको अपने अंदर समाये है और उनकी सब मानसिक क्रियाओंका गठन करता है; वे एक ही विराट् प्राण हैं जो सभी सजीव सत्ताओंमें क्रियाशील है तथा उनकी प्राणिक क्रियाओंका जनक है; वे एक ही उपादान-तत्त्व हैं जो सब रूपों तथा पदार्थोंको एक ऐसे प्रत्यक्ष एवं इन्द्रियगोचर साँचेके रूपमें निर्मित करता है जिसमें मन और प्राण व्यक्त होते तथा कार्य करते हैं, जिस प्रकार कि एकमेव शुद्ध सत्ता वह आकाशतत्त्व है जिसमें समस्त चिन्मय-शक्ति और आनंद एक

होकर रहते हैं तथा अपने-आपको नाना रूपोंमें प्राप्त करते हैं। क्योंकि ये सच्चिदानंदकी व्यक्त सत्ताके सात मूलतत्त्व हैं।

सर्वांगीण ज्ञानयोगको इस अभिव्यक्तिके दोहरे स्वरूपको हृदयंगम करना होगा,—क्योंकि एक तो है सच्चिदानंदकी उच्चतर प्रकृति जिसमें वे हमें उपलब्ध होते हैं और दूसरी है मन, प्राण तथा शरीरकी निम्नतर प्रकृति जिसमें वे हमसे छुपे रहते हैं,—सर्वांगीण ज्ञानयोगको इन दोनोंको प्रदीप्त साक्षात्कारकी एकतामें समन्वित तथा एकीभूत करना होगा। हमें इनको इस प्रकार पृथक् नहीं रहने देना होगा कि हम एक तरहका दोहरा जीवन बिताते रहें जो अंतरमें या ऊर्ध्वमें तो आध्यात्मिक हो तथा हमारे सक्रिय और पार्थिव अस्तित्वमें मानसिक तथा भौतिक; हमें तो निम्नतर जीवनको उच्चतर सद्वस्तुकी ज्योति, शक्ति और आनंदके उस दृष्टिकोणसे पुनः देखना तथा उसे उसीके अनुसार ढालना होगा। हमें अनुभव करना होगा कि जड़तत्त्व आत्माका इन्द्रिय-रचित सांचा है, अर्थात् पार्थिव सत्ता और क्रियाकी उच्चतम अवस्थाओंमें सच्चिदानंदकी ज्योति, शक्ति और आनंदकी किसी प्रकारकी भी अभिव्यक्ति करनेके लिये एक साधन है। हमें यह देखना होगा कि प्राण अनंत दिव्य शक्तिके प्रवाहके लिये एक प्रणालिका है, और हमारे प्राण तथा दिव्य शक्तिके बीच हमारी इन्द्रियों और मनने दूरी और भेदकी जो दीवार खड़ी कर रखी है उसे तोड़ गिराना होगा, ताकि वह दिव्य शक्ति हमारी सभी प्राणिक क्रियाओंको अपने अधिकारमें लाकर उन्हें संचालित तथा परिवर्तित कर सके जिससे कि अंतमें हमारा प्राण रूपांतरित होकर आजकी तरह मन और शरीरको धारण करनेवाली सीमित प्राण-शक्ति रहना छोड़ दे और सच्चिदानंदकी आनंदपूर्ण चित्‌शक्तिकी प्रतिमा बन जाय। इसी प्रकार हमें अपने संवेदनात्मक और भावप्रधान मनको दिव्य प्रेम और विराट् आनंदकी लीलाका रूप दे देना होगा; और हमें अपने अंदर ज्ञानकी प्राप्ति तथा संकल्पके प्रयोगके लिये प्रयत्न करनेवाली बुद्धिको दिव्य ज्ञान-संकल्पकी ज्योतिसे परिपूरित करना होगा जिससे कि अंतमें वह इस उच्चतर और महान् क्रियाकी प्रतिमूर्तिमें रूपांतरित हो जाय।

यह रूपांतर तबतक पूर्ण या वस्तुतः साधित नहीं हो सकता जबतक हमारे अंदर सत्य-चेतन मन जागरित नहीं हो जाता, क्योंकि मनोमय प्राणीमें यह सत्य-चेतन मन ही अतिमानससे संपर्क रखता है तथा उसकी ज्ञानरश्मियोंको मानसिक रूपमें ग्रहण कर सकता है। जबतक आत्मा और मनको जोड़ने-वाली यह सत्यकी शक्ति पूरा रूपसे नहीं खुल जाती तबतक इसके

परस्पर-विरोधके कारण उच्चतर और निम्नतर ये दोनों प्रकृतियाँ एक-दूसरीसे पृथक् रहती हैं, और यद्यपि उच्चतर भूमिकासे निम्नतरको संदेश प्राप्त हो सकता है तथा इसपर उसका प्रभाव भी पड़ सकता है अथवा एक प्रकारकी ज्योतिर्मय या आनंदमग्न समाधिमें निम्नतर प्रकृति ऊपर उठकर उच्चतरके अधिकारमें आ सकती है तथापि इससे निम्नतर प्रकृतिका पूर्ण और सर्वांगीण रूपांतर नहीं हो सकता। जड़तत्त्व और इसके समस्त रूपोंमें विद्यमान आत्माको, समस्त भावावेग और संवेदनमें निहित दिव्य आनंदको, समस्त प्राणिक क्रियाओंके पीछे विद्यमान दिव्य शक्तिको हम भावप्रधान मनके द्वारा अपूर्ण रूपमें अनुभव कर सकते हैं, इंद्रियाश्रित मनके द्वारा इसका बोध प्राप्त कर सकते हैं अथवा बुद्धिप्रधान मनके द्वारा इनकी परिकल्पना एवं प्रत्यक्ष अवधारणा कर सकते हैं; परंतु निम्नतर सत्ता अपनी प्रकृतिको फिर भी बनाये रखेगी तथा ऊपरसे आनेवाले प्रभावकी क्रियाको सीमित तथा विभाजित और उसके स्वरूपको परिवर्तित कर देगी। जब यह प्रभाव उच्चतम, विस्तृततम तथा तीव्रतम रूपमें शक्तिशाली हो जायगा तब भी सक्रिय अवस्थामें यह अनियमित एवं अव्यवस्थित ही रहेगा और इसका पूर्ण अनुभव तो केवल स्थिरता और शांतिकी अवस्थामें ही होगा; जब यह हमसे दूर हट जायगा तब हम प्रतिक्रियाओं और तमोग्रस्त अवस्थाओंके वशमें हो जायँगे; साधारण जीवन तथा उसके बाह्य स्पर्शोंका दबाव पड़नेपर एवं इसके द्वंद्वोंसे आक्रांत होनेपर हम स्वभावतः ही इसे भूल जायँगे और केवल एकांतमें आत्मा एवं परमात्माके सान्निध्यमें, या फिर अत्युच्च ऊर्ध्वगमन एवं हर्षोल्लासके क्षणों या समयोंमें ही हम इसे पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकेंगे। कारण, हमारा मन जो एक परिसीमित क्षेत्रमें क्रिया करनेवाला तथा अंशों एवं खंडोंके द्वारा वस्तुओंको जाननेवाला सीमित यंत्र है, स्वाभाविक रूपसे अस्थिर, चंचल और विकारी है; अपने कार्यक्षेत्रको सीमित करके ही यह स्थिरता लाभ कर सकता है और निवृत्ति तथा विश्रांतिके द्वारा ही निश्चलता प्राप्त कर सकता है।

दूसरी ओर हमें सत्यके जो प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं वे अतिमानससे ही प्राप्त होते हैं। अतिमानसका अर्थ है ज्ञानपूर्ण संकल्प एवं फलोत्पादक ज्ञान। यह अनंततामेंसे वैश्व व्यवस्थाका सृजन करता है। वेदमें कहा गया है कि जब यह जागरित होकर सक्रिय हो उठता है तो द्युलोककी अबाध धाराको, ज्योति, शक्ति और आनंदके ऊर्ध्ववर्ती सागरसे सात सरिताओंके परिपूर्ण प्रवाहको, उतार लाता है। यह हमें सच्चिदानंदका साक्षात्कार करा देता है। यह हमारे मनके विकीर्ण तथा असंबद्ध

सुझावोंके पीछे विद्यमान सत्यको प्रकाशित कर देता है और उनमेंसे प्रत्येकको इस सत्यकी एकतामें अपने-अपने स्थानपर विन्यस्त कर देता है; इस प्रकार यह हमारे मनोंकी अपूर्ण ज्योतिको एक प्रकारकी पूर्ण ज्योतिमें रूपांतरित कर सकता है। यह हमारे मानसिक संकल्प, आवेशपूर्ण इच्छाओं और प्राणिक प्रयत्नोंके समस्त भ्रांत एवं अपूर्णतः व्यवस्थित संघर्षके पीछे विद्यमान संकल्प-शक्तिको प्रकाशित कर देता है और उनमेंसे प्रत्येकको इस ज्योतिर्मय संकल्प-शक्तिकी एकतामें अपने-अपने स्थानपर विन्यस्त कर देता है; इस प्रकार यह हमारे प्राण और मनके अर्द्ध-अंधकारमय संघर्षको व्यवस्थित शक्तिकी एक प्रकारकी समग्रतामें रूपांतरित कर सकता है। यह उस आनंदको हमारे सम्मुख प्रकाशित कर देता है जिसे हमारा प्रत्येक संवेदन एवं भावावेग अंधवत् खोज रहा है और जिसे पानेकी चेष्टा करते हुए हमारे सभी संवेदन एवं भावावेग अंशतः गृहीत संतोषकी या फिर असंतोष, दुःख, वदना या उदासीनताकी गतियोंका अनुभव करके उससे पीछे आ पड़ते हैं, और यह उनमेंसे प्रत्येकको पीछे अवस्थित विराट् आनंदकी एकतामें उसका अपना स्थान प्राप्त करा देता है; इस प्रकार यह हमारे द्वंद्वपूर्ण आवेशों और संवेदनोंके विरोधको शांत, पर गहन और शक्तिशाली प्रेम और आनंदकी एक प्रकारकी समग्रतामें रूपांतरित कर सकता है। और, फिर, विराट् कर्मका साक्षात्कार कराकर यह हमें सत्ताका वह सत्य दिखा देता है जिसमेंसे इसकी प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती है और जिसे लक्ष्य करके प्रत्येक क्रिया प्रगति करती है, यह उस कार्य-साधक शक्तिको हमारे सामने प्रकट कर देता है जिसे प्रत्येक क्रिया अपने संग वहन करती है, साथ ही यह सत्ताके उस आनंदके भी दर्शन करा देता है जिसके लिये तथा जिससे प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती है, यह सबका संबंध सच्चिदानंदकी विराट् सत्ता, चेतना, शक्ति और आनंदके साथ जोड़ देता है। इस प्रकार यह हमारे लिये सत्ताके सभी विरोधों, द्वैतभावों और विपर्ययोंको सुसंगत करके उनके अंदर हमें एकमेव तथा अनंतके दर्शन करा देता है। इस अति-मानसिक ज्योतिमें उन्नीत होकर सुख, दुःख और उदासीनता—ये सभी एक ही स्वयम्भू आनंदके उल्लासमें परिवर्तित होने लगते हैं, क्षमता और दुर्बलता तथा सफलता और विफलता एक ही स्वयं-समर्थ शक्ति और संकल्पके रूपोंमें, सत्य और अनृत तथा ज्ञान और अज्ञान एक ही अनंत आत्म-संवित् तथा विश्वज्ञानकी ज्योतिमें, सत्ताका विकास और ह्रास, बंधन और उससे मुक्ति—ये सब अपने-आपको चरितार्थ करनेवाली एक ही चिन्मय सत्ताकी तरंगोंके रूपमें परिवर्तित होने लगते हैं। हमारा समस्त जीवन

तथा हमारी समस्त मूल सत्ता सच्चिदानंदकी प्राप्ति-रूप हो जाती है।

इस सर्वांगीण ज्ञानकी पद्धतिसे हम ज्ञान, कर्म और भक्तिके तीन मार्गोंके अपने नियत लक्ष्योंकी एकतापर पहुँच जाते हैं। ज्ञानका लक्ष्य है वास्तविक स्वयंभू सत्ताका साक्षात्कार, कर्मोंका लक्ष्य है उस दिव्य चित्तपस्‌का साक्षात्कार जो सब कर्मोंपर गुप्त रूपसे शासन करता है, भक्तिका लक्ष्य है उस आनंदका साक्षात्कार जो प्रेमीके रूपमें सब प्राणियों, और सर्वभूतोंकी सत्ताका रसास्वादन करता है,—इन लक्ष्योंको हम सत्, चित्तपस् और आनंदका नाम दे सकते हैं। अतएव, त्रिमार्गमेंसे प्रत्येकका लक्ष्य सच्चिदानंदको उसकी त्रिविध दिव्य प्रकृतिके किसी एक या दूसरे पक्षके द्वारा प्राप्त करना है। ज्ञानके द्वारा हम सदा ही अपनी सच्ची, सनातन, अक्षर सत्ताको प्राप्त करते हैं, उस स्वयंभू सत्‌को प्राप्त करते हैं जिसे विश्वका प्रत्येक 'अहम्' अस्पष्ट रूपसे प्रकट करता है, और तब हम 'सोऽहम्' अर्थात् 'मैं वह हूँ'के महत् साक्षात्कारमें द्वैतभावका उच्छेद कर देते हैं जब कि हम अन्य सब भूतोंके साथ अपना एकत्व भी प्राप्त कर लेते हैं।

पर इसके साथ ही पूर्ण ज्ञान हमें यह चेतना प्रदान करता है कि यह अनंत सत्ता एक चिन्मय शक्ति है जो लोकोंका सृजन तथा परिचालन करती है तथा इनके कार्योंमें अपने-आपको व्यक्त करती है; यह अपनी विराट् चिच्छक्तिसे युक्त स्वयंभू ब्रह्मको हमारे सम्मुख प्रभु किंवा ईश्वरके रूपमें प्रकाशित करता है। यह हमें अपने संकल्पको उनके संकल्पके साथ एक करने, सब भूतोंकी शक्तियोंमें कार्य करते हुए उनके संकल्पका साक्षात्कार करने तथा दूसरोंकी इन शक्तियोंकी चरितार्थताको अपनी विराट् आत्म-चरितार्थताका अंग अनुभव करनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। इस प्रकार इससे कलह, द्वैतभाव और विरोधकी वास्तविकता दूर हो जाती है और केवल इनकी प्रतीतिभर शेष रह जाती है। अतएव, इस ज्ञानसे हम दिव्य कर्म करनेमें समर्थ बन जाते हैं, एक ऐसा कर्म जो हमारी प्रकृतिके लिये वैयक्तिक होता है, पर हमारी सत्ताके लिये निर्व्यक्तिक, क्योंकि यह उस तत्‌से उद्भूत होता है जो हमारे अहंसे परे है और उसकी वैश्व अनुभूतिके द्वारा ही क्रिया करता है। हम अपने कर्मोंमें समताके साथ प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् कर्मों और उनके परिणामोंसे बद्ध हुए बिना, परात्पर और विराट् प्रभुके साथ एकस्वर होकर, अपने कर्मोंके पृथक् दायित्वसे मुक्त होकर और अतएव उनकी प्रतिक्रियाओंसे प्रभावित हुए बिना उनमें अग्रसर होते हैं। हम देख ही आये हैं कि यह कर्ममार्गकी परिपूर्णता है,

यही उक्त प्रकारसे ज्ञानमार्गका आनुषंगिक फल एवं परिणाम वन जाती है। और फिर, पूर्ण ज्ञान स्वयंभू ब्रह्मको हमारे सामने आनंदस्वरूप ईश्वरके रूपमें प्रकाशित करता है। जिस प्रकार वह आनंदस्वरूप ईश्वर सच्चिदानंदके रूपमें जगत्को तथा सब प्राणियोंको व्यक्त करता हुआ उनके अभीप्सात्मक कार्यों और उनकी ज्ञानकी खोजोंको स्वीकार करता है उसी प्रकार वह उनकी भक्तिको भी स्वीकार करता है, उनकी ओर करुणापूर्वक झुकता है और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करके सबको अपनी दिव्य सत्ताके आनंदके भीतर खींच ले जाता है। उसे अपना दिव्य आत्मा जानकर हम आलिंगनके दिव्यानंदमें उसके साथ एक हो जाते हैं जिस प्रकार प्रेमी और प्रियतम आलिंगनके आनंदमें एक-दूसरेके साथ एक हो जाते हैं। साथ ही उसे सर्वभूतोंमें जानकर, सर्वत्र प्रियतमकी महिमाको, उसके सौन्दर्य और आनंदको निहारकर हम अपनी आत्माओंको विराट् आनंदके आवेश तथा विराट् प्रेमके विशाल भाव और हर्षमें रूपांतरित कर देते हैं। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह सब भक्तिमार्गकी पराकाष्ठा है, ज्ञानमार्गमें भी यह एक आनुषंगिक फल एवं परिणामके रूपमें स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार पूर्ण ज्ञानके द्वारा हम सभी वस्तुओंको एकमेव ब्रह्ममें एकीभूत कर देते हैं। हम विश्व-संगीतके सभी स्वरोंको स्वीकार करते हैं, चाहे वे सुरीले हों या वेसुरे, अपनी अर्थ-ध्वनिमें स्पष्ट हों या अस्पष्ट, तीव्र हों या मंद, श्रुत हों या अश्रुत; स्वीकार करते ही हम उन सबको सच्चिदानंदकी अखंड समस्वरतामें रूपांतरित और सुसमन्वित पाते हैं। यह ज्ञानशक्ति और आनंदको भी प्राप्त कराता है। "जो सब जगह एकत्व ही देखता है उसे भला मोह क्योंकर होगा, शोक कहांसे होगा?"

सत्रहवाँ अध्याय

पुरुष और प्रकृति

समग्र रूपमें पूर्ण ज्ञानका फल यही है; इसका कार्य हमारी सत्ताके विभिन्न सूत्रोंको एकत्र करके विराट् एकतामें पिरो देना है। यदि स्वयं भगवान्‌की भाँति हमें भी अपनी नयी दिव्यीकृत चेतनामें इस जगत्‌को पूर्ण रूपसे अधिकृत करना हो तो हमें प्रत्येक वस्तुके निरपेक्ष स्वरूपको भी जानना होगा, पहले तो अपने-आपमें उसके रूपको और फिर उसकी पूरक सभी वस्तुओंके साथ उसके एकत्वकी दृष्टिसे उसके रूपको जानना होगा; क्योंकि भगवान्‌ने इस जगत्‌में अपनी सत्ताकी परिकल्पना इसी रूपमें की है और इसी रूपमें वे इसका साक्षात्कार भी करते हैं। वस्तुओंको खंडों किंवा अपूर्ण तत्वोंके रूपमें देखना निम्नतर विश्लेषणात्मक ज्ञान है। निरपेक्ष ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान हैं; उन्हें सर्वत्र ही देखना तथा उपलब्ध करना होगा। प्रत्येक सांत व्यक्ति वा पदार्थ अनंत है और उसे उसकी आभ्यंतरिक अनंतता तथा बाह्य सांत आकृति इन दोनों रूपोंमें जानना एवं अनुभव करना होगा। परंतु जगत्‌को ऐसे रूपमें जाननेके लिये, ऐसे रूपमें देखने और अनुभव करनेके लिये यह बौद्धिक विचार या कल्पना करना ही काफी नहीं है कि यह ऐसा ही है; बल्कि इसके लिये आवश्यकता है एक प्रकारकी दिव्य अंतर्दृष्टि, दिव्य इन्द्रिय तथा दिव्य उन्मादनाकी, अपनी चेतनाके विषयोंके साथ अपने एकत्वके अनुभवकी। इस अनुभवमें परात्पर ही नहीं, बल्कि यहाँका सब कुछ भी, यह सब जगत् किंवा समष्टि रूपमें 'सर्व' ही नहीं, बल्कि 'सर्व'मेंकी प्रत्येक वस्तु हमारे लिये हमारा आत्मा, ईश्वर, निरपेक्ष एवं अनंत ब्रह्म, सच्चिदानंद बन जाती है। भगवान्‌की सृष्टिमें पूर्ण आनंदका, मन, हृदय और इच्छाशक्तिके पूर्ण संतोषका, चेतनाकी पूर्ण मुक्तिका रहस्य यही है। यही परमोच्च अनुभव है जिसे प्राप्त करनेके लिये कला और काव्य, आंतरिक और बाह्य ज्ञानके समस्त नानाविध प्रयत्न तथा पदार्थोंको प्राप्त करने और भोगनेकी समस्त कामनाएँ और चेष्टाएँ प्रकट या अप्रकट रूपमें प्रवृत्त हो रही हैं; वस्तुओंके रूपों, गुणों और धर्मोंको समझनेका उन कला आदिका प्रयत्न तो एक प्रारंभिक चेष्टामात्र है। यह चेष्टा उन्हें गभीरतम तृप्ति नहीं प्रदान कर सकती जबतक कि

इन रूपों और गुणों आदिको पूर्ण और निरपेक्ष रूपमें समझकर वे उस अनंत सद्वस्तुकी अनुभूति नहीं प्राप्त कर लेतीं जिसके ये रूप और गुण बाह्य प्रतीक हैं। तर्कशील मन और साधारण इन्द्रियानुभवको यह सब सहज ही एक काव्यमय कल्पना या रहस्यमय भ्रममात्र प्रतीत हो सकता है; परंतु इससे जो पूर्ण तृप्ति तथा प्रकाशकी अनुभूति प्राप्त होती है तथा जो केवल इसीसे प्राप्त हो सकती है वह वस्तुतः इस बातका प्रमाण है कि यह एक अधिक महान् सत्य है; इसके द्वारा हम एक उच्चतर चेतना तथा दिव्यतर बोधशक्तिसे एक किरण प्राप्त करते हैं, यदि हम अपनी आभ्यंतरिक सत्ताके रूपांतरके लिये अनुमति भर दे दें तो निश्चय ही अंतमें उसका रूपांतर इस उच्चतर चेतना एवं दिव्यतर बोधशक्तिमें ही होगा।

हम देख ही चुके हैं कि यह बात भागवत सत्ताके उच्चतम तत्त्वोंपर लागू होती है। साधारणतया, विवेचनाशील मन हमें बताता है कि जो कुछ अभिव्यक्तिमात्रसे परे है वही निरपेक्ष है, केवल निराकार आत्मा ही अनंत सत्ता है, केवल देशकालातीत, अक्षर, अचल आत्मा ही, अपनी निष्क्रिय अवस्थामें पूर्ण रूपसे वास्तविक है; और यदि हम अपने प्रयासमें इस विचारका अनुसरण करें तथा इसीके द्वारा नियंत्रित हों तो हम इस आभ्यंतरिक अनुभवपर ही पहुँचेंगे तथा शेष सब कुछ हमें मिथ्या या केवल सापेक्ष सत्य प्रतीत होगा। परंतु यदि हम इससे अधिक विशाल विचारको लेकर चलें तो एक अधिक पूर्ण सत्य एवं अधिक व्यापक अनुभव हमारे सामने खुल जायँगे। हम देखेंगे कि कालातीत और देशातीत सत्ताकी अक्षर स्थितिमें एक निरपेक्ष एवं अनंत सत्ता ही विद्यमान है, पर साथ ही अपनी शक्तियों, गुणों और आत्म-रचनाओंके प्रवाहको आनंदपूर्वक धारण करनेवाली भागवत सत्ताकी चिन्मय शक्ति एवं उसके सक्रिय आनंदमें भी एक निरपेक्ष एवं अनंत सत्ता ही विलसित हो रही है,—और निःसंदेह अपने इस रूपमें भी यह वही निरपेक्ष एवं अनंत सत्ता है, इतनी अधिक वही है कि हम दिव्य कालातीत स्थिरता और शांतिका रसास्वादन करनेके साथ-साथ कर्मके दिव्य, काल-सम्राट् आनंदका भी समान रूपसे, स्वतंत्र तथा अनंत भावमें बिना किसी बंधनके या अशांति और कष्ट-क्लेशमें पतित हुए बिना उपभोग कर सकते हैं। इसी प्रकार हम इस कर्मके सभी मूल तत्त्वोंके संबंधमें भी यही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, वे मूलतत्त्व अक्षर सत्तामें तो उसके अपने ही अंदर स्थित हैं और एक अर्थमें बीजवत् अन्तर्निहित तथा गुप्त हैं, विराट् सत्तामें वे व्यक्त रूपमें विद्यमान हैं तथा अपने अनंत गुणों और क्षमताओंको चरितार्थ करते हैं।

इन तत्त्वोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण है पुरुष और प्रकृतिका द्वैत जो अंतमें अपने-आपको अद्वैतमें परिणत कर देता है। इसके विषयमें हम कर्मयोगके प्रसंगमें उल्लेख कर चुके हैं, पर यह ज्ञानयोगके लिये भी समान रूपसे महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय दर्शनोंने यह भेद अत्यंत स्पष्ट रूपमें किया था; परंतु यह अद्वैतमें प्रकट होनेवाले व्यावहारिक द्वैतके सनातन तथ्यपर आधारित है; यह द्वैत ही जगत्‌की अभिव्यक्तिका आधार है। जगत्‌के विषयमें हमारा जो दृष्टिकोण होता है उसके अनुसार हम इसे भिन्न-भिन्न नाम देते हैं। वेदांतियोंने इसे ब्रह्म और मायाका नाम दिया, अपने पूर्वाग्रहोंके अनुसार ब्रह्मसे उन्हें अभिप्रेत थी अक्षर सत्ता और मायासे ब्रह्मकी वह शक्ति जिसके द्वारा वह अपने ऊपर विश्वरूपी भ्रमका अध्यारोप करता है, अथवा ब्रह्मसे उन्हें अभिप्रेत थी भागवत सत्ता और मायासे चिन्मय पुरुषकी वह प्रकृति एवं चिच्छक्ति जिसके द्वारा भगवान् अपने-आपको आत्मिक रूपों तथा पदार्थोंके रूपोंमें प्रकट करते हैं। कुछ अन्य दार्शनिकोंने इस द्वैतको ईश्वर और उसकी शक्ति—विश्वशक्ति—के नामसे अभिहित किया। सांख्य मतवालोंके विश्लेषणात्मक दर्शनने पुरुष और प्रकृतिके ऐसे नित्य द्वैतकी स्थापना की जिसमें एकत्व स्थापित होनेकी कोई भी संभावना नहीं, उसने तो इनके एकत्व और पृथक्त्वके संबंधोंको ही स्वीकार किया जिनके द्वारा 'पुरुष'के लिये प्रकृतिका विराट् व्यापार आरंभ होता है, चलता रहता या बंद हो जाता है, क्योंकि पुरुष निष्क्रिय चेतन सत्ता है,—यह आत्मा है जो अपने-आपमें एकरस तथा सदा ही निर्विकार रहता है,—प्रकृति विश्व-शक्तिका क्रियाशील रूप है जो अपनी गतिसे विश्व-प्रपंचका सृजन और धारण करता है और विश्रांतिमें लीन होनेपर इस प्रपंचका लय कर देता है। इन दार्शनिक भेदोंको एक ओर रखकर, हम उस मूल मनोवैज्ञानिक अनुभवपर जा पहुँचते हैं जिसे आधार बनाकर ही वास्तवमें सभी दर्शन अग्रसर होते हैं; वह अनुभव यह है कि सजीव प्राणियोंकी, यदि समस्त विश्वकी ही नहीं तो कम-से-कम मानव-प्राणियोंकी, सत्तामें दो तत्त्व विद्यमान हैं—प्रकृति और पुरुष, सत्ताके दो रूप।

यह द्वैत स्वयं-सिद्ध है। किसी भी दर्शनशास्त्रके बिना, केवल अनुभवके बलपर हम सभी जो कुछ देख सकते हैं वह यही है, भले हम इसकी परिभाषा करनेका कष्ट न भी उठायें। यद्यपि अत्यंत ऐकांतिक जड़वाद आत्मासे इन्कार करता है अथवा अपने जिस भौतिक मस्तिष्कको हम चेतना या मन कहते हैं, पर वास्तवमें जो ज्ञानतंतुओं तथा नाड़ियोंमें होनेवाले आघात-प्रतिघातोंकी एक प्रकारकी जटिल क्रियासे अधिक कुछ नहीं है, उसके

किसी अच्छी तरह समझमें न आये हुए दृग्विषयपर कार्य करनेवाली प्राकृतिक क्रियाओंके न्यूनाधिक मिथ्या परिणामको ही वह आत्माका स्वरूप मानता है, परंतु वह भी इस द्वैतके क्रियात्मक तथ्यसे छुटकारा नहीं पा सकता। इस बातका कुछ महत्त्व नहीं कि यह द्वैत कैसे उत्पन्न हुआ; पर इस द्वैतका केवल अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि यह हमारे संपूर्ण जीवनका निर्धारण भी करता है, हम मानव-प्राणियोंमें संकल्पशक्ति और बुद्धि होनेके साथ-साथ समस्त सुख-दु:खकी कारणभूत एक अंत:सत्ता भी विद्यमान है। ऐसे प्राणियोंके रूपमें हमारे लिये एकमात्र यह द्वैतका तथ्य ही वास्तविक महत्त्व रखता है। जीवनकी संपूर्ण समस्या इस एक प्रश्नका रूप ले लेती है,— "ये जो पुरुष और प्रकृति यहाँ एक-दूसरेके आमने-सामने उपस्थित हैं इनका हमें क्या करना होगा, एक ओर तो है यह प्रकृति, यह व्यक्तिगत और विराट् क्रिया, जो पुरुष (आत्मा)पर अपनी छाप लगाने, इसे अपने अधिकार तथा नियंत्रणमें लाने और इसका रूप निर्धारण करनेका यत्न करती है, और दूसरी ओर है यह पुरुष जो अनुभव करता है कि किसी रहस्यमय रूपमें वह स्वतंत्र है, अपना नियंता है, अपने स्वरूप और कर्मके लिये उत्तरदायी है और अतएव जो अपनी तथा विश्वकी प्रकृतिका सामना करने तथा उसपर अपना नियंत्रण एवं अधिकार स्थापित करने एवं उसका उपभोग करनेका यत्न करता है, अथवा जो उसका त्याग करने एवं उससे दूर भागनेका यत्न भी कर सकता है?" इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमें ज्ञान प्राप्त करना होगा,—यह ज्ञान प्राप्त करना होगा कि पुरुष (आत्मा) क्या कर सकता है, वह अपने साथ क्या कर सकता है और साथ ही यह भी कि वह प्रकृति और जगत्के साथ क्या कर सकता है। मानवका संपूर्ण दर्शन, धर्म और विज्ञान वास्तवमें उस यथार्थ तथ्य-सामग्रीको प्राप्त करनेके यत्नके सिवा और कुछ नहीं जिसके आधारपर इस प्रश्नका उत्तर देना तथा अपने जीवनकी समस्याको अपने ज्ञानके अनुसार यथासंभव संतोषजनक रूपमें हल करना संभव होगा।

धर्म और दर्शन इस सत्यकी स्थापना करते हैं कि हमारी आत्मिक सत्ताकी दो भूमिकाएँ हैं, एक तो निम्न, विक्षुब्ध और अधीनस्थ और दूसरी उच्च, महान्, अक्षुब्ध और प्रभुत्वपूर्ण, एक तो मनमें स्पंदन करनेवाली और दूसरी आत्मामें प्रशांत। जब हम इस सत्यका,—आधुनिक विचारने तो इसका प्रतिवाद करनेकी चेष्टा की है—साक्षात् अनुभव करते हैं तो अपनी निम्न एवं क्षुब्ध प्रकृति और सत्ताके साथ अपने वर्तमान संघर्षसे तथा इनकी दासतासे पूर्णत: मुक्त होनेकी आशा हमारे अंदर उत्पन्न हो जाती है।

परंतु केवल युक्तिकी ही नहीं, वल्कि एक पूर्णतः संतोषजनक तथा सफलतापूर्ण समाधानकी भी आशा तव उत्पन्न होती है जव हमें उस सत्यका अनुभव होता है जिसे कुछ धर्म और दर्शन दृढ़तापूर्वक स्थापित करते हैं, पर कुछ अन्य अस्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि पुरुष और प्रकृतिके द्वैतात्मक अद्वैतमें भी एक तो निम्नतर एवं साधारण मानवीय भूमिका है और दूसरी उच्चतर एवं दिव्य जिसमें द्वैतकी अवस्थाएँ पलट जाती हैं और पुरुष जो कुछ बननेके लिये आज केवल संघर्ष तथा अभीप्सा कर रहा है वही वन जाता है, अर्थात् वह अपनी प्रकृतिका स्वामी तथा स्वराट् हो जाता है और भगवान्के साथ एकत्व लाभ करके विश्व-प्रकृतिका भी स्वामी बन जाता है। इन संभावनाओंके संबंधमें हमारा जैसा विचार होगा उसके अनुसार ही हम इनमेंसे किसी समाधानको अपने लिये निश्चित करके कार्य-रूपमें परिणत करनेका यत्न करेंगे।

मनके बंधनमें ग्रस्त होनेके कारण, मानसिक विचार, संवेदन, भावावेश, जगत्के प्राणिक और भौतिक संपर्कोंको ग्रहण करना तथा इनके प्रति यांत्रिक प्रतिक्रिया करना—इन सव साधारण दृग्विषयोंसे अभिभूत होनेके कारण पुरुष (आत्मा) प्रकृतिके वशमें है। इसकी संकल्पशक्ति और बुद्धि भी इसकी मानसिक प्रकृतिसे निर्धारित होती हैं, यहाँतक कि अधिक वड़े अंशमें तो ये इसके चारों ओरकी मानसिक प्रकृतिसे निर्धारित होती हैं जो व्यक्तिगत मनपर सूक्ष्म तथा प्रकट रूपमें क्रिया करती है और उसे अपने वशमें कर लेती है; इस प्रकार अपने अनुभव तथा कर्मको नियमित, संयमित तथा निर्धारित करनेके इसके प्रयत्नमें भ्रमका अंश सदा ही रहता है, क्योंकि जव यह सोचता है कि मैं काम कर रहा हूँ तव वास्तवमें प्रकृति ही कार्य कर रही होती है तथा इसके समस्त विचार, संकल्प और कर्मका निर्धारण कर रही होती है। 'मैं हूँ, मैं स्वयं सत् हूँ, मैं शरीर या प्राण नहीं, वल्कि कोई और सत्ता हूँ जो विराट् पुरुषके अनुभवको यदि निर्धारित नहीं करती तो कम-से-कम ग्रहण और स्वीकार अवश्य करती है' इस प्रकारका सतत ज्ञान यदि इसे न होता तो अंतमें यह ऐसी कल्पना करनेको वाध्य होता कि प्रकृति ही सव कुछ है और आत्मा निरा भ्रम। आधुनिक जड़वाद इसी सिद्धांतकी स्थापना करता है तथा शून्यवादी वौद्धमत भी इसीपर पहुँचा था; सांख्योंने इस जटिल समस्याको अनुभव करके इसका हल यह कहकर किया कि पुरुप असलमें प्रकृतिके निर्धारणोंको अपने अंदर प्रति-विंवित भर करता है और वह स्वयं किसी भी चीजका निर्धारण नहीं करता, वह ईश नहीं है, पर इन निर्धारणोंको प्रतिविंवित करनेसे इन्कार

करके शाश्वत अचलता और शांतिमें पुनः लय प्राप्त कर सकता है। कुछ अन्य समाधान भी हैं जो इसी व्यावहारिक सिद्धांतपर पहुँचते हैं, पर पहुँचते हैं दूसरे अर्थात् आध्यात्मिक छोरसे, वे प्रकृतिको मायाके रूपमें प्रस्थापित करते हैं अथवा पुरुष और प्रकृति दोनोंको अनित्य मानते हैं और इनसे परेकी उस भूमिकाकी ओर हमें अंगुलि-निर्देश करते हैं जिसमें इनके द्वैतका अस्तित्व ही नहीं है; इस भूमिकाकी प्राप्तिके लिये वे हमें या तो किसी नित्य एवं अनिर्वचनीय वस्तुमें इन दोनोंका लय करनेको कहते हैं या कम-से-कम क्रियाशील तत्त्वका पूर्णतया वर्जन करनेको। यद्यपि ये समाधान मानवजातिकी वृहत्तर आशा तथा वद्धमूल प्रेरणा एवं अभीप्साको तृप्त नहीं करते, तथापि जहाँतक इनकी गति है वहाँतक ये सही हैं, क्योंकि ये स्वयं निरपेक्ष सत्तापर या आत्माके पृथक् निरपेक्ष स्वरूपपर पहुँचते हैं, यद्यपि ये निरपेक्ष सत्ताकी उन अनेक आनंदपूर्ण अनंतताओंको त्याग देते हैं जो मनुष्यस्थित सनातन जिज्ञासुके सामने तव खुलती हैं जव पुरुष अपने दिव्य जीवनमें प्रकृतिका सच्चा स्वामी वन जाता है।

परम आत्मामें उठकर पुरुष प्रकृतिके अधीन नहीं रहता; वह इस मानसिक क्रिया-प्रवृत्तिसे ऊपर उठ जाता है। वह अनासक्ति तथा पृथक्ताके भावमें इससे ऊपर हो सकता है, उदासीन अर्थात् ऊपर अवस्थित एवं तटस्थ हो सकता है, या फिर अपनी सत्ताके प्रभेदरहित, घनीभूत आध्यात्मिक अनुभवकी तन्मयताजनक शांति या आनंदके द्वारा आकृष्ट एवं उसमें लीन हो सकता है; तव हमें दिव्य और सर्वोच्च प्रभुत्वके द्वारा विजय नहीं प्राप्त करनी होती, वल्कि प्रकृति और जगज्जीवनको पूर्ण रूपसे त्यागकर परे चले जाना होता है। परंतु परमात्मा किंवा भगवान् प्रकृतिसे ऊपर ही नहीं हैं; वे प्रकृति और जगत्के स्वामी भी हैं; अपनी आध्यात्मिक स्थितिमें उठती हुई आत्माको, भगवान्के साथ एकत्वके द्वारा कम-से-कम ऐसे ही स्वामित्वके योग्य वनना होगा। उसे अपनी प्रकृतिको नियंत्रित करनेमें समर्थ वनना होगा पर केवल शांतिकी अवस्थामें नहीं अथवा इसे निष्क्रिय होनेके लिये वाध्य करके ही नहीं, वल्कि इसकी लीला और क्रियापर प्रभुत्वपूर्ण नियंत्रण रखते हुए ऐसा वनना होगा। निम्न भूमिकामें ऐसा करना संभव नहीं, क्योंकि हमारी आत्मा मनके द्वारा कार्य करती है और मन विश्व-प्रकृतिका संतोषपूर्वक अनुसरण करते हुए या इसके अधीन रहकर संघर्ष करते हुए व्यक्तिगत और आंशिक रूपमें ही कार्य कर सकता है। इस विश्व-प्रकृतिके द्वारा ही भागवत ज्ञान और संकल्प जगत्में चरितार्थ होते हैं। परंतु परम आत्मा ज्ञान और संकल्पका उद्गम एवं कारण

होनेसे इनपर प्रभुत्व रखता है, वह इनके वशमें नहीं है; अतएव, जितना-जितना हमारी आत्मा अपनी दिव्य या आध्यात्मिक सत्ताको प्राप्त करती जाती है, उतना-उतना यह अपनी प्रकृतिकी क्रियाओंके ऊपर नियंत्रण भी प्राप्त करती जाती है। प्राचीन भाषामें कहें तो यह स्वराट् अर्थात् स्वतंत्र तथा अपने जीवन और अस्तित्वके साम्राज्यकी शासिका बन जाती है, पर साथ ही अपने परिपार्श्व तथा अपने जगत्पर भी इसका नियंत्रण बढ़ता जाता है। ऐसा नियंत्रण यह अपने-आपको विराट् बनाकर ही प्राप्त कर सकती है; क्योंकि जगत्पर अपनी क्रियामें इसे दिव्य एवं विराट् संकल्पको ही प्रकट करना होगा। पहले इसे अपनी चेतनाको विस्तृत करना होगा तथा मनकी भाँति क्षुद्र विभक्त व्यक्तित्वके भौतिक, प्राणिक, संवेदनमूलक, भाविक, बौद्धिक दृष्टिकोणसे सीमित होनेके स्थानपर सारे विश्वको अपने अंदर देखना होगा; इसे अपने बौद्धिक विचारों, कामनाओं तथा प्रयासों, अभिरुचियों, लक्ष्यों, संकल्पों और आवेगोंसे चिपटे रहनेके स्थानपर विश्व-सत्यों, विश्व-शक्तियों, विश्व-प्रवृत्तियों तथा विश्व-प्रयोजनोंको अपने मानना होगा; जहाँतक ये विचार, कामनाएँ तथा प्रयास आदि बने रहें वहाँतक इन्हें विराट् विचारों आदिके साथ समस्वर करना होगा। तब इसे अपने ज्ञान और संकल्पको इनके ठेठ उद्गममें ही दिव्य ज्ञान और दिव्य संकल्पके प्रति अर्पण कर देना होगा और इस प्रकार अर्पणके द्वारा लयको प्राप्त करना होगा, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत ज्योतिको दिव्य ज्योतिमें तथा अपनी व्यक्तिगत प्रेरणाको दिव्य प्रेरणामें लीन कर देना होगा। पहले तो अनंतके साथ एकराग एवं भगवान्के साथ समस्वर होना और उसके बाद अनंतके साथ युक्त होना एवं भगवान्में उपनीत हो जाना ही इसके लिये पूर्ण सामर्थ्य और प्रभुत्व प्राप्त करनेकी शर्त्त है, और ठीक यही आध्यात्मिक जीवन एवं आध्यात्मिक अस्तित्वका वास्तविक स्वरूप है।

गीतामें पुरुष और प्रकृतिके बीच जो भेद किया गया है वह हमें पुरुषकी प्रकृतिके प्रति अनेकविध संभवनीय वृत्तियोंका सूत्र पकड़ा देता है। जब पुरुष पूर्ण स्वातंत्र्य और प्रभुत्वकी प्राप्तिके लिये यत्न करता है तो वह प्रकृतिके प्रति इन वृत्तियोंको अपना सकता है। गीतामें कहा गया है कि पुरुष साक्षी, भर्त्ता, अनुमन्ता, ज्ञाता, ईश्वर और भोक्ता है; प्रकृति (पुरुषके आदेशको) कार्यान्वित करती है, यह क्रियाशील तत्त्व है और पुरुषकी वृत्तिके अनुरूप ही इसकी क्रिया होती है। पुरुष चाहे तो शुद्ध साक्षीकी स्थिति धारण कर सकता है; यह प्रकृतिके कार्यको एक ऐसी वस्तुके रूपमें देख सकता है जिससे यह जुदा होकर स्थित है; यह

उसके कार्यका अवलोकन करता है, पर उसमें स्वयं भाग नहीं लेता। सब प्रवृत्तियोंको शांत करनेकी इस क्षमताका महत्त्व हम देख ही चुके हैं; यह पीछे हटनेकी उस क्रियाका आधार है जिसके द्वारा हम प्रत्येक वस्तुके,—शरीर, प्राण, मानसिक क्रिया, विचार, संवेदन, भावावेशके,—संबंधमें यह कह सकते हैं कि "यह प्रकृति है जो प्राण, मन और शरीरमें कार्य कर रही है, यह स्वयं मैं नहीं हूँ, न ही यह मेरी चीज है," और इस प्रकार हम इन चीजोंसे अपनी आत्माको अलग करके इनकी स्तब्धता प्राप्त कर सकते हैं। अतएव, यह त्याग या कम-से-कम अ-योगदानकी वृत्ति हो सकती है जो तामसिक, राजसिक या सात्त्विक रूप धारण कर सकती है, अर्थात् इसमें या तो यह भाव पैदा हो सकता है कि प्रकृतिका कार्य जबतक चलता रहे तबतक इसके अधीन रहकर निष्क्रिय रूपमें इसे सहा जाय अथवा इसमें उसके कार्यसे विरक्ति, घृणा या पराङ्मुखताका भाव उत्पन्न हो सकता है या फिर पुरुषकी पृथक्ताका प्रकाशपूर्ण बोध और एकाकीपन तथा विश्रामकी शांति एवं आनन्द उद्भूत हो सकता है। पर साथ ही यह वृत्ति नाटकके प्रेक्षकके-से सम और निर्व्यक्तिक आनंदसे युक्त भी हो सकती है, प्रेक्षककी भाँति पुरुष नाटक देखनेमें आनंदका उपभोग करते हुए भी अनासक्त रहता है और किसी भी क्षण अपने ही आनंदके साथ वहाँसे उठकर चल देनेको तैयार रहता है। साक्षीकी वृत्ति अपने उच्चतम रूपमें अनासक्तिका तथा जगज्जीवनकी घटनाओंके प्रभावसे मुक्तिका चरम रूप होती है।

शुद्ध साक्षीके रूपमें पुरुष प्रकृतिके भर्त्ता या धारकका कार्य करनेसे इन्कार कर देता है। भर्त्ता कोई और ही है, ईश्वर या शक्ति या माया, पर पुरुष नहीं। पुरुष तो अपनी साक्षि-चेतनापर प्रकृतिके कार्यका प्रतिबिम्ब भर पड़ने देता है, पर उसे धारण करने या जारी रखनेकी किसी प्रकारकी जिम्मेदारी स्वीकार नहीं करता। वह यह नहीं कहता, "यह सब मेरे अंदर हो रहा है और मैं ही इसे धारण कर रहा हूँ, यह मेरी सत्ताका कार्य है," वरन् अधिक-से-अधिक यही कहता है कि "यह मेरे ऊपर आरोपित किया गया है, पर असलमें मुझसे बाहरकी चीज है।" जबतक सत्तामें एक स्पष्ट एवं वास्तविक द्वैत न हो, यह इस विषयका संपूर्ण सत्य नहीं हो सकता; पुरुष भर्त्ता भी है, वह अपनी सत्तामें उस शक्तिको धारण करता है जो विश्वरूपी दृश्यको प्रदर्शित करती है और जो इसकी शक्तियोंका संचालन करती है। जब पुरुष भर्त्ताके इस कार्यको स्वीकार करता है, तब भी वह इसे निष्क्रिय रूपमें तथा आसक्तिके बिना कर सकता है, यह अनुभव करते हुए कि वह शक्ति प्रदान करता है, पर इसका नियंत्रण एवं

निर्धारण नहीं करता। नियंत्रण करनेवाला कोई और ही है, ईश्वर या शक्ति या मायाका निज स्वरूप; पुरुष उदासीन भावमें केवल भरण करता है और यह कार्य वह तबतक करता है जबतक कि उसे करना पड़ता है, शायद तबतक जबतक उसकी अतीत अनुमतिका बल और शक्तिके कार्यमें उसकी रुचि बनी रहती है किंवा समाप्त नहीं हो जाती। परंतु यदि पुरुष भर्त्ताकी वृत्तिको पूर्णरूपेण स्वीकार कर ले तो समझना चाहिये कि सक्रिय ब्रह्मके साथ तथा उसकी विराट् सत्ताके आनंदके साथ तादात्म्यकी ओर उसने एक महत्त्वपूर्ण पग आगे बढ़ा लिया है, क्योंकि वह सक्रिय अनुमंता बन गया है।

साक्षीकी वृत्तिमें भी एक प्रकारकी अनुमति होती है, पर वह निष्क्रिय तथा जड़ होती है और उसमें किसी प्रकारकी निरपेक्षता नहीं होती। परंतु यदि वह भरण करनेके लिये पूर्ण रूपसे सहमत हो जाय तो समझो कि अनुमतिने सक्रिय रूप धारण कर लिया है, चाहे पुरुष प्रकृतिकी सब शक्तियोंको प्रतिबिंबित तथा धारण करनेके लिये और इस प्रकार उनकी क्रियाको बनाये रखनेके लिये सहमत होनेसे अधिक कुछ भी न करे, अर्थात् शक्तियोंके कार्यका निर्धारण और चुनाव न करे एवं यह माने कि स्वयं ईश्वर या शक्ति या कोई ज्ञानमय संकल्पशक्ति ही चुनाव और निर्धारण करती है, और पुरुष तो केवल साक्षी, भर्त्ता तथा इस प्रकार अनुमतिका दाता, अनुमन्ता, है न कि ज्ञान और संकल्पका धारण तथा नियमन करनेवाला, ज्ञाता, ईश्वर। परंतु इसके सामने जो कार्य प्रस्तुत किये जायँ उनमेंसे यदि यह सामान्यतः ही कुछको पसंद करे तथा दूसरोंका त्याग करे तो समझो कि यह उनका निर्धारण करने लगा है; जो आपेक्षिक दृष्टिसे एक निष्क्रिय अनुमन्ता था वह अब पूर्ण रूपसे सक्रिय अनुमन्ता बन गया है और एक सक्रिय अनुमंता बननेकी राहपर है।

पुरुष नियंता तब बनता है जब वह प्रकृतिके ज्ञाता, ईश्वर और भोक्ताके रूपमें अपना पूरा कार्य करना स्वीकार कर लेता है। ज्ञाताके रूपमें पुरुष कर्म और उसका निर्धारण करनेवाली शक्तिको जानता है, यह सत्ताके उन मूल्योंको देखता है जो विश्वमें अपने-आपको चरितार्थ कर रहे हैं, यह नियतिके रहस्यमें प्रवेश पा लेता है। परंतु स्वयं शक्ति ज्ञानके द्वारा निर्धारित होती है जो उसका उद्गम है तथा उसके मूल्योंका और उनकी क्रियान्वितियोंका मूलस्रोत तथा निर्धारक है। अतएव, जैसे-जैसे पुरुष फिरसे ज्ञाता बनता जाता है, वैसे-वैसे वह कर्मका नियंता भी बनता जाता है। पर वह सक्रिय भोक्ता (उपभोग करनेवाला) बने बिना नियंता भी

नहीं बन सकता। निम्नतर सत्तामें उपभोग दो प्रकारका होता है, धनात्मक और ऋणात्मक, जो ज्ञानतंतुओंमें बहनेवाली प्राणरूपी विद्युत्के प्रवाहमें हर्ष और शोकका रूप धारण कर लेता है; परंतु उच्चतर सत्तामें यह आत्म-अभिव्यक्तिके दिव्य आनंदका सक्रिय रूपसे समान उपभोग होता है। इसमें मुक्तावस्थाका लोप नहीं होता, न अज्ञानपूर्ण आसक्तिमें पतन ही होता है। आत्मामें मुक्त हुए मनुष्यको यह ज्ञान होता है कि भगवान् प्रकृतिके कर्मके प्रभु हैं, माया उनकी ज्ञानमय संकल्पशक्ति है जो सब चीजोंको निर्धारित तथा साधित करती है, शक्ति इस दोहरी दिव्य मायाका संकल्पात्मक रूप है, इस दिव्य माया-शक्तिमें ज्ञान सदा उपस्थित रहता है तथा अमोघ होता है; मुक्त पुरुष यह भी जानता है कि वह, व्यक्तिगत रूपमें भी, दिव्य सत्ताका एक केंद्र है,—गीताके शब्दोंमें, ईश्वरका अंश है,—उतने अंशमें वह प्रकृतिके उस कर्मको नियंत्रित- करता है जिसका वह अवलोकन तथा भरण करता है, अनुमोदन एवं उपभोग करता है, तथा जिसे वह जानता है एवं ज्ञानकी निर्धारक शक्तिके द्वारा नियंत्रित करता है; और जब वह अपने-आपको विश्वमय बना लेता है, तो उसका ज्ञान केवल दिव्य ज्ञानको प्रतिबिंबित करता है, उसका संकल्प केवल दिव्य संकल्पको कार्यान्वित करता है, वह अज्ञानपूर्ण व्यक्तिगत सुखका नहीं, बल्कि केवल दिव्य आनंदका उपभोग करता है। इस प्रकार पुरुष अपनी मुक्तावस्थाको अपने अधिकारमें सुरक्षित रखता है, विराट् पुरुषके एक प्रतिनिधिके रूपमें विराट् अस्तित्वका उपभोग एवं आनंद प्राप्त करता हुआ भी सीमित व्यक्तित्वके त्यागकी अवस्थाको सुरक्षित रखता है। इस उच्चतर भूमिकामें वह पुरुष और प्रकृतिके सच्चे संबंधोंको पूर्ण रूपसे प्राप्त किये होता है।

पुरुष और प्रकृति अपने अद्वैतात्मक और द्वैतात्मक स्वरूपमें सच्चिदानंदकी सत्तासे ही उद्भूत होते हैं। आत्म-सचेतन सत्ता सत्का मूल स्वरूप है; वह सत् या पुरुष है : आत्म-सचेतन सत्ताकी शक्ति ही प्रकृति है, भले वह अपने अंदर एकाग्र हो या अपनी चेतना और बलके, अपने ज्ञान और संकल्प, चित् और तपस्, चित् और उसकी शक्तिके कार्योंमें क्रिया कर रही हो। सत्ताका आनंद इस चिन्मय सत्ता और इसकी चिन्मय शक्तिके एकत्वका सनातन सत्य है, भले वह चिन्मय शक्ति अपने ही अंदर लीन हो या फिर अपने दो रूपोंके अविच्छेद्य द्वैतमें प्रकटीभूत हो; वे दो रूप हैं—लोकोंको प्रकट करना और उनका अवलोकन करना, उनके अंदर कार्य करना तथा उस कार्यको धारण करना, कार्योंको संपन्न करना और उनके लिये अनुमति देना जिसके बिना प्रकृतिकी शक्ति कार्य कर ही नहीं सकती, ज्ञान और

संकल्पको क्रियान्वित तथा नियंत्रित करना और ज्ञान-शक्ति तथा संकल्प-शक्तिके निर्धारणको जानना तथा नियंत्रित करना, उपभोगकी सामग्री जुटाना और उपभोग करना,—पुरुष प्रकृतिका धर्ता, द्रष्टा, ज्ञाता और ईश्वर है और प्रकृति सत्ताको प्रकट करती है, संकल्पको क्रियान्वित करती, आत्म-ज्ञानको तृप्त करती और पुरुषको सत्ताका आनंद प्राप्त करनेमें सहायता देती है। यहाँ हम पुरुष और प्रकृतिका सर्वोच्च और विराट् संबंध देखते हैं जो सत्ताके वास्तविक स्वरूपपर आधारित है। पुरुषका अपनी सत्तामें निरपेक्ष आनंद लेना और इस आनंदके आधारपर उसका प्रकृतिमें आनंद लेना—यही उक्त संबंधकी दिव्य परिपूर्णता है।

अठारहवाँ अध्याय

पुरुष और उसकी मुक्ति

अब हमें जरा रुककर इस विषयपर विचार करना होगा कि पुरुष और प्रकृतिके संबंधोंको इस प्रकार स्वीकार करनेसे हम किन सिद्धांतोंके साथ स्वभावत: ही बँध जाते हैं; क्योंकि इसका अर्थ यह है कि जिस योगका हम अनुसरण कर रहे हैं उसका लक्ष्य मानवजातिके साधारण लक्ष्योंमेंसे कोई भी नहीं है। यह न तो हमारे पार्थिव जीवनको ज्यों-का-त्यों स्वीकार करता है, न ही किसी प्रकारकी नैतिक पूर्णता या धार्मिक भावोन्मादनासे परे अवस्थित किसी स्वर्गसे या हमारी सत्ताके किसी ऐसे विलयसे संतुष्ट हो सकता है जिसके द्वारा हम जीवनके दु:ख-कष्टका संतोष-जनक रीतिसे खातमा कर डालें। हमारा लक्ष्य बिलकुल और ही हो जाता है; वह है किसी निरी अहंता एवं पार्थिव सत्तामें नहीं, बल्कि भगवान् एवं अनंत ब्रह्ममें, ईश्वरमें निवास करना, पर साथ ही प्रकृतिसे, अपने मनुष्य-भाइयोंसे, संसार तथा लौकिक जीवनसे अलग भी नहीं रहना, जिस प्रकार भगवान् भी हमसे तथा जगत्से अलग नहीं रहते। वे जगत् और प्रकृति तथा इन सब भूतोंके साथ संबंध भी रखते हैं, पर रखते हैं परिपूर्ण तथा अविच्छेद्य शक्ति, स्वातंत्र्य तथा आत्म-ज्ञानके साथ। हमारी मुक्ति तथा पूर्णताका अर्थ है अज्ञान, बंधन और दुर्बलताको पार करना और जगत् तथा प्रकृतिके साथ संबंध रखते हुए दिव्य शक्ति, स्वातंत्र्य और आत्मज्ञानके साथ भगवान्में निवास करना। क्योंकि, आत्माका जगत्-सत्ताके साथ उच्च-से-उच्च संबंध पुरुषका प्रकृतिके ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करना ही है। प्रभुत्व प्राप्त कर लेनेपर वह पहलेकी तरह अज्ञ तथा अपनी प्रकृतिके अधीन नहीं रहता, बल्कि अपनी व्यक्त सत्ताको जानता तथा पार कर जाता है, उसका उपभोग तथा नियमन करता है और मुझे अपने-आपको किस रूपमें अभिव्यक्त करना है इसका निर्धारण वह विशाल दृष्टिसे तथा स्वतंत्रतापूर्वक करता है।

आत्माकी अपने विश्वगत जन्म और विकासमें प्रकृतिके साथ संपूर्ण लीला बस यही है कि एकमेव सत्ता अपने ही द्वैतके विविध रूपोंमें अपने-आपको खोज रही है। सर्वत्र एक ही स्वयंभू तथा असीम सच्चिदानंद

विद्यमान है, एक ऐसी एकता विद्यमान है जो अपने ही विविध रूपोंकी चरम अनंततासे भंग नहीं हो सकती,—यही सत्ताका मूल सत्य है जिसे हमारा ज्ञान खोज रहा है और जिसे अंतमें हमारी आभ्यंतरिक सत्ता प्राप्त करती है। इसीसे अन्य सब सत्य उद्भूत होते हैं, इसीपर वे आधारित हैं, यही प्रतिक्षण उनके अस्तित्वको संभव बनाता है और इसीमें वे अंतमें अपने-आपको तथा एक-दूसरेको जान सकते हैं, इसीमें इनके विरोध दूर होते हैं तथा ये अपनी समस्वरता और सार्थकता प्राप्त करते हैं। जगत्‌के सभी संबंध, यहाँतक कि इसके बड़े-से-बड़े तथा अत्यंत आघातजनक प्रत्यक्ष विरोध भी, किसी सनातन वस्तुके अपनी ही विराट् सत्तामें अपने ही साथ संबंध हैं; किसी भी जगह या किसी भी क्षण वे ऐसे असंबद्ध जीवोंके संघर्ष नहीं हैं जो अकस्मात् या विश्व-सत्ताकी किसी यांत्रिक आवश्यकताके कारण परस्पर आ मिलते हैं। अतएव एकत्वके इस सनातन तथ्यको फिरसे प्राप्त करना ही हमारे आत्मज्ञानका मूल कार्य है; इसमें निवास करना ही अपनी सत्ताकी आंतरिक प्राप्तिका तथा जगत्‌के साथ हमारे यथोचित और आदर्श संबंधोंका प्रभावशाली सिद्धांत होना चाहिये। इसी कारण हमें इस बातपर सर्वप्रथम और प्रधान रूपमें बल देना पड़ा है कि एकत्व हमारे ज्ञानयोगका लक्ष्य है तथा एक प्रकारसे संपूर्ण लक्ष्य है।

परंतु यह एकत्व सर्वत्र तथा प्रत्येक स्तरपर द्वैतके कार्यकारी या व्यावहारिक सत्यके द्वारा ही अपने-आपको चरितार्थ करता है। सनातन ब्रह्म, एकमेव, अनंत, चिन्मय सत्ता अर्थात् पुरुष है, कोई निश्चेतन एवं यांत्रिक वस्तु नहीं; जब उसकी चिन्मय सत्ताकी शक्ति एकत्वकी साम्यावस्थामें स्थित होती है तब भी वह नित्य ही इस (शक्ति)के आनंदमें अवस्थित रहता है; पर जब उसकी चिन्मय सत्ताकी शक्ति विश्वमें नानाविध सर्जन-क्षम स्वानुभवके साथ लीलामें रत होती है तब भी वह इसके उतने ही नित्य आनंदमें अवस्थित रहता है। जैसे हम स्वयं इस तथ्यसे सचेतन हैं या हो सकते हैं कि हम सदा ही कोई कालातीत, नामातीत तथा नित्य वस्तु हैं जिसे हम अपनी आत्मा कहते हैं और जो हमारी सत्ताके सभी अंगोंकी एकताको गठित करती है, और फिर भी इसके साथ-साथ हम जो कुछ करते और सोचते हैं, जो संकल्प और सृजन करते हैं तथा जो कुछ बनते हैं उस सबका नानाविध अनुभव भी हम प्राप्त करते हैं, जगत्‌में इस पुरुषकी आत्म-सचेतनता भी ठीक ऐसी ही है। अंतर इतना ही है कि हम, इस समय सीमित और अहंबद्ध मनोमय व्यक्ति होनेके कारण, यह अनुभव साधारणतया अज्ञानावस्थामें प्राप्त करते हैं और हम आत्मामें

निवास नहीं करते, बल्कि पीछेकी ओर मुड़कर समय-समयपर इसके ऊपर केवल दृष्टिपात करते हैं या कभी-कभी बाह्य सत्तासे पीछे हटकर इसमें प्रवेश करते हैं, जब कि सनातनको अपने अनंत आत्मज्ञानमें यह नित्य ही प्राप्त है, वह नित्य ही यही आत्मा है और आत्म-सत्ताकी पूर्णतासे ही इस समस्त आत्मानुभवपर दृष्टिपात करता है। मनके कारावासमें बंद हम लोगोंकी तरह वह अपनी सत्ताके संबंधमें यों नहीं सोचता कि यह या तो आत्मानुभवोंका एक प्रकारका अनिश्चित परिणाम एवं कुल योग है या फिर उनका एक महान् विरोध। सत्ता और अभिव्यक्तिका प्राचीन दार्शनिक विरोध सनातन आत्मज्ञानमें संभव नहीं है।

चिन्मय सत्ताकी सक्रिय शक्तिको जो अपने आत्मानुभवकी शक्तियोंमें, अपने ज्ञान, संकल्प, आत्मानंद, आत्म-रूपायणकी शक्तियोंमें, इनके सब शक्तिसंबंधी अद्भुत विभेदों, विपर्ययों, स्थिति-रक्षणों और परिवर्तनों, यहाँतक कि विकारोंमें भी अपने-आपको चरितार्थ करती है, हम विश्वकी तथा अपनी प्रकृति कहते हैं। परंतु भेद-वैविध्यकी इस शक्तिके पीछे इसी शक्तिका एक सनातन साम्य है जो सम एकत्वपर प्रतिष्ठित है। उस एकत्वने जैसे इन भेद-वैविध्योंको जन्म दिया है वैसे ही यह निष्पक्ष भावसे इन्हें धारण तथा नियंत्रित भी करता है और सत्स्वरूप 'पुरुष'ने अपनी चेतनामें अपने आत्मानंदका जो भी लक्ष्य परिकल्पित किया है तथा जिसे अपनी चेतनाके संकल्प या बलके द्वारा निर्धारित किया है उसीकी ओर यह एकत्व इन्हें परिचालित भी करता है। यही है दिव्य प्रकृति जिसके साथ हमें अपने आत्मज्ञानके योगके द्वारा पुनः एकता प्राप्त करनी होगी। हमें पुरुष किंवा सच्चिदानंद बनना होगा जो अपनी प्रकृतिके ऊपर दिव्य व्यक्तिगत प्रभुत्वमें आनंद लेते हैं, हमें अब पहलेकी तरह अपनी अहंपूर्ण प्रकृतिके अधीन मनोमय प्राणी नहीं रहना होगा। क्योंकि, पुरुष वा सच्चिदानंद ही वास्तविक मनुष्य है, व्यक्तिकी परमोच्च और समग्र सत्ता है, और अहं तो हमारी सत्ताकी एक निम्नतर एवं आंशिक अभिव्यक्तिमात्र है जिसके द्वारा एक विशेष प्रकारका सीमित प्रारंभिक अनुभव प्राप्त किया जा सकता है और कुछ समयके लिये उस अनुभवका रस भी लिया जाता है। परंतु निम्नतर सत्तामें इस प्रकार रस लेना ही हमारी संपूर्ण शक्यता नहीं है; यह ऐसा एकमात्र या सर्वोपरि अनुभव नहीं है जिसके लिये इस जड़ जगत्में हम मानव-प्राणियोंके रूपमें जीवन धारण करते हैं।

हमारी यह व्यक्तिगत सत्ता ऐसी सत्ता है जिसके द्वारा स्व-चेतन मन अज्ञानमें ग्रस्त हो सकता है, पर साथ ही यह ऐसी सत्ता भी है जिसके

द्वारा हम आध्यात्मिक सत्तामें मुक्त हो सकते हैं तथा दिव्य अमरताका उपभोग कर सकते हैं। इस अमरत्वकी प्राप्ति अपनी परात्पर या विराट् सत्तामें विद्यमान सनातन पुरुषको नहीं, वरन् व्यक्तिको होती है; व्यक्ति ही आत्मज्ञानकी ओर ऊपर उठता है, उसमें ही यह धारित होता है और उसीके द्वारा इसे प्रभावशाली रूप प्रदान किया जाता है। समस्त जीवन, वह आध्यात्मिक हो या मानसिक या भौतिक, आत्माकी अपनी प्रकृतिकी संभावनाओंके साथ एक प्रकारकी क्रीड़ा या लीला है; क्योंकि इस लीलाके बिना किसी प्रकारकी भी आत्माभिव्यक्ति नहीं हो सकती, न कोई आपेक्षिक आत्मानुभव ही प्राप्त हो सकता है। तब, सबको अपने विशालतर आत्माके रूपमें अनुभव कर लेनेपर भी और ईश्वर तथा अन्य भूतोंके साथ अपनी एकता प्राप्त कर लेनेपर भी यह लीला चालू रह सकती है और चालू रहनी ही चाहिये; हाँ, यदि हम समस्त आत्माभिव्यक्तिका तथा समाधिगत और तन्मयतापूर्ण आत्मानुभवके सिवा समस्त अनुभवका त्याग करना चाहें तो बात दूसरी है। उस दशामें भी इस समाधि या इस मुक्त लीलाका साक्षात्कार व्यक्तिको ही होता है; समाधिका मतलब है इस मनोमय व्यक्तिका एकताके अनन्य अनुभवमें मग्न होना, मुक्त लीलाका मतलब है एकत्वके मुक्त साक्षात्कार और आनंदके लिये उसका अपने मनको आध्यात्मिक सत्तामें उठा ले जाना। क्योंकि, दिव्य सत्ताका स्वभाव है सदा ही अपने एकत्वको धारण करना, पर साथ ही अनंत अनुभवोंमें, अनेक दृष्टिकोणोंसे, अनेक स्तरोंपर, अपनी सत्ताकी अनेक चेतन शक्तियों या उसके स्वरूपोंके द्वारा, अपनी सीमित बौद्धिक भाषामें कहें तो, एक ही चिन्मय पुरुषके व्यक्तित्वोंके द्वारा भी इसे धारण करना। हममेंसे प्रत्येक मनुष्य इन व्यक्तित्वोंमेंसे एक है। भगवान्से दूर हटकर सीमित अहं या सीमित मनमें स्थित होना अपने-आपसे दूर स्थित होना है, अपने सच्चे व्यक्तित्वको प्राप्त न करना है, वास्तविक नहीं, बल्कि दृश्यमान असत्य व्यक्ति बनना है; यह हमारी अज्ञानकी शक्ति है। अपनी परमोच्च और समग्र सत्ताको, अपने सच्चे व्यक्तित्वको प्राप्त करनेका अर्थ है भागवत सत्तामें उन्नीत हो जाना और अपनी आध्यात्मिक, अनंत एवं विराट् चेतनाको उस चेतनाके रूपमें जान लेना जिसमें हम अब निवास करते हैं; यह हमारी आत्म-ज्ञानकी शक्ति है।

सनातन अभिव्यक्तिकी इन तीनों शक्तियों, ईश्वर, प्रकृति और जीव, के सनातन अद्वैतको और एक-दूसरेके लिये इनकी अंतरीय आवश्यकताको जानकर हम स्वय सत्ताका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तथा जगत्के बाह्य

रूपोंमेंसे जो रूप हमारी अज्ञानावस्थामें हमें चक्करमें डालते हैं उन सबका ज्ञान भी हमें प्राप्त हो जाता है। हमारा आत्मज्ञान इनमेंसे किसी भी चीजको नष्ट नहीं करता, वह तो केवल हमारे अज्ञानको तथा इसकी उन विशिष्ट अवस्थाओंको नष्ट करता है जिन्होंने हमें बंधनमें डालकर हमारी प्रकृतिके अहंमय निर्धारणोंका दास बना दिया था। जब हम अपने सच्चे स्वरूपको पुनः प्राप्त कर लेते हैं तो अहं हमसे झड़कर अलग हो जाता है; उसका स्थान हमारी परमोच्च और समग्र सत्ता, हमारा सच्चा व्यक्तित्व ले लेता है। इस परमोच्च सत्ताके रूपमें यह व्यक्तित्व अपने-आपको सब भूतोंके साथ एकाकार करता है और समस्त जगत् तथा प्रकृतिको अपनी अनंत सत्ताके अंदर देखता है। इसमें हमारा अभिप्राय इतना ही है कि अपने पृथक् अस्तित्वकी हमारी भावना, असीम, अविभक्त, अनंत सत्ताकी चेतनामें लुप्त हो जाती है जिसमें हम अपने-आपको पूर्ववत् नाम और रूपके साथ तथा अपने वर्तमान जन्म और विकासके विशेष मानसिक एवं भौतिक निर्धारणोंके साथ आबद्ध अनुभव नहीं करते और विश्वके किसी भी पदार्थ या किसी भी व्यक्तिसे पहलेकी तरह पृथक् नहीं रहते। इसी अनुभवको प्राचीन मनीषी जन्मका अभाव (अपुनर्भव) अथवा जन्मका मूलोच्छेद या निर्वाण कहते थे। इस अनुभवके होनेपर भी हम अपने व्यक्तिगत जन्म और व्यक्त अस्तित्वके द्वारा जीवन यापन तथा कर्म करना जारी रखते हैं, पर एक भिन्न प्रकारके ज्ञान तथा बिलकुल और ही तरहके अनुभवके साथ; यह जगत् भी तब बराबर चलता ही रहता है, पर हम इसे अपनी सत्ताके अंदर देखते हैं, किसी ऐसी वस्तुके रूपमें नहीं देखते जो हमारी सत्तासे बाहर एवं हमसे भिन्न हो। अपनी वास्तविक एवं समग्र सत्ताकी इस नयी चेतनामें स्थायी रूपसे निवास कर सकनेका अर्थ है मुक्ति प्राप्त कर लेना तथा अमरत्वका उपभोग करना।

यहाँ यह जटिल विचार सामने आता है कि अमरता मृत्युके बाद अन्य लोकोंमें किंवा सत्ताकी उच्चतर भूमिकाओंमें ही प्राप्त हो सकती है अथवा मोक्षको मानसिक या शारीरिक जीवनकी समस्त संभावनाका उच्छेद कर डालना चाहिये और व्यक्तिगत सत्ताका सदाके लिये निर्व्यक्तिक अनंत सत्तामें विलय कर देना चाहिये। इन विचारोंके बलका स्रोत यह है कि आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा इन्हें एक प्रकारका समर्थन प्राप्त होता है तथा जब अंतरात्मा मन और जड़ देहके प्रबल बंधनोंको तोड़ती है तो वह इनकी एक प्रकारकी आवश्यकता या एक ऊर्ध्वमुख आकर्षण अनुभव करती है। यह अनुभव होता है कि ये बंधन समस्त पार्थिव जीवन या समस्त मानसिक

अस्तित्वके साथ अविच्छेद्य रूपसे जुड़े हुए हैं। मृत्यु जड़ जगत्का राजा है, क्योंकि जीवन यहाँ मृत्युके अधीन रहकर ही, पुनः-पुनः मरणके द्वारा ही, अस्तित्व रखता प्रतीत होता है; अमरताको यहाँ कठिनाईसे ही अधिगत करना होता है और वह अपने स्वरूपसे ही समस्त मृत्युका और अतएव जड़ जगत्में होनेवाले समस्त जन्मका त्याग प्रतीत होती है। अमरताका क्षेत्र किसी अभौतिक स्तरमें, किन्हीं ऊर्ध्व लोकोंमें होना चाहिये जहाँ शरीर या तो अस्तित्व ही नहीं रखता या वह भिन्न प्रकारका होता है और आत्माका एक रूप या फिर एक गौण संयोगमात्र होता है। दूसरी ओर, जो लोग अमरतासे भी परे जाना चाहते हैं वे यह अनुभव करते हैं कि सभी स्तर एवं स्वर्गलोक सांत सत्ताकी अवस्थाएँ हैं और अनंत आत्मा इन सब चीजोंसे शून्य है। वे निर्व्यक्तिक और अनंत सत्तामें लय प्राप्त करनेकी आवश्यकतासे अभिभूत होते हैं और निर्व्यक्तिक सत्ताके आनंदको आत्माकी अभिव्यक्तिमें मिलनेवाले आनंदके साथ किसी प्रकार समरस करनेमें असमर्थताके वशीभूत होते हैं। ऐसे दर्शनोंका सृजन किया गया है जो निमज्जन और विलयकी इस आवश्यकताको बुद्धिके निकट प्रमाणित करते हैं; पर वस्तुतः महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक वस्तु है परात्परकी वह पुकार एवं अंतरात्माकी माँग, इस प्रसंगमें वह एक प्रकारकी निर्व्यक्तिक सत्ता या असत्तामें अंतरात्माका आनंद है। क्योंकि, निर्णय करनेवाली वस्तु है,—पुरुषका निर्धारक आनंद, वह संबंध जिसे वह अपनी प्रकृतिके साथ स्थापित करना चाहता है, वह अनुभव जिसे वह अपने व्यक्तिगत आत्मानुभवके विकासमें अपनी प्रकृतिकी समस्त विविध संभावनाओंके बीच एक विशेष दिशाका अनुसरण करनेके परिणामस्वरूप प्राप्त करता है। हमारी बुद्धिके किये हुए सप्रमाण विवेचन तो इस अनुभवका एक विवरण-मात्र हैं जो हम तर्कबुद्धिके समक्ष प्रस्तुत करते हैं; ये ऐसी युक्तियाँ हैं जिनके द्वारा हम मनकी सहायता करते हैं ताकि वह जिस दिशाकी ओर आत्मा अग्रसर हो रही है उसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर सके।

हमारी जागतिक सत्ताका कारण अहं नहीं है, जैसा कि हमारा वर्तमान अनुभव हमें माननेके लिये प्रेरित करता है; क्योंकि अहं तो जगज्जीवनकी हमारी प्रणालीका एक परिणाम एवं संयोगमात्र है। यह एक संबंध है जिसे अनेक जीवोंका रूप धारण करनेवाले पुरुषने व्यष्टिभावापन्न मनों और शरीरोंके बीच स्थापित किया है, यह आत्म-रक्षण और पारस्परिक वर्जन तथा आक्रमणका संबंध है जिसका उद्देश्य यह है कि इस जगत्में वस्तुओंकी सब प्रकारकी पारस्परिक निर्भरताके बीच एक स्वतंत्र मानसिक

और भौतिक अनुभव प्राप्त किया जा सके। परंतु इन स्तरोंपर निरपेक्ष स्वतंत्रता प्राप्त हो ही नहीं सकती; अतएव, समस्त मानसिक और भौतिक अभिव्यक्तिका परित्याग करनेवाली निर्व्यक्तिक चेतना ही इस अन्य-वर्जक गतिका एकमात्र चरम परिणाम हो सकती है; केवल इस तरीकेसे ही पूर्ण स्वतंत्र आत्मानुभव प्राप्त किया जा सकता है। तब हमारी आत्मा अपने ही अंदर निरपेक्ष एवं स्वतंत्र रूपमें अस्तित्व रखती प्रतीत होती है; भारतीय शब्द 'स्वाधीन'का जो अर्थ है, अर्थात् केवल अपने ऊपर निर्भर होना, ईश्वर एवं अन्य प्राणियोंपर नहीं—इसी अर्थमें वह स्वाधीन होती है। अतएव इस अनुभवमें ईश्वर, व्यक्तिगत आत्मा तथा अन्य प्राणी—इन सबको अज्ञानकृत भेद समझते हुए इनसे इन्कार किया जाता है, इन्हें त्याग दिया जाता है, यह कार्य अहं ही करता है जो अपनी न्यूनताको स्वीकार करके अपने-आप तथा अपने विरोधी तत्त्व—दोनोंका उन्मूलन कर देता है, ताकि स्वतंत्र आत्मानुभव प्राप्त करनेकी उसकी अपनी मूल सहजवृत्ति पूरी हो सके; कारण, वह देखता है कि ईश्वर तथा अन्य प्राणियोंके साथ संबंधोंके द्वारा इसे पूरा करनेका उसका प्रयत्न आद्योपांत भ्रम, मिथ्यात्व और निष्फलताके अभिशापसे ग्रस्त रहता है, वह उन्हें स्वीकार करना छोड़ देता है, क्योंकि उन्हें स्वीकार करनेसे वह उनके अधीन हो जाता है; वह अपने-आपको स्थायी मानना भी छोड़ देता है, क्योंकि अहंकी स्थायिताका अर्थ है उन वस्तुओंको अर्थात् विश्व तथा अन्य प्राणियोंको स्वीकार करना जिन्हें वह अपनेसे भिन्न मानकर बहिष्कृत करनेका यत्न करता है। बौद्धोंके आत्म-निर्वाणका स्वरूप है—उन सब वस्तुओंका पूर्ण बहिष्कार जिन्हें मनोमय पुरुष अनुभव करता है; अद्वैतवादीका अपनी निरपेक्ष सत्तामें आत्म-लय भी ठीक यही लक्ष्य है जिसकी कल्पना एक भिन्न प्रकारसे की गयी है; इन दोनों लक्ष्योंके द्वारा आत्मा इस तथ्यको चरम रूपमें प्रस्थापित करती है कि वह प्रकृतिसे निरपेक्ष एवं ऐकांतिक रूपमें स्वतंत्र है।

मोक्ष-प्राप्तिके जिस छोटे-से रास्तेको हम प्रकृतिसे पीछे हटनेकी क्रिया कहकर वर्णित कर आये हैं उसके द्वारा हमें सर्वप्रथम जो अनुभव प्राप्त होता है वह उपर्युक्त एकपक्षीय प्रवृत्तिको प्रश्रय देता है। क्योंकि उसका अर्थ है अहंको छिन्न-भिन्न करना और हमारा मन जैसा आज है उसके अभ्यासोंका परित्याग करना; कारण, हमारा मन जड़तत्त्व और स्थूल इंद्रियोंके अधीन है और वस्तुओंकी कल्पना केवल रूपों, पदार्थों, बाह्य दृग्विषयोंके रूपमें तथा उन रूपोंके साथ जोड़े जानेवाले नामोंके रूपमें ही

करता है। दूसरे प्राणियोंके आंतरिक जीवनको हम प्रत्यक्ष रूपमें नहीं जानते; हम अपने जीवनके साथ उसके सादृश्यके द्वारा तथा उनके वचन, कर्म आदि रूपी वाह्य चिह्नोंपर आधारित अनुमान या परोक्ष ज्ञानके द्वारा ही उसे जानते हैं, उनके वचन, कर्म आदिको हमारे मन हमारी अपनी आंतरिक सत्ताकी स्थितियोंके रूपमें परिणत करके उनके आंतरिक जीवनका अनुमान लगा लेते हैं; जव हम अहं और स्थूल मनके घेरेको तोड़कर आत्माकी अनंततामें प्रविष्ट हो जाते हैं तब भी हम जगत्को तथा अन्य प्राणियोंको उसी रूपमें देखते हैं जिस रूपमें देखनेका अभ्यास मनने हमारे अंदर डाल रखा है, अर्थात् हम उन्हें नाम-रूपात्मक ही देखते हैं; हाँ, हमें आत्माकी प्रत्यक्ष और उच्चतर वास्तविकताका जो नया अनुभव प्राप्त होता है उसमें वे, मनके निकट उनकी जो प्रत्यक्ष वाह्य वास्तविकता एवं अप्रत्यक्ष आंतरिक वास्तविकता थी उसे खो देते हैं। अव हमें जिस अधिक वास्तविक सद्वस्तुका अनुभव होता है, वे उसके सर्वथा विपरीत प्रतीत होते हैं; हमारा मन शांत और उदासीन हो जानेके कारण उन मध्यवर्ती स्तरोंको जानने और उनका साक्षात्कार करनेका अव और यत्न नहीं करता जो हमारी तरह उनमें भी विद्यमान हैं और जिनके ज्ञानका प्रयोजन आध्यात्मिक सत्ता और वाह्य जगत्प्रपंचके वीचकी खाईको पाटना है। हम तो तव शुद्ध आध्यात्मिक सत्ताकी आनंदमय अनंत निर्व्यक्तिकतासे तृप्त होते हैं; तवसे हमें और किसी भी चीज किंवा किसी भी व्यक्तिकी परवा नहीं रहती। स्थूल इंद्रियाँ हमें जो कुछ दिखाती हैं और मन उन इंद्रियानुभवोंके वारेमें जो कुछ जानता एवं सोचता है और जिसमें वह इतने अपूर्ण तथा क्षणिक रूपमें आनंद लेता है, वह सव अव हमें अवास्तविक तथा निरर्थक प्रतीत होता है; सत्ताके मध्यवर्ती सत्योंपर हमारा अधिकार नहीं होता और न हम उनपर अधिकार पानेकी कुछ परवा ही करते हैं। इन मध्यवर्ती सत्योंकी भूमिकाओंके द्वारा ही एकमेव इन वस्तुओंका उपभोग करते हैं और ये उनके लिये उनके अस्तित्व और आनंदका एक विशेष मूल्य धारण करती हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि वह मूल्य ही विश्व-सत्ताको उनके लिये सुन्दर और व्यक्त करने योग्य वस्तु वना देता है। ईश्वरको जगत्में जो आनंद प्राप्त होता है उसमें हम तव और भाग नहीं ले सकते; वल्कि हमें तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सनातन प्रभुने अपनी सत्ताके विशुद्ध स्वरूपमें जड़तत्त्वकी स्थूल प्रकृतिको स्थान देकर अपने-आपको अवनत कर दिया हो या फिर निरर्थक नामों और अवास्तविक रूपोंकी कल्पना करके अपनी सत्ताके सत्यको मिथ्या रूप दे दिया हो। अथवा यदि हम उस

आनंदको अनुभव करते भी हैं तो एक ऐसी सुदूरस्थ अनासक्तिके साथ अनुभव करते हैं जो हमें घनिष्ठ प्राप्तिकी किसी भी भावनाके साथ इसमें भाग लेनेसे रोकती है, या फिर हम यदि इस विराट् आनंदको अनुभव करते भी हैं तो इसके साथ ही एक तन्मयतापूर्ण और ऐकांतिक आत्मानुभवके उत्कृष्टतर आनंदके प्रति आकर्षण भी हमारे अंदर बना रहता है। वह उत्कृष्टतर आनंद स्थूल प्राण और शरीरके टिके रहनेपर इन निम्नतर भूमिकाओंमें हम जितने समय रहनेके लिये बाध्य हैं उससे अधिक हमें इनमें रहने ही नहीं देता।

परंतु अपने योगाभ्यासमें जब हम आगे बढ़ते हैं तब, अथवा आत्म-साक्षात्कारके बाद हमारा आत्मा जब मुक्त भावसे पुनः जगत्की ओर मुड़ता है और हमारा अंतःस्थ पुरुष अपनी प्रकृतिको मुक्त रूपसे पुनः अपने अधिकारमें कर लेता है तब उसके परिणामस्वरूप, यदि हम दूसरोंके शरीरों और उनकी बाह्य अभिव्यक्तिको ही नहीं जान जाते, बल्कि उनकी आंतरिक सत्ता, उनके मनों और उनकी आत्माओंको तथा उनके अंदरकी उस वस्तुको भी घनिष्ठ रूपसे जान जाते हैं जिससे उनके अपने स्थूल मन अभिज्ञ नहीं हैं, तो हम उनके अंदर स्थित वास्तविक 'सत्'का भी साक्षात्कार कर लेते हैं और उन्हें हम कोरे नाम और रूप नहीं, बल्कि अपने ही परम आत्माकी अंशभूत आत्माएँ अनुभव करते हैं। वे हमारे लिये सनातनके वास्तविक रूप बन जाते हैं। हमारे मन तब क्षुद्र निरर्थकताकी भ्रांति या मिथ्यात्वकी मायाके अधीन नहीं रहते। निःसंदेह हमारे लिये जड़प्राकृतिक जीवनका पुराना ग्रस्तकारी मूल्य नहीं रहता, पर यह उस महत्तर मूल्यको प्राप्त कर लेता है जो दिव्य पुरुषके निकट इसका है; अब इसे हमारी अभिव्यक्तिकी एकमात्र अवस्था नहीं समझा जाता, बल्कि मन और आत्मारूपी उच्चतर तत्त्वोंकी अपेक्षा गौण महत्त्व रखनेवाली वस्तुके रूपमें ही देखा जाता है; महत्त्वमें इस प्रकारकी गौणता आनेसे इसका मूल्य घटनेके बजाय बढ़ता ही है। हम देखते हैं कि हमारा भौतिक अस्तित्व, जीवन और स्वभाव पुरुष और प्रकृतिके संबंधकी केवल एक अन्यतम अवस्थाको द्योतित करते हैं और इनका सच्चा उद्देश्य एवं महत्त्व तभी आँका जा सकता है जब इन्हें अपने-आपमें एक स्वतंत्र वस्तुके रूपमें नहीं, बल्कि उन उच्चतर भूमिकाओंपर आश्रित वस्तुओंके रूपमें देखा जाय जो इन्हें धारण करती हैं; उन उच्चतर भूमिकाओंके साथ अपने संबंधोंके द्वारा ही ये अपना अर्थ प्राप्त करते हैं और अतएव, उनके साथ सचेतन एकत्वके द्वारा ही ये अपनी समस्त यथार्थ प्रवृतियों और लक्ष्योंको पूर्ण कर सकते हैं। तब

मुक्त आत्मज्ञानकी प्राप्तिसे जीवन हमारे लिये सार्थक हो जाता है और पहलेकी तरह निरर्थक नहीं रहता।

यह विशालतर समग्र ज्ञान एवं स्वातंत्र्य अंतमें हमारी सत्ताको मुक्त और चरितार्थ कर देता है। जब हम इसे प्राप्त करते हैं, तो हम जान जाते हैं कि क्यों हमारी सत्ता ईश्वर, हमारी आत्मा और जगत् — इन तीन तत्त्वोंके बीच गति करती है; इन्हें या इनमेंसे किन्हींको हम अब पूर्ववत् एक-दूसरेके विरुद्ध, असंगत एवं विसंवादी नहीं अनुभव करते; दूसरी ओर, हम इन्हें अपने अज्ञानकी ऐसी अवस्थाएँ भी नहीं समझते जो सबकी सब अंतमें शुद्ध निर्व्यक्तिक एकतामें लयको प्राप्त हो जाती हैं। बल्कि अपनी आत्मचरितार्थताकी अवस्थाओंके रूपमें हम इनकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। इन अवस्थाओंका मूल्य मुक्तिके बाद भी सुरक्षित रहता है, वरंच तब ही इन्हें अपना वास्तविक मूल्य प्राप्त होता है। तब हमें अपनी सत्ता पहलेकी तरह उन दूसरी सत्ताओंसे पृथक् नहीं अनुभव होती जिनके साथ हमारे संबंधोंके द्वारा हमारा जगद्विषयक अनुभव गठित होता है। इस नयी चेतनामें वे सब हमारे अंदर निहित होती हैं और हम उनमें। वे और हम आगेको एक-दूसरीका बहिष्कार करनेवाली ऐसी अनेकानेक अहमात्मक सत्ताओंके रूपमें अस्तित्व नहीं रखते जिनमेंसे प्रत्येक अपनी निजी स्वतंत्र चरितार्थता या आत्म-अतिक्रमणकी कामना करती है और उसका अंतिम लक्ष्य इसके सिवा और कुछ भी नहीं होता; वे 'सभी सनातन सत्ता' ही होती हैं और उनमेंसे प्रत्येकमें रहनेवाली आत्मा सबको गुप्त रूपमें अपने अंदर समाविष्ट रखती है और अपनी एकताके इस उच्चतर सत्यको अपने पार्थिव अस्तित्वमें प्रत्यक्ष तथा प्रभावशाली बनानेके लिये नाना प्रकारसे यत्न करती है। एक-दूसरेको बहिष्कृत करना नहीं, बल्कि अपने अंदर समाविष्ट करना ही हमारी व्यक्तिगत सत्ताका दिव्य सत्य है, अपनी स्वतंत्र चरितार्थता नहीं, बल्कि प्रेम ही उच्चतर नियम है।

पुरुष जो हमारी वास्तविक सत्ता है सदा ही प्रकृतिसे स्वतंत्र और उसका स्वामी है और इस स्वतंत्रताको प्राप्त करनेके लिये हम जो यत्न कर रहे हैं वह समुचित ही है; अहं-प्रधान क्रिया-प्रवृत्ति और इसके स्व-अतिक्रमणका प्रयोजन भी यही है, परंतु इसकी यथार्थ परिपूर्णता स्वतंत्र अस्तित्वके अहंमय सिद्धांतको चरम एवं निरपेक्ष रूप देनेमें नहीं है, बल्कि पुरुष और प्रकृतिके परस्पर-संबंधकी इस अन्य उच्चतम भूमिकाको प्राप्त करनेमें है। वहाँ प्रकृतिका अतिक्रमण हो जाता है, पर उसके ऊपर प्रभुत्व

भी प्राप्त हो जाता है, हमारी व्यक्तिगत सत्ता पूर्ण रूपसे सार्थक हो जाती है, पर साथ ही जगत्‌के तथा दूसरोंके साथ हमारे संबंध भी पूर्ण सार्थकता प्राप्त कर लेते हैं। अतएव, भूलोककी कुछ भी परवा न करते हुए परे अवस्थित स्वर्गलोकोंमें व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना हमारा सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है; दूसरोंका मोक्ष तथा उनकी परिपूर्णता साधित करना भी उतना ही हमारा निज कार्य है,—हम प्रायः यहाँतक कह सकते हैं कि हमारा दिव्य आत्महित है,—जितना कि हमारा अपना मोक्ष। अन्यथा दूसरोंके साथ हमारी एकताका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होगा। इस जगत्‌में अहं-भावमय सत्ताके प्रलोभनोंको जीतना अपने ऊपर हमारी पहली विजय है; संसारसे परेके स्वर्गलोकोंमें मिलनेवाले व्यक्तिगत सुखके प्रलोभनको जीतना हमारी दूसरी विजय है; जीवनका त्याग करके निर्व्यक्तिक अनंत सत्तामें आत्मलीनताका आनंद प्राप्त करनेके सबसे महान् प्रलोभनको जीतना अंतिम और सबसे बड़ी विजय है। इस अंतिम विजयके बाद ही हम अपनी व्यक्तिगत सत्ताकी समस्त एकदेशीयतासे मुक्त होते हैं और पूर्ण आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करते हैं।

मोक्ष-प्राप्त आत्माकी स्थिति नित्यमुक्त पुरुषकी स्थिति होती है। उसकी चेतना परात्परता और सर्वग्राही एकत्वकी चेतना होती है। उसका आत्मज्ञान ज्ञानके समस्त रूपोंका बहिष्कार नहीं करता, बल्कि सब वस्तुओंको परमेश्वर और उसकी दिव्य प्रकृतिमें एकीभूत तथा सुसंगत कर देता है। भगवन्मिलनका तीव्र धार्मिक हर्षोन्माद, जो केवल भगवान् और हमारी आत्माको ही अनुभव करता है तथा और सब चीजोंको बहिष्कृत कर देता है, मुक्त आत्माके लिये एक ऐसा घनिष्ठ अनुभवमात्र है जो सब प्राणियोंको चारों ओरसे अपने भुजपाशमें कसे हुए दिव्य प्रेम और आनंदके आलिंगनमें भाग लेनेके लिये इसे तैयार करता है। सिद्ध आत्मा उस स्वर्गिक आनंदमें निवास नहीं कर सकती जो भगवान्‌को और हमें तथा भाग्यशाली भक्तोंको आनंदमें एकीभूत कर देता है, पर जिसे प्राप्त करके हम दीन-दुःखियों तथा उनके दुःखोंको केवल उदासीनताके भावमें देखते रह सकते हैं। क्योंकि ये दीन-दुःखी भी उसकी अपनी आत्माएँ हैं; व्यक्तिगत रूपमें दुःख और अज्ञानसे मुक्त होकर वह स्वभावतः ही उन्हें भी अपनी मुक्त अवस्थाकी ओर आकृष्ट करनेमें प्रवृत्त होती है। दूसरी ओर, भगवान् और परात्परको त्याग करके अपने-आप दूसरे लोगों तथा जगत्‌के बीचके संबंधोंमें किसी प्रकारसे डूबे रहना तो उसके लिये और भी अधिक असंभव है, और अतएव वह भूलोकसे या मनुष्य-मनुष्यके ऊँचे-से-ऊँचे एवं अत्यंत परार्थपूर्ण संबंधोंसे

भी बँधी नहीं रह सकती। उसकी क्रियाप्रवृत्ति या चरम सिद्धि दूसरोंके लिये अपने-आपको मिटा देने एवं पूर्णतया उत्सर्ग कर देनेमें नहीं है, बल्कि ईश्वर-प्राप्ति, मुक्ति और दिव्य आनंदके द्वारा अपने-आपको कृतार्थ करनेमें है जिससे कि उसकी कृतार्थतामें तथा इसके द्वारा दूसरे लोग भी कृतार्थ हो जायँ। कारण, भगवान्‌में ही, भगवत्प्राप्तिके द्वारा ही जीवनके सब विरोध-वैषम्य दूर हो सकते हैं, और अतएव मनुष्योंको भगवान्‌की ओर उठा ले जाना ही, अंतमें, मनुष्यजातिकी सहायता करनेका एकमात्र अमोघ उपाय है। हमारे आत्मानुभवकी अन्य सब क्रियाओं एवं उपलब्धियोंका भी अपना उपयोग एवं बल है, पर अंतमें इन अनेकानेक पगडंडियों या इन एकाकी मार्गोंको चक्कर काटकर उस सर्वांगीण पथकी विशालतामें मिल जाना होगा जिसके द्वारा मुक्त आत्मा सबको अतिक्रम कर जाती है तथा उन्हें अपने अंदर समाविष्ट भी कर लेती है और भगवान्‌की व्यक्त सत्ताके रूपमें उन सबको पूर्णतया कृतार्थ करनेके लिये उनका आशा-केंद्र एवं शक्तिशाली सहायक भी बन जाती है।

उन्नीसवाँ अध्याय

हमारी सत्ताके स्तर

यदि हमारे अंतरस्थ पुरुषको इस प्रकार अपने सर्वोच्च आत्मा, भागवत पुरुष, के साथ एकत्वके द्वारा अपनी प्रकृतिका ज्ञाता, ईश और स्वतंत्र भोक्ता बनना हो, तो स्पष्ट ही, हमारी सत्ताके वर्तमान स्तरपर निवास करके वह ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि, यह स्तर भौतिक है जिसमें पूर्ण रूपसे प्रकृतिका ही शासन है। यहाँ दिव्य 'पुरुष' प्रकृतिकी क्रियाओंकी विमूढ़ बनानेवाली तरंगमें, उसके कार्य-कलापके स्थूल आडंबरमें पूर्ण रूपसे छिपा हुआ है, और उसने जड़तत्त्वमें आत्माका जो आवेष्टन कर रखा है उसमेंसे प्रकट होती हुई व्यक्तिगत अंतरात्मा अपनी सब क्रियाओंमें शरीर और प्राणरूपी यंत्रोंके अंदर फँसे रहने एवं इनके अधीन रहनेके कारण दिव्य स्वातंत्र्यका अनुभव करनेमें असमर्थ है। जिसे यह अपना स्वातंत्र्य एवं स्वामित्व कहती है वह प्रकृतिके प्रति मनकी सूक्ष्म दासतामात्र है; निश्चय ही वह पशु, वनस्पति और धातु जैसी प्राणिक और भौतिक वस्तुओंकी स्थूल दासताकी अपेक्षा कम बोझिल है तथा उससे मुक्त होकर प्रभुत्व प्राप्त करना अधिक शक्य है, किंतु फिर भी वह वास्तविक स्वातंत्र्य और स्वामित्व नहीं है। अतएव, हमें चेतनाके विभिन्न स्तरों तथा मनोमय सत्ताके आध्यात्मिक स्तरोंका उल्लेख करना पड़ा है; क्योंकि यदि इनका अस्तित्व न होता तो देहधारी जीवके लिये यहाँ इस भूतलपर मुक्ति लाभ करना संभव न होता। उसे अन्य लोकोंमें तथा एक भिन्न प्रकारकी भौतिक या आध्यात्मिक देहमें, जो स्थूल पार्थिव अनुभवके अपने कठोर आवरणमें कम आग्रहके साथ आवेष्टित हो, मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रतीक्षा करनी होती तथा, अधिक-से-अधिक, इसके लिये अपनेको तैयार करना पड़ता।

सामान्य प्रचलित ज्ञानयोगमें हमारी चेतनाके दो स्तरोंको, आध्यात्मिक और जड़भावापन्न मानसिक स्तरोंको, स्वीकार करना ही आवश्यक माना जाता है। इन दोके बीचमें स्थित है शुद्ध तर्कबुद्धि। वह इन दोनोंका अवलोकन करती है, दृश्य जगत्के भ्रमोंको भेदकर जड़तापन्न मानसिक स्तरके परे चले जाती है और आध्यात्मिक स्तरकी वास्तविकता अनुभव करती है और तब व्यक्तिमें रहनेवाले 'पुरुष'का संकल्प ज्ञानकी इस

भूमिकाके साथ अपनेको एक करके निम्न स्तरको त्याग देता है तथा पीछे हटकर उच्च स्तरमें प्रवेश करता है, वहाँ निवास करता है, मन और शरीरका लय कर देता है, प्राणको भी अपनेसे दूर त्याग देता है और अपने-आपको परम पुरुषमें निमज्जित करके व्यक्तिगत सत्तासे मुक्त हो जाता है। वह जानता है कि यह हमारी सत्ताका संपूर्ण सत्य नहीं है, संपूर्ण सत्य तो इससे कहीं अधिक जटिल वस्तु है; वह जानता है कि स्तर बहुतसे हैं, पर वह उनकी उपेक्षा करता है या उनकी ओर ध्यान नहीं देता, क्योंकि वे इस मोक्षके लिये अनिवार्य नहीं हैं। बल्कि सच पूछो तो वे इसमें बाधा ही डालते हैं, क्योंकि उनमें निवास करनेसे नये आकर्षक चैत्य अनुभव, चैत्य उपभोग, चैत्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं तथा नामरूपात्मक ज्ञानका एक नया ही जगत् दिखायी देता है जिन सबका अनुसरण उसके अनन्य लक्ष्य, अर्थात् ब्रह्ममें लयके मार्गमें बाधाएँ उत्पन्न करता है, और भगवान्‌की ओर ले जानेवाले राजपथके दोनों ओर एकके बाद एक असंख्य जाल बिछा देता है। परंतु, क्योंकि हम जगत्-सत्ताको स्वीकार करते हैं और क्योंकि हमारे लिये समस्त जगत्-सत्ता ब्रह्म ही है तथा ईश्वरकी उपस्थितिसे परिपूर्ण है, ये चीजें हमें भयभीत नहीं कर सकतीं; पथभ्रष्ट करनेवाले कोई भी संकट क्यों न आयें, हमें उनका सामना करके उनपर विजय पानी होगी। यदि जगत् और हमारा अपना जीवन इतने जटिल हैं तो हमें उनकी जटिलताओंको जानना तथा अंगीकार करना होगा जिससे हमारा आत्मज्ञान एवं पुरुष और प्रकृतिके संबंधोंका ज्ञान पूर्ण हो सके। यदि अनेक स्तरोंका अस्तित्व है तो हमें उन सबको उसी प्रकार भगवान्‌के लिये अधिकृत करना होगा, जिस प्रकार हम अपनी मन, प्राण और शरीररूपी साधारण भूमिकाको आध्यात्मिक रूपसे अधिकृत तथा रूपांतरित करनेका यत्न करते हैं।

सभी देशोंमें प्राचीन ज्ञान हमारी सत्ताके गुप्त सत्योंकी खोजसे भरा हुआ था और इसने साधना और जिज्ञासाके उस विशाल क्षेत्रका निर्माण किया जिसे यूरोपमें गुह्यविद्याके नामसे पुकारा जाता है,—पूर्वमें हम इसके लिये इस प्रकारका कोई शब्द प्रयुक्त नहीं करते, क्योंकि ये चीजें हमें उतनी दूर, रहस्यमय एवं असामान्य नहीं प्रतीत होतीं जितनी कि पश्चिमी मनको; हमारे लिये ये अपेक्षाकृत निकट हैं और हमारे साधारण भौतिक जीवन तथा इस विशालतर जीवनके बीचका पर्दा कहीं अधिक पतला है। भारत,*

*उदाहरणार्थ, भारतमें तांत्रिक प्रणाली।

मिश्र, काल्डिया, चीन, यूनान तथा कैल्टिक देशोंमें ये चीजें उन विविध यौगिक प्रणालियों और साधनाओंके अंग रही हैं जिनका कभी सर्वत्र अत्यधिक बोलबाला था, परंतु आधुनिक मनको ये चीजें कोरा अंधविश्वास एवं रहस्यवाद प्रतीत हुई हैं, यद्यपि जिन तथ्यों और अनुभवोंपर ये आधारित हैं वे अपने क्षेत्रमें जड़ जगत्के तथ्यों और अनुभवोंके बिलकुल समान ही वास्तविक हैं और उनके समान ही अपने बुद्धिगम्य नियमोंके द्वारा नियंत्रित हैं। यहाँ चैत्य ज्ञानके इस विशाल और दुर्गम क्षेत्रका अवगाहन करनेका हमारा विचार नहीं है।* परंतु इसकी रूपरेखाका निर्माण करनेवाले कुछ-एक मोटे तथ्यों और सिद्धांतोंका वर्णन करना अब आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उनके बिना हमारा ज्ञानयोग पूर्ण नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि विविध प्रणालियोंमें वर्णित तथ्य सदा एक ही होते हैं, किंतु उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक अवस्थामें बहुत-से भेद पाये जाते हैं, जैसा कि ऐसे विशाल और गहन विषयके विवेचनमें स्वाभाविक और अनिवार्य ही है। एक प्रणालीमें कुछ चीजोंको छोड़ दिया जाता है तो दूसरीमें उन्हें सबसे प्रधान स्थान दे दिया जाता है, एकमें उनपर जरूरतसे कम बल दिया जाता है तो दूसरीमें अत्यधिक बल दे दिया जाता है; अनुभवके कुछ क्षेत्रोंको एक प्रणालीमें तो केवल गौण प्रदेश माना जाता है, पर दूसरी प्रणालियोंमें उन्हें पृथक् राज्योंके रूपमें वर्णित किया जाता है। परंतु मैं यहाँ वैदिक और वैदांतिक व्यवस्थाका, जिसकी महान् पद्धतियोंको हम उपनिषदोंमें पाते हैं, संगत रूपमें अनुसरण करूँगा। ऐसा करनेका प्रथम कारण तो यह है कि वह मुझे सरल-से-सरल और साथ ही सर्वाधिक दार्शनिक प्रतीत होती है और इससे भी बढ़कर, विशेष रूपमें इसका कारण यह है कि उसकी कल्पना आरंभसे ही हमारे मोक्षरूपी परम लक्ष्यके लिये इन विविध स्तरोंकी उपयोगिताके दृष्टिकोणसे की गयी थी। वह हमारी साधारण सत्ताके तीन तत्त्वों, मन, प्राण और जड़ देहको, सच्चिदानंदके त्रयात्मक आध्यात्मिक तत्त्वको तथा इन्हें जोड़नेवाले विज्ञान-तत्त्व, अतिमानस,

---

*आशा है कि इस विषयपर हम आगे चलकर विचार करेंगे; परंतु 'आर्य'में हमारा पहला उद्देश्य आध्यात्मिक और दार्शनिक सत्योंका निरूपण ही होना चाहिये : जब ये सत्य हृदयंगम हो जायँ तभी चैत्य सत्योंमें सुरक्षित और स्पष्ट रूपसे प्रवेश किया जा सकता है।

नोट—ज्ञानयोगकी यह लेखमाला सर्वप्रथम श्रीअरविन्दकी दार्शनिक पत्रिका 'Arya' में प्रकाशित हुई थी। इस टिप्पणीमें उसी पत्रिकाकी ओर निर्देश किया गया है।

—अनुवादक

अर्थात् मुक्त या आध्यात्मिक प्रज्ञाको अपना आधार बनाती है, और इस प्रकार हमारी सत्ताकी सभी विस्तृत संभव भूमिकाओंको सात स्तरोंकी परंपरामें व्यवस्थित कर देती है,—इन्हें कभी-कभी केवल पाँच ही माना जाता है, क्योंकि, केवल निचले पाँच ही हमारे लिये पूर्ण रूपसे प्राप्य हैं। विकसित होता हुआ व्यक्ति इन स्तरोंके द्वारा ही अपनी पूर्णताकी ओर आरोहण कर सकता है।

परंतु सबसे पहले हमें यह समझना होगा कि चेतनाके स्तरों एवं सत्ताके स्तरोंसे हमारा क्या अभिप्राय है। हमारा अभिप्राय है पुरुष और प्रकृतिके संबंधोंकी एक सामान्य सुस्थिर भूमिका या उनके संबंधोंका एक ऐसा ही लोक। क्योंकि, जिस भी वस्तुको हम लोक कह सकते हैं वह एक ऐसे व्यापक संबंधकी चरितार्थतासे भिन्न कुछ नहीं होती तथा नहीं हो सकती जिसे विराट् सत्ने अपनी सत्ता, अथवा यूँ कहें कि अपने सनातन तथ्य या संभाव्य शक्ति, और अपनी संभूतिकी शक्तियोंके बीच उत्पन्न या स्थापित किया है। अपनी संभूतिके साथ अनेक प्रकारके संबंध रखने तथा उसका अनुभव करनेवाली इस सत्ताको ही हम आत्मा या पुरुष कहते हैं, व्यक्तिमें हम इसे व्यक्तिगत आत्मा तथा विश्वमें विराट् पुरुष कहते हैं; संभूतिके मूलतत्त्व तथा उसकी शक्तियोंको हम प्रकृति कहते हैं। परंतु सत्ता, उसकी चिच्छक्ति और आनंद सदा ही सत्के तीन उपादानभूत तत्त्व होते हैं, अतएव, इन तीन मूलतत्त्वोंके साथ जिस प्रकारका संबंध रखनेके लिये प्रकृतिको प्रेरित किया जाता है तथा इन्हें जो रूप प्रदान करनेके लिये उसे अनुमति दी जाती है उनके द्वारा ही वस्तुतः किसी लोकका स्वरूप निर्धारित होता है। क्योंकि, सत् स्वयं ही अपनी संभूतिका उपादान होता है और सदा ही होगा; इसे उस पदार्थके रूपमें ढालना ही होगा जिसके साथ शक्तिका वास्ता पड़ता है। और फिर, निश्चय ही, शक्तिका मतलब है वह बल जो पदार्थका निर्माण करता है और उसे लेकर चाहे किन्हीं भी लक्ष्योंके लिये कार्य करता है; शक्ति वह वस्तु है जिसे हम साधारणतया प्रकृति कहते हैं। अपिच, जिस लक्ष्य एवं उद्देश्यसे लोकोंकी रचना की गयी है वह समस्त सत्ता तथा समस्त शक्ति और उनके समस्त कार्य-व्यापारमें अंतर्निहित चेतनाके ही द्वारा साधित होना चाहिये, और वह लक्ष्य होना चाहिये अपने-आपको तथा जगत्में अपने अस्तित्वके आनंदको प्राप्त करना। किसी भी जगत्-सत्ताके सभी संयोगों और लक्ष्योंको इसी उद्देश्यके रूपमें अपने-आपको परिणत करना होगा; जगत्-सत्ता एक ऐसी सत्ता है जो अपने अस्तित्वकी अवस्थाओंको, उसकी शक्ति तथा उसके सचेतन आनंदको विकसित कर

रही है; यदि ये चीजें यहाँ निर्वतित अवस्थामें हैं तो इनका विकास करना होगा; यदि ये आवृत हैं तो इन्हें प्रकट करना होगा।

यहाँ हमारी आत्मा जड़ जगत्में निवास करती है; इसीको वह प्रत्यक्ष रूपमें जानती है; इसमें अपनी शक्यताओंको उपलब्ध करना ही वह समस्या है जिससे उसे मतलब है। परंतु जड़तत्त्वका अभिप्राय है आत्मविस्मृति-पूर्ण शक्तिमें और उपादान-तत्त्वके स्व-विभाजक, सूक्ष्मातिसूक्ष्मतया विघटित रूपमें सत्ताके सचेतन आनंदका निवर्तन। अतएव, जड़ जगत्का संपूर्ण सिद्धांत एवं प्रयत्न निर्वतित वस्तुका विवर्तन तथा अविकसित वस्तुका विकास ही होना चाहिये। यहाँ प्रत्येक वस्तु आरंभसे ही जड़-शक्तिकी प्रचण्ड रूपसे कार्य करनेवाली निश्चेतन निद्रामें आच्छादित है; अतएव, किसी भी जड़प्राकृतिक अभिव्यक्तिका संपूर्ण लक्ष्य निश्चेतनमेंसे चेतनाका जागरण ही होना चाहिये; उस अभिव्यक्तिकी संपूर्ण चरम परिणति यह होनी चाहिये कि जड़ प्रकृतिका पर्दा दूर हो जाय तथा पूर्णतः आत्म-सचेतन पुरुष अभिव्यक्तिमें अपनी ही बंदीकृत आत्माके प्रति ज्योतिर्मय रूपमें प्रकट हो उठे। क्योंकि 'मानव' एक ऐसी बन्दीकृत आत्मा है, इसलिये यह ज्योतिर्मय मुक्ति एवं आत्मज्ञानकी प्राप्ति उसका उच्चतम लक्ष्य तथा उसकी पूर्णताकी शर्त होनी चाहिये।

परंतु जड़ जगत्के बंधन इस लक्ष्यकी यथोचित पूर्तिके प्रतिकूल प्रतीत होते हैं; फिर भी यह लक्ष्य, अत्यंत अनिवार्य रूपसे, भौतिक शरीरमें उत्पन्न मनोमय प्राणीका उच्चतम लक्ष्य है। पहली बात तो यह है कि सत्ताने यहाँ अपने-आपको, मूलतः जड़तत्त्वके रूपमें निर्मित किया है; वह एक बाह्य विषय बन गयी है, अपने-आपको अनुभव करनेवाली अपनी चिच्छक्तिके लिये स्व-विभाजक जड़ पदार्थके रूपमें इन्द्रियगोचर एवं मूर्त बन गयी है, और इस जड़तत्त्वके संघातसे मनुष्यके लिये स्थूल शरीर बनाया गया है जो दूसरे शरीरोंसे पृथक् एवं विभक्त है और एक प्रक्रियाके स्थिर अभ्यासोंके या, जैसा कि हम इन्हें कहते हैं, निश्चेतन जड़ प्रकृतिके नियमोंके अधीन है। मनुष्यकी सत्ताकी शक्ति भी जड़तत्त्वमें कार्य करती हुई प्रकृति या शक्ति ही है, जो निश्चेतनामेंसे क्रमशः जागरित होकर प्राणके रूपमें प्रकट हो गयी है और सदा ही रूपके द्वारा सीमित तथा शरीरके अधीन होती है, शरीरके कारण सदा ही शेष सारी प्राणशक्तिसे तथा अन्य प्राणधारी जीवोंसे पृथक् रहती है; निश्चेतनाके नियमों तथा शारीरिक जीवनकी सीमाओंके द्वारा सदा ही उसके विकास और स्थायित्वमें तथा उसकी पूर्णताके संपादनमें बाधा डाली जाती है। इसी प्रकार, उसकी चेतना एक मनः-

शक्ति है जो शरीरमें तथा तीव्र रूपसे व्यक्तिभावापन्न प्राणमें प्रकट हो रही है; अतएव, यह अपनी क्रियाओं और सामर्थ्योंमें सीमित है तथा कोई विशेष क्षमता न रखनेवाले शारीरिक अंगों एवं अत्यंत सीमाबद्ध प्राणिक शक्तिपर निर्भर करती है; यह शेष सारी विराट् मनःशक्तिसे पृथक् है तथा अन्य मनोमय प्राणियोंके विचारोंमें भी इसे प्रवेश प्राप्त नहीं है, क्योंकि उनकी आंतरिक क्रियाएँ मनुष्यके स्थूल मनके लिये एक बंद पुस्तकके समान हैं; हाँ, यह बात अलग है कि अपने मनके साथ सादृश्यके द्वारा तथा उनके अपर्याप्त शारीरिक संकेतों एवं भावाभिव्यक्तियोंके द्वारा वह इन क्रियाओंको कुछ हदतक पढ़ अवश्य सकता है। उसकी चेतना सदा ही फिरसे निश्चेतनामें निमज्जित हो रही है जिसमें इसका एक बहुत बड़ा भाग सदैव निर्वर्तित रहता है; इसी प्रकार उसका जीवन सदा मृत्युकी ओर तथा उसका स्थूल अस्तित्व सदा विघटनकी ओर फिर-फिर ढुलक रहा है। उसका अपनी सत्ताका आनंद चारों ओरके पदार्थोंके साथ इस अपूर्ण चेतनाके उन संबंधोंपर निर्भर करता है जो स्थूल संवेदनों तथा ऐन्द्रिय मनपर आधारित हैं; दूसरे शब्दोंमें, उसका आनंद एक सीमित मनपर निर्भर करता है जो सीमित शरीर, सीमित प्राण-शक्ति और सीमित करणोंके द्वारा अपनेसे बाहरके एवं विजातीय जगत्पर अधिकार स्थापित करनेका यत्न कर रहा है। इसलिये इसकी प्रभुत्व प्राप्त करनेकी शक्ति एवं आनंद-प्राप्तिकी सामर्थ्य परिमित है, और जगत्का जो भी संपर्क इसकी शक्तिको अतिक्रम कर जाता है, अर्थात् जिसे इसकी शक्ति सहन नहीं कर सकती, ग्रहण, आत्मसात् और अधिकृत नहीं कर सकती वह निश्चय ही आनंदसे भिन्न किसी और वस्तु, दुःख-कष्ट या शोकमें बदल जायगा। या फिर उसे इसकी शक्ति ग्रहण नहीं कर सकेगी, उसका संवेदन ही नहीं कर सकेगी, या, यदि उसे ग्रहण कर सकी तो, उदासीन भावसे त्याग देगी। इसके अतिरिक्त, अस्तित्वका जिस प्रकारका आनंद यह प्राप्त करती है वह इसे सच्चिदानंदके आत्मानंदकी भाँति स्वाभाविक और सनातन रूपमें प्राप्त नहीं है, बल्कि कालके प्रवाहमें अनुभव और उपार्जनके द्वारा प्राप्त होता है, और इसलिये उसे, अनुभवको पुनः-पुनः प्राप्त करके ही, स्थिर और सतत रूपमें बनाये रखा जा सकता है तथा उसका स्वरूप अनिश्चित एवं क्षणिक होता है।

इस सबका अर्थ यह हुआ कि इस जड़ जगत्में पुरुष और प्रकृतिके स्वाभाविक संबंध इस बातके सूचक हैं कि चेतन सत्ता अपनी क्रियाओंकी शक्तिमें पूर्ण रूपसे डूबी हुई है और अतएव पुरुष अपने-आपको पूर्ण रूपसे

भूल चुका है तथा अपने स्वरूपको बिलकुल नहीं जानता, प्रकृतिका पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया है और हमारी आत्मा प्रकृति-शक्तिके अधीन हो गयी है। आत्मा अपने-आपको नहीं जानती, यह यदि किसी चीजको जानती है तो केवल प्रकृतिकी क्रियाओंको ही। 'मानव'में व्यक्तिगत स्व-सचेतन आत्माके प्रादुर्भावमात्रसे अज्ञान और दासताके ये प्राथमिक संबंध मिट नहीं जाते क्योंकि, यह आत्मा सत्ताके एक ऐसे स्थूल भौतिक स्तरपर प्रकृतिकी एक ऐसी भूमिकामें निवास कर रही है, जिसमें जड़तत्त्व अभी भी प्रकृतिके साथ इसके संबंधोंका मुख्य निर्धारक है और इसकी चेतना जड़तत्त्वके द्वारा सीमित होनेके कारण पूर्णतः स्वराट् चेतना नहीं हो सकती। विराट् आत्मा भी यदि जड़ प्रकृतिके नियमसूत्रके द्वारा सीमित हो जाय तो वह भी पूर्णरूपेण आत्म-प्रभुत्वसे संपन्न नहीं हो सकता; फिर व्यक्तिगत आत्मा तो आत्मप्रभुत्वसे और भी कम संपन्न हो सकती है, क्योंकि उसके लिये शेष सत्ता शारीरिक, प्राणिक और मानसिक बंधन एवं पृथक्त्वके कारण उससे बाहरी वस्तु बन जाती है जिसपर वह फिर भी अपने जीवन, आनंद और ज्ञानके लिये निर्भर करती है। अपने बल, ज्ञान, जीवन और अस्तित्वसंबंधी आनंदकी ये सीमाएँ ही मनुष्यके अपने-आपसे तथा जगत्से असंतुष्ट होनेका सारा कारण हैं। और, यदि जड़ जगत् ही सब कुछ होता और जड़-प्राकृतिक स्तर ही मनुष्यकी सत्ताका एकमात्र स्तर होता तो वह व्यष्टिभूत 'पुरुष', पूर्णता और आत्मचरितार्थताको या, निःसंदेह, पशुओंके जीवनसे भिन्न किसी अन्य प्रकारके जीवनको कभी न प्राप्त कर सकता। अवश्य ही या तो ऐसे लोक होने चाहियें जिनमें वह पुरुष और प्रकृतिके इन अपूर्ण एवं असंतोषजनक संबंधोंसे मुक्त हो जाता है या फिर उसकी अपनी सत्ताके ऐसे स्तर होने चाहियें जिनकी ओर आरोहण करके वह इनके परे जा सकता है, अथवा कम-से-कम ऐसे स्तर, लोक एवं उच्चतर जीव होने चाहियें जिनसे वह ज्ञान, नानाविध शक्तियाँ और आनंद, तथा अपनी सत्ताका विकास प्राप्त कर सकता है या इन चीजोंको प्राप्त करनेमें सहायता लाभ कर सकता है जो अन्यथा उसे प्राप्त हो ही न सकतीं। प्राचीन शास्त्रोंमें प्रतिपादित किया गया है कि ये सब चीजें अस्तित्व रखती हैं,—अन्य लोक, उच्चतर स्तर, उनके साथ आदान-प्रदान करना तथा उनमें आरोहण करना भी संभव है, उसकी उपलब्ध सत्ताकी वर्तमान क्रम-श्रृंखलामें जो स्तर उसके ऊपर है उसके साथ संबंध तथा उसके प्रभावके द्वारा विकास साधित किया जा सकता है।

जैसे पुरुष और प्रकृतिके संबंधोंकी एक ऐसी भूमिका है जिसमें जड़तत्त्व

प्रधान निर्धारक है, अर्थात् जैसे स्थूलभौतिक सत्ताका एक लोक है, वैसे ही उसके ठीक ऊपर एक और लोक है जिसमें जड़तत्त्व सर्वोपरि नहीं है, वरंच प्राणशक्ति प्रधान निर्धारिकाके रूपमें उसका स्थान ले लेती है। इस लोकमें पदार्थोंके रूप जीवनकी अवस्थाओंका निर्धारण नहीं करते, वल्कि जीवन ही उनके रूपका निर्धारण करता है, और अतएव यहाँ रूप जड़-जगत्के रूपोंकी अपेक्षा अत्यधिक स्वतंत्र और तरल हैं, व्यापक रूपमें और, हमारी धारणाओंकी दृष्टिसे, अद्भुत रूपमें परिवर्तनशील हैं। यह प्राणशक्ति निश्चेतन जड़-शक्ति नहीं है, अपनी निम्नतम क्रियाओंको छोड़कर अन्य क्रियाओंमें यह मूल पदार्थगत अवचेतन शक्ति भी नहीं है, बल्कि यह सत्ताकी एक सचेतन शक्ति है जो रूप-निर्माणमें सहायक होती है, पर इससे कहीं अधिक मूल रूपमें, उपभोग, प्रभुत्वकी प्राप्ति और अपने क्रियाशील आवेगकी पूर्तिके लिये ही सहायता प्रदान करती है। अतएव, कामना और आवेगकी तुष्टि ही निरी प्राणिक सत्ताके इस लोकका, आत्मा और उसकी प्रकृतिके संबंधोंकी इस भूमिकाका प्रथम नियम हैं; इस लोकमें, प्राणशक्ति हमारे स्थूल जीवनकी अपेक्षा कितनी ही अधिक स्वतंत्रता और क्षमताके साथ अपनी क्रीड़ा करती है। इसे कामनाका लोक कहा जा सकता है, क्योंकि कामना ही इसका प्रधान लक्षण है। अपिच, यह एक ही अपरिवर्तनीय-से नियममें बँधा हुआ नहीं है जैसा कि स्थूल जीवन बँधा हुआ दिखायी देता है, बल्कि यह अपनी स्थितिमें अनेक प्रकारके परिवर्तन ला सकता है, अनेक उप-स्तरोंको स्थान देता है; वे स्तर एक ओर तो उन स्तरोंसे आरंभ होते हैं जो जड़ सत्ताको स्पर्श करते हैं और मानो उसमें घुल-मिल जाते हैं और दूसरी ओर वे उन स्तरोंतक पहुँचते हैं जो प्राण-शक्तिके शिखरपर शुद्ध मानसिक और चैत्य सत्ताके स्तरोंको जा छूते हैं तथा उनमें घुल-मिल जाते हैं। क्योंकि, प्रकृतिमें सत्ताकी अनंत क्रम-शृंखलाके अंदर बीच-बीचमें कोई चौड़ी खाइयाँ या ऊबड़-खाबड़ अंतराल नहीं हैं जिन्हें कूदकर पार करना पड़े, बल्कि एक भूमिका दूसरीमें घुल-मिल जाती है, सारी शृंखलामें एक सूक्ष्म सातत्य है; प्रकृतिकी विभिन्न अनुभव प्राप्त करनेकी शक्ति इस सातत्यमेंसे क्रमों, निश्चित भूमिकाओं एवं सुस्पष्ट स्तरोंकी रचना करती है जिनके द्वारा आत्मा जगज्जीवन-संबंधी अपनी शक्यताओंको नाना रूपसे जानती तथा प्राप्त करती है। और, क्योंकि किसी-न-किसी प्रकारका उपभोग ही कामनाका संपूर्ण लक्ष्य होता है, कामनामय लोककी भी ऐसी ही प्रवृत्ति होनी चाहिये; परंतु जहाँ कहीं आत्मा स्वतंत्र नहीं होती,—और कामनाके वशमें होनेपर यह स्वतंत्र

हो ही नहीं सकती, —वहाँ इसके समस्त अनुभवके अभावात्मक तथा भावात्मक रूप होने चाहियें, इसी कारण यह जगत् सीमित स्थूल मनको अचिंत्यसे लगनेवाले विशाल या तीव्र या सतत उपभोगोंकी संभावनाको ही अपने अंदर धारण नहीं करता है, बल्कि उतने ही बड़े कष्टोंकी संभावनाको भी अपने अंदर धारण किये हुए है। इसलिये निम्नतम स्वर्ग तथा सब-के-सब नरक इस प्राणलोकमें ही स्थित हैं। इन स्वर्गों और नरकोंकी दंतकथा और कल्पनाके द्वारा मानव-मनने प्राचीनतम युगोंसे अपने-आपको प्रलोभित और संत्रस्त कर रखा है। निःसंदेह, समस्त मानवीय कल्पनाएँ किसी सत्य वस्तु या वास्तविक संभावनासे संबंध रखती हैं, भले वे अपने-आपमें एक सर्वथा अशुद्ध निरूपण ही हों अथवा अतीव भौतिक रूपकोंमें प्रकट की गयी हों और अतएव अतिभौतिक सद्वस्तुओंके सत्यको व्यक्त करनेके लिये अनुपयुक्त हों।

प्रकृति कोई असंबद्ध दृग्विषयोंका समूह नहीं है, बल्कि एक जटिल ढंगकी एकतासे युक्त है। अतएव स्थूल भौतिक जगत् तथा इस प्राणिक या कामनामय जगत्के बीच कोई ऐसी खाई नहीं हो सकती जिसे पाटा न जा सकता हो। इसके विपरीत, यह कहा जा सकता है कि एक अर्थमें ये दोनों एक-दूसरेमें विद्यमान हैं और कम-से-कम, कुछ हदतक एक-दूसरेपर आश्रित हैं। सच पूछो तो जड़ जगत् वस्तुतः प्राणलोकका एक प्रकारका प्रक्षेप है, यह एक ऐसी वस्तु है जिसे उसने अपनी अवस्थाओंसे भिन्न अवस्थाओंमें अपनी कुछ-एक कामनाओंको मूर्त रूप देने तथा पूरा करनेके लिये बाहरकी ओर प्रक्षिप्त किया है तथा अपने-आपसे पृथक् किया है; वे अवस्थाएँ भिन्न होती हुई भी उसकी अपनी ही अत्यंत स्थूल लालसाओंका युक्तिसंगत परिणाम हैं। हम कह सकते हैं कि इस भूतलपरका जीवन स्थूल विश्वकी जड़, निश्चेतन सत्तापर इस प्राणलोकके दबावका ही परिणाम है। हमारी अपनी व्यक्त प्राणिक सत्ता भी एक विशालतर और गभीरतर प्राणिक सत्ताका उपरितलीय परिणाममात्र है; इस विशालतर प्राणिक सत्ताका अपना विशेष स्थान प्राणिक स्तरमें है और इसीके द्वारा प्राणलोकके साथ हमारा संबंध जुड़ा हुआ है। अपिच, प्राण-लोक हमपर निरंतर क्रिया कर रहा है और जड़-जगत्की प्रत्येक वस्तुके पीछे प्राणलोककी विशिष्ट शक्तियाँ स्थित हैं; यहाँतक कि अत्यंत स्थूल और मूलपदार्थरूप वस्तुओंके पीछे भी मूलपदार्थगत प्राणशक्तियाँ एवं उन्हें धारण करनेवाले प्राथमिक जीव हैं जिन शक्तियों या जीवोंके द्वारा वे धारण की जाती हैं। प्राण-लोकके प्रभाव जड़ जगत्पर सदा ही पड़ रहे हैं और यहाँ अपनी शक्तियाँ

तथा अपने परिणाम उत्पन्न कर रहे हैं जो फिर प्राणलोकमें लौटकर उसमें परिवर्तन लाते हैं। हमारा प्राण-भाग, कामनामय भाग, सदा ही इस प्राणलोकके संपर्कमें आ रहा तथा इससे प्रभावित हो रहा है; इसमें भी शुभ इच्छा और अशुभ इच्छाकी कल्याणकारी और अकल्याणकारी शक्तियाँ हैं; जब हमें इनका ज्ञान नहीं होता न इनसे कुछ मतलब ही होता है तब भी ये हमपर अपना कार्य करती हैं; ये शक्तियाँ केवल प्रवृत्तियाँ या निश्चेतन शक्तियाँ नहीं हैं। जड़तत्त्वकी सीमाओंको छोड़कर अन्यत्र ये अवचेतन भी नहीं हैं, बल्कि चेतन शक्तियाँ एवं सत्ताएँ हैं, सजीव प्रभाव हैं। जैसे ही हम अपनी सत्ताके उच्चतर स्तरोंके प्रति जागरित होते हैं, हम जान जाते हैं कि ये या तो मित्र हैं या शत्रु, या तो ऐसी शक्तियाँ हैं जो हमपर अधिकार करना चाहती हैं या फिर ऐसी जिन्हें हम अपने अधिकारमें ला सकते हैं, जीत सकते हैं, पार करके पीछे छोड़ जा सकते हैं। यूरोपीय गुह्य विद्या, विशेषकर मध्य युगोंमें, एक बड़ी हदतक प्राण-लोककी शक्तियोंके साथ मनुष्यके इस संभावित संबंधकी खोजमें ही ग्रस्त थी; पूर्वीय जादू और अध्यात्मविद्याके कुछ रूप भी बहुत बड़े अंशमें इसीमें व्यस्त थे। भूतकालमें अंधविश्वास बहुत अधिक था, अर्थात् अज्ञानपूर्ण तथा विकृत मान्यताएँ बहुत अधिक फैली हुई थीं, उनकी मिथ्या व्याख्याएँ तथा परे स्थित लोकके नियमोंकी अस्पष्ट और भद्दी विवेचनाएँ प्रचलित थीं। तथापि भूतकालके इन "अंधविश्वासों"के पीछे कुछ सत्य विद्यमान थे। भावी विज्ञान, एकमात्र जड़-जगत्में व्यस्त रहनेकी अपनी प्रवृत्तिसे मुक्त होकर, इन सत्योंको फिरसे खोज सकता है। क्योंकि, अतिभौतिक लोक भी उतना ही वास्तविक है जितना कि स्थूलभौतिक जगत्में मनोमय प्राणियोंका अस्तित्व।

तो फिर, हमारे पीछे जो इतना कुछ विद्यमान है और हमपर सदा दबाव डाल रहा है उससे हम साधारणतया सचेतन क्यों नहीं हैं? उसी कारणसे जिस कारण कि हम अपने पड़ोसीके अंतर्जीवनके प्रति सचेतन नहीं हैं, यद्यपि वह हमारे अंतर्जीवनके समान ही अस्तित्व रखता है और हमपर निरंतर एक गुह्य प्रभाव डाल रहा है,—क्योंकि हमारे विचार और भाव, अधिकांशमें, हमारे अंदर बाहरसे ही आते हैं, अर्थात् वे हमारे मनुष्य-भाइयोंसे, व्यक्तियों तथा मानवजातिके सामूहिक मन—दोनोंसे आते हैं; और फिर, अपने पीछे अवस्थित प्राणलोकको हम उसी कारणसे नहीं जानते जिस कारण कि हम अपनी सत्ताके उस महत्तर भागको नहीं जानते जो हमारे जाग्रत् मनके लिये अवचेतन या प्रच्छन्न है और हमारी तलीय

सत्तापर सदैव प्रभाव डाल रहा है तथा गुह्य ढंगसे उसका निर्धारण भी कर रहा है। प्राणलोकको न जाननेका कारण यह है कि साधारणतः हम अपनी भौतिक इंद्रियोंका ही प्रयोग करते हैं और प्रायः पूर्ण रूपसे शरीर, स्थूल प्राण और स्थूल मनमें निवास करते हैं, पर प्राणलोक सीधे इन करणोंके द्वारा ही हमारे संपर्कमें नहीं आता। यह संपर्क वा संबंध हमारी सत्ताके अन्य कोषोंके द्वारा स्थापित होता है,—उपनिषदोंमें इन्हें कोष ही कहा गया है,—वादकी परिभाषावलिमें इन्हें जो नाम दिया गया है उसके अनुसार कहें तो यह अन्य शरीरोंके द्वारा स्थापित होता है। वे कोष या शरीर हैं—मनोमय कोष या सूक्ष्म शरीर जिसमें हमारा सच्चा मनोमय पुरुष वास करता है और प्राणमय कोष या प्राणिक शरीर जो स्थूल या अन्नमय कोषके साथ अधिक निकट रूपमें संवद्ध है और इसके साथ मिलकर हमारी जटिल सत्ताके स्थूल शरीरका निर्माण करता है। इन कोपोंमें ऐसी शक्तियाँ, इन्द्रियाँ और क्षमताएँ हैं जो गुप्त रूपसे हममें सदा ही कार्य कर रही हैं और हमारे स्थूल करणोंके साथ तथा स्थूल प्राण और मनके चक्रोंके साथ संवद्ध हैं और इनपर आघात करती हैं। आत्म-विकासके द्वारा हम इन्हें जान सकते हैं, इनके अंदर अपना जीवन धारण कर सकते हैं, इनके द्वारा प्राणलोक तथा अन्य लोकोंके साथ सचेतन संबंध स्थापित कर सकते हैं और स्वयं जड़-जगत्के भी सत्यों, तथ्यों तथा घटनाओंका अधिक सूक्ष्म अनुभव एवं अधिक अंतरंग ज्ञान प्राप्त करनेके लिये इनका प्रयोग भी कर सकते हैं। अपनी सत्ताका स्थूलभौतिक स्तर ही आज हमारे लिये सर्वेसर्वा है, किंतु उक्त आत्मविकासके द्वारा हम इससे भिन्न अन्य स्तरोंपर भी कम या अधिक पूर्ण रूपसे निवास कर सकते हैं।

प्राणलोकके विपयमें जो कुछ कहा गया है वह, आवश्यक फेरफारके साथ, विश्व-सत्ताके और अधिक ऊँचे स्तरोंपर भी लागू होता है। क्योंकि, इसके परे मनोमय भूमिका है, मानसिक सत्ताका लोक है जिसमें प्राण और जड़तत्त्व नहीं, वल्कि मन ही प्रधान निर्धारक है। मन वहाँ स्थूलभौतिक अवस्थाओं या प्राण-शक्तिके द्वारा निर्धारित नहीं होता, वल्कि वह स्वयं ही अपनी संतुष्टिके लिये उनका निर्धारण और प्रयोग करता है। वहाँ मन अर्थात् मानसिक एवं वौद्धिक सत्ता एक अर्थमें स्वतंत्र है, और नहीं तो वह अपने-आपको एक ऐसे ढंगसे संतुप्ट और चरितार्थ करनेके लिये स्वतंत्र अवश्य है जिसे हमारा देहवद्ध और प्राणवद्ध मन कदाचित् कल्पनामें भी नहीं ला सकता; क्योंकि वहाँ पुरुप शुद्ध मनोमय सत्ता है और यह शुद्धतर मानसिक सत्ता ही प्रकृतिके साथ उसके संवंधोंका निर्माण करती

है, प्रकृति वहाँ वस्तुतः प्राणिक और भौतिक न होकर मानसिक है। प्राण-लोक और परोक्ष रूपसे अन्नमय लोक—दोनों ही मनोमय लोकका प्रक्षेप हैं, मनोमय पुरुषकी कुछ विशेष प्रवृत्तियोंने जो अपने लिये उपयुक्त क्षेत्र, अवस्थाएँ तथा सामंजस्योंकी एक व्यवस्था प्राप्त करनेका यत्न किया है उसके परिणामके रूपमें ये दोनों लोक प्रकट हुए हैं; और यह कहा जा सकता है कि इस जगत्‌में मनके जो व्यापार दिखायी देते हैं वे इस मनोमय स्तरका पहले तो प्राणलोकपर और फिर स्थूल जगत्‌के जीवनपर दबाव पड़नेके परिणामस्वरूप प्रकट हुए हैं। प्राणलोकमें इसके अंदर जो परिवर्तन होता है उसके द्वारा यह हमारे अंदर कामनामय मनकी सृष्टि करता है; अपने स्वभावगत अधिकारके बलपर यह हमारे अंदर हमारे चैत्य-मानसिक और बौद्धिक जीवनकी शुद्धतर शक्तियोंको जागृत करता है। परंतु हमारा स्थूल मन एक विशालतर प्रच्छन्न मनका, जिसका अपना विशिष्ट स्थान मनोमय स्तर है, एक गौण परिणाममात्र है। मनोमय सत्ताका यह लोक भी हमपर तथा हमारे जगत्‌पर अनवरत क्रिया कर रहा है, इसकी भी अपनी शक्तियाँ तथा अपने जीव हैं, यह भी हमारे मनोमय शरीर (कोष)के द्वारा हमारे साथ संबद्ध है। हम देखते हैं कि वहाँ चैत्य और मानसिक स्वर्ग हैं जिनकी ओर 'पुरुष' इस स्थूल शरीरका त्याग करनेपर आरोहण कर सकता है और जबतक पार्थिव जीवन यापन करनेका आवेग उसे फिरसे नीचेकी ओर नहीं खींचता तबतक वह वहाँ निवास कर सकता है। इस लोकमें भी अनेक स्तर हैं, उनमेंसे सबसे निचला स्तर नीचेके लोकोंसे एक ही केंद्रपर आ मिलता है तथा उनके साथ घुल-मिलकर एक हो जाता है। उनमेंसे सबसे ऊँचा स्तर मनःशक्तिके शिखरोंपर अधिक आध्यात्मिक सत्ताके लोकोंके साथ घुल-मिलकर एक हो जाता है।

अतएव, ये उच्चतम लोक अतिमानसिक हैं; ये अतिमानस अर्थात् मुक्त, आध्यात्मिक या दिव्य बुद्धि (intellgence)* या विज्ञानके तत्त्वसे तथा सच्चिदानंदके त्रिविध आध्यात्मिक तत्त्वसे संबंध रखते हैं। जब 'पुरुष' प्रकृतिके साथ आत्माकी क्रीड़ाकी कुछ विशिष्ट या संकीर्ण अवस्थाओंको प्राप्त कर एक प्रकारका पतन अनुभव करता है तो उस प्रकारके पतनके कारण इन उच्चतम लोकोंसे निम्न लोक उत्पन्न होते हैं।

---

*इन्टेलिजेन्स (intelligence) को विज्ञान या बुद्धि कहते हैं; बुद्धि एक ऐसा शब्द है जो कुछ भ्रान्ति पैदा कर सकता है क्योंकि यह उस मानसिक बुद्धिके लिये भी प्रयुक्त होता है जो दिव्य विज्ञानसे निकली हुई एक निम्नतर शक्तिमात्र है।

परंतु ये उच्च लोक भी किसी अलंघ्य खाईके द्वारा हमसे पृथक् नहीं हैं; ये 'आनंदमय' और 'विज्ञानमय' नामक-कोषोंके द्वारा, कारण शरीर या आध्यात्मिक शरीरके द्वारा तथा, कम प्रत्यक्ष रूपमें, मनोमय शरीर (कोष)के द्वारा हमपर प्रभाव डालते हैं, यह बात भी नहीं है कि उनकी गुप्त शक्तियाँ हमारी प्राणिक और भौतिक सत्ताके व्यापारोंमें कार्य न कर रही हों। प्राण और शरीरमें विद्यमान मनोमय सत्तापर इन उच्चतम लोकोंका दबाव पड़नेके परिणामस्वरूप ही हमारे अंदर हमारी सचेतन आध्यात्मिक सत्ता और हमारा अंतर्ज्ञानात्मक मन जागरित होते हैं। परंतु जैसा कि हम कहते हैं, यह कारण शरीर (या आध्यात्मिक शरीर) मानव-जातिके अधिक बड़े भागमें नहींके बराबर विकसित है और इस कारण शरीरमें निवास करना अथवा, मनोमय सत्ताके विज्ञान-भूमिका-संबद्ध उप-स्तरोंसे भिन्न, अतिमानसिक स्तरोंकी ओर आरोहण करना, या इससे भी बढ़कर इनमें सचेतन रूपसे स्थित रहना मनुष्यके लिये सबसे अधिक कठिन कार्य है। यह समाधिकी लयावस्थामें ही साधित किया जा सकता है, पर किसी अन्य प्रकारसे तो यह व्यष्टिभूत 'पुरुष'की सामर्थ्योंमें एक नये विकासके द्वारा ही साधित हो सकता है जिसकी कल्पना करनेके लिये भी बहुत ही कम लोग तैयार हैं। तथापि यही उस पूर्ण आत्म-चेतनाकी शर्त है जिसके द्वारा ही पुरुष प्रकृतिके ऊपर पूर्ण सचेतन नियंत्रण प्राप्त कर सकता है; क्योंकि उस चेतनामें हमारी प्रकृतिके निम्नतर प्रभेदकारी करणोंका नियमन मन भी नहीं करता, बल्कि परम आत्मा ही अपनी सत्ताकी गौण भूमिकाओंके रूपमें स्वतंत्रतापूर्वक उनका प्रयोग करता है। ये गौण भूमिकाएँ उच्चतर भूमिकाओंके द्वारा शासित होती हैं तथा उन्हींकी सहायतासे अपनी पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करती हैं। यही (परम आत्माके द्वारा निम्नतर भूमिकाओंका प्रयोग एवं उनपर शासन ही) निर्वतित वस्तुओंके पूर्ण विवर्तन तथा अविकसित वस्तुओंके विकासकी अवस्था होगी। इस विवर्तन एवं विकासके लिये ही 'पुरुष'ने, मानों अपने ही साथ बाजी लगाकर, जड़ जगत्‌में बड़ी-से-बड़ी कठिनाईकी अवस्थाओंको स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया है।

बीसवाँ अध्याय

निम्न त्रिविध पुरुष

विराट् सत्ताके विविध लोकों तथा हमारी सत्ताके विविध स्तरोंकी रचनाका मूलतत्त्व ऐसा ही है; मानो वे एक सीढ़ीकी न्याईं हैं जिसका सबसे निचला सोपान जड़तत्त्वके भीतर तथा शायद इससे भी नीचे गया हुआ है और, शायद उस बिंदुतक ऊपर उठा हुआ है जिसपर सत्ता विराट् सत्को पार कर विश्वातीत निरपेक्ष सत्ताके क्षेत्रमें जा पहुँचती है,—कम-से-कम बौद्धोंकी लोक-शृंखलामें इसीको सत्यके रूपमें घोषित किया जाता है। परंतु हमारी साधारण जड़तापन्न चेतनाके लिये इस सबका अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि यह हमसे छुपा हुआ है और इसके छुपे होनेका कारण यह है कि हम इस स्थूल विश्वके एक छोटेसे कोनेमें अपनी ही सत्तामें व्यस्त हैं और इस भूतलपर एक ही शरीरमें कुछ थोड़ेसे कालके लिये जो हमारा जीवन चलता है उस अल्प-जीवनकालके क्षुद्र अनुभवोंमें ही ग्रस्त हैं। हमारी इस चेतनाके लिये यह जगत् कुछ ऐसी जड़ वस्तुओं और शक्तियोंका समूह-मात्र है जिन्हें कई एक स्थिर स्वयंस्थित नियमोंके द्वारा एक प्रकारका आकार देकर नियमित क्रियाओंकी एक प्रणालीके रूपमें परस्पर सुसंगत कर दिया गया है। इन नियमोंका हमें पालन करना होता है, क्योंकि ये हमपर शासन करते हैं तथा हमें चारों ओरसे घेरे हुए हैं, साथ ही हमें इनका यथासंभव अच्छेसे अच्छा ज्ञान भी प्राप्त करना होता है ताकि हम इस एकमात्र लघु जीवनका, जो जन्मसे आरंभ होता है, मृत्युके साथ समाप्त हो जाता है तथा दुबारा प्राप्त नहीं होता, अधिकसे अधिक लाभ उठा सकें। हमारी अपनी सत्ता जड़प्रकृतिके विराट् जीवनमें या जड़शक्तिकी क्रियाओंके अविच्छिन्न सनातन प्रवाहमें एक प्रकारकी आकस्मिक घटना है या कम-से-कम एक बहुत छोटा या गौण संयोग है। किसी-न-किसी प्रकार एक आत्मा या मन शरीरमें प्रकट हो गया है और यह वस्तुओं तथा शक्तियोंके बीच इधर-उधर ठोकरें खाता रहता है क्योंकि यह उन्हें पूरी तरहसे समझता नहीं, पहले तो यह एक संकटमय और अधिकतर विरोधी जगत्में जीनेका ढंग निकालनेकी कठिनाईमें ग्रस्त रहता है और फिर इसके नियमोंको समझने तथा उनका प्रयोग करनेके प्रयत्नमें संलग्न रहता है ताकि जीवन जबतक

कायम रहे तबतकके लिये उसे यथासंभव अधिक-से-अधिक सह्य या सुखी बनाया जा सके। यदि हम वस्तुतः जड़तत्त्वमें विद्यमान व्यक्तित्वप्राप्त मनकी एक ऐसी गौण क्रियासे अधिक कुछ न हों, तो हमें देनेके लिये जीवनके पास और कुछ भी नहीं होगा; तब तो अधिक-से-अधिक, सनातन जड़-प्रकृतिके साथ तथा 'जीवन' की कठिनाइयोंके साथ क्षणिक बुद्धि और संकल्पका यह संघर्ष ही जीवनका अच्छे-से-अच्छा भाग होगा। कल्पनाकी क्रीड़ा, धर्म और कलाके द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत किये गये सांत्वनाप्रद मनोराज्य, तथा मनुष्यके विचारमग्न मन और उसकी चंचल कल्पनाके द्वारा देखे गये समस्त आश्चर्यमय स्वप्न इस संघर्षमें योग देकर इसे हलका अवश्य कर सकते हैं।

परंतु, क्योंकि मनुष्य केवल एक प्राणयुक्त शरीर नहीं बल्कि एक आत्मा है, वह इस बातसे कभी देरतक संतुष्ट नहीं रह सकता कि उसकी सत्ताके विषयमें यह प्रथम दृष्टिकोण,—जीवनके बाह्य और वस्तुनिष्ठ तथ्योंके द्वारा समर्थित यह एकमात्र दृष्टिकोण—कोई वास्तविक सत्य या संपूर्ण ज्ञान है: उसकी आभ्यंतरिक सत्ता परेकी सद्वस्तुओंके संकेतों तथा इंगितोंसे परिपूर्ण है, यह अनंतता और अमरताकी अनुभूतिकी ओर खुली हुई है, अन्य लोकों, सत्ताकी उच्चतर संभावनाओं, तथा आत्माके लिये अनुभवके विस्तृत क्षेत्रोंके विषयमें इसे सहज ही विश्वास हो जाता है। विज्ञान हमें सत्ताका बाह्य सत्य एवं हमारी भौतिक और प्राणिक सत्ताका स्थूल ज्ञान प्रदान करता है; परंतु हम अनुभव करते हैं कि इससे परे भी कुछ सत्य विद्यमान हैं जो संभवतः हमारी आंतरिक सत्ताके विकास तथा उसकी शक्तियोंके विस्तारके द्वारा हमारे प्रति अधिकाधिक खुल सकते हैं। जब इस लोकका ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तो इससे परे स्थित सत्ताकी अन्य भूमिकाओंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमारे अंदर अदम्य प्रेरणा उत्पन्न होती है, और यही कारण है कि प्रबल जड़वाद तथा संदेहवादके युगके बाद सदा ही गुह्य विद्याका, रहस्यवादी संप्रदायों एवं नये धर्मोंका तथा अनंत और भगवान्‌की अधिक गहरी खोजोंका युग आता है। हमारे स्थूल मनका तथा हमारे शारीरिक जीवनके नियमोंका ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है; सदा ही यह हमें नीचे और पीछे अवस्थित आंतरिक सत्ताकी समस्त रहस्यमय एवं गुप्त गहराईतक ले आता है। हमारी स्थूल चेतना तो उस गहराईका एक किनारा या बाह्य प्रांगणमात्र है। उस गहराईका पता लगनेपर हम देखने लगते हैं कि जो कुछ हमारी स्थूल इन्द्रियोंके लिये गोचर है वह विराट् सत्ताका स्थूल भौतिक आवरणमात्र है और जो कुछ हमें अपने स्थूल मनमें प्रत्यक्ष अनुभूत होता है वह पीछेकी ओर स्थित, न खोजे गये अनंत प्रदेशोंका केवल एक प्रांतभाग

ही है। उनकी खोज करना भौतिक विज्ञान या स्थूल मानसशास्त्रके ज्ञानसे भिन्न किसी अन्य ज्ञानका ही कार्य होना चाहिये।

अपने-आपसे तथा अपनी सत्ताके प्रत्यक्ष और स्थूल तथ्योंसे परे जानेके लिये मनुष्यके प्रथम प्रयत्नको हम 'धर्म' कहते हैं। भगवान्पर मनुष्यकी भौतिक और मानसिक सत्ता निर्भर करती है। उनके विषयमें उसकी आंतरिक भावनाको और उनका साक्षात् करने एवं उनके संपर्कमें रहनेकी उसकी आत्माकी अभीप्साको पुष्ट करना तथा जीवंत बनाना—यह धर्मका पहला मुख्य कार्य है। इसका एक कार्य यह भी है कि यह उसे उस संभावनाके विषयमें विश्वास दिलाये जिसका स्वप्न वह सदासे देखता आया है, पर जिसके विषयमें उसका साधारण जीवन उसे कोई आश्वासन नहीं देता। वह सम्भावना यह है कि वह अपने-आपको अतिक्रम कर सकता है तथा शारीरिक जीवन और मरणशीलतामेंसे अमर जीवन और आध्यात्मिक अस्तित्वके आनंदमें विकसित हो सकता है। यह उसमें इस भावनाको भी दृढ़ करता है कि सत्ताका जो लोक या भूमिका आज उसके भाग्यमें बदी है उससे भिन्न अन्य लोक या भूमिकाएँ भी हैं, ऐसे लोक हैं जिनमें यह मरणशीलता और बुराई तथा दुःखके प्रति यह अधीनता स्वाभाविक अवस्था नहीं हैं, बल्कि अमरताका आनंद ही शाश्वत स्थिति है। आनुषंगिक रूपमें, यह उसे मर्त्य जीवनका एक ऐसा नियम भी प्रदान करता है जिसके द्वारा वह अपने-आपको अमरताके लिये तैयार कर सके। वह एक आत्मा है, शरीर नहीं, और उसका पार्थिव जीवन एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक अस्तित्वकी भावी अवस्थाओंका निर्धारण करता है। ये सब विचार सभी धर्मोंमें सामान्य रूपसे पाये जाते हैं; इसके आगे हमें उनसे कुछ भी निश्चित आश्वासन नहीं मिलता। बल्कि उनकी आवाजें अलग-अलग हो जाती हैं; उनमेंसे कुछ तो हमें बताते हैं कि इस भूतलपर बस हमें एक ही जीवन मिलता है जिसमें हम अपने भावी अस्तित्वका निर्धारण कर सकते हैं, आत्माकी अतीत कालकी अमरतासे इंकार करते हैं और इसकी केवल भावी अमरताका ही दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करते हैं, इसे इस अविश्वसनीय सिद्धांतका भयतक दिखाते हैं कि जो लोग सही रास्तेसे चूक जाते हैं उन्हें भविष्यमें चिरंतन दुःख ही प्राप्त होता है। उधर, कुछ अन्य धर्म जो अधिक व्यापक तथा तर्कसंगत हैं, दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि आत्मा अनेक क्रमिक जन्मोंको धारण करती है जिनके द्वारा वह अनंतके ज्ञानमें विकसित होती है। वे इस बातका पूर्ण आश्वासन देते हैं कि अंतमें सभी इस ज्ञान और पूर्णताको प्राप्त करेंगे। कुछ धर्म अनंत भगवान्को हमसे भिन्न एक ऐसे 'पुरुष' के

रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं जिनके साथ हम व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर सकते हैं, कुछ दूसरे धर्म उन्हें एक निर्व्यक्तिक सत्ताके रूपमें प्रस्तुत करते हैं जिसमें हमारी पृथक् सत्ताको निमज्जित हो जाना होगा; अतएव कुछ धर्म तो उन परेके लोकोंको हमारा गंतव्य धर्म बताते हैं जिनमें हम भगवान्के सान्निध्यमें निवास करते हैं, जब कि अन्य धर्म अनंतमें लयके द्वारा विश्वसत्ताके त्यागको हमारा लक्ष्य बताते हैं। बहुतसे धर्म हमसे अनुरोध करते हैं कि पार्थिव जीवनको एक कसौटी या अल्पकालीन यंत्रणा या फिर एक निःसार वस्तु मानते हुए हमें इसे सहन करना या त्याग देना चाहिये और परेके लोकोंपर ही अपनी आशाभरी दृष्टि गड़ानी चाहिये; कुछ धर्मोंमें हम आत्माकी, इस भूतलपर देहमें मूर्तिमन्त भगवान्की, मानवके सामूहिक जीवनमें होनेवाली भावी विजयका अस्पष्ट संकेत पाते हैं और अतएव व्यक्तिकी पृथक् आशा और अभीप्साका ही नहीं बल्कि जातिकी संयुक्त एवं समवेदनापूर्ण आशा और अभीप्साका भी समर्थन करते हैं। धर्म वास्तवमें कोई ज्ञान नहीं बल्कि एक श्रद्धा एवं अभीप्सा है; निःसंदेह, यह विशाल आध्यात्मिक सत्योंके अनिश्चित सहजज्ञानके द्वारा तथा साधारण जीवनसे ऊपर उठी आत्माओंके आंतरिक अनुभवोंके द्वारा सत्य प्रमाणित होता है, पर अपने-आपमें यह हमें केवल एक ऐसी आशा एवं श्रद्धा ही प्रदान करता है जिसके द्वारा हम आत्माके गुप्त प्रदेशों तथा विशालतर सत्योंकी गहरी प्राप्तिके लिये अभीप्सा करनेको प्रेरित हो सकें। पर किसी धर्मके कुछ-एक विशिष्ट सत्योंको, उसके प्रतीकों या उसकी किसी विशेष साधनाको हम सदा ही कट्टर सिद्धांतोंका रूप दे देते हैं। यह इस बातका चिह्न है कि आध्यात्मिक ज्ञानमें हम अभीतक बच्चे ही हैं और अनंतके विज्ञानसे अभी कोसों दूर हैं।

तथापि प्रत्येक महान् धर्मके पीछे, अर्थात् उसके श्रद्धा, आशा, प्रतीकों, विकीर्ण सत्यों तथा संकीर्णता-जनक सिद्धांतोंवाले बाह्य पहलूके पीछे, अंतरीय आध्यात्मिक साधनाभ्यास तथा ज्ञानलोकका आभ्यंतरिक पक्ष भी होता है जिसके द्वारा गुप्त सत्य जाने जा सकते हैं, चरितार्थ तथा प्राप्त किये जा सकते हैं। प्रत्येक बाह्य धर्मके पीछे एक आंतरिक योग एवं अंतर्ज्ञान होता है जिसके लिये उसकी श्रद्धा पहली सीढ़ी होती है, उसके पीछे ऐसी अवर्णनीय सद्वस्तुएँ होती हैं जिन्हें उसके प्रतीक मूर्तिमंत रूपमें प्रकट करते हैं, उसके पीछे उसके विकीर्ण सत्योंके लिये एक गभीरतर अनुभूति होती है, उसके पीछे सत्ताके उच्चतर स्तरोंके रहस्य होते हैं। उसके मंतव्य और अंधविश्वास भी उन रहस्योंके असंस्कृत संकेत एवं निर्देश होते हैं। पदार्थोंके प्रथम दृश्य

रूपों तथा उपयोगोंके स्थानपर स्थूल जगत्‌की महान् प्राकृतिक शक्तियोंके गुप्त सत्यों एवं अद्यावधि गुह्य वलोंका आविष्कार करके और हमारे मनोंमें मान्यताओं तथा धारणाओंके स्थानपर परीक्षित अनुभव और अधिक गहरे वोधको उत्पन्न करके जो कार्य भौतिक जगत्के हमारे ज्ञानके लिये सायंस करती है, वही कार्य योग हमारी सत्ताके उन उच्चतर स्तरों और लोकों तथा उसकी उन उच्चतर शक्यताओंके लिये करता है जो सब धर्मोंका लक्ष्य है। अतएव, बंद द्वारोंके पीछे विद्यमान क्रमवद्ध अनुभवका यह सब भण्डार जिसकी कुंजीको मनुष्यकी चेतना, चाहे तो, प्राप्त कर सकती है, एक व्यापक ज्ञानयोगके क्षेत्रमें आ जाता है। क्योंकि ऐसे ज्ञानयोगके लिये केवल निरपेक्ष ब्रह्मकी खोज या भगवान्‌के निज स्वरूपके ज्ञानतक अथवा व्यक्तिगत मानव-आत्माके साथ केवल एकाकी संवंध रखनेवाले भगवान्‌के ज्ञानतक ही सीमित रहना अभीष्ट नहीं है। यह सच है कि निरपेक्ष ब्रह्मकी चेतना प्राप्त करना ज्ञानयोगकी पराकाष्ठा है और भगवान्‌की प्राप्ति उसका पहला, सबसे महान् तथा उत्कट ध्येय है और किसी निम्न ज्ञानके लिये इस लक्ष्यकी उपेक्षा करनेका अर्थ है हमारे (पूर्ण) योग को हीनता या यहाँतक कि क्षुद्रतासे ग्रस्त करना और उसके विशिष्ट लक्ष्यसे भ्रष्ट होना या दूर रहना, परंतु भगवान्‌का निज स्वरूप ज्ञात हो जानेपर ज्ञानयोग हमारी सत्ताके विभिन्न स्तरोंपर हमारे साथ तथा जगत्के साथ नानाविध संवंध रखनेवाले भगवान्‌का ज्ञान भी भलीभांति प्राप्त कर सकता है। शुद्ध आत्माकी ओर आरोहणको अपने आंतरिक आत्मोत्थानके शिखरके रूपमें सतत सामने रखकर हम उस शिखरसे अपनी सत्ताके निम्न भागोंको, स्थूल भागतकको, तथा उनकी प्राकृतिक क्रियाओंको अपने अधिकारमें ला सकते हैं।

इस ज्ञानको हम दो पहलुओंसे, पुरुपके पहलू तथा प्रकृतिके पहलूसे, पृथक्-पृथक् प्राप्त कर सकते हैं; और भगवान्‌के स्वरूपके प्रकाशमें पुरुष और प्रकृतिके नाना संवंधोंको पूर्ण रूपसे प्राप्त करनेके लिये हम इन दोनों पहलुओंको मिला भी सकते हैं। उपनिपद्‌में कहा गया है कि मनुष्य और जगत्‌में अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्डमें पाँच प्रकारका 'पुरुप' विद्यमान है। इनमें पहला है अन्नमय पुरुप, आत्मा या सत्ता; यह वह सत्ता है जिसका ज्ञान हम सवको सर्वप्रथम प्राप्त होता है, एक ऐसी आत्मा है जो न तो शरीरके सिवा कोई सत्ता रखती प्रतीत होती है और न ही उससे स्वतंत्र कोई प्राणिक या यहाँतक कि मानसिक क्रिया। यह अन्नमय पुरुप जड़ प्रकृतिमें सर्वत्र विद्यमान है; यह शरीरमें व्याप्त है, अज्ञात रूपमें इसकी क्रियाओंको परिचालित करता है और इसके अनुभवोंका संपूर्ण आधार है; जो पदार्थ मानसिक

रूपसे सचेतन नहीं हैं उन सबको भी यह अनुप्राणित करता है। परंतु मनुष्यमें यह अन्नमय पुरुष प्राणमय तथा मनोमय भी बन गया है; इसने प्राणिक और मानसिक सत्ता तथा प्रकृतिके नियम और शक्ति-सामर्थ्यका कुछ अंश प्राप्त कर लिया है। परंतु इसे उनकी जो प्राप्ति हुई है वह गौण है, मानों इसकी मूल प्रकृतिपर ऊपरसे थोपी गयी है और वह भौतिक सत्ता तथा उसके करणोंके नियम और कार्यके अधीन ही प्रयोगमें लायी जाती है। शरीर और भौतिक प्रकृतिका हमारे मानसिक और प्राणिक भागोंपर यह आधिपत्य ही, प्रथम दृष्टिमें, जड़वादियोंके इस सिद्धांतको प्रमाणित करता प्रतीत होता है कि मन और प्राण भौतिक शक्तिकी अवस्थाएँ एवं उसके परिणाममात्र हैं और उनके सब व्यापारोंकी व्याख्या प्राणि-शरीरमें भौतिक शक्तिकी क्रियाओंके द्वारा की जा सकती है। वास्तवमें मन और प्राणका पूर्ण रूपसे शरीरके अधीन होना अविकसित मानवताकी विशेषता है, जैसे कि मानवसे भिन्न निम्न कोटिके प्राणीमें तो यह और भी बड़ी मात्रामें पायी जाती है। जो लोग पार्थिव जीवनमें इस अवस्थाको पार नहीं कर लेते वे, पुनर्जन्मके सिद्धांतके अनुसार, मृत्युके बाद मन या उच्चतर प्राणके लोकोंमें आरोहण नहीं कर सकते, बल्कि अपने पार्थिव जीवनमें और अधिक विकास करनेके लिये उन्हें भौतिक स्तर-परंपराकी सीमाओंसे वापिस आना पड़ता है। क्योंकि अविकसित अन्नमय पुरुष, पूर्ण रूपसे स्थूल प्रकृति तथा उसके संस्कारों-के वशमें होता है और सत्ताकी स्तर-परंपरामें ऊपर उठ सकनेसे पहले उसे अधिक बड़े लाभके लिये उन्हें क्रियान्वित करके समाप्त कर देना होता है।

अधिक विकसित मानवता हमें ऐसा अवसर देती है कि हम सत्ताके प्राणिक और मानसिक स्तरोंसे प्राप्त होनेवाली समस्त शक्तियों और अनु-भूतियोंका अधिक उत्तम और स्वतंत्र प्रयोग कर सकते हैं, सहायता पानेके लिये इन गुप्त स्तरोंकी ओर पहलेसे अधिक झुक सकते हैं और कामनामय लोकसे प्राप्त महत्तर प्राणिक बलों एवं शक्तियोंके द्वारा तथा मानसिक और बौद्धिक स्तरोंसे प्राप्त महत्तर एवं सूक्ष्मतर मानसिक बलों एवं शक्तियोंके द्वारा अन्नमय पुरुषकी मूल प्रकृतिको अपने अधिकारमें करके उसमें परिवर्तन ला सकते हैं। इस विकासकी सहायतासे हम मृत्यु और पुनर्जन्मकी बीचकी सत्ताके उच्चतर शिखरोंपर आरोहण करनेमें समर्थ हो जाते हैं तथा और भी अधिक उच्चतर मानसिक एवं आध्यात्मिक विकासके लिये स्वयं पुनर्जन्मको भी अधिक अच्छी तरह तथा अधिक तीव्र गतिसे उपयोगमें ला सकते हैं। परंतु ऐसा होनेपर भी, अपनी भौतिक सत्तामें जो अबतक भी हमारी जाग्रत् सत्ताके अधिक बड़े भागका निर्धारण करती है, हम अपने कर्मके प्रेरित करने-

वाले लोकों या स्तरोंका निश्चित ज्ञान पाये विना ही कार्य करते हैं। निःसंदेह, भौतिक सत्ताके प्राण-स्तर और मानस-स्तरको तो हम जानते हैं, पर वास्तविक प्राण-स्तर और मानस-स्तरको या उस उच्चतर एवं विशालतर प्राणमय और मनोमय पुरुषको नहीं जानते जो हमारी साधारण चेतनाके पर्देके पीछे हमारी निज सत्ता है। विकासकी ऊँची अवस्थामें ही हम उन्हें जान पाते हैं और तव भी, साधारणतः, अपनी मानसीकृत भौतिक प्रकृतिके कार्यके पीछे अवस्थित पुरुपके रूपमें ही। पर हम उन स्तरोंपर सचमुचमें निवास नहीं करते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्राण-शक्तिका शरीरपर तथा मन-रूपी सम्राट्का इन दोनोंपर सचेतन नियंत्रण हम वहुत शीघ्र प्राप्त कर लेते, तव हम अपने संकल्प और ज्ञानको अपनी सत्ताके स्वामी वनाकर तथा प्राण और शरीरपर मनकी सीधी क्रिया करके अपने भौतिक और मानसिक जीवनका वहुत वड़ी हदतक निर्धारण कर सकते। योगके द्वारा, आत्म-चेतना और आत्म-प्रभुत्वको उच्च तथा विशाल वनाते हुए, अन्नमय पुरुपके परे जाने तथा ऊर्ध्व स्तरोंमें उच्चतर पुरुपको प्राप्त करनेकी यह शक्ति कम या अधिक मात्रामें अधिगत की जा सकती है।

पुरुपके पहलूसे यह शक्ति इस प्रकार प्राप्त की जा सकती है कि व्यक्ति अन्नमय पुरुपसे तथा स्थूल प्रकृतिमें ग्रस्त रहनेकी उसकी प्रवृत्तिसे पीछे हटे तथा विचार और संकल्पको उच्चतर पुरुपपर एकाग्र करनेकी साधना करे जो उसे पहले तो प्राणमय और फिर मनोमय पुरुपमें ऊपर उठा ले जायगी। ऐसा करनेसे हम प्राणमय पुरुप वन सकते हैं और अन्नमय पुरुपको इस नयी चेतनामें उठा ले जा सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप हम शरीर, उसकी प्रकृति और उसके कार्योंको, प्राणमय पुरुपकी, जो तव हमारा निज स्वरूप होता है, गौण अवस्थाओंके रूपमें ही जानते हैं, हम यह भी जान जाते हैं कि इन सवका उपयोग प्राणमय पुरुप जड़ जगत्के साथ अपना नानाविध संवंध स्थापित करनेके लिये करता है। अन्नमय पुरुपसे एक विशेप प्रकारकी पृथक्ता और फिर उससे उच्चता; यह स्पप्ट अनुभव कि शरीर एक यंत्र या आवरणमात्र है और उसे सहज ही अपनेसे अलग किया जा सकता है; हमारी स्थूल सत्ता और जीवन-परिस्थितिपर हमारी इच्छाओंका असाधारण प्रभाव, प्राणशक्तिका स्पप्ट ज्ञान और उसका कुशलतापूर्वक प्रयोग तथा संचालन करनेमें सामर्थ्य और सुविधाका अत्यधिक अनुभव, क्योंकि इसकी क्रिया हमें शरीरके संवंधसे मूर्त पर सूक्ष्म रूपमें भौतिक अनुभूत होती है और मनके द्वारा प्रयुक्त शक्तिके रूपमें यह एक प्रकारकी सूक्ष्म घनतासे युक्त प्रतीत होती है; अपने अंदर अन्नमय भूमिकाके ऊपर प्राणभूमिकाका

अनुभव और कामनालोकका ज्ञान तथा उसके जीवोंके साथ संपर्क; ऐसी नयी शक्तियोंका सक्रिय हो उठना जिन्हें साधारणतया गुह्यशक्ति या सिद्धियाँ कहा जाता है; विश्वमें विद्यमान प्राणमय पुरुषका घनिष्ठ बोध और उसके साथ अनुभव-साम्य तथा दूसरोंकी कामनाओंका, उनके भावावेशों तथा प्राणिक आवेगोंका ज्ञान या संवेदन;—योगके द्वारा जो यह नयी चेतना प्राप्त होती है उसके ये कुछ-एक चिह्न हैं।

परंतु ये सब आध्यात्मिक अनुभवके निम्न स्तरोंकी चीजें हैं और वास्तवमें भौतिक सत्ताकी अपेक्षा कोई अधिक आध्यात्मिक नहीं हैं। हमें इसी प्रकार और भी अधिक ऊँचे जाकर अपने-आपको मनोमय पुरुषमें उठा ले जाना होगा। ऐसा करनेसे हम मनोमय पुरुष बन सकते हैं और अन्नमय तथा प्राणिक सत्ताको उसमें उठा ले जा सकते हैं। फलस्वरूप, प्राण, शरीर और इनकी क्रियाएँ हमारे लिये हमारी सत्ताकी गौण अवस्थाएँ बन जाती हैं। मनोमय पुरुष जो अब हमारा निज स्वरूप बन गया है भौतिक सत्तासे संबंध रखनेवाले अपने निम्न प्रयोजनोंको पूरा करनेके लिये प्राण, शरीर और इनकी क्रियाओंका उपयोग करता है। यहाँ भी हम पहले-पहल प्राण और शरीरसे एक प्रकारकी पृथक्ता प्राप्त कर लेते हैं और हमारा वास्तविक जीवन देहप्रधान मनुष्यके स्तरसे सर्वथा भिन्न स्तरपर प्रतिष्ठित प्रतीत होता है, उसका संबंध पार्थिव सत्तासे अधिक सूक्ष्म सत्ताके साथ, पार्थिव ज्ञानसे अधिक महान् ज्ञानज्योति तथा एक कहीं अधिक विरल किंतु फिर भी अधिक प्रभुत्वपूर्ण शक्तिके साथ प्रतीत होता है। वास्तवमें हमारा संपर्क मानसिक स्तरके साथ होता है, हम मनोमय लोकसे सचेतन होते हैं, उसके जीवों और उसकी शक्तियोंके साथ संबंध स्थापित कर सकते हैं। उस स्तरसे हम कामनामय लोक और भौतिक जीवनको इस रूपमें देखते हैं मानो ये हमसे नीचे स्थित हों, ऐसी चीजें हों जिन्हें हम शरीर छोड़नेपर, मानसिक या चैत्य स्वर्गोंमें निवास करनेके लिये, सचमुच ही सहजमें त्याग सकते हैं। परंतु हम प्राण और शरीर तथा प्राणिक और भौतिक स्तरोंसे इस प्रकार पृथक् और अनासक्त होनेके स्थानपर, इनसे ऊँची भूमिकामें स्थित भी हो सकते हैं और अपनी सत्ताके इस नये शिखरसे इनपर प्रभुत्वपूर्ण ढंगसे क्रिया भी कर सकते हैं। भौतिक या प्राणिक ऊर्जासे भिन्न प्रकारकी क्रियाशक्ति, एक ऐसी वस्तु जिसे हम शुद्ध मनोबल एवं आत्मशक्ति कह सकते हैं, जिसका प्रयोग विकसित मनुष्य करता तो अवश्य है पर गौण तथा अपूर्ण रूपमें ही, पर जिसे अब हम स्वतंत्रताके साथ तथा ज्ञानपूर्वक प्रयोगमें ला सकते हैं, हमारे कार्यकी साधारण प्रणाली बन जाती है; उधर, कामना-शक्ति और

स्थूल क्रिया गौण हो जाती है और उनका प्रयोग उनके पीछे अवस्थित इस नयी शक्तिके साथ तथा उसके कभी-कभी काम आनेवाले साधनोंके रूपमें ही किया जाता है। तब हम विश्वमें विद्यमान विराट् मनका भी संपर्क प्राप्त कर लेते हैं, उसकी अनुभूतियोंके भी सहभागी बन जाते हैं, उससे सचेतन हो जाते हैं, समस्त घटनाओंके पीछे विद्यमान सूक्ष्म शक्तियोंके उद्देश्यों, उनकी दिशाओं और शक्तिशाली विचार-तरंगों तथा उनके संघर्षको जान जाते हैं। साधारण मनुष्य इन शक्तियोंसे अनभिज्ञ है या फिर वह स्थूल घटनासे इनका अस्पष्ट अनुमान भर लगा सकता है, पर हम अब इनकी क्रियाओंका कोई स्थूल चिह्न या यहाँतक कि प्राणिक संकेत पानेसे पहले ही इन्हें प्रत्यक्ष देख सकते एवं अनुभव कर सकते हैं। हम अन्य जीवोंके, वे चाहे अन्नमय भूमिकाके हों या इससे ऊपरकी भूमिकाओंके, मनोव्यापारका ज्ञान और अनुभव भी प्राप्त कर लेते हैं। मनोमय पुरुषकी उच्चतर क्षमताएँ,—प्राणमय भूमिकाकी अपनी विशिष्ट शक्तियों एवं सिद्धियोंसे कहीं अधिक विरल या सूक्ष्म प्रकारकी गुह्य शक्तियाँ या सिद्धियाँ,—हमारी चेतनामें स्वभावतः ही जाग उठती हैं।

तथापि ये सब हमारी सत्ताके निम्न त्रिविध जगत्की अवस्थाएँ हैं जिसे प्राचीन ऋषि "त्रैलोक्य" कहते थे। इन तीनों लोकोंमें हमारी शक्तियाँ और हमारी चेतना कितनी ही विस्तृत क्यों न हों, फिर भी इनमें रहते हुए हम वैश्व देवोंकी सीमाओंके भीतर ही निवास कर रहे होते हैं और पुरुष-पर प्रकृतिके शासनके अधीन होते हैं, वह अधीनता अपेक्षाकृत अत्यधिक सूक्ष्म, सह्य तथा हल्की भले ही हो। वास्तविक स्वातंत्र्य और प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये हमें अपनी सत्ताके अनेक अधित्यकाओंवाले पर्वतके और भी ऊँचे स्तरपर आरोहण करना होगा।

इक्कीसवाँ अध्याय

आत्म-अतिक्रमणकी सीढ़ी

साधारणतया हमारी चेतना और इसकी शक्तियाँ एवं परिणाम इस निम्न त्रिविध सत्ता एवं इस निम्न त्रिविध जगत्तक ही सीमित हैं। इस सत्ता एवं जगत्का अतिक्रमण, जिसका वर्णन वैदिक ऋषियोंने इन शब्दोंमें किया था कि यह द्यौ और पृथ्वीकें दो लोकोंको अतिक्रम कर या भेद कर उनके परे जाना है, अनंतताके स्तरोंकी क्रमपरंपराको खोल देता है। मनुष्यकी सामान्य सत्ता अपनी ऊँचीसे ऊँची तथा विस्तृतसे विस्तृत उड़ानोंमें भी इस स्तर-परंपरासे अभीतक अपरिचित है। इस अत्युच्च भूमिकापर, यहाँतक कि इसकी सोपान-परंपराके सबसे निचले सोपानपर भी, आरोहण करना उसके लिये कठिन है। एक विभाजन, जो सार रूपमें तो अवास्तविक है पर व्यवहारमें अत्यंत तीव्र है, मनुष्य अर्थात् पिंडकी संपूर्ण सत्ताको विभक्त करता है, अपितु पिण्डकी भांति वह विश्व-सत्ता अर्थात् ब्रह्माण्डको भी विभक्त करता है। दोनोंमें उच्च और निम्न गोलार्द्ध हैं जिन्हें प्राचीन ज्ञानियोंने परार्द्ध और अपरार्द्ध कहा था। उच्च गोलार्द्धमें परम आत्माका पूर्ण और सनातन राज्य है क्योंकि वहाँ यह बिना विराम या न्यूनताके अपनी अनंतताओंको व्यक्त करता है; अपनी असीम सत्ता, असीम चेतना और ज्ञान, असीम बल और शक्ति तथा असीम आनंदकी अनावृत गरिमाओंको विस्तारित करता है। इसी प्रकार निम्न गोलार्द्ध भी आत्माका है; पर यहाँ वह सीमाकारी मन, सीमित प्राण तथा पृथक्कारी शरीररूपी अपनी निम्न अभिव्यक्तिके द्वारा सूक्ष्म तथा घने रूपसे ढका हुआ है। निम्न गोलार्द्धमें 'पुरुष' नाम और रूपके अंदर आच्छादित है; उसकी चेतना आंतरिक और बाह्य व्यक्ति और विराट्के बीच विभाजनके द्वारा खंडित है; उसकी दृष्टि और इन्द्रिय-शक्ति बाहरकी ओर मुड़ी हुई है; उसकी शक्ति, उसकी चेतनाके विभाजनके द्वारा सीमित होनेके कारण, बंधनमें जकड़ी हुईकी तरह कार्य करती है; उसका ज्ञान, संकल्प, बल और आनंद इस विभाजनसे विभक्त तथा इस सीमाबंधनसे आबद्ध होनेके कारण अपने विरोधी या विपरीत रूपोंके अनुभवकी ओर अर्थात् अज्ञान, दुःख और दुर्बलताकी ओर खुले हुए हैं। निश्चय ही हम अपनी इंद्रियों और अपनी दृष्टिको अंदरकी ओर फेरकर अपने अंतः-

स्थित सच्चे पुरुष या आत्माको जान सकते हैं; बाह्य जगत् और उसके दृश्य प्रपंचमें भी हम, अपनी दृष्टि और इंद्रियशक्तिको उनके अंदर गहराईमें ले जाकर, नामों और रूपोंके पर्देको भेदते हुए उनमें या उनके पीछे अवस्थित वस्तुतक ले जाकर इस वास्तविक पुरुष या आत्माको प्राप्त कर सकते हैं। हमारी सामान्य चेतना इस अंतर्मुख दृष्टिके द्वारा पुरुषकी अनंत सत्ता, चेतना और आनंदको अपने अंदर प्रतिबिंबित करके जान सकती है और उसकी सत्-चित्-आनंदसंबंधी निष्क्रिय या स्थितिशील अनंततामें भाग ले सकती है। परंतु उसके ज्ञान, बल और आनंदकी सक्रिय या गतिशील अभिव्यक्तिमें हम बहुत कम अंशमें ही भाग ले सकते हैं। अपने अंदर सच्चिदानंदके प्रतिबिंबके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह स्थितिशील एकता भी, साधारणतया, सुदीर्घ और कठिन प्रयाससे तथा अनेक जन्मोंमें होनेवाले प्रगतिशील आत्म-विकासके फलस्वरूप ही साधित की जा सकती है; क्योंकि हमारी सामान्य चेतना अपनी सत्ताके अपरार्द्धके नियमके साथ अत्यंत दृढ़तापूर्वक बंधी हुई है। इसको अतिक्रम करनेकी संभावनातकको समझनेके लिये हमें इन दो गोलार्द्धोंके लोकोंके पारस्परिक संबंधोंका एक व्यावहारिक सूत्रके रूपमें पुनः प्रतिपादन करना होगा।

सब वस्तुओंका निर्धारण परम आत्मा ही करता है, क्योंकि सूक्ष्मसे सूक्ष्म सत्तासे लेकर स्थूलसे स्थूल जड़तत्त्वतक सभी कुछ आत्माकी ही अभि-व्यक्ति है। परंतु आत्मा, पुरुष या परम 'सत्' उस लोकको जिसमें वह निवास करता है, तथा उसमें अपनी चेतना, शक्ति और आनंदके अनुभवोंको पुरुष और प्रकृतिके संबंधोंकी (अनेक संभव, संतुलित स्थितियोंमेंसे) किसी एक स्थितिके द्वारा निर्धारित करता है, यह स्थिति उसके अपने वैश्व तत्त्वों-मेंसे किसी एक या दूसरेमें (उस तत्त्वमें बने जगत्के साथ उसके संबंधोंकी) कोई आधारभूत स्थिति होती है। 'जड़पदार्थ' रूपी तत्त्वमें स्थित होनेपर आत्मा भौतिक प्रकृतिके शासनमें स्थूल जगत्का स्थूल 'पुरुष' बन जाता है; वह तब जड़तत्त्वके अनुभवमें ग्रस्त होता है; वह भौतिक सत्ताकी अपनी विशिष्ट तामसिक शक्तिकी अज्ञानमयता और जड़तासे अभिभूत होता है। व्यक्तिमें वह अन्नमय पुरुष बन जाता है जिसका प्राण और मन स्थूल भौतिक तत्त्वके अज्ञान और जड़तत्त्वमेंसे विकसित हुए हैं और उनकी मूल सीमाओंके अधीन हैं। क्योंकि, जड़तत्त्वमें प्राण शरीरके अधीन रहकर ही कार्य करता है; जड़तत्त्वमें मन शरीर और प्राणिक या स्नायविक सत्ताके अधीन रहकर ही कार्य करता है; जड़तत्त्वके अंदर स्वयं आत्मा भी अपने आभ्यंतरिक संबंध और अपनी शक्तियोंमें इस जड़-शासित तथा प्राण-चालित मनके सीमा-

बंधनों और विभाजनोंसे सीमित और विभक्त है। यह अन्नमय पुरुष स्थूल शरीर तथा इसकी संकीर्ण उपरितलीय बाह्य चेतनाके साथ बँधा रहता है, और सामान्यतया यह अपने भौतिक करणों अर्थात् अपनी इंद्रियों तथा अपने देहबद्ध प्राण एवं मनके अनुभवोंको और अधिकसे अधिक कुछ सीमित आध्यात्मिक झांकियोंको ही सत्ताका संपूर्ण सत्य समझता है।

मनुष्य एक आत्मा है, पर एक ऐसी आत्मा जो भौतिक प्रकृतिमें मनोमय पुरुषके रूपमें निवास करती है; अपनी आत्मविषयक चेतनाके प्रति वह स्थूल देहमें रहनेवाला एक मन ही है। परंतु पहले-पहल यह मनोमय सत्ता अन्नमय पुरुषका रूप धारण करती है और तब मनुष्य अन्नमय पुरुषको ही अपनी वास्तविक आत्मा समझता है। जैसा कि एक उपनिषद्में कहा गया है, वह जड़तत्त्व (अन्न) को ही ब्रह्म माननेके लिये बाध्य होता है क्योंकि यहाँ उसकी दृष्टि जड़तत्त्वको एक ऐसी वस्तुके रूपमें देखती है जिससे सब उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा सब जीवित रहते हैं और जिसमें सब प्रयाणके समय लौट जाते हैं। आत्माके संबंधमें उसका स्वाभाविक सर्वोच्च प्रत्यय यह होता है कि वह एक अनंत सत्ता है, वरंच एक निश्चेतन अनंत सत्ता है; यह सत्ता जड़जगत्में वास कर रही है या व्याप्त है (वास्तवमें यह केवल इस जड़-जगत्को ही जानती है) ; साथ ही यह अपनी उपस्थितिकी शक्तिसे उसके चारों ओरके इन सब रूपोंको प्रकट कर रही है। अपने विषयमें उसका स्वाभाविक सर्वोच्च विचार यह है कि वह एक आत्मा या अंतरात्मा है, पर इस आत्माके विषयमें उसकी कल्पना अस्पष्ट ही है। उसके विचारमें यह एक ऐसी अंतरात्मा है जो केवल स्थूल जीवनके अनुभवोंके द्वारा ही व्यक्त होती है, भौतिक दृश्य प्रपंचमें जकड़ी हुई है और विघटित होनेपर एक सहज-स्वाभाविक आवश्यकताके द्वारा अनंतके विशाल अनिर्धारित स्वरूपमें पुनः लय प्राप्त करनेके लिये बाध्य होती है। परन्तु, क्योंकि उसमें अपना विकास करनेकी शक्ति है, वह अन्नमय-पुरुषविषयक इन स्वाभाविक कल्पनाओंके ऊपर उठ सकता है; इनकी त्रुटियोंको वह अतिभौतिक भूमिकाओं और लोकोंसे प्राप्त एक प्रकारके गौण अनुभवसे पूरा कर सकता है। वह अपनी शक्तिको मनपर एकाग्र करके अपनी सत्ताके मानसिक भागको विकसित कर सकता है, पर इसके लिये उसे प्रायः अपने प्राणिक और शारीरिक जीवनकी पूर्णताकी बलि देनी पड़ती है। इस प्रकार, अंतमें मन प्राण और शरीरसे अधिक प्रबल हो जाता है और परब्रह्मकी ओर खुल सकता है। इसके बाद, अपने-आपको मुक्त करनेवाले इस मनको वह परम आत्मापर एकाग्र कर सकता है। यहाँ भी वह प्रायः इस एकाग्रताकी

प्रक्रियामें अपने पूर्ण मानसिक और भौतिक जीवनसे अधिकाधिक दूर हटता जाता है; प्रकृतिमें उसका भौतिक आधार जहाँतक उसे अनुमति देता है वहाँतक वह अपने मानसिक और शारीरिक जीवनकी संभावनाओंको परिमित या निरुत्साहित कर देता है। अंतमें उसका आध्यात्मिक जीवन प्रधानता प्राप्त कर लेता है, वह उसकी संसारोन्मुख प्रवृत्तिका उन्मूलन करके इसके बंधनों और सीमाओंको तोड़ डालता है। अध्यात्ममय बनकर वह अपनी वास्तविक सत्ताका आधार इस लोकसे परे अन्य लोकोंमें, प्राणिक या मानसिक भूमिकाके स्वर्गोंमें स्थापित करता है। वह ऐहलौकिक जीवनको एक ऐसी दुःखमय या क्लेशप्रद घटना या यात्रा मानने लगता है जिसमें वह अपनी आंतरिक आदर्श सत्ता किंवा अपने आध्यात्मिक सार-तत्त्वका कोई पूर्ण रसास्वादन कभी नहीं प्राप्त कर सकता। अपिच, *पुरुष या आत्माके विषयमें उसका उच्चतम विचार कम या अधिक निवृत्ति-*मार्गकी ओर ही झुक सकता है; कारण, हम देख ही चुके हैं कि वह केवल उसकी स्थितिशील अनंतताको, प्रकृतिकी सीमाओंसे न बँधे हुए पुरुषकी निश्चल स्वतंत्रताको तथा प्रकृतिके पीछे अवस्थित आत्माको ही पूर्ण रूपसे अनुभव कर सकता है। निःसंदेह, उसके अंदर कोई दिव्य क्रियाशील अभिव्यक्ति भी साधित हो सकती है, पर वह स्थूल प्रकृतिके भारी बंधनोंको त्यागकर पूर्ण रूपसे उनके ऊपर नहीं उठ सकती। शांत और निष्क्रिय आत्माकी शांति अधिक सुगमतासे प्राप्त हो सकती है और इसका धारण भी वह अधिक सुगमतासे तथा पूर्णताके साथ कर सकता है; पर अनंत क्रियाका आनंद एवं अपरिमेय शक्तिकी सक्रिय स्थिति प्राप्त करना उसके लिये नितांत कठिन है।

परंतु परम आत्मा जड़तत्त्वमें स्थित न होकर प्राणतत्त्वमें भी स्थित हो सकता है। इस प्रकार स्थित होकर वह सचेतन रूपसे क्रिया करने-वाली प्रकृतिके शासनमें प्राणलोकको प्राणमय सत्ता, प्राणशक्तिका प्राणमय पुरुष बन जाता है। सचेतन प्राणकी शक्ति और लीलाके अनुभवोंमें मग्न होकर वह प्राणिक सत्ताके अपने विशिष्ट राजसिक तत्त्वकी कामना, और क्रिया-प्रवृत्ति तथा उसके राग-विकारके वशीभूत रहता है। व्यक्तिमें यह आत्मा प्राणमय पुरुष बन जाता है जिसकी प्रकृतिके शासनमें प्राणशक्तियाँ मानसिक और भौतिक तत्त्वोंको उत्पीड़ित करती हैं। प्राणलोकमें भौतिक तत्त्व अपनी क्रियाओं और रचनाओंको कामना और उसकी कल्पनाओंके अनुरूप अनायास ही ढाल लेता है, वह प्राणके आवेश और बलकी तथा इनकी रचनाओंकी सेवा करता है तथा उनके वशमें रहता है, वहाँ वह

उन्हें उस प्रकार बाधा नहीं पहुँचाता और न सीमित ही करता है जिस प्रकार कि वह यहाँ इस भूलोकमें करता है जहाँ जीवन जड़प्रकृतिमें होने-वाली एक अनिश्चित-सी घटना है। इस भूमिकामें मानसिक तत्त्व भी प्राणशक्तिके द्वारा गठित और सीमित होता है, इसके वशमें रहता है और इसकी कामनाओंकी प्रेरणा तथा इसके आवेगोंकी शक्तिको समृद्ध और चरितार्थ करनेमें ही सहायता पहुँचाता है। यह प्राणमय पुरुष प्राणिक शरीरमें निवास करता है जो भौतिक जड़तत्त्वसे कहीं अधिक सूक्ष्म उपादानसे बना हुआ है। वह उपादान सचेतन शक्तिसे परिपूरित है, पार्थिव तत्त्वके स्थूल अणु-परमाणु जिन अनुभवों, क्षमताओं तथा इंद्रिय-क्रियाओंको प्रस्तुत कर सकते हैं उनकी अपेक्षा वह कहीं अधिक शक्तिशाली अनुभवों, क्षमताओं तथा इंद्रिय-क्रियाओंको प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्यके अंदर भी उसकी भौतिक सत्ताके पीछे यह प्राणमय पुरुष, यह प्राणिक प्रकृति और प्राणिक शरीर विद्यमान हैं जो स्थूल सत्ताके तलके नीचे छुपे हैं, इसके लिये अगोचर और अज्ञात हैं किंतु फिर भी इसके अत्यंत निकट हैं और इसके साथ मिलकर उसकी सत्ताके अत्यंत स्वाभाविक रूपमें क्रियाशील भागका निर्माण करते हैं। प्राणलोक या कामना-लोकके साथ संबद्ध एक प्राणमय भूमिका, पूरी-की-पूरी, हमारे अंदर छुपी हुई है, वह एक गुप्त चेतना है जिसमें प्राण और कामना दोनों निर्बाध रूपसे अपनी लीला करते हैं तथा सहज रूपसे अपने-आपको प्रकट करते हैं और वहाँसे वे हमारे बाह्य जीवनपर अपना प्रभाव डालते हैं तथा अपनी रचनाओंको प्रक्षिप्त करते हैं।

जैसे-जैसे इस प्राणिक स्तरकी शक्ति उसके अंदर प्रकट होती है तथा उसकी स्थूल सत्ताको अपने अधिकारमें करती जाती है, वैसे-वैसे यह 'पृथिवीपुत्र' प्राणशक्तिका वाहन बनता जाता है, इसकी कामनाएँ शक्ति-शाली हो जाती हैं, इसके राग-विकार और भावावेश उग्र हो जाते हैं और इसके कर्म प्रचण्ड-शक्तिशाली अर्थात् यह अधिकाधिक राजसिक मनुष्य बनता जाता है। अब यह अपनी चेतनामें प्राण-भूमिकाकी ओर जागरित होकर प्राणमय पुरुष बन सकता है, प्राणिक प्रकृतिको धारण करके गुप्त एवं सूक्ष्म प्राण-शरीर तथा प्रत्यक्ष स्थूल शरीर दोनोंमें निवास कर सकता है। यदि वह राजसिक मनुष्य इस परिवर्तनको किसी प्रकारकी पूर्णता या एकनिष्ठताके साथ साधित कर लेता है—साधारणतः तो यह परिवर्तन महान् और हितकर सीमाओंके अधीन ही साधित होता है, या फिर उद्धार-कारी जटिलताओंसे युक्त रहता है—और यदि वह इन कामना, आवेश और विकार आदि चीजोंसे ऊपर नहीं उठता, प्राणसे परेके उस शिखरपर

आरोहण नहीं करता जहाँसे इन चीजोंका प्रयोग किया जा सकता है, इन्हें शुद्ध और उदात्त किया जा सकता है, तो वह निम्न प्रकारका असुर या दानव या स्वभावसे राक्षस बन जाता है, निरे बल और निरी प्राण-शक्तिवाली आत्मा बन जाता है जो असीम कामना तथा आवेशकी शक्तिसे परिवर्द्धित या परिपूरित होती है, सक्रिय शक्ति और महाकाय राजसिक अहंकारसे अनुधावित और परिचालित होती है, पर साधारण जड़तर पार्थिव प्रकृतिमें देहप्रधान मनुष्यके पास जो शक्तियाँ होती हैं उनसे कहीं अधिक बड़ी तथा अधिक विविध प्रकारकी शक्तियोंसे संपन्न होती है। चाहे वह प्राणमय भूमिकापर मनका अत्यधिक विकास कर ले तथा इसकी सक्रिय शक्तिका प्रयोग भी आत्मसंयम और स्व-तुष्टिके लिये करे तो भी ऐसा वह आसुरिक तपस्याके द्वारा ही करेगा यद्यपि यह तपस्या अपेक्षाकृत ऊँचे ढंगकी होगी तथा इसका उद्देश्य भी राजसिक अहंकी अधिक नियंत्रित तुष्टि करना होगा।

परंतु अन्नमय भूमिकाकी भाँति प्राणमय भूमिकामें भी उसके अपने प्रकारमें एक विशेष आध्यात्मिक महानताकी ओर उठना संभव है। प्राणप्रधान मनुष्यके लिये यह मार्ग खुला है कि वह अपने-आपको कामनामय पुरुष और प्राणमय भूमिकाकी अपनी स्वाभाविक धारणाओं और शक्तियोंके परे उठा ले जाय। वह उच्चतर मनका विकास कर सकता है और प्राणमय पुरुषकी अवस्थाओंमें अपने रूपों और शक्तियोंके पीछे या परे विद्यमान आत्मा या पुरुषका कोई साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिये अपने-आपको एकाग्र कर सकता है। इस आध्यात्मिक साक्षात्कारमें निष्क्रिय शांतिकी आवश्यकता अपेक्षाकृत कम प्रबल होगी; क्योंकि वहाँ सनातनके आनंद और बल तथा अधिक प्रबल एवं स्वतृप्त शक्तियोंकी सक्रिय चरितार्थताकी ओर क्रियाशील अनंत सत्ताके अधिक समृद्ध विकासकी संभावना बहुत ही बढ़ जायगी। तथापि यह चरितार्थता सच्ची और समग्र पूर्णताके आसपास कदापि नहीं पहुँच सकती; क्योंकि अन्नमय लोककी भाँति कामनालोककी अवस्थाएँ भी पूर्ण आध्यात्मिक जीवनके विकासके लिये उपयुक्त नहीं हैं। प्राणमय पुरुषको भी हमारी सत्ताके निम्न गोलार्द्धमें अपने जीवनकी पूर्णता, सक्रियता और शक्तिको हानि पहुँचाकर ही आत्माका विकास करना होगा और अंतमें प्राणिक सूत्रसे तथा जीवनसे विमुख होकर या तो नीरवताकी ओर या अपनेसे परे अवस्थित अनिर्वचनीय शक्तिकी ओर मुड़ना होगा। यदि वह प्राणिक जीवनसे विमुख नहीं होता तो वह उसकी जंजीरोंसे बँधा रहेगा, उसकी आत्म-पूर्णता केवल अपने ही अधिकार-बलसे युक्त कामनामय

लोकके तथा उसके प्रबल राजसिक तत्त्वके अधोमुख आकर्षणके द्वारा सीमित रहेगी। अतएव, प्राणिक स्तरपर भी समग्र पूर्णता प्राप्त करना संभव नहीं; जो आत्मा केवल यहींतक पहुँचती है उसे अधिक महान् अनुभव एवं अधिक उच्च आत्मविकासके लिये तथा आत्माकी ओर अधिक सीधे आरोहणके लिये पुनः स्थूल जीवनमें आना होगा।

जड़तत्त्व और प्राणके ऊपर स्थित है मनका तत्त्व जो वस्तुओंके गुप्त 'मूल'के अधिक निकट है। मनमें प्रतिष्ठित परम आत्मा मनोलोकका मनोमय पुरुष बन जाता है और वहाँ अपनी शुद्ध, प्रकाशमय मानसिक प्रकृतिके राज्यमें निवास करता है। वह विराट् बुद्धिकी अतिशय स्वतंत्रतामें कार्य करता है। साथ ही वहाँ इस बुद्धिको चैत्य मन और उच्चतर भावप्रधान मनकी शक्तिकी सम्मिलित क्रियाओंसे सहायता प्राप्त होती है और मानसिक सत्ताके अपने विशिष्ट सत्त्वगुणके विशद ज्ञान और सुख-रूपी धर्मसे भी इसे सूक्ष्मता और आलोक प्राप्त होते हैं। इस भूमिकामें स्थित आत्मा व्यक्तिमें मनोमय पुरुष बन जाता है जिसकी प्रकृतिके शासनमें मनकी विशदता एवं प्रकाशमय शक्ति अपने निज अधिकारसे कार्य करती है; वह प्राणिक या शारीरिक साधनोंके किसी प्रकारके बंधन या उत्पीड़नके अधीन नहीं होती। बल्कि वहाँ मनोमय पुरुष अपने शरीरके रूपों और अपने प्राणकी शक्तियोंपर पूर्ण रूपसे शासन करता है तथा उनका निर्धारण भी करता है। क्योंकि, मन अपने स्तरमें प्राणके द्वारा सीमित और जड़तत्त्वके द्वारा प्रतिहत नहीं है जैसा कि वह यहाँ पार्थिव प्रक्रियामें देखनेमें आता है। यह मनोमय पुरुष मनोमय या सूक्ष्म शरीरमें निवास करता है जो ज्ञान एवं अनुभवकी तथा अन्य मनुष्योंके साथ सहानुभूति और उनके मनमें प्रवेश करनेकी ऐसी शक्तियोंका उपभोग करता है जिनकी हम कदाचित् कल्पना भी नहीं कर सकते। साथ ही, वह सूक्ष्म शरीर इंद्रियोंकी एक ऐसी स्वतंत्र, सूक्ष्म और व्यापक मानसीकृत शक्तिका भी उपभोग करता है जो प्राणिक या भौतिक प्रकृतिकी स्थूलतर अवस्थाओंसे सीमित नहीं होती।

मनुष्यके अंदर भी यह मनोमय पुरुष, मानसिक प्रकृति, मनोमय शरीर और मानसिक स्तर हैं जो स्थूल सत्ताके तलके नीचे प्रच्छन्न हैं, अज्ञात और अगोचर हैं, उसकी जाग्रत् चेतना और दृश्य शरीरके पीछे छुपे हुए हैं। वह मानसिक स्तर अन्नमय रूपको प्राप्त नहीं हुआ है। उसमें 'मन'-रूपी तत्त्व निज लोककी भाँति सहज-स्वाभाविक रूपमें विद्यमान है और अन्नमय भूमिकाकी तरह वहाँ उसका किसी ऐसे लोकके साथ संघर्ष

नहीं है जो उसके प्रतिकूल हो, उसकी स्वतंत्रतामें वाधा पहुँचाता तथा उसकी शुद्धता और विशदताको कलुषित करता हो। जैसे-जैसे मनुष्यके अंदरका यह मानसिक स्तर उसपर दवाव डालता है वैसे-वैसे उसकी सव उच्चतर क्षमताएँ, उसकी बौद्धिक एवं चैत्य-मानसिक सत्ता और शक्तियाँ, उसकी उच्चतर आवेशात्मक प्राणशक्ति उसके अंदर जागरित होकर वढ़ती जाती हैं। क्योंकि, जितना अधिक यह व्यक्त होता है, जितना अधिक यह भौतिक भागोंपर अपना प्रभाव डालता है, उतना ही अधिक यह अन्नमय प्रकृतिके अपने मिलते-जुलते मानसिक स्तरको समृद्ध और समुन्नत करता है। अपने वढ़ते प्रभुत्वके एक विशेष शिखरपर यह मनुष्यको केवल तर्कशील प्राणी न रहने देकर सच्चे अर्थोंमें मनुष्य वना सकता है; क्योंकि, तव यह हमारे अंदरके मनोमय पुरुषको अपनी विलक्षण शक्ति प्रदान करता है। यह मनोमय पुरुष ही हमारी मानवताकी मनोवैज्ञानिक रचनाका सारतत्त्व है जो अंदरसे शासन करता है, पर फिर भी जिसकी शक्ति अभीतक अत्यंत कुंठित है।

मनुष्यके लिये यह संभव है कि वह इस उच्चतर मानसिक चेतनाके प्रति जागरित होकर मनोमय* पुरुष वन जाय, इस मानसिक प्रकृतिको धारण कर ले और केवल प्राणमय तथा अन्नमय कोषोंमें ही नहीं, वल्कि इस मनोमय कोषमें भी निवास करे। यदि यह रूपांतर पर्याप्त पूर्ण रूपसे साधित हो जाय तो वह एक ऐसे जीवन और अस्तित्वको धारण करनेके योग्य हो जायगा जो कम-से-कम आधे दिव्य होंगे। क्योंकि, वह इस साधारण जीवन और शरीरके क्षेत्रसे परेकी शक्तियों, अनुभूतियों और अंतर्दृष्टिका उपभोग करेगा; वह शुद्ध ज्ञानकी विशदताओंके द्वारा सवका नियमन करेगा; वह प्रेममयी और प्रसन्नतापूर्ण सहानुभूतिके द्वारा दूसरे प्राणियोंके साथ एकतामें वँधा होगा; उसके भावावेश चैत्य मनके स्तरकी

---

*यहाँ मैं 'मन' शब्दके अंदर मनकी उस उच्चतम भूमिकाको ही समाविष्ट नहीं करता जिससे मनुष्य साधारणतया परिचित है वल्कि इससे और अधिक ऊँची भूमिकाओंको भी समाविष्ट करता हूँ। उनमें प्रवेश पानेके लिये या तो इस समय उसके पास कोई शक्ति नहीं है या फिर वह उनकी शक्तियोंके किसी क्षीण भागको ही आंशिक एवं मिश्रित रूपमें ग्रहण कर सकता है। वे भूमिकाएँ हैं—प्रकाशयुक्त मन, वोधिमय मन, और अन्तमें सृष्टिक्षम अधिमानस या माया जो वहुत ही ऊपर स्थित है और हमारे वर्तमान अस्तित्वका मूल है। यदि मनको वुद्धिशक्ति या मानवबुद्धिके अर्थमें हो लिया जाना हो तो स्वतंत्र मनोमय पुरुष एवं उसकी भूमिका यहाँ दिये गये वर्णनकी अपेक्षा कहीं अधिक सीमित और अत्यन्त निम्न कोटिकी वस्तु होगी।

पूर्णतातक उठ जायेंगे, उसके संवेदन स्थूलतासे मुक्त हो जायेंगे, उसकी वुद्धि सूक्ष्म, शुद्ध और नमनीय बनकर अशुद्ध प्राणशक्तिकी पथभ्रष्टताओंसे तथा जड़तत्त्वकी बाधाओंसे मुक्त हो जायगी। साथ ही, वह किसी भी मानसिक हर्ष और ज्ञानकी अपेक्षा अधिक ऊँचे ज्ञान और आनंदको अपने अंदर प्रतिबिंबित करनेकी शक्तिका विकास कर लेगा; क्योंकि, वह विज्ञान-भूमिकासे आनेवाली अंत:प्रेरणाओं और संबोधियोंको अधिक पूर्ण रूपमें तथा हमारे अक्षम मनके विकृतिजनक और मिथ्याकारक मिश्रणके विना ग्रहण कर सकेगा। वे अंत:प्रेरणाएँ और संबोधियाँ विज्ञान-ज्योतिके तीरके समान होती हैं और उसकी पूर्णताप्राप्त मानसिक सत्ताको इस वृहत्तर ज्योतिके शक्तिपुंज और साँचेमें ढाल देती हैं। तब वह अपनी सत्ताके तृप्त सामंजस्यमें आजकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल, अधिक ज्योतिर्मय और प्रगाढ़ तीव्रताके साथ तथा आत्माकी सक्रिय शक्ति और आनंदकी महत्तर लीलाके साथ पुरुष या आत्माका साक्षात्कार भी प्राप्त कर सकेगा।

हमारे साधारण विचारोंको यह प्राप्ति, सहज ही, सर्वोच्च पूर्णता प्रतीत हो सकती है, एक ऐसी चीज प्रतीत हो सकती है जिसे पानेके लिये मनुष्य आदर्शवादकी अपनी सर्वोच्च उड़ानोंमें अभीप्सा कर सकता है। नि:संदेह, शुद्ध मनोमय पुरुषके लिये उसके अपने गुण-धर्ममें यह पूर्णता पर्याप्त होगी, किंतु फिर भी आध्यात्मिक प्रकृतिकी महत्तर संभावनाओंसे यह वहुत अधिक नीचे रहेगी। क्योंकि, यहाँ भी हमारी आध्यात्मिक उपलब्धि मनकी सीमाओंके अधीन रहेगी; और मनकी प्रकृति तो एक ऐसे प्रतिबिंबित प्रकाशसे युक्त है जो हलका और छितरा हुआ है या फिर संकुचित रूपमें तीव्र है, वह आत्माके विशाल और सर्वग्राही स्वयंस्थित प्रकाश और आनंदसे युक्त नहीं है। वह वृहत्तर प्रकाश, वह गभीरतर आनंद मानसिक प्रदेशोंसे परे स्थित हैं। सच पूछो तो मन आत्माका पूर्ण यंत्र कदापि नहीं हो सकता; परम आत्माभिव्यक्ति इसकी क्रियाओंमें हो ही नहीं सकती, क्योंकि, पृथक् करना, विभक्त और सीमित करना इसका निज स्वभाव ही है। यदि मन समस्त भावात्मक अनृत और प्रमादसे मुक्त हो भी सके, यदि वह पूर्ण तथा अचूक रूपसे अंतर्ज्ञानमय बन भी सके, तथापि वह केवल अर्द्ध-सत्यों या पृथक् सत्योंको ही प्रस्तुत और व्यवस्थित कर सकेगा और इन्हें भी इनके अपने स्वरूपमें नहीं बल्कि ऐसे उज्ज्वल प्रतिनिधिभूत आकारोंके रूपमें प्रस्तुत कर सकेगा जिन्हें इस प्रकार इकट्ठा कर दिया जाता है कि वे मिलकर एक पुंजीभूत समग्र या स्तूपमय रचना वना दें। इसलिये यहाँ अपनी पूर्णताको साधित करनेवाले मनोमय प्राणीको

या तो अपनी निम्न सत्ताका त्याग कर शुद्ध आत्मामें चले जाना होगा अथवा पूर्णता प्राप्त करके स्थूल जीवनको फिरसे अपनाना होगा, ताकि इसमें उस शक्तिका विकास किया जा सके जो हमारी मानसिक और चैत्य प्रकृतिमें अभीतक नहीं पायी जाती। यही सत्य उपनिषद्में भी प्रकट किया गया है। वहाँ कहा गया है कि मनोमय पुरुषको प्राप्त होनेवाले स्वर्ग वे हैं जिनकी ओर मनुष्य सूर्यकी किरणों अर्थात् अतिमानसिक सत्य चेतनाकी प्रखर पर विकीर्ण और पृथक्-पृथक् रश्मियोंके द्वारा ऊपर उठता है और इन स्वर्गोंसे उसे पार्थिव जीवनमें लौटना पड़ता है। परंतु जो ज्ञानदीप्त व्यक्ति पार्थिव जीवनका त्याग कर सूर्यके द्वारोंमेंसे होते हुए इस लोकके परे चले जाते हैं वे फिर यहाँ नहीं लौटते। मनोमय प्राणी अपने गोलार्द्धको अतिक्रम करके फिर नहीं लौटता क्योंकि इस अतिक्रमणके द्वारा वह सत्ताके उस उच्च स्तरमें प्रवेश पा लेता है जो उच्चतर गोलार्द्धका अपना विशिष्ट स्तर है। वह उसकी महत्तर आध्यात्मिक प्रकृतिको नीचे उतारकर इस निम्नतर त्रिविध सत्तामें नहीं ला सकता; क्योंकि यहाँ तो मनोमय पुरुष ही आत्माकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। यहाँ त्रिविध—मानसिक, प्राणिक और भौतिक—शरीर ही हमारी धारणशक्तिका प्रायः संपूर्ण क्षेत्र है और यह उस महत्तर चेतनाको धारण करनेके लिये पर्याप्त नहीं हो सकता; इस त्रिविध सत्तामें वह आधार अभी बना ही नहीं है जो महत्तर दिव्यताको अपने अंदर समा सके अथवा इस अतिमानसिक शक्ति और ज्ञानके ऐश्वर्योको अपने अंदर प्रतिष्ठित कर सके।

परंतु धारण-शक्तिकी यह सीमा तभीतक वास्तविक होती है जबतक मनुष्य मानसिक मायाकी चहारदीवारीके भीतर बंद रहता है। यदि वह उच्चतम मनोमय अवस्थासे परे ज्ञानमय आत्मामें उठ जाय, यदि वह विज्ञानमय पुरुष अर्थात् विज्ञान-तत्त्वमें प्रतिष्ठित आत्मा बन जाय और उसके अनंत सत्य एवं शक्तिकी प्रकृतिको धारण कर ले, यदि वह विज्ञानमय कोष अर्थात् कारण शरीरमें तथा प्राणमय एवं स्थूलतर अन्नमय कोषों या शरीरोंको परस्पर जोड़नेवाले इस सूक्ष्म मानसिक कोष या शरीरमें निवास करे तब, पर केवल तब ही वह अनंत आध्यात्मिक चेतनाके पूर्ण वैभवको अपने पार्थिव जीवनके अंदर पूर्ण रूपसे उतार लानेमें समर्थ होगा; तभी वह अपनी समस्त सत्ताको और यहाँतक कि अपनी संपूर्ण व्यक्त एवं मूर्त प्रकटनकारी प्रकृतिको भी आध्यात्मिक राज्यमें उठा ले जानेके उपयुक्त होगा। परंतु यह कार्य अत्यंत ही कठिन है; क्योंकि केवल कारण शरीर ही आध्यात्मिक स्तरोंकी चेतना और शक्तियोंके प्रति सहजमें खुल सकता है। और वह अपने स्वभावसे

ही सत्ताके उच्चतर गोलार्द्धका तत्त्व है, मनुष्यमें तो वह या तो बिलकुल ही विकसित नहीं हुआ है या अबतक केवल अपक्व रूपमें ही विकसित एवं संगठित है और हमारे अंदर प्रच्छन्न सत्ताके अनेक मध्यवर्ती द्वारोंके पीछे छुपा हुआ है। वह अपना उपादान-तत्त्व सत्य-ज्ञान तथा असीम आनंदके स्तरोंसे आहरण करता है और ये स्तर पूर्णरूपेण एक उच्चतर गोलार्द्धसे संबंध रखते हैं जो अभीतक भी हमारी पहुंचसे परे है। इस निम्नतर सत्तापर अपने सत्य प्रकाश और आनंदकी वृष्टि करते हुए ये उन सब चीजोंके मूल उद्गम हैं जिन्हें हम आध्यात्मिकता तथा पूर्णता कहते हैं। परंतु ये सत्य आदि हमारे अंदर उन मोटे आवरणोंके पीछेसे छनते हुए आते हैं जिनमेंसे ये इतने हलके और दुर्बल होकर पहुँचते हैं कि ये हमारे स्थूल-भौतिक बोधोंकी जड़तामें पूर्णतया आच्छादित हो जाते हैं, हमारे प्राणिक आवेगोंमें स्थूल ढंगसे विरूप और विकृत बन जाते हैं, हमारी विचारात्मक खोजोंमें भी, कुछ कम स्थूल रूपसे ही सही, विकृत हो जाते हैं, हमारी मानसिक प्रकृतिके उच्चतम अंत-र्ज्ञानात्मक क्षेत्रोंकी अपेक्षाकृत अधिक शुद्धता और तीव्रतामें भी ये अत्यंत क्षीण हो जाते हैं। विज्ञान-तत्त्व सत्तामात्रमें गुप्त रूपसे अवस्थित है। स्थूल-से-स्थूल जड़ सत्तामें भी वह विद्यमान है, वह अपनी निगूढ़ शक्ति और नियमोंके द्वारा निम्नतर लोकोंकी रक्षा करता तथा उनपर शासन करता है; पर वह शक्ति पर्देके पीछे छुपी हुई है और वह नियम हमारी भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृतिके हीनतर नियमकी जकड़ी हुई-सी सीमाओं और पंगु बनानेवाली विकृतियोंके द्वारा अलक्षित रूपमें कार्य करता है। तथापि निम्नतम रूपोंके अंदर विज्ञान-तत्त्वकी प्रभुत्वपूर्ण उपस्थिति, समस्त सत्ताके एक होनेके कारण, हमें इस बातका आश्वासन देती है कि सभी पर्दोंके होते हुए भी, हमारी दृश्यमान दुर्बलताओंके समस्त स्तूप तथा हमारे मन-प्राण-शरीरकी अक्षमता या अनिच्छाके रहते भी वह शक्ति और नियम यहाँ जागरित हो सकते हैं, यहाँतक कि वे पूर्ण रूपसे प्रकट भी हो सकते हैं। और जो कुछ हो सकता है वह एक दिन होकर रहेगा, क्योंकि यह सर्व-शक्तिमान् आत्माका एक नियम है।

'पुरुष' की इन उच्चतर भूमिकाओं तथा इनके आध्यात्मिक प्रकृतिवाले महत्तर लोकोंके स्वरूपको समझना स्वभावतः ही कठिन है। यहाँतक कि वेद और उपनिषदें भी रूपकों, संकेतों और प्रतीकोंके द्वारा ही इनका आभास देती हैं, तथापि दो गोलार्द्धोंकी सीमापर अवस्थित मन इन्हें जहाँतक समझ सकता है वहाँतक इनके सिद्धांतों और इनके क्रियात्मक प्रभावका कुछ वर्णन करनेकी चेष्टा करना आवश्यक है। मनकी सीमाके परे जाना आत्म-ज्ञानके

द्वारा आत्म-अतिक्रमण करनेवाले योगका शिखर एवं पूर्णत्व होगा। उप-निषद्में कहा गया है कि पूर्णताकी अभीप्सा करनेवाली आत्मा अंदर तथा ऊपरकी ओर मुड़कर अन्नमय पुरुषसे प्राणमयमें तथा प्राणमयसे मनोमयमें प्रवेश करती है,—मनोमय पुरुषसे विज्ञानमयमें तथा उस विज्ञानमयसे आनंद-मय पुरुषमें प्रवेश करती है। यह आनंदमय पुरुष पूर्ण सच्चिदानंदका चिन्मय आधार है और इसमें पहुँच जानेसे आत्माका आरोहण पूरा हो जाता है। अतएव मनको मूर्त चेतनाके इस सुनिश्चित रूपांतरका, सदा अभीप्सा करने-वाली हमारी प्रकृतिके इस प्रोज्ज्वल रूपांतर एवं आत्म-अतिक्रमणका कुछ विवरण अपने सामने प्रस्तुत करनेका यत्न अवश्य करना चाहिये। मन जो वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है वह स्वयं वर्णनीय वस्तुके अनुरूप कदापि नहीं हो सकता, पर वह, कम-से-कम, उसकी किसी संकेतप्रद छाया या शायद किसी अर्द्ध-प्रकाशमान प्रतिमाकी ओर अंगुलि-निर्देश अवश्य कर सकता है।

बाईसवाँ अध्याय

विज्ञान

अपने पूर्ण आत्म-अतिक्रमणमें हम मनोमय पुरुषके अज्ञान या अर्द्धप्रकाशके बाहर निकलकर तथा ऊपर उठकर इससे परेकी महत्तर ज्ञानमय आत्मा एवं सत्य-शक्तिमें पहुँच जाते हैं ताकि हम दिव्य ज्ञानकी निर्बाध ज्योतिमें निवास कर सकें। वहाँ मनोमय मानव, जो कि हम हैं, विज्ञानमय पुरुष अर्थात् सत्य-सचेतन दिव्य सत्तामें परिणत हो जाता है। अपने आरोहणके "अद्रि"के उस धरातलपर अवस्थित होनेपर हम विश्वात्माकी इस अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय स्थितिसे सर्वथा भिन्न भूमिकामें पहुँच जाते हैं, और इस परिवर्तनके साथ अपनी आत्मसत्ताके जीवन तथा अपने चारों ओरके जगत्के विषयमें हमारा समस्त दृष्टिकोण एवं अनुभव भी परिवर्तित हो जाता है। आत्माकी एक नयी भूमिकामें जन्म लेकर हम नयी प्रकृति धारण कर लेते हैं; क्योंकि आत्माकी भूमिकाके अनुसार ही प्रकृतिकी भूमिका होती है। जड़तत्त्वसे प्राण, प्राणसे मन और बद्ध मनसे मुक्त बुद्धिकी ओर होनेवाले विश्व-आरोहणके प्रत्येक अवस्था-संक्रमणके समय ज्यों-ज्यों प्रसुप्त, अर्द्ध-व्यक्त या पहलेसे ही व्यक्त आत्मा सत्ताके अधिकाधिक उच्च स्तरकी ओर उठती है त्यों-त्यों प्रकृति भी सत्ताकी उत्कृष्टतर क्रिया, विशालतर चेतना तथा बृहत्तर शक्तिमें, उसके गहनतर या विस्तृततर क्षेत्र और आनंदमें उन्नीत हो जाती है। परंतु मनोमय पुरुषसे विज्ञानमय पुरुषमें संक्रमण योगमें महान् और निर्णायक संक्रमण है। इसका मतलब यह है कि हमारे ऊपर विराट् अज्ञानका जो प्रभुत्व है उसके अंतिम जूएको उतार फेंकना और जगद्विषयक सत्यमें तथा अंधकार, असत्य, दुःख या भ्रमसे अभेद्य एक असीम एवं सनातन चेतनामें दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित होना।

यह प्रथम शिखर है जो दिव्य पूर्णता अर्थात् दिव्य साधर्म्य एवं सादृश्यके लोकको स्पर्श करता है; क्योंकि शेष सब केवल ऊपर इसकी ओर दृष्टिपात करते हैं या इसके गूढ़ मर्मकी कुछ किरणोंको ही पकड़ पाते हैं। मन या अधिमानसके उच्चतम शिखर भी ह्रासप्राप्त अज्ञानके घेरेके अंदर ही स्थित हैं; वे दिव्य ज्योतिकी किरणोंको तिरछी करके अपने अंदर प्रवेश करने दे सकते हैं पर उन्हें क्षीण शक्तिके रूपमें हमारे निम्न अंगोंतक जाने नहीं दे

सकते। क्योंकि, जबतक हम मन, प्राण और शरीरके त्रिविध स्तरके भीतर रहते हैं, तबतक मनके अंदर स्थित आत्माको कुछ ज्ञान प्राप्त रहनेपर भी हमारी सक्रिय प्रकृति अज्ञानकी शक्तिके द्वारा कार्य करना जारी रखती है। और चाहे आत्मा ज्ञानकी संपूर्ण विशालताको अपनी मानसिक चेतनामें प्रतिबिंबित या प्रदर्शित करे, फिर भी वह व्यावहारिक रूपमें उसे यथावत् क्रियाशील बनानेमें असमर्थ रहेगी। निःसंदेह, सत्यकी क्रियामें बहुत अधिक वृद्धि हो सकती है, किंतु फिर भी संकीर्णता सत्यके पीछे लगी ही रहेगी, साथ ही वह एक ऐसे द्वैतभावसे भी अभिशप्त रहेगा जो उसे अनंतकी शक्तिमें समग्रताके साथ कार्य नहीं करने देगा। दिव्य प्रकाशयुक्त मनकी शक्ति साधारण शक्तियोंकी तुलनामें गुरुतर हो सकती है, तथापि वह अक्षमतासे ग्रस्त ही होगी और अतएव कार्यसाधक संकल्पकी शक्ति तथा उसे प्रेरित करनेवाली ज्ञान-ज्योतिमें पूर्ण सामंजस्य संभव नहीं होगा। अनंत उपस्थिति वहाँ स्थितिशील अवस्थामें विद्यमान हो सकती है, परंतु प्रकृतिकी क्रियाओंकी गतिशक्ति अभी निम्नतर प्रकृतिसे ही संबद्ध होती है, वह अनिवार्यतः उसके कार्य-व्यापारके त्रिगुणका अनुसरण करती है और उसके अंदरकी महानताको कोई उपयुक्त रूप देनेमें सफल नहीं हो सकती। असफलताकी, आदर्श और उसे सिद्ध करनेवाले संकल्पके बीचकी खाईकी, अपनी आंतरिक चेतनामें अनुभूत होनेवाले सत्यको जीवंत रूप और कर्ममें चरितार्थ करनेमें हमारी सतत असमर्थताकी यह विपदा ही मन और प्राणकी अपने पीछे स्थित दिव्यताके प्रति समस्त अभीप्साका पीछा करती है। परंतु विज्ञान केवल सत्य-चेतना ही नहीं सत्य-शक्ति भी है, वह अनंत और दिव्य प्रकृतिकी अपनी वास्तविक क्रिया है; वह एक दिव्य ज्ञान है जो स्वाभाविक, ज्योतिर्मय और अटल आत्मचरितार्थताके बल और आनंदमें दिव्य संकल्पके साथ एक है। अतएव, विज्ञानके द्वारा हम अपनी मानव-प्रकृतिको दैवी प्रकृतिमें परिणत कर सकते हैं।

तो यह विज्ञान क्या वस्तु है और इसका वर्णन हम किस प्रकार कर सकते हैं? यहाँ पहले दो परस्पर विपरीत भ्रांतियोंसे बचना आवश्यक है, वे भ्रांतियाँ दो मिथ्या धारणाएँ हैं जो विज्ञानके सत्यके दो विरोधी पक्षोंको विकृत कर देती हैं। उनमेंसे एक भ्रांति है बुद्धिके घेरेमें बंद विचारकोंकी। वे 'विज्ञान' को एक अन्य भारतीय शब्द 'बुद्धि' का पर्याय समझते हैं और 'बुद्धि' को तर्कशक्ति, विवेकबुद्धि किंवा तर्कबुद्धिका। जो दर्शन 'विज्ञान' का ऐसा अर्थ मानते हैं वे शुद्ध बुद्धिके स्तरसे एकदम शुद्ध आत्माके स्तरमें चले जाते हैं। इन दोनोंके बीचमें वे किसी भी शक्तिको स्वीकार नहीं करते, ज्ञानकी शुद्ध तर्कसे अधिक दिव्य किसी भी क्रियाको वे नहीं मानते;

सत्यका साक्षात्कार करनेके सीमित मानवीय साधनको चेतनाका ऊँचे-से-ऊँचा क्रियाशील साधन, उसकी सर्वोच्च शक्ति एवं मूल क्रिया माना जाता है। इससे उलटी भ्रांति किंवा मिथ्या धारणा है रहस्यवादियोंकी। वे 'विज्ञान'-को अनंत ब्रह्मकी उस चेतनासे अभिन्न मानते हैं जो समस्त अवधारणासे रहित है या फिर जिसमें विचारणामात्र विचारके एक ही सारतत्त्वमें पुंजीभूत है, एकमेवके अखण्ड और अपरिवर्तनीय विचारमें लीन होनेके कारण अन्य शक्तिमय कार्यसे विरत है। यह चेतना तो उपनिषद्में वर्णित **चैतन्यघन** है और विज्ञानकी एक क्रिया है अथवा यूँ कहना चाहिये कि उसकी नाम-रूपात्मक क्रियाका एक सूत्र है। परंतु विज्ञान अनंत सत्तत्त्वका यह घनीभूत चैतन्य ही नहीं है; इसके साथ-साथ यह अनंतकी असंख्यविध लीलाका अनंत ज्ञान भी है। समस्त विचारणा (मानसिक नहीं, अतिमानसिक) इसमें निहित है, पर यह विचारणाके द्वारा सीमित नहीं होता, क्योंकि यह समस्त विचारणात्मक क्रियाके बहुत ही परे है। विज्ञानमय विचारणा अपने स्वरूपमें बौद्धिक चिंतन भी नहीं है; जिसे हम विवेकबुद्धि कहते हैं वह यह नहीं है न यह एकाग्र बुद्धि ही है। क्योंकि विवेकशक्तिकी पद्धतियाँ मानसिक हैं, उसकी प्राप्तियाँ मानसिक होती हैं, उसका आधार भी मनके ऊपर है, किंतु विज्ञानकी विचारपद्धति स्वयं-प्रकाश है, मनसे अतीत है, इससे उत्पन्न होनेवाली विचार-ज्योति स्वयं-स्फूर्त होती है, वह यत्नके द्वारा प्राप्त नहीं होती, इसके विचारका आधार सचेतन तादात्म्योंकी अभिव्यक्तिरूप होता है न कि परोक्ष संपर्कोंसे उत्पन्न संस्कारोंका किसी अन्य रूपमें प्रकाशन। विचारके इन दो (मानसिक और अतिमानसिक) रूपोंमें परस्पर संबंध है, यहाँतक कि एक प्रकारकी टूटी-फूटी एकता भी है; क्योंकि इनमेंसे पहला प्रच्छन्न रूपमें दूसरेसे उद्भूत होता है। मन उससे उत्पन्न होता है जो मनसे परे है। परंतु ये भिन्न स्तरोंपर कार्य करते हैं और एक-दूसरेकी प्रक्रियाको उलट देते हैं।

शुद्धसे शुद्ध बुद्धि, अत्यंत आलोकित विवेकपूर्ण बुद्धिको भी विज्ञान नहीं कह सकते। विवेकशक्ति या बुद्धि तो केवल निम्न बुद्धि है; यह अपनी क्रियाके लिये इन्द्रिय-मानसके बोधों और मनोमय बुद्धिके प्रत्ययोंपर निर्भर करती है। यह विज्ञानके समान स्वयंप्रकाश, प्रामाणिक, ज्ञाताको [illegible] साथ एक कर देनेवाली नहीं है। निःसंदेह, बुद्धिका एक उच्चतर [illegible] है जिसे अंतर्ज्ञानात्मक मन या बुद्धि कह सकते हैं, और यह [illegible] अपनी बोधियों और अंतःप्रेरणाओं, अपने तीव्र सत्यप्रकाशक [illegible] अपनी आलोकित अंतर्दृष्टि और विवेकशक्तिके द्वारा बुद्धिके [illegible]

सत्य ज्ञानके उस प्रायः ही संकुचित क्षेत्र या उस एक ही छोटेसे स्थानतक सीमित रहता है जो इसकी बिजलीकी-सी एक ही चमकके द्वारा प्रकाशित होता है। इसका हस्तक्षेप उस एक ही चमकसे आरंभ होता है और उसीके साथ समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, हम पशुओंमें सहज-प्रेरणाकी क्रिया देखते हैं--वह उस प्राणिक या ऐन्द्रिय मनमें उत्पन्न यांत्रिक-सा अंतर्ज्ञान होती है जो पशुका सबसे ऊँचा और अचूक साधन है। उसे इसी साधनपर निर्भर करना पड़ता है, क्योंकि उसके पास बुद्धिका मानवीय प्रकाश नहीं है, है केवल अपेक्षाकृत अपक्व और अभीतक अनघड़ बुद्धि। और हम तुरंत ही देख सकते हैं कि इस सहजप्रेरणाका अद्भुत सत्य, जो बुद्धिकी अपेक्षा इतना अधिक सुनिश्चित प्रतीत होता है, पशु-पक्षी या कीटकृमिमें एक विशेष और परिमित प्रयोजनतक ही सीमित रहता है जिसे पूरा करनेके लिये उसे अधिकार प्राप्त है। जब पशुका प्राणिक मन उस परिमित सीमाके परे कार्य करनेका यत्न करता है तो वह मनुष्यकी बुद्धिकी अपेक्षा कहीं अधिक अंधे तरीकेसे भूलें करता और भटकता है और उसे एकके बाद एक इन्द्रियानुभवोंके द्वारा कठिनाईके साथ ही शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। परंतु मनुष्यका उच्चतर मानसिक अंतर्ज्ञान अंतर्दर्शनके द्वारा लब्ध ज्ञान होता है न कि इन्द्रियलब्ध सहजज्ञान; क्योंकि वह बुद्धिको आलोकित करता है, ऐन्द्रिय मनको नहीं, वह आत्म-सचेतन और प्रकाशपूर्ण होता है, कोई अर्द्ध-अवचेतन अंध-ज्योति नहीं होता: वह स्वतंत्रतापूर्वक स्वयमेव क्रिया करता है, यांत्रिक रूपमें जड़वत् गति नहीं करता। तथापि, जब वह अनुकरणात्मक मिथ्या अंतर्ज्ञानके द्वारा दूषित नहीं होता तब भी वह मनुष्यमें पशुकी अंधप्रेरणाकी भांति मर्यादित रहता है, संकल्प या ज्ञानके एक विशेष उद्देश्यकी पूर्त्तितक ही सीमित रहता है--जैसे अंधप्रेरणा जीवनके एक विशेष प्रयोजन या प्रकृतिके विशेष उद्देश्यतक ही मर्यादित होती है। और जब बुद्धि अपने अटलप्राय स्वभावके अनुसार उसका उपयोग करने, उसे व्यवहारमें लाने, उसमें वृद्धि करनेका यत्न करती है तो वह अंतर्ज्ञानात्मक केंद्रके चारों ओर अपने विशिष्ट ढंगसे मिश्रित सत्य और भ्रमका स्तूप खड़ा कर देती है। कितनी ही बार, अंतर्ज्ञानके ठेठ सारतत्त्वमें चुपकेसे ऐन्द्रिय और विचारसंबंधी भ्रमका तत्त्व डालकर अथवा इसपर मानसिक कल्पनाओं और भ्रांतियोंकी तह चढ़ाकर वह इसके सत्यको पथच्युत ही नहीं विकृत भी कर देती है और इसे असत्यमें परिणत कर डालती है। अतएव अपने सर्वोत्तम रूपमें अंतर्ज्ञान हमें एक सीमित प्रकाश ही प्रदान करता है, यद्यपि वह होता है प्रखर; अपने निकृष्टतम रूपमें, हमारे द्वारा इसका दुरुपयोग या मिथ्या अनुकरण [illegible]ानेपर,

यह हमें कठिनाइयों, परेशानियों और भ्रांतियोंमें ले जा सकता है। इससे कम महत्त्वाकांक्षी बौद्धिक तर्क अपनी सुरक्षित, श्रमपूर्ण पर धीमी पद्धतिसे संतुष्ट रहकर उन कठिनाइयों और भ्रमोंसे बच जाता है,—वह पद्धति बुद्धिके निम्न प्रयोजनोंके लिये ही सुरक्षित होती है, पर वस्तुओंके आंतरिक सत्यके लिये वह कभी भी संतोषप्रद मार्गदर्शक नहीं हो सकती।

तर्कशील बुद्धिपर हम जितना ही गौण रूपमें निर्भर रहते हैं उतना ही हम अंतर्ज्ञानात्मक मनके प्रयोगको विकसित और विस्तृत कर सकते हैं। हम अपने मनको शिक्षित कर सकते हैं कि वह आजकी भांति अंतर्ज्ञानात्मक ज्योतिकी प्रत्येक पृथक् प्रभापर अपने निम्नतर प्रयोजनोंके लिये अधिकार नहीं जमाये, तुरंत ही इसके चारों ओर हमारे विचारका घेरा न डाल दे और उसकी बौद्धिक क्रियाके द्वारा इसे बंधे-बंधाये रूपमें न कस दे; हम उसे सिखा सकते हैं कि वह क्रमिक एवं संबद्ध अंतर्ज्ञानोंके प्रवाहके रूपमें चिंतन करे, एक प्रोज्ज्वल और जयशालिनी शृंखलाके रूपमें ज्योतिपर ज्योतिको ढारे। इस कठिन परिवर्तनमें हम उतने ही सफल होंगे जितना कि हम हस्तक्षेप करनेवाली बुद्धिको शुद्ध करेंगे अर्थात् यदि हम उसमेंसे वस्तुओंके बाह्य रूपोंके दास भौतिक विचारके तत्त्वको, निम्न प्रकृतिकी इच्छाओं, कामनाओं और आवेगोंके दास प्राणिक विचारके तत्त्वको, हमारी बुद्धिकी अभिरुचित, पूर्वनिश्चित या अनुकूल धारणाओं, कल्पनाओं, सम्मतियों तथा नियत क्रियाओंके दास मानसिक विचारके तत्त्वको कम कर सकेंगे, यदि उन तत्त्वोंकी मात्राको कम-से-कम करके हम उसके स्थानपर वस्तुविषयक अंतर्ज्ञानमय दृष्टि और अनुभूतिको, बाह्य रूपोंमें पैठनेवाली बोधिमय अंतर्दृष्टिको, अंतर्ज्ञानात्मक संकल्प तथा विचारणाको प्रतिष्ठित कर सकेंगे। हमारी चेतनाके लिये, जो स्वभावतः ही मन, प्राण और शरीरकी त्रिविध रज्जुके द्वारा अपनी अपूर्णता और अपने अज्ञानके साथ बंधी हुई है, यह कार्य काफी कठिन है। इस त्रिविध रज्जुको आत्माके बंधनकी वैदिक उपमामें उत्तम, मध्यम और अधम पाश कहा गया है। ये बाह्य रूपोंके मिश्रित सत्य और अनृतके पाश हैं जिनके द्वारा शुनःशेपको यज्ञके स्तंभके साथ बांधा गया था।

पर यदि यह कठिन कार्य पूर्ण रूपसे संपन्न हो भी जाय तो भी [illegible] विज्ञान नहीं कहलायगा; वह मनके अंदर इसका एक सूक्ष्म [illegible] या फिर इसका प्रथम प्रविष्ट होनेवाला तीक्ष्ण अग्रभाग। [illegible] विज्ञानमें जो भेद है उसे प्रतीकोंके बिना निरूपित करना [illegible] वर्णन उस वैदिक रूपकका आश्रय लेकर ही किया जा [illegible]

क्रिया प्रतिष्ठित हो जायगी; निष्कर्ष या तथ्य तुरंत ही अपने निज अधिकारके साथ, अपने स्वयं-पर्याप्त प्रमाणके द्वारा दिखायी दे जायगा और जिन प्रमाणोंके द्वारा हम उस निष्कर्ष या तथ्यपर पहुँचते हैं वे सव भी तुरंत, उसके साथ, उसी व्यापक चित्रमें, दृष्टिगत हो जायेंगे, उसके प्रमाणके रूपमें नहीं, वल्कि उसकी अंतरंग अवस्थाओं तथा उसके अंतरीय संयोजक सूत्रों एवं संवंधोंके रूपमें, उसके निर्मायक अंगों या परिस्थिति-रूपी पार्श्वोंके रूपमें। मानसिक और ऐन्द्रियक निरीक्षण एक अंतर्दृष्टिमें परिवर्तित हो जायगा जो बाह्य करणोंको प्रणालिकाओंके रूपमें प्रयुक्त करेगी, किंतु उनपर इस प्रकार निर्भर नहीं रहेगी जिस प्रकार हमारा मन रहता है जो स्थूल इन्द्रियोंके बिना अंधा और बहरा ही हो जाता है। और, यह अंतर्दृष्टि केवल वस्तुको नहीं, वरन् उसके समस्त सत्य, उसके वलों और शक्तियों तथा उसके अंदरके नित्य तत्त्वोंको भी देखेगी। हमारी अनिश्चित स्मरण-शक्ति विनष्ट हो जायगी और उसके स्थानपर हमें ज्ञानकी ज्योतिर्मय प्राप्ति होगी, एक ऐसी दिव्य स्मृति प्राप्त होगी जो प्राप्त ज्ञानका भण्डार नहीं है, वल्कि सभी वस्तुओंको चेतनामें सदा निहित रखती है; वह एक ही साथ भूत, वर्तमान और भविष्यकी स्मृति है।

कारण, जहाँ वुद्धि कालके एक क्षणसे दूसरे क्षणकी ओर अग्रसर होती है और खोती तथा प्राप्त करती है और फिर खोती तथा फिर प्राप्त करती है, वहाँ विज्ञान कालको एक ही अखण्ड दृष्टि एवं शाश्वत शक्तिमें अधिकृत कर लेता है और भूत, वर्तमान तथा भविष्यको उनके अविच्छेद्य संवंधोंके द्वारा, ज्ञानके एक ही अविच्छिन्न मानचित्रमें, एक-दूसरेके पास-पास शृंखला-वद्ध कर देता है। विज्ञान समग्र सत्तासे आरंभ करता है जिसे वह तत्काल ही आयत्त कर लेता है; वह खंडों, समूहों और व्योरोंको समग्रके साथ संवद्ध रूपमें ही तथा एक ही साक्षात्कारमें युगपत् देखता है; मानसिक वुद्धि समग्रको वस्तुतः विलकुल ही नहीं देख सकती और किसी भी 'समग्र'को पहले उसके खंडों, समूहों और व्योरोंका विश्लेपण तथा संश्लेपण किये विना पूर्ण रूपसे नहीं जान पाती। अन्यथा उसका समग्रका अवलोकन सदैव इसके अस्पष्ट लक्षणोंका एक अनिश्चित भान या अपूर्ण वोध या अव्यवस्थित सार ही होता है। वुद्धि उपादानों, प्रक्रियाओं और गुणोंका विवेचन करती है; इनके द्वारा वह स्वयं उस वस्तु तथा उसके सत्य स्वरूप और सार-तत्त्वके विपयमें धारणा वनानेकी व्यर्थ ही चेष्टा करती है। परंतु विज्ञान सवसे पहले वस्तुको उसके शुद्ध रूपमें देखता है, उसके मूल और नित्य स्वरूपकी तहमें जाता है, उसकी प्रक्रियाओं और गुणोंको उसके स्वरूपकी

अभिव्यक्तिके रूपमें ही उसके साथ संयुक्त करता है। बुद्धि भेद-प्रभेदमें निवास करती है, और उसके अंदर कैद है; वह वस्तुओंको पृथक्-पृथक् हाथमें लेती है और प्रत्येकके साथ पृथक् सत्ताके रूपमें ही व्यवहार करती है, जैसे कि वह कालके खंडों और देशके विभागोंके साथ करती है। एकताको तो वह केवल कुलयोगके रूपमें या भेद-प्रभेदको वहिष्कृत करके या फिर एक सामान्य कल्पना एवं रिक्त आकृतिके रूपमें ही देखती है। परंतु विज्ञान एकतामें निवास करता है और इसीके द्वारा भेद-प्रभेदोंके समस्त स्वरूपोंको जानता है; वह एकतासे अपना कार्य आरंभ करता है और एकताके ही भेद-प्रभेदको देखता है, 'एक'का निर्माण करनेवाले भेद-प्रभेदोंको नहीं, वल्कि अपने अनेकानेक रूपोंका निर्माण करनेवाली एकताको देखता है। विज्ञानमय ज्ञान, विज्ञानमय अनुभव किसी वास्तविक भेदको स्वीकार नहीं करता; वह वस्तुओंके साथ इस प्रकार पृथक् रूपमें व्यवहार नहीं करता मानो वे अपने सच्चे और मूल एकत्वसे स्वतंत्र हों। बुद्धि सांतके साथ व्यवहार करती है और अनंतके सामने अपनेको असहाय पाती है; वह उसकी कल्पना इसी रूपमें कर सकती है कि यह एक सीमातीत विस्तार है जिसमें सांत अपना कार्य करता है, परंतु अनंतके निज स्वरूपकी कल्पना वह कठिनाईसे ही कर सकती है और इसे हृदयंगम तो विलकुल नहीं कर सकती, न इसमें पैठ ही सकती है। परंतु विज्ञान अनंतमें ही अपना अस्तित्व धारण करता है, उसीमें देखता और निवास करता है; वह सदा अनंतसे ही आरंभ करता है और सांत वस्तुओंको अनंतके साथ संबद्ध रूपमें तथा अनंतके अर्थमें ही जानता है।

इस प्रकार, हमारी तर्कणा और वुद्धिकी तुलनामें हमारे लिये विज्ञानका जो रूप है उस अपूर्ण रूपमें नहीं, वल्कि अपनी आत्मचेतनामें वह जैसा है उस रूपमें हम उसका वर्णन करना चाहें तो रूपकों और प्रतीकोंके विना हम कदाचित् उसका वर्णन कर ही नहीं सकते। और, पहले हमें यह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान-भूमिका, अर्थात् महत् या विज्ञान हमारी चेतनाका सर्वोच्च स्तर नहीं, वल्कि वीचका या जोड़नेवाला स्तर है। चरम-परम आत्माकी त्रयात्मक गरिमा अर्थात् सनातनकी अनंत सत्ता, चेतना एवं आनंद और हमारी निम्न त्रिविध सत्ता एवं प्रकृतिके वीचमें रहनेके कारण, वह मानो सनातनके मध्यस्थभूत, सुनिर्धारित, व्यवस्थाकारी और सर्जनशील ज्ञान, वल और आनंदके रूपमें स्थित है। विज्ञानमें सच्चिदानंद अपनी अगम सत्ताकी ज्योतिको एकत्र करके सत्ताके दिव्य ज्ञान, दिव्य संकल्प और दिव्य आनंदकी एक रचना और शक्तिके रूपमें आत्मापर

उँडेलता है। यह ऐसा है मानो अनंत ज्योति सूर्यके सघन मंडलमें पुंजीभूत हो और उस सूर्यके आधारपर रहनेवाली सभी वस्तुओंपर नित्य-स्थायी रश्मियोंके रूपमें लुटा दी गयी हो। परंतु विज्ञान केवल ज्योति ही नहीं है, वह शक्ति भी है; वह सर्जनशील ज्ञान है, वह प्रधान दिव्य 'भाव'का स्वयं शक्तिशाली सत्य है। यह भाव कोई सर्जनशील कल्पना नहीं है, कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो शून्यमें रचना करती है, वल्कि यह सनातन उपादानकी ज्योति और शक्ति है, सत्य-शक्तिसे परिपूर्ण सत्य-ज्योति है; और यह उसी वस्तुको प्रकाशमें लाता है जो सत्ताके अंदर गुप्त रूपमें विद्यमान है, किसी ऐसी काल्पनिक वस्तुकी रचना नहीं करता जिसका अस्तित्व कभी था ही नहीं। विज्ञानका भाव सनातन सत्की चेतनाका विकिरणशील ज्योतिर्मय तत्त्व है; प्रत्येक किरण एक सत्य है। विज्ञानका संकल्प सनातन ज्ञानकी चिन्मय शक्ति है; वह सत्ताके चैतन्य और उपादान-तत्त्वको सत्य-शक्तिके ऐसे निर्भ्रांत रूपोंमें प्रकट करता है जो 'भाव'को मूर्तिमंत करते हैं और निर्दोष रूपमें प्रभावशाली भी वना देते हैं। साथ ही, वह प्रत्येक सत्य-शक्ति और सत्य-आकारको उसकी प्रकृतिके अनुसार सहज-स्वाभाविक और समुचित रूपमें चरितार्थ करता है। दिव्य 'भाव'की इस सर्जनक्षम शक्तिको वहन करनेके कारण ही **सूर्यको**, अर्थात् विज्ञानके अधिष्ठातृदेवता एवं प्रतीकको वेदमें सव वस्तुओंकी उत्पादक ज्योति, **'सविता सूर्य'** कहा गया है, ऐसा ज्योतिर्मय ज्ञान कहा गया है जो सवको व्यक्त सत्ताके रूपमें प्रकाशित करता है। विज्ञानका यह सृजन-कार्य दिव्य आनंद, सनातन आनंद, के द्वारा प्रेरित होता है; विज्ञान अपने सत्य और अपनी शक्तिके आनंदसे परिपूर्ण है, वह आनंदके अंदर और आनंदमेंसे सृजन करता है, ऐसी वस्तुका सृजन करता है जो आनंदमय है। अतएव, विज्ञानका लोक, अतिमानसिक लोक सत्यमय और कल्याणमय सृष्टि है, **'ऋतम् भद्रम्'**, क्योंकि, इसके अंदरकी सभी वस्तुएँ इसकी रचना करनेवाले पूर्ण आनंदमें भाग लेती हैं। अविचल ज्ञानकी दिव्य प्रभा, अडिग संकल्पकी दिव्य शक्ति और अस्खलनशील आनंदकी दिव्य विश्रांति विज्ञानमय पुरुषका स्वभाव या प्रकृति है। विज्ञानमय या अतिमानसिक भूमिकाका उपादानतत्त्व उन सव वस्तुओंके पूर्ण निरपेक्ष रूपोंसे वना है जो यहाँ अपूर्ण और सापेक्ष हैं और इसकी क्रिया उन सव क्रियाओंके समन्वित परस्पर-गुंफनों तथा सुखद संमिश्रणोंसे वनी है जो यहाँ एक-दूसरीके विपरीत हैं। क्योंकि, इन परस्पर-विपरीत वस्तुओंके वाह्य रूपके पीछे इनके सत्य विद्यमान हैं और सनातनके सत्य एक-दूसरेके विरुद्ध नहीं हैं; हमारे मन और प्राणके स्तरकी परस्पर-

विरोधी वस्तुएँ विज्ञानके अंदर अपने सच्चे मूलभावमें रूपांतरित होकर परस्पर संयुक्त हो जाती हैं और सनातन सद्वस्तु तथा शाश्वत आनंदके सुरों और रंगोंके रूपमें दिखायी देती हैं। अतिमानस या विज्ञान परम सत्य, परम विचार, परम शब्द, परम ज्योति एवं परम संकल्प-भाव है, यह देशातीत अनंत सत्ताका आंतर और बाह्य विस्तार है, कालातीत सनातनका निर्मुक्त काल है, निरपेक्ष सत्ताके सब निरपेक्ष सत्योंका दिव्य सामंजस्य है।

प्रत्यक्षदर्शी मनके लिये विज्ञानकी तीन शक्तियाँ हैं। इसकी सर्वोच्च शक्ति ईश्वरकी संपूर्ण अनंत सत्ता, चेतना और आनंदको जानती है तथा उन्हें ऊपरसे अपने अंदर ग्रहण करती है; अपने उच्चतम शिखरपर यह सनातन सच्चिदानंदका पूर्ण ज्ञान और बल है। इसकी दूसरी शक्ति अनंतको सघन ज्योतिर्मय चेतना अर्थात् चैतन्यघन या चिद्घनके रूपमें घनीभूत कर देती है, यह चिद्घन दिव्य चेतनाकी बीजावस्था है जिसमें दिव्य सत्ताके सभी अपरिवर्तनीय तत्त्व और दिव्य चिन्मय भाव और प्रकृतिके सभी अलंघ्य सत्य जीवंत और मूर्त रूपमें निहित हैं। इसकी तीसरी शक्ति इन वस्तुओंको अमोघ विचार और अंतर्दर्शनके द्वारा तथा दिव्य ज्ञानके यथार्थ तादात्म्यों, दिव्य संकल्पशक्तिकी गति एवं दिव्य आनंदोद्रेकोंके स्पंदनके द्वारा विराट् विश्व-सामंजस्य और असीम विविधताके रूपमें, इनकी शक्तियों और आकृतियोंके तथा सजीव परिणामोंकी परस्पर-लीलाके बहुविध लयतालके रूपमें प्रकाशित या निर्मुक्त कर देती है। विज्ञानमय पुरुषकी ओर आरोहण करते हुए मनोमय पुरुषको इन तीन शक्तियोंमें आरोहण करना होगा। उसे अपनी गतियोंको विज्ञानकी गतियोंमें, अपने मानसिक बोध, विचार, संकल्प और सुखको दिव्य ज्ञानकी दीप्तियों, दिव्य संकल्प-शक्तिके स्पंदनों और दिव्य आनंद-सिंधुओंकी तरंगों एवं प्रवाहोंमें परिणत करके रूपांतर प्राप्त करना होगा। उसे अपनी मानसिक प्रकृतिके चेतन उपादानको 'चिद्घन' या सघन स्वयंप्रकाश चेतनामें परिणत करना होगा। उसे अपने चिन्मय सार-तत्त्वको अनंत सच्चिदानंदके विज्ञानमय या सत्यमय आत्मस्वरूपमें रूपांतरित करना होगा। इन तीन गतियोंका वर्णन ईश उपनिषद्में इस प्रकार किया गया है,—पहली गति है 'व्यूह' अर्थात् विज्ञान-सूर्यकी किरणोंको सत्य-चेतनाके विधान-क्रममें व्यवस्थित करना; दूसरी 'समूह' अर्थात् उन किरणोंको विज्ञान-सूर्यके तेजोमय शरीरमें एकत्र करना; तीसरी, सूर्यके उस कल्याणतम रूपका साक्षात्कार जिसमें आत्मा अनंत पुरुषके साथ अपने एकत्वको अत्यंत अंतरंग रूपमें प्राप्त कर लेती

है।* जो मनोमय प्राणी विज्ञानके पूर्ण रूपमें रूपांतरित, परितृप्त और उन्नीत हो जाता है उसका मूल अनुभव यह है—उसके ऊपर, अंदर, चारों ओर, सर्वत्र परम पुरुष विद्यमान होते हैं और उसकी आत्मा परम पुरुषमें निवास करती तथा उसके साथ एकीभूत होती है,—भगवान्‌की अनंत शक्ति, सामर्थ्य और सत्य उसकी एकाग्र ज्योतिर्मय आत्मिक प्रकृतिमें केंद्रित होते हैं,—दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनंदकी तेजोमय क्रिया प्रकृतिके स्वाभाविक कर्ममें पूर्णताके साथ प्रतिष्ठित होती है।

---

*सूर्य, व्यूह रश्मीन् समूह, तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। वेदमें विज्ञान-भूमिकाको 'ऋतम्, सत्यम्, बृहत्' कहा गया है, अर्थात् यही त्रिविध विचार वहां भिन्न प्रकारसे वर्णित है। 'ऋतम्' का अर्थ है सत्य-चेतनाकी लीलाके अनुसार दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनंदकी क्रिया। 'सत्यम्' का अर्थ है सत्ता-का वह सत्य जो इस प्रकार क्रिया करता है, अर्थात् सत्य-चेतनाका क्रियाशील सार-तत्त्व। बृहत्‌का अर्थ है सच्चिदानंदकी अनंतता जिसमेंसे अन्य दोनों उत्पन्न होते हैं और जिसपर वे आधारित हैं।

तेईसवाँ अध्याय

विज्ञानकी प्राप्तिकी शर्तें

विज्ञानका प्रधान तत्त्व है ज्ञान, पर ज्ञान ही इसकी एकमात्र शक्ति नहीं है। सत्य-चेतना अन्य प्रत्येक भूमिकाकी तरह अपना आधार उस विशेष तत्त्वपर रखती है जो स्वभावतः ही इसकी सब क्रियाओंकी कुंजी है; पर यह उसके द्वारा सीमित नहीं है, यह सत्ताकी अन्य सब शक्तियोंको भी अपने अंदर धारण करती है। हाँ, इन अन्य शक्तियोंका स्वरूप और कार्य इसके अपने मूल और सर्वोपरि नियमके अनुसार परिवर्तित हो जाता है, उसीके अनुरूप ढल जाता है। मन-बुद्धि, शरीर, इच्छा-शक्ति, चेतना और आनंद सभी दिव्य ज्ञानसे प्रकाशमान, जागरित और अनुप्राणित हो जाते हैं। वस्तुतः, पुरुष-प्रकृतिकी प्रक्रिया सर्वत्र यही है; यह व्यक्त सत्ताकी समस्त स्तरपरंपरा और क्रमबद्ध सामंजस्योंकी प्रधान गति है।

मनोमय प्राणीमें अंतःकरण या बुद्धि ही मूल और प्रधान तत्त्व है। मनोमय पुरुष मनोलोकमें, जहाँका वह निवासी है, अपने केंद्रीय और निर्धारक स्वरूपकी दृष्टिसे, बुद्धिप्रधान चैतन्य है। वह बुद्धिका केंद्र है, बुद्धिकी एक पुंजित गति है, बुद्धिकी ग्रहण और विकिरण करनेवाली क्रिया है। वह बुद्धिके द्वारा अपनी सत्ताको तथा अपनेसे भिन्न दूसरोंकी सत्ताको जानता है, बुद्धिके द्वारा अपने स्वभाव और कार्योंको तथा दूसरोंके कार्योंको जानता है और बुद्धिके द्वारा ही वस्तुओं और व्यक्तियोंके स्वभावको तथा अपने साथ एवं एक-दूसरेके साथ उनके संबंधोंको जानता है। सत्ताके विषयमें उसका बस यही अनुभव होता है। उसे सत्ताका अन्य किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, जीवन और जड़तत्त्व जिस रूपमें उसे गोचर होते हैं एवं जिस रूपमें वे उसकी मानसिक बुद्धिके द्वारा ग्राह्य होते हैं उसे छोड़कर उनके किसी अन्य रूपका उसे ज्ञान नहीं होता। जो वस्तु उसे इंद्रियगोचर नहीं होती और जिसे वह अपने विचारमें नहीं ला सकता वह उसके लिये कार्यतः असत् होती है, या कम-से-कम उसके लोक और उसकी प्रकृतिके लिये विजातीय होती है।

मनुष्य अपने मूलतत्त्वमें मनोमय प्राणी है, पर ऐसा मनोमय प्राणी नहीं जो मनके लोकमें रहता हो, बल्कि वह एक ऐसे जगत्में रहता है जो

प्रधान रूपसे भौतिक है। उसका मन जड़तत्त्वके अंदर आच्छादित और उसके द्वारा सीमित है। इसलिये उसे अपना कार्य स्थूल इंद्रियोंकी क्रियासे आरंभ करना होता है; ये स्थूल इंद्रियाँ, सब-की-सब, भौतिक जगत्‌के साथ संपर्क स्थापित करनेके लिये उसके साधन हैं। वह अपना कार्य मनरूपी इंद्रियसे आरंभ नहीं करता। किंतु फिर भी इन स्थूल इंद्रियोंसे ज्ञात किसी भी वस्तुका वह तबतक स्वतंत्र रूपमें प्रयोग नहीं करता और न कर ही सकता है जबतक मानसेन्द्रिय उसे अपने अधिकारमें लाकर उसकी बुद्धिप्रधान सत्ताके उपादान और मूल्य-मानमें नहीं बदल देती। निम्नतर अवमानवीय और अवमानसिक लोकमें प्राण और स्नायुओंकी जो शक्तिशाली क्रिया-प्रतिक्रिया चल रही है, जिसे मानसिक रूपोंमें परिवर्तित या मनके द्वारा नियंत्रित करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि जो वैसे ही खूब अच्छी तरह चलती रहती है, उसे भी मनुष्यके अंदर किसी प्रकारकी बुद्धितक उठा ले जाकर उसके प्रति अर्पित करना होता है। विशिष्ट रूपसे मानवीय बननेके लिये उसे पहले शक्तिके बोध, कामनाके बोध, संकल्पके बोध, बुद्धिप्रधान संकल्प-क्रियाके बोधका रूप ग्रहण करना होता है या फिर उसे बल-क्रियाके एक ऐसे बोधका रूप धारण करना पड़ता है जो मानसिक दृष्टिसे सचेतन हो। उसका निम्न अस्तित्व-आनंद मानसिक या मानसीकृत प्राणिक या भौतिक सुख एवं इसके विपर्यय-भूत दुःखके बोधमें परिणत हो जाता है अथवा वह रुचि और अरुचिके मानसिक या मानसीकृत वेदन-संवेदनका या फिर आनंद किंवा उसके अभावके बोधका रूप ग्रहण कर लेता है,—ये सभी बुद्धिप्रधान मानसेंद्रियके ही अनुभव हैं। इसी प्रकार, जो वस्तु उसके ऊपर है, जो उसके चारों ओर है तथा जिसमें वह निवास करता है, अर्थात् ईश्वर, विराट् पुरुष, विश्व-शक्तियाँ—ये सभी उसके लिये तबतक असत् और अवास्तविक ही होते हैं जबतक उसका मन इनकी ओर जागरित नहीं हो जाता और अभी इनका वास्तविक सत्य न सही, पर अतीन्द्रिय वस्तुओंका कुछ बोध नहीं प्राप्त कर लेता, उनका कुछ निरीक्षण, अनुभव एवं कल्पना नहीं कर लेता तथा जबतक यह (मन) अनंतका कुछ मानसिक बोध, उसके ऊपर तथा चारों ओर विद्यमान परम-आत्माकी शक्तियोंका कुछ बुद्धिगत एवं व्याख्यात्मक सचेतन ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता।

पर जब हम मनसे विज्ञानमें चल जाते हैं तब सब कुछ बदल जाता है; क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष और सहजात ज्ञान ही प्रधान तत्त्व है। विज्ञानमय पुरुष अपने स्वभावसे ही सत्य-चेतनासे युक्त है, वस्तुविषयक सत्य-दृष्टिका

केंद्र और परिधि है, विज्ञानकी पुंजित क्रिया या सूक्ष्म देह है। उसकी क्रिया वस्तुओंके अंदर निहित सत्य-शक्तिकी क्रिया है जो उनकी गहनतम और सत्यतम सत्ता और प्रकृतिके आंतरिक नियमके अनुसार उस सत्य-शक्तिको चरितार्थ करती तथा प्रसारित करती है। वस्तुओंके अंदर निहित सत्य जो हमें विज्ञानमें प्रवेश कर सकनेसे पहले प्राप्त करना होगा,—क्योंकि, विज्ञानमय स्तरपर तो सब कुछ इसीमें विद्यमान है और इसीसे उत्पन्न होता है,—सर्वप्रथम, एकता एवं अद्वैतका सत्य है, पर ऐसी एकताका जो विभिन्नताको उत्पन्न करती है, जो अनेकतामें भी व्याप्त है और फिर भी सदा एकता एवं अजेय अद्वैत ही रहती है। विज्ञानकी भूमिका अर्थात् विज्ञानमय पुरुषकी अवस्था तबतक नहीं प्राप्त हो सकती जबतक हम समस्त सत्ता तथा सर्वभूतोंके साथ विशाल और घनिष्ठ तादात्म्य नहीं प्राप्त कर लेते, विश्वव्यापी नहीं बन जाते, विश्वको अपने अंदर समाविष्ट या धारण नहीं कर लेते, एक प्रकारसे सर्वेसर्वा ही नहीं बन जाते। विज्ञानमय पुरुषमें अपने विषयमें स्वभावसे ही यह चेतना होती है कि मैं अनंत हूँ, उसमें सामान्य रूपसे ही यह चेतना भी होती है कि मैं विश्वको अपने अंदर धारण कर रहा हूँ और इससे परे भी हूँ; वह विभक्त मनोमय पुरुषकी भाँति सामान्यतः ही ऐसी चेतनासे नहीं बँधा होता जो अपने-आपको विश्वमें समाविष्ट तथा इसका एक अंग अनुभव करती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संकीर्ण और आबद्ध करनेवाले अहंसे मुक्ति ही विज्ञानमय सत्ताको प्राप्त करनेका पहला एवं प्रारंभिक पग है; क्योंकि जबतक हम अहंमें रहते हैं तबतक इस उच्चतर सद्वस्तु, इस बृहत् आत्म-चैतन्य, इस वास्तविक आत्मज्ञानको पानेकी आशा करना बेकार है। अहम्मय विचार, अहम्मय कर्म और अहम्मय संकल्पकी ओर जरा-सा भी लौटनेसे हमारी चेतना ठोकर खाकर अपने उपलब्ध विज्ञानमय सत्यसे विभक्त मानसिक प्रकृतिके मिथ्या विचार और कर्म आदिमें आ गिरती है। अपनी सत्ताको स्थिर रूपसे विश्वमय बना लेना ही इस ज्योतिर्मय उच्चतर चेतनाका असली आधार है। समस्त कठोर पृथक्ताका त्याग करके (पर उसके स्थानपर एक प्रकारकी परात्पर ऊर्ध्व दृष्टि या स्वतंत्रता प्राप्त करके) हमें सब पदार्थों और प्राणियोंके साथ अपने-आपको एकमय अनुभव करना होगा, उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा, उन्हें इस रूपमें जानना होगा कि वे हम ही हैं, उनकी सत्ताको अपनी सत्ता अनुभव करना तथा उनकी चेतनाको अपनी चेतनाका अंग स्वीकार करना होगा, उनकी शक्तिके साथ इस रूपमें संपर्क स्थापित करना होगा कि वह हमारी शक्तिके साथ

हैं, शरीरकी मशीनपर निर्भर नहीं हैं, संकुचित अहं-भावनाके साथ जकड़े हुए नहीं हैं। विज्ञान-केंद्र शरीरमें आवेष्टित नहीं है; यह एक ऐसे पृथक् व्यक्तित्वके अंदर बंद नहीं है जो जगत्के साथ बेढंगे संबंध स्थापित करनेके लिये बाहर रास्ता टटोल रहा है या अपनी अधिक गहरी आत्माको पानेके लिये भीतर अंधवत् खोज रहा है, क्योंकि, इस महत् रूपांतरमें हम एक ऐसी चेतनाको प्राप्त करने लगते हैं जो किसी उत्पादक घट (generating box) में बंद नहीं होती, बल्कि स्वतंत्र रूपसे व्याप्त तथा सर्वत्र स्वयंभू रूपसे विस्तृत होती है। अवश्य ही वहाँ एक केंद्र भी होता है या हो सकता है, पर वह वैयक्तिक क्रियाके लिये एक सुविधाजनक साधनभर होता है न कि कठोर किंवा व्यवस्थापक या पृथक्कारी केंद्र। उस केंद्रमें स्थित होनेके बादसे हमारे सचेतन कार्योंका स्वरूप ही विराट् हो जाता है; विराट् पुरुषके कार्योंके साथ एकमय होनेके कारण, वे विराट् सत्तासे उत्पन्न होकर हमारे अंदर एक नमनीय और परिवर्तनशील वैयक्तिक स्वरूप धारण करनेमें प्रवृत्त होते हैं। हमारी चेतना अब उस अनंत पुरुषकी चेतना बन जाती है जो सदा ही सारे विश्वके लिये कार्य करता है यद्यपि वह अपनी शक्तियोंकी वैयक्तिक रूप-रचनापर बल भी देता है। परंतु यह बल वैशिष्ट्यको सूचित करता है पार्थक्यको नहीं, और यह व्यक्तिगत रूप-रचना वह चीज नहीं रह जाती जिसे हम आज 'व्यक्तित्व'के नामसे समझते हैं; उस क्षुद्र, सीमित और निर्मित 'व्यक्ति'का अस्तित्व ही नहीं रह जाता जो अपनी यांत्रिक रचनाके सूत्रमें बंद रहता है। चेतनाकी यह भूमिका हमारी सत्ताकी वर्तमान दशाके लिये इतनी असाधारण है कि जिस बुद्धि-प्रधान व्यक्तिको यह प्राप्त नहीं है उसे यह असंभव लग सकती है अथवा यहाँतक कि मतिभ्रमकी अवस्था भी प्रतीत हो सकती है। परंतु जब एक बार यह प्राप्त हो जाती है तो यह अपनी महत्तर शांति, स्वतंत्रता, ज्योति एवं शक्तिके द्वारा तथा संकल्पकी अमोघता और विचार एवं भाव-भावनाकी प्रमाण्य सत्यताके द्वारा मानसिक बुद्धिके प्रति भी अपने-आपको सत्य सिद्ध कर देती है। क्योंकि, यह अवस्था मुक्त मनके उच्चतर स्तरोंपर ही शुरू हो जाती है और अतएव, मानसिक स्तरोंको पीछे छोड़ देनेपर ही हमारी मनोबुद्धि इसे कुछ अंशमें अनुभव कर सकती और समझ सकती है। पर इसकी पूर्ण प्राप्ति अतिमानसिक विज्ञानमें आरोहण करनेपर ही हो सकती है।

चेतनाकी इस भूमिकामें अनंत हमारे लिये मूल और वास्तविक सद्वस्तु बन जाता है, एक ऐसी अनन्य वस्तु बन जाता है जो प्रत्यक्ष और गोचर रूपमें सत्य है। 'अनंत'-विषयक अपनी मूल अनुभूतिसे पृथक् रूपमें 'सांत'का

चिंतन या अनुभव करना भी हमारे लिये असंभव हो जाता है, क्योंकि हमारे लिये तो उस अनंतमें ही सांत अपना जीवन धारण कर सकता है, अपना निर्माण कर सकता है, कोई वास्तविक अस्तित्व या स्थायित्व रख सकता है। जबतक यह सांत मन और शरीर हमारी चेतनाके निकट हमारी सत्ताका प्रथम तथ्य हैं तथा हमारे समस्त चिंतन, वेदन और संकल्पका आधार हैं और जबतक सांत वस्तुएँ हमारे लिये एक ऐसी स्वाभाविक सद्वस्तु हैं जिससे हम कभी-कभी या यहाँतक कि बहुधा अनंतके विचार एवं बोधतक उठ सकते हैं, तबतक हम विज्ञानसे अभी कोसों दूर हैं। विज्ञानकी भूमिकामें अनंत एक साथ ही हमारी सत्ताका स्वाभाविक चैतन्य एवं प्रथम तथ्य होता है, हमारा गोचर द्रव्य होता है। वहाँ अत्यंत मूर्त रूपमें वह हमारे लिये एक ऐसा आधार होता है जहाँसे प्रत्येक सांत वस्तु अपना रूप गठित करती है और उसकी असीम एवं अपरिमेय शक्तियाँ हमारे समस्त विचार, संकल्प और आनंदका उद्गम हैं। परंतु यह 'अनंत' देशकी कोई ऐसी व्यापक या विशाल अनंतता ही नहीं है जिसमें प्रत्येक वस्तु अपना रूप पकड़ती है एवं प्रत्येक घटना घटित होती है। देशके इस अपरिमेय विस्तारके पीछे विज्ञानमय चेतना एक देशातीत आभ्यंतरिक अनंततासे सदा ही सचेतन रहती है। इस द्विविध अनंततामेंसे ही हम सच्चिदानंदकी तात्त्विक सत्ता, अपनी सत्ताके सर्वोच्च आत्मा तथा अपने विश्वगत अस्तित्वके संपूर्ण स्वरूपको प्राप्त कर सकेंगे। तब हमारे सामने एक असीम सत्ता खुल जाती है। उसे हम यों अनुभव करते हैं मानो वह हमारे ऊपर स्थित एक अनंत सत्ता हो जिसकी ओर उठनेके लिये हम प्रयास करते हैं, अथवा मानों वह हमारे चारों ओर स्थित एक अनंत सत्ता हो जिसमें हम अपनी पृथक् सत्ताको विलीन कर देनेका प्रयत्न करते हैं। तदनंतर हम विशाल होकर उसमें मिल जाते हैं और आरोहण करके उसमें उन्नीत हो जाते हैं; हम अहंके बंधनोंको तोड़ उसकी विशालतामें लीन हो जाते हैं और सदाके लिये वही बन जाते हैं। जब इस प्रकारकी मुक्ति प्राप्त हो जाय तब यदि हम चाहें तो इसकी शक्ति हमारी निम्न सत्ताको भी अधिकाधिक अपने अधिकारमें ला सकती है जिससे अंतमें हमारी निम्न-से-निम्न और विकृत-से-विकृत क्रियाएँ भी फिरसे विज्ञानके सत्यमें ढल जायँ।

अनंतका यह बोध और उसका हमपर यह अधिकार ही विज्ञानकी प्राप्तिका आधार है और जब यह आधार प्राप्त हो जाय तभी हम अति-मानसिक विचार, बोध, संवेदन, तादात्म्य और ज्ञानकी किसी स्वाभाविक अवस्थाकी ओर प्रगति कर सकते हैं। क्योंकि, अनंतका यह बोध भी

केवल एक प्रथम आधार है और, इसके पूर्व कि चेतना सक्रिय रूपसे विज्ञानमय बन सके, इस बोधकी प्राप्तिके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ करना होता है। कारण, अतिमानसिक ज्ञान परम ज्योतिकी लीला है; और भी बहुत-सी ज्योतियाँ हैं, ज्ञानके और भी बहुतसे स्तर हैं जो मानव-मनसे ऊँचे हैं। वे स्तर हमारे अंदर खुल सकते हैं और विज्ञानमें हमारे आरोहण करनेके पहले भी उस महाज्योतिके कुछ अंशको ग्रहण या प्रतिबिंबित कर सकते हैं। परंतु विज्ञानपर अधिकार पाने या उसे पूर्णतया प्राप्त करनेके लिये हमें पहले परम ज्योतिःस्वरूप विज्ञानमय पुरुषमें प्रवेश करना तथा वही बनना होगा, हमारी चेतनाको उस चेतनामें रूपांतरित हो जाना होगा, तादात्म्यके द्वारा अपने-आपको तथा सबको जाननेके उसके सिद्धांत और सामर्थ्यको हमारी सत्ताका वास्तविक तत्त्व बनना होगा। क्योंकि, ज्ञान और कर्मके हमारे साधन और मार्ग आवश्यक रूपसे हमारी चेतनाके स्वभावके अनुसार ही होंगे और यदि हमें ज्ञानकी इस उच्चतर शक्तिकी केवल यदा-कदा झाँकी ही नहीं प्राप्त करनी है, बल्कि इसपर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त करना है तो हमें स्वयं चेतनाका ही आमूल रूपांतर करना होगा। पर यह शक्ति उच्चतर चिंतनतक या एक प्रकारकी दिव्य बुद्धिकी क्रियातक ही सीमित नहीं है। ज्ञानके हमारे वर्तमान साधन जहाँ आज कुंठित, अंध और फलहीन हैं वहाँ यह उन सबको अत्यंत विस्तृत, सक्रिय और प्रभावशाली बनाकर अपने हाथमें लेती है और विज्ञानकी उच्च एवं तीव्र बोध-क्रियामें परिणत कर देती है। उदाहरणार्थ, हमारी इंद्रियोंकी क्रियाको अपने हाथमें लेकर यह उसके साधारण कार्यक्षेत्रमें भी उसे आलोकित कर देती है जिससे कि हमें पदार्थोंका सच्चा इंद्रिय-ज्ञान प्राप्त होता है। पर साथ ही यह मनरूपी इंद्रियको ऐसा सामर्थ्य प्रदान करती है कि वह आंतरिक तथा बाह्य विषयका प्रत्यक्ष बोध प्राप्त कर सके, उदाहरणार्थ, जिस विषयपर उसे एकाग्र किया जाय उसके विचारों, वेदनों, संवेदनों तथा स्नायविक प्रतिक्रियाओंको अनुभव और ग्रहण कर सके अथवा जान सके।* यह सूक्ष्म तथा स्थूल इंद्रियोंका प्रयोग करती है और उन्हें उनकी भूलोंसे बचाती है। हमारा साधारण मन सत्ताके जिस भौतिक स्तरमें अज्ञानपूर्वक आसक्त है उससे भिन्न स्तरोंका ज्ञान और अनुभव यह हमें प्रदान करती है और

---

*पतंजलि कहते हैं कि यह शक्ति पदार्थपर 'संयम' (एकाग्रता) के द्वारा प्राप्त होती है। पर यह बात मनके लिये ही सत्य है, विज्ञानमें संयमकी आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि, इस प्रकारका बोध विज्ञानका स्वाभाविक कार्य है।

इस ज्ञानके द्वारा यह हमारे लिये जगत्का विस्तार कर देती है। इसी प्रकार यह संवेदनोंका रूपांतर करके उन्हें उनकी पूर्ण तीव्रता तथा पूर्ण धारण-शक्ति प्रदान करती है; वस्तुतः हमारे सामान्य मनमें संवेदनोंकी पूर्ण तीव्रता प्राप्त करना संभव ही नहीं, क्योंकि एक विशेष सीमाके परे स्पंदनोंको धारण करने और स्थिर रखनेकी शक्तिसे वह वंचित है, ऐसे कंपनोंके आघात या सतत दबावसे तो मन और शरीर दोनों ही चूर-चूर हो जायँगे। यह हमारे वेदनों और भावावेशोंमें निहित ज्ञानरूपी तत्त्वको भी अपनाती है,—क्योंकि हमारे वेदनोंमें भी ज्ञान और कार्य-सिद्धिकी एक शक्ति है जिसे हम जानते नहीं और समुचित रूपसे विकसित भी नहीं करते,—साथ ही यह उन वेदनों और भावावेगोंको उनकी सीमाओं, भ्रांतियों और विकृतियोंसे मुक्त भी कर देती है। क्योंकि, सभी वस्तुओंमें विज्ञान सत्य, ऋत और सर्वोच्च विधानके रूपमें उपस्थित है, **देवानाम-दब्धानि व्रतानि।**

ज्ञान और शक्ति या संकल्प——क्योंकि समस्त चेतन शक्ति संकल्प ही है——चेतनाकी क्रियाके युगल पक्ष हैं। हमारे मनमें ये एक-दूसरेसे पृथक् हैं। विचार पहले आता है, संकल्प उसके पीछे लड़खड़ाता हुआ आता है या उसके विरुद्ध विद्रोह करता है या फिर उसके अपूर्ण यंत्रके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है और अतएव, इसके परिणाम भी अपूर्ण ही होते हैं; अथवा संकल्प अपने अंदर अंध या अर्द्धदर्शी विचारको लिये हुए पहले आरंभ होता है और अव्यवस्थित रूपमें कुछ कर डालता है जिसका यथार्थ बोध हमें बादमें ही प्राप्त होता है। हमारे अंदर इन शक्तियोंमें कोई एकत्व किंवा पूर्ण सामंजस्य नहीं है; अथवा हमारे अंदर आरंभका सिद्धिके साथ पूरा मेल कभी नहीं होता। न ही वैयक्तिक संकल्प विराट् संकल्पके साथ समस्वर होता है; वह इसके परे जानेका यत्न करता है अथवा इसतक नहीं पहुँच पाता या इससे विचलित होकर इसके विरुद्ध संघर्ष करता है। वह न तो सत्यके समयों और उसकी ऋतुओंको जानता है और न ही उसकी मात्राओं और परिमाणोंको। विज्ञान संकल्पको हाथमें लेकर पहले उसे अतिमानसिक ज्ञानके सत्यके साथ समस्वर और फिर एकीभूत कर देता है। इस ज्ञानमें व्यक्तिका विचार विराट्के विचारके साथ एक होता है, क्योंकि यह उन दोनोंको परम ज्ञान और परात्पर संकल्पके सत्यकी ओर वापिस ले आता है। विज्ञान हमारे बुद्धिप्रधान संकल्पको ही नहीं, बल्कि हमारी इच्छाओं तथा कामनाओंको, यहाँतक कि निम्नतर कहलानेवाली कामनाओंको भी, और सहजप्रेरणाओं एवं आवेगोंको

तथा इंद्रिय और संवेदनकी वाह्य प्राप्तियोंको भी अपनाकर रूपांतरित कर देता है। वे अव इच्छाएँ और कामनाएँ नहीं रहतीं, क्योंकि प्रथम तो वे हमारी व्यक्तिगत कामनाएँ नहीं रह जातीं और फिर वे अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये संघर्ष करनेके अपने उस रूपको त्याग देती हैं जिसे हम कामना और लालसा शव्दका अभिप्राय समझते हैं। सहज-प्रेरणात्मक या वुद्धिप्रधान मनकी अंधी या आधी अंधी चेष्टाएँ न रहकर वे सत्य-संकल्पकी नानाविध क्रियामें रूपांतरित हो जाती हैं; और वह संकल्प अपने निर्धारित कर्मके यथोचित उपायोंके स्वाभाविक ज्ञानके साथ और अतएव, एक ऐसी प्रभावपूर्ण सफलताके साथ कार्य करता है जिसे हमारी मानसिक संकल्प-क्रिया जानतीतक नहीं। यह भी एक कारण है कि विज्ञानमय संकल्पके कार्यमें पापका कोई स्थान नहीं; क्योंकि पापमात्र संकल्पकी एक भूल है, अज्ञानकी एक कामना एवं क्रिया है।

जव कामना पूर्ण रूपसे मिट जाती है, दुःख और समस्त आंतरिक शोक भी मिट जाते हैं। विज्ञान हमारे ज्ञान और संकल्पके केंद्रोंको ही नहीं, वल्कि भाव-भावना, प्रेम और आनंदके केंद्रोंको भी हाथमें लेकर दिव्य आनंदकी क्रियामें रूपांतरित कर देता है। क्योंकि, यदि ज्ञान और वल चेतनाके कार्यके यमज पक्ष या उसकी यमज शक्तियाँ हैं तो आनंद—जो सुख नामक वस्तुसे अधिक ऊँचा तत्त्व है—चेतनाका ठेठ उपादान है और ज्ञान तथा संकल्प किंवा शक्ति और आत्म-चैतन्यकी परस्पर-क्रियाका स्वाभाविक परिणाम है। सुख और दुःख, हर्ष और शोक दोनों उसके विकार हैं। इनके उत्पन्न होनेका कारण यह है कि जव ज्ञान और संकल्प नीचेके स्तरपर उतरते हैं तो हमारी चेतना और उसके द्वारा प्रयुक्त शक्तिके वीच, हमारे ज्ञान और संकल्पके वीच सामंजस्य भंग हो जाता है, उनकी एकता छिन्न-भिन्न हो जाती है, क्योंकि इस निम्न स्तरपर वे सीमित हैं, अपने-आपमें विभक्त हैं, अपना पूर्ण और वास्तविक कार्य करनेमें वाधा पाते हैं और अन्य शक्ति, अन्य चेतना, अन्य ज्ञान एवं अन्य संकल्पके साथ संघर्षमें रत रहते हैं। विज्ञान अपने सत्यकी शक्तिसे और हमारी सारी सत्ताको एकत्व और सामंजस्य तथा ऋत एवं सर्वोच्च नियममें पुनः प्रतिष्ठित करके इस विकृत अवस्थाको सुधार देता है। वह हमारे सव भावावेगोंको, यहाँतक कि हमारे घृणा और द्वेषके भावों तथा दुःखके कारणोंको भी अपने हाथमें लेकर प्रेम और आनंदके विविध रूपोंमें परिणत कर देता है। अपने जिस अर्थको वे भूले हुए थे तथा भूलकर अपने वर्तमान विकृत रूपोंमें वदल गये थे उसे वह ढूंढ़ निकालता या प्रकट कर देता है; वह हमारी

संपूर्ण प्रकृतिको सनातन शुभमें पुनः प्रतिष्ठित कर देता है। हमारे बोधों और संवेदनोंके साथ भी वह इसी प्रकार व्यवहार करता है और वे जिस आनंदकी खोज कर रहे हैं उसे समग्र रूपमें प्रकट कर देता है, पर प्रकट करता है उसके सत्य स्वरूपमें, न कि किसी विकृत अवस्थामें और न किसी ऐसे रूपमें जो गलत ढंगसे खोजने और ग्रहण करनेपर प्रकट होता है। वह हमारे निम्नतर आवेगोंको भी सिखा देता है कि जिन बाह्य रूपोंके पीछे वे दौड़ते हैं उनमें उन्हें भगवान् एवं अनंत ब्रह्मको कैसे अधिगत करना चाहिये। यह सब निम्नतर सत्ताकी अवस्थाओंमें नहीं वरन् मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताको दिव्य आनंदकी अनपहार्य पवित्रता, स्वाभाविक तीव्रता तथा, एक पर बहुविध, अविच्छिन्न उन्मादनामें उठा ले जाकर किया जाता है।

इस प्रकार विज्ञानकी भूमिका अपने सब कार्योंमें पूर्णता-प्राप्त ज्ञानशक्ति, संकल्पशक्ति और आनंद-शक्तिकी लीलाकी भूमिका है; ज्ञान, संकल्प और आनंदकी ये शक्तियाँ मन, प्राण और शरीरके स्तरसे ऊँचे स्तरपर उठी होती हैं। यह भूमिका सर्वव्यापी है, विश्वात्मभावसे युक्त और अहंपूर्ण व्यक्तित्व एवं व्यष्टिभावसे मुक्त है; अतएव, यह उच्चतर आत्मा एवं उच्चतर चेतनाकी और फलतः सत्ताके उच्चतर बल एवं उच्चतर आनंदकी लीलाका स्तर है। विज्ञानमें ये सब ऊर्ध्वतर या दिव्य प्रकृतिकी पवित्रतामें, उसके ऋत और सत्यमें कार्य करते हैं। इसकी शक्तियाँ हमें प्रायः ही वे शक्तियाँ प्रतीत हो सकती हैं जिन्हें योगकी साधारण भाषामें सिद्धियाँ कहा जाता है; यूरोपके लोग उन्हें गुह्य शक्तियाँ कहते हैं, भक्तगण और बहुतेरे योगी उन्हें जाल, अंतराय, तथा भगवान्‌की सच्ची खोजसे विचलित करनेवाली मानकर उनसे दूर रहते तथा डरते हैं। हाँ, यहाँ उनका स्वरूप ऐसा ही है और वे संकटपूर्ण भी होती हैं, पर उसका कारण यह है कि उनकी खोज यहाँ अहंके द्वारा निम्नतर सत्तामें, अस्वाभाविक रूपसे तथा अहंकी तुष्टिके लिये की जाती है। विज्ञानमें वे न तो गुह्य शक्तियाँ हैं न सिद्धियाँ, बल्कि उसकी प्रकृतिकी खुली, स्वेच्छाकृत और स्वाभाविक क्रीड़ा हैं। विज्ञान दिव्य तादात्म्योंसे युक्त भागवत सत्ताकी सत्य-शक्ति और सत्य-क्रिया है और जब यह विज्ञानमय भूमिकातक उठे हुए व्यक्तिके द्वारा कार्य करता है तो यह किसी विकार, त्रुटि या अहंमय प्रतिक्रियाके विना तथा भगवत्प्राप्तिसे च्युत हुए विना अपने-आपको चरितार्थ करता है। वहाँ व्यक्ति पहलेकी तरह अहं नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र जीव होता है, यह जीव उस उच्चतर दिव्य प्रकृतिमें स्थायी रूपसे

प्रतिष्ठित हो जाता है जिसका वह एक अंश है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता,** वह प्रकृति उस परात्पर और विराट् आत्माकी प्रकृति है जिसे हम निःसंदेह अनेकविध व्यक्तित्वकी लीलामें, पर अज्ञानके आवरणके बिना एवं आत्मज्ञानके साथ देखते हैं, उसके बहुगुणित एकत्वमें तथा उसकी दिव्य शक्तिके रूपमें देखते हैं।

पुरुष और प्रकृतिका सच्चा संबंध और सच्चा कार्य हमें विज्ञानमें ही विदित होते हैं, क्योंकि वहाँ वे एक हो जाते हैं और भगवान् मायामें समावृत नहीं रहते। वहाँ सब उन्हींका कर्म होता है। जीव तब पहलेकी तरह यह नहीं कहता "मैं विचार और कार्य करता हूँ, मैं कामना और अनुभव करता हूँ"; एक ऐसे साधककी भाँति जो एकताकी प्राप्तिके लिये यत्न कर रहा है, पर अभी उसे पा नहीं सका है, वह यह भी नहीं कहता कि "अपने हृदयमें विराजमान तुझ देवके द्वारा मैं जैसे प्रेरित होता हूँ वैसा ही करता हूँ।"* क्योंकि, तब हृदय किंवा मानसिक चेतनाका केंद्र विचार और कर्म आदिकी उत्पत्तिका केंद्र नहीं रहता, वल्कि केवल एक आनंदपूर्ण माध्यम बन जाता है। वस्तुतः उसे यह ज्ञान हो जाता है कि भगवान् सबके प्रभुके रूपमें उसके ऊपर 'अधिष्ठित' हैं तथा उसके अंदर भी कार्य कर रहे हैं। और, स्वयं भी उस उच्चतर भूमिकामें, **परार्द्धे, परमस्यां परावति,** स्थित होनेके कारण वह सच्चे अर्थोंमें और साहसके साथ कह सकता है, "स्वयं ईश्वर ही अपनी प्रकृतिकी सहायतासे मेरे व्यक्तित्व तथा इसके रूपोंके द्वारा वस्तुओंको जानता और कर्म करता है, प्रेम करता और आनंद लेता है और वहाँ अपने उच्चतर तथा दिव्य लयतालके साथ उस बहुविध लीलाको चरितार्थ करता है जिसे अनंत ब्रह्म विश्वमें—अपने ही सनातन व्यक्त रूपमें—नित्य-निरंतर करता रहता है।"

---

*"त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"—अनु.

चौबीसवाँ अध्याय

विज्ञान और आनंद

विज्ञानमें आरोहण, विज्ञानमय चेतनाके यत्किंचित् अंशकी प्राप्ति अवश्य ही मनुष्यकी आत्माको ऊपर उठा ले जाती है और उसके जगज्जीवनको ज्योति और शक्ति तथा आनंद और आनंत्यकी ऐसी महिमामें उन्नीत कर देती है जो हमारे वर्तमान मानसिक और भौतिक जीवनके पंगु कर्म तथा सीमित उपलब्धियोंकी तुलनामें एक चरम-परम पूर्णताका असली स्थितिशील और क्रियाशील रूप प्रतीत हो सकती है। और वह एक वास्तविक पूर्णता होती है, ऐसी पूर्णता जो आत्माके आरोहणमें इससे पहले कभी प्राप्त नहीं हुई है। क्योंकि मनके स्तरपर प्राप्त ऊँचेसे ऊँचे अध्यात्मिक साक्षात्कारमें भी कोई ऐसी वस्तु अवश्य रहती है जिसका ऊपरी भाग भारी-भरकम होता है और अतएव जो एकांगी एवं एकपक्षीय होती है; यहाँतक कि विशालसे विशाल मानसिक आध्यात्मिकता भी पर्याप्त विशाल नहीं होती और अपने-आपको जीवनमें व्यक्त करनेकी शक्ति पूर्ण न होनेके कारण वह विकृत भी हो जाती है। तथापि अपनेसे परेकी भूमिकाकी तुलनामें यह विज्ञानमय पूर्णता भी, यह प्रथम विज्ञान-ज्योति भी, एक अधिक सर्वांगीण पूर्णताकी प्राप्तिके लिये एक ज्योतित पथमात्र है। यह एक सुरक्षित तथा समुज्ज्वल सोपान है जिसपरसे हम और भी ऊपर उन चरम-परम अनंतताओंमें सुख-पूर्वक आरोहण कर सकते हैं जो जन्म ग्रहण करनेवाली आत्माका मूल धाम एवं लक्ष्य हैं। इस और भी परेके आरोहणमें विज्ञान विलुप्त नहीं हो जाता, बल्कि वस्तुतः अपनी ही उस परम ज्योतिमें पहुँच जाता है जिसमेंसे वह मन और परात्पर अनंत ब्रह्मके बीच मध्यस्थता करनेके लिये अवतरित हुआ है।

उपनिषद् हमें बताती है कि जब मनोमय पुरुषसे ऊपर विज्ञानमय पुरुष उपलब्ध हो जाता है और इससे नीचेके अन्नमय आदि सभी 'पुरुष' इसमें उन्नीत हो जाते हैं तो उसके बाद भी, हमारे लिये एक और, सबसे अंतिम पग शेष रह जाता है—यद्यपि कोई पूछ सकता है : "क्या वह सदाके लिये अंतिम है अथवा केवल एक ऐसा अंतिम पग है जो व्यवहारतः हमारी कल्पना-में आ सकता है या जो इस समय हमारे लिये एकमात्र आवश्यक है?"

वह पग है—अपनी विज्ञानमय सत्ताको आनंदमय पुरुषमें उठा ले जाना और वहाँ अनंत भगवान्के आध्यात्मिक अन्वेषणको पूरा कर देना। आनंद, अर्थात् सनातन परमोच्च दिव्यानंद अपने स्वरूपमें उच्चतम मानवीय हर्ष या सुखसे अत्यंत भिन्न एवं उच्चतर है। यह आनंद ही आत्माका सारभूत और मूल स्वभाव है। आनंदमें ही हमारी आत्मा अपनी सच्ची सत्ताको प्राप्त करेगी; आनंदमें ही वह अपनी तात्त्विक चेतना, अपनी सत्ताकी पूर्ण शक्ति प्राप्त करेगी। देहधारी जीवका आत्माके इस उच्चात्युच्च, निरपेक्ष, असीम एवं स्वभावसिद्ध आनंदमें प्रवेश ही अनंत मुक्ति एवं अनंत पूर्णता है। यह ठीक है कि निम्नतर स्तरोंपर भी, जहाँ पुरुष अपनी खर्व और संकीर्ण प्रकृतिके साथ अपना खेल करता है, इस आनंदको प्रतिबिंबित करके या परिमित रूपमें अवतरित करके इसका यत्किंचित् उपभोग किया जा सकता है। आध्यात्मिक एवं असीम आनंदका अनुभव जिस प्रकार ज्ञानकी विज्ञानमय सत्य भूमिकामें तथा इससे भी ऊपर किया जा सकता है उसी प्रकार देह, प्राण और मनके स्तरोंपर भी किया जा सकता है। और जो योगी इन लघुतर अनुभूतियोंमें प्रवेश पा लेता है वह इन्हें इतनी पूर्ण और प्रवल अनुभव कर सकता है कि वह यह कल्पना करने लगे कि इनसे महान् और परतर कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि, दिव्य तत्त्वोंमेंसे प्रत्येक हमारी सत्ताके अन्य छहों स्वरोंकी संपूर्ण संभाव्य शक्तिको बीजरूपमें अपने अन्दर धारण किये हुए है; प्रकृतिका प्रत्येक स्तर अपने नियमोंके अधीन इन स्वरोंकी स्वानुरूप पूर्णता प्राप्त कर सकता है। परंतु सर्वांगीण पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जव कि निम्नतम स्तर उच्चतमकी ओर ऊपर ही ऊपर आरोहण करता जाय और इसके साथ ही उच्चतम निरंतर ही निम्नतमके अंदर अवतरित होता रहे जिससे अंतमें हमारी सारी सत्ता अनंत और सनातन सत्यका एक ही ठोस पिण्ड और साथ ही एक नमनीय सुधासिन्धु वन जाय।

मनुष्यकी ठेठ भौतिक चेतना अर्थात् अन्नमय पुरुष इस परमोच्च आरोहण और पूर्ण अवरोहणके विना भी सच्चिदानंदकी सत्ताको अपने अंदर प्रतिबिंबित कर सकता है तथा स्वयं इसमें प्रवेश भी पा सकता है। यह कार्य वह विराट् पुरुषको, उसके आनंद, वल और आनंत्यको, जो गुप्त होते हुए भी यहाँ विद्यमान अवश्य हैं, भौतिक प्रकृतिमें प्रतिबिंबित करके अथवा एक पृथक् वस्तु एवं सत्ता होनेकी अपनी भावनाका अपने अंदर या वाहर अवस्थित आत्मामें लय करके संपन्न कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप स्थूल मन एक महिमान्वित निद्रामें लीन हो जाता है जिसमें अन्नमय पुरुष एक प्रकारके सचेतन निर्वाणमें अपने-आपको भूल जाता है या फिर प्रकृतिके हाथोंमें एक

निर्जीव वस्तुकी भांति, जड़वत्, हवामें लुढ़कते पत्तेकी तरह इधर-उधर गति करता रहता है। अथवा सच्चिदानंदकी सत्ताको अनुभव करनेके परिणामस्वरूप कर्मके उत्तरदायित्वसे मुक्त होनेकी शुद्ध, सुखमय और निर्बाध अवस्था, दिव्य शैशवकी अवस्था भी प्राप्त हो सकती है, **बालवत्**। परंतु यह ज्ञान और आनंदके उन उच्चतर ऐश्वर्योंके बिना ही प्राप्त होती है जो एक अधिक ऊँचे स्तरकी ऐसी दिव्य शैशवावस्थाके वैभव हैं। पर यह सच्चिदानंदका एक जड़ साक्षात्कार है जिसमें न तो पुरुषको प्रकृतिपर किसी प्रकारका प्रभुत्व प्राप्त होता है और न प्रकृति अपनी परमोच्च शक्तिमें, परा शक्तिके अनंत वैभवोंमें, किसी प्रकारसे उन्नीत ही होती है। तथापि ये दोनों अर्थात् यह प्रभुत्व और यह उन्नयन पूर्णताके दो पथ हैं, परमोच्च सनातन ब्रह्ममें प्रवेश करनेके लिये दो भव्य द्वार हैं।

मनुष्यमें अवस्थित प्राणिक आत्मा एवं प्राणिक चेतना, प्राणमय पुरुष भी सच्चिदानंदकी सत्ताको अपने अंदर इसी प्रकार सीधे रूपमें प्रतिबिंबित कर सकता तथा इसमें प्रवेश पा सकता है। अर्थात् इसके लिये उसे या तो विश्व-प्राणमें पड़नेवाले विराट् पुरुषके व्यापक, प्रोज्ज्वल और आनंदपूर्ण प्रतिबिंबको ग्रहण करना होता है अथवा अपने पृथक् जीवन एवं अस्तित्वकी भावनाका अपने अंदर या बाहर विद्यमान बृहत् आत्मामें लय करना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप वह या तो नितांत आत्म-विस्मृतिकी गहरी अवस्थामें पहुँच जाता है या फिर प्राणिक प्रकृतिके द्वारा प्रेरित होकर अनुत्तरदायी रूपमें कार्य करने लगता है अर्थात् प्राणमय नृत्यमें निरत महान् विश्व-शक्तिके प्रति आत्मोत्सर्ग करनेके उदात्त उत्साहसे पूरित हो उठता है। उसकी बाह्य सत्ता ईश्वर-अधिकृत उन्मादके भावमें निवास करती है, **उन्मत्तवत्**, और तब वह अपनी तथा जगत्की परवा नहीं करती अथवा उपयुक्त मानव-कर्मके रूढ़ाचारों एवं औचित्योंकी या महत्तर सत्यके सामंजस्य एवं लयतालकी पूर्ण रूपसे उपेक्षा करती है। वह बंधनरहित प्राणमय पुरुषकी तरह, दिव्य 'पागल' या दिव्य पिशाचकी तरह कार्य करती है, **पिशाचवत्**। इस अवस्थामें भी प्रकृतिपर प्रभुत्व प्राप्त नहीं होता, न उसका परम ऊर्ध्वगमन ही होता है। हाँ, इतना अवश्य होता है कि हमारा अंतःस्थ आत्मा एक आनंदपूर्ण निष्क्रिय अवस्थामें सच्चिदानंदको उपलब्ध कर लेता है और बाहर अवस्थित भौतिक एवं प्राणिक प्रकृति हमपर एक अनियंत्रित ढंगका सक्रिय प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है।

मनुष्यमें रहनेवाली मनोगत आत्मा एवं मानसिक चेतना, मनोमय पुरुष भी इसी प्रकारके सीधे तरीकेसे सच्चिदानंदको प्रतिबिंबित कर सकता तथा

इसमें प्रवेश पा सकता है अर्थात् इसके लिये उसे ज्योतिर्मय, निर्बाध, सुखमय, नमनीय और असीम शुद्ध वैश्व मनकी प्रकृतिमें पड़नेवाले विराट् पुरुषके प्रतिबिंबको ग्रहण करना होता है या फिर अपने अंदर और बाहर अवस्थित वृहत्, मुक्त, अपरिच्छिन्न केंद्रातीत आत्मामें लीन होना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप या तो उसका मन और कर्ममात्र एक निश्चल अवस्थामें लयको प्राप्त हो जाते हैं या फिर वह कामना और बंधनसे मुक्त होकर कर्म करता है और उस कर्मको उसका आंतरिक साक्षी-पुरुष देखता रहता है पर उसमें भाग नहीं लेता। मनोमय मानव एक ऐसी एकांतवासिनी आत्मा बन जाता है जो मानों जगत्में अकेली ही हो तथा जो किसी भी मानवीय संबंधकी परवा न करती हो या फिर वह एक ऐसी निगूढ़ आत्मा बन जाता है जो उल्लासमय ईश्वर-सान्निध्य या आनंदपूर्ण तादात्म्यमें निवास करती है तथा सब जीवोंके साथ शुद्ध प्रेम एवं परमआनंदके संबंध रखती है। मनोमय पुरुषको आत्माका साक्षात्कार इन तीनों स्तरोंमें एक साथ भी हो सकता है। तब वह ये सब चीजें (दिव्य बालक, दिव्य 'पागल' या 'पिशाच' और एकांतवासी तपस्वी) बारी-बारीसे, एकके बाद एक या फिर एक ही साथ बन सकता है। अथवा वह निम्नतर रूपोंको उच्चतर भूमिकाके व्यक्त रूपोंमें परिणत कर सकता है; वह स्वतंत्र भौतिक मनकी 'बालवत्'-स्थिति या जड़ दायित्वहीनताको अथवा स्वतंत्र प्राणिक मनके दिव्य उन्मादको तथा सब नियमों, औचित्यों एवं सामंजस्योंके प्रति उसकी उपेक्षावृत्तिको ऊपर उठा ले जा सकता है और उनके द्वारा संतके हर्षोद्रेक किंवा परिव्राजककी एकांतप्रिय स्वाधीनताको अनुरंजित या आच्छादित कर सकता है। यहाँ भी न तो आत्मा जगत्में प्रकृतिके ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करती है और न प्रकृतिको ऊपर ही उठाती है, बल्कि आत्मापर दोहरा प्रभुत्व स्थापित हो जाता है,—अंदर तो मनोगत अनंत अध्यात्म-सत्ताका स्वातंत्र्य एवं आनंद उसपर अधिकार कर लेते हैं और बाहर मानसिक प्रकृतिकी सुखमय, स्वाभाविक और अव्यवस्थित लीला। पर, क्योंकि मनोमय पुरुष विज्ञानको एक ऐसे ढंगसे ग्रहण कर सकता है जिससे कि प्राणमय और अन्नमय पुरुष ग्रहण नहीं कर सकते और क्योंकि वह इसे ज्ञानके साथ—मानसिक प्रतिक्रिया करनेवाले सीमित ज्ञानके साथ ही सही—स्वीकार कर सकता है, वह अपने बाह्य कर्मको कुछ अंशमें इसकी ज्योतिके द्वारा परिचालित कर सकता है अथवा यदि इतना नहीं तो कम-से-कम अपने संकल्प और विचारोंको इससे आप्लावित करके शुद्ध अवश्य कर सकता है। परंतु मन अंतःस्थ अनंत सत्ता और बाह्य सांत प्रकृतिके बीच केवल एक समझौता ही कर सकता है; वह अपने बाह्य कर्ममें

अंतःसत्ताके ज्ञान, वल और आनंदकी अनंतताको पूर्णताके साथ तनिक भी नहीं उंडेल सकता; अतः उसका वाह्य कर्म तो सदा ही अपूर्ण रहता है। फिर भी वह संतोष और स्वतंत्रता अनुभव करता है क्योंकि अंतरस्थ प्रभु ही उसके कर्मका, वह चाहे पूर्ण हो या अपूर्ण, भार अपने ऊपर ले लेते हैं, उसकी वागडोर सँभाल लेते हैं तथा उसका फल निश्चित करते हैं।

परंतु विज्ञानमय पुरुष वह पहली सत्ता है जो सनातनके स्वातंत्र्यमें ही नहीं वल्कि उसकी शक्ति और प्रभुतामें भी भाग लेती है। क्योंकि वह अपने कार्यमें देवत्वके पूर्णैश्वर्यको ग्रहण करता है, देवत्वकी परिपूर्णताको अनुभव करता है। वह अनंतकी मुक्त, अत्युच्च और परमोज्ज्वल गतिमें भाग लेता है; वह मूल ज्ञान, विशुद्ध शक्ति और अखंड आनंदका आधार है, समस्त जीवनको सनातन ज्योति, सनातन अग्नि और सनातन सोम-सुधामें रूपांतरित कर देता है, वह आत्माकी अनंतता और प्रकृतिकी अनंतता दोनोंको धारण करता है। अनंतकी सत्तामें वह अपनी प्रकृतिगत सत्ताको उतना खोता नहीं जितना कि पा लेता है। अन्य स्तरोंपर जिनतक मनोमय पुरुष अधिक आसानीसे पहुँच सकता है, मनुष्य अपने अंदर ईश्वरको और ईश्वरमें अपने-आपको अनुभव करता है; वह अपने वाह्य व्यक्तित्व या प्रकृतिकी अपेक्षा कहीं अधिक अपने आंतरिक सारतत्त्वमें ही दिव्य वनता है। विज्ञानमें, यहाँतक कि मानसभावापन्न विज्ञानमें भी, सनातन भगवान् मानवरूपी प्रतीक-को अधिकृत तथा रूपांतरित करते हैं तथा उसपर अपनी छाप लगाते हैं, मानव-व्यक्तित्व एवं प्रकृतिको सव ओरसे व्याप लेते हैं तथा कुछ अंशमें उसके अंदर अपने-आपको प्राप्त कर लेते हैं। मनोमय पुरुष अधिक-से-अधिक उसी वस्तुको ग्रहण या प्रतिविंवित करता है जो सत्य, दिव्य और शाश्वत होती है; पर विज्ञानमय पुरुष सच्चे तादात्म्यको प्राप्त कर लेता है, सत्य-प्रकृतिकी मूल सत्ता और शक्तिको आयत्त कर लेता है। पुरुष और प्रकृति-का, एक-दूसरीकी पूरक दो पृथक् शक्तियोंका द्वैत सांख्यमतवालोंका एक महान् सत्य है जो हमारी वर्तमान प्राकृत सत्ताके व्यावहारिक सत्यपर आधा-रित है। पर विज्ञानमें यह द्वैत पुरुष और प्रकृतिकी द्वयात्मक सत्तामें, गुह्य परात्परके क्रियाशील रहस्यमें विलीन हो जाता है। सत्य-सत्ता मूर्तिविद्या-संवंधी भारतीय प्रतीकके द्वारा प्रतिरूपित हरगौरी* है; वह एक नर-नारीरूप

*महादेव और उनकी अर्द्धांगिनी अर्थात् ईश्वर और शक्तिका द्वयात्मक शरीर जिसका दायां अर्द्ध भाग नर-रूप है और वायां अर्द्ध भाग नारी-रूप।

द्विविध शक्ति है जो परात्परकी पराशक्तिसे उत्पन्न हुई है तथा उसीके द्वारा धारण की जाती है।

अतएव ऋतचित् पुरुष अनंतके अंदर आत्म-विस्मृतिकी अवस्थामें नहीं पहुँच जाता; वह अनंतमें सनातन आत्म-प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। उसका कार्य अनियमित नहीं होता; अनंत स्वतंत्रतामें भी वह ('पुरुष') पूर्ण संयमसे संपन्न होता है। निम्नतर स्तरोंमें 'पुरुष' स्वभावतः ही प्रकृतिके अधीन होता है और नियामक तत्त्वकी प्राप्ति भी उसे निम्नतर प्रकृतिमें ही होती है; वहाँ किसी प्रकारका भी नियमन करनेके लिये सांतके नियमके प्रति कठोर अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। यदि इन स्तरोंपर 'पुरुष' उस नियमसे हटकर अनंतकी स्वतंत्रतामें प्रवेश करता है तो वह अपने स्वाभाविक केंद्रको खो देता है और विराट् अनंततामें एक केंद्ररहित सत्ता बन जाता है, वह उस जीवंत सामंजस्यपूर्ण तत्त्वसे वंचित हो जाता है जिसके द्वारा वह तबतक अपनी बाह्य सत्ताका नियमन करता था और उसे अन्य कोई नियम नहीं मिलता। वैयक्तिक प्रकृति या उसका बचा-खुचा अंश केवल अपनी पुरानी चेष्टाओंको कुछ समयके लिये यंत्रवत् जारी रखता है अथवा वह व्यक्तिके देहसंस्थानके अंदर नहीं बल्कि उसके ऊपर कार्य करनेवाली विश्वशक्तिकी तरंगोंके उतार-चढ़ावके साथ नाचता रहता है, या वह एक सर्वथा स्वच्छंद आनंदके उन्मत्त पदक्षेपके अनुसार इधर-उधर भटकता रहता है, या फिर वह जड़ बना रहता है और आत्माका जो श्वास उसके भीतर था वह उसे त्यागकर चला जाता है। इसके विपरीत, यदि आत्मा स्वातंत्र्य-प्राप्तिके अपने आवेगमें नियंत्रणके एक ऐसे अन्य एवं दिव्य केंद्रकी खोजके लिये यत्न कर जिसके द्वारा अनंत भगवान् व्यक्तिमें अपने कर्मको सचेतन रूपसे नियंत्रित कर सकें तो वह विज्ञानकी ओर बढ़ रही है जहाँ वह केंद्र अर्थात् सनातन समस्वरता और व्यवस्थाका केंद्र पहलेसे ही विद्यमान है। जब पुरुष मन और प्राणके ऊपर विज्ञानमें आरोहण करता है तभी वह अपनी प्रकृतिका स्वामी बनता है क्योंकि तब वह केवल पराप्रकृतिके ही अधीन रहता है। कारण वहाँ शक्ति या संकल्प दिव्य ज्ञानके एक यथार्थ पूरक पक्ष एवं उसकी पूर्ण क्रियाशक्तिका काम करता है। और वह ज्ञान केवल 'साक्षी' की दृष्टि नहीं बल्कि ईश्वरकी अंतर्यामी दृष्टि है जो प्रबल रूपसे प्रेरित करती है। उसकी ज्योतिर्मय नियामक शक्ति, जिसकी पकड़से बचना या जिससे इन्कार करना संभव नहीं, अपनी आत्म-व्यंजक सामर्थ्यके द्वारा हमारे समस्त कर्मका नियमन करती है और प्रत्येक क्रिया तथा आवेगको एक सत्य, उज्ज्वल, यथार्थ और अटल रूप प्रदान करती है।

विज्ञान अपनेसे नीचेके स्तरोंकी उपलब्धिका परित्याग नहीं करता; उसका अर्थ हमारी व्यक्त प्रकृतिका विलोप या लय अर्थात् निर्वाण नहीं वल्कि इसकी उदात्त चरितार्थता है। वह प्रारंभिक उपलब्धियोंको रूपांतरित तथा दिव्य क्रम-विधानके तत्त्वोंमें परिणत करके अपनी निजी अवस्थाओंके अंतर्गत धारण करता है। यह ठीक है कि विज्ञानमय पुरुष एक शिशु है, पर है एक राजशिशु*; विज्ञानमय भूमिका एक राजोपम और सनातन शिशुकी अवस्था है जिसके लिये ये सब लोक खिलौने हैं और संपूर्ण विश्व-प्रकृति जिसके कभी न समाप्त होनेवाले खेलकी अद्‌भुत वाटिका है। विज्ञान दिव्य जड़ताकी अवस्थाको अपनाता है; पर यह अब उस वशवर्ती आत्माकी जड़ता नहीं होती जिसे प्रकृति जमीनपर पड़े पत्तेकी तरह ईश्वरके निःश्वासमें चाहे जिधर ठेल ले जाती है। यह तो एक सुखद निष्क्रियता होती है जो प्रकृतिरूपी आत्मसत्ताके कर्म और आनंदकी अकल्पनीय तीव्रताको धारण करती है। वह प्रकृति अपने स्वामी 'पुरुष'के आनंदसे प्रेरित होती है और साथ ही अपने-आपको एक ऐसी पराशक्तिके रूपमें जानती है जो उसके ऊपर एवं चारों ओर विद्यमान है और उसे अपने अधिकारमें रखती है तथा सदा ही अपनी गोदमें परमानंदपूर्वक धारण किये रहती है। पुरुष-प्रकृतिकी यह द्विदल सत्ता मानों जाज्वल्यमान सूर्य एवं दिव्य ज्योतिका पुंज है जिसे उसकी अपनी ही आभ्यंतरिक चेतना एवं शक्ति विराट् तथा सर्वोच्च परात्पर सत्ताके साथ एक होकर उसकी अपनी कक्षापर घुमाये लिये चलती है। विज्ञानका उन्माद आनंदका ज्ञानपूर्ण उन्माद होता है, एक परम चेतना एवं शक्तिका अपरिमेय परमोल्लास होता है जो अपनी दिव्य जीवन-गतियोंमें स्वतंत्रता और प्रखरताकी अनंत भावनासे स्पंदित रहती है। उसका कार्य अतिबौद्धिक होता है और अतएव वुद्धिप्रधान मनको वह एक वड़ा भारी उन्माद प्रतीत होता है क्योंकि इसके पास उसे समझनेकी कुंजी ही नहीं है। तथापि यह चीज जो उन्मादना प्रतीत होती है वास्तवमें एक क्रियारत प्रज्ञा है जो अपने अंतर्निहित तत्त्वोंके स्वातंत्र्य और ऐश्वर्यके द्वारा तथा अपनी गतियोंकी मूलभूत सरलतामें रहनेवाली अनंत जटिलताके द्वारा मनको चकरा भर देती है, यह आनंदोन्मादना सव लोकोंके प्रभुकी अपना कार्य करनेकी असली पद्धति ही है, एक ऐसी वस्तु है जिसकी थाह पाना किसी भी प्रकार-की वौद्धिक व्यवस्थाके लिये संभव नहीं; यह एक नृत्य भी है, अति प्रवल

---

*ऐसा ही हिराक्लिटस (Heraclitus) ने भी कहा है, "स्वर्गका राज्य शिशुका ही है।"

शक्तियोंका एक भँवर है, पर नृत्यका स्वामी अपनी शक्तियोंके हाथोंको अपने हाथमें लिये रहता है और उन्हें अपनी रास-लीलाके तालमय गतिच्छंदके अनुसार स्वयं-निर्धारित सामंजस्यपूर्ण चक्रोंमें घुमाता रहता है। दिव्य 'पिशाच' की ही भांति विज्ञानमय पुरुष भी साधारण मानवजीवनके तुच्छ सदाचारों एवं औचित्योंसे बंधा नहीं होता जिनके द्वारा वह निम्न प्रकृतिके परेशान करनेवाले द्वंद्वोंके साथ सामंजस्य साधनेके लिये कोई सामयिक उपाय करता है तथा जिनकी सहायतासे वह जगत्के प्रतीयमान विरोधोंके बीच अपने पगोंको ठीक राहपर चलाने, इसकी अनगिनत विघ्न-बाधाओंसे बचने और इसके भयावह स्थलों एवं गर्त-गह्वरोंके आसपास फूँक-फूँककर कदम रखनेका यत्न करता है। विज्ञानमय अतिमानसिक जीवन हमारे लिये एक असाधारण जीवन है क्योंकि वह इतना स्वतंत्र है कि उसमें आत्मा प्रकृतिके साथ निर्भयता और यहाँतक कि उग्रतासे व्यवहार करती हुई समस्त दुःसाहसिक कार्योंको पूरा करती है तथा निर्भयतापूर्वक नानाविध आनंद लाभ करती है, किंतु फिर भी वह जीवन अनंत भगवान्के वास्तविक सहज स्वभावका द्योतक है तथा अपनी यथार्थ निर्भ्रांत कार्यप्रणालीमें पूर्ण रूपसे सत्यके नियमके अधीन होता है। वह एक आत्म-अधिकृत ज्ञान और प्रेमके तथा संख्यातीत एकत्वमें मिलनेवाले आनंदके नियमका अनुसरण करता है। वह असाधारण केवल इसलिये प्रतीत होता है कि उसके गतिच्छंदको मनके मंद एवं दुर्बल कंपनोंके द्वारा नापा नहीं जा सकता, फिर भी वह आश्चर्यजनक तथा परात्पर लयतालके अनुसार अपने पग रखता है।

यदि ऐसा ही है तो फिर इससे भी ऊँचे सोपानकी भला क्या आवश्यकता है और विज्ञानमय पुरुष तथा आनंदमय पुरुषमें भेद ही क्या है? तात्त्विक भेद कोई नहीं है, फिर भी भेद अवश्य है, क्योंकि पुरुष चेतनाके एक अन्य ही स्तरमें पहुँच जाता है और सारी स्थिति एक प्रकारसे आमूल रूपमें पलट जाती है,—जड़तत्त्वसे लेकर उच्चतम सत्तातक आरोहणकी जितनी भी भूमिकाएँ हैं उनमेंसे हरएककी प्राप्तिके लिये चेतनाका एक प्रकारका पलटाव होना आवश्यक है। प्रत्येक भूमिकामें 'पुरुष' उससे ऊपर परेकी किसी वस्तुकी ओर नहीं देखता, बल्कि उसीमें स्थित होकर उससे नीचेकी ओर उस सबपर दृष्टिपात करता है जो कि वह पहले था। निःसंदेह आनंदकी प्राप्ति सभी स्तरोंपर हो सकती है, क्योंकि यह सर्वत्र विद्यमान है और सर्वत्र एक ही वस्तु है। यहाँतक कि चेतनाके प्रत्येक निम्न लोकमें भी आनंद-भूमिकाकी एक प्रकारकी पुनरावृत्ति होती है। परंतु निम्नतर स्तरोंमें जब आनंद प्राप्त होता है तो इसके अंदर शुद्ध मन या प्राणिक बोध या भौतिक

चेतनाका एक प्रकारका लय करके ही इसे अनुभव किया जा सकता है; इतना ही नहीं, बल्कि मानों यह मन, प्राण या जड़तत्त्वके उस लय-प्राप्त रूपके कारण जो आनंदके घोलमें स्थित होता है स्वयं भी हलका हो जाता है तथा एक तुच्छ विरल रूपमें परिणत हो जाता है। वह रूप निम्न चेतनाके लिये तो आश्चर्यजनक होता है पर आनंदके वास्तविक प्रगाढ़ रूपोंकी बराबरी नहीं कर सकता। इसके विपरीत विज्ञानमें वास्तविक चेतनाकी सघन ज्योति* विद्यमान होती है जिसमें आनंदकी प्रगाढ़ पूर्णता उपस्थित रह सकती है। और जब विज्ञानका रूप आनंदमें लय प्राप्त करता है, तो वह सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता बल्कि एक स्वाभाविक परिवर्तनमेंसे गुजरता है जिसके द्वारा हमारी आत्मा अपनी चरम-परम स्वतंत्रतामें उन्नीत हो जाती है; क्योंकि वह अपने-आपको आत्मतत्त्वकी निरपेक्ष सत्ताके सांचेमें ढाल लेती है और अपनी पूर्णतः स्वयंस्थित आनंदमय अनंतताओंके रूपमें विस्तृत हो जाती है। अनंत एवं निरपेक्ष भगवान् ही विज्ञानके सब कार्योंका चिन्मय उद्गम, सहचारी तत्त्व, अनिवार्य गुण-धर्म, आदर्शमान, क्षेत्र और वातावरण है; वही इसका आधार, उत्स एवं उपादान-द्रव्य है तथा इसके अंदर निवास करने और इसे अनुप्रेरित करनेवाली उपस्थिति है; परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि अपने कर्ममें यह उसकी एक क्रियाके रूपमें, उसके कार्योंकी एक तालबद्ध पद्धति, सनातनकी दिव्य माया† या प्रज्ञात्मक रचनाके रूपमें उससे पृथक् स्थित रहता है। विज्ञान चिच्छक्तिका दिव्य ज्ञान-संकल्प है; यह प्रकृति-पुरुषकी सामंजस्यपूर्ण चेतनता और क्रिया है—दिव्य अस्तित्वके आनंदसे परिपूर्ण है। आनंदभूमिकामें ज्ञान इन संकल्पमूलक सामंजस्योंसे पीछे हटकर शुद्ध आत्म-चैतन्यमें चला जाता है, संकल्प शुद्ध परात्पर शक्तिमें लीन हो जाता है और फिर दोनों ही अनंतके शुद्ध आनंदमें ऊपर उठ जाते हैं। आनंदका निज उपादान एवं निज स्वरूप ही विज्ञानमय भूमिकाका आधार है।

आनंद-भूमिकाकी ओर आरोहणमें ऐसा इसलिये घटित होता है कि यहाँ पूर्ण एकताकी ओर होनेवाला संक्रमण पूरा हो जाता है। विज्ञान उस संक्रमणका निर्णायक पग है, अंतिम विश्रामस्थल नहीं। विज्ञानमें आत्मा अपनी अनंतताको जान लेती है तथा उसमें निवास करती है, पर इसके साथ

---

*चिद्घन।

†भ्रमके अर्थमें नहीं, बल्कि 'माया' शब्दके मूल वैदिक अर्थमें। विज्ञानमय भूमिकामें सभी कुछ वास्तविक है, आध्यात्मिक रूपमें मूर्त तथा सदा ही प्रमाणित कर सकने योग्य होता है।

ही वह व्यक्तिके अंदर अनंतकी क्रीड़ाके लिये एक कार्योपयोगी केंद्रमें भी निवास करती है। वह सब भूतोंके साथ एकात्मता अनुभव कर लेती है, पर वह भेदवृत्तिसे रहित अपने वैशिष्ट्यको भी सुरक्षित रखती है जिसके द्वारा वह एक प्रकारकी विभिन्नतामें भी उनके साथ संबंध स्थापित कर सकती है। संबंधमें मिलनेवाले आनंदके लिये आत्माने अपने अंदर यह जो विशिष्टता रख छोड़ी है वही मनमें जाकर भेदका ही नहीं बल्कि पार्थक्य आदिका रूप भी धारण कर लेती है। परिणामत: मनको यह अनुभव होता है कि हमारी आत्मा हमारी अन्य आत्माओंसे पृथक् एवं विभक्त है, अपनी आध्यात्मिक सत्तामें उसे यह भान होता है कि वह दूसरोंके अंदर विद्यमान उस आत्माको खो बैठा है जो हमारे साथ एकीभूत है और अतएव वह उस आनंदको पानेके लिये यत्न करता है जिससे वह वंचित हो गया है; प्राणमें आकर वह विशिष्टता अहंका अपने अंदर डूबे रहना तथा आत्माका अपने सुप्त एकत्वकी अंधवत् खोज करना—इन दोनोंके बीच एक समझौतेका रूप धारण कर लेती है। विज्ञानमय पुरुष अपनी अनंत चेतनामें भी अपने ज्ञानात्मक उद्देश्योंके लिये स्वेच्छापूर्वक एक प्रकारका सीमित व्यक्तित्व उत्पन्न करता है; यहाँतक कि इसकी सत्ताका एक विशेष प्रोज्ज्वल प्रभामंडल भी होता है जिसमें यह विचरण करता है, यद्यपि उससे परे यह सब वस्तुओंमें प्रवेश करके समस्त सत्ता तथा सर्वभूतोंके साथ तादात्म्य स्थापित करता है। आनंद-में सब कुछ ही पलट जाता है, केंद्रका लोप हो जाता है। आनंदमय कोषकी प्रकृतिमें कोई भी केंद्र नहीं होता, न कोई स्वेच्छारचित या आरोपित परिधि ही होती है, बल्कि सब कुछ एक ही सम सत्ता या एक ही अभिन्न आत्मा होता है, व्यष्टिरूपमें भी सभी वस्तुएँ वही एक सत्ता या आत्मा अनुभव होती हैं। आनंदमय पुरुष सर्वत्र ही अपनी सत्ताको देखता एवं अनुभव करता है; उसका अपना निवासस्थान कोई नहीं, वह 'अनिकेत' है (अर्थात् निकेत या निवासस्थानसे रहित है), अथवा सब कुछ (सर्व) ही उसका निवासस्थान है, या फिर, यदि वह चाहे तो सभी पदार्थ उसके अनेकानेक निवासस्थान होते हैं जो एक-दूसरेके लिये सदैव खुले रहते हैं। अन्य सभी सत्ताएँ अपने सार-तत्त्वमें तथा अपने सक्रिय रूपमें पूर्ण रूपसे उसकी अपनी ही आत्माएँ होती हैं। विविधतापूर्ण एकतामें संबंध स्थापित करनेसे जो आनंद मिलता है वह पूर्णतया उसी आनंदका रूप धारण कर लेता है जो संख्यातीत एकत्वमें पूर्ण तादात्म्यके द्वारा प्राप्त होता है। सत्ताको अब पहलेकी तरह ज्ञानके रूपोंमें संघटित नहीं किया जाता, क्योंकि यहाँ ज्ञात, ज्ञान और ज्ञाता पूर्ण रूपसे एक ही 'सत् आत्मा' होते हैं। यहाँ सबको

सब कुछ निकटतम निकटतासे भी 'परतर' एक अंतरंग तादात्म्यके द्वारा ज्ञात एवं प्राप्त रहता है। अतएव, जिसे हम ज्ञान कहते हैं उसकी यहाँ जरूरत ही नहीं होती। समस्त चैतन्य अनंतके आनंदका ही चैतन्य होता है, समस्त शक्ति अनंतके आनंदकी ही शक्ति होती है, सब रूप और कार्य भी अनंतके आनंदके रूप और कार्य होते हैं। सनातन आनंदमय पुरुष अपनी सत्ताके इसी निरपेक्ष सत्यमें निवास करता है, यहाँ हमारे लोकमें वह विपरीत दृग्विषयोंके कारण विकृत है, यहाँ अपनी भूमिकामें वह पुनः इनके सत्य स्वरूपको प्राप्त कर उसीमें रूपांतरित हो जाता है।

आनंदभूमिकामें भी आत्माका अस्तित्व बना रहता है; उसका नाश नहीं होता, न किसी निराकार अनिर्देश्य सत्तामें उसका लय ही होता है। क्योंकि, हमारी सत्ताके प्रत्येक स्तरपर यही नियम लागू होता है; आनंदमय भूमिकामें आत्मा आत्म-मग्नताकी गहरी योगनिद्रामें लीन हो सकती है; प्रभप्राप्तिकी अनिर्वचनीय गरिमामें प्रतिष्ठित हो सकती है, भारतीय शास्त्रोंमें आनंदलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ या गोलोकके नामसे वर्णित की गयी अपनी निज भूमिकाके उच्चतम वैभवमें निवास कर सकती है, यहाँतक कि निम्नतर लोकोंको अपनी ज्योति, शक्ति और आनंदसे परिपूरित करनेके लिये उनकी ओर लौट भी सकती है। सनातन लोकोंमें ये भूमिकाएँ एक-दूसरीमें निहित रहती हैं, यहाँतक कि मनसे ऊपरके सभी लोकोंमें उत्तरोत्तर ऐसा ही देखनेमें आता है। क्योंकि, ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं ; बल्कि ये निरपेक्ष ब्रह्मकी चेतनाकी सहवर्ती, यहाँतक कि सुसंवादी शक्तियाँ हैं। आनंद-भूमिकामें अवस्थित भगवान् विश्व-लीला करनेमें असमर्थ हों ऐसी बात नहीं, न उन्होंने अपने ऐश्वर्य-वैभवको किसी प्रकार प्रकट करनेके संबंधमें अपने ऊपर रोक ही लगा रखी है। वरन् जैसा कि उपनिषद्में बलपूर्वक कहा गया है, आनंद ही वास्तविक सृष्टिकारी तत्त्व है। क्योंकि सब कुछ इस दिव्य आनंद* से ही उत्पन्न होता है; सब कुछ इसके अंदर सत्ताके एक निरपेक्ष सत्यके रूपमें पहलेसे ही विद्यमान है। विज्ञान उस सत्यको प्रकाशमें लाता है और विचार तथा इसके नियमके द्वारा उसे स्वेच्छापूर्वक सीमित कर देता है। आनंद-तत्त्वमें सब नियमोंका अंत हो जाता है, इसमें किसी बाँधने-वाली शर्त्त या सीमासे रहित एक पूर्ण स्वतंत्रताका राज्य है। यह अन्न-प्राण आदि अन्य सब तत्त्वोंसे उच्चतर है और एक ही क्रियाके द्वारा उन

---

*इसीलिये आनंदके लोकको 'जनलोक' कहा जाता है जिसमें 'जन' शब्द जन्म और आनंदके दोहरे अर्थका बाचक है।

सब तत्त्वोंका उपभोग भी करता है; यह सब गुणोंसे मुक्त है और अपने अनंत गुणोंका भोक्ता भी है; यह सब रूपोंसे ऊपर है और अपने सभी रूपों तथा आकारोंका निर्माता और भोक्ता भी है। यह कल्पनातीत पूर्णता ही आत्माका, परात्पर और विराट् आत्माका स्वरूप है, और आनंद-भूमिकामें परात्पर तथा विराट् आत्माके साथ एक होनेका अर्थ यही है कि हमारी आत्मा भी तद्रूप हो जाय, इससे कम नहीं। इस भूमिकामें निरपेक्ष आत्माका ही अस्तित्व है और उसके निरपेक्ष तत्त्वोंकी ही लीला होती रहती है। अतएव, स्वभावतः ही, हमारे मनका कोई भी विचार इसका वर्णन नहीं कर सकता। न उन प्रातिभासिक या पारमार्थिक सत्ताओंके संकेतोंके द्वारा ही इसका वर्णन किया जा सकता है जिन्हें प्रकट करनेके लिये हमारे मानसिक विचार बुद्धिगत प्रतीकोंका काम करते हैं। ये सत्ताएँ स्वयं वास्तवमें उन अवर्णनीय निरपेक्ष तत्त्वोंके सापेक्ष प्रतीकमात्र हैं। प्रतीक अर्थात् निरपेक्ष तत्त्वको प्रकट करनेवाली कोई सद्वस्तु हमें स्वयं उस तत्त्वका विचार, बोध, इंद्रियानुभव, अंतर्दर्शन, यहाँतक कि संस्पर्श भी प्रदान कर सकती है, पर अंतमें हम इस प्रतीकसे परे उस मूल तत्त्वपर पहुँच जाते हैं जिसका यह प्रतीक है, विचार अंतर्दर्शन और संस्पर्शको पार कर जाते हैं, विचारात्मक सद्वस्तुओंको भेदकर वास्तविक सद्वस्तुओंपर पहुँच जाते हैं, एकमेव, परमोच्च, कालातीत और सनातन एवं अनंततः अनंत सत्ताको प्राप्त कर लेते हैं।

आज हम जो कुछ हैं तथा जो कुछ जानते हैं उससे बिलकुल परेकी किसी वस्तुको जब हम आंतरिक रूपसे जान लेते हैं और उसकी ओर प्रबल रूपसे आकृष्ट हो जाते हैं तो हमारी प्रथम सर्वग्रासी प्रवृत्ति यह होती है कि हम अपने वर्तमान यथार्थ जीवनको त्यागकर पूर्ण रूपसे उस उच्चतर सद्वस्तुमें ही निवास करें। इस आकर्षणका चरम रूप तब देखनेमें आता है जब हम परमोच्च सत् और अनंत आनंदकी ओर आकृष्ट होते हैं। उस चरम आकर्षणका अभिप्राय है निम्नतर तथा सांत सत्ताको भ्रम मानकर हेयताकी दृष्टिसे देखना तथा परतत्त्वमें निर्वाण पानेके लिये अभीप्सा करना, आत्मामें लय, निमज्जन एवं निर्वाण लाभ करनेके लिये उत्कट अभिलाषा करना। परंतु वास्तविक लय अर्थात् सच्चे निर्वाणका अर्थ यह है कि हम निम्नतर सत्ताके उन सब विशिष्ट तत्त्वोंको जो हमें अंध बना देते हैं उच्चतर सद्वस्तुकी विशालतर सत्तामें ले जाकर मुक्त कर दें तथा जीवंत-जाग्रत् परमार्थ-सत्ता अपने सजीव प्रतीकको सचेतन रूपसे अपने अधिकारमें कर ले। अंतमें हमें पता चलता है कि यही नहीं कि वह उच्चतर सद्वस्तु शेष सब वस्तुओंका मूल कारण है तथा उन सबको अपने अंदर धारण किये है और उनमें विद्य-

मान भी है, अपितु जितना ही अधिक हम उसे उपलब्ध करते हैं उतना ही अधिक अन्य सब वस्तुएँ हमारे आत्मानुभवमें उच्चतर मूल्य-मानवाली वस्तुओंमें रूपांतरित हो जाती हैं और परमार्थ-सत्ताकी समृद्धतर अभिव्यक्तिके, अनंतके साथ अधिक बहुमुखी अंतर्मिलनके तथा परात्परकी ओर विशालतर आरोहणके साधन बन जाती हैं। अंतमें, हम निरपेक्ष सत्ता तथा उसके उन परमोच्च मूल्योंके निकट पहुँच जाते हैं जो सब वस्तुओंके निरपेक्ष रूप हैं। उसके बाद हमारा मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्षकी कामना ही समाप्त हो जाती है जो तबतक हमें प्रेरित करती आ रही थी, क्योंकि अब हम उस सत्ताके घनिष्ठ सामीप्यमें पहुँच गये हैं जो नित्य-मुक्त है; वह सत्ता न तो उस वस्तुसे जो हमें आज बंधनमें डाले हुए है आकर्षित होकर उसमें आसक्त हो जाती है और न उस वस्तुसे जो हमें आज बंधन प्रतीत होती है भय ही मानती है। हमारी प्रकृति पूर्णतया मुक्त भी तभी हो सकती है जब बद्ध आत्मा अपने मोक्षकी ऐकांतिक लालसाको छोड़ दे। भगवान् मनुष्योंकी आत्माओंको नानाविध प्रलोभनोंसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं; आनंदके संबंधमें आत्माकी अपनी जो सापेक्ष और अपूर्ण धारणाएँ होती हैं उन्हींसे इन सब प्रलोभनोंकी उत्पत्ति होती है; ये सभी आनंदको खोजनेके उसके तरीके हैं, परंतु, यदि अंततक इनसे चिमटे रहा जाय तो ये उन परतर आनंदोंके अवर्णनीय सत्यसे चूक जाते हैं। इनमेंसे पहला प्रलोभन है ऐहिक पुरस्कार अर्थात् पार्थिव मन और देहमें स्थूल भौतिक, बौद्धिक, नैतिक या अन्य किसी प्रकारके सुखका पारितोषिक। दूसरा इसी फलप्रद भ्रांतिका एक दूरतर एवं महत्तर रूप है, अर्थात् इन ऐहिक पुरस्कारोंसे अत्यंत परेके स्वर्गिक आनंदकी आशा करना; स्वर्गकी यह परिकल्पना अपनी उच्चता और पवित्रतामें उन्नत होते-होते ईश्वरकी शाश्वत उपस्थितिके या सनातनके साथ नित्य मिलनके शुद्ध विचारतक पहुँच जाती है। और अंतमें एक ऐसा प्रलोभन देखनेमें आता है जो इन सबसे सूक्ष्म है, इन सांसारिक या स्वर्गिक सुखों तथा समस्त दुःख-शोक, कष्ट-क्लेश और आयास-प्रयाससे एवं सभी दृश्य पदार्थोंसे मुक्ति, निर्वाण, निरपेक्ष ब्रह्ममें आत्म-लय, निवृत्ति एवं अनिर्वचनीय शांतिका आनंद। अंततोगत्वा मनके इन सब खिलौनोंको त्यागकर इनसे परे चले जाना होगा। जन्मका भय तथा जन्मसे छुटकारेकी कामना—दोनोंको हमें पूर्ण रूपसे त्याग देना होगा। क्योंकि, प्राचीन शब्दावलिको दुहरायें तो हम कह सकते हैं कि जो आत्मा अद्वैतका साक्षात्कार कर चुकी है उसे न शोक होता है न भय; जो आत्मा ब्रह्मानंदमें प्रवेश पा चुकी है उसे किसी भी व्यक्ति या किसी भी वस्तुसे भयभीत होनेका कोई काम नहीं।

भय, कामना और शोक मनकी व्याधियाँ हैं; द्वैत और परिमितताकी इसकी (मिथ्या) भावनासे उत्पन्न होनेके कारण, ये अपनेको जन्म देनेवाली मिथ्या भावनाके साथ ही समाप्त हो जाते हैं। आनंद इन व्याधियोंसे मुक्त है; उसपर संन्यासीका ही एकाधिकार नहीं है, न वह जगत्के प्रति वैराग्यसे ही उत्पन्न होता है।

आनंदमय पुरुष जन्म या अजन्मसे बंधा हुआ नहीं है; वह ज्ञानकी कामनासे परिचालित नहीं होता न अज्ञानके भयसे व्यथित ही होता है। परमोच्च आनंदमय पुरुषको पहलेसे ही ज्ञान प्राप्त है और अतएव वह ज्ञानकी आवश्यकतामात्रसे परे है। अपनी चेतनामें रूप और कर्मके द्वारा सीमित न होनेके कारण, वह अज्ञानमें लिप्त हुए विना व्यक्त सृष्टिके साथ लीला कर सकता है। ऊर्ध्व भूमिकामें स्थित होकर वह शाश्वत अभिव्यक्तिके रहस्यमें पहलेसे ही अपना भाग ले रहा है और, समय आनेपर, अज्ञानका दास बने बिना, प्रकृतिके पहियेके चक्करोंमें फँसे बिना, यहाँ अवतरित होकर जन्म ग्रहण करेगा। क्योंकि, वह जानता है कि देहबद्ध आत्माके लिये जन्म-मरणके चक्रोंका प्रयोजन और नियम यह है कि वह एक स्तरसे दूसरे स्तरपर आरोहण करे और सदा ही निम्नतर लीलाके नियमके स्थानपर उच्चतर लीलाके नियमको, स्थूल-भौतिक स्तर-पर्यंत, प्रतिष्ठित करता जाय। आनंदमय पुरुष न तो इस आरोहणके लिये ऊपरसे हमारी आत्माकी सहायता करनेसे घृणा करता है और न ही भागवत सत्ताकी सोपान-परंपरासे अवतरित होकर स्थूल जन्म ग्रहण करनेसे तथा उसे अपनी आनंदमय प्रकृतिकी शक्ति प्रदान करके दिव्य शक्तियोंके ऊर्ध्वमुख आकर्षणमें सहायता पहुँचानेसे भय मानता है। विकसित होते हुए काल-पुरुषके उस अति अद्भुत आविर्भावकी वेला अभी आयी नहीं है। सामान्यतया मानव अभी आनंदमय प्रकृतिमें आरोहण नहीं कर सकता; पहले उसे मनकी अधिक ऊँची चोटियोंपर स्थिर रूपमें प्रतिष्ठित होना होगा तथा उनसे विज्ञानकी ओर आरोहण करना होगा; संपूर्ण आनंद-शक्तिको इस पार्थिव प्रकृतिमें उतार लाना तो उसके लिये और भी कम संभव है; इसके लिये तो उसे पहले मनोमय मनुष्य रहना छोड़कर अतिमानव वनना होगा। इस समय तो वह वस उसकी शक्तिका कुछ अंश अपनी आत्माके अंदर कम या अधिक मात्रामें ग्रहण भर कर सकता है, वह अंश भी उसकी निम्नतर चेतनामेंसे गुजरता हुआ उसतक पहुँचनेके कारण कुछ क्षीण हो जाता है; पर उतनेसे भी उसे परमोल्लास और अपार दिव्यानंदकी अनुभूति होती है।

किंतु, जब आनंदमय प्रकृति नयी अतिमानवीय जातिमें प्रकट होगी तो उसका स्वरूप क्या होगा? पूर्ण-विकसित आत्मा गभीर और असीम आनंदकी चेतनाकी अनुभूतिके स्थितिशील स्वरूप और क्रियाशील प्रभावोंमें सब प्राणियोंके साथ एकमय होगी। और, क्योंकि प्रेम ही आनंदात्मक एकत्वका अमोघ बल और आत्मिक प्रतीक है, वह विश्वप्रेमके द्वारसे ही इस एकत्वके निकट पहुँचेगा तथा इसमें प्रवेश करेगा, वह विश्वप्रेम पहल-पहल तो मानवीय प्रेमका एक उदात्त रूपमात्र होता है, पीछे वह दिव्य प्रेम बन जाता है, अपनी पराकाष्ठाको पहुँचनेपर वह सौंदर्य, माधुर्य और वैभवसे संपन्न एक ऐसी वस्तु बन जाता है जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आनंद-चेतनामें वह समस्त विश्व-लीला तथा इसकी शक्तियों और घटनाओंके साथ एकमय होगा और हमारी शक्ति तथा तमसाच्छन्न मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताका शोक और भय, तृष्णा और दुःख सदाके लिये निर्वासित हो जायेंगे। वह आनंद-मुक्तिकी उस शक्तिको प्राप्त कर लेगा जिसमें हमारी सत्ताके सब परस्पर-विरोधी तत्त्व अपने निरपेक्ष मूल्योंको प्राप्त कर उनमें एकीभूत हो जायेंगे। तब समस्त अशुभ बाध्य होकर शुभमें परिवर्तित हो जायगा; सर्व-सुंदरका विराट् सौंदर्य अपने विनष्ट राज्योंको अपने अधिकारमें कर लेगा; अंधकारका प्रत्येक क्षेत्र प्रकाशके परिपूर्ण वैभवमें परिणत हो जायगा तथा सत्य, शिव और सुन्दर एवं शक्ति, प्रेम और ज्ञानके बीच हमारा मन जिन विरोधोंकी सृष्टि करता है वे सब एकत्वके इस सनातन शिखरपर, इन असीम विस्तारोंमें जहाँ ये सब चीजें सदा ही एक हैं विलीन हो जायेंगे।

मन, प्राण और शरीरमें रहनेवाला 'पुरुष' प्रकृतिसे पृथक् है तथा इसके साथ संघर्षमें रत रहता है। इसके जिस भी अंशको वह मूर्त रूप दे सकता है उसका वह अपनी 'पुरुष'-शक्तिसे नियंत्रण और दमन करनेका प्रयास करता है और फिर भी इसके कष्टप्रद द्वंद्वोंके अधीन है और सच पूछो तो सिरसे पैरतक, आदिसे अंततक इसका खिलौना है। विज्ञानमें वह इसके साथ 'एकमें दो'के रूपमें संयुक्त है, अपनी प्रकृतिके स्वामीके रूपमें वह दोनोंके (पुरुष-प्रकृतिके) समन्वय और सामंजस्यको उनकी मूल एकताके आधारपर प्राप्त कर लेता है, पर इसके साथ ही वह परमोच्च दिव्य प्रकृतिसे मुक्त परात्पर आत्माके प्रति असीम आनंदपूर्ण अधीनता भी स्वीकार करता है जो उसके अपने स्वामित्व तथा सर्वविध स्वातंत्र्यकी शर्त्त है। विज्ञानके शिखरपर तथा आनंदकी भूमिकामें वह प्रकृतिके साथ एक हो जाता है और पहलेकी तरह इसके साथ केवल 'एकमें दो'के रूपमें ही संयुक्त नहीं रहता।

अज्ञानमें प्रकृति आत्माके साथ उसे विमूढ़ कर देनेवाली जो लीला करती है वह तब समाप्त हो जाती है; तब तो बस आत्मा अपनी निजकी तथा अनंतकी आनंदमय प्रकृतिमें अपने साथ और अपनी सब आत्माओंके साथ एवं परात्पर पुरुष और दिव्य शक्तिके साथ सचेतन रूपसे लीला करता है। यही है परम 'गुह्य', सर्वोच्च रहस्य। हमारे मानसिक विचारोंके लिये तथा अपनेसे परेकी वस्तुको समझनेके लिये यत्न करती हुई हमारी सीमित बुद्धिके लिये यह कितना ही दुर्बोध और जटिल क्यों न हो, पर हमारे अनुभवके निकट यह बिलकुल सरल ही है। सच्चिदानंदके आत्मानंदकी मुक्त अनंततामें जो लीला होती है वह भागवत 'शिशु'की लीला या अनंत प्रेमीकी रासलीला है। इस लीलाके गुह्य आत्मिक प्रतीक एक कालातीत 'सनातन' सत्तामें सौंदर्यके संकेतों तथा आनंदके लयतालों एवं सामंजस्योंके रूपमें पुनः-पुनः प्रकट होते रहते हैं।

पच्चीसवाँ अध्याय

उच्चतर और निम्नतर ज्ञान

ज्ञानमार्गका विवेचन अब हम पूरा कर चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि यह हमें कहाँतक ले जाता है। ज्ञानयोगका प्रथम लक्ष्य है ईश्वरकी प्राप्ति, अर्थात् दिव्य सद्वस्तुसे सचेतन होकर, उसके साथ तादात्म्य लाभ करके तथा उसे अपने अंदर प्रतिबिंबित करके प्राप्त करना और साथ ही उसके द्वारा अधिकृत होना। परंतु हमें अपने वर्तमान जीवनसे दूर हटकर किसी अमूर्त भूमिकामें ही नहीं, बल्कि यहाँ भी उसे प्राप्त करना होगा; अतएव, अपने निज स्वरूपमें स्थित भगवान्को पानेके साथ-साथ हमें इस जगत्में तथा अपने अंदर, सब पदार्थों और सब प्राणियोंके अंदर स्थित भगवान्को भी प्राप्त करना होगा। भगवान्के साथ एकता प्राप्त करके हमें उस एकताके द्वारा विराट् सत्ताके साथ अर्थात् विश्व तथा इसके सब प्राणियोंके साथ भी एकता प्राप्त करनी होगी; अतएव, एकतामें अनंत विभिन्नताको भी आयत्त करना होगा, पर इसके लिये हमें द्वैतको नहीं, वरन् एकत्वको ही अपना आधार बनाना होगा। हमें भगवान्को उनकी सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक सत्तामें, उनके शुद्ध निर्गुण स्वरूपमें, तथा उनके अनंत गुणोंमें, उनके कालगत तथा कालातीत रूपमें, उनकी सक्रियता तथा निश्चल-नीरवतामें, उनके सांत तथा अनंत रूपमें प्राप्त करना होगा। उनकी प्राप्ति हमें शुद्ध आत्मस्वरूपमें ही नहीं, बल्कि आत्मामात्रमें भी करनी होगी; 'पुरुष'में ही नहीं, बल्कि प्रकृतिमें भी, आत्मामें ही नहीं, अपितु विज्ञान, मन, प्राण और शरीरमें भी करनी होगी; आत्माके द्वारा तथा मन, प्राण और भौतिक चेतनाके द्वारा भी करनी होगी; और फिर ज्ञानमार्गके इस प्रथम लक्ष्यके अनुसार हमारी सत्ताके इन सब अंगोंको भगवान्के द्वारा अधिकृत भी होना होगा जिससे कि हमारी संपूर्ण सत्ता उनसे एकीभूत तथा ओतप्रोत हो जाय, उनके द्वारा शासित तथा परिचालित होने लगे। अपिच, क्योंकि भगवान् एकत्व-स्वरूप हैं, हमारी स्थूल चेतनाको भी जड़ जगत्की आत्मा और प्रकृतिके साथ एक हो जाना होगा; हमारे प्राणको विराट् प्राणके साथ, हमारे मनको विराट् मनके साथ तथा हमारी आत्माको विराट् आत्माके साथ एकत्व स्थापित करना होगा। अर्थात् उसके निरपेक्ष एवं

निःसंबंध स्वरूपमें उसके अंदर लय प्राप्त करनेके साथ-साथ समस्त संबंधोंमें भी उसे प्राप्त करना होगा।

ज्ञानमार्गका दूसरा लक्ष्य दिव्य अस्तित्व एवं दिव्य प्रकृतिको धारण करना है। और, ईश्वर स्वयं सच्चिदानंद-स्वरूप हैं, अतएव उनके अस्तित्व एवं उनकी प्रकृतिको धारण करनेका अर्थ है अपनी सत्ताको दिव्य सत्तामें, अपनी चेतनाको दिव्य चेतनामें, अपनी शक्तिको दिव्य शक्तिमें तथा अपने अस्तित्वके आनंदको सत्ताके दिव्य आनंदमें उठा ले जाना। और, इसका मतलब अपने-आपको इस उच्चतर चेतनामें उठा ले जाना ही नहीं, बल्कि अपनी समस्त सत्ताको विशाल बनाकर इसमें मिला देना है, क्योंकि यह चेतना हमें अपनी सत्ताके सभी स्तरोंपर तथा अपने सभी अंगोंमें प्राप्त करनी होगी, जिससे कि हमारी मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता दिव्य प्रकृतिसे ओतप्रोत हो जाय। हमारे बुद्धिप्रधान मनको दिव्य ज्ञान-संकल्पकी लीलाका क्षेत्र बनना होगा; उसी प्रकार हमारे कामनामय पुरुषके मानसिक जीवनको दिव्य प्रेम और आनंदकी तथा हमारे प्राणको दिव्य प्राणकी लीलाका क्षेत्र बनना होगा, हमारी शारीरिक सत्ताको दिव्य उपादानका साँचा बनना होगा। अपने अंदर ईश्वरके इस दिव्य लीला-व्यापारको अनुभव करनेके लिये हमें अपने-आपको दिव्य विज्ञान और दिव्य आनंदकी ओर खोलना होगा और इसे पूर्ण रूपसे अनुभव करनेके लिये विज्ञान और आनंदमें आरोहण करके वहाँ स्थिर रूपसे निवास करना होगा। कारण, यद्यपि भौतिक रूपसे हम जड़ प्रकृतिके स्तरपर ही निवास करते हैं और सामान्य बहिर्मुख जीवनमें मन और आत्मा प्रमुख रूपसे स्थूल-भौतिक अस्तित्वमें ही व्यस्त रहते हैं, तथापि हमारे जीवनकी यह बहिर्मुखता हमारे लिये कोई अनिवार्य बंधन नहीं है। हम अपनी आभ्यंतरिक चेतनाको पुरुष और प्रकृतिके संबंधोंके एक स्तरसे दूसरे स्तरपर उठा ले जा सकते हैं, यहाँतक कि स्थूल चेतना और प्रकृतिसे अभिभूत मनोमय पुरुषके स्थानपर विज्ञानमय या आनंदमय पुरुष बन सकते हैं तथा विज्ञानमय या आनंदमय प्रकृतिको धारण कर सकते हैं। और, आंतरिक जीवनको इस प्रकार ऊँचा उठाकर हम अपने संपूर्ण बहिर्मुख जीवनका रूपांतर कर सकते हैं; तब हमारा जीवन जड़तत्त्वके द्वारा शासित होनेके स्थानपर आत्माके द्वारा शासित होगा तथा उसकी सब स्थिति-परिस्थिति भी आत्माकी विशुद्ध सत्ता, सांतमें भी अनंत रहनेवाली चेतना, दिव्य शक्ति और दिव्य हर्ष एवं आनंदके द्वारा गठित और निर्धारित होगी।

यह हुआ ज्ञानयोगका लक्ष्य; हम यह भी देख चुके हैं कि उसकी

पद्धतिके प्रधान अंग क्या हैं। परंतु यहाँ पहले पद्धतिसंबंधी प्रश्नके एक पक्षपर जिसे हमने अबतक नहीं छुआ है, संक्षेपसे विचार कर लेना आवश्यक है। पूर्णयोगकी पद्धतिमें सिद्धांत यह होना चाहिये कि सारा जीवन ही योगका अंग है; किंतु जिस ज्ञानका वर्णन हम करते आ रहे हैं वह किसी ऐसी वस्तुका ज्ञान नहीं प्रतीत होता जिसे हम साधारणतया 'जीवन' शब्दसे समझते हैं, वह तो किसी ऐसी वस्तुका ज्ञान मालूम होता है जो जीवनके पीछे अवस्थित है। ज्ञान दो प्रकारका है, एक तो वह जो जगत्के दृश्य पदार्थोंको बाहरसे, अर्थात् बाहरी उपायों या प्रक्रियाओंका आश्रय लेकर एवं बुद्धिके द्वारा समझनेका यत्न करता है,—यह है निम्नतर ज्ञान अर्थात् दृश्य जगत्का ज्ञान; दूसरे प्रकारका ज्ञान वह है जो जगत्के सत्यको अंदरसे, उसके मूल उद्गम और वास्तविक स्वरूपमें तथा आध्यात्मिक साक्षात्कारके द्वारा जाननेका यत्न करता है। साधारणतः इन दोनोंमें तीव्र रूपसे भेद किया जाता है और यह माना जाता है कि जब हम उच्चतर ज्ञान अर्थात् ईश्वर-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तब अन्य ज्ञान अर्थात् विश्व-ज्ञान हमारे लिये किसी मतलबका नहीं रहता; पर वास्तवमें ये दोनों एक ही जिज्ञासाके दो पक्ष हैं। अंततोगत्वा समस्त ज्ञान ईश्वरका ही ज्ञान है जिसे हम उनके निज स्वरूपके द्वारा और प्रकृति एवं इसके कर्मोंके द्वारा प्राप्त करते हैं। मनुष्यजातिको पहले-पहल इस ज्ञानकी खोज बाह्य जीवनके द्वारा ही करनी होती है; क्योंकि जबतक उसका मन पर्याप्त विकसित नहीं हो जाता, तबतक वस्तुतः आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता, और जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वैसे-वैसे आध्यात्मिक ज्ञानकी संभावनाएँ भी अधिक समृद्ध और परिपक्व बनती जाती हैं।

विज्ञान, कला, दर्शन, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, मनुष्य और उसके अतीतका ज्ञान तथा स्वयं कर्म—ये सभी ऐसे साधन हैं जिनकी सहायतासे हम प्रकृति और जीवनके द्वारा कार्य करते हुए ईश्वरकी क्रियावलिका ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रारंभमें हम जीवनके कार्य-व्यापारों और प्रकृतिके रूपोंके ज्ञानमें ही व्यस्त रहते हैं, पर जैसे-जैसे हम अधिकाधिक गहरे उतरकर एक पूर्णतर दृष्टि और अनुभव प्राप्त करते हैं वैसे-वैसे ज्ञानकी इन शाखाओं-मेंसे प्रत्येक हमें ईश्वरका साक्षात्कार करा देती है। विज्ञान, यहाँतक कि भौतिक विज्ञान भी, अपनी सीमाओंपर पहुँचकर अंततः इस जड़ जगत्में अनंत एवं विराट् सत्ताको तथा आत्मा, दिव्य बुद्धि और इच्छाशक्तिको अनुभव करनेके लिये बाध्य होता है। मानसिक एवं चैत्य विज्ञान तो अंततोगत्वा और भी अधिक सुगमतासे इसी अनुभवपर पहुँचते हैं क्योंकि

वे हमारी सत्ताकी उच्चतर और सूक्ष्मतर भूमिकाओं एवं शक्तियोंका वर्णन करते हैं और इस जगत्के पीछे रहनेवाले अदृष्ट लोकोंके जीवों और दृग्विषयोंके संपर्कमें आते हैं। उन लोकोंको हम अपनी स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते, पर अपने सूक्ष्म मन तथा इन्द्रियोंसे उनका सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कला भी हमें इसी परिणामपर पहुँचाती है; सौंदर्य-रसिक मनुष्य सौंदर्यात्मक भावावेगके द्वारा प्रबल रूपसे प्रकृतिमें ग्रस्त रहता है, पर अंतमें वह निश्चय ही अपने अंदर आध्यात्मिक भावावेगको अनुभव करता है और प्रकृतिमें अनंत जीवनको ही नहीं, बल्कि अनंत उपस्थितिको भी प्रत्यक्ष देखता है। मनुष्यके जीवनमें सौंदर्यका दर्शन करनेमें सतत संलग्न रहते हुए वह अंतमें मानवजातिके अंदर विद्यमान दिव्य, विराट् एवं आध्यात्मिक सत्ताको प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। वस्तुओंके मूल तत्त्वोंका विवेचन करता हुआ दर्शनशास्त्र इन सब तत्त्वोंके आदितत्त्वको अनुभव करने लगता है और उसके स्वरूप तथा गुणों एवं मूल कार्योंकी खोजबीनमें संलग्न हो जाता है। इसी प्रकार नीतिशास्त्र अंतमें यह देखता है कि 'शुभ'के जिस नियमकी वह खोज करता है वह ईश्वरका ही नियम है और अतएव वह नियमके अधिष्ठाता प्रभुके अस्तित्व और स्वभावपर आधारित है। मनोविज्ञान प्राणियोंके मन और आत्माके अध्ययनसे सब पदार्थों और प्राणियोंमें एक ही आत्मा एवं एक ही मनके अस्तित्वके अनुभवकी ओर ले जाता है। प्रकृतिके इतिहास एवं अध्ययनकी भाँति मानवका इतिहास एवं अध्ययन भी हमें एक ऐसी सनातन और विराट् शक्ति एवं सत्ताका बोध कराते हैं जिसकी मनीषा और संकल्पशक्ति विश्व और मानवका विकास करती हुई अपने-आपको कार्यान्वित करती हैं। इसी प्रकार अपने कर्मके द्वारा भी हम एक ऐसी भागवत शक्तिके संपर्कमें आनेके लिये बाध्य होते हैं जो हमारे कर्मोंके द्वारा अपना कार्य करती है, उनका उपयोग करती है या फिर उन्हें अस्वीकृत कर देती है। तब हमारी बुद्धि भगवान्को जानने तथा समझने लगती है, हमारे हृद्भाव उनका अनुभव एवं उनकी आकांक्षा और पूजा करने लगते हैं तथा हमारा संकल्प अपने-आपको उनकी सेवामें अर्पित करनेके लिये उद्यत हो जाता है, क्योंकि हम देखते हैं कि उनके बिना प्रकृति और मनुष्यका अस्तित्व ही नहीं रह सकता और न वे कोई गति ही कर सकते हैं और क्योंकि उनके सचेतन ज्ञानके द्वारा ही हम अपनी उच्चतम शक्यताओंको चरितार्थ कर सकते हैं।

यहीं हमारे जीवनमें योगका प्रवेश होता है। यह ज्ञान, भावावेग और कर्मको भगवत्प्राप्तिके लिये उपयोगमें लाता हुआ अपना कार्य आरंभ

करता है। क्योंकि योग भगवन्मिलनकी सचेतन और पूर्ण खोज है; इस मिलनके लिये भौतिक विज्ञान, कला आदि अन्य सब साधनोंके द्वारा किया गया प्रयत्न तो एक अज्ञानयुक्त और अपूर्ण चेष्टा एवं खोजके समान ही होता है। अतएव, पहली बात तो यह है कि योगकी क्रिया और पद्धति निम्नतर ज्ञानकी क्रिया और पद्धतिसे भिन्न प्रकारकी है। क्योंकि, जहाँ यह निम्न ज्ञान भगवान्के पास बाहरसे परोक्ष रूपमें पहुँचनेका यत्न करता है तथा उनके गुह्य धाममें कभी प्रवेश नहीं कर पाता, वहाँ योग हमें भीतर प्रवेश करनेके लिये पुकारता है और उनके पास सीधे ही पहुँचता है; जहाँ यह उन्हें बुद्धिके द्वारा खोजता है और उनका ज्ञान पर्देके पीछेसे ही प्राप्त करता है, वहाँ योग उन्हें साक्षात् अनुभवके द्वारा खोजता है, पर्दा उठाकर उनके पूर्ण दर्शन प्राप्त करता है; जहाँ यह उनकी उपस्थिति और उनके प्रभावको केवल अनुभव ही करता है, योग उनकी साक्षात् उपस्थितिके धाममें प्रवेश करता है तथा उनके प्रभावसे अपने-आपको ओतप्रोत कर लेता है; जहाँ यह केवल उनकी कार्य-प्रणालियोंको ही जानता है और इनके द्वारा परम सद्वस्तुकी कुछ झाँकी प्राप्त करता है, वहाँ योग हमारी अंतःसत्ताका सद्वस्तुके साथ तादात्म्य स्थापित कर देता है और इस तादात्म्यकी अवस्थासे भगवान्की कार्य-प्रणालियोंको देखता है। अतएव, योगकी विधियाँ निम्नतर ज्ञानकी विधियोंसे भिन्न हैं।

ज्ञानयोगकी विधि सदा ही यह होनी चाहिये कि साधक अपनी दृष्टि अंदरकी ओर फेरे और, जहाँतक यह बाह्य वस्तुओंका अवलोकन करती है वहाँतक, स्थूल प्रतीतियोंकी तहमें जाकर उनके अंदरकी एकमेव सनातन सद्वस्तुको प्राप्त करे। निम्नतर ज्ञान प्रमुख रूपसे प्रतीतियों और कार्य-पद्धतियोंमें ही व्यस्त रहता है; उच्चतर ज्ञानका सर्वप्रथम आवश्यक कार्य यह है कि वह उनसे दूर हटकर उस सद्वस्तुतक पहुँचे जिसकी वे प्रतीतियाँ-मात्र हैं; साथ ही उसे उस परम पुरुष तथा उसकी चिन्मय सत्ताकी शक्तिको भी प्राप्त करना होगा जिसकी वे कार्य-पद्धतियाँमात्र हैं। यह कार्य वह तीन क्रियाओंके द्वारा संपन्न करता है जिनमेंसे प्रत्येक दूसरीके लिये आवश्यक है; प्रत्येकके द्वारा शेष दोनों अपनी पूर्णता प्राप्त करती हैं। वे हैं शुद्धि, एकाग्रता और तादात्म्य। शुद्धिका उद्देश्य यह है कि साधक अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ताको एक स्वच्छ दर्पण बना दे जिसमें दिव्य सद्वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ सके, एक निर्मल पात्र एवं निर्बाध प्रणालिका बना दे जिसमें दिव्य उपस्थितिको और जिसके द्वारा दिव्य प्रभावको उँडेला जा सके, एक ऐसा सूक्ष्मीकृत उपादान बना दे जिसे दिव्य प्रकृति अपने अधिकारमें लाकर नया

रूप दे सके तथा दिव्य परिणामोंके लिये प्रयुक्त कर सके। क्योंकि, इस समय मानसिक सत्ता जगत्को देखनेके मानसिक और भौतिक दृष्टिकोणसे उत्पन्न अस्तव्यस्त विचारोंको ही प्रतिबिंबित करती है, अज्ञ निम्न प्रकृतिकी अव्यवस्थाओंके लिये ही प्रणालिकाका काम करती है तथा ऐसी बाधाओं और अपवित्रताओंसे भरी हुई है जो उच्चतर प्रकृतिको कार्य नहीं करने देतीं; यही कारण है कि हमारी सत्ताका संपूर्ण रूप विकृत और अपूर्ण है, उच्चतम प्रभावोंके प्रति आज्ञाकारी नहीं है और अपने कार्यमें अज्ञानपूर्ण निम्न प्रयोजनोंकी ओर ही झुका रहता है। यह जगत्को मिथ्या रूपमें प्रतिबिंबित करता है; यह भगवान्को तो प्रतिबिंबित कर ही नहीं सकता।

शुद्धिके साथ-साथ एकाग्रता भी आवश्यक है, प्रथम तो इसलिये कि हम अपनी समस्त संकल्पशक्ति और मनको इसके स्वाभाविक चंचलतापूर्ण विक्षेपसे हटा सकें, जिसके कारण ये विचारोंकी विक्षिप्त क्रियाओंका अनुसरण करते हैं, अनेक शाखाओंवाली कामनाओंके पीछे दौड़ते हैं, दृश्य पदार्थोंके प्रति बाह्य मानसिक प्रतिक्रियाके एवं इन्द्रियोंके मार्गमें भटकते हैं। हमें अपने संकल्प और विचारको सब पदार्थोंके पीछे विद्यमान सनातन और सत्य सत्तापर स्थिर करना होगा और इसके लिये आवश्यकता है एक गुरुतर प्रयास अर्थात् एकनिष्ठ एकाग्रताकी। दूसरे, एकाग्रता इसलिये आवश्यक है कि हमारे साधारण मननें हमारे तथा सत्यके बीच जो आवरण खड़ा कर दिया है उसे हम छिन्न-भिन्न कर सकें; क्योंकि, बाह्य ज्ञान तो इस परोक्ष ढंगसे अर्थात् विषयकी ओर साधारण ध्यान देकर तथा उसका कुछ संस्कार ग्रहण करके अर्जित किया जा सकता है, परंतु आंतरिक, गुप्त एवं उच्चतर सत्यको तो तभी ग्रहण किया जा सकता है यदि हम मनको उसके विषयपर पूर्ण रूपसे एकाग्र करें और साथ ही सत्यको प्राप्त करनेके लिये तथा एक बार प्राप्त हो जानेपर उसे स्वाभाविक रूपसे धारण करने एवं उसके साथ सुनिश्चित तादात्म्य स्थापित करनेके लिये अपने संकल्पको भी उसपर पूर्ण रूपसे एकाग्र करें। क्योंकि तादात्म्य पूर्ण ज्ञान और उपलब्धिकी शर्त है; यह सद्वस्तुको स्वाभाविक और विशुद्ध रूपसे प्रतिबिंबित करने तथा उसपर पूर्ण एकाग्रता करनेका गभीर फल है; इसकी आवश्यकता इसलिये है कि हमारे अज्ञ असंस्कृत मनकी सामान्य अवस्थामें भागवत सत्ता और सनातन सद्वस्तुसे हमारी सत्ताका जो भेद और पार्थक्य देखनेमें आता है उसे पूर्णरूपेण नष्ट किया जा सके।

उच्चतर ज्ञानके इन उपर्युक्त प्रयोजनोंमेंसे कोई भी निम्नतर ज्ञानकी विधियोंके द्वारा पूरा नहीं हो सकता। यह ठीक है कि इनके लिये भी

निम्न ज्ञानकी विधियाँ हमें तैयार करती हैं, पर केवल एक विशेष सीमातक तथा तीव्रताकी एक विशेष मात्रामें ही, और जहाँ उनकी क्रिया समाप्त होती है वहीं योगकी क्रिया हमारे भगवन्मुख विकासको अपने हाथमें ले लेती है और उसे पूरा करनेके साधन ढूंढ़ निकालती है। हम चाहे किसी भी प्रकारके ज्ञानका अनुशीलन क्यों न करें, पर यदि वह अनुशीलन अत्यंत संसारमुखी प्रवृत्तिसे कलुषित न हो तो उससे हमारी सत्ता परिष्कृत, सूक्ष्म और शुद्ध होती जाती है। जैसे-जैसे हम अधिकाधिक मनोमय वनते जाते हैं, हमारी संपूर्ण प्रकृति अधिकाधिक सूक्ष्म क्रिया करने लगती है तथा वह उच्चतर विचारों, शुद्धतर संकल्प, कम भौतिक सत्य और अधिक आंतरिक प्रभावोंको प्रतिविंवित एवं ग्रहण करनेके लिये उत्तरोत्तर उपयुक्त वनती जाती है। नैतिक ज्ञानमें तथा सोचने और संकल्प करनेके नैतिक अभ्यासमें शुद्ध करनेकी जो शक्ति है वह प्रत्यक्ष ही है। दर्शनशास्त्र न केवल वुद्धिको शुद्ध करता है तथा विराट् और अनंत सत्ताके साथ संपर्क स्थापित करनेके लिये उसमें पहलेसे ही रुचि उत्पन्न कर देता है, वल्कि वह अपने स्वभावसे ही हमारी प्रकृतिको स्थिरता प्रदान करता है तथा ज्ञानीकी-सी शांतिको भी जन्म देता है; और शांति वढ़ती हुई आत्म-प्रभुता और पवित्रताका लक्षण है। विश्व-व्याप्त सौंदर्यको, यहाँतक कि इसके रसात्मक रूपोंको भी प्राप्त करनेके हमारे तन्मय प्रयत्नमें हमारी प्रकृतिको परिष्कृत और सूक्ष्म करनेकी तीव्र शक्ति निहित रहती है, और अपने उच्चतम रूपमें यह प्रयत्न उसे शुद्ध करनेके लिये एक महत् शक्तिका काम करता है। मनका वैज्ञानिक स्वभाव तथा विश्वव्यापी नियम और सत्यको जाननेके लिये उसका निष्पक्ष और अनन्य प्रयत्न भी तर्कशक्ति एवं निरीक्षण-शक्तिको शुद्ध करते हैं, इतना ही नहीं, वल्कि जव अन्य प्रवृत्तियाँ इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं करतीं तव मन और नैतिक प्रकृतिपर इनका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे स्थिर, उदात्त और शुद्ध हो जाते हैं, पर इस प्रभावकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

विज्ञान, कला, दर्शन आदि विषयोंके अनुशीलनके रूपमें किये गये इन प्रयत्नोंका एक प्रत्यक्ष परिणाम यह भी होता है कि सत्यको ग्रहण करने तथा उसीमें जीवन धारण करनेके लिये मनकी एकाग्रता साधित हो जाती है और संकल्प-शक्ति भी इसके लिये प्रशिक्षित हो जाती है, ऐसी एकाग्रता एवं प्रशिक्षा इन विषयोंके लिये सतत रूपसे आवश्यक भी होती है। ये सव प्रयत्न अंतमें या अपने उच्चतम तीव्र रूपोंमें पहले तो भागवत सद्वस्तुके वौद्धिक ज्ञानकी ओर ले जा सकते हैं तथा अवश्य ले ही जाते हैं और फिर

उसके प्रतिबिंबका दर्शन करा सकते तथा कराते ही हैं। यह दर्शन अपनी पराकाष्ठाको पहुँचकर सद्वस्तुके साथ एक प्रकारके प्रारंभिक तादात्म्यका रूप धारण कर सकता है। परंतु यह सब एक विशेष सीमाके परे नहीं जा सकता। भागवत सद्वस्तुको अपने अंदर समग्र रूपमें प्रतिबिंबित तथा ग्रहण करनेके लिये संपूर्ण सत्ताकी क्रमबद्ध शुद्धि योगकी विशेष विधियोंके द्वारा ही संपन्न की जा सकती है। इसकी चरम-परम एकाग्रताको निम्नतर ज्ञानकी विकीर्ण एकाग्रताओंका स्थान लेना होगा; निम्नतर ज्ञान तो केवल एक अस्पष्ट तथा प्रभावहीन तादात्म्य ही साधित कर सकता है, उसके स्थानपर योगके द्वारा प्राप्त होनेवाले पूर्ण, घनिष्ठ, अटल और जीवंत एकत्वकी प्रतिष्ठा करनी होगी।

तथापि योग अपने मार्गमें या अपनी उपलब्धिमें निम्नतर ज्ञानके रूपोंका बहिष्कार तथा त्याग नहीं करता, हाँ, यह बात अलग है कि जब वह एक ऐसे चरम वैराग्यवाद या फिर रहस्यवादका रूप धारण कर लेता है, जो भगवान्‌के इस अन्य रहस्य अर्थात् उनकी विश्व-सत्ताको बिलकुल सहन ही नहीं करता, तब वह ज्ञानके इन रूपोंका त्याग अवश्य कर सकता है। वह इन रूपोंसे इस बातमें भिन्न है कि उसका लक्ष्य गभीर, विशाल और उच्च है तथा अपने उद्देश्यके अनुकूल उसकी अपनी विधियाँ भी विशिष्ट प्रकारकी हैं; किंतु वह अपने कार्यका आरंभ इन्हींसे करता है, इतना ही नहीं बल्कि कुछ दूरतक वह इन्हें अपने साथ ले चलता है तथा अपने सहायकोंके रूपमें इनका प्रयोग भी करता है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष ही है कि नैतिक विचार और आचरण,—बाह्य आचार-व्यवहार उतना नहीं जितना कि आंतरिक,—योगकी तैयारीरूप प्रणालीमें अर्थात् उसके शुद्धिके लक्ष्यमें कितने व्यापक रूपसे भाग लेते हैं। और, फिर योगकी संपूर्ण विधि मनोवैज्ञानिक है; यहाँतक कि उसे पूर्ण मनोवैज्ञानिक ज्ञानका सर्वोत्कृष्ट क्रियात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। दर्शनशास्त्रके स्वीकार किये हुए सत्य उसके अवलंबन हैं जिनके सहारे वह भगवान्‌को उनकी सत्ताके मूलतत्त्वोंके द्वारा प्राप्त करनेका कार्य आरंभ करता है; हाँ, इतनी बात अवश्य है कि दर्शन तो उन तत्त्वोंका एक विवेकपूर्ण बोधमात्र प्रदान करता है, पर योग इस बोधको एक ऐसी तीव्रतातक ले जाता है जो इसे विचारसे परे अंतर्दर्शनके तथा बुद्धिसे परे साक्षात्कार एवं उपलब्धिके क्षेत्रमें प्रवेश करा देती है; जिस वस्तुको दर्शन अमूर्त और दूरस्थ छोड़ देता है, उसे यह (योग) सजीव रूपसे निकट तथा आध्यात्मिक रूपसे मूर्त बना देता है। सौंदर्यग्राही एवं भावप्रधान मनको तथा सौंदर्यात्मक रूपोंको

यह ज्ञानयोगमें भी एकाग्रताके अवलंबनके रूपमें प्रयुक्त करता है और यह मन और ये रूप उदात्त होकर प्रेम और आनंदके योगकी संपूर्ण साधन-प्रणालीका काम करते हैं जैसे जीवन और कर्म, उदात्त होकर, कर्मयोगकी संपूर्ण साधनप्रणालीका रूप धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार, प्रकृतिमें ईश्वरका ध्यान-चिंतन करना, मनुष्यमें और उसके जीवनमें तथा जगत्के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके जीवनमें ईश्वरका ध्यान-चिंतन एवं उनकी सेवा करना भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें ज्ञानयोग सभी वस्तुओंमें ईश्वरका पूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिये प्रयोगमें ला सकता है। अंतर इतना ही होता है कि सब कुछ एक ही लक्ष्यकी ओर मोड़ दिया जाता है, अर्थात् भगवान्‌की ओर मोड़ दिया जाता है, दिव्य, असीम और विराट् सत्ताके विचारसे परिपूर्ण कर दिया जाता है; फलस्वरूप, दृग्विषयों और रूपोंको जाननेके लिये निम्नतर ज्ञानके बहिर्मुख, इन्द्रियाश्रित एवं व्यावहारिक प्रयत्नका स्थान भगवत्प्राप्तिका अनन्य प्रयत्न ले लेता है। प्राप्तिके बाद भी निम्नतर ज्ञानके प्रयत्नका यह परिवर्तित स्वरूप ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अर्थात् योगी सांतमें भगवान्‌को जानना और देखना जारी रखता है तथा जगत्‌में भगवच्चेतना और भगवत्कर्मका आधार बना रहता है; अतएव, जगत्‌का ज्ञान तथा जीवनसे संबंध रखनेवाली सभी वस्तुओंको विस्तृत और उन्नत करनेका कार्य उसके क्षेत्रमें आ जाता है। हाँ, सबमें वह ईश्वरको ही देखता है, परमोच्च सद्वस्तुके ही दर्शन करता है, और उसके कर्मका हेतु भगवान्‌को जानने तथा परमोच्च सद्वस्तुको प्राप्त करनेमें मनुष्यजातिकी सहायता करना ही होता है। वह विज्ञानके स्वीकृत तत्त्वों और दर्शनके निष्कर्षोंके द्वारा ईश्वरको देखता है, 'सौंदर्य'के रूपों तथा 'शुभ'के रूपोंके द्वारा ईश्वरके दर्शन करता है, जीवनके समस्त कार्य-कलापमें, जगत्‌के अतीत तथा उसके परिणामोंमें, वर्तमान और उसकी प्रवृत्तियोंमें, भविष्य और उसकी महान् प्रगतिमें भी भगवान्‌को देखता है। इन क्षेत्रोंमेंसे किसी एकमें या सभीमें वह अपनी आत्माकी आलोकित दृष्टि एवं मुक्त शक्तिका उपयोग कर सकता है। उसके लिये निम्नतर ज्ञान एक ऐसा सोपान रहा है जिससे वह उच्चतर ज्ञानतक ऊपर उठा है; उच्चतर ज्ञान उसके लिये निम्नतरको आलोकित करके उसे अपना अंग बना लेता है, यद्यपि वह अंग उसका निचला सिरा एवं अत्यंत बाह्य प्रकाश ही होता है।

छब्बीसवाँ अध्याय

समाधि

ज्ञानयोगका लक्ष्य सदा ही एक उच्चतर या दिव्य चेतनामें, जो आज हमारे लिये स्वाभाविक नहीं है, विकास, आरोहण या विलय साधित करना होता है। योगलीनताकी घटना अर्थात् समाधिको जो महत्त्व दिया जाता है उसका इस लक्ष्यके साथ घनिष्ठ संबंध है। यह माना जाता है कि सत्ताकी कुछ भूमिकाएँ ऐसी हैं जो केवल समाधिमें ही प्राप्त की जा सकती हैं; उनमेंसे वह भूमिका विशेष रूपसे कामनीय है जिसमें आत्मज्ञानकी समस्त क्रिया समाप्त हो जाती है और निश्चल, कालातीत एवं अनंत सत्तामें शुद्ध अतिमानसिक लयको छोड़कर और किसी प्रकारका चैतन्य होता ही नहीं। इस समाधिमें प्रवेश करके आत्मा सर्वोच्च निर्वाणकी नीरवतामें चली जाती है जहाँसे वह सत्ताकी किसी भ्रमात्मक या निम्नतर अवस्थामें नहीं लौट सकती। भक्तियोगमें समाधिका इतना सर्वातिशायी महत्त्व नहीं है, तथापि वहाँ दिव्य प्रेमका आनंद आत्माको सत्ताकी जिस निश्चेष्ट अवस्थामें डुबा देता है उसके रूपमें वहाँ भी इसका (समाधिका) स्थान है। इसमें प्रवेश पाना राजयोग और हठयोगमें योगसाधनाकी सीढ़ीका सर्वोच्च सोपान माना जाता है। तो फिर पूर्णयोगमें समाधिका क्या स्वरूप है या इसमें होनेवाले चेतनाके लयका प्रयोजन क्या है? यह स्पष्ट ही है कि जब कि जीवनमें भगवान्‌को प्राप्त करना हमारे लक्ष्यके अंतर्गत है, जीवनके विलोपकी अवस्था चरम और परम सोपान या सर्वोच्च कामनीय स्थिति नहीं हो सकती : योग-समाधि जो कितनी ही योगप्रणालियोंका लक्ष्य है, हमारा लक्ष्य नहीं हो सकती, वह तो केवल एक साधन ही हो सकती है; और साधन भी जागरित अवस्थासे पलायन करनेके लिये नहीं बल्कि देखने, चैतन्य रहने और कार्य करनेवाली संपूर्ण चेतनाको विस्तृत और उन्नत करनेके लिये।

समाधिका महत्त्व उस सत्यपर आधारित है जिसे आधुनिक ज्ञान नये सिरेसे खोज रहा है पर जिसे भारतीय मनोविज्ञानने कभी भी दृष्टिसे ओझल नहीं होने दिया है। वह सत्य यह है कि जगत्‌की या हमारी अपनी सत्ताका एक छोटा-सा भाग ही हमारे ज्ञान या कार्य-व्यवहारमें आता है। शेष सारा भाग पीछेकी ओर सत्ताके प्रच्छन्न विस्तारोंमें छुपा हुआ है। ये

प्रच्छन्न विस्तार नीचे अवचेतनकी गहनतम गहराइयोंमें पहुँचे हुए हैं और ऊपर अतिचेतनाकी उच्चतम चोटियोंतक उठे हुए हैं, अथवा ये हमारी जाग्रत् आत्माके छोटेसे क्षेत्रको एक विशाल परिचेतन सत्ताके द्वारा चारों ओरसे घेरे हैं। हमारे मन और हमारी इन्द्रियोंको इस विशाल परिचेतन सत्ताके केवल कुछ संकेत ही प्राप्त होते हैं। प्राचीन भारतीय मनोविज्ञानने इस तथ्यको प्रकट करनेके लिये चेतनाको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन क्षेत्रोंमें विभक्त किया था; उसने मनुष्यमें जागरित, स्वाप्न और सुषुप्त पुरुषकी कल्पना की थी, इनके साथ ही वह सत्ताके एक परमोच्च या निरपेक्ष 'पुरुष' को भी मानता था जो तुरीय एवं इन तीनोंसे परे है; उक्त तीनों पुरुष इस जगत्में सापेक्ष अनुभवका आनंद लेनेके लिये इस तुरीय पुरुषमेंसे ही आविर्भूत होते हैं।

यदि हम प्राचीन ग्रंथोंकी शब्दावलिका विवेचन करें तो हमें पता चलेगा कि जाग्रत् अवस्थाका अभिप्राय है जड़ जगत्के विषयमें हमारी वह चेतना जिसे हम स्थूल मनके द्वारा शासित इस देहबद्ध जीवनमें सामान्यतया धारण करते हैं। स्वप्नावस्था एक ऐसी चेतना है जो पीछे रहनेवाले सूक्ष्मतर प्राण-स्तर और मानस-स्तरसे संबंध रखती है; इन स्तरोंके विषयमें इंगित प्राप्त होनेपर भी ये हमें वैसे ठोस रूपमें वास्तविक नहीं प्रतीत होते जैसे स्थूल जगत्के पदार्थ; सुषुप्ति-अवस्था एक ऐसी चेतना है जो विज्ञानके अपने विशिष्ट स्तर अर्थात् अतिमानसिक स्तरसे संबंध रखती है, यह स्तर हमारे अनुभवसे परे है क्योंकि हमारा कारण शरीर या विज्ञानकोष हमारे अंदर विकसित नहीं हुआ है तथा उसकी क्षमताएं हमारे अंदर सक्रिय नहीं हैं, और इसीलिये इस स्तरके साथ हमारा संबंध निःस्वप्न निद्रा या सुषुप्तिकी अवस्थामें ही स्थापित होता है। इससे भी परेकी तुरीय (चौथी) अवस्था हमारी शुद्ध स्वयंभू या निरपेक्ष सत्ताकी चेतना है जिसके साथ हमारा किसी प्रकारका भी सीधा संबंध बिल्कुल नहीं है, चाहे अपनी स्वाप्न या जाग्रत् अथवा यहांतक कि सुषुप्त चेतनामें भी हम उसके कोई भी मानसिक प्रतिबिंब क्यों न ग्रहण कर लें; हां, इनमेंसे सुषुप्तिमें ग्रहण किये हुए प्रतिबिंब तो हमारी स्मृतिमें भी नहीं आ सकते। चार अवस्थाओंकी यह शृंखला सत्ताकी सीढ़ीके उन क्रमिक सोपानोंसे साम्य रखती है जिनके द्वारा हम निरपेक्ष भगवान्की ओर फिरसे आरोहण करते हैं। अतएव साधारणतः जाग्रत् अवस्थासे पीछे हटकर उससे दूर एवं अंदरकी ओर गये बिना तथा जड़ जगत्से संपर्क खोये बिना हम स्थूल मनसे चेतनाके उच्चतर स्तरों या भूमिकाओंमें नहीं पहुँच सकते। सुतरां, जो लोग इन उच्चतर भूमिकाओंका

अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये समाधि एक कामनीय वस्तु बन जाती है तथा स्थूल मन और प्रकृतिकी सीमाओंसे मुक्त होनेके लिये एक साधनका काम करती है।

समाधि या योगलीनताकी स्थिति जैसे-जैसे सामान्य जाग्रत् अवस्थाओंसे अधिकाधिक दूर हटती जाती है तथा चेतनाकी ऐसी भूमिकाओंमें प्रवेश करती है जिनका जाग्रत् मनके प्रति वर्णन करना अधिकाधिक अशक्य होता है और जो जाग्रत् अवस्थावाले जगत्के आह्वानको स्वीकार करनेके लिये उत्तरोत्तर कम उद्यत होती हैं, वैसे-वैसे वह (समाधि) अधिकाधिक गहराइयोंमें डूबती जाती है। एक विशेष स्थितिके परे वह पराकाष्ठाको पहुँच जाती है और तब, जो आत्मा उनमें जाकर निमग्न हो गयी है, उसे जगाना या वापिस बुलाना प्रायः या सर्वथा असंभव ही हो जाता है; वह अपने ही संकल्पके बलपर या, अधिकसे अधिक, शारीरिक मांगके प्रचण्ड आघातके कारण ही वापिस आ सकती है, पर इस प्रकार वापिस आनेमें एकाएक ही जो उथलपुथल होती है उसके कारण यह आघात शरीरके लिये संकटपूर्ण होता है। कहा जाता है कि समाधिकी कुछ ऐसी परमोच्च अवस्थाएँ भी हैं जिनमें आत्मा अत्यंत दीर्घकालतक स्थित रहनेपर फिर वापस नहीं आ सकती; क्योंकि वह उस सूत्रपर जो उसे जीवनकी चेतनाके साथ बाँधे रखता है अपना अधिकार खो बैठती है, और शरीर छूट जाता है, निःसंदेह, वह अपनी उसी स्थितिमें सुरक्षित रहता है जिसमें उसे (समाधि लगाते समय) स्थिर किया गया था, विघटनके द्वारा मृत्युको नहीं प्राप्त होता, पर जो आत्मायुक्त प्राण उसके अंदर अधिष्ठित था उसे वह पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। अंतमें, योगी विकासकी एक विशेष अवस्थामें ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि वह अपने शरीरको मृत्युकी साधारण क्रिया-शृंखलाके बिना ही अपने इच्छाबलका प्रयोग करके, निश्चित रूपसे त्याग सकता है,* या फिर वह एक और प्रक्रियाके द्वारा अर्थात् ऊर्ध्वमुखी प्राण-धारा (उदान) के द्वारसे प्राणात्मक जीवन-शक्तिको खींचकर तथा उसके लिये सिरमें गुह्य ब्रह्मरंध्रमेंसे निकलनेका मार्ग खोलकर भी शरीरको त्याग सकता है। समाधिकी अवस्थामें जीवनका त्याग करनेसे वह सीधे ही सत्ताकी उस उच्चतर भूमिकाको प्राप्त कर लेता है जिसकी वह अभीप्सा करता है।

स्वयं स्वप्न-अवस्थामें भी अनंत प्रकारकी गहराइयाँ हैं, कम गहरी स्वप्न-अवस्थासे आत्माको वापिस बुलाना आसान होता है और स्थूल इन्द्रियों-

---

*इच्छामृत्यु।

का जगत् अत्यंत निकट होता है, यद्यपि कुछ समयके लिये यह वहिष्कृत रहता है; अधिक गहरी स्वप्नावस्थामें यह बहुत दूर चला जाता है और अंतर्मग्नताकी अवस्थाको भेदनेमें अपेक्षाकृत असमर्थ होता है, क्योंकि मन समाधिकी सुरक्षित गहराइयोंमें प्रवेश पा चुकता है। समाधि और सामान्य निद्रामें अर्थात् योगकी स्वप्नावस्था और स्वप्नकी भौतिक अवस्थामें ज़रा भी समानता नहीं है। इनमेंसे पिछली तो स्थूल मनकी एक अवस्था है; पहलीमें वास्तविक एवं सूक्ष्म मन स्थूल मनके मिश्रणसे मुक्त होकर कार्य करता है। स्थूल मनके स्वप्न कई वस्तुओंका एक असंबद्ध मिश्रण होते हैं। वे वस्तुएँ ये हैं—एक तो स्थूल जगत्के अस्पष्ट संपर्कोंके प्रति की गयी प्रतिक्रियाएँ, संकल्प-शक्ति और बुद्धिसे विच्छिन्न हुई मनकी निम्नतर शक्तियाँ इन संपर्कोंके चारों ओर एक विशृंखल कल्पनाका जाल बुन डालती हैं; दूसरे, मस्तिष्कगत स्मृतिमेंसे उठनेवाले अव्यवस्थित संस्कार; तीसरे, मानसिक स्तरपर विचरती हुई आत्मासे मनपर पड़नेवाले प्रतिविंब, ये प्रति-विंब साधारणतः बिना समझे या सुसंगत किये ग्रहण कर लिये जाते हैं, ग्रहण करते समय प्रवल रूपसे विकृत हो जाते हैं तथा स्वप्नके अन्य तत्त्वों अर्थात् मस्तिष्कवर्ती स्मृतियोंके साथ एवं स्थूल जगत्से आनेवाले किसी भी इन्द्रिय-स्पर्शके प्रति मनमौजी प्रतिक्रियाओंके साथ अव्यवस्थित रूपमें मिश्रित हो जाते हैं। इसके विपरीत, योगकी स्वप्नावस्थामें मन स्थूल जगत्से न सही पर अपने-आपसे स्पष्ट रूपमें सचेतन होता है, सुसंगत रूपमें कार्य करता है और या तो अपने साधारण संकल्प एवं बुद्धिका एकाग्र शक्तिके साथ प्रयोग कर सकता है या फिर मनके अधिक उन्नत स्तरोंके उच्चतर संकल्प और बुद्धिको उपयोगमें ला सकता है। वह बाह्य जगत्के अनुभवसे दूर हट जाता है तथा स्थूल इन्द्रियोंको एवं जड़ पदार्थोंके साथ संपर्क स्थापित करनेवाले इन्द्रिय-द्वारोंको मजबूतीसे वंद कर देता है; परंतु अपनी प्रत्येक विशिष्ट क्रियाको अर्थात् चिंतन, तर्कणा, प्रतिविंव-ग्रहण और अंतर्दर्शनको वह श्रेष्ठ एकाग्रताकी बढ़ी हुई शुद्धता और शक्तिके साथ संपन्न करता रह सकता है। वह एकाग्रता जाग्रत् मनके विक्षेपों एवं उसकी अस्थिरतासे मुक्त होती है। साथ ही, वह अपने संकल्पका प्रयोग करके अपने ऊपर या अपने चारों ओरके प्राणियों एवं पदार्थोंके ऊपर मानसिक, नैतिक एवं भौतिक प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है। वे प्रभाव स्थिर रह सकते हैं तथा समाधिकी समाप्तिके वाद आनेवाली जाग्रत् अवस्थामें अपने फल प्रकट कर सकते हैं।

स्वप्नावस्थाकी शक्तियोंपर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करनेके लिये स्थूल

इन्द्रियोंपर वाह्य जगत्के रूपों, शब्दों आदिके आक्रमणको दूर करना सर्व-प्रथम आवश्यक है। निःसंदेह स्वप्न-समाधिमें सूक्ष्म शरीरसे संबद्ध सूक्ष्म इंद्रियोंके द्वारा बाह्य स्थूल जगत्का ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा संभव है; मनुष्य जहाँतक चाहे वहींतक और जाग्रत् अवस्थाकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत परिणाममें बाह्य जगत्के रूपों, शब्दों आदिका ज्ञान प्राप्त कर सकता है : क्योंकि स्थूल भौतिक इंद्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म इन्द्रियोंका क्षेत्र कहीं अधिक महान् है, वह एक ऐसा क्षेत्र है जिसे कार्यतः असीम बनाया जा सकता है। परंतु सूक्ष्म इंद्रियोंके द्वारा स्थूल जगत्का यह जो ज्ञान प्राप्त होता है वह स्थूल इन्द्रियोंसे प्राप्त हमारे सामान्य जगत्-ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होता है; इनमेंसे पिछला समाधिकी सुस्थिर अवस्थासे मेल नहीं खाता, स्थूल इन्द्रियोंका दवाव समाधिको भंग कर देता है और मनको उसके सामान्य क्षेत्रमें जीवन यापन करनेके लिये वापिस बुला लाता है क्योंकि वे अपनी शक्तिका प्रयोग केवल इसी क्षेत्रमें कर सकती हैं। परंतु सूक्ष्म इन्द्रियाँ अपने स्तरों तथा इस स्थूल जगत् दोनोंमें अपनी शक्तिको प्रकट कर सकती हैं, यद्यपि यह उनकी अपनी सत्ताके लोककी अपेक्षा उनके लिये अधिक दूर है। स्थूल इन्द्रियोंके द्वारोंको वंद करनेके लिये योगमें अनेक प्रकारके उपाय काममें लाये जाते हैं जिनमेंसे कुछ तो भौतिक उपाय ही हैं; परंतु एकमात्र सर्व-समर्थ साधन है एकाग्रताकी शक्ति जिसके द्वारा मनको भीतरकी ओर गह-राइयोंमें ले जाया जाता है जहाँ स्थूल पदार्थोंकी पुकार उसतक पहलेकी तरह आसानीसे नहीं पहुँच सकती। स्वप्नावस्थाकी शक्तियोंपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये दूसरा आवश्यक कार्य स्थूल निद्राके हस्तक्षेपसे छुटकारा पाना है। मन जब स्थूल पदार्थोंके संपर्कसे विमुख होकर भीतर जाता है तो वह अपने साधारण स्वभावके अनुसार निद्राकी जड़तामें या उसके स्वप्नोंमें जा पड़ता है, और अतएव जब उसे समाधिके प्रयोजनोंके लिये भीतरकी ओर पुकारा जाता है तो वह अभीष्ट प्रत्युत्तर नहीं देता या देनेमें प्रवृत्त नहीं होता बल्कि पहले अवसरपर तो निरी स्वभावकी शक्तिके वश ही स्थूल तंद्रारूपी साधारण प्रत्युत्तर देता है या देनेमें प्रवृत्त होता है। मनके इस स्वभावसे छुटकारा पाना होगा; मनको स्वप्नावस्थामें जागरित रहना तथा अपने ऊपर स्वामित्व रखना सीखना होगा, पर वह जागरित अवस्था वहिर्मुख नहीं अंतर्मुख होनी चाहिये जिसमें वह अपने अंदर डूबा रहकर भी अपनी समस्त शक्तियोंका प्रयोग कर सके।

स्वप्नावस्थाके अनुभव अनंत प्रकारके होते हैं। क्योंकि यह सामान्य मानसिक शक्तियों अर्थात् तर्क, विवेक, संकल्प और कल्पनाके ऊपर परम

प्रभुत्व रखती है तथा इन्हें चाहे किसी भी ढंगसे, किसी भी विषयपर और किसी भी उद्देश्यके लिये प्रयोगमें ला सकती है, इतना ही नहीं, बल्कि यह उन सब लोकोंके साथ, भौतिकसे लेकर उच्चतर मानसिक लोकोंतकके साथ, संबंध भी स्थापित कर सकती है जिनतक इसकी स्वाभाविक पहुँच है या जिनतक पहुँच पाना यह पसंद करती है। ऐसा यह उन अनेक साधनोंके द्वारा करती है जो स्थूल बहिर्मुखी इन्द्रियोंकी संकीर्ण सीमाओंसे मुक्त इस अंतर्मुख मनकी सूक्ष्मता, नमनीयता और सर्वग्राही गतिके लिये सुलभ होते हैं। सर्वप्रथम, यह सभी वस्तुओंको वे चाहे भौतिक जगत्की हों या अन्य स्तरोंकी, अनुभवगम्य प्रतिमूर्तियोंकी सहायतासे जान सकती है; ये प्रति-मूर्तियाँ दृश्य वस्तुओंकी ही नहीं बल्कि शब्द, स्पर्श, गंध, रस, गति, क्रिया तथा उन सब वस्तुओंकी भी होती हैं जो मन और उसके कारणोंके लिये गोचर हो सकती हैं। क्योंकि समाधिकी अवस्थामें मन आंतरिक आकाशतक, जिसे कभी-कभी चिदाकाश भी कहते हैं, पहुँच जाता है, अर्थात् वह अधि-काधिक सूक्ष्म होते जानेवाले आकाशकी उन गहराइयोंतक पहुँच जाता है जिनके और भौतिक इंद्रियोंके बीचमें जड़ जगत्के स्थूलतर आकाशका घना पर्दा पड़ा हुआ है, और सभी इंद्रिय-गोचर वस्तुएँ, वे चाहे स्थूल लोककी हों या किसी अन्य लोककी, इस सूक्ष्म आकाशमें अपना पुनर्निर्माण करनेवाले स्पंदनों, अपनी इन्द्रियगम्य प्रतिध्वनियों, प्रतिकृतियों तथा पुनरावर्ती प्रतिमा-ओंका सृजन करती हैं। यह सूक्ष्मतर आकाश इन स्पंदनों आदिको ग्रहण करके अपने अंदर धारण करता है।

समाधिकी यह अवस्था दूरदर्शन तथा दूरश्रवण आदिकी अद्भुत घटनाओं-मेंसे बहुत-सीकी व्याख्या कर देती है; क्योंकि इन घटनाओंका अर्थ यही है कि जाग्रत् मन एक ऐसी अवस्थामें असाधारण रूपसे प्रवेश पा लेता है जो एक विशेष प्रकारकी स्मृतिके प्रति सीमित रूपमें सचेतन होती है, इस स्मृतिको सूक्ष्म आकाशमें विद्यमान प्रतिमाओंकी स्मृति कहा जा सकता है। इसके द्वारा भूत और वर्तमानकी ही नहीं बल्कि भविष्यकी भी सब वस्तुओंके संकेतों-को ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि भविष्यकी वस्तुएँ मनके उच्चतर स्तरोंपर ज्ञान और अंतर्दृष्टिके प्रति पहलेसे ही संसिद्ध हो चुकी होती हैं और उनकी प्रतिमाओंका प्रतिबिंब वर्तमान कालमें मनपर पड़ सकता है। ये चीजें जाग्रत् मनके लिये अपवाद-रूप एवं दुष्प्राय हैं तथा इन्हें एक विशिष्ट शक्तिको अधिगत करके या फिर श्रमसाध्य अभ्यासके द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है, पर समाधि-चेतनाकी स्वप्नावस्थाके लिये ये सहज-स्वाभाविक हैं क्योंकि उसमें प्रच्छन्न मन स्वतंत्र होता है। और यह मन नाना स्तरोंपर

वस्तुओंका बोध भी प्राप्त कर सकता है। यह बोध वह इन इन्द्रियगोचर प्रतिमाओंके द्वारा ही नहीं प्राप्त करता बल्कि एक विशेष प्रकारसे विचारको जानकर या अपने अंदर ग्रहण एवं अंकित करके भी प्राप्त करता है, विचारको जानने आदिकी यह क्रिया चेतनाके उस अद्‌भुत व्यापारसे मिलती-जुलती होती है जिसे आधुनिक मनोविज्ञानमें विचार-संक्रमणका नाम दिया गया है। परंतु स्वप्नावस्थाकी शक्तियाँ यहीं समाप्त नहीं हो जातीं। इसमें मन हमारी सत्ताको मनोमय या प्राणमय शरीरके एक सूक्ष्म रूपमें एक प्रकारसे बाहर प्रक्षिप्त करके अन्य भूमिकाओं और लोकोंमें या इस लोकके सुदूर स्थानों एवं दृश्योंमें सचमुच प्रवेश कर सकता है, एक प्रकारकी प्रत्यक्ष शारीरिक सत्ताके साथ उनमें विचरण कर सकता है और उनके दृश्यों, सत्यों तथा घटना-चक्रोंके प्रत्यक्ष अनुभवको जागरित अवस्थामें ले आ सकता है। इसी प्रयोजनके लिये वह साक्षात् मनोमय या प्राणमय शरीरका भी बाहर प्रक्षेप कर सकता है तथा उसके द्वारा सर्वत्र पर्यटन कर सकता है, ऐसा करते समय वह स्थूल शरीरको ऐसी प्रगाढ़तम समाधिमें छोड़ जाता है कि जबतक वह इसमें वापिस नहीं आ जाता तबतक इसमें जीवनका कोई चिह्न नहीं प्रतीत होता।

परंतु समाधिकी स्वप्नावस्थाका सबसे बड़ा महत्त्व इन अधिक बाहरी चीजोंमें नहीं है। उसका सबसे बड़ा महत्त्व तो यह है कि वह विचार, भावावेग और संकल्पकी ऐसी उच्चतर भूमिकाओं और शक्तियोंको सहजमें उन्मुक्त करती है जिनके द्वारा आत्मा उच्चता, विशालता और आत्मप्रभुतामें वर्धित होती है। विशेषकर, इंद्रियग्राह्य वस्तुओंके द्वारा उत्पन्न विक्षेपसे पीछे हटकर आत्मा एकाग्रतापूर्ण एकांतकी पूर्ण शक्तिमें, स्वतंत्र तर्क, विचार और विवेकके द्वारा अथवा इससे अधिक अंतरंग एवं चरम रूपमें उत्तरोत्तर गभीर अंतर्दर्शन एवं तादात्म्यके द्वारा अपने-आपको इस प्रकार तैयार कर सकती है कि भगवान्, परम आत्मा एवं परात्पर सत्यको, उसके मूल तत्त्वों तथा उसकी शक्तियों एवं अभिव्यक्तियोंको और साथ ही उसके उच्चतम मूल सत्स्वरूपको भी प्राप्त कर सके। अथवा, मानो आत्माके एक आवृत और निभृत कक्षमें अनन्य आंतरिक हर्ष और भावावेशके द्वारा वह अपने-आपको दिव्य प्रियतमके साथ एवं समस्त आनंद और परमोल्लासके स्वामीके साथ मिलनका आह्लाद प्राप्त करनेके लिये तैयार कर सकती है।

पूर्णयोगकी दृष्टिसे समाधिकी इस प्रणालीमें एक हानि दिखायी दे सकती है। वह यह कि जब समाधि समाप्त होती है तो सूत्र भंग हो जाता है और आत्मा बाह्य जीवनकी विक्षिप्त और अपूर्ण अवस्थामें वापिस आ जाती

है, हाँ, इस वाह्य जीवनपर उसका उतना उन्नायक प्रभाव अवश्य पड़ता है जितना कि इन गभीरतर अनुभवोंकी सामान्य स्मृति उत्पन्न कर सकती है। परंतु यह खाई या दरार अनिवार्य हो ऐसी बात नहीं है। पहली वात तो यह है कि समाधिके अनुभव जाग्रत् मनके लिये शून्यवत् तभीतक रहते हैं जवतक अंतरात्मा समाधिकी अभ्यस्त नहीं हो जाती; जैसे-जैसे यह अपनी समाधिपर अधिकार प्राप्त करती है, वैसे-वैसे यह विस्मृतिके किसी प्रकारके भी अंतरालके विना आंतरिक मनसे वाह्य जागरित मनतक आनेमें समर्थ वनती जाती है। दूसरे, जव एक वार ऐसा हो जाता है, तो जो कुछ आंतरिक अवस्थामें प्राप्त हुआ है, उसे जागरित चेतनाके द्वारा प्राप्त करना अधिक सुगम हो जाता है और साथ ही उसे आसानीसे एक ऐसा रूप भी दिया जा सकता है कि वह जाग्रत् अवस्थाके जीवनकी स्वाभाविक अनुभूति, शक्ति, सामर्थ्य और मानसिक अवस्था वन जाय। ऐसा होनेपर सूक्ष्म मन, जो साधारणतः स्थूल सत्ताकी आग्रहपूर्ण मांगके कारण आच्छादित रहता है, जागरित अवस्थामें भी शक्तिशाली वनता जाता है, जिससे कि अंतमें विशाल वनता हुआ मानव जागरित अवस्थामें भी अपने स्थूल शरीरकी तरह अपने अनेक सूक्ष्म शरीरोंमें भी निवास कर सकता है, उनसे तथा उनके अंदर सचेतन हो सकता है, उनकी इन्द्रियों, क्षमताओं और शक्तियोंका प्रयोग करके अति-भौतिक सत्य, चेतना और अनुभवका स्वामी वनकर रह सकता है।

सुषुप्ति-अवस्थामें आत्मा सत्ताकी उच्चतर शक्तिकी ओर आरोहण करती है। अर्थात् वह विचारसे परे शुद्ध चेतना, भावावेगसे परे शुद्ध आनंद तथा संकल्पसे परे शुद्ध प्रभुत्वके स्तरकी ओर ऊपर उठती है; सच्चिदा-नंदकी जिस परमोच्च स्थितिमेंसे इस जगत्के सव कार्य-व्यापार उत्पन्न होते हैं उसके साथ एकत्व लाभ करनेके लिये सुषुप्ति-अवस्था एक द्वारका काम करती है। परंतु यहाँ हमें प्रतीकात्मक भाषाके गर्तजालोंसे वचनेका ध्यान रखना होगा। इन उच्चतर भूमिकाओंके लिये 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' शब्दोंका प्रयोग एक रूपकसे अधिक कुछ नहीं। यह रूपक सामान्य स्थूल मनके उस अनुभवसे लिया गया है जो उसे अपरिचित भूमिकाओंके विषयमें होता है। यह सत्य नहीं है कि 'सुषुप्ति' (अर्थात् पूर्ण निद्रा) नामक तीसरी भूमिकामें 'पुरुष' निद्राकी अवस्थामें होता है। वल्कि सुषुप्तिगत 'पुरुष'को प्राज्ञ अर्थात् प्रज्ञा और ज्ञानका स्वामी या विज्ञानमय 'पुरुष' और ईश्वर अर्थात् सत्ताका प्रभु कहा गया है। स्थूल मनके लिये यह सुषुप्ति (प्रगाढ़तम निद्रा) है, पर हमारी विशालतर एवं सूक्ष्मतर चेतनाके लिये यह एक अधिक महान् जागृति है। जो चीजें सामान्य मनके सामान्य अनुभवसे परेकी हैं पर फिर

भी उसके क्षेत्रके अंदर आती हैं वे सभी उसे स्वप्नवत् प्रतीत होती हैं; परंतु जब वह उस सीमा-रेखापर पहुँचता है जिसके आगेकी चीजें उसके क्षेत्रसे सर्वथा परेकी होती हैं, तो वह सत्यको स्वप्नावस्थाकी भांति भी नहीं देख सकता, बल्कि निद्राकी शून्य बोधहीनता और अग्रहणशीलतामें पहुँच जाता है। यह सीमारेखा व्यक्तिकी चेतनाकी शक्तिके अनुसार तथा उसके ज्ञाना-लोक और जागरणकी मात्रा और उच्चताके अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। यह रेखा अधिकाधिक ऊँचाईकी ओर हटती जा सकती है, यहाँतक कि अंतमें यह मनके घेरेको भी पार कर सकती है। निःसंदेह, साधारणतया मानव-मन अतिमानसिक स्तरोंपर समाधिकी आंतरिक जाग्रत् अवस्थाके रूपमें भी जागरित नहीं रह सकता; पर इस असमर्थतापर विजय पायी जा सकती है। इन स्तरोंपर जागरित रहकर आत्मा विज्ञानमय विचार अथवा विज्ञानमय संकल्प और आनंदकी भूमिकाओंकी स्वामिनी बन जाती है और यदि वह समाधि-अवस्थामें ऐसा कर सके तो वह अपने अनुभवकी स्मृति और शक्तिको जागरित अवस्थामें भी ले जा सकती है। हमारे सामने जो इससे ऊँचा अर्थात् आनंदका स्तर खुला पड़ा है उसपर जागरित आत्मा, उक्त रीतिसे ही, आनंदमय पुरुषको उसके आत्म-समाहित और विश्व-व्याप्त दोनों रूपोंमें प्राप्त कर सकती है। तथापि इससे ऊपरकी भूमिकाएँ भी हो सकती हैं जहाँसे वापिस आती हुई यह इसके सिवा और कोई स्मृति नहीं ला सकती कि "जैसे भी हो, मैं ऐसे आनंदमें थी जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकती"; वास्तवमें वह अपरिच्छिन्न सत्ताका एक ऐसा आनंद है जिसे विचारके द्वारा प्रकट करना अथवा रूपक या आकारके द्वारा वर्णित करना जरा भी संभव नहीं है। हो सकता है कि इस भूमिकामें अस्तित्वका भान भी एक ऐसे अनुभवमें विलुप्त हो जाय जिसमें जगत्की सत्ताका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता और बौद्धोंका निर्वाण-रूपी प्रतीक ही एकमात्र सर्वोच्च सत्य प्रतीत होता है। आत्माके जागरणकी शक्ति कितने ही ऊँचे स्तरतक क्यों न पहुंच जाय, तथापि प्रतीत होता है कि उससे परे एक ऐसी भूमिका अवश्य है जिसमें सुषुप्तिके रूपकका प्रयोग फिर भी उपयुक्त होगा।

समाधि या योगलीनताकी स्थितिका मूलतत्त्व यही है,—इसके जटिल दृग्विषयोंकी तहमें जानेकी अभी हमें जरूरत नहीं। इतना देख लेना ही काफी है कि पूर्णयोगमें इसकी उपयोगिता दो प्रकारकी है। यह सच है कि एक सीमातक *जिसका ठीक-ठीक वर्णन या निर्धारण करना कठिन है,* समाधिसे प्राप्त हो सकनेवाली प्रायः सभी अनुभूतियाँ समाधिका आश्रय लिये बिना भी प्राप्त की जा सकती हैं। तथापि आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक

अनुभवके कुछ ऐसे शिखर भी हैं जिनका बिवग्राही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव गहराईके साथ तथा पूर्ण रूपमें योगसमाधिके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। पर जो अनुभव किसी और तरीकेसे भी प्राप्त हो सकता है उसके लिये भी समाधि एक प्रस्तुत साधन या एक सुविधापूर्ण विधिका काम करती है; जिन भूमिकाओंमें उच्च आध्यात्मिक अनुभवकी खोज की जाती है वे जैसे-जैसे अधिक ऊँची एवं दुष्प्राप्य होती जाती हैं वैसे-वैसे यह समाधिकी विधि भी अनिवार्य नहीं तो अधिकाधिक सहायक अवश्य होती है। एक बार वहाँ प्राप्त हो जानेपर इस अनुभवको जाग्रत् चेतनामें भी यथासंभव अधिक-से-अधिक लाना होगा। क्योंकि, जो योग समस्त जीवनको पूर्ण रूपसे तथा बिना किसी संकोचके अपने अंदर समाविष्ट करता है उसमें समाधिका पूरा लाभ तभी प्राप्त होता है जब इसकी प्राप्तियोंको मनुष्यमें देहधारी आत्माके पूर्ण जागरण-के लिये स्वाभाविक संपदा और अनुभूति बनाया जा सके।

सत्ताईसवाँ अध्याय

हठयोग

योगके जितने विभिन्न मार्ग हैं लगभग उतने ही समाधितक पहुँचनेके साधन भी हैं। जबतक हम शरीरमें हैं तबतक समाधिकी पूर्ण प्राप्ति एवं उपभोग केवल उच्चतम चेतनामें ही किया जा सकता है। निःसंदेह, इस उच्चतम चेतनाको प्राप्त करनेके परम साधनके रूपमें ही नहीं बल्कि स्वयं इस उच्चतम चेतनाकी असली शर्त्त और अवस्थाके रूपमें भी समाधिको इतना अधिक महत्व दिया जाता है कि योगकी कई एक साधनाएँ तो ऐसी दिखायी देती हैं मानों वे केवल समाधितक पहुँचनेके साधनमात्र हों। परम देवके साथ एकत्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना तथा इसे प्राप्त करना—यही सब योगोंका स्वरूप है। परम देवके साथ एकत्वका अर्थ है उनकी सत्ताके साथ तथा उनके चैतन्य और आनंदके साथ एकत्व, अथवा यदि हम पूर्ण एकत्वके विचारको माननेसे इंकार करें तो इस एकत्वका अर्थ होगा कम-से-कम किसी-न-किसी प्रकारका एकत्व, चाहे उसका स्वरूप यह हो कि केवल आत्मा भगवान्‌के साथ सत्ताकी एक ही भूमिका एवं लोकमें निवास करे, **सालोक्य,** या उनके साथ एक प्रकारकी अविच्छेद्य समीपतामें निवास करे, **सामीप्य,** यह एकत्व तभी प्राप्त हो सकता है यदि हम अपने साधारण, मनकी चेतनासे अधिक ऊँचे स्तरकी एवं अधिक प्रगाढ़ चेतनामें उठ जायँ। हम देख ही चुके हैं कि समाधि एक इसी प्रकारके उच्चतर स्तर और महत्तर प्रगाढ़ताकी स्वाभाविक भूमिकाके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत होती है। ज्ञानयोगमें स्वभावतः ही इसका अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि उसकी विधि और उसके उद्देश्यका वास्तविक मूलसूत्र ही यही है कि मानसिक चेतनाको एक ऐसी निर्मल अवस्थामें तथा एकाग्र शक्तिमें उठा ले जाय जिसके द्वारा यह वास्तविक सत्ताको पूर्ण रूपसे जान सके, उसमें लीन होकर तद्रूप बन सके। परंतु दो महान् साधन-पद्धतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें यह और भी अधिक महत्त्व ग्रहण कर लेती है। वे हैं राजयोग और हठयोग। अब हम इन दोनों पद्धतियोंपर भी विचार कर लें; क्योंकि ज्ञानमार्गकी विधिसे इनकी विधियोंका बड़ा भारी भेद होनेपर भी, इनका भी मूलसूत्र वही है जो ज्ञान-योगका है और वही इन्हें अंतिम रूपसे सार्थक भी सिद्ध करता है। तथापि

इन दो क्रमिक सोपानोंके पीछे जो मूल भाव निहित है उसपर यहाँ प्रसंगवश, दृष्टि डालनेसे अधिक कुछ करनेकी हमें आवश्यकता नहीं; क्योंकि समन्व-यात्मक एवं सर्वांगीण योगमें इनका महत्त्व दूसरे दर्जेका ही है; निःसंदेह, इनके लक्ष्योंको तो हमें अपने लक्ष्यमें समाविष्ट करना होगा, पर इनकी विधियोंका या तो सर्वथा त्याग कर देना होगा अथवा इनका प्रयोग प्रारंभिक या प्रासंगिक सहायता प्राप्त करनेके लिये ही करना होगा।

हठयोग एक शक्तिशाली, पर कठिन और कष्टप्रद प्रणाली है। इसकी क्रियाका सारा सिद्धांत इस तथ्यपर आधारित है कि शरीर और आत्मामें घनिष्ठ संबंध है। बंध और मोक्ष, पशूचित दुर्बलता और दिव्य शक्ति, मन और अंतरात्माकी तमसाच्छन्नता तथा प्रकाशमयता, पीड़ा और अपूर्णताके प्रति अधीनता और आत्म-प्रभुता, मृत्यु और अमरता—इन सब द्वंद्वोंकी कुंजी एवं इनका रहस्य शरीर ही है। हठयोगीके लिये शरीर एक सजीव स्थूल द्रव्यका पिण्डमात्र नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक और भौतिक सत्ताके बीच एक गुह्य सेतु है; हमने हठयौगिक साधनाके एक प्रतिभाशाली व्याख्याकारको वेदांतके प्रतीक 'ओ३म्' की ऐसी व्याख्या करते भी देखा है कि यह इस गुह्य मानव-देहका प्रतिरूप है। पर यद्यपि वह सदा स्थूल शरीरकी ही बात करता है और इसीको अपनी योग-क्रियाओंका आधार बनाता है, तथापि वह इसे शरीर-रचना-शास्त्री या शरीरक्रिया-विज्ञानकी आँखसे नहीं देखता, बल्कि इसका वर्णन एवं व्याख्या एक ऐसी भाषामें करता है जो सदा ही स्थूल देह-संस्थानके पीछे रहनेवाले सूक्ष्म शरीरकी ओर दृष्टिपात करती है। वास्तवमें, हठयोगीके संपूर्ण लक्ष्यका सार हम अपने दृष्टिकोणसे इस रूपमें प्रतिपादित कर सकते हैं,—यद्यपि वह स्वयं इसे इन शब्दोंमें प्रस्तुत करना नहीं चाहेगा,—कि वह इस स्थूल शरीरमें आत्माको कुछ निश्चित वैज्ञानिक प्रक्रिया-ओंके द्वारा एक ऐसी शक्ति, ज्योति, पवित्रता एवं स्वतंत्रता तथा उत्तरोत्तर ऊर्ध्व स्तरोंकी ऐसी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रदान करनेका यत्न करता है जो आत्माके लिये, यहाँ सूक्ष्म शरीरमें तथा विकसित कारण शरीरमें निवास करनेपर, स्वभावतः ही सुलभ होंगी।

जो लोग विज्ञानके विचारका संबंध केवल स्थूल जगत्‌के बाह्य दृग्विषयोंसे ही जोड़ते हैं तथा इनके पीछे जो कुछ है उस सबसे इसे पृथक् रखते हैं उनको हठयोगकी प्रक्रियाओंके वैज्ञानिक होनेकी बात विचित्र प्रतीत हो सकती है; पर ये प्रक्रियाएँ भी समान रूपसे, नियमों तथा उनकी क्रियाओंके सुनि-श्चित अनुभवपर आधारित हैं और ठीक ढंगसे अनुसरण करनेपर सुपरीक्षित परिणामोंको उत्पन्न करती हैं। वास्तवमें, हठयोग, अपने ही ढंगसे, ज्ञान

प्राप्त करनेकी एक प्रणाली है; पर जहाँ वास्तविक ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधनाके रूपमें क्रियान्वित किया गया सत्ताका तत्त्वज्ञान है, अर्थात् एक मनोवैज्ञानिक प्रणाली है, वहाँ हठयोग सत्ताका विज्ञान है, अर्थात् एक मनो-भौतिक प्रणाली है। दोनों ही भौतिक, आंतरात्मिक और आध्यात्मिक परिणामोंको उत्पन्न करते हैं; पर ये एक ही सत्यके भिन्न-भिन्न ध्रुवोंपर स्थित हैं, अतएव इनमेंसे एकके लिये तो मनोभौतिक परिणाम बहुत ही कम महत्त्व रखते हैं, एकमात्र शुद्ध आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक परिणाम ही महत्त्वपूर्ण हैं, यहाँतक कि शुद्ध आंतरात्मिक भी हमारे संपूर्ण ध्यानको आकृष्ट करनेवाले आध्यात्मिक परिणामोंके सहायकमात्र होते हैं; दूसरेमें (हठयोगमें) भौतिक परिणामका महत्त्व अत्यंत गुरुतर है, आन्तरात्मिक परिणाम एक काफी बड़ा फल है, आध्यात्मिक एक चरम-परम परिणति है, पर शरीर हमसे अपने लिये जिस ध्यानकी मांग करता है वह इतना अधिक और सर्वग्रासी होता है कि आध्यात्मिक परिणति दीर्घकालतक एक स्थगित एवं दूरस्थ वस्तु प्रतीत होती है। तथापि यह नहीं भूलना चाहिये कि दोनों अवश्यमेव एक ही लक्ष्यपर पहुंचते हैं। हठयोग भी परम देवकी प्राप्तिका एक मार्ग है, यद्यपि यह एक लंबी, कठिन और अतिसावधानतापूर्ण प्रक्रियाके द्वारा आगे बढ़ता है, **दुःखम् आप्तुम्**।

योगमात्र अपनी प्रणालीमें साधनाके तीन मूल तत्त्वोंके द्वारा अग्रसर होता है; उनमेंसे पहला है शुद्धि अर्थात् हमारे भौतिक, नैतिक और मानसिक संस्थानमें सत्ताकी शक्तिकी मिश्रित और अनियमित क्रियासे जो भी भूलें, गड़बड़ियाँ और बाधाएँ उत्पन्न होती हैं उन सबको दूर करना। दूसरा है एकाग्रता, अर्थात् एक निश्चित लक्ष्यके लिये सत्ताकी उस शक्तिको अपने अंदर पूर्ण उत्कर्षतक ले जाना तथा प्रभुत्व और आत्मनिर्देशनके साथ उसका उपयोग करना। तीसरा है मुक्तता, अर्थात् मिथ्या और सीमित लीलामें व्यष्टिभावापन्न शक्तिकी जो संकीर्ण और दुःखमय ग्रंथियाँ आज हमारी प्रकृति-के नियमके रूपमें कार्य करती हैं उनसे अपनी सत्ताको मुक्त करना। हमारी यह मुक्त सत्ता हमें परम देवके साथ एकत्व या मिलन प्राप्त कराती है, इस मुक्त सत्ताका उपभोग ही हठयोगकी चरम परिणति है; इसीके लिये योग किया जाता है। ये तीन अनिवार्य सोपान हैं और इसी प्रकार तीन उच्च, उन्मुक्त और असीम स्तर भी हैं जिनकी ओर ये सोपान आरोहण करते हैं; और हठयोग अपनी समस्त साधनामें इन्हें दृष्टिमें रखता है।

इसकी भौतिक साधनाके मुख्य अंग दो हैं, **आसन** और **प्राणायाम,** अन्य सब अंग तो इनके सहायकमात्र हैं। आसनका अभिप्राय है शरीरको

निश्चलताकी कुछ स्थितियोंका अभ्यासी बनाना और प्राणायामका अभिप्राय है श्वास-प्रश्वासके व्यायामोंके द्वारा शरीरमें प्राणशक्तिकी धाराओंका नियमित संचालन तथा नियंत्रण। स्थूल आधार हमारा यंत्र है; पर स्थूल आधार दो तत्त्वोंसे अर्थात् भौतिक और प्राणिक तत्त्वों किंवा शरीर और जीवन-शक्तिसे बना हुआ है; इनमेंसे शरीर प्रत्यक्ष यंत्र और आधार है और जीवन-शक्ति अर्थात् **प्राण** बल और वास्तविक यंत्र है। ये दोनों ही यंत्र आज हमारे स्वामी हैं। हम शरीरके दास हैं, हम प्राणशक्तिके अधीन हैं; यद्यपि हम आत्मा हैं, मनोमय प्राणी हैं तथापि अत्यंत परिमित अंशमें ही हम इनके स्वामी होनेकी वृत्तिको धारण कर सकते हैं। हम एक तुच्छ एवं सीमित भौतिक प्रकृतिसे बँधे हैं, और परिणामस्वरूप एक तुच्छ एवं सीमित प्राणशक्तिसे भी बँधे हैं; हमारा शरीर बस इसी प्राणशक्तिको धारण करनेमें समर्थ है अथवा इसीको कार्यक्षेत्र प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त, हमारे अंदर इनमेंसे प्रत्येककी तथा दोनोंकी क्रिया क्षुद्रतम सीमाओंके ही नहीं, बल्कि सतत अशुद्धताके भी अधीन है; हर बार जब कि इस अशुद्धताको सुधारा जाता है यह फिर पैदा हो जाती है। साथ ही, इनकी क्रिया सब प्रकारकी गड़बड़ियोंकी शिकार भी होती रहती है जिनमेंसे कुछ तो इनका सामान्य अंग-सी हैं, एक प्रकारकी उग्र अवस्था हैं, हमारे साधारण एवं स्थूल जीवनका भाग हैं; उनके अतिरिक्त कुछ अन्य गड़बड़ियाँ भी हैं जो असामान्य ढंगकी हैं, अर्थात् इनकी व्याधियाँ और अस्तव्यस्त स्थितियाँ हैं। हठयोगको इन सबसे निपटना होता है; उसे इन सबपर विजय पानी होती है; और यह कार्य वह मुख्यतः इन्हीं दो पद्धतियोंके द्वारा करता है; इनकी क्रिया तो जटिल और कष्टप्रद है, पर इनका मूल सिद्धांत सीधा-सादा है और साथ ही ये प्रभावशाली भी हैं।

हठयोगकी आसन-प्रणालीके मूलमें दो गभीर विचार निहित हैं जिनसे अनेक प्रभावपूर्ण फलितार्थ निकलते हैं। पहला है शरीरकी निश्चलताके द्वारा आत्मनियंत्रणका विचार, दूसरा है निश्चलताके द्वारा शक्तिकी प्राप्तिका विचार। शारीरिक निश्चलताकी शक्ति हठयोगमें उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी ज्ञानयोगमें मानसिक निश्चलताकी शक्ति, और इन दोनोंके महत्त्वके कारण भी एकसे ही हैं। हमारी सत्ता और प्रकृतिके गभीरतर सत्योंके प्रति अनभ्यस्त मनको ये दोनों ऐसी प्रतीत होंगी मानो ये जड़ताकी उदासीन निष्क्रियताकी खोज कर रही हों। पर सत्य इससे ठीक उल्टा है; क्योंकि यौगिक निष्क्रियता, वह चाहे मनकी हो या शरीरकी, शक्तिको अधिक-से-अधिक बढ़ाने, अधिकृत और संयमित करनेकी शर्त है। हमारे मनोंकी

सामान्य क्रिया अधिकांशमें एक प्रकारकी अव्यवस्थित चंचलता है, इस क्रियामें शक्तिका क्षय होता है किंवा उसे परीक्षणोंके रूपमें वेगपूर्वक लुटाया जाता है; शक्तिके इस व्यय-अपव्ययमेंसे केवल थोड़ा-सा अंश ही एक आत्मप्रभुत्वपूर्ण संकल्पके क्रिया-व्यापारके लिये चुना जाता है,—यहाँ यह समझ लेना होगा कि शक्तिका यह व्यय इस दृष्टिबिंदुसे ही अपव्यय कहलाता है न कि विश्व-प्रकृतिके दृष्टिबिंदुसे। जो व्यय हमें सर्वथा निरर्थक प्रतीत होता है वह भी विश्व-प्रकृतिके दृष्टिकोणके अनुसार उसकी अपनी मितव्ययपूर्ण व्यवस्थाके उद्देश्योंमें सहायक होता है। हमारे शरीरोंकी चेष्टा भी एक उक्त प्रकारकी चंचलता है।

यह इस बातका चिह्न है कि शरीरमें जो परिमित-सी प्राण-शक्ति प्रविष्ट या उत्पन्न होती है उसे भी वह धारण करनेमें सदा असमर्थ रहता है; परिणामतः, यह इस बातका भी चिह्न है कि यह प्राण-शक्ति सामान्य रूपसे ही विकीर्ण होती रहती है और व्यवस्थित एवं परिमितव्यय-युक्त क्रियाका तत्त्व तो सर्वथा गौण ही होता है। अपि च, फलस्वरूप, जो प्राणिक शक्तियाँ शरीरमें साधारणतः कार्य करती हैं उनकी गति और परस्पर-क्रियाके बीच जो आदान-प्रदान एवं संतुलन स्थापित होता है उसमें तथा जो शक्तियाँ शरीरपर बाहरसे क्रिया करती हैं, वे चाहे दूसरोंकी हों या चारों ओरके वातावरणमें विविध रूपसे कार्य करनेवाली सार्वभौम प्राण-शक्तिकी, उनके साथ इन पूर्वोक्त शक्तियोंका जो आदान-प्रदान चलता है उसमें निरंतर ही एक अनिश्चित संतुलन एवं सामंजस्य स्थापित होता रहता है जो किसी भी क्षण बिगड़ सकता है। प्रत्येक बाधा, प्रत्येक त्रुटि, प्रत्येक अति एवं प्रत्येक आघात नाना प्रकारकी अशुद्धता और अव्यवस्था उत्पन्न करता है। प्रकृतिको जब अपने ऊपर छोड़ दिया जाता है तो वह अपने उद्देश्योंके लिये इन सबसे अपना कार्य खूब अच्छी तरह चला लेती है। परंतु ज्योंही मनुष्यका भ्रांतिशील मन और संकल्प उसकी आदतों और प्राणिक अंधप्रवृत्तियों एवं सहज स्फुरणाओंमें हस्तक्षेप करते हैं, विशेषकर जब वे झूठी या बनावटी आदतें पैदा कर देते हैं, तब एक और भी अधिक अनिश्चित व्यवस्था एवं बारंबार पैदा होनेवाली अव्यवस्था हमारी सत्ताका नियम बन जाती हैं। तथापि यह हस्तक्षेप होना अनिवार्य है, क्योंकि, मनुष्य अपने अंदरकी प्राणिक प्रकृतिके प्रयोजनोंके लिये ही नहीं बल्कि उन उच्चतर प्रयोजनोंके लिये भी जीवन धारण करता है जिन्हें प्रकृति अपने प्रथम संतुलनके समय विचारमें ही नहीं लायी थी और जिनके साथ उसे कठिनतापूर्वक अपनी क्रियाओंका मेल बिठाना होता है। अतएव एक महत्तर

स्थिति या क्रियाशीलताको प्राप्त करनेके लिये सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि इस अव्यवस्थित चंचलतासे छुटकारा पाया जाय, क्रियाको शांत करके नियंत्रित किया जाय। हठयोगीको शरीर और प्राणशक्तिकी स्थिति-शीलता और क्रियाशीलताके एक असामान्य संतुलनको साधित करना होता है, वह संतुलन असामान्य होते हुए भी महत्तर अवस्थाकी ओर नहीं वल्कि उच्चता और आत्म-प्रभुत्वकी ओर उन्मुख होता है।

आसनकी निश्चल स्थितिका पहला उद्देश्य यह है कि शरीरपर जो चंचल क्रिया वलात् थोपी जाती है उससे मुक्त हुआ जाय तथा इसे (शरीरको) वाध्य किया जाय कि यह प्राणशक्तिको विखेरने और लुटानेके स्थानपर उसे अपने अंदर धारण करे। आसनके अभ्यासमें जो अनुभव होता है वह यह नहीं है कि निष्क्रियताके द्वारा शक्ति निरुद्ध एवं क्षीण होती है, वरन् यह कि इससे शक्तिकी मात्रा, उसका अंतःप्रवाह एवं संचार अत्यधिक वढ़ जाता है। पर, क्योंकि हमारा शरीर अतिरिक्त शक्तिको हिलने-डुलनेके द्वारा वाहर निकालनेका आदी है, अतएव शुरूमें वह इस वृद्धि तथा इस धारित अंतः-क्रियाको अच्छी तरह सहन नहीं कर सकता और प्रवल कंपनोंके द्वारा इसे वाहर विखेर देता है; आगे चलकर वह इसे धारण करनेमें अभ्यस्त हो जाता है और जव आसन सिद्ध हो जाता है तव वह वैठनेके उस विशिष्ट ढंगमें भी, जो चाहे आरंभमें उसके लिये कठिन या अस्वाभाविक ही क्यों न रहा हो, उतना ही आराम अनुभव करता है जितना वैठने या सहारा लेनेके सरलसे सरल ढंगोंमें। उसपर प्रभाव डालनेके लिये वढ़ी हुई प्राण-शक्तिकी जितनी भी मात्रा प्रयोगमें लायी जाती है उसे वह धारण करनेमें उत्तरोत्तर समर्थ होता जाता है और उसे इस वृद्धिगत मात्राको चेष्टाओंके रूपमें वहा देनेकी जरूरत नहीं होती, और शक्तिकी यह वृद्धि इतनी विपुल होती है कि इसकी कोई सीमा नहीं दिखायी देती; फलतः सिद्ध हठयोगीका शरीर सहिष्णुता और वल तथा अथक शक्ति-प्रयोगके ऐसे करतवोंको कर सकता है कि जिन्हें मनुष्यकी सामान्य भौतिक शक्तियाँ अपनी पराकाष्ठाको पहुँचकर भी नहीं कर सकतीं। क्योंकि, वह इस शक्तिको केवल धारण करके सुरक्षित ही नहीं रख सकता, वल्कि देह-संस्थानपर इसके प्रभुत्व तथा उसके अंदर इसकी अधिक पूर्ण गतिको सहन भी कर सकता है। इस प्रकार जव प्राणशक्ति शांत और निष्क्रिय शरीरको अपने अधिकारमें लाकर एक शक्तिशाली एवं समरस क्रियाके रूपमें उसपर कार्य करती है तथा धारक शक्ति और धारित शक्तिके अस्थिर संतुलनसे मुक्त हो जाती है तो यह एक कहीं अधिक महान् तथा प्रभावशाली शक्ति वन जाती है। वास्तवमें, तव

ऐसा प्रतीत होता है कि शरीरने इसे अपने अंदर धारण नहीं किया है और न वह इसे अधिकृत एवं प्रयुक्त ही करता है वरन् सच पूछो तो उसीने शरीरको अपने अंदर धारण किया है तथा वही उसे अधिकृत और प्रयुक्त करती है,—जैसे कि चंचल सक्रिय मनमें जब कोई आध्यात्मिक शक्ति प्रविष्ट होती है तो वह इसपर अधिकार जमाकर अनियमित तथा अपूर्ण रूपमें इसका प्रयोग करता प्रतीत होता है, पर यही आध्यात्मिक शक्ति जब प्रशांत मनमें आती है तो उसे धारण करती है तथा अधिकृत करके प्रयोगमें लाती है।

इस प्रकार शरीर अपने-आपसे मुक्त हो जाता है, अपनी वहुत-सी अव्यवस्थाओं एवं अनियमितताओंसे रहित होकर शुद्ध हो जाता है और आसनके द्वारा आंशिक रूपसे तथा आसन और प्राणायामकी सम्मिलित प्रक्रियाके द्वारा तो पूर्ण रूपसे ही एक सिद्ध यंत्र बन जाता है। इसके अंदर जो शीघ्र ही थक जानेकी प्रवृत्ति है उससे यह मुक्त हो जाता है; यह स्वास्थ्यकी अमित शक्ति प्राप्त कर लेता है; क्षय, जरा और मरणकी इसकी प्रवृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। साधारण आयुर्मानके बहुत आगे पहुंची हुई अवस्थामें भी हठयोगी शारीरिक जीवनके बलवीर्य, स्वास्थ्य और यौवनको अक्षुण्ण बनाये रखता है; यहाँतक कि दैहिक यौवनका बाह्य स्वरूप भी दीर्घकालतक सुरक्षित रहता है। उसमें दीर्घजीवनकी शक्ति औरोंकी अपेक्षा कहीं अधिक होती है, और उसके दृष्टिकोणसे, शरीरके यंत्र होनेके कारण, दीर्घकालतक इसे सुरक्षित रखना तथा उस सारे कालमें इसे क्षयकारी दोषोंसे मुक्त रखना कोई कम महत्त्वकी बात नहीं है। यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि हठयोगमें कितने ही प्रकारके आसन हैं जिनकी कुल संख्या अस्सीसे ऊपर पहुँचती है। उनमेंसे कुछ तो अत्यंत ही जटिल और दुष्कर हैं। आसनोंकी इतनी अधिक विविधता कुछ तो ऊपर दिखाये गये परिणामोंमें वृद्धि करने तथा शरीरके प्रयोगमें अत्यधिक स्वाधीनता और नमनीयता प्रदान करनेमें सहायक होती है, पर साथ ही यह शरीरकी भौतिक शक्ति और पृथ्वीकी शक्ति जिसके साथ कि वह संबद्ध है—इन दोनोंके संबंधको बदलनेमें भी सहायता करती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि पृथ्वी-शक्तिका भारी पंजा ढीला पड़ जाता है जिसका पहला लक्ष्य यह है कि शरीर थकावटकी प्रवृत्तिपर विजय पा लेता है और अंतिम लक्षण यह है कि उत्थापन या आंशिक लघिमाके अद्भुत दृग्विषयका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरकी प्रकृतिको कुछ-कुछ प्राप्त करके प्राणशक्तिके साथ इसके संबंधोंको कुछ अंशमें आयत्त करने लगता है; वह एक अधिक महान् शक्तिका रूप धारण कर लेता है जो अधिक सबल रूपमें अनुभूत होती है

और फिर भी एक अपेक्षाकृत हल्की, मुक्त और अधिक सूक्ष्मतायोग्य भौतिक क्रियाको संपन्न कर सकती है तथा ऐसी शक्तियाँ भी प्राप्त कर सकती है जो अपनी पराकाष्ठाको पहुँचकर हठयोगकी सिद्धियों या गरिमा, महिमा, अणिमा और लघिमाकी असाधारण शक्तियोंमें परिणत हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्राण स्थूल इंद्रियों और करणोंकी क्रियापर, उदाहरणार्थ, हृदयकी धड़कनों और श्वास-प्रश्वासपर पूर्ण रूपसे निर्भर रहना छोड़ देता है। ये क्रियाएँ अंतमें जीवनकी समाप्ति या क्षति हुए बिना स्थगित की जा सकती हैं।

यह सब आसन और प्राणायामकी चरम-परम परिणति है, तथापि यह एक आधारभूत भौतिक शक्ति और स्वतंत्रतामात्र है। हठयोगका उच्चतर उपयोग तो अधिक घनिष्ठ रूपसे प्राणायामपर निर्भर करता है। आसन अत्यधिक प्रत्यक्ष रूपमें संपूर्ण भौतिक सत्ताके अधिक स्थूल भागपर कार्य करता है; यद्यपि यहाँ भी इसे प्राणायामकी सहायताकी जरूरत पड़ती है। प्राणायाम आसनसे प्राप्त होनेवाली भौतिक निश्चलता और आत्म-नियंत्रणको लेकर चलता है और अधिक प्रत्यक्ष रूपमें सूक्ष्मतर प्राणिक भागोंपर अर्थात् स्नायुमण्डलपर कार्य करता है। यह कार्य श्वास-क्रियाके विविध प्रकारके नियंत्रणोंसे संपन्न किया जाता है जिनमेंसे सर्वप्रथम है रेचक और पूरककी समानता। यह नियंत्रण आगे बढ़ता हुआ इन दोनोंके अत्यंत तालबद्ध नियंत्रणोंका रूप धारण कर लेता है, जिनमें रेचक और पूरकके बीच कुछ कालके लिये प्राणका कुंभक भी किया जाता है। शुरू-शुरूमें प्राणका कुंभक करने (इसे अपने अंदर रोके रखने) के लिये कुछ प्रयत्न करना पड़ता है, पर अंतमें यह और इसकी समाप्ति दोनों उतने ही सुगम हो जाते हैं और उतने ही स्वाभाविक प्रतीत होते हैं जितने कि श्वासका बारंबार अंदर लेना एवं बाहर फेंकना जो कि प्राणका साधारण व्यापार है। परंतु प्राणायामके प्रमुख लक्ष्य ये हैं—स्नायुसंस्थानको शुद्ध करना, सभी स्नायुओंमें बिना किसी रुकावट, गड़बड़ी या अनियमितताके प्राणशक्तिको संचारित करना और इसकी क्रियाओंपर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करना ताकि देहस्थित आत्माका मन और संकल्प न तो देह या प्राणके अधीन रहे और न इन दोनोंकी सम्मिलित संकीर्णताओंके। प्राणके इन व्यायामोंमें स्नायुमंडलकी शुद्ध और अव्याहत स्थितिको लानेकी जो शक्ति है वह हमारे शरीर-क्रिया-विज्ञानका प्रसिद्ध और सुप्रतिष्ठित तथ्य है। प्राणायामकी शक्ति देह-संस्थानको स्वच्छ करनेमें भी सहायता पहुँचाती है, परंतु आरंभमें यह उसके सब मार्गों और प्रणालिकाओंको शुद्ध करनेमें पूर्ण रूपसे प्रभावशाली नहीं सिद्ध होती; अतएव हठयोगी उनमें जमा हुई सब प्रकारकी मलिनताओंको नियमपूर्वक साफ करनेके

लिये परिपूरकके रूपमें स्थूल विधियोंका भी प्रयोग करता है। आसन और प्राणायामके साथ मिलकर ये विधियाँ,—विशेष प्रकारके आसनोंके परिणामस्वरूप विशेष प्रकारकी व्याधियाँ भी मिट जाती हैं,—शरीरके स्वास्थ्यको पूर्ण रूपसे सुरक्षित रखती हैं। परंतु मुख्य लाभ यह होता है कि इस शुद्धताके कारण प्राण-शक्तिको कहीं भी, शरीरके किसी भी भागमें और किसी भी प्रकारसे या उसकी अपनी गतिके किसी भी प्रकारके लयतालके साथ परिचालित किया जा सकता है।

फेफड़ोंमें केवल सांस भरने और उनसे बाहर निकालनेकी क्रिया तो हमारे देह-संस्थानमें प्राण या जीवन-श्वासकी एक ऐसी अत्यंत गोचर एवं बाह्य गतिमात्र है जो हमारी पकड़में आ सकती है। योग-विद्याके अनुसार प्राणकी गति पाँच प्रकारकी है जो संपूर्ण स्नायुमंडल तथा सारे भौतिक शरीरमें व्याप्त है तथा इसकी सब क्रियाओंका निर्धारण करती है। हठयोगी श्वास-प्रश्वासकी बाह्य क्रियाको एक प्रकारकी कुंजी मानकर अपने अधिकारमें ले आता है; यह कुंजी उसके लिये प्राणकी इन पाँचों शक्तियोंके नियंत्रणका द्वार खोल देती है। वह इनकी आंतरिक क्रियाओंको प्रत्यक्ष रूपमें जान लेता है, अपने सारे शारीरिक जीवन और कार्यसे मानसिक रूपमें सचेतन हो जाता है। वह अपने देहसंस्थानकी सभी नाड़ियों या स्नायु-प्रणालिकाओंमेंसे प्राणका संचालन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। वह छः चक्रोंमें अर्थात् स्नायुमंडलके छः स्नायुग्रंथिमय केंद्रोंमें होनेवाली प्राणकी क्रियाको जान जाता है, और इनमेंसे प्रत्येकमें वह इसे इसकी वर्तमान सीमित, अभ्यस्त और यांत्रिक क्रियाओंसे परे उन्मुक्त कर देनेमें समर्थ होता है। संक्षेपमें वह शरीरगत प्राणके अत्यंत सूक्ष्म स्नायविक तथा स्थूलतम भौतिक रूपोंपर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेता है, यहाँतक कि इसके अंदरके उस तत्त्वको भी अपने नियंत्रणमें ले आता है जो इस समय हमारी इच्छाके अधीन नहीं है तथा हमारे द्रष्टृस्वरूप चैतन्य और संकल्पकी पहुँचके बाहर है। इस प्रकार शरीर और प्राण दोनोंकी क्रियाओंकी शुद्धिके आधारपर हमें इन दोनोंपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है तथा हम इनका स्वतंत्र और प्रभावपूर्ण उपयोग करने लगते हैं, यह प्रभुत्व एवं उपयोग ही हठयोगके उच्चतर लक्ष्योंके लिये नींवका काम करते हैं।

परंतु ये सब प्राप्तियाँ अभी केवल आधार ही हैं, अर्थात् ये हठयोगके द्वारा प्रयुक्त दो यंत्रोंकी बाह्य और आंतर भौतिक अवस्थाएँ मात्र हैं। पर अधिक महत्त्वपूर्ण विषय तो अभी रहता ही है, वह है उन आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक परिणामोंका विषय जिनके लिये इन अवस्थाओंका उपयोग किया

जा सकता है। यह उपयोग शरीर और मन-आत्माके तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीरके उस संबंधपर निर्भर करता है जिसपर हठयोगकी प्रणाली आधारित है। यहाँ यह राजयोगकी सीधमें पहुँच जाती है, और एक ऐसा बिंदु आ जाता है जिसपर पहुँचकर एकसे दूसरी प्रणालीमें पग रखा जा सकता है।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

राजयोग

जैसे हठयोगीके लिये योगके सब बंद द्वारोंकी कुंजी शरीर और प्राण है, वैसे ही राजयोगमें उन द्वारोंकी कुंजी मन है। पर क्योंकि दोनोंमें— हठयोगमें पूर्ण रूपसे और राजयोगकी प्रचलित प्रणालीमें आंशिक रूपसे— यह माना जाता है कि मन शरीर और प्राणपर अवलंबित है, अतएव दोनों ही प्रणालियोंमें आसन और प्राणायामका अनुष्ठान समाविष्ट है; पर एकमें ये संपूर्ण क्षेत्रपर अधिकार किये रहते हैं, पर दूसरीमें इनमेंसे प्रत्येक केवल एक ही सरल प्रक्रियातक सीमित रहता है और दोनोंका सम्मिलित प्रयोजन एक सीमित और मध्यवर्ती कार्यको ही पूरा करना होता है। हम सहज ही देख सकते हैं कि मनुष्य यद्यपि अपनी सत्तामें एक देहधारी आत्मा है फिर भी अपनी पार्थिव प्रकृतिमें वह कितने बड़े परिमाणमें एक देहप्रधान एवं प्राणमय सत्ता है और हम यह भी देख सकते हैं कि कैसे उसकी मानसिक क्रियाएँ, कम-से-कम प्रथम दृष्टिमें, लगभग पूर्ण रूपसे उसके शरीर और स्नायु-मंडलके अधीन प्रतीत होती हैं। आधुनिक पदार्थविज्ञान और मनोविज्ञान भी कुछ समयतक ऐसा मानते रहे हैं कि यह अधीनता वास्तवमें एक प्रकारकी अभिन्नता है; उन्होंने यह सिद्धांत स्थापित करनेका यत्न किया है कि मन या आत्मा जैसी किसी पृथक् (शरीरसे भिन्न) सत्ताका यहाँ अस्तित्व ही नहीं है और मनकी सभी क्रियाएँ वस्तुतः शरीरके ही व्यापार हैं। इस अयुक्तियुक्त सिद्धांतको यदि एक ओर छोड़ दिया जाय तो भी वैसे मनकी इस अधीनताका वर्णन इतना बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है कि इसे एक सर्वथा अपरिहार्य अवस्था ही मान लिया गया है और मनके द्वारा प्राण तथा शरीरके व्यापारोंके नियंत्रणको या इनसे अपनेको अलग कर लेनेकी उसकी शक्तिको या ऐसी किसी भी चीजको चिरकालतक एक भूल, मनकी एक विकृत अवस्था या इन्द्रजाल कहकर वर्णित किया गया है। अतएव मनकी अधीनता एक चरम-परम सत्य बनकर रही है, और पदार्थविज्ञानको इस अधीनताकी असली कुंजी नहीं मिलती, न वह इसकी खोज ही करता है और अतएव वह हमारे लिये मुक्ति और प्रभुत्वका रहस्य भी नहीं उपलब्ध कर सकता।

योगका मनोभौतिक विज्ञान यह भूल नहीं करता। वह कुंजीकी खोज करता है, उसे पा लेता है और हमारे लिये मुक्ति साधित कर सकता है; क्योंकि वह इस बातको ध्यानमें रखता है कि हमारी स्थूल सत्ताके पीछे एक चैत्य या मानसिक शरीर है और हमारा यह भौतिक शरीर स्थूल आकारमें उसकी एक प्रकारकी प्रतिकृति है, और उस मानसिक शरीरके द्वारा वह भौतिक शरीरके उन रहस्योंको खोज सकता है जो निरे भौतिक अनुसंधानके द्वारा प्रकट नहीं होते। इस मानसिक या चैत्य शरीरको आत्मा मृत्युके पश्चात् भी धारण किये रहती है, इसमें एक प्रकारकी सूक्ष्म प्राणशक्ति भी है जो इसके अपने सूक्ष्म स्वभाव और उपादानके अनुरूप है,—क्योंकि जहाँ कहीं भी किसी प्रकारका जीवन है, वहाँ प्राणशक्तिका तथा उसके कार्यके आधारभूत उपादानका होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है,—और यह शक्ति नाड़ी-नामक अनेक प्रणालिकाओंके एक संस्थानमेंसे संचालित की जाती है जो चैत्य शरीरका सूक्ष्म स्नायु-संघटन है,—ये स्नायु-प्रणालिकाएँ छः (या वस्तुतः सात) केंद्रोंके रूपमें पुंजीभूत हैं जिन्हें पारिभाषिक रूपमें पद्म या चक्र कहा जाता है और ये एक चढ़ती हुई शृंखलामें उस शिखरतक ऊँची उठी हुई हैं जहाँ सहस्रदल पद्म है; इस पद्मसे ही समस्त मानसिक एवं प्राणिक शक्ति प्रवाहित होती है। इन पद्मोंमेंसे प्रत्येक मनोवैज्ञानिक शक्तियों, सामर्थ्यों और क्रियाओं-संबंधी अपनी विशिष्ट प्रणालीका केंद्र एवं उन शक्तियों आदिका कोषागार है,—प्रत्येक प्रणाली हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ताके किसी स्तरसे संबंध रखती है,—और ये शक्तियाँ एवं क्रियाएँ आदि नाड़ियोंमेंसे संचरित होती हुई प्राणशक्तियोंकी धारासे निःसृत होती हैं और उसीमें लौट जाती हैं।

चैत्य शरीरकी यह व्यवस्था भौतिक शरीरके अंदर इस रूपमें प्रकट होती है कि उसमें एक दंडाकार मेरुस्तंभ है तथा स्नायुग्रंथियोंके कुछ चक्राकार केंद्र हैं; ये केंद्र या चक्र मेरुस्तंभके मूलसे, जिसके साथ सबसे निचला चक्र जुड़ा हुआ है, उठते हुए मस्तिष्कतक पहुंचते हैं और कपालके शीर्षबिन्दुपर स्थित ब्रह्मरन्ध्रमें अपने शिखरपर पहुँच जाते हैं। परंतु देहप्रधान मनुष्यमें ये चक्र या पद्म बंद हैं या फिर केवल कुछ-कुछ ही खुले हैं। परिणामस्वरूप, उसमें केवल ऐसी ही शक्तियाँ और वे भी उतनी ही मात्रामें क्रियाशील हैं जैसी और जितनी उसके साधारण भौतिक जीवनके लिये पर्याप्त हैं, और मन तथा अंतरात्माका भी उतना ही अंश उसके अंदर अपनी क्रीड़ा कर रहा है जितना इस जीवनकी आवश्यकताओंके साथ मेल खा सकता है। यंत्रीय दृष्टिकोणसे देखा जाय तो यही असली कारण है कि देहधारी आत्मा शारीरिक और प्राणिक जीवनपर इतनी निर्भर दिखायी देती है,—यद्यपि यह

निर्भरता उतनी पूर्ण किंवा उतनी वास्तविक नहीं है जितनी कि दिखायी देती है। स्थूल शरीर और जीवनमें आत्माकी संपूर्ण शक्ति कार्यरत नहीं है, मनकी गुप्त शक्तियाँ उसमें जागरित नहीं हैं, शरीर और प्राणकी शक्तियोंका ही प्रभुत्व है। परंतु इस बीच परमोच्च शक्ति वहाँ प्रसुप्त रूपमें बराबर ही विद्यमान रहती है; ऐसा कहा जाता है कि यह सबसे नीचेके चक्र अर्थात् मूलाधारमें एक सर्पकी भाँति कुंडल मारे सोयी पड़ी है,—अतएव इसे कुण्डलिनी शक्तिके नामसे पुकारा जाता है। जब प्राणायामके द्वारा शरीरके अंदर प्राणकी ऊपर और नीचेकी धाराओंका भेद मिट जाता है तो यह कुण्डलिनी चौंककर जाग उठती है, यह अपने कुण्डलोंको खोलती है और एक अग्निमय सर्पकी भाँति ऊपर उठना आरंभ करती है, जैसे-जैसे यह आरोहण करती है, प्रत्येक पद्म या चक्रको खोलती जाती है, यहाँतक कि अंतमें शक्ति ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचकर एकत्वकी गहरी समाधिमें पुरुषसे मिलन लाभ करती है।

यदि एक कम प्रतीकात्मक, अधिक दार्शनिक पर शायद कम गहन भाषामें कहें तो इसका अर्थ यह है कि हमारी सत्ताकी असली शक्ति हमारे प्राण-संस्थानकी गहराइयोंमें प्रसुप्त और निश्चेतन पड़ी हुई है, और प्राणायामके अभ्याससे वह जाग उठती है। विकसित होती हुई वह हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ताके सभी केंद्रोंको खोल डालती है, उन केंद्रोंमें एक ऐसी सत्ताकी शक्तियाँ एवं चेतना निवास करती हैं जो आज शायद हमारी प्रच्छन्न सत्ता कहलायेगी; अतएव जैसे-जैसे शक्ति और चेतनाका प्रत्येक केंद्र खुलता है, हम क्रमिक मनोवैज्ञानिक स्तरोंमें प्रवेश लाभ करते जाते हैं और उनसे संबंध रखनेवाले सत्ताके लोकों या उसकी विराट् भूमिकाओंके साथ आदान-प्रदान स्थापित करनेमें समर्थ हो जाते हैं। चैत्य सत्ताकी वे सब शक्तियाँ जो देहप्रधान मनुष्यके लिये तो असामान्य हैं पर अंतरात्माके लिये स्वाभाविक हैं हमारे अंदर विकसित हो जाती हैं। अंतमें, आरोहणके शिखरपर, यह ऊपर उठती और विकसित होती हुई शक्ति एक अतिचेतन सत्ताके साथ मिलन लाभ करती है जो हमारी भौतिक और मानसिक सत्ताके पीछे एवं ऊपर गुप्त रूपमें अवस्थित है; यह मिलन हमें एकत्वकी गहरी समाधिमें पहुँचा देता है जिसमें हमारी जाग्रत् चेतना अतिचेतनमें लीन हो जाती है। इस प्रकार प्राणायामके पूर्ण और अनवरत अभ्यासके द्वारा हठयोगी अपने ही ढंगसे आंतरात्मिक और आध्यात्मिक परिणामोंको प्राप्त करता है, अन्य योगोंमें इन परिणामोंकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रत्यक्षतः आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक विधियोंके द्वारा यत्न किया जाता है। इसके साथ वह केवल

एक ही मानसिक साधनको अपने योगाभ्यासमें सम्मिलित करता है; वह है किसी विशेष मंत्र, पवित्र शब्द, नाम या गुह्य सूत्रका उपयोग। योगकी भारतीय प्रणालियोंमें उसका अत्यधिक महत्त्व है और वह उन सबमें समान रूपसे पाया जाता है। मंत्र-शक्ति, षट्चक्र और कुण्डलिनी शक्तिका यह रहस्य समस्त जटिल मनोभौतिक विद्या एवं साधनाका एक प्रधान सत्य है; तान्त्रिक दर्शन हमें विद्या एवं साधनाका एक युक्तिपूर्ण विवरण और इसकी विधियोंका एक पूर्णतम सारसंग्रह देनेका दावा करता है। भारतके वे सभी धर्म और साधनाभ्यास जो मनोभौतिक पद्धतिका व्यापक रूपसे प्रयोग करते हैं, अपनी साधनाओंके लिये न्यूनाधिक इसीपर निर्भर करते हैं।

राजयोग भी प्राणायामका उपयोग करता है और उन्हीं प्रधान मानसिक उद्देश्योंके लिये करता है जिनके लिये कि हठयोग; परंतु अपने संपूर्ण सिद्धांत-में एक मानसिक पद्धति होनेके कारण, यह उसे अपने क्रियात्मक अभ्यासोंकी शृंखलामें केवल एक अवस्थाके रूपमें तथा एक अत्यंत परिमित सीमातक तीन या चार व्यापक प्रयोजनोंके लिये ही प्रयुक्त करता है। यह आसन और प्राणायामसे आरंभ नहीं करता, बल्कि पहले मनकी नैतिक शुद्धिके लिये आग्रह करता है। यह प्रारंभिक साधन परम महत्त्वशाली है, इसके बिना शेष राजयोगका मार्ग कष्टों और बाधाओंसे संकुल और अप्रत्याशित मान-सिक, नैतिक तथा शारीरिक संकटोंसे पूर्ण हो सकता है।* उसकी प्रचलित प्रणालीमें यह नैतिक शुद्धि पांच 'यम' और पांच 'नियम' इन दो वर्गोंमें विभक्त है। इनमेंसे यम व्यवहारसंबंधी नैतिक आत्म-संयमके नियम हैं, जैसे, सत्य-भाषण करना, पीड़ा पहुँचाने या हिंसा या चोरी करनेसे विरत होना (सत्य, अहिंसा, अस्तेय) आदि; पर वास्तवमें इन्हें नैतिक आत्म-संयम एवं पवित्रताकी सामान्य आवश्यकताके कुछ मुख्य लक्षणमात्र समझना होगा। अधिक व्यापक रूपमें, यमका अभिप्राय है ऐसा कोई भी आत्म-अनुशासन जिसके द्वारा मनुष्यके राजसिक अहंभाव और इसकी उत्तेजनाओं एवं कामनाओंको विजित तथा शांत करके पूर्ण रूपसे मिटा दिया जाय।

---

*आधुनिक भारतमें, जो लोग योगके प्रति आकृष्ट होते हैं पर इसकी क्रिया-प्रक्रियाओंका ज्ञान पुस्तकोंसे या इस विषयकी केवल थोड़ी-सी जानकारी रखनेवाले व्यक्तियोंसे अर्जित करते हैं, वे प्रायः सीधे ही राजयोगके प्राणायामकी प्रक्रियाओंमें कूद पड़ते हैं, किंतु इसके परिणाम बहुधा अनिष्टकारी ही होते हैं। अत्यंत शक्तिशाली आत्मावाले व्यक्ति ही इस मार्गमें भूलें करनेके दुष्परिणामको सह सकते हैं।

इसका उद्देश्य नैतिक शान्ति अर्थात् आवेशशून्य स्थितिको उत्पन्न करना है और इस प्रकार राजसिक मनुष्यमें अहंभावकी मृत्युके लिये तैयारी करना है। इसी प्रकार 'नियम' का अभिप्राय कुछ-एक नियमित अनुष्ठानोंके द्वारा मनको अनुशासनमें लाना है जिनमेंसे सर्वोच्च है भागवत सत्ताका ध्यान करना (ईश्वरप्रणिधान)। उनका उद्देश्य सात्त्विक शान्ति और पवित्रताको जन्म देना तथा एकाग्रताके लिये तैयारी करना है जिसकी नींवपर शेष सारे योगका सुरक्षित रूपसे अनुष्ठान किया जा सकता है।

इसी अवस्थामें, जब कि यह नींव सुस्थिर हो जाती है, आसन और प्राणायामके अभ्यासका समय आता है और ये अपने पूर्ण फलोंको भी तभी उत्पन्न कर सकते हैं। मन और नैतिक सत्ताका नियंत्रण अपने-आपमें हमारी साधारण चेतनाको केवल यथोचित प्रारंभिक अवस्थामें ले आता है; यह उच्चतर चैत्य पुरुषके उस विकास या आविर्भावको संपन्न नहीं कर सकता जो कि योगके महत्तर लक्ष्योंकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है। इस आविर्भावको संपन्न करनेके लिये प्राण और स्थूल शरीरके मानसिक सत्ताके साथ वर्तमान गठबंधनको ढीला करना होगा और महत्तर चैत्य पुरुषके द्वारा अतिचेतन पुरुषके साथ मिलनकी ओर आरोहण करनेके लिये मार्ग प्रशस्त करना होगा। यह कार्य प्राणायामके द्वारा किया जा सकता है। राजयोग आसनकी एक सहज-से-सहज एवं अत्यंत स्वाभाविक स्थितिका अर्थात् एक ऐसी स्थितिका ही उपयोग करता है जिसे शरीर बैठनेपर एवं अपने-आपको समेटनेपर स्वभावतः ही ग्रहण करता है, पर पीठ और सिर बिलकुल तने हुए एवं सीधी रेखामें रहते हैं, जिससे कि सुषुम्णा नाड़ी जरा भी न झुकी रहे। इस पिछले नियमका उद्देश्य स्पष्टतः ही इस सिद्धांतके साथ संबद्ध है कि हमारे स्नायुमंडलमें छः चक्र हैं तथा मूलाधार और ब्रह्मरन्ध्रके बीच प्राणशक्तिका संचार होता रहता है। राजयोगका प्राणायाम स्नायुमंडलको शुद्ध और निर्मल करता है; यह हमें ऐसी सामर्थ्य प्रदान करता है कि हम प्राणशक्तिको सारे शरीरमें समान रूपसे संचारित कर सकते हैं, साथ ही, आवश्यकतानुसार हम इसे जिधर भी संचालित करना चाहें कर सकते हैं और इस प्रकार शरीर और प्राण-सत्ताकी पूर्णतः स्वस्थ एवं निर्दोष स्थितिको सुरक्षित रख सकते हैं; यह हमें शरीरमें प्राणशक्तिकी पाँचों अभ्यस्त क्रियाओंके ऊपर नियंत्रण प्रदान करता है और साथ ही उन अभ्यासगत विभागोंको भी तोड़ गिराता है जिनके कारण सामान्य जीवनमें हमारे लिये प्राणशक्तिकी केवल साधारण यांत्रिक प्रक्रियाएँ करना ही संभव होता है। यह मनोभौतिक संस्थानके छः केंद्रोंको पूर्ण रूपसे खोल देता

है और प्रत्येक ऊर्ध्वोन्मूल स्तरपर जाग्रत् चेतनामें जागरित शक्तिके प्रभाव तथा अनावृत पुरुषकी ज्योतिको ले आता है। मंत्रके प्रयोगके साथ मिलकर तो यह शरीरके अंदर दिव्य शक्तिको लाता है और समाधिकी उस एकाग्रताके लिये जो राजयोग-प्रणालीका मुकुट है, हमें तैयार करता तथा सुविधा प्रदान करता है।

राजयोगकी एकाग्रता चार क्रमिक अवस्थाओंमें विभक्त है, इनमेंसे आरंभिक अवस्था है मन और इन्द्रियों दोनोंको बाह्य वस्तुओंसे पीछे खींच लेना (प्रत्याहार); इससे अगली है—अन्य सब विचारों और मानसिक क्रियाओंको त्यागकर चित्तको एकाग्रताके एक ही विषयपर स्थिर करना (धारणा); इसके बाद है—मनका इस विषयमें सतत निमग्न रहना (ध्यान); अंतिम है—चेतनाका पूर्ण रूपसे अंदर चले जाना जिसके द्वारा यह समाधिके एकत्वमें पहुँचकर समस्त बाह्य मानसिक क्रियासे बेसुध हो जाती है। इस मानसिक साधनका वास्तविक लक्ष्य मनको बाह्य तथा मानसिक जगत्से हटाकर भगवान्के साथ मिलनकी अवस्थामें ले जाना है। अतएव, पहली तीन अवस्थाओंमें किसी मानसिक साधन या अवलम्बनका प्रयोग करना होता है जिसके द्वारा, एक विषयसे दूसरेकी ओर इधर-उधर दौड़ते रहनेका अभ्यासी मन, एक ही विषयपर स्थिर हो जाय, और वह कोई ऐसा विषय होना चाहिये जो भगवान्के विचारको निरूपित करे। साधारणतया वह एक नाम या रूप या मंत्र होता है जिसके द्वारा मनको ईश्वरके अनन्य ज्ञान या आराधनमें स्थिर किया जा सकता है। इस प्रकार अपने-आपको विचारपर एकाग्र करके मन विचारसे उसके सत्तत्त्वमें प्रवेश करता है, जिसमें डूबकर वह निश्चल-नीरव, निमग्न और तद्रूप हो जाता है। यह परंपरागत विधि है। किंतु कुछ अन्य विधियाँ भी हैं जो समान रूपसे राजयोगके ढंगकी हैं, क्योंकि वे मानसिक एवं चैत्य सत्ताको कुंजीके रूपमें प्रयोगमें लाती हैं। उनमेंसे कुछका उद्देश्य मनको तुरंत निमग्न करना न होकर उसे स्तब्ध करना होता है, इस प्रकारकी एक साधन-पद्धति वह है जिसके द्वारा मनका केवल निरीक्षण किया जाता है और निरुद्देश्य दौड़धूप करते हुए वेसिर-पैरके विचारोंमें भटकते रहनेकी इसकी आदतको समाप्त होने दिया जाता है, इस विधिमें मन यह अनुभव करता है कि इस दौड़धूपके लिये उसे जो अनुमति मिली हुई थी वह सब वापिस ले ली गयी है तथा इसका अव न कोई उद्देश्य रहा है न रस; इस प्रकारकी एक और पद्धति भी है जो अधिक आयासपूर्ण एवं शीघ्र फल देनेवाली है। उसके द्वारा समस्त वहिर्मुख विचारको

बहिष्कृत करके मनको अपने ही अंदर डूबनेके लिये वाध्य किया जाता है। उस स्थितिमें अपनी पूर्ण निस्तब्धतामें वह शुद्ध सत्स्वरूप 'पुरुष'पर ही विचार कर सकता है या फिर उसकी अतिचेतन सत्तामें प्रविष्ट हो जा सकता है। विधिमें भेद है, लक्ष्य और परिणाम एक ही हैं।

कोई यह कल्पना कर सकता है कि यहाँ राजयोगका संपूर्ण कार्य एवं लक्ष्य पूरा हो जाता है। क्योंकि, इसका कार्य चेतनाकी तरंगों अर्थात् उसकी बहुविध क्रियाओं, चित्तवृत्तिको शांत करना है, इसके लिये पहले तो यह निरंतर ही मलिन राजसिक क्रियाओंके स्थानपर शांत एवं आलोकमय सात्त्विक क्रियाओंको प्रतिष्ठित करता है और उसके वाद सवकी सब क्रियाओंको शांत कर देता है। इसका लक्ष्य भगवान्के साथ नीरव आत्म-मिलन एवं एकत्व लाभ करना है। पर वास्तवमें हम देखते हैं कि राजयोगकी प्रणालीमें अन्य लक्ष्य भी सम्मिलित हैं,—जैसे गुह्य शक्तियों या सिद्धियोंका अभ्यास और प्रयोग; उनमेंसे कुछ एक तो इसके मुख्य उद्देश्यसे असंबद्ध और यहाँतक कि असंगत प्रतीत होते हैं। निःसंदेह, उन शक्तियों या सिद्धियोंकी बहुधा ही यह कहकर निंदा की जाती है कि ये ऐसे संकट और व्याक्षेप हैं जो योगीको उसके भगवन्मिलन-रूपी एकमात्र उचित लक्ष्यसे दूर ले जाते हैं। अतएव, स्वभावतः ही ऐसा प्रतीत होगा कि मानो जबतक हम मार्गमें हैं तबतक तो इन्हें त्याग ही देना होगा; और जब एक वार लक्ष्यकी प्राप्ति हो जायगी तो ऐसा लगेगा कि अब ये तुच्छ और निरर्थक हैं। पर राजयोग एक चैत्य विज्ञान है और चेतनाकी सभी उच्चतर भूमिकाओं तथा उनकी शक्तियोंकी प्राप्ति इसके अंदर समाविष्ट हो जाती है, क्योंकि उन भूमिकाओं एवं शक्तियोंके द्वारा ही मनोमय पुरुष अतिचेतन सत्ताकी ओर ऊपर उठता है तथा परमोच्च पुरुषके साथ मिलन लाभ करनेकी अपनी चरम-परम शक्यताको चरितार्थ करता है। अपि च, जबतक योगी शरीरमें रहता है तवतक वह सदा मानसिक रूपसे निष्क्रिय एवं समाधि-मग्न ही नहीं रहता, और उसकी सत्ताके उच्चतर स्तरोंपर उसे जो शक्तियाँ और अवस्थाएँ प्राप्त हो सकती हैं उनका वर्णन करना चैत्य-विज्ञानकी पूर्णताके लिये आवश्यक है।

ये शक्तियाँ और अनुभव सर्वप्रथम तो इस भौतिक स्तरसे, जिसमें हम रहते हैं, ऊपर अवस्थित प्राणिक और मानसिक स्तरोंसे संवंध रखते हैं और सूक्ष्म शरीरमें ये अंतरात्माके लिये स्वाभाविक ही हैं; जैसे-जैसे आत्माकी स्थूल शरीरपर निर्भरता कम होती जाती है, वैसे-वैसे ये असामान्य क्रियाएँ संभव होती जाती हैं और यहाँतक कि हमारे बिना चाहे भी स्वयमेव व्यक्त

58303

होती रहती है। ये क्रियाएँ किंवा शक्तियाँ और अनुभव चैत्य विज्ञानके द्वारा प्रतिपादित प्रक्रियाओंसे प्राप्त और स्थिर किये जा सकते हैं और तब इनका प्रयोग करना न करना हमारे संकल्पपर निर्भर करता है; अथवा यह भी हो सकता है कि इन्हें स्वयमेव विकसित होने दिया जाय और इनका प्रयोग तभी किया जाय जब कि ये स्वयमेव प्राप्त हों, या जब अंतरस्थ भगवान् इनके प्रयोगके लिये हमें प्रेरित करें; या फिर, इस प्रकार स्वाभाविक रूपसे विकसित और सक्रिय होनेपर भी, इन्हें योगके एकमात्र परम ध्येयके प्रति एकचित्त निष्ठा रखते हुए त्याग दिया जा सकता है। दूसरे, कुछ ऐसी पूर्णतर एवं महत्तर शक्तियाँ भी हैं जो अतिमानसिक स्तरोंसे संबंध रखती हैं और भगवान्‌की अतिमानसिक-प्रज्ञानमय आध्यात्मिक सत्ताकी वास्तविक शक्तियाँ हैं। इन्हें व्यक्तिगत प्रयत्नके द्वारा, सुरक्षित या संपूर्ण रूपसे, कदापि नहीं प्राप्त किया जा सकता, बल्कि ये हमें केवल ऊपरसे ही प्राप्त हो सकती हैं, अथवा यदि व्यक्ति मनसे ऊपर आरोहण करके आध्यात्मिक सत्ता, शक्ति, चेतना और विचारणामें निवास करने लगता है तथा जब वह ऐसा करने लगता है तभी उसके लिये ये शक्तियाँ स्वाभाविक हो सकती हैं। यदि वह तब भी जगत्-सत्ताके अंदर कर्म करना जारी रखता है तो ये शक्तियाँ तब असामान्य और श्रम-प्राप्त सिद्धियाँ न रहकर उसके कर्मकी वास्तविक प्रकृति एवं प्रणालीमात्र बन जाती हैं।

कुल मिलाकर, पूर्णयोगके लिये राजयोग और हठयोगकी विशिष्ट विधियाँ प्रगतिकी किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें समय-समयपर उपयोगी हो सकती हैं, पर वे अनिवार्य नहीं हैं। यह ठीक है कि उनके प्रधान लक्ष्योंको योगके सर्वांगीण स्वरूपमें सम्मिलित करना होगा; पर इन्हें अन्य साधनोंसे भी प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि, पूर्णयोगकी विधियाँ मुख्यतः आध्यात्मिक होनी चाहियें, और भौतिक विधियों अथवा नियत चैत्य या चैत्य-भौतिक प्रक्रियाओंपर बड़े परिमाणमें निर्भर रहनेका अर्थ उच्चतर क्रियाका स्थान निम्नतर क्रियाको देना होगा। इस प्रश्नपर हम एक प्रसंगमें आगे चलकर विचार करेंगे, जब हम विधियोंके समन्वयके अंतिम सूत्रपर आयेंगे। यहाँ हम विभिन्न योगोंका जो विवेचन कर रहे हैं उसका उद्देश्य हमें इस समन्वयकी ओर ले जाना ही है।